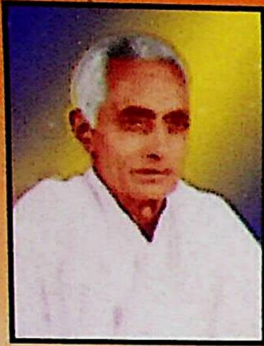
॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदभाष्यम्

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार



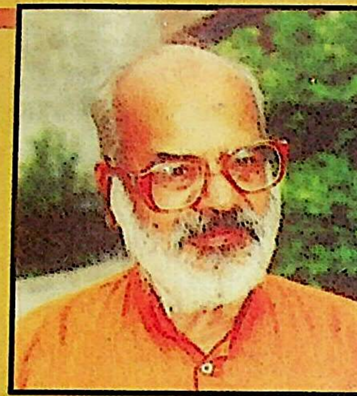


पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार का जीवन परिचय

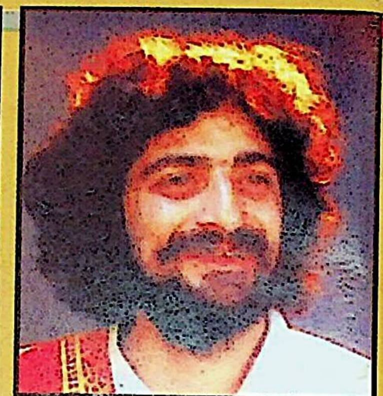
श्री हरिशरण जी का जन्म 2 जनवरी 1901 को कमालिया नगर (अब पाकिस्तान में) के एक सम्पन्न गृहस्थ मास्टर लक्ष्मणदास के यहां हुआ। पिता की आठ सन्तानों –शान्तिस्वरूप, हरिशरण, हरिप्रेम, वेदकुमारी, राजकुमारी, हरिश्चन्द्र, हरिप्रकाश व हरिमोहन–में से वह दूसरे थे। उनकी माता सद्दांबाई अत्यन्त धर्मपरायणा व कुशल गृहणी थीं। श्री लक्ष्मणदास ने कुछ समय जालन्धर में अध्यापक के रूप में कार्य किया। बाद में उन्होंने कोयले के व्यापार में हाथ डाला और उसमें खूब सफलता प्राप्त की। वहीं पर आप स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्व महात्मा मुंशीराम) के सम्पर्क में आए और महर्षि दयानन्द की वैदिक विचारधारा से प्रभावित हुए।

श्री लक्ष्मणदास अत्यन्त दृढ़व्रती, तपस्वी एवं स्वाध्यायप्रेमी धार्मिक व्यक्ति थे। बालक हरिशरण को भी ये गुण विरासत में अपने पिता से प्राप्त हुए। उनकी आरम्भिक शिक्षा दीक्षा गुरुकुल मुलतान में हुई। वहां दसवीं कक्षा तक की पढ़ाई पूरी करके आगे विद्याध्ययन के लिए वह गुरुकुल कांगडी आए। यहां उन्होंने तीन वर्ष तक आयुर्वेद का अध्ययन किया परन्तु स्नातक परीक्षा वेद विषय में उत्तीर्ण की।

हरिशरण जी अत्यन्त परिश्रमी व मेधावी छात्र थे। पहली कक्षा से स्नातक बनने तक सदैव अपनी कक्षा में प्रथम स्थान पाते रहे। संस्कृत व्याकरण के अतिरिक्ति दर्शन व साहित्य पर भी उनका पूरा अधिकार था। आंग्ल भाषा गणित, भूगोल व विज्ञान में भी उन्होंने विशेष योग्यता अर्जित की थी।



स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती, नई दिल्ली



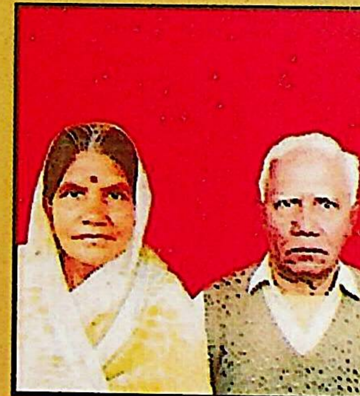
आचार्य श्री आनन्द पुरुषार्थी होशंगाबाद (म०प्र०)



श्री मित्रावसु मॉडल टाउन, दिल्ली

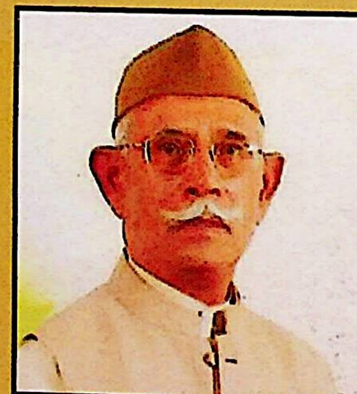


श्री कृष्ण चोपड़ा सोलिहुल (यू०के०)



श्रीमती सावित्री देवी–डॉ० बलवन्त सिंह आर्य बीकानेर (राज०)

आर्यसमाज (वैदिक मिशन) वैस्ट मिडलेण्ड्स, बरमिंघम (यू०के०)



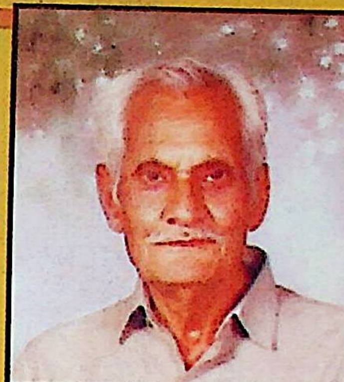
राव श्री हरिश्चन्द्रजी आर्य नागपुर (महा०)

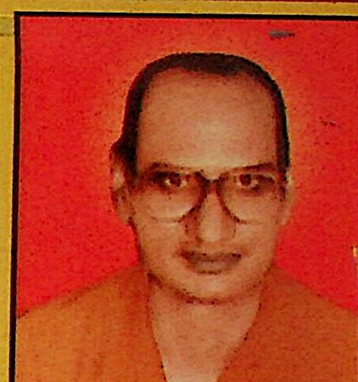
सुश्री उमाजी भल्ला अम्बाला छावनी (हरि०)

...हलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास


श्री [illegible]श्चन्द्र साहित्यानी
[illegible] (गुजरात)

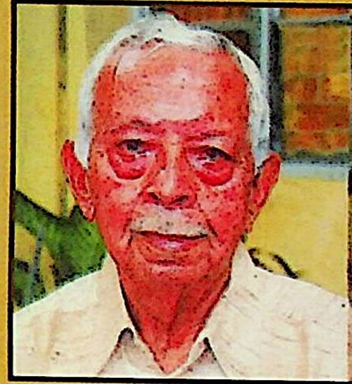

प्रिय गीतेश, आपकी स्मृति में–
श्रीमती गरिमा गोयल-श्री गणेशदास गोयल

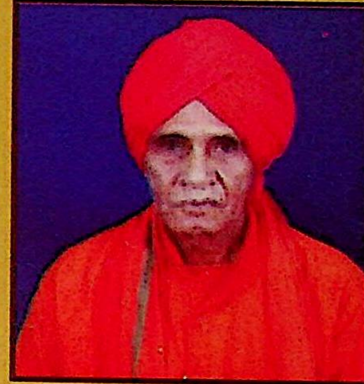

श्री उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी
आगरा (उ०प्र०)


श्रद्धेय पतिदेव डॉ० बी०एल० मित्तल
आपकी स्मृति में, प्रतिभा मित्तल


श्रीमती रक्षा चोपड़ा
सोलिहुल (यू०के०)


श्री गोपालचन्द्र
बरमिंघम (यू०के०)


श्री राधेश्याम, दिल्ली
(श्री मनोहर विद्यालंकार)

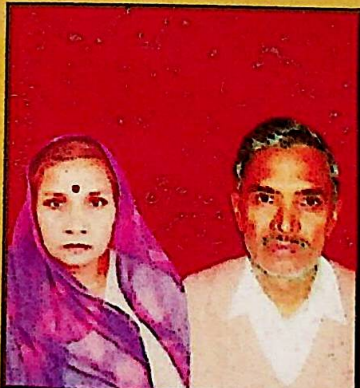

स्वामी श्री श्रद्धानन्द सरस्वती
अलीगढ़ (उ०प्र०)

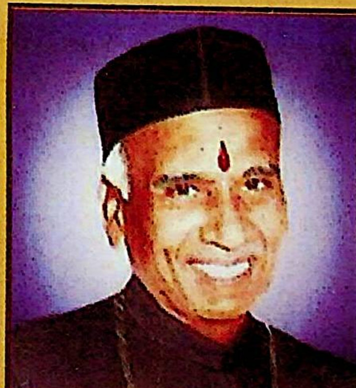

श्रीमती कंचनलतादेवी–श्री सरस्वतीप्रसादजी गोयल
सवाई माधोपुर (राज०)


श्रीमती सुवीराजी अम्बेसगे
उद्‌गीर, जिला लातूर, महाराष्ट्र

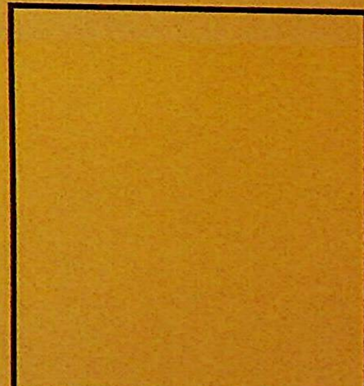

डॉ० रामावतार सिंघल
मेरठ (उ०प्र०)


श्री अशोकजी-गजेन्द्रजी गौतम
जीन्द (हरि०)


श्रीमती प्रशान्दी देवी–श्री रामेश्वरदयालजी गुप्ता
नई दिल्ली


स्मृतिशेष-श्री मूलचन्दजी गर्ग
स्मृति में-ओमप्रकाश अग्रवाल, उज्जैन (म.प्र.)





श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

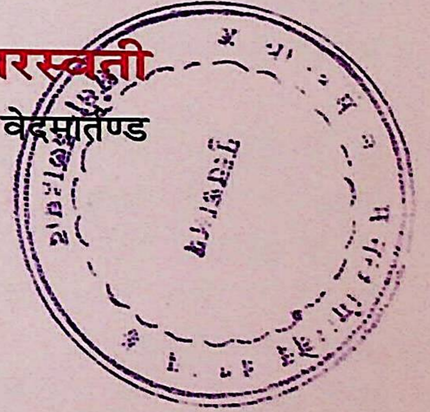
ओ३म्

अथर्ववेदभाष्यम्

(तृतीयो भागः)

भाष्यकार
पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक
परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती
वेदरत्न, वेदमार्तण्ड



प्रकाशक
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास
हिण्डौन सिटी, (राजस्थान)-३२२ २३०

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२, ०९८८७४-५२९५९

संस्करण : द्वितीय सन् २००९

मूल्य : ४५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान :
१. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११० ००६,
दूरभाष : ०११-२३९५८८६४, चलभाष : ०९३५०९-९३४५५
२. **सुबोध पॉकेट बुक्स**
२/४२४०-ए, अन्सारी रोड, नई दिल्ली-११० ००२
चलभाष : ०९८१०००५९६३
३. **राजेन्द्रकुमार**
१८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी, बरेली (उ०प्र०)
दूरभाष : ०५८१-२५४३९४४, चलभाष : ०९८९७८-८०९३०
४. **श्री वैदिकानन्द**
श्री स्वामी दयानन्द ब्रह्मज्ञान, आश्रम न्यास
वैदिक सदन, भँवरकुआ, इन्दौर (म०प्र०)-४५२ ००१
दूरभाष : ०७३१-२३६७२००, २३६७५००

शब्द-संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स**, कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१
दूरभाष : ०९२११३-६२७३३, ०९२५५९-३५२८९

मुद्रक : **राधा प्रेस**, कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१

प्रकाशकीय

परमपिता परमात्मा ने अपने प्रियतम पुत्र मनुष्य के सुचारु तथा निरन्तर उन्नतिशील जीवन के लिए पवित्र ज्ञान वेद प्रदान किया। यह ज्ञान अपने आप में पूर्ण है। यह जीवन को ऐसी आभा प्रदान करता है जिससे मनुष्य निरन्तर प्रगति करता हुआ अनन्त आनन्द की प्राप्ति करता है। ऐसा आनन्द जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जो प्राप्त करता है वही भोगता है।

वेद का सन्देश निरन्तरता है। जीवन में कहीं भी और कभी भी विराम नहीं, विश्राम नहीं। कर्त्तव्य-कर्म का लगातार करते जाना ही आनन्द की प्राप्ति का साधन है। कर्म ज्ञान के बिना पंगु तथा दृष्टिहीन है जिसका प्रदाता वेद है। इसका अध्ययन और तदनुरूप आचरण मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए।

श्रद्धेय स्वामी श्री जगदीश्वरानन्दजी सरस्वती की स्नेहिल प्रेरणा तथा सर्वाङ्गीण सहयोग का यह सुफल है कि हम अपने अल्प साधनों, लेकिन वेद के प्रति दृढ़ और अटूट निष्ठा के कारण वेदभाष्य के इस महनीय पवित्र कर्म में प्रवृत्त हुए हैं। जब हम भावनाओं के सहारे इस कर्म में प्रवृत्त हुए तब हमें मात्र इतना आभाष था कि जीवन को सार्थकता प्रदान करनेवाला कार्य करने जा रहे हैं। यह कैसे और किस प्रकार होगा, इसका अनुमान नहीं था। श्रद्धेय स्वामीजी की कृपा के फलस्वरूप हम आधा कार्य सम्पन्न करने जा रहे हैं। शेष भी पूर्ण होगा ही।

इस क्रम में हमारे यज्ञ के एक प्रमुख अङ्ग अग्रिम सदस्य तथा पाठकों का धन्यवाद करना चाहूँगा जिन्होंने हमारे प्रति विश्वास बनाये रखा। सदस्यों ने समय-समय पर जानना चाहा कि कार्य की क्या स्थिति है? इस क्रम में अप्रिय क्षण बहुत न्यून आये और समझाने पर वह सन्तुष्ट हो गये।

हमारे आदरास्पद् स्वामी श्री जगदीश्वरानन्दजी सरस्वती विपरीत शारीरिक स्थितियों में भी निष्ठा से इस यज्ञ की परिपूर्णता के लिए कार्यरत हैं वह वेदज्ञान द्वारा प्राप्त कर्म करने की ऊर्जा का ही परिणाम है। इस क्रम में जब-जब कुछ शिथिलता हमारे अन्दर आई तब-तब हमारे मार्गदर्शक बड़े भाई श्री रमेशकुमारजी ने सहारा लगाया और हम जो कार्य करने जा रहे हैं उसका महत्त्व समझाया जिसने हमारे अन्दर ऊर्जा का सञ्चार किया। श्री महेन्द्रसिंहजी आर्य ने अथर्ववेद का कार्य बड़े ही उत्साह तथा निष्ठा से करके हमें उत्साहित किया जिसके लिए आपका धन्यवाद। हमारे अनेकों आत्मीय जनों ने इसके अग्रिम सदस्य बनाकर उत्साह बढ़ाया है। हम इन सभी का धन्यवाद करते हैं।

इस यात्रा में जिन-जिनका, जिस-जिस रूप में सहयोग रहा है, हम उन सभी का हार्दिक धन्यवाद करते हुए भविष्य में इसी आत्मीयभाव की अपेक्षा करते हुए परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि ज्ञान की इस साधना को पूर्णता तक पहुँचाये।

—प्रभाकरदेव आर्य

"वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

अथ त्रयोदशं काण्डम्

इस काण्ड में 'ब्रह्मा' ऋषि है। यह उत्तम सात्त्विक गति में भी सर्वप्रथम है 'ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च'। 'उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः'॥ यह 'रोहितः आदित्यः' है। शरीर के दृष्टिकोण से यह रोहित है। (रोहितं=Blood, अस्य अस्ति) रुधिर-सम्पन्न तेजस्वी है तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह आदित्य है—ज्ञानसूर्य से दीप्त मस्तिष्करूप द्युलोकवाला। यही आदर्श पुरुष है। इस काण्ड का देवता यह 'रोहित आदित्य' है। अध्यात्म में यह रोहित आदित्य 'तेजस्वी व ज्ञानी' है। इस रोहित आदित्य का चित्रण देखिए—

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अप्सु अन्तः

उदेहि वाजिन्यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत्।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु॥ १॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **यः अप्सु अन्तः**=जो तू सदा कर्मों के अन्दर रहनेवाला है, वह तू **उदेहि**=(उत् आ इहि) सब प्रकार से उन्नत हो। तरे लिए एक ही नियम है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' तूने यहाँ कर्म करते हुए ही जीवन यापन करना है। तू **इदं राष्ट्रम्**=अपने इस राष्ट्र में **सुनृतावत् प्रविश**=प्रिय, सत्य वाणीवाला होकर प्रवेश कर। आचार्यकुल से समावृत्त होने पर तुझे सर्वप्रथम यही उपदेश दिया गया था कि **'सत्यं वद'**=सत्य ही बोलना। २. **यः**=जो **रोहितः**=अतिशयेन तेजस्वी अथवा सदा से वर्धमान प्रभु हैं **इदं, विश्वम् जजान**=इस विश्व को उत्पन्न करते हैं। **सः**=वे प्रभु **त्वा**=तुझे **राष्ट्राय**=इस राष्ट्र के लिए **सुभृतं बिभर्तु**=सम्यक् भरण किये गये को धारण करें। प्रभुकृपा से माता के द्वारा तेरे जीवन में 'चरित्र' का भरण हो, पिता द्वारा 'शिष्टाचार' का भरण किया जाए तथा आचार्य द्वारा 'ज्ञान' का भरण हो। इसप्रकार सुभृत तू राष्ट्र के उत्थान का कारण बने।

भावार्थ—एक पुरुष सदा क्रियाशील जीवनवाला होकर उन्नत हो। प्रिय, सत्य वाणीवाला बनकर राष्ट्र में प्रवेश करे। प्रभुकृपा से यह 'माता-पिता, आचार्य' द्वारा सुभृत होकर राष्ट्र का भरण करनेवाला बने।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उद् वाजः आगन्

उद्वाज आ गन्यो अप्स्व१न्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह॥ २॥

१. **यः अप्सु अन्तः**=जो तू सदा कार्यों में निवासवाला है, वह **वाजः**=शक्तिशाली तू **उद् आगन्**=उन्नत—उदित—उन्नत हुआ है। **त्वत् योनयः याः विशः**=तेरे घर में रहनेवाली जो प्रजाएँ हैं, उन्हें **आरोह (आरोहय)**=उन्नत करनेवाला बन। २. **यः सोमं दधानः**=जो तू सोम=शक्ति का धारण करनेवाला है, वह तू **अपः ओषधीः गाः**=जलों, ओषधियों तथा गोदुग्ध का सेवन

करनेवाला बन (गौः=गोदुग्ध)। **इह**=यहाँ इस घर में **चतुष्पदः द्विपदः आ वेशय**=चार पाँववाले गौ आदि पशुओं व मनुष्यों का तू प्रवेश करानेवाला हो—सम्यक् निवास करानेवाला हो।

भावार्थ—कर्त्तव्य कर्मों में तत्पर बनकर हम शक्तिशाली बनते हुए उन्नत हों। घर में सबकी उन्नति के लिए यत्नशील हों। शरीर में शक्ति का रक्षण करते हुए जलों, ओषधियों, वनस्पतियों व गोदुग्ध का ही सेवन करें। घर में गौओं व सब घरवालों का ध्यान करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**जगती**॥

उग्राः पृश्निमातरः

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
आ वो रोहितः शृणवत्सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः॥ ३॥

१. **यूयम्**=तुम **उग्राः**=तेजस्वी बनों, **पृश्निमातरः** (संस्पृष्टाभासाम्=पृश्निः) ज्ञान-ज्योतियों से स्पृष्ट इस वेदवाणी को अपनी माता के समान जानों—उसकी प्रेरणा के अनुसार कार्य करते हुए उत्तम जीवनवाले बनों। **रुद्रेण युजा**=शत्रुविद्रावक प्रभु के साथ **शत्रून् प्रमृणीत**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचल डालो। २. **रोहितः**=वे तेजपुञ्ज अथवा सर्वतोवृद्ध प्रभु **वः आशृणवत्**=तुम्हारी प्रार्थना को सुनें—तुम प्रभु का आराधन करनेवाले बनो। **सुदानवः**=शत्रुओं का खूब ही (दाप् लवने) नाश करनेवाले होओ। **त्रिषप्तासः**=कर्म, ज्ञान व उपासनारूप त्रयी में 'दो कानों, दो नासिका-छिद्रों, दो आँखों व मुख' रूप (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) सप्तर्षियों को प्रवृत्त करनेवाले बनो। **मरुतः**=मितरावी—कम बोलनेवाले—कर्मवीर, नकि वाग्वीर बनो तथा **स्वादुसंमुदः**=घर में स्वादिष्ट पदार्थों का मिलकर (सम्) आनन्द लेनेवाले होओ।

भावार्थ—तुम्हारा शरीर तेजस्वी हो, मस्तिष्क में तुम ज्ञान की रुचिवाले बनो। प्रभु के उपासक बनकर हृदय में स्थित कामादि शत्रुओं को कुचल डालो। प्रभु का आराधन करते हुए शत्रुओं को कुचल डालो। कान आदि इन्द्रियों को 'ज्ञान, कर्म, उपासना' में प्रवृत्त करो। मितरावी बनो तथा स्वादिष्ट पदार्थों का मिलकर आनन्द लेनेवाले होओ। अकेले मत खाओ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

ब्रह्माण्डरूप राष्ट्र का निर्माण

रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषामुपस्थम्।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन्षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः॥ ४॥

१. **रोहितः**=वह सदा से प्रवृद्ध प्रभु **रुहः रुरोह** (**रुह् प्रादुर्भावे**)=सब सृष्टि की उत्पत्ति की सामग्रियों को जन्म देते हैं। प्रकृति से 'महतत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ, इन्द्रियों व पञ्चस्थूलभूतों' को जन्म देते हैं। **जनीनां गर्भः**=सब उत्पादक सामग्रियों को गर्भ में धारण करनेवाला वह प्रभु **जनुषां उपस्थं आरुरोह**=सब उत्पन्न होनेवाले पदार्थों को गोद में आरोहन किये हुए हैं—सब उत्पन्न पदार्थों के अन्दर व्याप्त हैं। २. **ताभिः संरब्धम्**=उन सब उत्पादक शक्तियों से युक्त (closely joined) उस प्रभु को **षट् उर्वीः**=ये छह विशाल दिशाएँ **अनुअविन्दन्**=व्याप्त किये हुए हैं—इन सब विस्तृत दिशाओं में वे व्याप्त हैं। **गातुं प्रपश्यन्**=मार्ग को प्रकर्षेण दिखलाता हुआ वह प्रभु (प्रपश्यन्=प्रदर्शयन्) **इह**=यहाँ **राष्ट्रम्**=इस ब्रह्माण्डरूप राष्ट्र को **आहाः**=प्राप्त कराता है (आहरत्) इस ब्रह्माण्डरूप राष्ट्र को इस रूप में लानेवाले वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सृष्टिनिर्माण की सब सामग्रियों को जन्म देते हैं। इन सामग्रियों को अपने

अन्दर धारण करते हुए वे सब पदार्थों में विद्यमान हैं। सब उत्पादक शक्तियों से युक्त प्रभु सब दिशाओं में व्याप्त हैं। वे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर-नीचे सर्वत्र विद्यमान हैं। हम सब के लिए मार्ग दिखलाते हुए वे प्रभु ब्रह्माण्डरूप राष्ट्र को उत्पन्न करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

व्यास्थन् मृधः

आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीद् व्या स्थन्मृधो अभयं ते अभूत्।
तस्मै ते द्यावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहाथामिह शक्वरीभिः॥ ५॥

१. हे जीव! **रोहितः**=वह सदा से वृद्ध प्रभु **ते**=तेरे लिए **इह**=यहाँ **राष्ट्रम्**=इस ब्रह्माण्ड राष्ट्र को **आ आहार्षीत्**=प्राप्त कराते हैं—जीव की उन्नति के लिए ही प्रभु ने सृष्टि को रचा है। वे प्रभु ही जीव के **मृधः**=हिंसक काम-क्रोधादि शत्रुओं को **वि आस्थत्**=(असु क्षेपणे) सदूर विनष्ट करते हैं। हे जीव! उस प्रभु की गोद में **ते अभयं अभूत्**=तेरे लिए अभय हो गया है। २. **तस्मै ते**=प्रभु की गोद में रहनेवाले तेरे लिए **द्यावापृथिवी**=ये पिता व मातारूप द्युलोक व पृथिवीलोक **इह**=यहाँ **शक्वरीभिः रेवतीभिः**=शक्तियों से युक्त सम्पत्तियों के द्वारा **कामं दुहाथाम्**=सब काम्य पदार्थों का दोहन करें। ये द्यावापृथिवी जीव को शक्तियुक्त सम्पत्तियाँ प्राप्त कराएँ और उन्नति के लिए आवश्यक सब पदार्थों को सिद्ध करें।

भावार्थ—प्रभु इस ब्रह्माण्डरूप राष्ट्र को बनाते हैं। उपासक के कामादि शत्रुओं को विनष्ट करके उसे अभय प्राप्त कराते हैं। इस उपासक को ये द्यावापृथिवी शक्ति व सम्पत्ति प्राप्त कराते हुए सब इष्ट पदार्थों को देते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'उत्पादक व धारक' प्रभु

रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान।
तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन॥ ६॥

१. **रोहितः**=वह सदा से प्रवृद्ध तेजोमय प्रभु **द्यावापृथिवी जजान**=द्युलोक व पृथिवीलोक को—तदन्तरवर्ती सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जन्म देते हैं। **तत्र**=उस ब्रह्माण्ड में **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित प्रभु **तन्तुं ततान**=(तन्तु offspring, issue, race, cobweb) प्राणिजातियों को—शरीरों के जाल को विस्तृत करते हैं। प्रभु सृष्टि को उत्पन्न करते हैं, उसमें विविध प्राणियों के जाल का विस्तार करते हैं। २. **तत्र**=उस विस्तृत तन्तु में—प्राणिमात्र के हृदय में **एकपादः अजः**=एक चाल से चलनेवाले, सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले एकरस प्रभु **शिश्रिये**=आश्रय करते हैं। सबके हृदयों में प्रभु का निवास है। वे प्रभु ही **बलेन**=अपनी शक्ति से **द्यावापृथिवी अदृंहत्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को—द्युलोक व पृथिवीलोक को दृढ़ किये हुए हैं। प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड का धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को जन्म देते हैं। विविध प्रजातन्तु का उसमें विस्तार करते हैं। सबको गति देनेवाले वे एकरस प्रभु सबके हृदयों में आसीन हैं। सारे ब्रह्माण्ड को अपनी शक्ति से धारण किये हुए हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः

रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत्तेन स्व स्तभितं तेन नाकः।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन्॥ ७॥

१. **रोहितः**=वह तेजोमय प्रभु **द्यावापृथिवी अदृंहत्**=द्युलोक व पृथिवीलोक को दृढ़ करते हैं। बल से उनका धारण करते हैं। **तेन**=उस प्रभु ने ही **स्वः स्तभितम्**=स्वर्गलोक को थामा है, **तेन नाकः**=मोक्षलोक को धारण करनेवाले भी वे प्रभु ही हैं। २. **तेन**=उस प्रभु ने ही **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को व **रजांसि**=लोकों को **विमितः**=विशेष मानपूर्वक बनाया है। **तेन**=उस प्रभु के आश्रय से ही **देवाः**=देववृत्ति के लोग **अमृतं अन्वविन्दन्**=अमृत को—मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति से ही द्यावापृथिवी दृढ़ किये गये हैं। प्रभु ने ही स्वर्ग व मोक्ष को थामा हुआ है। प्रभु ही अन्तरिक्ष व विविध लोकों को मानपूर्वक बनाते हैं। प्रभु के आश्रय से ही देव अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**भूरिक्त्रिष्टुप्**॥

तदैक्षत बहु स्याम्

वि रोहि॑तो अमृशद्विश्वरू॒पं स॑माकुर्वा॒णः प्ररु॑हो॒ रुह॑श्च।
दिवं॑ रू॒ढ्वा म॑ह॒ता म॑हि॒म्ना सं ते॑ रा॒ष्ट्रम॑नक्तु॒ पय॑सा घृ॒तेन॑॥ ८॥

१. **रोहितः**=उस तेजोमय प्रभु ने **प्ररुहः रुहः च**=इस संसार-वृक्ष की ऊपर-नीचे फैली हुई शाखाओं को (अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः) **समाकुर्वाणः**=सम्यक् उत्पन्न करने के हेतु से **विश्वरूपं वि अमृशत्**=इस ब्रह्माण्ड के रूप का विमर्श किया। 'ब्रह्माण्ड को कैसे बनाना है', यह विचार किया—तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति। २. **महता महिम्ना**=अपनी महान् महिमा से **दिवं रुढ्वा**=तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में आरोहण करके (अर्थात् तेरे मस्तिष्क में प्रभु की महिमा ही व्याप्त हो) वे प्रभु **ते राष्ट्रम्**=तेरे शरीररूप राष्ट्र को **पयसा**=शक्तियों के आप्यायन तथा **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति से **समनक्तु**=सम्यक् अलंकृत करें। तू सदा प्रभु की महिमा का चिन्तन कर और इसप्रकार तेरी शक्तियों व ज्ञान का वर्धन हो।

भावार्थ—प्रभु ने विविध शाखाओं से व्याप्त इस संसार-वृक्ष के निर्माण का विस्तार किया, जब हम उस निर्माता की महिमा का मस्तिष्क में विचार करते हैं तब वे प्रभु हमारी शक्तियों व ज्ञान का वर्धन करके हमें अलंकृत जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

रुहः प्ररुहः आरुहः

यास्ते॒ रुह॑ः प्र॒रुहो॒ यास्त॑ आ॒रुहो॒ याभि॑रापृ॒णासि॒ दिव॑म॒न्तरि॑क्षम्।
तासां॒ ब्रह्म॑णा॒ पय॑सा वावृधा॒नो वि॒शि रा॒ष्ट्रे जा॑गृहि॒ रोहि॑तस्य॥ ९॥

१. **याः**=जो **ते**=तेरे द्वारा निर्मित इस संसार-वृक्ष की **रुहः प्ररुहः**=नीचे-ऊपर फैली हुई शाखाएँ हैं, **यः**=जो **ते**=तेरे द्वारा कृत ये शाखाएँ **आरुहः**=समन्तात् उत्पन्न हुई-हुई हैं, **याभिः**=जिनसे **दिवम्**=द्युलोक व **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **आपृणासि**=तूने समन्तात् पूर्ण किया हुआ है। **तासां ब्रह्मणा**=उनके ज्ञान के द्वारा तथा **पयसा**=आप्यायनशक्ति के द्वारा **वावृधानाः**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त कराता हुआ तू **रोहितस्य**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले पुरुष के **विशि**=प्रजा में व **राष्ट्रे**=राष्ट्र में **जागृहि**=जागरित हो। हे प्रभो! रोहित की प्रजा व राष्ट्र का आप रक्षण कीजिए। मनुष्य रोहित बनने का प्रयत्न करे—बढ़ी हुई शक्तियोंवाला—तेजस्वी। प्रभु उसका रक्षण क्यों न करेंगे?

भावार्थ—यह संसार-वृक्ष नीचे-ऊपर चारों ओर फैली हुई शाखाओंवाला है। इसका ज्ञान

हमारे उत्थान के लिए आवश्यक है। यह ज्ञान हमारा आप्यायन करनेवाला बनता है। हम 'रोहित' बनकर प्रभु के रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

संमाता वत्सः रोहितः

यास्ते विशस्तपसः संबभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः।
तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वत्सो अभ्ये॒तु रोहितः॥ १०॥

१. हे प्रभो! **याः**=जो **ते विशः**=तेरी प्रजाएँ **तपसः संबभूवुः**=तप के साथ मिलकर होती हैं, अर्थात् जो प्रजाएँ तपस्वी जीवनवाली होती हैं **ताः**=वे प्रजाएँ **इह**=यहाँ—इस जीवन में **वत्सम्**=(वसति) सर्वत्र निवासवाले (वदति) वेदज्ञान का उपदेश देनेवाले प्रभु को तथा **गायत्रीम्**=प्रभु से दी जानेवाली (गयाः प्राणः, तान् तत्रे) प्राणों की रक्षिका वेदवाणी के **अनु अगुः**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। ये तपस्वी प्रभु का स्मरण करते हैं और वेदवाणी से कर्त्तव्य-ज्ञान प्राप्त करके उसका आचरण करते हैं। हे प्रभो! **ताः**=वे प्रजाएँ **शिवेन मनसा**=कल्याणकर मन से **त्वा विशन्तु**=तुझमें प्रवेश करें। इन प्रजाओं को वह प्रभु **अभ्येतु**=आभिमुख्येन प्राप्त हो जो **संमाता**=सम्यक् निर्माण करनेवाला है, **वत्सः**=सर्वव्यापक है व वेदवाणी का उच्चारण करनेवाला है, **रोहितः**=सदा वृद्ध व तेजस्वी है।

भावार्थ—हम तपस्वी जीवनवाले हों, प्रभु-स्मरण करें, वेदवाणी को अपनाएँ, शिव मनवाले बनकर प्रभु में प्रवेश करनेवाले हों। प्रभु 'संमाता हैं, वत्स हैं, रोहित हैं'। इसप्रकार स्मरण करते हुए हम भी निर्माण करनेवाले हों। ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें व तेजस्वी बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अधि नाके अस्थात्

ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद्विश्वा रूपाणि जनयन्युवा कविः।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा वि भाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि॥ ११॥

१. **ऊर्ध्वः**='सत्त्व, रज, तम' रूपगुणवाली त्रिगुणमयी प्रकृति को धारण करता हुआ भी उससे ऊपर उठा हुआ **'भूतभृन्न च भूतस्थः'** **रोहितः**=तेजस्वी, सदा वृद्ध प्रभु **नाके**=मोक्षसुख में **अधि अस्थात्**=अधिष्ठातृरूपेण वर्तमान हैं। वे प्रभु **विश्वा रूपाणि जनयन्**=सब रूपों को प्रादुर्भूत करते हैं। **युवा**=सब बुराइयों को दूर करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ हैं—सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान के रूप में सब सत्यविद्याओं का उपदेश करते हैं। २. वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तिग्मेन ज्योतिषा**=तीव्र ज्योति से **विभाति**=दीप्त हैं—वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है। 'आदित्यवरुणं तमसः परस्तात्'—अन्धकार से परे हैं। वे प्रभु ही **तृतीये रजसि**=तृतीय लोक में—'तृतीये धामन्' तम व रजस् से ऊपर उठकर सत्त्व में पहुँचने पर—पृथिवी व अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर द्युलोक में पहुँचने पर—पाषाणों की निष्क्रियता व वायु की चंचलता से ऊपर उठकर सूर्य की दीप्ति में पहुँचने पर **प्रयाणि चक्रे**=हमारे लिए सब आनन्दों को करते हैं।

भावार्थ—प्रभु मोक्ष में अधिष्ठातृरूपेण वर्तमान हैं। सब रूपों को प्रादुर्भूत करते हुए बुराइयों को हमसे दूर करके अच्छाइयों को मिलाते हुए क्रान्तप्रज्ञ वे प्रभु हैं। तीव्र ज्योति से प्रकाशमान वे प्रभु ही मोक्षसुखों को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—जगती॥

सोमपृष्ठः सुवीरः

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः।
मा मा हासीन्नाथितो नेत्त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि॥ १२॥

१. **सहस्रशृङ्गः**=सूर्य के समान सहस्रों शृङ्गरूप किरणों से युक्त **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला **जातवेदाः**=सर्वज्ञ **घृताहुतः**=(घृतं आहुतं येन) सर्वत्र ज्ञानदीप्ति देनेवाला हृदयस्थरूपेण ज्ञान का प्रकाश देनेवाला **सोमपृष्ठः (पृष सेचने)**=शक्ति को उपासकों में सिक्त करनेवाला **सुवीरः**=उत्तम वीर—शत्रुओं को सम्यक् कम्पित करनेवाला **नाथितः**=प्रार्थना किया हुआ वह प्रभु **मा**=मुझे **मा हासीत्**=न छोड़े जाए। २. हे प्रभो! **न इत् त्वा जहानि**=न ही मैं आपको छोड़ जाऊँ—मैं आपसे दूर न हो जाऊँ। आप मेरे लिए **गोपोषं च धेहि**=ज्ञान की वाणियाँ का पोषण धारण कीजिए **च**=तथा **वीरपोषम्**=वीरता का पोषण धारण कीजिए। आपकी कृपा से मैं वीर और विज्ञानी बनूँ। उत्तम गौ और वीर सन्तानोंवाला बनूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आप प्रकाशमय व शक्तिसम्पन्न हैं। मैं आपकी आराधना करता हुआ आपसे दूर न होऊँ। आप मुझे ज्ञानी व वीर बनाएँ। मुझे गौओं व वीर सन्तानों से युक्त करें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—अतिशक्वरगर्भातिजगती॥

सामित्यै

रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमानाः स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु॥ १३॥

१. **रोहितः**=वह तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु **यज्ञस्य जनिता मुखं च**=यज्ञ को जन्म देनेवाला व इसका प्रवर्तक है—मुखिया है। सर्वप्रथम सर्वमहान् यज्ञ के करनेवाले प्रभु ही हैं। इस **रोहिताय**=तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु के लिए **वाचा श्रोत्रेण मनसा**=वाणी, श्रोत्र व मन से **जुहोमि**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। मैं वाणी से प्रभु के स्तोत्रों का गायन करता हूँ, मेरे कान प्रभुस्तोत्रों का ही श्रवण करते हैं और मन से मैं प्रभु के गुणों व महिमा का ही स्मरण व चिन्तन करता हूँ। २. इसप्रकार **सुमनस्यमानाः**=उत्तम मनवाले होते हुए **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **रोहितं यन्ति**=तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु को प्राप्त करते हैं। **सः**=वह रोहित प्रभु **मा**=मुझे **रोहैः**=सब प्रकार के आरोहणों के द्वारा—शरीर के स्वास्थ्य, मन की निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता के द्वारा **सामित्यै**=(सम् इति) अपने साथ मेल के लिए—ब्रह्मसंस्पर्श के लिए **रोहयतु**=पृथिवी से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, द्युलोक से ब्रह्मलोक में आरूढ़ करे। 'पृष्ठात् पृथिव्या-हमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षादिवमारुहं दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्'। 'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते'।

भावार्थ—प्रभु यज्ञों के उपदेष्टा हैं। यज्ञों को करते हुए तथा उन यज्ञों को प्रभु के प्रति अर्पण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें, उन्नत होते हुए ब्रह्मसंस्पर्शवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—त्रिपदापुरः-परशाक्वराविपरीतपादलक्ष्मापङ्क्तिः॥

यज्ञ व तेजस्विता

रोहितो यज्ञं व्य दधाद्विश्वकर्मणे तस्मात्तेजांस्युप मेमान्यागुः।
वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि॥ १४॥

१. **रोहितः**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु ने **विश्वकर्मणे**=इस सृष्टिरूप कर्म के लिए **यज्ञं व्यदधात्**=यज्ञ का विधान किया। यज्ञसहित ही प्रजाओं को जन्म देकर यह कहा कि इस यज्ञ से ही तुम फूलो-फलोगे। यही तुम्हारी इष्टकामनाओं को पूर्ण करेगा। प्रभु द्वारा विहित **तस्मात्**=उस यज्ञ से ही **इमानि तेजांसि**=ये तेज **मा**=मुझे **उप आगुः**=समीपता से प्राप्त होते हैं। यज्ञ से विपरीत भोगवृत्ति है। यह भोगवृत्ति ही सब तेजों के विनाश का कारण बनती है। २. हे प्रभो! **अधि मज्मनि**=(मज्म बलनाम-नि० २.९) बल के निमित **ते भुवनस्य नाभिम्**=आपके इस यज्ञ को—भुवननाभि को **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' वोचेयम्**=अपने जीवन से कहूँ, अर्थात् यज्ञशील बनकर बल व तेज को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—यज्ञ ही सृष्टिचक्र का आधार है। यही हमें तेजस्वी बनाता है। यज्ञ से विपरीत भोगवृत्ति तेजोविनाश का कारण बनती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भापराजगती**॥

बृहती, पङ्क्तिः, ककुप्

आ त्वा रुरोह बृहत्यू३त पङ्क्तिरा ककुब्वर्चसा जातवेदः।
आ त्वा रुरोहोष्णिहाक्षरो वषट्कार आ त्वा रुरोह रोहितो रेतसा सह॥ १५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन से यज्ञ का प्रतिपादन करनेवाले—यज्ञमय जीवनवाले **त्वा**=तुझे **बृहती आरुरोह**=बृहती आरोहण करती है। 'वाग्वै बृहती' (श० १४.४.१.२२) यह वाग्रूप बृहती तुझे प्राप्त होती है। वेदवाणी द्वारा प्राप्त ज्ञान तुझे अलंकृत करता है **उत**=और **पङ्क्तिः**=('पङ्क्तिर्विष्णोः पत्नी' गो० उ० २.९) विष्णु की पत्नी 'लक्ष्मी' तुझे मातृरूपेण प्राप्त होती है। इसके द्वारा तेरे सारे भौतिक कार्य शोभा के साथ चलते हैं। हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले (विद् ज्ञाने) तथा उत्पन्न धनवाले (विद् लाभे) उपासक! तुझे **वर्चसा**=वर्चस के साथ **ककुप् आ (रोह)**=प्राणो वै ककुप् छन्दः श० ८.५.२.४ प्राणशक्ति आरूढ़ होती है। तू प्राणशक्ति-सम्पन्न बनकर नीरोग व सुन्दर जीवनवाला होता है। २. **त्वा**=तुझे **उष्णिहा अक्षरः**=(आयुर्वा उष्णिक्-ऐ०१.५) जिसमें शक्ति का क्षरण (विनाश) नहीं हुआ ऐसा **आयुष्य आरुरोह**=प्राप्त होता है। **वषट्कारः (आरुरोह)**=('ओजश्च सहश्च वषट्कारश्च प्रियतमे तन्वौ' ऐ० ३.८) तुझे ओजस्विता व सहनशक्ति प्राप्त होती है। अब इस स्थिति में वह **रोहितः**=तेजस्वी प्रभु **रेतसा सह**=रेतस् के साथ (शक्ति के साथ) **त्वा**=तुझे **आरुरोह**=आरोहण करता है—प्राप्त होता है।

भावार्थ—यज्ञशील को 'ज्ञान, श्री, प्राणशक्ति, वर्चस, शक्ति-सम्पन्न दीर्घजीवन, ओजस्विता व सहनशीलता' प्राप्त होती है और अब 'शक्ति के साथ प्रभु' इसे प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥

सर्वव्यापक प्रभु

अयं वस्ते गर्भं पृथिव्या दिवं वस्तेऽयमन्तरिक्षम्।
अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान्व्यानशे॥ १६॥

१. यह उपासक प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि **अयम्**=यह परमेश्वर **पृथिव्या गर्भं वस्ते**=इस पृथिवीलोक के गर्भ को भी आच्छादित करता है। **दिवं वस्ते**=द्युलोक को भी आच्छादित करता है, **अयं अन्तरिक्षम्**=यह अन्तरिक्षलोक का भी आच्छादन करनेवाला है। २. यह प्रभु **ब्रध्नस्य विष्टपि**=सूर्य के प्रदेश में **स्वः लोकान्**=प्रकाशमय व सुखमय लोकों को **व्यानशे**=व्याप्त किये हुए हैं। वस्तुतः प्रभु की व्याप्ति से ही वे प्रकाश व आनन्द से परिपूर्ण

हैं।

भावार्थ—प्रभु पृथिवी के गर्भ में, अन्तरिक्ष में व द्युलोक में सर्वत्र व्याप्त हैं। सूर्य के प्रदेश में प्रकाशमय लोकों को भी व्याप्त किये हुए हैं। अपनी व्याप्ति से वे उन्हें प्रकाशमय व सुखमय बना रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाककुम्मतीजगती**॥

'पृथिवी-योनिः तल्पा' स्योना सुशेवा

वाच॑स्पते पृ॒थि॒वी नः॑ स्यो॒ना स्यो॒ना योनि॒स्तल्पा॑ नः सु॒शेवा॑।

इ॒हैव प्रा॒णः स॒ख्ये नो॑ अस्तु॒ तं त्वा॑ परमेष्ठि॒न्पर्य॒ग्निरायु॑षा॒ वर्च॑सा दधातु॥ १७॥

१. हे **वाचस्पते**=वेदवाणी के स्वामिन् प्रभो! आपसे दी गई इस वेदवाणी को हम देखें और उसके अनुसार जीने का प्रयत्न करें। ऐसा करने पर **पृथिवी नः स्योना**=यह पृथिवी हमारे लिए सुखकर हो। **योनिः स्योना**=घर सुख देनेवाला हो। **नः तल्पा सुशेवा**=हमारा यह सोने का मंच भी सुख देनेवाला हो। सब वस्तुओं का ठीक विनियोग करते हुए हम सुखी हों। २. **इह एव**= यहाँ—इस मानव-जीवन में ही **प्राणः**=वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्राणभूत प्रभु **नः सख्ये अस्तु**=हमारी मित्रता में हो—हम प्रभु के सखा बन पाएँ। हे परमेष्ठिन्! परम स्थान में स्थित प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको **अग्निः**=यह प्रगतिशील जीव **आयुषा वर्चसा**=आयुष्य और वर्चस् के साथ **परिदधातु**=अपने हृदय में धारण करे अथवा अपने चारों ओर धारण करे, आपसे अपने को सुरक्षित समझे। चारों ओर आपकी सत्ता को अनुभव करता हुआ निर्भय हो।

भावार्थ—प्रभुप्रदत्त वेदज्ञान को अपनाने पर ये पृथिवी, घर व शय्या सब हमारे लिए सुखकर होंगे। प्रभु हमारे मित्र होंगे। हम प्रगतिशील बनकर दीर्घजीवन व शक्ति के साथ प्रभु को अपने हृदयों में धारण करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥

छन्दः—**पञ्चपदापरशाक्वराभुरिक्ककुम्मत्यतिजगती**॥

ऋतवः वैश्वकर्मणाः

वाच॑स्पत ऋ॒तव॑ः पञ्च॒ ये नौ॑ वैश्वक॒र्म॒णाः परि॒ ये सं॑बभू॒वुः। इ॒हैव प्रा॒णः

स॒ख्ये नो॑ अस्तु॒ तं त्वा॑ परमेष्ठि॒न्परि॒ रोहि॑त॒ आयु॑षा॒ वर्च॑सा दधातु॥ १८॥

१. हे **वाचस्पते**=वेदज्ञान के स्वामिन् प्रभो! ये **पञ्च ऋतवः**=('पञ्चऋतवः हेमन्तशिशिरयोः समासेन'-ऐ०ब्रा०') जो पाँच ऋतुएँ हैं, वे **नौ**=हमारे लिए **वैश्वकर्मणाः**=सब ऋतुओं के अनुकूल कर्मों की साधक हों। ये ऋतुएँ वे हों **ये**=जोकि (नौ) **परिसंम्बभूवुः**=हमारे चारों ओर सम्यक् रूप में होती हैं। ऋतुओं का विपर्यय हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक न हो। २. इसप्रकार **इह एव**=इस जीवन में ही **प्राणः**=वह प्राणों-का-प्राण प्रभु (स उ प्राणस्य प्राणः) **नः सख्ये अस्तु**=हमारी मित्रता में हो। हम सदा प्रभु के सखा बन पाएँ। हे **परमेष्ठिन्!**=परम स्थान में स्थित प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **रोहितः**=तेजस्वी होता हुआ यह उपासक **आयुषा वर्चसा**=दीर्घजीवन व वर्चस् के साथ **परिदधातु**=अपने चारों ओर धारण करे। आपको चारों ओर अनुभव करता हुआ अपने को सुरक्षित जानने से निर्भय हो।

भावार्थ—सब ऋतुएँ हमारे अनुकूल हों। हम सब कर्मों को ऋतुओं के अनुसार करनेवाले हों। प्रभु की मित्रता में हम निर्भय हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥
छन्दः—पञ्चपदापरातिजागताककुम्मत्यतिजगती ॥

सौमनसं गाः प्रजाः

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन्पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि॥ १९॥

१. हे **वाचस्पते**=ज्ञान की वाणियों के स्वामिन् प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **सौमनसं मनः**=प्रशस्त प्रसादमय मननवाले मन को **जनय**=उत्पन्न कीजिए **च**=और **गोष्ठे**=हमारी गौशाला में **गाः**=(जनय) गौओं को प्रादुर्भूत कीजिए तथा **योनिषु प्रजाः**=घरों में उत्तम सन्तानों को प्राप्त कराइए। २. **इह एव**=इस जीवन में ही **प्राणः**=वह सबका प्राण प्रभु **नः सख्ये अस्तु**=हमारी मित्रता में हो—हम प्रभु के सखा बन पाएँ। हे **परमेष्ठिन्**=परम स्थान में स्थित प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **अहम्**=मैं **आयुषा वर्चसा**=आयुष्य व वर्चस् के साथ **परिदधामि**=अपने चारों ओर धारण करता हूँ। वस्तुतः आपका धारण ही मुझे आयुष्य व वर्चस् प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु के वेदज्ञान को अपनाते हुए हम 'मनःप्रसाद, उत्तम गौओं व उत्तम प्रजाओं' को प्राप्त करें, प्रभु की मित्रता में चलें। प्रभु को चारों ओर धारण करते हुए दीर्घजीवी व वर्चस्वी बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सूनृतावत् राष्ट्र

परि त्वा धात्सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा।
सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत्॥ २०॥

१. वह **सविता देवः**=उत्पादक व प्रेरक (सविता) तथा प्रकाशमय (देव) **त्वा**=तुझे **परिधात्**=सब ओर से धारण करता है। प्रभु की प्रेरणा को सुनता और निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त होता तथा स्वाध्याय द्वारा विकासमय जीवनवाला बनना ही धारण का मार्ग है। इसी से हम कभी भी शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते। **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु तुझे **वर्चसा**=वर्चस्—रोग-निरोधक शक्ति से धारण करें। हममें आगे बढ़ने की भावना होगी तो हम रोगों से आक्रान्त होंगे ही नहीं। **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **त्वा**=तुझे **अभि**=शरीर व मस्तिष्क दोनों के दृष्टिकोण से रक्षित करें। द्वेष से उत्पन्न होनेवाले विष शरीर व मस्तिष्क पर घातक प्रभाव डालते हैं। २. इसप्रकार 'सविता, देव, अग्नि, मित्र व वरुण' की आराधना करता हुआ तू **सर्वाः अरातिः**=सब शत्रुओं को **अवक्रामन्**=नीचे पादाक्रान्त करता हुआ **एहि**=गति कर। तेरे सब कर्त्तव्य शत्रुओं को कुचल कर किये जाएँ। 'काम, क्रोध, लोभ' से प्रेरित होकर तेरी गति न हो। इसप्रकार **इदं राष्ट्रम्**=इस शरीररूप राष्ट्र को **सूनृतावत् अकरः**=प्रिय, दुःखनाशक सत्य (सू ऊन् ऋत) वाणीवाला कर। तेरे जीवन में सत्य-ही-सत्य हो—असत्य का अंश भी न हो।

भावार्थ—हम 'सविता' के आराधक बनकर निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त हों, 'देव' की आराधना करते हुए प्रकाशमय जीवनवाले बनें। आगे बढ़ने की भावना हमें तेजस्वी बनाए। स्नेह व निर्द्वेषिता हमारे शरीर व मस्तिष्क का धारण करें। 'काम, क्रोध, लोभ' को कुचलकर हम कर्मों में प्रवृत्त हों। हमारा जीवन सत्यमय हो।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—आर्षीनिचृद्गायत्री ॥

पृषती प्रष्टिः

यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित। शुभा यासि रिणन्नपः ॥ २१ ॥

१. हे **रोहित**=सदावृद्ध, तेजस्विन् प्रभो! **यं त्वा**=जिस आपको **रथे**=इस शरीररूप रथ में **पृषती**=(to weary, vex. pain) प्राकृतिक भोगविलास में कष्ट को अनुभव करनेवाला अतएव **प्रष्टिः**=(bystander) प्राकृतिक भोगों से उपराम हुआ-हुआ (एक ओर होकर खड़ा हुआ) यह साधक **वहति**=धारण करता है तब आप **शुभा यासि**=उसके लिए सब शुभों को प्राप्त कराते हैं और **अपः रिणन्**=उसके रेतःकणों को शरीर में ही प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—प्रकृति चमकती है, जीव का उसकी ओर झुकाव होना स्वाभाविक है, परन्तु जब मनुष्य प्राकृतिक भोगों में विनाश अनुभव करता है तब वह प्रभु की ओर झुकता है। प्रभु उसे सब सुखों को प्राप्त कराते हैं। अब यह साधक शरीरस्थ रेतःकणों की ऊर्ध्वगति के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

रोहितस्य अनुव्रता रोहिणी

अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः।
तया वाजान्विश्वरूपां जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम ॥ २२ ॥

१. 'रोहित' प्रभु हैं, 'रोहिणी' प्रकृति है, प्रभु की पत्नी के रूप में यह प्रकृति है। प्रभु महादेव है तो यह पार्वती है, प्रभु विष्णु है तो यह लक्ष्मी है, प्रभु ब्रह्मा हैं तो यह सरस्वती है। जब 'रोहिणी' सब देवों को जन्म देनेवाली प्रकृति **रोहितस्य**=उस तेजस्वी प्रभु के **अनुव्रता**= अनुकूल व्रतवाली होती है, अर्थात् प्रकृति के सब पदार्थ हमें प्रभु की ओर ले-चलनेवाले होते हैं, उस समय यह **सूरिः**=ज्ञानवाली, **सुर्वणा**=उत्तमता से प्रभु के गुणों का वर्णन करनेवाली, **बृहती**=हमारे हृदयों को विशाल बनानेवाली तथा **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस्वाली होती है। यदि हम प्रकृति के भोगों में न फँसकर प्रकृति के पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखते हुए उनका सदुपयोग करें तो यह प्रकृति हमें 'ज्ञानी, प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला, विशाल हृदय व वर्चस्वी' बनाती है। २. **तया**=उस प्रकृति से हम **विश्वरूपां वाजान् जयेम**=अङ्ग-प्रत्यङ्गों को रूपसम्पन्न बनानेवाली शक्तियों का विजय करें। प्रकृति के पदार्थों के ठीक प्रयोग से हमारे सब अङ्ग सशक्त व सुरूप बनते हैं। **तया**=उस प्रभु की अनुव्रता प्रकृति से हम **विश्वाः पृतनाः**=सब शत्रुओं को **अभिष्याम**=अभिभूत करें। प्रकृति का युक्त प्रयोग होने पर यह हमें प्रभु की ओर ले-चलती है। उस समय ये हमें विजयी-ही-विजयी बनाती है।

भावार्थ—हम प्रकृति का इसप्रकार से प्रयोग करें कि यह हमें प्रभु की ओर ले-चलनेवाली हो। उस समय हम 'ज्ञानी, स्तोता, विशाल हृदय व तेजस्वी' बनेंगे। हम इस प्रकृति के द्वारा सब शक्तियों पर विजय करते हुए सब शत्रुओं को जीतनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

रोहिणी रोहितस्य इदं सदः

इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥ २३ ॥

१. **रोहिणी**=प्रकृति **रोहितस्य**=उस तेजस्वी प्रभु का **इदं सदः**=यह घर है—निवास स्थान

है। प्रभु प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान हैं। **असौ पन्थाः**=मार्ग वह है **पृषती येन याति**=यह (पृष् to give) सब पदार्थों को देनेवाली प्रकृति जिससे जाती है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ पिण्ड एकदम नियमित गति से चल रहा है। जीव को भी चाहिए की वह सूर्य और चन्द्र की भाँति नियमित गति से चले। 'स्वस्तिपन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'। २. **ताम्**=उस प्रकृति को **गन्धर्वाः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले **कश्यपाः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **उन्नयन्ति**=उन्नत करते हैं—अपने जीवन में उत्कर्षेण प्राप्त करते हैं—प्रकृति का ठीक प्रयोग करते हुए वे उसे उचित आदर देते हैं। **ताम्**=उस प्रकृति को **कवयः**=ज्ञानी लोग **अप्रमादम्**=प्रमादशून्य होकर **रक्षन्ति**=रक्षित करते हैं। प्रकृति के बने हुए इस शरीर के रक्षण को भी वे धर्म समझते हैं और इस शरीर की बड़ी सावधानी से रक्षा करते हैं

भावार्थ—प्रकृति में सर्वत्र प्रभु का वास है। प्रकृति के बने सूर्यादि सब पिण्डों को प्रभु ही प्रकाश प्राप्त कराते हैं। इन सूर्य-चन्द्रादि की भाँति नियमित मार्ग का ये अनुसरण करते हैं। प्रकृति के ठीक प्रयोग से वे उसका आदर करते हैं और शरीर-रथ का पूर्णरूपेण रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सूर्यस्य अश्वाः

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम्।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश॥ २४॥

१. **सूर्यस्य**=सूर्य के **अश्वाः**=किरणरूप अश्व **हरयः**=हमारे सब रोगों का हरण करनेवाले हैं। **केतुमन्तः**=प्रकाशवाले ये किरणरूप अश्व **अमृताः (न मृतं येभ्यः)**=हमें मृत्यु व रोगों से बचाते हैं और इसप्रकार **रथम्**=शरीर-रथ को **सुखं वहन्ति**=(ख=इन्द्रियाँ) उत्तम इन्द्रियोंवाला बनाकर वहन करते हैं। 'उद्यन्नादित्यः कृमीन् हन्ति निम्लोचन हन्तु रश्मिभिः'। २. **घृतपावा**=इन सूर्यादि पिण्डों में दीप्ति का रक्षण करनेवाला **रोहितः**=वह तेजस्वी **भ्राजमानः**=दीप्त होता हुआ **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **दिवम्**=इस प्रकाशमय द्युलोक—द्युलोकस्थ सूर्य तथा **पृषतीम्**=इस 'लोहित शुक्ल, कृष्ण' (रज, सत्त्व, तमवाली) चित्रित प्रकृति में **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहा है। वस्तुतः प्रभु से ही इन प्राकृतिक पिण्डों को वह-वह 'विभूति, श्री व ऊर्ज्' प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—सूर्य की किरणें हमारे शरीर-रथ को नीरोग बनानेवाली हैं। सूर्य में इस दीप्ति को प्रभु ही स्थापित करते हैं। प्रभु प्रत्येक प्राकृतिक पिण्ड में प्रविष्ट हुए-हुए उस-उस श्री को वहाँ प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रोहितः वृषभः तिग्मशृङ्गः

यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद्देवा अधि सृष्टीः सृजन्ते॥ २५॥

१. **यः**=जो प्रभु **रोहितः**=सदा प्रवृद्ध व तेजस्वी हैं **वृषभः**=सुखों का सेचन करनेवाले व **तिग्मशृङ्गः**=बड़े तीक्ष्ण ज्ञानकिरणरूप शृङ्गोंवाले हैं, वे प्रभु ही **अग्निं परिबभूव**=अग्नि को समन्तात् व्याप्त कर रहे हैं और **सूर्यम् परि (बभूव)**=सूर्य को व्याप्त कर रहे हैं। वस्तुतः प्रभु ही अग्नि में तेज के रूप से रह रहे हैं और सूर्य में वे ही 'प्रभा' के रूप में हैं। 'तेजश्चास्मि विभावसौ प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'। **यः**=जो प्रभु **दिवं पृथिवीं च**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **विष्टभ्नाति**=थामते हैं, **तस्मात्**=उस प्रभु से ही—प्रभु की शक्ति से ही और प्रभु के अधिष्ठातृत्व

में ही (अधि) **देवाः**=सब देव **सृष्टीः अधि सृजन्ते**=सृष्टियों को जन्म देते हैं। 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' यह चराचर जगत् प्रभु की अध्यक्षता में ही प्रकृति से उत्पन्न होता है।

भावार्थ—वे प्रभु तेजस्वी हैं, सुखों का वर्षण करनेवाले व तीव्र किरणरूप शृङ्गोंवाले हैं। अग्नि व सूर्यादि में प्रभु ही व्याप्त हो रहे हैं। वे प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण करते हैं। सब देव प्रभु की अध्यक्षता में ही सृष्टियों को रचते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**विराट्परोष्णिक्**॥

दिवम् आरुहत्

रोहितो दिवमारुहन्महतः पर्यर्णवात्। सर्वा रुरोह रोहितो रुहः॥ २६॥

१. वह **रोहितः**=तेजस्वी प्रभु **महतः परि अर्णवात्**=(अर्णवः agitated) महान् क्षुब्ध (तीव्र गतिमय) प्रकृति के अणुसमुद्र से **दिवं परि आरुहत्**=(परि वर्जने) ऊपर उठकर अपने प्रकाशमय स्वरूप में स्थित हैं। सम्पूर्ण प्रकृति के अणुसमुद्र को वे ही गति दे रहे हैं, परन्तु स्वयं शान्त हैं 'तदेजति तन्नैजति', 'भूतभृन्न च भूतस्थः'। २. वह **रोहितः**=तेजस्वी प्रभु **सर्वाः रुहः रुरोह**=संसार-वृक्ष की सब शाखाओं को जन्म देनेवाले हैं और इन सबमें व्याप्त हो रहे हैं। (सबका आरोहण करते हैं)।

भावार्थ—यह रोहित प्रभु इस प्रकृति के अणुसमुद्र को गति देकर संसार का निर्माण करते हैं, परन्तु इसमें उलझते नहीं। वे प्रभु ही संसार-वृक्ष की सब शाखाओं को प्रादुर्भूत करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पयस्वती घृताची 'धेनुः'

वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा।
इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्त्वग्निः प्र स्तौतु वि मृधो नुदस्व॥ २७॥

१. वेदरूपी धेनु ज्ञानदुग्ध द्वारा हमारा पोषण करती है। इस **पयस्वतीम्**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली—दुग्ध द्वारा हमारा पोषण करनेवाली तथा **घृताचीम्**=(घृ दीप्तौ क्षरणे) मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति द्वारा हमारे जीवनों को अलंकृत करनेवाली वेदधेनु को **विमिमीष्व**=विशिष्टरूप से निर्मित कर—उसका उच्चारण कर (मा=to roar, sound)। **एषा**=यह **देवानां धेनुः**=देवों—देववृत्ति के पुरुषों की गाय है। **अनपस्पृक्**=यह पृथक् करने योग्य नहीं—सदा स्पर्श के योग्य है। वेद का स्वाध्याय तो नित्य करना ही है। २. एक **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष को चाहिए कि वह **सोमं पिबतु**=सोमशक्ति का शरीर में पान करे। सुरक्षित सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है, तभी वेदधेनु के दुग्धपान की रुचि उत्पन्न होती है। इसप्रकार हमारा **क्षेमः अस्तु**=कल्याण-ही-कल्याण हो। **अग्निः प्रस्तौतु**=यह प्रगतिशील जीव प्रभु का स्तवन करे और **मृधः विनुदस्व**=संहार कर देनेवाले इन काम, क्रोध, लोभरूप शत्रुओं को दूर धकेल दे। प्रभु-स्तवन कामादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कराएगा, इसप्रकार सोम का रक्षण सम्भव होगा और ज्ञानाग्नि की दीप्ति होकर वेदधेनु के ज्ञानदुग्ध के पान की क्षमता बढ़ेगी।

भावार्थ—वेदधेनु का ज्ञानदुग्ध हमारा आप्यायन करता है, यह मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाली है। जितेन्द्रिय पुरुष सोम का रक्षण करता हुआ ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। प्रभु-स्तवन करता हुआ यह काम, क्रोधादि शत्रुओं को अपने से दूर रखता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप्॥

'अभीषाड् विश्वाषाड्' अग्निः

समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान्हन्तु ये मम॥ २८॥

१. **अग्निः सम् इद्धः**=गतमन्त्र के अनुसार वेद के स्वाध्याय से वह अग्रणी प्रभु हमारे हृदयों में समिद्ध हुए हैं। **सम् इधानः**=सम्यक् दीप्त होते हुए ये प्रभु **घृतवृद्धः**=दोषों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति द्वारा हमारे अन्दर बढ़ते हैं, **घृताहुतः**=वस्तुतः प्रभु ही ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाले हैं (घृतं आहुतं येन)। २. ये प्रभु ही ज्ञान देकर **अभीषाट्**=हमारे शत्रुओं का सर्वत्र पराभव करनेवाले हैं। **विश्वाषाट्**=हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं। इसप्रकार **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु ही **ये मम**=जो मेरे शत्रु हैं उन सब **सपत्नान् हन्तु**=शत्रुओं का विनाश करें।

भावार्थ—स्वाध्याय के द्वारा हम प्रभु के प्रकाश को हृदयों में देखने का प्रयत्न करें। दीप्त होते हुए प्रभु हमारे ज्ञान को और बढ़ाते हैं और प्रभु ही हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं, हमें कामादि पर विजय प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

ज्ञानाग्नि Vs. क्रव्यादग्नि

हन्त्वेनान्प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति। क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान्प्र दहामसि॥ २९॥

१. वह प्रभु **एनान्**=इन हमारे शत्रुओं का विनाश करें **यः अरिः**=जो भी शत्रु **नः पृतन्यति**=हमपर आसुरभावों की सेना से आक्रमण करता है, अग्रणी प्रभु उनको **प्रदहतु**=जला दे। हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले शत्रुओं को हम ज्ञानाग्नि द्वारा भस्म करनेवाले हों। २. **वयम्**=हम **क्रव्यात् अग्निना**=कच्चा मांस खा जानेवाले कामाग्नि द्वारा **सपत्नान् प्रदहामसि**=शत्रुओं को ही जलानेवाले हों। कामाग्नि हमारे शत्रुओं को भस्म करे। हम ज्ञानाग्नि द्वारा इन कामादि शत्रुओं का विनाश करनेवाले बनें।

भावार्थ—कामाग्नि हमारे शत्रुओं को भस्म करे। हम ज्ञानाग्नि द्वारा इन कामादि शत्रुओं को भस्म करनेवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अग्नेः तेजोभिः

अवाचीनानव जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान्।
अधा सपत्नान्मामकानग्नेस्तेजोऽभिरादिषि॥ ३०॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों को वश में करनेवाले **बाहुमान्**=प्रशस्त भुजाओंवाले, अर्थात् शक्तिशाली साधक! तू **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप व्रज से **अवाचीनान्**=निम्न गतिवाले—नीचे की ओर ले-जानेवाले इन काम, क्रोधादि शत्रुओं को **अवजहि**=सुदूर विनष्ट कर। जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता हमें शत्रुओं को वश में करने योग्य बनाती है। २. **अध**=अब मैं **मामकान् सपत्नान्**=अपने शत्रुओं को **अग्नेः तेजोभिः**=उस अग्रणी प्रभु के तेजों से **आ आदिषि**=निगृहीत कर लेता हूँ। प्रभु की उपासना में उपासक प्रभु के तेज से तेजस्वी बनता है और काम, क्रोधादि शत्रुओं को निगृहीत करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर शत्रुओं का पराभव करें। प्रभु के तेज से

तेजस्वी होकर हम शत्रुओं का निग्रह करने में समर्थ हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—पञ्चपदाककुम्मतीशाक्वरगर्भाजगती ॥

बृहस्पति, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ

अग्ने सपत्नानधरान्पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते।

इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः ॥ ३१ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सपत्नान् अधरान् पादय**=शत्रुओं को नीचे गतिवाला कीजिए, उन्हें पादाक्रान्त कर दीजिए। **सजातम्**=साथ ही उत्पन्न होनेवाले **उत्पिपानम्**=(पि गतौ, उत्पेपीयमानं कुटिलमुद्गच्छन्तम्)=कुटिल गतिवाले इस कामरूप शत्रु को हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **व्यथया**=पीड़ित करके दूर कर दीजिए। २. हे **इन्द्राग्नी**=जितेन्द्रियता व अग्रगति की भावनाओ! **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! ये शत्रु **अप्रतिमन्यूयमानाः**=हमारे प्रति क्रोध न कर सकने योग्य होते हुए—निष्फल क्रोधवाले होते हुए **अधरे पद्यन्ताम्**=नीचे गतिवाले हों—पराजित हो जाएँ।

भावार्थ—हममें आगे बढ़ने की भावना हो (अग्नि) ज्ञान-प्राप्ति की रुचि हो (बृहस्पति), हम जितेन्द्रिय बनें और आगे बढें (इन्द्र+अग्नि) तथा स्नेह व निर्द्वेषतावाले हों (मित्र+वरुण)। यही मार्ग है जिससे हम शत्रुओं का पराभव कर सकेंगे।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सूर्य की किरणों में नीरोगता

उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि।

अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः ॥ ३२ ॥

१. काम-क्रोधादि शत्रुओं की भाँति रोग भी हमारे शत्रु हैं। उदय होता हुआ सूर्य रोगकृमियों को नष्ट करके इन रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करता है। 'उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्तु निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः।' इसलिए कहते हैं कि हे **देव सूर्य**=हमारे रोगों को जीतने की कामनावाले सूर्य! **उद्यन् त्वम्**=उदय होता हुआ तू **मे सपत्नान् अवजहि**=मेरे इन रोगरूप शत्रुओं को विनष्ट कर। २. हे साधक! तू **एनान्**=शत्रुओं को **अश्मना (अश्मा भवतु नस्तनूः)**=पाषाण-तुल्य दृढ़ शरीर से **अवजहि**=सुदूर भगा दे। तू शरीर को दृढ़ बना। यह रोगों का शिकार हो ही न पाये। **ते**=वे रोगरूप सब शत्रु **अधमं तमः यन्तु**=गहन अन्धकार को प्राप्त हों—इनकी स्थिति पाताललोक में हो। ये हम तक न पहुँच पाएँ।

भावार्थ—सूर्यकिरणों के सम्पर्क में जीवन बीताते हुए हम नीरोग शरीरवाले बनें। हमारे दृढ़ शरीर में रोगों का प्रवेश हो ही न सके।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

घृतेन ब्रह्मणा

वत्सो विराजो वृषभो मतीनामा रुरोह शुक्रपृष्ठोऽन्तरिक्षम्।

घृतेनार्कमभ्य र्चन्ति वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति ॥ ३३ ॥

१. **विराजः वत्सः**=(वत्सः वसतीति) विराट् में अधिष्ठातृरूपेण निवास करनेवाला (ततो विराडजायत, विराजोऽधि पुरुषः), **मतीनां वृषभः**=बुद्धियों का, ज्ञानों का वर्धन करनेवाला **शुक्रपृष्ठः**=देदीप्यमान् पृष्ठवाला, अर्थात् अत्यन्त तेजस्वी प्रभु **अन्तरिक्षं आरुरोह**=हमारे हृदय अन्तरिक्ष में आरोहण करता है। हम हृदय में विराट् पिण्ड द्वारा सृष्टि के निर्माता प्रभु का स्मरण

करते हैं। प्रभु ही हमें बुद्धियों को प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु तेजोदीप्त (आदित्यवर्ण) हैं। २. इस **अर्कम्**=अर्चनीय, **वत्सम्**=सर्वत्र निवासवाले व वेदज्ञान का उपदेश करनेवाले प्रभु को उपासक **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति के द्वारा **अभ्यर्चन्ति**=पूजते हैं। **ब्रह्म सन्तम्**=उपासक ज्ञानस्वरूप होते हुए प्रभु को **ब्रह्मणा वर्धयन्ति**=ज्ञान के द्वारा अपने अन्दर बढ़ाते हैं।

भावार्थ—हम विराट् पिण्ड में निवास करनेवाले, बुद्धियों के वर्धक, तेजःपुञ्ज प्रभु का हृदयों में ध्यान करें। हम प्रभु को मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति द्वारा पूजें। ब्रह्म का पूजन ब्रह्म (ज्ञान) द्वारा ही हो सकता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-प्राप्ति का मार्ग

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह।
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व॥ ३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की उपासना करता हुआ तू **दिवं च रोह**=मस्तिष्करूप द्युलोक का आरोहण कर—मस्तिष्क को उत्तम बना। **पृथिवीं च रोह**=शरीररूप पृथिवीलोक का भी तू विकास कर। **राष्ट्रं च रोह**=अपने गृहरूप राष्ट्र को भी उन्नत कर। **द्रविणं च रोह**=अपने धन को भी बढ़ानेवाला बन। २. **प्रजां च रोह**=सन्तानों को उत्तम बना। **अमृतं च रोह**=नीरोगता का प्रादुर्भाव कर। इसप्रकार करता हुआ तू **तन्वम्**=अपने शरीर को **रोहितेन संस्पृशस्व**=उस तेजस्वी प्रभु से मेलवाला कर।

भावार्थ—वस्तुतः प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम दीप्तमस्तिष्क व तेजस्वी शरीरवाले बनें। गृहरूप राष्ट्र को उन्नत करें, आवश्यक धन का सम्पादन करें, उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें, उन्हें नीरोग बनाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

रोहितः देवाः

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम्।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः॥ ३५॥

१. ये **देवाः**=जो देववृत्ति के पुरुष **राष्ट्रभृतः**=राष्ट्र का धारण करनेवाले हैं, वे **अभितः सूर्यं यन्ति**=शीघ्रता से (अभितः=quickly) सूर्यसम् ज्योतिवाले ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। ब्रह्म की उपासनावाले ये देव ही वस्तुतः राष्ट्र का भरण कर पाते हैं। ब्रह्म की उपासना उन्हें शक्ति व पवित्रता प्राप्त कराती है। २. **तैः**=उन विद्वानों से **संविदानः**=ऐकमत्यवाला तथा **सुमनस्यमनः**=प्रीतिवाला होता हुआ **रोहितः**=तेजोदीप्त, सदावृद्ध प्रभु **ते राष्ट्रं दधातु**=तेरे राष्ट्र को धारण करें। प्रभु इन देवों के द्वारा राष्ट्र का धारण करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र का धारण वे देववृत्ति के व्यक्ति ही कर पाते हैं जो प्रभु के सम्पर्क में शक्ति व पवित्रता का सम्पादन करते हैं। इनके प्रति प्रीतिवाले प्रभु इन्हें राष्ट्रधारण-शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृन्महाबृहती**॥

'ब्रह्मपूताः यज्ञाः', 'अध्वगतः हरयः'

उत्त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति।
तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम्॥ ३६॥

१. गतमन्त्र में संकेतित देव बनने के लिए हमें क्या करना है? इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **ब्रह्मपूताः यज्ञाः उद्वहन्ति**=वेदमन्त्रों से पवित्र हुए-हुए यज्ञ विषयवासनाओं से ऊपर उठाते हैं। **अध्वगतः हरयः**=मार्ग पर चलनेवाले घोड़े—ये इन्द्रियाश्व **त्वा वहन्ति**=तुझे प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं। यदि हमारे इन्द्रियाश्व विषयपंक में मग्न न होकर मार्ग पर आगे बढ़ेंगे, तो हम प्रभु को प्राप्त करेंगे ही। २. इसप्रकार यज्ञनशील बनकर इन्द्रियाश्व द्वारा मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ व्यक्ति प्रभु को प्राप्त करता है। इस व्यक्ति के लिए कहते हैं कि तू **समुद्रं अर्णवम्**=इस गतिशील अणुसमुद्र से बने ब्रह्माण्ड से **तिरः अतिरोचसे**=पार होकर अतिशयेन देदीप्यमान होता है। (ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः)। यज्ञ करना और मार्ग पर आगे बढ़ना ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम वेदमन्त्रों के साथ यज्ञ करें तथा इन्द्रियाश्वों को मार्ग से भटकने से बचाएँ। यही संसार से पार होने का मार्ग है। इसी मार्ग से प्रभु को प्राप्त होकर हम दीप्त जीवनवाले बन पाएँगे।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—परशाक्वराविराडतिजगती॥

वसुजिति गोजिति सन्धनाजिति

रोहि॑ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी अधि॑श्रिते॒ व॑सु॒जिति॒ गो॒जिति॒ सन्ध॒ना॒जिति॑।
स॒हस्रं॒ यस्य॒ जनि॑मानि स॒प्त च॒ वो॒चेयं॒ ते॒ ना॒भिं॒ भुव॑न॒स्याधि॑ म॒ज्मनि॑॥ ३७॥

१. **रोहिते**=अतिशयेन तेजस्वी व सदावृद्ध प्रभु में ही **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **अधिश्रिते**=आश्रित हैं। द्यावापृथिवी के अन्तर्गत सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को वे प्रभु ही धारण कर रहे हैं, जो **वसुजिति**=वसुओं को जीतनेवाले हैं—हमारे लिए सब वसुओं (निवास के लिए आवश्यक पदार्थों) को प्राप्त करानेवाले हैं। **गोजिति**=हमारे लिए गौओं का विजय करानेवाले हैं—गौओं को प्राप्त करानेवाले हैं। अथवा (**गावः**=इन्द्रियाणि) हमारे लिए इन्द्रियों का विजय करनेवाले हैं—प्रभु-स्मरण ही हमें इन्द्रियों के विजय के योग्य बनाता है। **सन्धनाजिति**=वे प्रभु ही धनों का सम्यक् विजय करनेवाले हैं। प्रभु वे हैं **यस्य**=जिनके **सहस्रं जनिमानि**=हज़ारों प्रादुर्भाव हैं—वे प्रभु हज़ारों लोकों का निर्माण करते हैं **च**=और उन लोकों में **सप्त**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात ऋषियों को जन्म देते हैं, जिनके द्वारा हमारा यह सप्तहोता यज्ञ चलता है, 'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता'। हे प्रभो! मैं **मज्मनि**=बल के निमित्त—बल प्राप्त करने के लिए **ते**=आपके द्वारा उपदिष्ट **भुवनस्य नाभिम्**=इस भुवन के केन्द्रभूत यज्ञ को 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' **अधिवोचेयम्**=आधिक्येन कहूँ—जीवन से यज्ञों का ही प्रतिपादन करूँ—यज्ञनशील बनूँ।

भावार्थ—प्रभु ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार हैं। प्रभु ही वसुओं, गौओं व धनों का विजय करनेवाले हैं। सब लोकों को प्रभु उत्पन्न करते हैं और जीवन-यज्ञों को सम्यक् पूर्ण करने के लिए 'दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' को प्राप्त कराते हैं। हम बल प्राप्त करने के लिए सप्तहोतृक यज्ञों का विस्तार करें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

यशाः

य॒शाः या॑सि प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च य॒शाः प॑शू॒नामु॒त च॑र्षणी॒नाम्।
य॒शाः पृ॑थि॒व्या अदि॑त्या उ॒पस्थे॒ऽहं भू॑यासं सवि॒तेव॒ चारुः॥ ३८॥

१. हे प्रभो! **यशाः**=(यशः अस्ति अनेन) उपासक के जीवन को यशस्वी बनानेवाले आप

दिशः प्रदिशः च यासि=सब दिशाओं व प्रदिशाओं में व्याप्त हैं। आप ही **पशूनाम् यशाः**=उस-उस पशु में उस-उस यश को स्थापित करनेवाले हैं। मक्खियों को फूलों से रस लेकर शहद के निर्माण की शक्ति आप ही प्राप्त कराते हैं। चील को निष्कम्प पक्षों से आकाश में गति की शक्ति आप ही देते हैं। सिंह को नदी को कुशलता से तैरने की शक्ति आप ही देते हैं **उत**=और **चर्षणीनाम्**=मनुष्यों के यश भी आप ही है। बुद्धिमानों की बुद्धि आप हैं तो तेजस्वियों के तेज आप ही हैं। बलवानों का कामरागविवर्जित बल भी आप ही हैं। २. हे प्रभो! आपकी कृपा से **पृथिव्याः**=इस पृथिवी माता की तथा **अदित्याः**=अखण्डित वेदवाणी की **उपस्थे**=गोद में **अहम्**=मैं **यशाः**=यशस्वी जीवनवाला **भूयासम्**=होऊँ। मैं **सविता इव चारुः**=सूर्य की भाँति दीप्त, सुन्दर जीवनवाला बनूँ। पृथिवीमाता की गोद में रहता हुआ, स्वाभाविक जीवन बिताता हुआ मैं स्वस्थ बनूँ तथा वेदवाणी की गोद में मैं ज्ञानदीप्त बनूँ। इसप्रकार सूर्य के समान चमकनेवाला होऊँ।

भावार्थ—दिशाओं में, पशुओं व मनुष्यों में, सर्वत्र प्रभु के ही यश का विस्तार है। हम पृथिवीमाता की गोद में वेदवाणी को अपनाते हुए स्वस्थ, ज्ञानदीप्त बनकर यशस्वी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रोचन सूर्य विपश्चित्

अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम्॥ ३९॥

१. हे प्रभो! आप **अमुत्र सन्**=उस सुदूर स्थान में होते हुए **इह वेत्थ**=यहाँ सब-कुछ जानते हो और **इतःसन्**=इधर होते हुए **तानि पश्यसि**=उन सुदूर की वस्तुओं को भी देखते हो। २. इसप्रकार प्रभु के उपासक **इतः**=इधर हृदयदेश में उस प्रभु को **पश्यन्ति**=देखते हैं, जो प्रभु **रोचनम्**=दीप्त हैं, **दिवि सूर्यम्**=अपने प्रकाशमय स्वरूप में निरन्तर गतिवाले हैं। **विपश्चितम्**=ज्ञानी हैं। २. प्रभु का हृदय में ध्यान करते हुए हम भी ओजस्वी बनें (रोचनम्), ज्ञानपूर्वक क्रियाओं को करनेवाले हों (दिवि सूर्यम्) अधिक-से-अधिक ज्ञान को प्राप्त करें (विपश्चितम्)।

भावार्थ—प्रभु पृथिवीलोक में स्थित होते हुए द्युलोक को सम्यक् देखते हैं, द्युलोक में होते हुए पृथिवी को सम्यक् देखते हैं। इन प्रभु को उपासक हृदय में 'रोचन, सूर्य, विपश्चित्' रूप में देखता है। ऐसा ही बनने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु का दर्शन

देवो देवान्मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे। समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे॥ ४०॥

१. हे प्रभो! **देवः**=आप प्रकाशमय व सम्पूर्ण गति के स्रोत हैं **देवान् मर्चयसि**=सूर्यादि सब देवों को आप ही (मर्च् to move) गति देते हैं। आप ही **अर्णवे**=गतिमय अणुसमुद्र के **अन्तः चरसि**=अन्दर विचरण करते हैं—एक-एक कण में आप व्याप्त हैं। २. **तम्**=उस **समानम्**=(सम्यक् आनयति) सबको समानरूप से प्राणित करनेवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **कवयः**=क्रान्तदर्शी विद्वान् **इन्धते**=अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। उस प्रभु को **परे**=प्राकृतिक भोगों से दूर रहनेवाले ज्ञानी ही **विदुः**=जानते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सूर्यादि सब पिण्डों को गति देते हैं। अणुसमुद्र में भी प्रभु व्याप्त हैं। उस प्रभु को ज्ञानी अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। प्रभु का ज्ञान उन्हीं को होता है जो प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रकृतिविद्या+आत्मविद्या

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व ऽ स्वित्सूते नहि यूथे अस्मिन्॥ ४१॥

१. अपराविद्या 'अवः' है, तो पराविद्या 'परः' है। **अवः परेण**=अपराविद्या को पराविद्या के साथ तथा **परः**=पराविद्या को **एना अवरेण**=इस अपराविद्या के साथ **पदा**=अपने पदों से—शब्दों से **बिभ्रती**=धारण करती हुई **गौः**=यह वेदवाणी **वत्सम्**=(वदति) उच्चारण करनेवाले इस जीवरूप वत्स को **उत् अस्थात्**=उन्नत करती है (उत्थापयति)। अकेली प्रकृतिविद्या अन्धकार में ले-जाती है, तो अकेली आत्मविद्या घोर अन्धकार में प्राप्त कराती है। यह वेदवाणी दोनों का मेल करती हुई प्रकृतिविद्या से हमें मृत्यु से तैराती है तथा आत्मविद्या से अमृतत्व को प्राप्त कराती है। प्रकृतिविद्या से अभ्युदय को सिद्ध करती है तो आत्मविद्या से निःश्रेयस को। २. इसप्रकार **सा**=वह वेदवाणी **कद्रीची**=(कौ अञ्चति) पृथिवी पर गति करती हुई **कंस्वित्**=कितने महान् **अर्धम्**=सर्वोच्च स्थान को **परागात्**=सुदूर प्राप्त करती है। अपने बाह्य अर्थों से यह प्रकृति का ज्ञान देती हुई अन्तर अर्थों से प्रभु का साक्षात्कार कराती है। इसप्रकार प्रभु-दर्शन कराती हुई यह वेदवाणी **क्वस्वित् सूते**=भला जन्म कहाँ देती है? यह मुक्ति की स्थिति को प्राप्त कराके जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठा देती है। मुक्ति न भी प्राप्त हो तो भी **नहि यूथे अस्मिन्**=सामान्य लोकसमूह में तो जन्म देती ही नहीं, **'शुचीनां श्रीमतां गेहे'**, **'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्'**=पवित्र श्रीमानों व योगियों के कुल में यह हमें जन्म प्राप्त कराती है, 'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्' वहाँ उत्तम बुद्धिसंयोग को प्राप्त करके हम मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी अपरा व पराविद्या का समन्वय करके हमें मृत्यु से ऊपर उठाकर अमृतत्व प्राप्त कराती है। यह प्रकृतिविद्या द्वारा अभ्युदय में गति कराती हुई आत्मविद्या से मोक्ष में पहुँचाती है। यह हमें जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठाती है अथवा योगियों के प्रशस्त कुल में ही जन्म देती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

एकपदी-नवपदी

एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभूवुषी।
सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति॥ ४२॥

१. यह वेदवाणी **एकपदी**=(पद गतौ, गतिः ज्ञानम्) उस अद्वितीय प्रभु का ज्ञान देती है। **द्विपदी**=जीव-परमात्मा का 'द्वा सुपर्णा' आदि मन्त्रों में चित्रण करती है। **सा चतुष्पदी**=यह वाणी 'सोऽयमात्मा चतुष्पाद', इन उपनिषद् शब्दों के अनुसार आत्मा के चार पदों का वर्णन करती है। **अष्टापदी**='भूमि, आपः, अनल, वायु, खं, मनः, बुद्धि व अहंकार' रूप प्रभु की आठ मूर्त्तियों का प्रतिपादन करती है तथा **नवपदी बभूवुषी**=शरीरस्थ आत्मा के इन्द्रियरूप नवद्वारों (अष्टाचक्रा नवद्वारा०) का वर्णन करनेवाली होती हुई यह वाणी **सहस्राक्षरा**=हज़ारों प्रकार से

प्रभु के रूप का व्यापन कर रही है (अश् व्याप्तौ)। २. प्रभु का प्रतिपादन करती हुई यह वाणी **भुवनस्य पङ्क्तिः**=इस ब्रह्माण्ड का विस्तार करनेवाली है (पच् विस्तारे)। सम्पूर्ण भुवन का विस्तृत प्रतिपादन करती है। **तस्याः**=उस वेदवाणी से ही **समुद्राः**=सब विज्ञानों के समुद्र **अधिविक्षरन्ति**=प्रवाहित होते हैं। सब सत्यविद्याओं का आदिस्रोत यही तो है।

भावार्थ—यह वेदवाणी आत्मा व परमात्मा का विविध रूपों में वर्णन करती हुई भुवन की विद्याओं का भी विस्तृत वर्णन करती है। यह सब सत्यविद्याओं का आदिस्रोत है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराण्महाबृहती**॥

प्रकाशमय नीरोम जीवन

आरोहन्द्यामममृतः प्राव मे वचः।

उत्त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति॥ ४३॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **द्याम् आरोहन्**=मस्तिष्करूप द्युलोक में आरोहन करता हुआ **अ-मृतः**=नीरोग बनता हुआ तू **मे वचः प्राव**=मुझसे दी गई वेदवाणी का प्रकर्षेण रक्षण कर। यह वेदवाणी ही वस्तुतः प्रकाशमय व नीरोग जीवनवाला बनाएगी। २. **त्वा**=तुझे **ब्रह्मपूताः**=वेदवाणी के उच्चारण से पवित्र किये गये **यज्ञाः**=यज्ञ **उद् वहन्ति**=उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त कराते हैं। **अध्वगतः हरयः**=मार्ग पर चलनेवाले ये इन्द्रियाश्व **त्वा वहन्ति**=तुझे लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी का नियम से स्वाध्याय करते हुए हम प्रकाश व नीरोगता को प्राप्त करें—दीप्त मस्तिष्कवाले व नीरोग शरीरवाले बनें। मन्त्रों द्वारा हम यज्ञों को करनेवाले हों तथा हमारे इन्द्रियाश्व सदा मार्ग पर आगे बढ़ते हुए हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**परोष्णिक्**॥

स्वाध्याय व ध्यान

वेद तत्ते अमर्त्य यत्त आक्रमणं दिवि। यत्ते सधस्थं परमे व्यो ꣡मन्॥ ४४॥

१. हे **अमर्त्य**=अमरणधर्मा, अविनाशी प्रभो! **यत् ते**=जो आपका **दिवि आक्रमणम्**=प्रकाशमय लोकों में आक्रमण है, **ते तत् वेद**=आपके उस रूप को मैं जानता हूँ, 'आप प्रकाशस्वरूप हैं', ऐसा मैं समझता हूँ। २. **यत्**=जो **ते**=आपका **परमे व्योमन्**=इस सर्वोत्कृष्ट हृदयाकाश में **सधस्थम्**=मिलकर ठहरना—आत्मा के साथ स्थित होना है, उसे मैं जानता हूँ। जीव को दो बातें समझनी हैं—१. यह कि प्रभु प्रकाशरूप हैं, प्रभु की प्राप्ति के लिए ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। २. प्रभु का दर्शन हृदयदेश में होगा, जब भी चित्तवृत्ति का निरोध करके हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनेंगे तभी हृदय में प्रभु के साथ अपने को स्थित पाएँगे।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि स्वाध्याय द्वारा हम ज्ञान को बढ़ाएँ तथा चित्तवृत्ति के निरोध का अभ्यास करते हुए अन्तर्मुख वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सूर्य' ब्रह्म

सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति।

सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम्॥ ४५॥

१. **सूर्यः**=वह सूर्यसम दीप्त-ज्योतिवाला ब्रह्म **द्याम्**=द्युलोक को **अति पश्यति**=अन्तःप्रविष्ट

होकर देख रहा है। **सूर्यः**=यह सूर्य प्रभु ही **पृथिवीम्**=पृथिवी में प्रविष्ट होकर देख रहा है। **सूर्यः**=यह सूर्य नामक ब्रह्म **आपः**=(आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः) सब प्रजाओं में प्रविष्ट होकर उनके प्रत्येक विचार व आचार को देख रहा है। द्युलोक, पृथिवीलोक व तत्रस्थ सब मनुष्यों को वे प्रभु अन्तःप्रविष्ट होकर देख रहे हैं। २. **सूर्यः**=वे सूर्यसम दीप्तिवाले प्रभु **भूतस्य**=प्राणिमात्र के **एकं चक्षुः**=अद्वितीय चक्षु हैं—प्रभु ही सबके मार्गदर्शक हैं। ये प्रभु **दिवं महीं आरुरोह**=द्युलोक व पृथिवलोक में आरोहण किये हुए हैं—अधिष्ठातृरूपेण वहाँ वर्तमान हैं। प्रभु के अधिष्ठातृत्व में ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गति कर रहा है।

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवीलोक, तत्रस्थ सब प्रजाओं को उनके अन्दर व्याप्त होकर देखनेवाले वे प्रभु ही हैं। प्राणिमात्र की वे अद्वितीय चक्षु हैं—मार्गदर्शक हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक के सारे व्यवहार प्रभु के अधिष्ठातृत्व में चल रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोहित का महान् सृष्टियज्ञ

उर्वीरासन्परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत। तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः॥ ४६॥

१. प्रभु ने जब इस सृष्टियज्ञ को आरम्भ किया तब **उर्वीः**=विशाल दिशाएँ **परिधयः आसन्**=परिधियाँ हुईं—परकोटा बनीं। **भूमिः वेदिः अकल्पत**=यह भूमि वेदि बनी और **ततः**=उस भूमिरूप वेदि पर **रोहितः**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु ने **एतौ**=इन दोनों **अग्नी**=अग्नियों को **आधत्त**=स्थापित किया। **हिमं घ्रंसं च**=एक अग्नि तो शीतल ज्योत्स्नावाली चन्द्ररूप थी तथा द्वितीय अग्नि देदीप्यमान सूर्यरूप थी इस सृष्टियज्ञ के दिन-रात में क्रमशः सूर्य व चन्द्र ही अग्नि हैं। इन्हीं में यह सृष्टियज्ञ चल रहा है।

भावार्थ—प्रभु के इस सृष्टियज्ञ में विशाल दिशाएँ परिधिरूप हैं। भूमि वेदि है और सूर्य व चन्द्र अग्निरूप हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वर्षाज्यौ अग्नी

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान्कृत्वा पर्वतान्। वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः॥ ४७॥

१. **रोहितस्य**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु के ये **वर्षाज्यौ**=वृष्टिरूप घृतवाले **अग्नी**=सूर्य-चन्द्ररूप अग्नि **हिमं घ्रंसं च**=शीत व आतप को समय-समय पर आहित करके और **पर्वतान् यूपान् कृत्वा**=पर्वतों को यज्ञस्तम्भरूप करके **ईजाते**=इस सृष्टियज्ञ को चलाते हैं। २. इस सृष्टियज्ञ के मुख्य प्रवर्तक ये सूर्य और चन्द्र हैं। इस यज्ञ की वेदिरूप भूमि के स्तम्भ ये पर्वत हैं। ये सूर्य और चन्द्र समय-समय पर शीत व आतप का आदान करते हुए इस यज्ञ को चला रहे हैं।

भावार्थ—यह सृष्टि यज्ञ है। पर्वत यज्ञवेदिरूप भूमि के स्तम्भ हैं। वृष्टि ही यहाँ आज्य (घृत) है। सूर्य और चन्द्र इस यज्ञ की अग्नियाँ हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्मणाग्निः समिध्यते

स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते।
तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद्यज्ञो ऽजायत॥ ४८॥

१. **स्वर्विदः**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले **रोहितस्य**=सदाप्रवृद्ध प्रभु के **ब्रह्मणा**=वेदज्ञान

से—वेदज्ञान के अनुसार अथवा मन्त्रोच्चारणपूर्वक **अग्निः समिध्यते**=यज्ञवेदि में अग्नि समिद्ध किया जाता है, **तस्मात्**=उस रोहित प्रभु से ही **घ्रंसः**=दीप्ति का कारणभूत यह सूर्य, **तस्मात् हिमः**=उस प्रभु से ही शीतल ज्योत्स्नावाला चन्द्र तथा **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **यज्ञः**=यह सृष्टि-यज्ञ **अजायत**=विशिष्टरूप से प्रादुर्भूत होता है।

भावार्थ—प्रभु से आदिष्ट मन्त्रों द्वारा यज्ञवेदि में यज्ञाग्नि समद्धि किया जाता है। वे प्रभु ही सूर्य व चन्द्र द्वारा इस सृष्टि-यज्ञ को चला रहे हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्मेद्धौ' अग्नी

ब्रह्म॑णाग्नी वा॑वृधा॒नौ ब्रह्म॑वृद्धौ ब्रह्मा॑हुतौ।
ब्रह्मे॑द्धावग्नी ई॑जाते रोहि॑तस्य स्व॒र्विदः॥ ४९॥

१. **स्वर्विदः**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले **रोहितस्य**=तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु के **ब्रह्मेद्धौ (ब्रह्म इद्धौ)**=ज्ञान द्वारा दीप्त किये गये **अग्नी**=सूर्य व चन्द्ररूप अग्नि **ईजाते**=सृष्टियज्ञ को चलाते हैं। २. ये दोनों **अग्नी**=अग्नियाँ **ब्रह्मणा वावृधानौ**=प्रभु से वेद द्वारा निरन्तर वृद्ध की जाती हैं। **ब्रह्मवृद्धौ**=ब्रह्म द्वारा ये वृद्ध हुई हैं। **ब्रह्माहुतौ**=ब्रह्म द्वारा ये समन्तात् आहुत हुए हैं। प्रभु ने ही इन्हें बनाया है। प्रभु ही इनके प्रकाश को चारों ओर प्राप्त करा रहे है—प्रभु ही तो इनकी प्रभा हैं, 'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्ररूप अग्नियों द्वारा यह सृष्टियज्ञ चल रहा है। ये दोनों अग्नियाँ प्रभु द्वारा वृद्ध की गई हैं—प्रभु ही इनके प्रकाश को चारों ओर प्राप्त करा रहे है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

(सत्ये+अप्सु), ज्ञान+कर्म

स॒त्ये अ॒न्य स॒माहि॑तो॒ऽप्स्व१॒॑न्यः समि॑ध्यते।
ब्रह्मे॑द्धव॒ग्नी ई॑जा॒ते रोहि॑तस्य स्व॒र्विदः॥ ५०॥

१. **अन्यः**=सूर्यरूप एक अग्नि **सत्ये समाहितः**=सत्य में समाहित हुआ है। उदय होता हुआ सूर्य सब अन्धकार का विनाश करता है। मस्तिष्क में भी उदय होता हुआ ज्ञान का सूर्य सब अज्ञान-अन्धकार का विनाशक बनता है। **अन्यः**=दूसरा चन्द्ररूप अग्नि **अप्सु समिध्यते**=कर्मों में समिद्ध होता है। यज्ञादि सब कर्म 'प्रतिपदा, अष्टमी, एकादशी, पूर्णिमा व अमावास्या' आदि चन्द्र-तिथियों को देखकर ही सम्पन्न होते हैं। 'चदि आह्लादे' आह्लादक चन्द्र भी कर्मों के होने पर उदित होता है। आलस्य में आनन्द की समाप्ति हो जाती है। २. ये दोनों **ब्रह्मेद्धौ अग्नी**=ब्रह्म द्वारा समिद्ध किये गये सूर्य-चन्द्ररूप अग्नि **स्वर्विदः**=ज्ञान व सुख को प्राप्त करानेवाले **रोहितस्य**=तेजस्वी व सदावृद्ध प्रभु के **ईजाते**=सृष्टियज्ञ को चलाते हैं। हमारे जीवनों में भी ज्ञान असत्य को नष्ट करता है तथा कर्म आनन्द के चन्द्र का उदय करते हैं। इसप्रकार ज्ञान व कर्मों द्वारा जीवन-यज्ञ का प्रवर्तन होता है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में ज्ञान के सूर्य का उदय होकर सब असत्य का विनाश हो जाए, साथ ही कर्मों में तत्पर हुए-हुए हम आनन्द के चन्द्र को हृदयान्तरिक्ष में उदित कर सकें। ये यज्ञ व कर्म इस जीवनयज्ञ के प्रवर्तक हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वातः+इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः

यं वातः परिशुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः॥ ५१॥

१. **यम्**=जिस चन्द्र-(आह्लाद)-रूप अग्नि को **वातः**=वायु की भाँति निरन्तर गतिशील पुरुष **परिशुम्भति**=अपने जीवन में अलंकृत करता है। **यं वा**=तथा जिस ज्ञान-सूर्यरूप अग्नि को **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **ब्रह्मणस्पतिः**=वेदज्ञान का पति होता हुआ अपने में सुशोभित करता है। ये दोनों कर्म व ज्ञानरूप **अग्नी**=अग्नियाँ **ब्रह्मेद्धौ**=उस प्रभु द्वारा समिद्ध की जाकर **रोहितस्य स्वर्विदः**=सदावृद्ध व सुख प्राप्त करानेवाले प्रभु के यज्ञ को **ईजाते**=सम्पन्न करती हैं। सारे ब्रह्माण्ड में यह सृष्टि-यज्ञ सूर्य व चन्द्र द्वारा चल रहा है। यही जीवन-यज्ञ इस पिण्ड में ज्ञान व कर्मरूप अग्नियों द्वारा चलता है।

भावार्थ—हम वायु के समान निरन्तर क्रियाशील बनकर हृदय में आनन्द के चन्द्र को उदित करें। जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनकर मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य को उदित करें। इसप्रकार प्रभु से प्रदत्त इन ज्ञान व कर्मरूप अग्नियों से हमारा जीवन-यज्ञ सम्प्रवृत्त हो।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

सृष्टियज्ञ में यज्ञमय जीवन

वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम्।
घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद्वर्षेणाज्येन रोहितः॥ ५२॥

१. **रोहितः**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु ने **वेदिं भूमिं कल्पयित्वा**= भूमि को यज्ञवेदि के रूप में बनाकर **दिवं दक्षिणां कृत्वा**=द्युलोक को—प्रकाश को यज्ञ की दक्षिणा करके और **घ्रंसम्**=इस दीप्त आतपवाले सूर्य को **तत् अग्निं कृत्वा**=इस यज्ञवेदी की अग्नि बनाकर **वर्षेण आज्येन**=वृष्टिरूप घृत से **आत्मन्वत् विश्वं चकार**=प्रशस्त आत्मशक्तिवाले इस सृष्टियज्ञ को किया। २. प्रभु इस सृष्टियज्ञ में सब लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके जीव को शरीररूप निवास स्थान प्राप्त कराते हैं। इसमें मन आदि साधनों के द्वारा यज्ञ की ओर झुकाववाला होकर यह प्रशस्त जीवनवाला बन पाता है।

भावार्थ—सृष्टि को हम प्रभु द्वारा किये जानेवाले यज्ञ के रूप में देखें। स्वयं भी यज्ञमयजीवनवाले होते हुए प्रशस्तजीवनवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सृष्टियज्ञ की सामग्री

वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पयत्।
तत्रैतान्पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत्॥ ५३॥

१. **अग्निः**=उस अग्रणी प्रभु ने **वर्षं आज्यं अकल्पयत्**=वृष्टि को ही इस सृष्टियज्ञ के लिए घृत के रूप में बनाया। इस यज्ञ में **घ्रंसः**=देदीप्यमान सूर्य ही **अग्निः**=अग्नि हुआ। **भूमिः वेदिः**=यह पृथिवी ही सृष्टि-यज्ञ की वेदि हुई। २. **तत्र**=उस वेदि पर प्रभु ने **गीर्भिः**=वेदवाणियों के द्वारा **एतान् पर्वतान्**=इन पर्वतों को **ऊर्ध्वान् अकल्पयत्**=ऊपर यज्ञस्तम्भों के रूप में खड़ा किया। ऐसा प्रतीत होता है कि पर्वतरूप यज्ञस्तम्भों पर वेदवाणियाँ अंकित हों। ये हिमाच्छादित पर्वत प्रभु की महिमा का प्रतिपादन तो कर ही रहे हैं।

भावार्थ—इस सृष्टि-यज्ञ में 'वृष्टि' घृत है। 'सूर्य' अग्नि और 'भूमि' वेदि है। यहाँ पर्वत यज्ञस्तम्भ हैं, जिनपर वेदवाणियाँ मानो अंकित हुई हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञों की आधारभूत यह 'भूमि'

गीर्भिरूर्ध्वान्कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत्।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद्भूतं यच्च भाव्यम्॥ ५४॥

१. **गीर्भिः**=वेदवाणियों के द्वारा **ऊर्ध्वान् कल्पयित्वा**=यज्ञस्तम्भों के रूप में ऊपर खड़े हुए पर्वतों को रचकर **रोहितः**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु ने **भूमिं अब्रवीत्**=इस वेदिरूप भूमि से कहा कि हे भूमे! **इदं सर्वम्**=यह सब **यत् भूतम्**=जो हुआ है **यत् च भाव्यम्**=और जो होना है, वह सब **त्वयि जायताम्**=तुझमें सम्पन्न हो। २. इस सृष्टियज्ञ की वेदि यह भूमि ही है। 'हो चुका व होनेवाला' सब यज्ञ इस वेदि में ही होते हैं। 'भवन्ति भूतानि यस्याम्', 'जिसमें सब प्राणी होते हैं', वही तो भूमि है। एवं, यही भूमि भूत व भाव्य सब यज्ञों का आधार है।

भावार्थ—सब सृष्टियज्ञ इस पृथिवीरूप वेदि पर ही होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीबृहतीगर्भापथ्यापङ्क्तिः**॥

'उत्पादक व धारक' प्रभु

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत्किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम्॥ ५५॥

१. **सः**=वह **भूतः**=सदा से हुआ-हुआ—सदा से वर्तमान **भव्यः**=सदा रहनेवाला प्रभु **प्रथमः**=सर्वव्यापक व सर्वश्रेष्ठ **यज्ञः**=पूजनीय **अजायत**=हुआ। **तस्मात् ह**=उस प्रभु से ही निश्चयपूर्वक **इदं सर्वं जज्ञे**=यह सब-कुछ हुआ। **यत् किञ्च**=जो कुछ भी **इदं विरोचते**=यह चमकता है। 'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं ममतेजोंऽशः सम्भवम्', जो कुछ विभूति सम्पन्न है, वह सब उस प्रभु से हुआ है। २. प्रभु ने ही इन दीप्त पिण्डों को जन्म दिया है और **रोहितेन**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध **ऋषिणा**=(ऋष् to kill) तत्त्वद्रष्टा व अज्ञानान्धकार नाशक प्रभु से ही **भृतम्**=धारण किया गया है।

भावार्थ—प्रभु ही अनादि-अनन्त यज्ञरूप हैं। वह प्रभु ही सब दीप्त पिण्डों को दीप्ति प्राप्त करा रहे हैं। उन सदावृद्ध, तेजस्वी, ज्ञानी प्रभु ने ही सृष्टि को धारण किया हुआ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गौ व सूर्य का आदर

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम्॥ ५६॥

१. इस सृष्टि में मनुष्य को 'गौ व सूर्य' का आदर करना है। 'गौ' मनुष्य को सात्त्विक दूध प्राप्त कराके 'स्वस्थ शरीर, पवित्र मन व दीप्त मस्तिष्क' प्राप्त कराती है। इसीप्रकार सूर्य की किरणें सब रोगकृमियों का नाश करती हुई उसे स्वास्थ्य प्रदान करती हैं। आयुर्वेद में सूर्याभिमुख होकर मेहन से 'मूत्रकृच्छ' आदि रोग हो जाने का उल्लेख है। २. मन्त्र में कहते हैं कि **यः च गां पदा स्फुरति**=जो निश्चय से गौ को पाँव से कुचलने की करता है (to braise, destroy), **च**=और **सूर्यं प्रत्यङ्**=सूर्याभिमुख होकर **मेहति**=मूत्र करता है, **तस्य ते**=उस तेरे **मूलं**

वृश्चामि=मूल को काट डालता हूँ। तू **अपरम्**=इसके बाद **छायां न करवः**=(छाया beauty) जीवन के सौन्दर्य को करनेवाला न हो, तेरे जीवन का सौन्दर्य समाप्त हो जाए।

भावार्थ—हम जीवन में गौ का समुचित आदर करें, घर में गौ का प्रथम स्थान हो। गौ को घर का मूल समझें। हम सूर्य की किरणों को सदा शरीर पर लेनेवाले बनें। 'सूर्याभिमुख होकर मूत्र करने से रोग हो जाते हैं', इसे कभी न भूलें। 'सूर्याभिमुख मेहन' जीवन के सौन्दर्य को समाप्त करनेवाला है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

यज्ञों में विघ्न करने का परिणाम

यो मा॑भिच्छा॒यम॒त्येषि॒ मां चा॒ग्निं चा॑न्त॒रा।

तस्य॑ वृश्चामि॒ ते मू॒लं॒ न च्छा॒यां क॑र॒वोऽप॑रम्॥ ५७॥

१. **यः**=जो तू **अभिच्छायाम्**=सौन्दर्य की ओर चल रहे, अर्थात् सुन्दर पथ का आक्रमण कर रहे **मा**=मुझे **अत्येषि**=(अति इ=subdue) दबाता है, सताता है, **तस्य ते**=उस तेरे **मूलं वृश्चामि**=मूल को मैं काट देता हूँ। वस्तुतः उत्तम पथ पर चल रहे व्यक्तियों को पीड़ित करनेवाले को समाप्त कर देना आवश्यक ही है। २. **मां च अग्निं च अन्तरा**=मेरे और अग्नि के बीच में जो तू (अत्येषि) अतिशयेन आता है वह तू **अपरम्**=इसके बाद **छायां न करवः**=सौन्दर्य को करनेवाला न हो। एक व्यक्ति और अग्नि के बीच में आने का भाव है 'यज्ञों में विघ्न करना'। जो भी यज्ञ करते हुए पुरुष के लिए विघ्न करनेवाला बनता है उसका सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। वह यज्ञविहन्ता देव न रहकर असुर बन जाता है।

भावार्थ—सुन्दर पथ पर चलते हुए व्यक्ति को विहत करनेवाला नष्ट हो जाता है। यजनशील के यज्ञ का विघातक पुरुष अपने जीवन के सौन्दर्य को समाप्त कर लेता है

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'दुःष्वप्न्य शमल व दुरित' दूरीकरण

यो अ॒द्य दे॑व सूर्य॒ त्वां च॒ मां चा॑न्त॒राय॑ति।

दु॒ःष्वप्न्यं॒ त॒स्मि॒ञ्छम॑लं दु॒रिता॑नि च मृज्महे॥ ५८॥

१. हे **देव सूर्य**=प्रकाशमय गतिशील प्रभो! **अद्य**=आज **यः**=जो भी बात **त्वां च मां च अन्तरा**=आपके और मेरे बीच में **अयति**=आती है, अर्थात् मुझे आपके दर्शन से रोकती है, **तस्मिन्**=उसके निमित्त—उसे दूर करने के लिए **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत प्रत्येक वस्तु को, **शमलम्**=(sin, moral impurity) नैतिक दोषों को, **दुरितानि च**=और अशुभ कर्मों को **मृज्महे**=दूर करते हैं। २. ये 'दुःष्वप्न्य, शमल व दुरित' ही हमें प्रभु-दर्शन से वंचित करने का कारण बनते हैं। इन्हें दूर करके हम अपने जीवन का शोधन करते हुए अपने को प्रभु-दर्शन के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—उस 'प्रकाशमय, गति के स्रोत' प्रभु का दर्शन उसे ही होता है जो 'दुःष्वप्नों, शमलों व दुरितों' को दूर कर पाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**

मार्ग पर

मा प्र गा॑म प॒थो व॒यं मा य॒ज्ञादि॑न्द्र सो॒मिनः॑। मान्त स्थु॑र्नो॒ अरा॑तयः॥ ५९॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **पथः मा प्रगाम**=मार्ग

से विचलित न हों। मार्गभ्रष्ट होकर हम आपसे दूर न हो जाएँ। हे प्रभो! हम **सोमिनः**=अपने में सोम (वीर्यशक्ति) का रक्षण करनेवाले **यज्ञात्**=यज्ञ से—देवपूजा, संगतिकरण व दानरूप उत्तम कर्म से दूर न हों। बड़ों के आदर, परस्पर प्रेम व दान की वृत्तिवाले बनकर हम शरीर में सोम का रक्षण कर पाएँ। ३. हे प्रभो! आप ऐसा अनुग्रह कीजिए कि **अरातयः**=काम-क्रोध-लोभादि शत्रु **नः अन्तः मा स्थुः**=हमारे अन्दर स्थित न हों। हमारा हृदय इन कामादि का अधिष्ठान न हो। इन शत्रुओं से अपने हृदय को शून्य करके ही हम आपके दर्शन के योग्य बन पाएँगे।

भावार्थ—हम मार्गभ्रष्ट न हों, यज्ञशील, 'काम-क्रोध-लोभ' से शून्य हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यज्ञस्य प्रसाधनः

यो य॒ज्ञस्य॑ प्र॒साध॑न॒स्तन्तु॑र्दे॒वेष्वात॑तः। तमाहु॑तमशीमहि ॥ ६० ॥

१. **यः**=जो प्रभु **यज्ञस्य प्रसाधनः**=सब यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं, 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। सब यज्ञ प्रभुकृपा से ही पूर्ण हुआ करते हैं। जो प्रभु **देवेषु**=सूर्यादि सब देवों में **आततः तन्तुः**=फैले हुए तन्तु हैं। वस्तुतः प्रभु के कारण ही उस-उस पिण्ड में वह-वह शक्ति दृष्टिगोचर होती है। **'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च रसोऽहमप्सु कौन्तेय। तेन शक्तिरस्मि विभावसौ प्रभास्मि शशिसूर्ययोः॥ तेजस्तेजस्वितामहं बलं बलवतः चाहम्। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।'** २. **तम्**=उस **आहुतम्**=समन्तात् दानोंवाले प्रभु को **अशीमहि**=हम सेवन करनेवाले बने, प्रभु का ही मनन करें।

भावार्थ—प्रभु सब यज्ञों के साधक हैं, सब देवों में व्याप्त सूत्र हैं। इन प्रभु के ही दान समन्तात् दृष्टिगोचर होते हैं। इनका हम उपासन करें।

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आदित्य मीढ्वान्' प्रभु

उद॑स्य के॒तवो॑ दि॒वि शु॒क्रा भ्राज॑न्त ईरते।
आ॒दि॒त्यस्य॑ नृ॒चक्ष॑सो॒ महि॑व्रतस्य मी॒ढुषः॑ ॥ १ ॥

१. **अस्य**=इस प्रभु की **केतवः**=प्रकाश की किरणें **शुक्राः**=(शुच दीप्तौ) अतिशयेन पवित्र व **भ्राजन्तः**=दीप्त होती हुई **दिवि उत् ईरते**=सम्पूर्ण द्युलोक में व सब व्यवहारों में उद्गत होती हैं। सम्पूर्ण आकाश में, आकाशस्थ एक-एक पिण्ड में प्रभु की रचना का कौशल व विज्ञान दीप्त हो रहा है। २. उस प्रभु का प्रकाश सर्वत्र दीखता है जोकि **आदित्यस्य**=(आदानात्) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में लिये हुए हैं। **नृचक्षसः**=मनुष्यमात्र का ध्यान कर रहे हैं अथवा सभी के कर्मों को देख रहे हैं। **महिव्रतस्य**=महनीय व्रतोंवाले हैं और **मीढुषः**=सबपर सुखों का सेचन करनेवाले हैं। हम भी आदित्य बनें—सब अच्छाइयों को अपने अन्दर लेनेवाले बनें। नृचक्षसः=केवल अपना ध्यान न करके औरों का भी ध्यान करनेवाले बनें। महनीय व्रतों को धारण करें, इसप्रकार सबपर सुखों का वर्षण करने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—हम प्रभु का 'आदित्य, नृचक्षसः महिव्रत व मीढ्वान्' नामों से स्मरण करते हुए स्वयं भी ऐसा बनने का प्रयत्न करें। सृष्टि में सर्वत्र प्रभु के प्रकाश को देखने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—जगती॥

'भुवन-गोपा' सूर्य (प्रभु)

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः॥ २॥

१. हम **सूर्यं स्तवाम**='ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' सूर्यसमंज्योति ब्रह्म को स्तुत करते हैं, जो प्रभु **अर्चिषा**=अपनी ज्ञानदीप्ति से, प्रकाश की किरणों से **प्रज्ञानाम्**=(प्रज्ञापिनीनाम्) जीव के मार्गों का ज्ञान देनेवाली **दिशाम्**=दिशाओं का—निर्देशों व संकेतों का **स्वरयन्तम्**=उपदेश कर रहे हैं **सुपक्षम्**=उत्तम परिग्रह व आश्रय देनेवाले हैं। **आशुम्**=संसार में सर्वत्र व्याप्त हैं। **अर्णवे पतयन्तम्**=संसार-समुद्र में ऐश्वर्यवाले हैं। जहाँ-जहाँ कुछ भी उत्तमता है वह सब उस प्रभु के कारण ही तो है। २. उन प्रभु का स्तवन करते हैं जो **भुवनस्य गोपाम्**=सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं, और **यः**=जो **रश्मिभिः**=अपनी प्रकाश की किरणों से **सर्वाः दिशः आभाति**=सब दिशाओं को आभासित कर रहे हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमें जीवनमार्ग की दिशाओं का संकेत कर रहे हैं। सर्वत्र व्याप्त होते हुए वे हमारे उत्तम आश्रय-स्थान हैं। संसार में सर्वत्र उन्हीं का ऐश्वर्य दीप्त हो रहा है। वे प्रभु ही ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—जगती॥

'प्राङ्-प्रत्यङ्' व्याप्त प्रभु

यत्प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया।
तदादित्य महि तत्ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे॥ ३॥

१. हे प्रभो! **यत्**=जो आप **स्वधया**=अपनी धारणशक्ति से **शीभम्**=शीघ्र ही **प्राङ् प्रत्यङ् यासि**=पूर्व से पश्चिम तक सर्वत्र गतिवाले होते हैं, वे आप **मायया**=अपनी दिव्य ज्ञानशक्ति से **नानारूपे**=भिन्न-भिन्न रूपोंवाले **अहनी कर्षि**=दिन-रात को बनाते हैं। प्रभु ने वस्तुतः दिन व रात के क्रमवाला यह सृष्टिक्रम कितना सुन्दर बनाया है। २. हे **आदित्य**=सारे ब्रह्माण्ड का अपने में आदान करनेवाले प्रभो! **ते**=आपका **तत्**=जो **महि**=महान् व पूजनीय **श्रवः**=यश है, आप **विश्वं भूम परिजायसे**=सारे ब्रह्माण्ड में चारों ओर प्रादुर्भूत हो रहे हैं, सर्वत्र आपकी महिमा का प्रकाश हो रहा है।

भावार्थ—पूर्व से पश्चिम तक सर्वत्र प्रभु व्याप्त हो रहे हैं। प्रभु ने अपनी माया से क्या ही सुन्दर दिन व रात्रि का क्रम बनाया है। प्रभु का यश महान् है। वे प्रभु सर्वत्र अपनी महिमा से प्रादुर्भूत हो रहे हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'आजिम् परियान्तम्' (सूर्यम्)

विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः।
स्रुताद्यमत्रिर्दिवमुन्निनाय यं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम्॥ ४॥

१. **विपश्चितम्**=सबको देखनेवाले **तरणिम्**=अन्धकार से तरानेवाले **भ्राजमानम्**=देदीप्यमान **यम्**=जिस सूर्य को **सप्त बह्वीः हरितः**=सात रंगोंवाली अनेक किरणें **वहन्ति**=सर्वत्र प्राप्त कराती हैं, **यम्**=जिसको **अत्रिः**=(अ अत्रि) त्रिगुणातीत प्रभु **स्रुतात्**=स्रुत के हेतु से—आकाश से वृष्टि-जल के वर्षण के हेतु से **दिवम् उन्निनाय**=द्युलोक में प्राप्त कराते हैं, **तं त्वा**=उस तुझ सूर्य को

आजिम् परियान्तम्=(race-course, road-way) मार्ग पर गति करते हुए को **पश्यन्ति**=ज्ञानी लोग देखते हैं। २. ज्ञानी पुरुष सूर्य में प्रभु की महिमा को देखते हुए आश्चर्य करते हैं कि (क) किस प्रकार यह दीप्त सूर्य करोड़ों किलोमीटरों तक अन्धकार को समाप्त कर देता है, (ख) इसकी सात रंगों में विभक्त अनन्त किरणें किस प्रकार विविध प्राणशक्तियों का हममें संचार कर रही हैं, (ग) किस प्रकार यह सूर्य दृष्टि का हेतु बनकर सब अन्नों का उत्पादक बनता है, (घ) किस प्रकार यह सूर्य अपने मार्ग पर आकृष्ट लोकसमूह के साथ आगे बढ़ रहा है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष मार्ग पर आगे बढ़ते हुए अपने प्रकाश से अन्धकार को दूर करते हुए सप्त वर्ण की किरणों से प्राणदायी तत्त्वों का संचार करते हुए वृष्टि का हेतु बनते हुए सूर्य को देखते हैं और प्रभु की महिमा का स्मरण करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'दिन-रात का बनानेवाला' सूर्य

मा त्वा दभन्परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम्।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि॥ ५॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! **आजिम् परियन्तम्**=मार्ग पर आगे बढ़ते हुए **त्वा**=तुझे **मा दभन्**=कोई भी हिंसित नहीं कर पाते। तू **शीभम्**=शीघ्र ही **दुर्गान्**=दुःखेन गन्तव्य सब (दुर्गं) मार्गों को **अतियाहि**=लांघकर चलनेवाला हो और **स्वस्ति**=हमारे कल्याण का कारण बन। हे सूर्य! **अहोरात्रे**=दिन और रात्रि का **विमिमानः**=मापपूर्वक निर्माण करता हुआ **यत् एषि**=जब तू गति करता है तब तू **दिवं च**=इस द्युलोक को **देवीं पृथिवीम्**=दिव्यगुणोंवाली पृथिवी को हमारे लिए (स्वस्ति) कल्याण का साधन बनाता है। सूर्य के कारण सब देव हमारे लिए कल्याण का साधन बनते हैं। सूर्य केन्द्र में है और सब लोक-लोकान्तर इसके चारों ओर गति कर रहे हैं। सूर्य इन सबको हमारे लिए कल्याणकर बनाता है।

भावार्थ—मार्ग पर चलते हुए सूर्य को कोई भी विघ्न रोक नहीं पाते। दिन व रात्रि का निर्माण करता हुआ यह सूर्य सब लोकों को हमारे लिए हितसाधक बनाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सूर्यरथ

स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः॥ ६॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! **ते चरसे रथाय**=तेरे निरन्तर चलनेवाले इस रथ के लिए **स्वस्ति**=उत्तम स्थिति हो, **येन**=जिस रथ के द्वारा **उभौ अन्तौ सद्यः परियासि**=दोनों अन्तों को, पूर्व व पश्चिम को अथवा उत्तरायण व दक्षिणायन को तू शीघ्र ही जानेवाला होता है। २. **यं ते**=जिस तेरे रथ को **वहिष्ठाः हरितः वहन्ति**=वहन करने में सर्वोत्तम ये किरणरूप अश्व वहन करते हैं। ये किरणें ही **शतं अश्वाः**=तेरे रथ के सैकड़ों घोड़े हैं। **यदि वा**=अथवा **सप्त**=सात रंगोंवाली **बह्वीः**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि की कारणभूत किरणें तेरे रथ का वहन करती हैं।

भावार्थ—सूर्य अपने रथ से पूर्व से पश्चिम में अथवा उत्तरायण से दक्षिणायन में गतिवाला होता है। इस सूर्यरथ का वहन करनेवाली किरणें विविध प्रकार के प्राणदायी तत्त्वों को हमारे लिए प्राप्त कराती हुई हमारी वृद्धि का कारण बनती हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'सुख-स्योना, सुवह्नि' रथ

सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम्।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ७ ॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! तू **रथम् अधितिष्ठ**=इस रथ पर अधिष्ठित हो, जो रथ **सुखम्**=हमारी सब इन्द्रियों की उत्तमता का कारण बनता है। **अंशुमन्तम्**=जो प्रकाश की किरणोंवाला है। **स्योनम्**=हमारे लिए सुख करनेवाला है। **सुवह्निम्**=हमें स्वस्थ बनाता हुआ लक्ष्यस्थान की ओर ले-चलनेवाला है और **वाजिनम्**=हमें शक्तिशाली बनाता है। २. उस रथ पर तू अधिष्ठित हो **यं ते**=जिस तेरे रथ को **वहिष्ठाः हरितः वहन्ति**=वहनक्रिया में सर्वोत्तम किरणरूप अश्व वहन करते हैं **शतं अश्वाः**=सैकड़ों किरणाश्व इस तेरे रथ का वहन करनेवाले हैं। **यदि वा**=अथवा **सप्त बह्वीः**=सात रंगोंवाली—सात प्राणदायी तत्त्वों को प्राप्त करानेवाली, अतएव प्राणियों की वृद्धि की कारणभूत ये किरणें तेरे रथ का वहन करती हैं।

भावार्थ—यह सूर्य का रथ अपने मार्ग पर किरणरूप अश्वों से आगे और आगे बढ़ता है। यह प्राणियों के लिए इन्द्रियों का स्वास्थ्य प्रदान करता है, अतएव उनके लिए सुखद व उन्हें लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाला होता है। यह उन्हें शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—जगती ॥

'सप्ताश्व' सूर्य

सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त।
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद्विधूय देवस्तमो दिवमारुहत् ॥ ८ ॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **यातवे**=मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए **रथे**=अपने रथ में **सप्त**=सात रंगोंवाली **हिरण्यत्वचसः**=ज्योति के सम्पर्कवाली **बृहती**=वृद्धि की कारणभूत **हरितः**=किरणों को **अयुक्त**=जोतता है। सूर्य के रथ में किरणरूप अश्व जुते हैं। ये सात रंगोंवाले हैं, इसी से सूर्य का नाम 'सप्ताश्व' हो गया है। इन किरणों का हिरण्य=ज्योति के साथ सम्पर्क है। हमारी वृद्धि का ये कारण बनती हैं। २. **शुक्रः**=वह दीप्त सूर्य **रजसः**=सब अन्धकार (gloom) से **परस्तात् अमोचि**=सुदूर छोड़ा गया है। यह **देवः**=प्रकाशमय सूर्य **तमः विधूय**=सब अन्धकार को कम्पित करके **दिवं आरोहत**=द्युलोक में आरुढ़ हुआ है।

भावार्थ—सूर्य सप्ताश्व है, इसकी सात किरणें हमारे लिए प्राणदायी तत्त्वों को प्राप्त कराती हुई हमारी वृद्धि का कारण बनती हैं। अन्धकार से परे वर्तमान यह सूर्य द्युलोक में आरुढ़ हुआ है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'आदिति-पुत्र' सूर्य

उत्केतुना बृहता देव आगन्नपावृक्तमोऽभि ज्योतिरश्रैत्।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्य ख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥

१. **देवः**=यह प्रकाशमान सूर्य **बृहतः केतुना**=वृद्धि के कारणभूत प्रकाश के साथ **उत् आगन्**=उदित हुआ है। इस सूर्य ने **तमः अपावृक्**=सब अन्धकार को दूर कर दिया है, **ज्योतिः अश्रैत्**=ज्योति का आश्रय किया है। २. **सः दिव्यः**=वह सूर्य सब अन्धकार के विजय की कामनावाला है, **सुपर्णः**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाला है। **वीरः**=रोगकृमियों को

कम्पित करके दूर करनेवाला है। यह **अदितेःपुत्रः**=(अ-दिति) शरीर के पवित्रीकरण द्वारा स्वास्थ्य का त्राण करनेवाला सूर्य **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को **व्यख्यत्**=विशेषरूप से देखता है (look) अथवा प्रकाशित करता है (Illuminate)।

भावार्थ—सूर्य उदित होता है, अन्धकार को दूर करके प्रकाश करता है। हमें नीरोग बनाता है, रोगकृमियों को कम्पित करके विनष्ट करता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—आस्तारपङ्क्तिः॥

'विश्वरूप पोषक' सूर्य

उद्यन्रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वांल्लोकान्परिभूर्भ्राजमानः॥ १०॥

१. हे सूर्य! **उद्यन्**=उदय होता हुआ तू **रश्मीन् आतनुषे**=प्रकाश की किरणों को चारों ओर विस्तृत करता है। प्रकाश की किरणों के द्वारा **विश्वा रूपाणि**=सब सौन्दर्यों का (beauty, elegance, grace) तू **पुष्यसि**=पोषण करता है। २. **उभा समुद्रौ**=दोनों समुद्रों को—पृथिवीस्थ समुद्र को तथा अन्तरिक्ष में मेघरूप समुद्र को **क्रतुना**=अपने कर्म के द्वारा तू **विभासि**=दीप्त करता है। सूर्य की क्रिया द्वारा ही अन्तरिक्षस्थ समुद्र की उत्पत्ति होती है तथा वृष्टि होकर नदी-प्रवाहों से पृथिवीस्थ समुद्र का पूरण होता है। **सर्वान् लोकान् परिभूः**=तू सब लोकों को चारों ओर से व्याप्त करता है। **भ्राजमानः**=दीप्त है। सूर्य अपने प्रकाश से सब लोकों को प्रकाशित करता है।

भावार्थ—रश्मियों का विस्तार करता हुआ सूर्य सब सौन्दर्यों का पोषण करता है। पृथिवीस्थ व अन्तरिक्षस्थ समुद्रों का निर्माण करता है। सब लोकों को प्रकाश से व्याप्त करता हुआ चमक रहा है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—बृहतीगर्भात्रिष्टुप्॥

दो शिशु (सूर्य और चन्द्र)

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति॥ ११॥

१. **एतौ**=ये दो **शिशू**=प्रभु के सन्तानों के समान सूर्य और चन्द्रमा **मायया**=प्रभु की माया से—अद्भुत रचना कौशल से (Extraordinary power, wisdom), **क्रीडन्तौ**=खेलते हुए-से **पूर्वापरं चरतः**=पूर्व से पश्चिम की ओर गति करते हैं, इस प्रकार **अर्णवं परियातः**=अन्तरिक्ष में सर्वत्र गति करते हैं। २. इनमें **अन्यः**=एक 'सूर्य' **विश्वा भुवना विचष्टे**=सब लोकों को प्रकाशित करता है और **अन्यम्**=दूसरे 'चन्द्र' को **हरितः**=सूर्यरश्मियाँ ही **हैरण्यैः**=हितरमणीय प्रकाशों से **वहन्ति**=ले-चलती हैं। सूर्य की किरणें ही चन्द्र को ज्योतिर्मय करती हैं। सूर्य का आतप चन्द्र में प्रतिक्षिप्त होने पर 'ज्योत्स्ना' के रूप में हो जाता है और हमारे लिए हितरमणीय बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु की माया से सूर्य व चन्द्र आकाश में क्रीड़ा करते हुए पूर्व से पश्चिम की ओर जाते हैं। सूर्य सब भुवनों को प्रकाशित करता है और चन्द्र अपनी हितरमणीय ज्योत्स्ना द्वारा हमें आनन्दित करनेवाला होता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'काल-निर्माता' सूर्य

दिवि त्वात्रिरधारयत्सूर्या मासाय कर्तवे।
स एषि सुधृतस्तपन्विश्वा भूतावचाकशत्॥ १२॥

१. हे **सूर्य**=रविमण्डल! **अत्रिः**=उस त्रिगुणातीत प्रभु ने (अ-त्रि) **त्वा**=तुझे **मासाय कर्तवे**=मास आदि कालविभागों को करने के लिए **दिवि अधारयत्**=द्युलोक में धारण किया है। २. **सः**=वह तू **सुधृतः**=सम्यक् धारण किया हुआ **तपन्**=अत्यन्त दीप्त होता हुआ **विश्वा भूता अवचाकशत्**=सब प्राणियों को देखता हुआ **एषि**=गति करता है।

भावार्थ—सूर्य की गति से ही मास आदि काल-विभाग चलता है। यह सूर्य सब लोकों को प्रकाशित करता हुआ व सब प्राणियों को देखता हुआ चलता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

उभौ अन्तौ

उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव। नन्वे३तदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः॥ १३॥

१. हे सूर्य! तू **इव**=जिस प्रकार **वत्सः मातरौ सं (अर्षति)**=एक सन्तान माता-पिता को सम्यक् प्राप्त होता है उसीप्रकार तू भी **उभौ अन्तौ सं अर्षसि**=द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों अन्तों को प्राप्त होता है। तेरी किरणें द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों में फैली हैं। २. **ननु**=निश्चय से **अमी देवाः**=वे देववृत्ति के पुरुष **इतः**=तेरे इस ज्ञान के द्वारा **पुरा**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण के साथ **एतत् ब्रह्म विदुः**=इस ब्रह्म को जानते हैं। देवलोग सूर्य के ज्ञान से, सूर्य का ठीक प्रकार प्रयोग करते हुए अपने स्वाथ्य व आयुष्य का रक्षण करते हैं तथा सूर्य के अन्दर प्रभु की महिमा का दर्शन भी करते हैं कि किस प्रकार सूर्य द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों को ही अपनी किरणों से व्याप्त करता है। किस प्रकार पूर्व व पश्चिम में प्राप्त होता है। किस प्रकार कभी उत्तरायण में तो कभी दक्षिणायन में।

भावार्थ—सूर्य एक ओर द्युलोक को तो दूसरी ओर पृथिवी को अपनी किरणों से व्याप्त करता है। पूर्व में उदित होता है, पश्चिम में अस्त होता है। कभी उत्तर की ओर झुका प्रतीत होता है, कभी दक्षिण की ओर। ये सब व्यवस्थाएँ हमारे पालन के लिए आवश्यक हैं। वस्तुतः विचित्र ही है महिमा उस महान् प्रभु की!

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'वृष्टि व कालचक्र' का कारणभूत सूर्य

यत्समुद्रमनु श्रितं तत्सिषासति सूर्यः। अध्वास्य विततो महान्पूर्वश्चापरश्च यः॥ १४॥

१. **यत्**=जो जल **समुद्रं अनुश्रितम्**=समुद्र में आश्रय किये हुए है, **तत्**=उसे **सूर्यः**=सूर्य **सिषासति**=समविभक्त करना चाहता है। सूर्य समुद्र-जल को अपनी किरणों के द्वारा वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता है, मानो सूर्य समुद्र-जल का पान करता है। २. **अस्य**=इस सूर्य का **यः अध्वा**=जो मार्ग **पूर्वः च अपरः च**=पूर्व से पश्चिम तक **विततः**=फैला हुआ है, वह निश्चय से **महान्**=अतिशयेन बड़ा है अथवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सूर्य का मार्ग ही सब कालचक्र का कारण बनता है।

भावार्थ—सूर्य ही समुद्र-जल को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता है और मेघ-निर्माण द्वारा वृष्टि का कारण बनता है। पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ सूर्य का मार्ग ही कालचक्र का

निर्माण करनेवाला बनता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

ब्रह्मप्राप्ति के लिए तीन बातें

तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नाप चिकित्सति।
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते॥ १५॥

१. **तम्**=उस सूर्यसम ज्योति ब्रह्म को **जूतिभिः समाप्नोति**=कर्त्तव्यकर्मों को वेग से, अप्रमाद से करने के द्वारा प्राप्त करता है। **ततः**=उस ब्रह्म से **न अप चिकित्सति**=ये दूर रहने की कामना नहीं करता, ब्रह्म-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है। २. **तेन**=उस ब्रह्म-प्राप्ति के उद्देश्य से ही **देवानाम्**=देवों के **अमृतस्य भक्षम्**=अमृत के भोजन को ये ब्रह्म-प्राप्ति के इच्छुक पुरुष **न अवरुन्धते**=नहीं रोकते, अर्थात् देवों की भाँति ये अमृत का भोजन करेनवाले होते हैं। यज्ञशेष ही अमृत है, अमृत का सेवन करते हुए ये ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—ब्रह्म-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) हम कर्त्तव्यकर्मों को अप्रमाद से करनेवाले हों, (ख) ब्रह्म-प्राप्ति की प्रबल इच्छावाले हों, (ग) यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—आर्षीगायत्री॥

'जातवेदा देवः सूर्य' का धारण

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ १६॥

१. **केतवः**=ज्ञानीपुरुष **त्यम्**=उस **जातवेदसम्**=(जातेजाते विद्यते) सर्वत्र व्याप्त (जातं जातं वेत्ति) सर्वज्ञ प्रभु को **उ**=निश्चय से **उद् वहन्ति**=हृदय में धारण करते हैं। प्रभु **देवम्**=प्रकाशमय हैं, **सूर्यम्**=सूर्यसम ज्योति हैं, अथवा सबको हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देनेवाले हैं (सुवति)। २. ये ज्ञानी पुरुष इसलिए प्रभु को हृदयों में धारण करते हैं, जिससे **दृशे विश्वाय**=सम्पूर्ण संसार का दर्शन कर सकें। प्रभु के हृदय में होने पर यह सब-कुछ ज्ञात हो ही जाता है।

भावार्थ—ज्ञानी लोग हृदयों में प्रभु का स्मरण करते हैं, जिससे सम्पूर्ण संसार का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—आर्षीगायत्री॥

वासना-नक्षत्र-विलय

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे॥ १७॥

१. **विश्वचक्षसे**=सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करनेवाले **सूराय**=सूर्य के लिए **अक्तुभिः**=रात्रियों के साथ **नक्षत्रा अपयन्ति**=सब नक्षत्र इस प्रकार दूर भाग जाते हैं **यथा**=जैसे **त्ये तायवः**=वे चोर भाग जाते हैं। २. इसी प्रकार उस ब्रह्म का हृदय में प्रकाश होने पर अज्ञान-अन्धकाररूप रात्रियों के साथ वासनारूप नक्षत्र भी विलीन हो जाते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों में प्रभु का ध्यान करें, यही वासनाओं को विलीन करने का मार्ग है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—आर्षीगायत्री॥

केतवः रश्मयः

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा॥ १८॥

१. **अस्य**=इस उदित हुए-हुए सूर्य की **केतवः**=प्रज्ञापक प्रकाश देनेवाली **रश्मयः**=प्रकाश की किरणें **जनान् अनु**=मनुष्यों का लक्ष्य करके **वि अदृश्रन्**=इसप्रकार विशिष्टरूप से दिखती

हैं, **यथा**=जैसेकि **भ्राजन्तः अग्नयः**=चमकती हुई अग्नियाँ। २. सूर्य के उदित होने पर जैसे सूर्य की किरणें सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाली होती हैं, उसी प्रकार हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है और जीवन प्रकाशमय हो जाता है। ये प्रकाश देदीप्यमान अग्नि के समान होता है। इसमें सब बुराइयाँ भस्म हो जाती हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान का उदय हो और हमारी सब बुराइयाँ अन्धकार के समान विलीन हो जाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री**॥

त्रिविध स्वास्थ्य

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचन॥ १९॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! **तरणिः**=तू हमें रोगों से तारनेवाला है। उदय होता हुआ सूर्य रोग-कृमियों को नष्ट करता है और इसप्रकार हमें नीरोग बनाता है। **विश्वदर्शतः**=(विश्वं दर्शतं द्रष्टव्यं यस्य) सूर्य सारे संसार का पालन करता है (दृश् to look after)। **ज्योतिषकृत् असि**=तू सर्वत्र प्रकाश करनेवाला है। हे **रोचन**=सर्वत्र प्रकाश करनेवाले! तू **विश्वं आभासि**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को समन्तात् प्रकाशित कर देता है। सूर्य के उदय होते ही सम्पूर्ण अन्तरक्षि सब ओर से चमक जाता है। २. सूर्य शरीर को रोगों से रहित करके स्वस्थ बनाता है (तरणि)। मस्तिष्क को यह ज्योर्तिमय करता है (ज्योतिष्कृत्) और हृदयान्तरिक्ष को सब मलिनताओं से रहित करके चमका देता है एवं सूर्य के प्रकाश का प्रभाव 'शरीर, मस्तिष्क व मन' सभी को सौन्दर्य प्रदान करनेवाला है।

भावार्थ—सूर्य 'शरीर, मन व मस्तिष्क' के विविध स्वास्थ्य को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री**॥

'देव व मानुष' बनकर 'ब्रह्मदर्शन'

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः। प्रत्यङ् विश्वं स्व दृशे॥ २०॥

१. हे सूर्य! तू **देवानां विशः प्रत्यङ्**=देवों की प्रजाओं के प्रति गति करता हुआ **उदेषि**=उदित होता है, अर्थात् सूर्य का प्रकाश प्रजाओं को दिव्यगुणोंवाला व दैवीवृत्तिवाला बनाता है। सूर्य के प्रकाश में रहनेवाले लोग दिव्यगुणोंवाले बनते हैं। सूर्य का प्रकाश मन पर अत्यन्त स्वास्थ्यजनक प्रभाव डालता है। **मानुषीः प्रत्यङ् उदेषि**=मनुष्यों के प्रति गति करता हुआ यह सूर्य उदय होता है। सूर्य हमें मानुष बनाता है। मानुष वह है जो 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' विचारपूर्वक कर्म करता है। सूर्य के प्रकाश में रहनेवाले व्यक्ति समझ से काम करनेवाले होते हैं अथवा सूर्य मनुष्यों के प्रति उदित होता है—दयालुओं के प्रति। सूर्यप्रकाश मनुष्य की मनोवृत्ति को अक्रूर बनाता है। सामान्यतः हिंसावृत्ति के पशु व असुर रात्रि के अन्धकार में ही कार्य करते हैं। सूर्य का प्रकाश उनके लिए अरुचिकर होता है। २. **स्वर्दृशे**=उस स्वयं राजमान ज्योति 'ब्रह्म' के दर्शन के लिए तू **विश्वं प्रत्यङ्**=सबके प्रति गति करता हुआ उदय होता है। इस उदय होते हुए सूर्य में द्रष्टा को प्रभु की महिमा का आभास मिलता है। यह सूर्य उसे प्रभु की विभूति के रूप में दीखता है।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश हमें देव व मानुष बनाता है और प्रभु का दर्शन कराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री**॥

भुरण्यन्=लोकभरण करनेवाला

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥ २१॥

१. हे **पावक**=प्रकाश से जीवनों को पवित्र करनेवाले! हे **वरुण**=सब रोगों व आसुर-भावनाओं का निवारण करनेवाले सूर्य! **त्वम्**=तू **जनान् भुरण्यन्तम्**=लोगों का भरण व पोषण करनेवाले को—लोकों के धारणात्मक कर्मों में लगे हुए पुरुष को **येन चक्षसा**=जिस प्रकाश से **अनुपश्यसि**=अनुकूलता से देखता है, उसी प्रकाश को हम प्राप्त करें। वही प्रकाश हमसे स्तुति के योग्य हो। २. जो लोग द्वेष का निवारण करके (वरुण) अपने हृदय को पवित्र बनाकर (पावक) लोकहितकारी कार्यों में प्रवृत्त होते हैं (भुरण्यन्तम्) उनके लिए सूर्य का प्रकाश सदा हितकारी होता है। वस्तुतः हमारी वृत्ति उत्तम हो तो संसार भी हमारे लिए उत्तम होता है। हमारी दृष्टि में न्यूनता आने पर प्रकृति के देवता भी हमारे लिए उतने हितकर नहीं रहते।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश उनके लिए हितकर होता है जो लोकों का भरण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री**॥

दिन-रात्रि का निर्माण

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य॥ २२॥

१. हे **सूर्य**=आकाश में निरन्तर सरण करनेवाले आदित्य! तू **द्याम्**=इस विस्तृत द्युलोक में **वि एषि**=विशेषरूप से गतिवाला होता है। द्युलोक में सूर्य का उदय होता है और वह सूर्य इस द्युलोक में आकर **पृथुरजः**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक में आगे-आगे बढ़ता है। इस गति के द्वारा **अक्तुभिः**=प्रकाश की किरणों के द्वारा (रात्रियों के साथ) **अहः मिमानः**=दिन को यह निर्मित करता है। २. इसप्रकार दिन व रात्रियों के निर्माण से यह सूर्य **जन्मानि**=सब जन्म लेनेवाले प्राणियों को **पश्यन्**=देखता है, अर्थात् सब प्राणियों का पालन करता है। यदि केवल दिन-ही-दिन होता तो मनुष्य कर्म करते-करते श्रान्त होकर समाप्त हो जाता और रात्रि-ही-रात्रि होती तो मनुष्य को आराम करते-करते जंग ही खा जाता। एवं, यह दिन-रात का चक्र मनुष्य का सुन्दरता से पालन कर रहा है। इस चक्र के द्वारा सूर्य सब प्राणियों का रक्षण करता है।

भावार्थ—सूर्य उदित होकर अन्तरिक्ष में आगे बढ़ता हुआ दिन-रात्रि के निर्माण के द्वारा हमारा पालन करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री**॥

सप्ताश्व

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षणम्॥ २३॥

१. हे **देव**=द्योतमान, हृदयों को निर्मल करके दीप्त करनेवाले! **सूर्य**=निरन्तर सरणशील—सभी को कार्यों में प्रवृत्त करनेवाले सूर्य! **त्वा**=तुझे **सप्त हरितः**=सात रंगोंवाली रसहरणशील किरणें **रथे**=रथ में **वहन्ति**=धारण करती हैं, आगे ले-चलती हैं। २. तुझे ये आगे ले-चलती है जो तू **शोचिष्केशम्**=देदीप्यमान किरणरूप केशोंवाला है, **विचक्षणम्**=विशिष्ट प्रकाशवाला है अथवा सबके मस्तिष्कों को ज्ञानज्योति से प्रकाशित करनेवाला है।

भावार्थ—सूर्य सप्ताश्व है, सात रंगोंवाली सात किरणों से हमारे अन्दर सात प्राणदायी तत्त्वों को प्रविष्ट करके यह सूर्य हमारे रोगों का हरण करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री**॥

सूर्य-चङ्क्रमण

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः॥ २४॥

१. **सूरः**=सूर्य **रथस्य नप्त्यः**=हमारे शरीररूप रथों को न गिरने देनेवाली **सप्त**=सात **शुन्ध्युवः**=शोधक किरणों को **अयुक्त**=रथ में जोतता है। सूर्य की किरणें सात रंगों के भेद से सात प्रकार की हैं। ये हमारे शरीरों में प्राणशक्ति का संचार करके हमारे शरीरों का शोधन करती हैं और उन शरीरों को गिरने नहीं देतीं। २. यह सूर्य **ताभिः**=उन **स्वयुक्तिभिः**=अपने रथ में जुती हुई किरणरूप अश्वों के साथ **याति**=अन्तरिक्ष में आगे-और-आगे चलता है।

भावार्थ—सूर्य अपनी सात वर्णों की किरणों के साथ आगे-और-आगे बढ़ रहा है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यास्तारपङ्क्तिः**॥

मोक्ष से पुनरावृत्ति

रोहि॑तो दि॒वमारु॑ह॒त्तप॑सा त॒प॒स्वी।
स योनि॒मैति॒ स उ॑ जायते॒ पुनः स दे॒वाना॒मधि॑पतिर्बभूव॥ २५॥

१. **रोहितः**=प्रभु की उपासना से अपना वर्धन करनेवाला **तपस्वी**=तपोमय जीवनवाला साधक **तपसा**=तप के द्वारा **दिवं आरुहत्**=प्रकाशमय ब्रह्मलोक में—मोक्ष में आरोहरण करता है। मोक्षप्राप्ति के लिए तपस्या अत्यन्त आवश्यक है। भोगप्रधान जीवन के साथ मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है। **सः**=वह तपस्वी **योनिम् आ एति**=अपने घर (ब्रह्मलोक) को सब प्रकार से प्राप्त होता है। इस घर में परान्तकाल तक निवास करके **सः**=वह **उ**=निश्चय से **पुनः जायते**=पुनः जन्म लेता है, शरीरधारण करके इस लोक में आता है। २. **सः**=वह **देवानां अधिपतिः बभूव**=दिव्यगुणों का स्वामी होता है। यह मोक्ष से लौटनेवाला व्यक्ति उत्तम दिव्यगुणसम्पन्न जीवनवाला होता है। स्वर्गच्युत व्यक्तियों के जीवन में 'दान-प्रसंग, मधुरवाणी, देवार्चन तथा ब्राह्मण-तर्पण' आदि उत्तम गुणों की स्थिति होती है। **स्वर्गच्युतानामिह भूमिलोके चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे। दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी सुरार्चनं ब्रह्म तर्पणं च॥**

भावार्थ—हम तपस्या के द्वारा उन्नत होते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं। परान्तकाल के पश्चात् पुनः यहाँ जन्म लेते हैं। उस समय हमारी वृत्ति दिव्यगुणसम्पन्न होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**पुरोद्व्यतिजागताभुरिग्जगती**॥

'विश्वतोमुख' प्रभु

यो वि॒श्वच॑र्षणिरु॒त वि॒श्वतो॑मुखो॒ यो वि॒श्वत॑स्पाणिरु॒त वि॒श्वत॑स्पृथः।
सं बा॒हुभ्यां॒ भर॑ति॒ सं पत॑त्रै॒र्द्यावा॑पृथि॒वी ज॒नय॑न्दे॒व एकः॥ २६॥

१. **यः**=जो प्रभु **विश्वचर्षणिः**=सर्वद्रष्टा, **उत**=और **विश्वतोमुखः**=सब ओर मुखवाले हैं **यः**=जो **विश्वतः पाणिः**=सब ओर हाथोंवाले हैं, **उत**=और **विश्वतस्पृथः**=सब ओर पूरण (व्याप्ति)-वाले हैं (पृ पालनपूरणयोः), २. वे प्रभु **बाहुभ्यां भरति**=बाहुओं से द्युलोक को सम्यक् भृत करते हैं और **पतत्रैः**=पतनशील इन पाँवों से पृथिवीलोक को भृत कर रहे हैं, वे **एकः देवः**=अद्वितीय प्रभु **द्यावापृथिवी जनयन्**=द्युलोक व पृथिवीलोक को प्रादुर्भूत कर रहे हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सर्वद्रष्टा व सर्वव्यापक हैं। प्रभु सर्वत्र सब इन्द्रियों के गुणों के आभासवाले हैं। वे प्रभु ही द्यावापृथिवी का प्रादुर्भाव व धारण करते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—विराड्जगती॥

एकपाद, द्विपाद, त्रिपाद, षट्पाद

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं समासते॥ २७॥

१. **एकपात्**=वायु (वायुरेकपात् तस्य आकाशं पादः—गो०पू० २.८) **द्विपदः**=चन्द्र से (चन्द्रमा द्विपात् तस्य पूर्वपक्षा परपक्षौ पादौ—गो०पू० २.८) **भूयः विचक्रमे**=अधिक विक्रम व गतिवाला है। **द्विपात्**=चन्द्र **त्रिपादम्**=(आदित्यस्त्रिपात् तस्येमे लोकाः पादः—गो०पू० २.८) सूर्य को **पश्चात् अभि एति**=राशिसंक्रमण में पीछे से जा पकड़ता है। २. **द्विपात् ह**=निश्चय से यह चन्द्र **षट्पदः**=(अग्निः षट्पास्तस्य पृथिव्यान्तरिक्षं द्यौः एष ओषधिवनस्पतय इमानि भूतानि पादाः—गो०पू० २.९) अग्नि से भी **भूयः विचक्रमे**=अधिक विक्रमवाला है, चन्द्रमा से किये जा रहे रस-संचार को ओषधि-वनस्पतियों में होता हुआ भी अग्नि शुष्क नहीं कर पाता। अग्नि की उपस्थिति में चन्द्रमा उनमें रस का संचार करने में समर्थ होता है। **ते**=वे सब चन्द्र, सूर्य, अग्नि (द्विपात्, त्रिपात् व षट्पात्) **एकपदः तन्वं समासते**=वायु के शरीर में सम्यक् आसीन होते हैं। (वायोरग्निः) वायु से ही अग्नि की उत्पत्ति होती है। यह अग्नि ही द्युलोक में सूर्यरूप में है तथा उसी की एक किरण अन्तरिक्ष में चन्द्रमारूप से। एवं, यह 'सूर्य, चन्द्र, अग्नि' वायु के ही शरीर में स्थित हैं।

भावार्थ—एक ज्ञानी पुरुष ब्रह्माण्ड में 'एकपात् (वायु), द्विपात् (चन्द्र), त्रिपात् (आदित्य) व षटपात् (अग्नि)' के कार्यक्रम को देखता हुआ प्रभु की महिमा का अनुभव करता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अतन्द्रः यास्यन्

अतन्द्रो यास्यन्हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि॥ २८॥

१. हे **आदित्य**=किरणों द्वारा जलों का आदान करनेवाले सूर्य! **यदा**=जब **अतन्द्रः यास्यन्**=तन्द्रा से रहित होकर गति की इच्छावाले आप **हरितः आस्थात्**=इन किरणरूप अश्वों पर अधिष्ठित होते हो तब **रोचमानः**=देदीप्यमान होते हुए आप **द्वे रूपे कृणुते**=दिन व रात्रि के दो रूपों को प्रकट करते हो। २. **केतुमान्**=प्रकाश की किरणोंवाले **उद्यन्**=उदय होते हुए **विश्वा एनांसि सहमानः**=(रजस् Gloom, darkness) सब अन्धकारों को कुचलते हुए आप **प्रवतः विभासि**=(Delight, elevation) सब उच्च स्थानों को दीप्त करनेवाले होते हैं। उदय होते हुए सूर्य का प्रकाश सर्वप्रथम पर्वत शिखरादि उच्च स्थानों को ही प्रकाशमय करता है।

भावार्थ—सूर्य में तन्द्रा का नितान्त अभाव है। यह प्रकाशमय किरणों का अधिष्ठाता है। दिन व रात्रि का निर्माण करता हुआ यह उदित होता है तो अन्धकार का पराभव करके प्रारम्भ में ही शिखरों को दीप्त करनेवाला होता है। सूर्य की भाँति हमें भी तन्द्राशून्य गतिवाला बनना है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—बार्हतगर्भानुष्टुप्॥

महान्

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि॥ २९॥

१. हे **सूर्य**=निरन्तर गतिशील (सरति) व सबको कार्य में प्रेरित करनेवाले (सुवति कर्मणि) सूर्य! तू **बट्**=सचमुच ही महान् **असि**=महान् है, महनीय है। हे **आदित्य**=किरणों द्वारा जलों का आदान करनेवाले आदित्य! तू **बट्**=सचमुच **महान्**=महनीय है—प्रभु की महिमा का तुझमें प्रकाश हो रहा है (तेजसां रविरंशुमान्)। तू तेजस्वी पदार्थों में प्रभु की विभूति ही है। २. **महतः ते**=महनीय तेरी **महिमा महान्**=महिमा महान् है। हे **आदित्य**=आदान करनेवाले सूर्य! उदय होते ही समन्तात् कृमियों का छेदन-भेदन (दाप् लवणे) करनेवाले सूर्य! (उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्ति)। **त्वं महान् असि**=तू महान् है।

भावार्थ—हम सूर्य की भाँति निरन्तर सरणशील, गतिशील, कर्त्तव्यकर्म-तत्पर बनकर तथा अच्छाइयों का आदान करते हुए (आदानात्) व बुराइयों का छेदन-भेदन करते हुए 'सूर्य व आदित्य' बनें और इसप्रकार महनीय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**पञ्चपदोष्णिग्बृहतीगर्भाऽतिजगती**॥

देवः, महिषः, स्वर्जित्

रोच॑से दि॒वि रोच॑से अ॒न्तरि॑क्षे पत॑ङ्ग पृ॒थि॒व्यां रोच॑से॒ रोच॑से अ॒प्स्व॒१॒॑न्तः।
उ॒भा स॑मु॒द्रौ रुच्या॒ व्या॑पिथ दे॒वो दे॑वासि महि॒षः स्व॒र्जित्॥ ३०॥

१. हे **पतङ्ग**=(पत गतौ, ऐश्वर्य च) ऐश्वर्य के साथ गतिवाले प्रभो! आप **दिवि रोचसे**=द्युलोक में दीप्त होते हो—द्युलोक में सूर्य के रूप में आपकी महिमा का प्रकाश होता है। **अन्तरिक्षे रोचसे**=अन्तरिक्ष में आप दीप्त होते हैं—'चन्द्र, विद्युत, वायु' आदि देवों में आपकी महिमा का प्रकाश है। **पृथिव्यां रोचसे**=पृथिवीस्थ अग्नि आदि देवों में भी आपकी ही दीप्ति दीप्त हो रही है। (तेजसवास्मि विभावसौ)। **अप्सु अन्तः रोचसे**=जलों के अन्दर भी आप ही दीप्त हो रहे हैं। 'अप्सु' का अर्थ 'प्रजाओं' में यह भी है—सब प्रजाओं में प्रभु का ही प्रकाश दिखता है। २. **उभा समुद्रौ**=पृथिवीस्थ समुद्रों को तथा अन्तरिक्षस्थ 'मेघरूप' समुद्रों को **रुच्या व्यापिथ**=दीप्ति से आप व्याप्त कर रहे हो। हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **देवः असि**=आप सचमुच देव हैं। **महिषः**=पूजनीय हैं—पूजा के योग्य हैं। **स्वर्जित्**=हमारे लिए प्रकाश व सुख का विजय करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश व महिमा सर्वत्र दीप्त है। हमारे हृदयों में भी प्रभु दीप्त हो रहे हैं। प्रभुस्मरण करते हुए हम 'देव' बनें। दैवीवृत्तिवाले बनकर महनीय जीवनवाले हों। इसप्रकार प्रकाशमय लोक का विजय करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'आशु, विपश्चित्' प्रभु

अ॒र्वाङ् प॒रस्ता॒त्प्रय॑तो व्य॒ध्व आ॒शुर्वि॑प॒श्चित्प॒तय॑न्पत॒ङ्गः।
विष्णु॒र्विचि॑त्तः॒ शव॑सा॒धि॒तिष्ठ॒न्प्र के॒तुना॑ सहते॒ विश्व॒मेज॑त्॥ ३१॥

१. वे प्रभु **अर्वाङ् परस्तात्**=समीप-से-समीप होते हुए दूर-से-दूर हैं (तद्दूरे तद्वन्तिके)। **व्यध्वे प्रयतः**=इस विस्तृत मार्ग में सर्वत्र फैले हुए हैं—सर्वव्यापक हैं। **आशुः**=सर्वत्र व्याप्तिवाले **पतयन्**=सारे ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्यवाले होते हुए वे प्रभु **विपश्चित्**=ज्ञानी हैं और **पतङ्गः**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को प्राप्त हैं। २. **विष्णुः**=सर्वत्र व्याप्त वे प्रभु **विचित्तः** (विशिष्टं चित्तं यस्मात्) विशिष्ट चेतना को प्राप्त करानेवाले हैं। **शवसा**=अपने बल से **अधितिष्ठन्**=सम्पूर्ण संसार के अधिष्ठाता होते हुए प्रभु **एजत् विश्वम्**=गति करते हुए सारे ब्रह्माण्ड को **केतुना**=अपने ज्ञान से **प्रसहते**=(bear,

support, bearup) धारण करते हैं।

भावार्थ—दूर-से-दूर व समीप-से-समीप वर्तमान वे प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड के ईश्वर हैं। वे सर्वत्र व्याप्त, सर्वज्ञ प्रभु ही इसका धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अद्भुत ज्ञानी, पूज्य, पालक' प्रभु

चित्रश्चिकित्वान्महिषः सुपर्ण आरोचयन्रोदसी अन्तरिक्षम्।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्या॑णि॥ ३२॥

१. **चित्रः**=वे प्रभु अद्भुत महिमावाले हैं, **चिकित्वान्**=ज्ञानी हैं, **महिषः**=वे पूजनीय प्रभु ही **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन करनेवाले हैं। वे ही **रोदसी**=द्यावापृथिवी को तथा **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **आरोचयन्**=दीप्त कर रहे हैं। २. ये **सूर्यं परिवसाने**=सूर्य को सब ओर से धारण करते हुए (ओढ़े हुए) **अहोरात्रे**=दिन और रात **अस्य**=इस प्रभु के **विश्वा वीर्याणि**=सब वीर कर्मों को **प्रतिरतः**=बढ़ा रहे हैं—प्रभु के वीरता पूर्ण कर्मों की महिमा को प्रकट करते हैं।

भावार्थ—वे 'अद्भुत ज्ञानी, पूज्य, पालक' प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। सूर्य की गति से निर्मित ये दिन व रात प्रभु की महिमा का ही प्रकाश कर रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'शक्ति व ज्योति' के धाता प्रभु

तिग्मो विभ्राजन्तन्वं१ शिशानोऽरंगमासः प्रवतो रराणः।
ज्योतिष्मान्पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात्प्रदिशः कल्पमानः॥ ३३॥

१. वे प्रभु **तिगमः**=शत्रुओं के लिए अति तीक्ष्ण व **विभ्राजन्**=विशिष्ट दीप्तिवाले हैं। **तन्वं शिशानः**=अपने शरीर को अत्यन्त तीक्ष्ण बनानेवाले हैं—जो भी व्यक्ति अपने को प्रभु का शरीर बनाता है, अर्थात् प्रभु को अपने अन्दर बिठाता है, हृदय में प्रभु का ध्यान करता है, प्रभु उसकी शक्तियों को बढ़ाते हैं। **अरंगमासः प्रवतः रराणः**=(अरं=शक्ति, प्रवतः Heights) शक्ति व उत्कर्षों को प्राप्त करानेवाले हैं। २. **ज्योतिषमान्**=वे प्रभु ज्योर्तिमय हैं, प्रकाशस्वरूप हैं। **पक्षी**=(पक्ष परिग्रहे) साधनों का परिग्रह करनेवाले हैं। **महिषः**=वे पूज्य प्रभु **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले हैं। **विश्वाः प्रदिशः**=सब प्रकृष्ट (विस्तृत) दिशाओं को **कल्पमानः**=शक्तिशाली बनाते हुए **आस्थात्**=समन्तात् स्थित हैं। सब दिशाओं में स्थित प्राणियों को प्रभु ही शक्ति प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु को जो भी धारण करता है, प्रभु उसे शक्ति व ज्योति प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमें शक्तिप्रापक उत्कर्षों की ओर ले-चलते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**॥

देवानाम् 'केतुः+अनीकम्'

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान्प्रदिशः सूर्य उद्यन्।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद्दुरितानि शुक्रः॥ ३४॥

१. वे प्रभु **देवानाम्**=सूर्यादि सब देवों के **केतुः**=प्रकाशक हैं, **चित्रं अनीकम्**=उनका बल अद्भुत है, सब देवों को प्रकाश और शक्ति प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। **ज्योतिष्मान्**=ज्योर्तिमय हैं। **प्रदिशः**=इन प्रकृष्ट दिशाओं में **सूर्यः उद्यन्**=सूर्यरूपेण उदित होते हुए वे प्रभु **दिवाकरः**=दिन

व प्रकाश करनेवाले हैं। २. वे **शुक्रः**=पवित्र व दीप्त प्रभु **द्युम्नैः**=ज्ञान-ज्योतियों से **विश्वा तमांसि**=सब अज्ञानान्धकारों को **अति अतारीत्**=पार करनेवाले हैं—अविद्या-अन्धकार को नष्ट करके प्रकाश प्राप्त करानेवाले हैं। अविद्या-अन्धकार को दूर करके **दुरितानि**=सब दुरितों को भी वे प्रभु दूर करनेवाले हैं।

भावार्थ—सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभु ज्योतिष्मान् हैं। वे हमारे अविद्या-अन्धकार को दूर करके हमें सब दुरितों से पार ले-जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'मित्र, वरुण और अग्नि' के चक्षु

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ ३५॥

१. **देवानाम्**=सूर्यादि प्रकाशमान पिण्डों का **चित्रं अनीकम्**=अद्भुत बलस्वरूप वह प्रभु **उत् अगात्**=उदित हुआ है। इन सूर्यादि पिण्डों में प्रभु का प्रकाश ही दीप्त हो रहा है। वे प्रभु **मित्रस्य**=सूर्य के **वरुणस्य**=चन्द्र के तथा **अग्नेः**=अग्नि के **चक्षुः**=प्रकाशक हैं। २. वे प्रभु **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक का **आ अप्रात्**=समन्तात् पूरण किये हुए हैं—प्रभु इन सब लोकों में व्याप्त हैं। **सूर्यः**=वे प्रभु सूर्य हैं—सूर्यसम् देदीप्यमान हैं। **जगतः तस्थुषः च**=जंगम व स्थावर के आत्मा हैं—इन सबके अन्दर व्याप्त होकर रह रहे हैं।

भावार्थ—वे प्रभु देवों के अद्भुत बल हैं। सूर्य, चन्द्र व अग्नि के प्रकाशक हैं, त्रिलोकी को व्याप्त किये हुए हैं और जंगम व स्थावर जगत् के आत्मा हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यम् अविन्दत् अत्रिः

उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम्।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः॥ ३६॥

१. **उच्चा पतन्तम्**=सर्वोच्च स्थिति में परमैश्वर्यवान् होते हुए (पत् गतौ ऐश्वर्ये च) **अरुणम्**=तेजस्वी व प्रकाशमान **सुपर्णम्**=उत्तमता से सबका पालन करनेवाले **दिवः मध्ये तरणिम्**=ज्ञान के मध्य में तारनेवाले, अर्थात् ज्ञान देकर सब दुरितों से पार करनेवाले, **भ्राजमानम्**=दीप्त **सवितारम्**=सबके उत्पादक व प्रेरक **त्वा**=आपको हे प्रभो! **पश्याम**=देखें। उन आपको देखें, **यम्**=जिनको **अजस्रं ज्योतिः आहुः**='न क्षीण होनेवाली निरन्तर ज्योति', इस रूप में कहते हैं। **यत्**=इस ज्योति को **अत्रिः**=त्रिगुणातीत (नित्य सत्त्वस्थ) पुरुष **अविन्दत्**=प्राप्त करता है। उस प्रभु का दर्शन अत्रि करता है।

भावार्थ—प्रभु 'परमेश्वर हैं, तेजस्वी हैं, सबका पालन करनेवाले हैं'। ज्ञान द्वारा दुरितों से दूर करनेवाले, दीप्त व प्रेरक हैं। ये प्रभु सदा प्रकाशमय हैं, त्रिगुणातीत पुरुष ही प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाविराड्गर्भाजगती**॥

'अदिति-पुत्र' प्रभु

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम॥ ३७॥

१. **दिवः पृष्ठे**=ज्ञान के आधार में **धावमानम्**=हम सबके जीवनों को शुद्ध करते हुए (धाव् शुद्धौ) **सुपर्णम्**=उत्तमता से हमारा पालन करते हुए **अदित्याः पुत्रम्**=वेदवाणी के द्वारा (अ-दिति=अखण्डिता वाक्) हमें पवित्र व रक्षित करनेवाले (पुनाति, त्रायते) प्रभु को **भीतः**=संसार के इन काम-क्रोधरूप शत्रुओं से भयभीत हुआ-हुआ मैं **नाथकामः**=नाथ को, रक्षक को चाहता हुआ **उपयामि**=समीपता से प्राप्त होता हूँ। २. हे **सूर्य**=उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **दीर्घम् आयुः**=दीर्घजीवन को **प्रतिर**=अत्यन्त बढ़ानेवाले होओ। **मा रिषाम**=हम हिंसित न हों। **ते सुमतौ स्याम**=सदा आपकी कल्याणी मति में निवास करें।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान द्वारा हमारा शोधन करते हैं। प्रभु की कल्याणी मति में चलते हुए हम दीर्घ आयुष्य को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सहस्र युगपर्यन्त दिन व रात

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन्याति भुवनानि विश्वा॥ ३८॥

१. **स्वर्गं पततः**=सदा आनन्दमय लोक में गति करनेवाले—सदा आनन्दस्वरूप **हंसस्य**=हमारे पापों का नाश करनेवाले और पापनाश के द्वारा **हरेः**=दुःखों का हरण करनेवाले **अस्य**=इस प्रभु के **पक्षौ**=सृष्टि-निर्माण व प्रलयरूप दो पक्ष (दिन व रात) **सहस्राह्ण्यं वियतौ**=सहस्र युगपर्यन्त परिमाणवाले दिन व रात में फैले हुए हैं—या विशिष्टरूप से नियमबद्ध हैं। (सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः)। २. **सः**=वे प्रभु **सर्वान् देवान्**=सब पृथिवीस्थ, अन्तरिक्षस्थ व द्युलोकस्थ ग्यारह-ग्यारह कुल तेतीस देवों को **उरसि उपदद्य**=अपने हृदय में, अपने एक देश में ग्रहण करके **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **सम्पश्यन् याति**=सम्यक् देखते हुए—सबका सम्यक् धारण करते हुए **याति**=गति करते हैं।

भावार्थ—सदा आनन्दमयलोक में निवास करनेवाले, पापनाशक, दुःखनिवारक प्रभु के सृष्टिनिर्माण व प्रलयरूप दिन व रात नियमबद्ध रूप से सहस्र युगों के परिमाणवाले हैं। वे प्रभु सब देवों को अपने अन्दर धारण करके सब लोकों को देखते हुए गति करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'काल व प्रजापति' प्रभु

रोहितः कालो अभवद्रोहितोऽग्रे प्रजापतिः।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्व१राभरत्॥ ३९॥

१. **रोहितः**=सदा से वृद्ध वे प्रभु ही **कालः अभवत्**=काल हैं 'दिक्कालाकाशः न परमात्मनो व्यतिरिच्यन्ते', भूत, भविष्यत्, वर्तमानरूप कालत्रयी के स्वामी वे प्रभु ही हैं। **रोहितः**=सदा से वृद्ध वे प्रभु ही **अग्रे प्रजापतिः**=सबसे आगे, सर्वमुख्य प्रजापति हैं, प्रजाओं के रक्षक हैं। २. **रोहितः**=ये रोहित प्रभु ही **यज्ञानां मुखम्**=वेद द्वारा सब यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाले हैं और **रोहितः**=ये रोहित प्रभु इन यज्ञों द्वारा **स्वः आभरत्**=सुख व आनन्द का भरण करनेवाले हैं।

भावार्थ—सदा से वृद्ध वे प्रभु ही काल हैं, प्रजापति हैं, यज्ञों के प्रतिपादक व सुखों के पोषक हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रकाशक प्रभु

रोहि॑तो लो॒को अ॑भवद्रोहि॒तोऽत्य॑तप॒द्दिव॑म् ।
रोहि॑तो र॒श्मिभि॒र्भूमिं॑ समु॒द्रमनु॒ सं च॑रत् ॥ ४० ॥

१. **रोहितः**=वे सदा से वृद्ध **लोकः अभवत्**=लोक हैं, प्रकाश हैं। **रोहितः**=ये रोहित प्रभु ही **दिवं अति अतपत्**=द्युलोकस्थ सूर्य को अतिशेयन दीप्त करते हैं। प्रभु की दीप्ति से ही सूर्य दीप्त है। २. **रोहितः**=वे सदावृद्ध प्रभु ही **रश्मिभिः**=अपनी प्रकाश की किरणों से **भूमिं समुद्रम्**=इस भूमि व अन्तरिक्ष का **अनु संचरत्**=लक्ष्य करके गति करनेवाले होते हैं। प्रभु ही सब सूर्यचक्र व नक्षत्रों को प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही लोक हैं। वे रोहित प्रभु ही सूर्यादि को दीप्त कर रहे हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'व्यापक, अधिपति, रक्षक' प्रभु

सर्वा॒ दिशः॒ सम॑चरद्रोहि॒तोऽधि॑पतिर्दि॒वः । दिवं॑ समु॒द्रमाद्भूमिं॒ सर्वं॑ भू॒तं वि र॑क्षति ॥ ४१ ॥

१. **रोहितः**=वे तेजस्वी सदावृद्ध प्रभु **दिवः अधिपतिः**=सम्पूर्ण ज्ञान व प्रकाश के स्वामी हैं। जहाँ-जहाँ देवत्व है, प्रकाश है वह सब उस प्रभु का ही है। ये प्रभु **सर्वाः दिशः समचरत्**=सब दिशाओं में संचार करते हैं—सर्वत्र व्याप्त हैं। २. ये प्रभु **दिवम्**=द्युलोक को **समुद्रम्**=अन्तरिक्षलोक को **आत्**=और **भूमिम्**=इस पृथिवी को, **सर्वं भूतम्**=सब प्राणियों को **विरक्षति**=रक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं, प्रकाश के अधिपति हैं, सबका रक्षण करते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'शुक्रः, अतन्द्रः' प्रभु

आ॒रोह॑ञ्छु॒क्रो बृ॑ह॒तीरत॑न्द्रो॒ द्वे रू॒पे कृ॑णु॒ते रोच॑मानः ।
चि॒त्रश्चि॑कि॒त्वान्म॑हि॒षो वात॑माया॒ याव॑तो लो॒काँ अ॒भि यद्वि॒भाति॑ ॥ ४२ ॥

१. **बृहती आरोहन्**=इन विशाल दिशाओं में आरोहण करता हुआ, **शुक्रः**=ज्ञानदीप्त, **अतन्द्रः**=आलस्यशून्य **रोचमनः**=तेजस्विता से दीप्त प्रभु **द्वे रूपे कृणुते**=जंगम व स्थावर—दो रूपोंवाले संसार को बनाता है। २. **चित्रः**=वे प्रभु अद्भुत हैं, **चिकित्वान्**=ज्ञानी हैं, **महिषः**=पूजनीय हैं। **वातमायाः**=वायु में भी व्याप्तिवाले हैं। **यावतः लोकान् अभि**=जितने भी लोक हैं, उनका लक्ष्य करके वे प्रभु **यत् विभाति**=जब दीप्त होते हैं तब सचमुच ही पूजनीय होते हैं।

भावार्थ—वे सर्वत्र व्याप्त प्रभु दीप्त व आलस्यशून्य हैं। वे ही सब लोकों में दीप्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः ॥ छन्दः—जगती ॥

'गातुवित्' प्रभु

अ॒भ्य१॒॑न्यदे॑ति॒ पर्य॒न्यद॑स्यतेऽहोरा॒त्राभ्यां॑ महि॒षः कल्प॑मानः ।
सूर्यं॑ व॒यं रज॑सि क्षि॒यन्तं॑ गातु॒विदं॑ हवामहे॒ नाध॑मानाः ॥ ४३ ॥

१. **अन्यत् अभि एति**=एक हमारी ओर आता है, **अन्यत् परि अस्यते**=दूसरा हमसे परे फेंका जाता है। दिन आता है तो रात्रि परे फेंकी जाती है। रात्रि आती है तो दिन परे फेंका

जाता है। इसप्रकार **अहोरात्राभ्याम्**=दिन और रात्रि के द्वारा **महिषः**=वह पूजनीय प्रभु **कल्पमानः**=हमारे आयुष्यों को काट रहे हैं। दिन और रात्रि एक क्रम में आते हैं और हमारे आयुष्य को जीर्ण करते चलते हैं। २. उस **सूर्यम्**=सूर्यसम ज्योति ब्रह्म को **रजसि क्षियन्तम्**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में निवास करनेवाले, **गातुविदम्**=हमारे लिए मार्ग का ज्ञापन करनेवाले को, **वयम्**=हम **नाधमानाः हवामहे**=प्रार्थना करते हुए पुकारते हैं। प्रभु ही मार्गदर्शन करते हुए हमें पापों से बचाते हैं और इस प्रकार हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—दिन व रात्रि के निर्माण द्वारा हमारे आयुष्य का यापन होता चलता है। वे प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं, हमें मार्ग दिखा रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—
चतुष्पदापुरःशाक्वराभुरिग्जगती॥

'सुविदत्रो यज्ञत्रः' प्रभु

पृथिवीप्रो महिषो नाधमानस्य गातुरदब्धचक्षुः परि विश्वं बभूव।
विश्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि॥ ४४॥

१. **पृथिवीप्रः**=इस पृथिवी को विविध ओषधि-वनस्पतियों से पूरण करनेवाले **महिषः**=पूजनीय **नाधमानस्य गातुः**=प्रार्थना करनेवाले के मार्गदर्शक **अदब्धचक्षुः**=अहिंसित दृष्टिवाले, सर्वद्रष्टा वे प्रभु **विश्वं परिबभूव**=सारे विश्व को व्याप्त किये हुए हैं। २. **विश्वं संपश्यन्**=सारे संसार का सम्यक् निरीक्षण व धारण करते हुए वे प्रभु **सुविदत्रः**=सब उत्तम वस्तुओं के प्रापण (विद् लाभे) के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले हैं। **यजत्रः**=वे प्रभु पूजनीय हैं, संगतिकरण-योग्य हैं और समर्पणीय हैं। प्रभु के प्रति हमें अपना अर्पण कर देना चाहिए। वे प्रभु **यद् अहं ब्रवीमि**=जो मैं प्रार्थना के रूप में कहता हूँ, **इदं शृणोतु**=इस बात को सुनें। मेरी प्रार्थना को सुनने की प्रभु कृपा करें। वस्तुतः मैं इस योग्य बनूँ कि मेरी प्रार्थना सुनी जाए।

भावार्थ—वे प्रभु इस पृथिवी को हमारे पालन के लिए सब आवश्यक वस्तुओं से परिपूरित करते हैं। सर्वत्र व्याप्त वे प्रभु हम सबका ध्यान करते हैं। वे 'सुविदत्र' हैं, हमारी प्रार्थना को सुनते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भाजगती**॥

पृथिवीं, समुद्रं, द्यां, अन्तरिक्षं (परिबभूव)

पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन्परि द्यामन्तरिक्षम्।
सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि॥ ४५॥

१. **अस्य**=उस प्रभु की **महिमा**=महिमा **पृथिवीम् समुद्रं परि** (बभूव)=पृथिवी और समुद्र को व्याप्त कर रही है। **ज्योतिषः विभ्राजन्**=ज्योति से दीप्त होते हुए वे प्रभु **द्याम् अन्तरिक्षम्**=द्युलोक व अन्तरिक्षलोक को **परि (बभूव)**=व्याप्त किये हुए हैं। २. **सर्वं संपश्यन्**=सबको सम्यक् देखते हुए वे प्रभु **सुविदत्रः**=सब उत्तम वस्तुओं के प्रापण के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले हैं। **यज्ञत्रः**=वे प्रभु पूजनीय हैं, संगतिकरण-योग्य हैं और समर्पणीय हैं। **यत् अहं ब्रवीमि**=जो भी मैं प्रार्थना के रूप में प्रभु से कहता हूँ, प्रभु **इदं शृणोतु**=उसको सुनें। मेरी प्रार्थना न सुनने योग्य न हो। मैं अपने को प्रार्थना सुने जाने का पात्र बनाऊँ।

भावार्थ—प्रभु की महिमा 'पृथिवी, समुद्र, द्युलोक व अन्तरिक्षलोक' में सर्वत्र विद्यमान है। वे प्रभु हम सबका ध्यान करते हैं। मैं इस योग्य बनूँ कि वे 'सुविदत्र, यज्ञत्र' प्रभु मेरी

प्रार्थना को सुनें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

आश्रम चतुष्टय

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वाइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ॥ ४६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनते हैं तब ब्रह्मचर्याश्रम में **समिधा**='पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' के पदार्थों के ज्ञान द्वारा (इन्ध् दीप्तौ) **अग्निः अबोधि**=ज्ञानाग्नि दीप्त की जाती है। ब्रह्मचारी आचार्य द्वारा ज्ञानसमिद्ध किया जाता है। ये ब्रह्मचारी स्नातक बनकर (स स्नातः बभ्रुः०) जब गृहस्थ बनता है तब **प्रति आयतीं उषासम्**=प्रत्येक आनेवाले ऊषाकाल में **जनानां धेनुं इव**=लोगों के प्रति गौ की भाँति होता है। गौ जैसे-दूध देकर लोगों का पोषण करती है, यह भी सब आश्रमियों का पोषण करनेवाला होता है। २. जैसे **यह्वाः**=तनिक बड़े होकर **पक्षी वयाम्**=शाखा को **प्र उज्जिहानाः**=प्रकर्षेन छोड़नेवाले होते हैं—घोंसले से निकलकर जैसे वे आकाश में उड़ते हैं, उसीप्रकार ये भी गृहस्थ की समाप्ति पर घर को छोड़कर वनस्थ होने की कामनावाले होते हैं। अब वानप्रस्थ की साधना को पूर्ण करके **भानवः**=सूर्यसम ज्ञान की ज्योतिवाले वे संन्यस्त पुरुष सबके लिए प्रभु का सन्देश सुनाते हुए **नाकं अच्छ प्रसिस्रते**= मोक्षलोक की ओर आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचारी ज्ञानदीप्त बनें, गृहस्थ सबका पालन करनेवाला हो। गृहस्थ को पूर्ण करके मनुष्य वनस्थ बनें। साधना के द्वारा ज्ञानदीप्त बनकर प्रभु का सन्देश सबको सुनाता हुआ मोक्ष की ओर प्रगतिवाला हो।

अथ तृतीयोऽनुवाकः

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—अष्टपदाऽऽकृतिः॥

ब्रह्महत्यारूप पाप

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते।
यस्मिन्क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनु विचाकशीति।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १॥

१. **यः**=जो प्रभु **इमे द्यावापृथिवी जजान**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक को उत्पन्न करता है, **यः**=जो प्रभु **द्रापिं कृत्वा**=अपने को कवच बनाकर **भुवनानि वस्ते**=सब भुवनों को आच्छादित करते हैं, अर्थात् जिस प्रभु ने सारे भुवनों को आच्छादित करके उनका रक्षण किया हुआ है, **यस्मिन्**=इस प्रभु में **षट् उर्वीः प्रदिशः**=छह विस्तृत दिशाएँ **क्षियन्ति**=निवास करती है, **याः**=जिन दिशाओं को **पतङ्गः**=यह सूर्य **अनुविचाकशीति**=अनुकूलता से प्रकाशित करता है, २. **तस्य**=उस **देवस्य क्रुद्धस्य एतत् आगः**=उस क्रुद्ध देव प्रभु के प्रति यह अपराध है, **यः**=जो **एवं विद्वांसम्**= इसप्रकार ज्ञानी **ब्राह्मणं जिनाति**=ब्राह्मण को हिंसित करता है। उस ब्रह्मवेता का हिंसन ब्रह्म का हिंसन है। इसप्रकार ज्ञान की हत्या होती है। हे **रोहित**=सदा से प्रवृद्ध प्रभो! इस ब्रह्मज्य को आप **उत् वेपय**=कम्पित कर दीजिए, **प्रक्षिणीहि**=इसे हिंसित कीजिए। इस **ब्रह्मज्यस्य**=ज्ञान की हानि करनेवाले के **पाशान् प्रतिमुञ्च**=पाशों को जकड़ दीजिए। प्रभु की व्यवस्था से हमारे

समाज से इस ब्रह्मज्य का निराकरण हो जाए, जिससे ज्ञानवृद्धि होकर राष्ट्र ठीक दिशा में आगे बढ़े।

भावार्थ—उन ब्रह्मज्ञानियों का आदर होना चाहिए जो प्रभु को इस संसार का उत्पादक व धारक जानते हैं, जो प्रभु को, सूर्य से प्रकाशित सब विस्तृत दिशाओं में, व्यापक जानते हैं। इन ब्रह्मज्ञानियों की हत्या करनेवाला प्रभु से कम्पनीय, हिंसनीय व पाशबन्धनीय हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**षट्पदाभुरिगष्टिः** ॥

वाताः समुद्राः

यस्माद्वाता ऋतुथा पवन्ते यस्मात्समुद्रा अधि विक्षरन्ति।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २॥

१. **यस्मात्**=जिस प्रभु की व्यवस्था से **वाताः**=वायुएँ **ऋतुथा पवन्ते**=ऋतुओं के अनुसार यथोचितरूप में बहती हैं और **यस्मात्**=जिस प्रभु की व्यवस्था से **समुद्राः**=समुद्र **अधिविक्षरन्ति**=विविध दिशाओं में क्षरित होते हैं। क्षारयुक्त जलवाले होते हैं, उस प्रभु के प्रति यह अपराध है जो इस ब्रह्मज्ञानी को हिंसित करता है। शेष पर्वूवत्।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था से ही उस-उस ऋतु में यथोचित वायुओं के प्रवाह चलते हैं, उसकी व्यवस्था से ही सब दिशाओं में समुद्रों के प्रवाह क्षरित हो रहे हैं। इस ब्रह्म को जाननेवाले का निरादर न करके उसके द्वारा राष्ट्र में ज्ञानवृद्धि करना ही उचित है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**३ षट्पदाऽष्टिः, ४ षट्पदाऽतिशाक्वरगर्भाधृतिः** ॥

मारयति प्राणयति

यो मारयति प्राणयति यस्मात्प्राणन्ति भुवनानि विश्वा।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ३॥
यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं यः पिपर्ति।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ४॥

१. **यः**=जो प्रभु **मारयति**=सबको मृत्यु प्राप्त कराता है तथा **प्राणयति**=प्राणित करता है, अर्थात् जो सब प्राणियों की मृत्यु और जन्म का कर्त्ता है। **यस्मात्**=जिससे **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **प्राणन्ति**=प्राण धारण करते हैं। २. **यः**=जो **प्राणेन**=प्राण के द्वारा **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को—तत्रस्थ प्राणियों को **तर्पयति**=प्रीणित करता है तथा **अपानेन**=अपान के द्वारा दोषों को दूर करनेवाली इस अपानशक्ति के द्वारा **यः**=जो **समुद्रस्य**='पुरुषो वै समुद्रः' (जै०उ० ३.३५.५)। आनन्दमय जीवनवाले पुरुष के (स+मुद्) जठरं **पिपर्ति**=जठर को पालित व पूरित करता है, उस प्रभु के प्रति यह अपराध है कि इस ब्रह्म के ज्ञानी की हत्या करके ज्ञान-प्रसार के कार्य में रुकावट उत्पन्न करना। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ही सबको जन्म-मृत्यु प्राप्त कराते हैं, प्रभु के आधार से सब लोक प्राणित हो रहे हैं। प्रभु ही प्राणशक्ति के द्वारा हमारा प्रीणन करते हैं और अपान द्वारा दोष-निवारणपूर्वक

जीवन को आनन्दमय बनाते हैं। इस ज्ञान के प्रसार करनेवाले की हत्या पाप है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥
छन्दः—सप्तपदाशाक्वरातिशाक्वरगर्भाप्रकृतिः॥

'विराट्' आदि का आधार 'प्रभु'

यस्मिन्विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः।
यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ५॥

१. **यस्मिन्**=जिस प्रभु में विराट् (इयं पृथिवी विराट्—गो०उ० ६.२) यह पृथिवी, **परमेष्ठी**=(आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति—शत० ८.२.३.१३) प्रजा के रक्षक ये परम स्थान में विस्तृत होकर वृष्ट होनेवाले जल, **अग्निः**=अग्नि, **प्रजापतिः**=(एतद् वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपं यद् वायुः—कौ० १९.२) वायु **वैश्वनरः**=आकाश (एष वै बहुलो वैश्वनरो यदाकाशः—शत० १०.६.१.६) **पङ्क्त्या सह**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राणों के साथ होनेवाला जीव **श्रितः**=आश्रित है। २. **परस्य प्राणम्**=परा प्रकृतिरूप जीव के प्राण को (इतरस्त्वन्यां प्रवृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्) तथा **परमस्य तेजः**=परम स्थान में स्थित सूर्य के तेज को **आददे**=स्वयं ग्रहण करता है। उस प्रभु के प्रति यह अपराध है कि जो ब्रह्मज्ञानी को हिंसित करता है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—वह प्रभु 'पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश व जीवों' का आश्रय है। वही जीव के प्राणों व सूर्य के तेज को ग्रहण करता है। इसप्रकार के ब्रह्म के ज्ञाता का हिंसन करना पाप है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥
छन्दः—सप्तपदाशाक्वरातिशाक्वरगर्भाप्रकृतिः॥

सर्वाधार प्रभु

यस्मिन्षडुर्वीः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्चतस्त्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः।
यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ६॥

१. **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **षट् उर्वीः**=ये छह विशाल **पञ्च दिशाः**=(तवेमे पञ्च पशवः गौरश्वः पुरुषोऽजावयः) पाँच पशुओं सहित दिशाएँ **अधिश्रिताः**=आश्रित हैं। इसीप्रकार **चतस्त्रः आपः**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' रूप चारों प्रजाएँ (आपो नारा इति प्रोक्ताः), **यज्ञस्य त्रयः अक्षराः**=यज्ञ के तीनों अक्षर उस पूज्य प्रभु के वाचक तीन 'अ उ म्' रूप अक्षर (तस्य वाचकः प्रणवः, 'ओंकारप्रणवौ समौ') भी जिसमें आश्रित हैं। २. **यः**=जो ये **रोदसी अन्तरा**=इन द्यावापृथिवी के बीच में **क्रुद्धः**=पापियों के प्रति क्रुद्ध हुआ-हुआ **चक्षुषा**=सूर्यरूप आँख से **ऐक्षत**=देखता है (चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ)। उस परमात्मा के प्रति यह पाप है कि इसप्रकार के ब्रह्मज्ञानी की हत्या करना। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ही विशाल दिशाओं को, उनमें स्थित 'गौ, अश्व, पुरुष, अजा, अवि' इन

पाँच पशुओं को, 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' रूप चार प्रजाओं को, 'अ उ म्' इन तीनों अक्षरों को धारण करते हैं, वे ही सूर्यरूप आँख द्वारा पापियों पर क्रोधदृष्टि करते हैं। इस प्रभु के ज्ञाता ज्ञानी ब्राह्मण का आदर ही करना चाहिए, न कि हत्या।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाऽनुष्टुबगर्भाऽतिधृतिः**॥

अन्नाद-प्रजापति-ब्रह्मणस्पति

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः। भूतो भविष्यद्भुवनस्य यस्पतिः।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ७॥

१. **यः**=जो प्रभु **अन्नादः**=सब अन्नों का अदन करनेवाले हैं (अहं अन्नादः, 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवतः ओदने') **अन्नपतिः बभूव**=जो सब अन्नों के स्वामी व रक्षक हैं **उत यः ब्रह्मणस्पतिः**=और जो ज्ञान के स्वामी हैं। २. **यः**=जो **भूतः**=दूर-से-दूर भूतों में भी सदा से वर्तमान, **भविष्यत्**=भविष्यत् में भी सदा रहनेवाले ('कभी नहीं थे', यह नहीं 'कभी नहीं रहेंगे', यह भी नहीं) प्रभु हैं, **यः भुवनस्य**=जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के **पतिः**=स्वामी हैं, उस ब्रह्म के प्रति यह अपराध है कि उसप्रकार के ब्रह्मज्ञानी की हिंसा करना। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—जो ब्रह्मज्ञानी प्रभु को 'अन्नाद, अन्नपति व ब्रह्मणस्पति' रूप में देखता है और जो प्रभु को 'सदा से वर्तमान, सदा से रहनेवाला' भुवनपति जानता है उस ब्रह्मज्ञानी की हिंसा करना महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**षट्पदाऽत्यष्टिः**॥

त्रयोदशं मासं (निर्मिमीते)

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ८॥

१. **अहोरात्रैः**=दिन और रातों के **विमितम्**=विशेष रूप से परिमित, नपे हुए **त्रिंशत् अङ्गम्**=तीस अंगों से बने हुए **त्रयोदशं मासम्**=तेरहवें मास को भी **यः निर्मिमीते**=जो पूरी तरह से बना देता है उस व्यवस्थापक प्रभु के प्रति यह अपराध है कि ऐसे ब्रह्मज्ञानी की हत्या करना। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ने इस कालचक्र का अद्भुत निर्माण किया है। समय-समय पर तेरहवाँ मास भी आता है और बड़े नियमितरूप से आता है। इस कालविद्या में निपुण ब्रह्मज्ञानी की हत्या करना महापाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाभुरिगतिधृतिः**॥

द्युलोक की ओर जाना व फिर वहाँ से लौटना

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ९॥

१. **हरयः**=जल का वाष्पीभवन द्वारा हरण करनेवाली, **सुपर्णाः**=सम्यक् पालन व पोषण

करनेवाली **अपः वसानाः**=जल को धारण करनेवाली सूर्य की किरणें **कृष्णं नियानम्**=कृष्ण वर्ण या नील वर्णवाले सबके स्थानरूप **दिवं उत पतन्ति**=द्युलोक की ओर गतिवाली होती हैं। सूर्य की किरणों के द्वारा जल का वाष्पीभवन होता है। इन वाष्पीभूत जलों को लेकर सूर्य की किरणें मानो फिर आकाश की ओर गतिवाली होती हैं। २. **ते**=वे सूर्य की किरणें **ऋतस्य सदनात्**=इस ऋत (rain-water) के सदन से—वृष्टिजल के घररूप अन्तरिक्षलोक से **आववृत्रन्**=फिर यहाँ लौटनेवाली बनती हैं। सूर्य की किरणरूप हाथों द्वारा जलवाष्पों को ऊपर ले-जाता है, सूर्य के ये किरणरूप हाथ जलों को लेने के लिए फिर इस पृथिवीलोक की ओर आवृत होते हैं। प्रभु की यह क्या विचित्र रचना है? इस रचना में प्रभु की महिमा को देखनेवाले ब्रह्मज्ञानी की हत्या करना पाप है।

भावार्थ—सूर्य की किरणें जलों को लेकर ऊपर अन्तरिक्ष में जाती हैं। वहाँ के जलकणों को स्थापित करके पुनः जलकणों को लेने के लिए यहाँ लौटती हैं। इस प्रक्रिया में प्रभु की महिमा को देखनेवाले ब्रह्मज्ञानी का आदर करना हमारा कर्त्तव्य है। उसकी हिंसा करना महान् पाप है। (मुक्तात्मा भी द्युलोक की ओर जाता है और परान्तकाल के पश्चात् फिर वहाँ से यहाँ लौटता है)।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—सप्तपदाभुरिगतिधृतिः॥

सप्त सूर्याः

यत्ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद्यत्संहितं पुष्कलं चित्रभानु।
यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम्।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १०॥

१. हे **कश्यप**=सर्वद्रष्टा प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **चन्द्रम्**=सबको आह्लादित करनेवाला **रोचनावत्**=दीप्तियुक्त **पुष्कलम्**=पुष्टिकारी व पर्याप्त **संहितम्**=एकत्र स्थापित **चित्रभानु**=अद्भुत दीप्तिवाला प्रकाशमयस्वरूप है। यह वह स्वरूप है कि **यस्मिन्**=जिस प्रकाशमयस्वरूप में **सप्तसूर्याः**=सात रंगोंवाली किरणोंवाले ये सूर्य **साकं आर्पिताः**=साथ-साथ अर्पित हैं। २. प्रभु ने वस्तुतः इन सूर्यो को सात वर्णोंवाली किरणोंवाला बनाकर हमारे शरीरों में सात प्राणशक्तियों के स्थापन की सुन्दर व्यवस्था की है। इन सात प्राणशक्तियों से शरीरस्थ सप्तर्षि व सप्तहोता पूर्ण स्वस्थरूप से रहते हैं तभी ये साधक सातों लोकों का विभाजन करता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है। इसप्रकार इन अद्भुत सूर्य प्रकाशों में प्रभु की महिमा के द्रष्टा ब्रह्मज्ञानी का हिंसन महापाप है।

भावार्थ—सर्वद्रष्टा प्रभु का स्वरूप आह्लादकारी और प्रकाशमय है। उसने सूर्य को सात रंगों की किरणोंवाला बनाया है। हमारे शरीर में सात प्राणशक्तियों की स्थापना की है, जिससे शरीरस्थ सप्तर्षि व सप्त होता पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। इसप्रकार सूर्यप्रकाश में प्रभु की महिमा को देखनेवाले ब्राह्मण की हिंसा करना महापाप है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—सप्तपदाभुरिगतिधृतिः॥

अप्रमादम् सदम्

बृहदेनमनु वस्ते पुरस्ताद्रथन्तरं प्रति गृह्णाति पश्चात्। ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादम्।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।

उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ११॥

१. (द्यौर्वै बृहत्—शत० ९.१.२.३७, रथन्तरं हि इयं पृथिवी—शत० १.७.२.१७) **बृहत्**=यह महान् द्युलोक **एनम्**=इस प्रभु को **पुरस्तात्**=सामने से **अनुवस्ते**=आच्छादित करता है और **रथन्तरम्**=यह पृथिवी **पश्चात्**=पीछे से **प्रतिगृह्णाति**=ग्रहण करती है। इसप्रकार **ज्योतिः**=ज्योर्तिमय प्रभु को **वसाते**=वस्त्र के समान आच्छादित करते हुए ये द्यावापृथिवी **अप्रमादम्**=प्रमादशून्य **सदम्**=गृह के समान हैं। इसप्रकार प्रभु की ज्योति को दिखलानेवाले द्यावापृथिवी को जो एक उत्तम गृह के रूप में देखता है, उस ब्रह्मज्ञानी का हनन प्रभु के प्रति एक महान् अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—द्युलोक ने प्रभु को आगे से धारण किया हुआ है, पृथिवी ने पीछे से। एवं, यह संसार-गृह प्रभु की ज्योति से परिपूर्ण है। इस रूप में संसार को देखनेवाले ब्रह्मज्ञानी का हनन महापाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाभुरिगतिधृतिः**॥

सबले सध्रीची

बृहदन्यतः पक्ष आसीद्रथन्तरमन्यतः सबले सध्रीची। यद्रोहितमजनयन्त देवाः।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १२॥

१. **बृहत्**=यह विशाल आकाश **अन्यतः पक्षः आसीत्**=एक ओर का पक्ष है **अन्यतः रथन्तरम्**=यह पृथिवी दूसरी ओर का। ये दोनों **सध्रीची**=साथ-साथ चलनेवाले होते हुए **सबले**=बलयुक्त हैं। २. इस रूप में ब्रह्माण्ड को विद्वानों ने देखा **यत्**=जबकि **देवाः**=द्यावापृथिवी के अन्दर स्थित सूर्यादि देवों ने **रोहितम्**=उस सदा से वृद्ध प्रभु को **अजनयन्त**=प्रकट किया। संसार एक शकट है तो द्युलोक उसका एक पक्ष है और पृथिवीलोक दूसरा। इस शकट का वहन करनेवाले 'अनड्वान्' प्रभु हैं। इसप्रकार से संसार को देखनेवाले ज्ञानियों का हनन एक महान् पाप है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—संसाररूप शकट का एक चक्र द्युलोक है तो दूसरा चक्र यह पृथिवीलोक है। प्रभु इसका वहन कर रहे हैं। मिलकर गति करते हुए ये दोनों लोक अत्यन्त बलयुक्त हैं। इस अद्‌भुत शकट के स्वामी व नियन्ता प्रभु हैं। इनके द्रष्टा ब्रह्मज्ञानियों का हनन प्रभु के प्रति महान् पाप है।

सूचना—शरीर में ये दोनों पक्ष 'प्राण और अपान' है। एक परिवार में ये 'पति व पत्नी' हैं। एक राष्ट्र में 'राजा व प्रजा' हैं। ये मिलकर चलने पर ही सबल होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाविकृतिः**॥

'अग्नि, मित्र, सविता, इन्द्र'

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १३॥

१. **सः वरुणः**=वे प्रभु वरुण हैं—सब अन्धकार का निवारण करनेवाले व वरणीय हैं। **सायम्**=सायंकाल होने पर, अन्धकार के अवसर पर **अग्निः भवति**=अग्नि के समान प्रकाशक

होते हैं। **सः**=वे **प्रातः उद्यन्**=प्रातः उदय होते हुए सूर्य के समान **मित्रः भवति**=प्रमीति से—मृत्यु से हमें बचानेवाले हैं। प्रातः उदय होता हुआ सूर्य रोग-कृमियों का संहार करता है। प्रभु ही हमें नीरोगता प्रदान करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **सविता**=सबके प्रेरक होते हुए **अन्तरिक्षेण याति**=हृदयान्तरिक्ष से गति करते हैं—हृदयस्थरूपेण हमें कर्त्तव्य-कर्मों की प्रेरणा देते हैं। **इन्द्रः भूत्वा**=परमैश्वर्यवाले होते हुए वे प्रभु **दिवं मध्यतः तपति**=मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य के रूप में दीप्त होते हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—वे प्रभु अन्धकार में प्रकाश प्राप्त कराते हैं, नीरोगता देनेवाले हैं, हृदयस्थरूपेण सत्कर्मों की प्रेरणा देते हैं, मस्तिष्करूप द्युलोक में वे ज्ञानसूर्य के समान होते हैं। इस रूप में ब्रह्मदर्शन करनेवाले ब्राह्मणों का हनन महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाविकृतिः**॥

सहस्र युगपर्यन्त आरोहण

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन्याति भुवनानि विश्वा।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १४॥

व्याख्या अथर्व० १३.२.३८ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदानिचृदतिधृतिः**॥

पुरुशाकः अत्रिः

अयं स देवो अप्स्वन्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्रिः। य इदं विश्वं भुवनं जजान।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १५॥

१. **अयं सः देवः**=यह वह प्रकाशमय प्रभु हैं, **यः**=जो **इदं विश्वं भुवनम्**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को **जजान**=उत्पन्न करते हैं। ये प्रभु **अप्सु अन्तः**=सब प्रजाओं के हृदयों में निवास करते हैं। ये प्रभु **सहस्रमूलः**=इन सहस्रों लोकों के मूल हैं। **पुरुशाकः**=महान् शक्तिवाले हैं। **अत्रिः** (अ-त्रि) त्रिगुणातीत हैं अथवा (अदनात्) प्रलयकाल आने पर सब लोकों को स्वयं लील जानेवाले हैं। २. प्रभु ही ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं, अपनी अनन्त शक्ति से वे ही इसका धारण करते हैं और अन्त में इसका अपने में लय कर लेते हैं (जन्माद्यस्य यतः)। इसप्रकार ब्रह्म को देखनेवाले ज्ञानी का हनन प्रभु के प्रति महान् पाप है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु जगत्स्रष्टा हैं, सहस्रों लोकों के आधार हैं, वे अनन्त शक्तिवाले प्रभु संसार को अन्ततः अपने में लीन कर लेते हैं। ये प्रभु ही सब प्रजाओं के हृदयों में निवास करते हैं। प्रभु के ज्ञाता ब्रह्मज्ञानी का हनन प्रभु के प्रति महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाऽऽकृतिः**॥

रघुष्यदः हरयः

शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम्।
यस्योर्ध्वा दिवं तन्वस्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति।

तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहि॒त प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ १६॥

१. उस **शुभ्रम्**=शुद्ध (शुच्) **देवम्**=प्रकाशमय, **दिवि**=द्युलोक में (सम्पूर्ण आकाश में) **वर्चसा**=दीप्ति से **भ्राजमानम्**=दीप्त होते प्रभु को **रघुष्यदः**=तीव्र गतिवाले, स्फूर्ति के साथ अपने कर्त्तव्यकर्मों के करने में लगे हुए **हरयः**=अज्ञान का हरण (नाश) करनेवाले, ज्ञानकिरणों से दीप्त मनुष्य **वहन्ति**=धारण करते हैं। प्रभु की प्राप्ति 'ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यकर्म-परायण' पुरुषों को ही होती है। २. **यस्य**=जिस प्रभु के **ऊर्ध्वाः तन्वः**=ऊपर होनेवाले शक्तियों के विस्तार (तन् विस्तारे) **दिवं तपन्ति**=द्युलोक को—द्युलोकस्थ नक्षत्रों व सूर्यों को दीप्त करते हैं, वे प्रभु ही **अर्वाङ्**=यहाँ नीचे **सुवर्णैः**=उत्तम वर्णोंवाले **पटरैः**=प्रकाशों से (पट दीप्तौ) **विभाति**=विशिष्टरूप से अथवा विविधरूपों से चमकता है। यहाँ पृथिवी पर भी प्रत्येक पुष्प-फलादि की अपनी निराली ही शोभा है। इस सब शोभा का मूल वे प्रभु ही हैं। इस प्रकार प्रभु की महिमा के द्रष्टा ब्रह्मज्ञानी का हनन ब्रह्म के प्रति महान् अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु का धारण कर्त्तव्य-कर्मपरायण ज्ञानी पुरुष ही करते हैं। वे प्रभु शुद्ध हैं, प्रकाशमय हैं। प्रभु की शक्ति से ही सूर्यादि पिण्ड दीप्त हो रहे हैं और वे प्रभु ही उत्तम वर्णोंवाले प्रकाशों से इन पुष्प-फलों में दीप्त हो रहे हैं, इस प्रभु के ज्ञाता ब्रह्मज्ञानी का हनन महान् अपराध है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाकृतिः**॥

एक ज्योतिः

येना॑दि॒त्यान्ह॒रितः॑ सं॒वह॑न्ति॒ येन॑ य॒ज्ञेन॑ ब॒हवो॒ यन्ति॑ प्रजा॒नन्तः॑।
यदेक॒ं ज्योति॑र्बहु॒धा वि॒भाति॑।
तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहि॒त प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ १७॥

१. **येन**=जिस प्रभु की शक्ति से **हरितः**=जल व रोगों का हरण करनेवाली सूर्य-रश्मियाँ **आदित्यान् संवहन्ति**=रश्मिभेद से भिन्न-भिन्न नामों से कहे जानेवाले इन सूर्यों का वहन करती हैं और **येन यज्ञेन**=जिस उपास्य व संगतिकरण योग्य प्रभु से—प्रभु की उपासना से **बहवः**=बहुत-से **प्रजानन्तः**=ज्ञानी पुरुष **यन्ति**=मोक्ष को प्राप्त होते है। २. **यत्**=जो **एकम्**=अद्वितीय **ज्योतिः**=प्रकाश **बहुधा**=नाना प्रकार से **विभाति**=दीप्त होता है। वस्तुतः वह प्रभु ही सूर्य, चन्द्र में आभारूप से और अग्नि में तेज के रूप से चमकता है। ज्ञानियों का ज्ञान भी वे प्रभु हैं, बुद्धिमानों की बुद्धि भी वे ही हैं। इसप्रकार से ब्रह्म को देखनेवाले का हनन वस्तुतः ब्रह्म के प्रति अपराध ही है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति से ही किरणें सूर्य का वहन करती हैं। प्रभु के सम्पर्क से ही ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त होते हैं। प्रभुरूप ज्योति ही भिन्न-भिन्न रूपों में द्योतित होती है। इस ब्रह्म-ज्योति के द्रष्टा का हनन ब्रह्म के प्रति महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाऽऽकृतिः**॥

शरीररूप रथ

स॒प्त यु॑ञ्जन्ति॒ रथ॒मेक॑चक्र॒मेको॒ अश्वो॑ वहति स॒प्तना॑मा।
त्रि॒नाभि॑ च॒क्रम॒जर॑मन॒र्वं यत्रे॒मा विश्वा॒ भुव॒नाधि॑ त॒स्थुः॥

तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ १८॥

१. **सप्त**=सात (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) कर्णादि शरीरस्थ ऋषि **एकचक्रं रथम्**=एक चक्रवाले—अकेले पहिये के समान काम करनेवाले जीवात्मा से युक्त शरीर-रथ को **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। जीवात्मारूप चक्रवाले इस शरीर-रथ में ये सप्तर्षि जुते हुए हैं। वस्तुतः **एकः अश्वः**=शरीर में सर्वत्र व्याप्त शक्तिवाला अकेला जीव (अश् व्याप्तौ) **सप्तनामः**=इन सात ऋषियों की ओर झुकनेवाला—इन सातों को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करनेवाला **वहति**=अपने को वहाँ प्राप्त कराता है **यत्र इमा विश्वा भुवना**=जहाँ ये सब भुवन **अधितस्थुः**=स्थित हैं, अर्थात् अपने को परमात्मा में प्राप्त कराता है। २. यह **चक्रम्**=शरीरस्थ कर्त्ता जीव **त्रिनाभि**='सत्त्व, रज व तम' प्रकृति के तीन गुणों के बन्धनवाला है। इन तीन के बन्धन से ही आत्मा को शरीर में आना होता है। वास्तव में यह **अजरम्**=कभी जीर्ण होनेवाला तथा **अनर्वम्**=कभी हिंसित होनेवाला नहीं है (न हन्यते हन्यमाने शरीरे)। शरीर ही उत्पन्न व नष्ट हुआ करता है, वह चक्र (कर्त्ता) तो 'न जायते म्रीयते वा कदाचित्' न पैदा होता है, न मरता है। शरीर-रथ की अद्भुत रचना को समझनेवाला ब्रह्मज्ञानी आदरणीय है। उसका हनन ब्रह्म के प्रति महान् अपराध है।

भावार्थ—इस शरीर-रथ में 'दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' ये सात ऋषि जुड़े हुए हैं। जीवात्मा यहाँ कर्त्ता है। वह 'सत्त्व, रज व तम' के बन्धन में पड़कर शरीर में आता-जाता है। वस्तुतः वह न जीर्ण होनेवाला, न मरनेवाला है। इस आत्मतत्त्व को समझनेवाले ज्ञानी का हनन महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाभुरिगाकृतिः**॥

पिता देवानां, जनिता मतीनाम्

अ॒ष्ट॒धा यु॒क्तो व॑हति॒ वह्नि॑रु॒ग्रः पि॒ता दे॒वानां॑ जनि॒ता म॑ती॒नाम्।
ऋ॒तस्य॒ तन्तुं॒ मन॑सा मि॒मानः॒ सर्वा॒ दिशः॑ पवते मात॒रिश्वा॑।
तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ १९॥

१. **अष्टधा**='यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि' इन आठ योगांगों द्वारा युक्त जीव द्वारा अपने साथ जोड़ा गया **वह्निः**=संसार शकट का-वहन करनेवाला **उग्रः**=तेजस्वी प्रभु ही **देवानां पिता**=सूर्यादि सब देवों का रक्षक है। वह प्रभु ही **मतीनाम् जनिता**=बुद्धियों का प्रादुर्भाव करनेवाला है। २. **ऋतस्य**=सृष्टियज्ञ के **तन्तुम्**=सूत्र को **मनसा मिमानः**=मनःशक्ति, संकल्प से ही निर्माण करता हुआ मातरिश्वा मातृरूप प्रकृति में गति देनेवाला (श्वि गतौ) वह प्रभु **सर्वाः दिशः पवते**=सब दिशाओं में व्याप्त हैं। इसप्रकार प्रभु के ज्ञाता ब्रह्मज्ञानी का हनन प्रभु के प्रति महान् अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—यमादि के पालन से समाधि द्वारा जीव से प्राप्त किये जानेवाले प्रभु संसार-शकट के धारक हैं, तेजस्वी हैं, सूर्यादि के रक्षक हैं, बुद्धियों के जनक हैं। सृष्टियज्ञ के तन्तु को संकल्प से ही निर्मित करनेवाले हैं। प्रकृति को गति देनेवाले हैं, वे प्रभु सब दिशाओं में व्याप्त हैं। इस ब्रह्म के ज्ञाता का सदा आदर ही करना चाहिए।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—षट्पदाऽत्यष्टिः॥

अन्तः गायत्र्याम्

सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोऽनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २०॥

१. उस **सम्यञ्चम्**=सम्यक् गति करनेवाले **तन्तुम्**=विस्तृत सूत्र के **अनु**=आश्रय पर ही **सर्वाः प्रदिशः**=समस्त दिशाएँ आश्रित हैं। ये समस्त दिशाएँ—दिशास्थ प्राणी **गायत्र्याम् अन्तः**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणों की रक्षिका गायत्री में है। गायत्री इनकी माता के समान है, वह इनके जीवन का निर्माण करनेवाली है। ये सब जीव **अमृतस्य गर्भे**=उस अमृत प्रभु के गर्भ में हैं। इसप्रकार ब्रह्म को देखनेवाले ज्ञानी का हनन महान् अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—सब दिशाएँ सम्यक् गतिवाले ऋत के तन्तु में आश्रित हैं। सब प्राणियों के जीवन का निर्माण करनेवाली यह गायत्री है। सब प्राणी उस अमृत प्रभु के गर्भ में हैं। इसप्रकार ज्ञान देनेवाले ब्राह्मण की हत्या सर्वमहान् पाप है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—अष्टपदाऽऽकृतिः॥

तीन

निम्रुचस्तिस्रो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः।
विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रं त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २१॥

१. **निम्रुचः**=निम्नगतियाँ (नि–मुच् गतौ) **तिस्रः**=तीन हैं—तीन बातें हमारी अधोगति का कारण बनती हैं, वे हैं—'काम, क्रोध और लोभ'। **ह**=निश्चय से **व्युषः तिस्रः**=(वि उष दाहे) दोषों को दग्ध करनेवाली भी तीन बातें हैं, वे है—'ज्ञान, कर्म और उपासना'। **त्रीणि रजांसि**=तीन ही लोक हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। शरीर में ये तीन लोक—'देह, हृदय व मस्तिष्क' हैं। 'काम' देह को विनष्ट कर देता है, 'क्रोध' हृदय को तथा 'लोभ' मस्तिष्क को। 'कर्म' शरीर को ठीक रखता है, 'उपासना' हृदय को तथा 'ज्ञान' मस्तिष्क को। हे **अङ्ग**=प्रिय! **दिवः तिस्रः**=ज्ञान भी तीन हैं—प्रकृति का ज्ञान, जीव का ज्ञान व परमात्मा का ज्ञान। प्रकृति के ज्ञान से, प्रकृति का ठीक उपयोग होने पर रोग नहीं आते। जीव को समझने पर, जीव के साथ ठीक व्यवहार होने पर झगड़े नहीं होते। प्रभु की सर्वव्यापकता का ज्ञान होने पर पापवृत्ति हमें आक्रान्त नहीं करती। २. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! हम **त्रेधा**=तीन प्रकार से **ते जनित्रं विद्म**=तेरे प्रादुर्भाव को जानते हैं। तम, रज व सत्त्व से ऊपर उठकर, गुणातीत बनकर ही हम आपको जान पाते हैं। प्रमाद, आलस्य, निद्रा से ऊपर उठना ही तमोगुण से ऊपर उठना है। तृष्णा से ऊपर उठना ही रजस् से ऊपर उठना है तथा सुखसंग से ऊपर उठना ही सत्त्वातीत होना हैं। इस स्थिति में ही हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। **देवानां जनिमानि त्रेधा विद्म**='अग्नि, वायु, सूर्य' आदि देवों के 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' में होनेवाले तीन भागों में विभक्त प्रादुर्भावों को हम जानते हैं। ग्यारह पृथिवी के देव हैं, ग्यारह अन्तरिक्ष के व ग्यारह द्युलोक के। इसप्रकार प्रभु की सृष्टि को समझनेवाले ब्रह्मज्ञानी को मारना एक महान् पाप है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—'काम, क्रोध, लोभ' अधोगति के कारण बनते हैं। 'ज्ञान, कर्म, उपासना' दोषदहन के साधन हैं। 'देह, हृदय व मस्तिष्क' यह अध्यात्म की त्रिलोकी है। 'प्रकृति, जीव व प्रभु' का ज्ञान ही त्रिविध ज्ञान है। तम, रज व सत्त्व से ऊपर उठकर हम प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। अग्नि, वायु, सूर्यादि देव पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में ग्यारह-ग्यारह की संख्या में प्रादुर्भूत होते हैं। इसप्रकार हम प्रभु की सृष्टि में प्रभु की महिमा को देखनेवाले को आदर दें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**षट्पदाऽत्यष्टिः**॥

पृथिवी का आच्छादन, अन्तरिक्ष में समुद्र का स्थापन

वि य और्णौत्पृथिवीं जायमान आ समुद्रमदधादन्तरिक्षे।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २२॥

१. **यः**=जो प्रभु **जायमानः**=प्रादुर्भूत होते हुए **पृथिवीं वि और्णौत्**=हमारी इस शरीररूप पृथिवी को विशेषरूप से आच्छादित करते हैं। जब भी हम प्रभु के प्रकाश को देखेंगे—प्रभु का हममें प्रादुर्भाव होगा तब वे हमारे शरीरों के कवच होंगे। उस समय हमारे शरीर रोगों से आक्रान्त न हो पाएँगे। वे प्रभु ही प्रादुर्भूत होते हुए **अन्तरिक्षे**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में **समुद्रम्**=ज्ञानसमुद्र को **आ अदधात्**=सर्वथा स्थापित करते हैं। प्रभु का प्रादुर्भाव हुआ तो सब अन्धकार समाप्त हो जाता है और प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है। ब्रह्म को इस रूप में जाननेवाले ब्राह्मण का हनन ब्रह्म के प्रति अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने में प्रादुर्भूत करने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारे शरीररूप पृथिवी के कवच होंगे और हमारे हृदयान्तरिक्ष में ज्ञानसमुद्र की स्थापना करेंगे। ब्रह्म को इस रूप में जाननेवाले ब्राह्मण का हनन महापाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाविकृतिः**॥

क्रतुभिः केतुभिः

त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितो ३ऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि।
किमभ्या ऽऽर्चन्मरुतः पृश्निमातरो यद्रोहितमजनयन्त देवाः।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **क्रतुभिः**=यज्ञों के द्वारा तथा **केतुभिः**=प्रकाश की रश्मियों के द्वारा **हितः**=हृदयदेश में स्थापित किये जाते हो। **अर्कः**=आप पूजनीय हो, **समिद्धः**=ज्ञान से दीप्त हो। आप **दिवि**=अपने प्रकाशमय स्वरूप में **उत् अरोचथाः**=उत्कर्षेण दीप्त होते हो। २. **यत्**=जब **देवाः**=सूर्यादि देव **रोहितम्**=उस सदा से वृद्ध प्रभु को **अजनयन्त**=प्रादुर्भूत करते हैं—उस प्रभु की महिमा को हमें दिखलाते हैं, तब ये **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले **पृश्निमातरः**=ज्ञान की वाणियों को अपनी माता के समान बनानेवाले, अर्थात् वेदमाता से सतत प्रेरणा प्राप्त करनेवाले ये ज्ञानी **किम् अभि आर्चन्**=उस अनिर्वचनीय प्रभु का ही पूजन करते हैं। इन प्रभुपूजक ब्रह्मज्ञानियों का हनन प्रभु के प्रति महान् अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—वे प्रभु यज्ञों व ज्ञानों के द्वारा हृदयदेश में समिद्ध किये जाते हैं। वे पूजनीय, ज्ञानदीप्त प्रभु अपने प्रकाशमयस्वरूप में दीप्त हो रहे हैं। सूर्यादि देव इस प्रभु को प्रकाशित करते

हैं। प्राणसाधक, ज्ञानप्रवण मनुष्य उस अनिर्वचनीय प्रभु का पूजन करते हैं। इन ब्रह्मपूजक ज्ञानियों का हनन महान् पाप है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—सप्तपदाकृतिः॥

आत्मदाः बलदाः

य आ॒त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः।
यो॒ ३॒ स्येशे॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पदः।
तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहि॒त प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ २४॥

१. **यः आत्मदाः**=जो जीवहित के लिए अपने को दे डालनेवाले हैं, जो निरन्तर जीवहित के लिए सृष्टि-निर्माण, धारण व प्रलय आदि कर्मों में प्रवृत्त हैं। **(यः) बलदाः**=जो सब प्रकार की आवश्यक शक्तियों को प्राप्त करानेवाले हैं। **यस्य**=जिस प्रभु का **विश्वे**=सब लोग **उपासते**=उपासन करते हैं। **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यस्य प्रशिषम्**=जिसकी आज्ञा का उपासन करते हैं, अर्थात् जिसकी आज्ञाओं के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। **यः**=जो प्रभु **अस्य**=इस **द्विपदः**=दो पाँववाले मनुष्यों के तथा **यः**=जो **चतुष्पदः**=चार पाँववाले इन गवादि पशुओं के **इशे**=ईश हैं, अर्थात् इनमें उस-उस ऐश्वर्य को स्थापित करनेवाले हैं। मनुष्यों में बुद्धि, तेज व बल को व अद्भुत शक्तियों को स्थापित करनेवाले वे प्रभु ही हैं। **तस्य**=उस प्रभु के प्रति यह महान् अपराध है कि इसप्रकार के ब्रह्मज्ञानी की हत्या की जाए। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु अपने को जीवहित के लिए दिये हुए हैं। वे हमें बल प्राप्त कराते हैं। सब प्रभु का उपासन करते हैं। देव प्रभु के शासन में चलते हैं। मनुष्यों में व पशुओं में जो भी ऐश्वर्य है वह सब उस प्रभु का है। इस प्रभु के ज्ञाता का हनन प्रभु के प्रति महान् पाप है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—अष्टपदाविकृतिः॥

चतुष्पात् मन

एक॑पा॒द् द्वि॒प॑दो॒ भूयो॒ वि च॑क्रमे॒ द्वि॒पात्त्रि॒पाद॑म॒भ्ये ॒ति प॒श्चात्।
चतु॑ष्पाच्चक्रे॒ द्वि॒प॑दामभिस्व॒रे सं॒पश्य॑न्प॒ङ्क्तिमु॒प॒तिष्ठ॑मानः।
तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहि॒त प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ २५॥

१. **एकपात्**=वे एकरस प्रभु **द्विपदः**=दो पाँववाले मनुष्य से **भूयः विचक्रमे**=अधिक गति व पराक्रमवाले हैं। **द्विपात्**=ये द्विपात् मनुष्य **त्रिपादम्**=लोक त्रयीरूप तीन पादोंवाले सूर्य के पश्चात् **अभि एति**=पीछे गतिवाला होता है, अर्थात् सूर्य उदय के साथ इसके कार्य प्रारम्भ होते हैं और सूर्यास्त के साथ इसके कार्य समाप्त होते हैं। (पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन)। सूर्य के अनुसार कर्म करते हुए मनुष्य हिंसित नहीं होते। २. **द्विपादं अभिस्वरे**=मनुष्यों के शासन में (स्वृ शब्दे) **चतुष्पात्**=‘मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार’ के रूप में चतुर्विध गतिवाला यह अन्तःकरण **पङ्क्तिं उपतिष्ठमानः**=ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक व कर्मेन्द्रिय पञ्चक में उपस्थित होता हुआ इन इन्द्रियों का अनुविधान करता हुआ (यन्मनोऽविधियते) **संपश्यन् चक्रे**=सम्यक् देखता हुआ कर्मों को करता है। मनुष्य-शरीर में यह ‘अन्तःकरण’ एक अद्भुत रचना है। यह आत्मा और इन्द्रियों का मेल करनेवाला है। इसके द्वारा ही इन्द्रियों के सब कार्य होते हैं। इस अद्भुत रचना को देखनेवाला ज्ञानी ब्रह्म की महिमा का अनुभव करता है। इस ब्रह्मज्ञ की हत्या ब्रह्म के प्रति

महान् पाप है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—सारे मनुष्यों से भी एक प्रभु का पराक्रम अधिक है। मनुष्य सूर्य के व्रत में चलकर अहिंसित रहता है। मानव-शरीर में मन की अद्भुत रचना को देखनेवाला ज्ञानी ब्रह्म की महिमा का अनुभव करता है। इस ज्ञानी का आदर करना योग्य है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'कृष्णा' का पुत्र 'अर्जुन' (रात्रि का पुत्र सूर्य)

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः॥ २६॥

१. (रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा, तस्या असावादित्यो वत्सः—शत० ९.२.३.३) **कृष्णायाः रात्र्याः**=इस कृष्ण वर्णवाली—चारों ओर अन्धकारमयी रात्रि का **अर्जुनः पुत्रः**=श्वेत वर्ण का यह सन्तानरूप सूर्य **वत्सः**=प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करनेवाला (वदति) **अजायत**=हुआ है। यह सूर्य सर्वत्र प्रकाश करता हुआ प्रभु की महिमा का प्रकाश कर रहा है। सूर्य प्रभु की सर्वमहति विभूति है। **सः ह**=यह सूर्य निश्चय से **द्यां अधिरोहति**=इस द्युलोक में आरोहण करता है। यह **रोहितः**=तेजस्वी सूर्य ही **रुहः सः रुरोह**=सब वनस्पतियों को प्रादुर्भूत करता है। सूर्य की किरणों के अभाव में बीज अंकुरित नहीं हो पाते। जहाँ सूर्य की किरण नहीं, वहाँ वनस्पति भी नहीं। सूर्य ही इनका प्रादुर्भाव करता हुआ इनमें प्राणदायी तत्त्वों का स्थापन करता है। यह सूर्य वस्तुतः प्रभु की अद्भुत महिमा का प्रतिपादन करता है।

भावार्थ—यह भी प्रभु की अद्भुत महिमा है कि एकदम कृष्णवर्ण की रात्रि का पुत्र-सन्तान श्वेत सूर्य होता है। यह सूर्य सब वनस्पतियों के प्रादुर्भाव का कारण बनता है। इस सूर्य में ज्ञानी पुरुष ब्रह्म की महिमा को देखता है।

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

४. [चतुर्थं सूक्तम्; प्रथमः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

सविता महेन्द्रः

स एति सविता स्व१र्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत्॥ १॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ २॥

१. **सः**=वह **सविता**=सर्वोत्पादक व सर्वप्रेरक **स्वः**=प्रकाशमय प्रभु **दिवः पृष्ठे**=(पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्। दिवो नकस्य पृष्ठात् स्वरज्योतिरगामहम्॥) द्युलोक के पृष्ठ पर—मोक्षधाम में **अवचाकशत्**=प्रकाश करता हुआ **एति**=प्राप्त होता है। मनुष्य जब पृथिवीपृष्ठ से ऊपर उठता है, अर्थात् भोग्य वस्तुओं की कामना से ऊपर उठता है और अन्तरिक्ष से भी ऊपर उठता है, अर्थात् हृदय में यशादि की कामना से भी रहित होता है तब द्युलोक में पहुँचता है, अर्थात् ज्ञानरुचिवाला होता हुआ सदा ज्ञान में विचरण करता है। इसमें भी आसक्तियुक्त न होता हुआ यह स्वरज्योति प्रभु को प्राप्त करता है। यहाँ उसे प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है। २. उस समय **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से **नभः आभृतम्**=उसका मस्तिष्करूप द्युलोक व हृदयाकाश आ-भृत हो जाता है—वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश होता है—वहाँ अन्धकार का चिह्न भी नहीं होता। उस समय इसके हृदयदेश में **आवृतः**=प्रकाश से समन्तात् आच्छादित प्रकाशमय **महेन्द्रः**=महान् ऐश्वर्यशाली प्रभु **एति**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जब हम पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक से ऊपर उठकर मोक्षलोक में पहुँचते हैं तब वे प्रभु प्रकाश प्राप्त कराते हुए हमें प्राप्त होते हैं। यह मुक्तात्मा सम्पूर्ण आकाश को प्रभु के प्रकाश से व्याप्त देखता है। इस जीवन्मुक्त के हृदयदेश में प्रकाश से आवृत प्रभु प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

धाता, अर्यमा, अग्नि

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ३॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ४॥
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ५॥

१. **सः**=वे प्रभु **धाता**=सबका निर्माण करनेवाले हैं (धाता)। **सः विधर्ता**=वे विशेषरूप से धारण करनेवाले हैं। **सः वायुः**=वे गति द्वारा सब बुराइयों का गन्धन (हिंसन) करनेवाले हैं। **नभः**=(णह बन्धने) वे सूत्ररूपेण सबको अपने में बाँधनेवाले हैं (मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव)। **उच्छ्रितम्**=वे प्रभु सर्वोन्नत हैं—प्रत्येक उत्तमता की चरमसीमा ही तो प्रभु हैं। इसप्रकार प्रभु-चिन्तन करनेवाले का **नभः**=मस्तिष्करूप द्युलोक **रश्मिभिः आभृतम्**=ज्ञानरश्मियों से आभृत होता है तथा **आवृतः**=ज्ञान से आवृत **महेन्द्रः एति**=प्रभु प्राप्त होते हैं। २. **सः**=वे प्रभु ही **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करनेवाले हैं। **सः वरुणः**=वे वरणीय व श्रेष्ठ हैं। **सः**=वे **रुद्राः**=(रुत्-र) ज्ञानोपदेश करनेवाले हैं। **सः महादेवः**=वे महान् देव हैं। ३. **सः अग्निः**=वे प्रभु ही अग्रणी हैं, हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। **उ**=और **सः सूर्यः**=वे प्रभु ही सूर्य हैं, हमें कर्मों में प्रेरित करनेवाले हैं (सुवति कर्मणि) **उ**=और **सः एव**=वे ही **महायमः**=सर्वमहान् नियन्ता हैं। इस प्रकार प्रभु का स्मरण करनेवाला पुरुष अपने हृदयाकाश को ज्ञानरश्मियों से परिपोषित करता है और इसे ज्ञान से आवृत प्रभु प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम 'धाता, विधर्ता' आदि नामों से प्रभु का स्मरण करते हुए वैसा ही बनने का प्रयत्न करें। परिणामतः हमें प्रकाश प्राप्त होगा और हमारा हृदय प्रभु का अधिष्ठान बनेगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

दश वत्साः

तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ६॥
पश्चात्प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ७॥
तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः॥ ८॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ९॥

१. **तम्**=उस परमात्मा को **एकशीर्षाणः**=एक आत्मारूप सिरवाले **युताः**=परस्पर मिले हुए—मिलकर कार्य करते हुए **दश वत्साः**=दस अत्यन्त प्रिय प्राण **उपतिष्ठन्ति**=समीपता से उपस्थित होते हैं। शरीर में प्राण 'प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय', इन दस भागों में विभक्त होकर कार्य करता है। ये शरीर में प्रियतम वस्तु हैं, इनके साथ ही जीवन है। इनकी साधना से इनका अधिष्ठाता 'आत्मा' प्रभु की उपासना करनेवाला बनता है। २. ये प्राण **पश्चात्**=पीछे व **प्राञ्चः**=आगे गतिवाले **आतन्वन्ति**=शरीर की शक्तियों का विस्तार करते हैं। इस प्राणसाधना को करता हुआ जीव **यत् उदेति**=जब उत्कर्ष को प्राप्त करता है तब **विभासति**=विशिष्ट दीप्तिवाला होता है। वस्तुतः यह प्राणसाधक प्रभु की दीप्ति से

दीप्ति-सम्पन्न बनता है। ३. **एष मारुतः गणः**=यह प्राणों का गण **तस्य**=उस प्रभु का ही है। प्रभु ही जीव के लिए इसे प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे प्रभु **शिक्याकृतः**=इन प्राणों का आधारभूत छींका बना हुआ **एति**=इस साधक को प्राप्त होता है। वस्तुतः प्रभु की उपासना प्राणशक्ति की वृद्धि का कारण बनती है। प्राणसाधना द्वारा हम प्रभु का उपासन कर पाते हैं।

भावार्थ—आत्मा अधिष्ठाता है, दस प्राण उसके वत्स हैं, प्रियतम वस्तु हैं। ये पीछे-आगे शरीर में सर्वत्र शक्ति का विस्तार करते हैं। इन प्राणों का आधार प्रभु हैं। ये प्राण हमें प्रभु-प्राप्ति में सहायक होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**१०-११ प्राजापत्यानुष्टुप्, १२ विराड्गायत्री, १३ आसुर्युष्णिक्**॥

एकः एकवृत्, एकः एव

तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः॥ १०॥
स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न॥ ११॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव॥ १२॥
एते अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति॥ १३॥

१. **तस्य**=उस प्रभु के **इमे**=ये **नव**=नौ **कोशाः**=निधिरूप इन्द्रियाँ—दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें, मुख, गुदा व उपस्थ **विष्टम्भाः**=शरीर के विशिष्ट स्तम्भ हैं ये **नवधा हिताः**=नौ प्रकार से नौ स्थानों में पृथक्-पृथक् स्थापित हुए हैं। इनकी रचना में उस प्रभु की अद्भुत् महिमा दृष्टिगोचर होती है। इनके द्वारा **सः**=वे प्रभु **प्रजाभ्यः विपश्यति**=प्रजाओं का विशेषरूप से ध्यान करते हैं। **यत् च प्राणयति यत् च न**=जो भी प्रजाएँ प्राणधारण कर रही हैं और जो प्राणधारण नहीं कर रही हैं, उन सबको प्रभु धारण कर रहे हैं। २. **तम्**=उस प्रभु को **इदं सः**=वह शत्रुमर्षक बल **निगतम्**=निश्चय से प्राप्त है। **सः एषः एकः**=वे ये प्रभु एक हैं, **एकवृत्**=एक ही हैं (एकः वर्तते)। **एकः एव**=निश्चय से एक ही हैं। **अस्मिन्**=इस प्रभु में **एते देवाः**=ये सब देव **एकवृतः (एकस्मिन् वर्तन्ते)**=एक स्थान में होनेवाले **भवन्ति**=होते हैं। वे प्रभु सब देवों के आधार हैं, प्रभु से ही तो उन्हें देवत्व प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में नौ इन्द्रियों को नौ कोशों के रूप में स्थापित किया है। वे प्रभु चराचर जगत् का ध्यान करते हैं। प्रभु को शत्रुमर्षक बल प्राप्त है। प्रभु एक हैं। सब देव इस प्रभु के आधारवाले हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्; द्वितीयः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**१४ भुरिक्साम्नीत्रिष्टुप्, १५ आसुरीपङ्क्तिः**॥

कीर्तिः च यशः च

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च॥ १४॥
य एतं देवमेकवृतं वेद॥ १५॥

यः=जो भी **एतं देवम्**=इस प्रकाशमय प्रभु को **एकवृतं वेद**=एकत्वेन वर्तमान जानता है, अर्थात् जो प्रभु की अद्वितीय सत्ता का अनुभव करता है, उसे **कीर्तिः च**=प्रभु-कीर्तन से प्राप्त होनेवाला यश, **यशः च**=लोकहित के कर्मों से प्राप्त होनेवाला यश, **अम्भः च**=(अभि शब्दे) ज्ञानजल, **नभः च**=प्रबन्धसामर्थ्य, **ब्राह्मणवर्चसं च**=ब्रह्मतेज, **अन्नं च**=अन्न **अन्नाद्यं च**=और अन्न

के खाने का सामर्थ्य—ये सब वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, अर्थात् प्रभु की अद्वितीय सत्ता का साक्षात् करनेवाला व्यक्ति भौतिक व आध्यात्मिक दोनों दृष्टिकोणों से उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक 'यशस्वी, ज्ञान व शक्तिसम्पन्न, ऐश्वर्यशाली व स्वस्थ' जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**१६ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, १७-१८ आसुरीगायत्री**॥

अद्वितीय प्रभु

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ १६॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ १७॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ १८॥

१. **ये**=जो **एतं देवम्**=इस प्रकाशमय प्रभु को **एकवृतं वेद**=एकत्वेन वर्तमान जानता है व जानता है कि वह प्रभु **न द्वितीयः**=न दूसरा, **न तृतीयः**=न तीसरा और **न चतुर्थः अपि**=न चौथा भी **उच्यते**=कहा जाता है। **न पञ्चमः**=न पाँचवाँ, **न षष्ठः**=न छठा, **न सप्तमः**=न सातवाँ भी **उच्यते**=कहा जाता है। **न अष्टमः**=न आठवाँ, **न नवमः**=न नौवा, **न दशमः अपि**=और न ही दसवाँ **उच्यते**=कहा जाता है। प्रभु एक हैं और एक ही हैं।

भावार्थ—उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रभु की सत्ता अद्वितीय है। दो की आवश्यकता होते ही प्रभु की सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता विहत हो जाती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**१९ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, २० विराड्गायत्री, २१ अनुष्टुप्**॥

सर्वाधार प्रभु

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ १९॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २०॥
सर्वे अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २१॥

१. **सः**=वे प्रभु **यत् च प्राणति यत् च न**=जो प्राणधारण करता है और प्राणधारण नहीं करता **सर्वस्मै**=उस सबके लिए, अर्थात् सब चराचर व जंगम-स्थावर का **विपश्यति**=विशेषरूप से ध्यान करते हैं। २. **तम्**=उस प्रभु को **इदं सः**=यह शत्रुमर्षक बल **निगतम्**=निश्चय से प्राप्त है। **सः एषः**=वे ये प्रभु **एकः**=एक हैं **एकवृत्**=एकत्वेन वर्तमान हैं, **एकः एव**=एक ही हैं **सर्वे देवाः**=सूर्यादि सब देव **अस्मिन्**=इस प्रभु में **एकवृतः भवन्ति**=एक आधार में वर्तमान होते हैं। इन सबका आधार वह अद्वितीय प्रभु ही है।

भावार्थ—प्रभु सब चराचर का ध्यान करते हैं, सम्पूर्ण शत्रुमर्षक बल को प्राप्त हैं। वे प्रभु एक हैं, एक ही हैं। वे ही सब देवों के एक आधार हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्; तृतीयः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**२२ भुरिक्प्राजापत्यात्रिष्टुप्, २३ आर्चीगायत्री, २४ त्रिष्टुप्**॥

ब्रह्म च तपः च

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च
ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २२॥

भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च॥ २३॥
य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २४॥

१. **यः**=जो भी **एतं देवम्**=इस प्रकाशमय प्रभु को **एकवृतं वेद**=एकत्वेन वर्तमान जानता है, वह **ब्रह्म च तपः च**=वेदज्ञान व तपस्वी जीवन को **कीर्तिं च यशः च**=प्रभु कीर्तन से प्राप्त होनेवाले यशः को तथा लोकहित में प्रवृत्तिजन्य यश को, **अम्भः च नभः च**=ज्ञानजल को व प्रबन्ध-सामर्थ्य को **ब्रह्मवर्चसं च**=ब्रह्मतेज को, **अन्नं च अन्नाद्यं च**=अन्न को व अन्न-भक्षण सामर्थ्य को, **भूतं च भव्यं च**=यशस्वी भूत व यशस्वी भविष्य को **श्रद्धा च रुचिः च**=उत्तम कर्मों में श्रद्धा व प्रीति को और परिणामतः **स्वर्गः च स्वधा च**=सुखमय स्थिति व आत्मधारण-शक्ति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु की अद्वितीय सत्ता में विश्वास रखनेवाला व्यक्ति भौतिक व आध्यात्मिक जीवन को उत्कृष्ट बनाता हुआ यशस्वी जीवनवाला बनता है। इसके भूत व भविष्यत् दोनों ही सुन्दर होते हैं। वर्तमान में वह उत्तम कर्मों में श्रद्धा व प्रीतिवाला होकर सुखमय स्थिति व आत्मधारणशक्ति को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**२५ एकपदाऽऽसुरीगायत्री, २६ आर्च्युनुष्टुप्, २७-२८ प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

मृत्यु अमृतम्

स एव मृत्युः सो३मृतं सो३भ्वं१ स रक्षः॥ २५॥
स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः॥ २६॥
तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते॥ २७॥
तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह॥ २८॥

१. **सः एव**=वे अद्वितीय प्रभु ही **मृत्युः**=मृत्यु हैं—जीवों को प्राणों से वियुक्त करनेवाले व नया शरीर प्राप्त करानेवाले हैं। **सः अमृतम्**=वे ही मोक्षधाम को प्राप्त करानेवाले हैं। **सः अभ्वम्**=वे महान् हैं और **सः रक्षः**=वे ही सबके रक्षक हैं। २. **सः रुद्रः**=वे प्रभु ही ज्ञान देनेवाले हैं। **वसुदेये**=सब वस्तुओं के देने के कार्य में **वसुवनिः**=सब वस्तुओं का संभजन करनेवाले हैं (विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः) तथा **नमो वाके**='नमः' वचनपूर्वक किये जानेवाले ब्रह्मयज्ञ में **वषट्कारः**='स्वाहा' करनेवाले के रूप में **अनुसंहितः**=निरन्तर स्मरण किये जाते हैं। प्रभु ने जीवहित के लिए अपने को दे डाला है—सर्वमहान् त्याग करनेवाले प्रभु ही हैं। वे 'आत्मदाः' हैं। ३. **इमे सर्वे यातवः**=ये सब गतिशील पिण्ड—सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि **तस्य**=उस प्रभु की **प्रशिषम् उपासते**=आज्ञा का उपासन करते हैं। ये सूर्यादि प्रभु के शासन में गति कर रहे हैं। **अमू सर्वा नक्षत्रा**=वे सब नक्षत्र **चन्द्रमसा सह**=चन्द्रमा के साथ **तस्य वशे**=उसके वश में हैं। प्रभु सब लोक-लोकान्तरों के अधिपति हैं और सब पिण्ड उस प्रभु के प्रशासन में गतिवाले हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही मृत्यु हैं, वे ही अमृत हैं। वे महान् हैं, रक्षक हैं, ज्ञानदाता हैं, वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। त्यागपुञ्ज वे प्रभु नमस्करणीय हैं। सब पिण्ड प्रभु के शासन में गति कर रहे हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्; चतुर्थः पर्यायः]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्॥ छन्दः—२९, ३३ आसुरीगायत्री, ३०, ३२ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ३१ विराड्गायत्री, ३४ साम्न्युष्णिक्॥

'दिन व रात्रि में, अन्तरिक्ष व वायु में, द्युलोक व दिशाओं में' प्रभु का प्रकाश

स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत॥ २९॥
स वै रात्र्या अजायत तस्माद्रात्रिरजायत॥ ३०॥
स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत॥ ३१॥
स वै वायोरजायत तस्माद्वायुरजायत॥ ३२॥
स वै दिवो ऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत॥ ३३॥
स वै दिग्भ्यो ऽजायत तस्माद्दिशो ऽजायन्त॥ ३४॥

१. **सः वा**=वे प्रभु निश्चय से **अह्नः अजायत**=दिन से प्रादुर्भूत हो रहे हैं—दिन की रचना में प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है। **तस्मात्**=उस प्रभु से ही तो **अहः अजायत**=यह दिन प्रकट किया गया है। प्रभु ने दिन (अ-हन्) का निर्माण करके मनुष्यों को एक भी क्षण नष्ट न करते हुए आगे बढ़ने का अवसर दिया है। २. इसीप्रकार **सः वै**=वे प्रभु निश्चय से **रात्र्या अजायत**=रात्रि से प्रादुर्भूत हो रहे हैं। किस प्रकार रात्रि रमयित्री=हमारी सारी थकावट को दूर करके हमें प्रफुल्लित कर देती है। **तस्मात् रात्रिः अजायत**=उस प्रभु से ही यह रात्रि प्रादुर्भूत की गई है। ३. **सः वा**=वे प्रभु निश्चय से **अन्तरिक्षात् अजायत**=इस 'वायु, चन्द्र, मेघ व विद्युत्' के आधारभूत अन्तरिक्ष से प्रकट हो रहे हैं। **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **अन्तरिक्षं अजायत्**=यह अन्तरिक्ष प्रादुर्भूत किया गया है। ४. **सः वै**=वे प्रभु निश्चय से **वायोः अजायत**=वायु से प्रादुर्भूत हो रहे हैं। प्राणिमात्र के जीवन की कारणभूत ये वायु भी उस प्रभु की अद्भुत ही सृष्टि है। **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **वायुः अजायत**=उस जीवनप्रद वायु का प्रादुर्भाव किया गया है। ५. **सः वै**=वे प्रभु निश्चय से **दिवः**=सूर्य के आधारभूत इस द्युलोक से **अजायत**=प्रादुर्भूत महिमावाले हो रहे हैं। सम्पूर्ण प्रकाशमय व प्राणशक्ति का स्रोत कितना अद्भुत है यह सूर्य! **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **द्यौः**=सूर्य-प्रकाश से देदीप्यमान यह द्युलोक **अध्यजायत**=उत्पन्न किया गया है। ६. **सः वै**=वे प्रभु निश्चय से **दिग्भ्यः**=इन प्राची आदि दिशाओं से **अजायत**=प्रादुर्भूत महिमावाले हो रहे हैं। उत्तर-दक्षिण में किस प्रकार चुम्बकीय शक्ति कार्य करती है और किस प्रकार सूर्यादि सब पिण्ड पूर्व से पश्चिम की ओर गति कर रहे हैं? यह सब-कुछ अद्भुत ही है। **तस्मात्**=इस प्रभु से **दिशः अजायन्त**=इन दिशाओं का प्रादुर्भाव किया गया है।

भावार्थ—दिन व रात्रि में, अन्तरिक्ष व वायु में, द्युलोक व दिशाओं में सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्॥ छन्दः—३५, ३६ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ३७, ३८ साम्न्युष्णिक्, ३९ आसुरीगायत्री॥

'भूमि, अग्नि, जल, ऋचाओं तथा यज्ञों में' प्रभु की महिमा का प्रकाश

स वै भूमेरजायत तस्माद्भूमिरजायत॥ ३५॥
स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत॥ ३६॥

स वा अद्भ्यो ऽजायत तस्मादापोऽजायन्त॥ ३७॥
स वा ऋग्भ्यो ऽजायत तस्मादृचो ऽजायन्त॥ ३८॥
स वै यज्ञादजायत तस्माद्यज्ञो ऽजायत॥ ३९॥

१. **सः**=वह प्रभु **वै**=निश्चय से **भूमेः**=इस भूमि से **अजायत**=प्रादुर्भूत महिमावाला हो रहा है। यह भूमि अपने से उत्पन्न होनेवाले विविध वनस्पतियों के पत्र-पुष्पों में विविध पुण्यगन्धों को प्राप्त करा रही है। किन्हीं भी दो वनस्पतियों की गन्ध एक-सी नहीं, क्या ही अद्भुत चमत्कार-सा है! **भूमिः**=यह भूमि **तस्मात्**=उस प्रभु से ही तो **अजायत**=उत्पन्न हुई है। २. **सः वा**=वह प्रभु निश्चय से **अग्नेः**=अग्नि से **अजायत**=प्रादुर्भूत होता है। मिलाने व फाड़ने (संयुक्त व वियुक्त करने) की विरोधी शक्तियों को लिये हुए यह अग्नि भी विचित्र ही तत्त्व है। **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **अग्निः अजायत**=अग्नि उत्पन्न किया गया है। ३. **सः वा**=वह प्रभु निश्चय से **अद्भ्यः**=सब वनस्पतियों में विविध रसों का संचार करनेवाले जलों से **अजायत**=प्रादुर्भूत महिमावाला होता है। **तस्मात्**=उस प्रभु से ही तो **आपः अजायन्त**=जल प्रादुर्भूत हुए हैं। ४. **सः वा**=यह प्रभु निश्चय से **ऋग्भ्यः**=ऋचाओं से **अजायत**=प्रादुर्भूत हो रहा है। किसप्रकार ये ऋचाएँ सम्पूर्ण प्रकृति-विज्ञान को प्रकट कर रही हैं? **तस्मात् ऋचाः अजायन्त**=उस प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में ही इन ऋचाओं का ज्ञान दिया है। ५. **सः वै**=वह प्रभु निश्चय से **यज्ञात्**=यज्ञ से **अजायत**=प्रकट हो रहा है, किसप्रकार 'यज्ञ' पर्जन्य को उत्पन्न कर वृष्टि द्वारा अन्नों का उत्पादन करके हमारे जीवन का आधार बनता है? **तस्मात् यज्ञः अजायत**=प्रभु से ही प्रजाओं के साथ ही इस यज्ञ का भी प्रादुर्भाव किया गया है। यज्ञ ही जीवन है।

भावार्थ—'भूमि, अग्नि, जल, ऋचाओं व यज्ञों' में इस प्रभु की महिमा का प्रादुर्भाव हो रहा है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**४० आसुरीगायत्री, ४१ साम्नीबृहती, ४२ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ४३ आर्षीगायत्री॥**

यज्ञरूप प्रभु

स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्॥ ४०॥
स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति॥ ४१॥
पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा॥ ४२॥
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः॥ ४३॥

१. **सः**=वे प्रभु **यज्ञः**=यज्ञ हैं, उपास्य हैं। **तस्य यज्ञः**=उस प्रभु का ही यज्ञ है। वस्तुतः यज्ञ प्रभु ही करते हैं। **सः**=वे प्रभु **यज्ञस्य**=यज्ञ के **शिरः कृतम्**=सिर बनाये गये हैं। 'ओ३म्' इस नाम से ही यज्ञों में सब मन्त्रों का आरम्भ किया जाता है (सैषा एकाक्षरा ऋक् 'ओ३म्' तपसोऽग्रे प्रादुर्बभूव। एष वै यज्ञस्य परस्ताद् युज्यते एषा पश्चात् एतया यज्ञस्य तायते—गो० १.१२)। २. **सः**=वे प्रभु ही वस्तुतः इन यज्ञों के होने पर **स्तनयति**=मेघ-गर्जना के रूप में गरजते हैं। **सः विद्योतते**=वे विद्युत् के रूप में द्योतित होते हैं, **उ**=और **सः**=वे ही **अश्मानं अस्यति**=ओलों की वृष्टि करते हैं, ओलेरूप पत्थरों को फेंकते हैं। ३. इसप्रकार वृष्टि के द्वारा सबके लिए अन्न उत्पन्न करते हैं। **पापाय वा**=चाहे वह पापी पुरुष हो **भद्राय वा पुरुषाय**=चाहे कल्याणी प्रकृति का कृती पुरुष हो। वा **असुरस्य**=चाहे असुर हो, आसुरी प्रकृति का हो। आप सभी के लिए **यत्**=जो **वा**=निश्चय से **ओषधीः कृणोषि**=ओषधियों को करते हैं। **यत् वा**=अथवा जो **भद्रया**

वर्षसि=कल्याण के हेतु से वृष्टि करते हैं **यत् वा**=अथवा जो **जन्यं अवीवृधः**=उत्पन्न होनेवाले प्राणियों का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु यज्ञ हैं। यज्ञों द्वारा वे वृष्टि करते हैं। वृष्टि के द्वारा वे सभी के लिए अन्नों का उत्पादन करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**४४ साम्न्यनुष्टुप, ४५ आसुरीगायत्री**॥

'अनन्त महिमा' प्रभु

तावांस्ते मघवन्महिमोपो ते तन्वः शतम्॥ ४४॥

उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम्॥ ४५॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! **तावान् ते महिमा**=उतनी तेरी महिमा है, जितना विस्तृत यह ब्रह्माण्ड है। यह सब तेरी ही तो महिमा है। **उपो**=और **ते तन्वः शतम्**=ये सब आपके ही सैकड़ों शरीर हैं। २. **उपो**=और **ते बध्वे**=आपके नियमों के बन्धन में ये सब पिण्ड **बद्धानि**=बँधे हुए हैं। हे प्रभो! **यदि वा**=अथवा आप **न्यर्बुदम् असि**=असंख्यों ही रूपों में हैं अथवा (अर्व गतौ) सर्वत्र प्राप्त हैं, निरन्तर व्यापक हैं।

भावार्थ—यह ब्रह्माण्ड प्रभु की ही महिमा है। सब लोक-लोकान्तर प्रभु के ही सैकड़ों शरीर हैं। ये सब प्रभु के नियम-बन्धन में बद्ध हैं। प्रभु इन सबमें व्याप्त हो रहे हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्; पञ्चमः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**४६ आसुरीगायत्री, ४७ यवमध्यागायत्री**॥

विभूः प्रभूः

भूयानिन्द्रो नमुराद्भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः॥ ४६॥

भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम्॥ ४७॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **न-मुरात्**=न नष्ट होनेवाले कारणजगत् से **भूयान्**=बड़े हैं, अधिक हैं, इसीप्रकार **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **मृत्युभ्यः**=न मरणधर्मा कार्यजगत् से **भूयान् असि**=अधिक हैं। यह प्रकृति व प्रकृतिजनित सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एक देश में ही है। २. हे प्रभो! आप **अरात्याः**=मानव-शान्ति की नाशिका अशुभवृत्ति से **भूयान्**=अधिक हैं। आपके उपासक को यह 'अराति' विनष्ट शान्तिवाला नहीं कर पाती। हे **इन्द्र**=प्रभो! आप **शच्याः पतिः असि**=शक्ति व प्रज्ञान के पति हैं। **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **विभूः**=सर्वव्यापक तथा **प्रभूः**=सर्वशक्तिमान् **इति**=इस रूप में **उपास्महे**=उपासित करते हैं।

भावार्थ—यह कारणजगत् व कार्यजगत् प्रभु के एक देश में है। प्रभु अपने उपासक की शान्ति को नष्ट नहीं होने देते। वे शक्ति व प्रज्ञान के स्वामी हैं। प्रभु सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमान् हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**४८ साम्न्युष्णिक्, ४९ निचृत्साम्नीबृहती**॥

प्रभु की कृपादृष्टि

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत॥ ४८॥

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ४९॥

१. हे **पश्यत**=सर्वद्रष्टः प्रभो! **नमस्ते अस्तु**=आपके लिए नमस्कार हो। हे **पश्यत**=सबका ध्यान करनेवाले प्रभु **मा पश्य**=आप मुझे देखिए, मुझपर अपनी कृपादृष्टि सदा बनाये रखिए।

आप मुझे **अन्नाद्येन**=अन्न के खाने के सामर्थ्य से, **यशसा**=यश से, **तेजसा**=तेज से तथा **ब्राह्मणवर्चसेन**=ब्रह्मवर्चस् से युक्त कीजिए।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपादृष्टि हमें प्राप्त हो। आप हमें 'अन्नाद्य, यश, तेज व ब्रह्मवर्चस्' प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**५० प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ५१ विराड्गायत्री**॥

प्रभु सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और शत्रुमर्षक

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्। नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्रह्मणवर्चसेन॥ ५०॥
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत। अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ५१॥

१. हे प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **अम्भः**=सर्वव्यापक (आप् व्याप्तौ) **अमः**=सर्वज्ञ (अम् गतौ) **महः**=पूजनीय व शक्तिसम्पन्न तथा **सहः**=शत्रु-सेना का मर्षण करनेवाले **इति**=के रूप में **उपास्महे**=उपासित करते हैं। २. **अम्भः**=सर्वव्यापक **अरुणम्**=प्रकाशस्वरूप **रजतम्**= आनन्दस्वरूप **रजः**=(ज्योतिः रज उच्यते —नि० ४.१९) तेजःस्वरूप, **सहः**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले **इति**=के रूप में **वयम्**=हम **त्वा**=हे प्रभो! आपका **उपास्महे**=उपासन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, पूजनीय, प्रकाशरूप, आनन्दस्वरूप, तेजस्वरूप व शत्रुओं को कुचल देनेवाले हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्; षष्ठः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**५२, ५३ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ५४ द्विपदाऽर्षीगायत्री, ५५ साम्न्युष्णिक्, ५६ निचृत्साम्नीबृहती**॥

उरुः पृथुः भवद्वसुः

उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ५२॥
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ५३॥
भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम्॥ ५४॥
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत॥ ५५॥
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ५६॥

१. हे प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **उरुः**=सर्वोत्तम (Excellent) **पृथुः**=सर्वमहान् (Important) **सुभूः**=उत्तम शक्तिरूप में सब पदार्थों में वर्तमान **भुवः**=सबका उत्पत्ति-स्थान **इति**=इस रूप में **उपास्महे**=उपासित करते हैं। २. हे प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **प्रथः**=सर्वत्र विस्तृत **वरः**=सर्वश्रेष्ठ, वरणीय **व्यचः**=सर्वव्यापक, **लोकः**=सर्वद्रष्टा **इति**=इस रूप में **उपास्महे**= उपासित करते हैं। ३. हे प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **भवद्वसुः**=(भवन्ति वसूनि यस्मात्) सब

वसुओं का उद्भव, **इदद्वसुः**=(इन्दन्ति वसवः श्रेष्ठाः यस्मात्) श्रेष्ठों को ऐश्वर्यशाली बनानेवाला, **संयद्वसुः**=पृथिवी आदि सब वसुओं का नियमन करनेवाला, **आयद्वसुः**=सब निवास-साधनों का विस्तार करनेवाला (आयच्छति विस्तारयति इति) **इति**=इस रूप में **उपास्महे**=उपासित करते हैं।
४. हे **पश्यत**=सर्वद्रष्टः प्रभो! **ते नमः अस्तु**=आपके लिए नमस्कार हो। **पश्यत**=हे सर्वद्रष्टः! **मा पश्य**=आप मेरा पालन कीजिए (Look-after) मुझे 'अन्नाद्य, यश, तेज व ब्रह्मवर्चस्' प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु उरु हैं, पृथु हैं, भवद्वसु हैं। ये सर्वद्रष्टा प्रभु मुझे अन्नाद्य, यश, तेज व ब्रह्मवर्चस् प्राप्त कराएँ।

॥ इति त्रयोदशं काण्डम्॥

अथ चतुर्थदशं काण्डम्

अथैकोनत्रिंशः प्रपाठकः

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'सत्य, सूर्य, ऋत, सोम'

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥ १॥

१. इस सारे काण्ड का ऋषि व देवता सूर्या सावित्री ही है। यह गृहपत्नी का नाम रक्खा गया है। स्पष्ट है कि पति को सूर्यसम ज्ञानदीप्त होना चाहिए तथा पत्नी सावित्री हो—बच्चों को व घरवालों को सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाली। सूर्या सावित्री कहती है कि **सत्येन भूमिः उत्तभिता**=सत्य से पृथिवी थामी गई है। पृथिवी सत्य पर ही आश्रित है। विशेषतः घर में पति-पत्नी का सत्य-व्यवहार ही उसके गृहस्थ-जीवन को सुखी बना सकता है। असत्य से वे परस्पर आशंकित मनोवृत्तिवाले होंगे और गृहस्थ के मूलतत्त्व 'प्रेम' को खो बैठेंगे। २. **सूर्येण द्यौः उत्तभिता**=सूर्य से द्युलोक थामा गया है। द्युलोकत्व इस सूर्य के कारण ही है। सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। ज्ञान के बिना घर प्रकाशमय नहीं लगता। ज्ञान से ही मापक ऊँचा उठता है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य 'मनुष्य' ही नहीं रहता। ज्ञानशून्य घर का जीवन पशुतुल्य हो जाता है। ३. **आदित्याः**=**अदिति**=अदीना देवमाता के पुत्र, अर्थात् देव **ऋतेन**=ऋत से—नियमितता व यज्ञ से **तिष्ठन्ति**=स्थित होते हैं। जहाँ ऋत होता है वहाँ घर के व्यक्ति 'देव' बनते हैं। घर का तीसरा सूत्र 'ऋत' है। सब कार्यों को व्यवस्था से करना आवश्यक ही है। घर में यज्ञों का होना उतना ही आवश्यक है। ये यज्ञ ही घर को स्वर्ग बनाते हैं। **सोमः**=वीर्य **दिवि अधिश्रितः**=ज्ञान में आश्रित है। सोम के रक्षण के लिए स्वाध्याय की वृत्ति आवश्यक है। यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। साथ ही इस सोम का रक्षण करनेवाले पति-पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देते हैं।

भावार्थ—उत्तम घर वह है, (क) जहाँ सत्य है, (ख) ज्ञान प्रवणवत्ता है, (ग) ऋत का पालन होता है—यज्ञमय जीवन होता है और (घ) सोम का रक्षण होता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवत्व शक्ति व विज्ञान

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥ २॥

१. **सोमेन**=शरीर में सोम (वीर्य) के रक्षण से ही **आदित्याः**=अदीना देवमाता के पुत्र, अर्थात् देव **बलिनः**=बलवाले होते हैं। सोम रक्षण से ही वे देव बन पाते हैं। शरीर में उत्पन्न होनेवाला, भोजन के रूप में ग्रहण की गई ओषधियों का सारभूत यह सोम (वीर्य) ही है। इसका रक्षण ही देवों को देवत्व प्राप्त कराता है। **सोमेन**=सोम से ही **पृथिवी**=शरीररूप पृथिवी **मही**=महनीय व महत्त्वपूर्ण बनती है। शरीर में सब वसुओं—निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों

का स्थापन इस सोम के द्वारा ही होता है। २. उ=और **अथ**=अब **एषां नक्षत्राणां उपस्थे**=इन विविध विज्ञान के नक्षत्रों की उपासना के निमित्त **सोमः**=यह सोम (वीर्य) **आहितः**=शरीर में स्थापित किया गया है। इस सोम के रक्षण से ज्ञानाग्नि तीव्र होती है और इस प्रकार मनुष्य अपने मस्तिष्क-गगन में ज्ञान के नक्षत्रों का उदय कर पाता है।

भावार्थ—सोम रक्षा के तीन महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं—(क) हृदय में देववृत्ति का प्रादुर्भाव, (ख) शरीर में शक्ति का स्थापन और (ग) मस्तिष्क में विज्ञान के नक्षत्रों का उदय।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सोमपान का वास्तविक रूप

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिषन्त्योषधिम्।

सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः॥ ३॥

१. 'सोम ओषधीनामाधिष्ठिाता', 'सोम वीरुधां पते', 'गिरीषु हि सोमः' इन ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्यों से यह स्पष्ट है कि सोम एक लता है, जो पर्वतों पर उत्पन्न होती है और अत्यन्त गुणकारी है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में सोम का भाव इस वानस्पतिक ओषधि से नहीं है। यहाँ तो 'रेतः सोमः' वीर्यशक्ति ही सोम है। मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**=जो **ओषधिं संपिषन्ति**=ओषधी को सम्यक् पीसते हैं और उसका रस निकालकर **मन्यते**=मानते हैं कि **सोमं पपीवान्**=हमने सोम पी लिया है। उनकी यह धारणा ठीक नहीं। २. **यं सोमम्**=जिस सोम को **ब्रह्माणः विदुः**=ज्ञानी पुरुष जानते हैं, **तस्य**=उस सोम का **पार्थिवः**=पार्थिव भोगों में ग्रसित पुरुष **न अश्नाति**=भक्षण नहीं कर सकता। सोम तो शरीर में उत्पन्न होनेवाला वीर्य है। पार्थिव भोगों से ऊपर उठा हुआ ज्ञानी पुरुष ही इसको शरीर में सुरक्षित करके इसे ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाता है। दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनकर ब्रह्मदर्शन का अधिकारी होता है।

भावार्थ—सोमलता के रस का पान करना सोमपान नहीं है। वीर्य का रक्षण ही सोमपान है। भौतिकवृत्तिवाला पुरुष इस सोमका पान नहीं कर पाता, ज्ञानी ही इस सोम का पान करता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आप्यायन व दीर्घजीवन

यत्त्वा सोम प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।

वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥ ४॥

१. हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **यत्**=जब ज्ञानी पुरुष **त्वा प्रपिबन्ति**=तुझे प्रकर्षेण शरीर में ही पीने का प्रयत्न करते हैं **ततः**=तब **पुनः आप्यायसे**=फिर से तू शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शक्ति को आप्ययित कर देता है। तू शरीर को पुष्ट, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र बनाता है। २. **वायुः सोमस्य रक्षिता**=वायु सोम का रक्षण करनेवाला है। वायु अर्थात् प्राणों की साधना शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति का कारण बनती है। इस ऊर्ध्वगति से **मासः**=(मस्यते to change form) शरीर की आकृति को परिवर्तित कर देनेवाला, क्षीण अङ्गों को फिर से आप्यायित कर देनेवाला यह सोम **समानां आकृतिः**=वर्षों का बनानेवाला होता है, अर्थात् सोमरक्षण से दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राण-साधना द्वारा सोम की ऊर्ध्वगति होती है। शरीर में रक्षित सोम सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शक्ति को बढ़ानेवाला व दीर्घजीवन प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—सावित्री ॥ देवता—सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वासनाओं का उद्बर्हण व ज्ञानप्रवणता

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ५ ॥

१. **आच्छत् विधानैः**=समन्तात् आवरण के उपायों से—सब ओर से आक्रमण करनेवाली वासनाओं को दूर रखने के उपायों से **गुपितः**=यह सोम सुरक्षित हुआ है। **बार्हतैः**=वासनाओं के उद्बर्हणों, समूल विनाशों के द्वारा **सोमः रक्षितः**=सोम शरीर में रक्षित होता है। धान्य के रक्षण के लिए घास-फूँस का उद्बर्हण आवश्क होता है, इसीप्रकार सोम के रक्षण के लिए वासनाओं का हृदयक्षेत्र से उद्बर्हण आवश्यक है। २. हे सोम! तू **इत्**=निश्चय से **ग्राव्णाम्**=ज्ञानी स्तोताओं की ज्ञान-चर्चाओं को **शृण्वन्**=सुनता हुआ **तिष्ठसि**=शरीर में स्थित होता है। जो मनुष्य ज्ञानप्रधान जीवन बिताता है, यह सोम उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। एवं, शरीर में उपयुक्त हुआ-हुआ यह सोम नष्ट नहीं होता, **पार्थिवः ते न अश्नाति**=हे सोम! पार्थिव भोगों में आसक्त पुरुष तेरा सेवन नहीं करता। भोगासक्ति सोमरक्षा की विरोधिनी है।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए वासनाओं का उद्बर्हण आवश्यक है, उसके लिए ज्ञानप्रवणता उत्तम साधन है।

ऋषिः—सावित्री ॥ देवता—विवाहः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वास्तविक सम्पत्ति

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्। द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम् ॥ ६ ॥

१. **यत्**=जब **सूर्या पतिम् अयात्**=सावित्री की पुत्री—उज्ज्वल ज्ञानवाली यह सूर्या अपने पति के गृह को जाती है उस समय **द्यौः भूमिः**=ज्ञानदीप्त मस्तिष्क तथा पृथिवी के समान दृढ़ शरीर इसके **कोशः आसीत्**=वास्तविक धन थे। ज्ञान व शक्ति ही इसका कोश था। इस कोश को लेकर ही यह पतिगृह को प्राप्त हुई। २. उस समय **चित्तिः**=ज्ञान व समझदारी **उपबर्हणम् आः (आसीत्)**=इसका सिराहना था। जैसे-सिरहाना सिर को सहारा देता है उसीप्रकार इस कन्या की समझदारी ही इसे समस्याओं के सुलझाने में सहायक होती है। **चक्षुः अभ्यञ्जनम् आः**=इसका ठीक दृष्टिकोण व स्नेहपूर्ण दृष्टि ही सुरमा था। अञ्जन आँख के अभ्यञ्जन, सौन्दर्यवर्धन का कारण होता है। इसीप्रकार इसका ठीक दृष्टिकोण व स्नेहपूर्ण दृष्टि इसके सौन्दर्य को बढ़ानेवाली थी।

भावार्थ—कन्या की योग्यता यह है कि वह समझदार हो (चित्तिः), उसका दृष्टिकोण ठीक हो तथा वह स्नेहपूर्ण दृष्टिवाली हो (चक्षुः)। यह मस्तिष्क के ज्ञान व शरीर के बलरूप कोश को लेकर पतिगृह को प्राप्त हो।

ऋषिः—सावित्री ॥ देवता—विवाहः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

रैभी नाराशंसी, भद्रं गाथा

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी। सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृता ॥ ७ ॥

१. विवाह के समय **रैभी**=प्रभु-स्तवन करनेवाली ऋचा ही **अनुदेयी**=इसका दहेज **आसीत्**=था। पिता कन्या को ऋचाओं द्वारा प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाली बनाता है। यह स्तुतिवृत्तिवाली बना देना ही सर्वोत्तम दहेज देना है। **नाराशंसी**=नर-समूह के शंसन की वृत्ति, सबकी प्रशंसा

करने की वृत्ति और कमियों की ओर ध्यान न देने की वृत्ति ही इसका **न्योचनी**=कुर्त्ता होता है अथवा वीर पुरुषों के चरितों का शंसन, अर्थात् इनका इतिहास ज्ञान ही इस युवति का समुचित वस्त्र है। २. **भद्रं इत् सूर्यायाः वासः**=इस युवति की भद्रता ही इसका ओढ़ने का वस्त्र है। **गाथया**=प्रभु गुणगान से **परिष्कृता**=अलंकृत हुई-हुई यह युवति **एति**=पतिगृह की ओर आती है।

भावार्थ—कन्या को स्तुतिवृत्तिवाला बना देना ही सच्चा दहेज है। सदा दूसरों के गुणों को देखने की वृत्तिवाला होना ही इसका कुर्त्ता है। यह युवति किसी के भी अवगुणों की ओर ध्यान नहीं देती, अतः निन्दा नहीं करती। इसका वस्त्र इसकी भद्रता है, शिष्टाचार है। यह प्रभु-गुणगान की वृत्ति से परिष्कृत जीवनवाली बनकर पतिगृह को प्राप्त होती है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जीवन-साथी का अन्वेषण

स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः॥ ८॥

१. **स्तोमाः**=प्रभु के स्तोम ही नवयुवति को **प्रतिधयः आसन्**=(प्रतिधि=Food) भोजन दें। जिसप्रकार अन्न का भोजन शरीर की पुष्टि का कारण बनता है, उसीप्रकार प्रभु के स्तोत्र इसकी अध्यात्म पुष्टि का कारण बनते हैं। **छन्दः**=वासनाओं से बचानेवाले (छद आवरणे) वेदमन्त्र ही इसके **कुरीरम्** शिरोवस्त्र (A kind of head dress for women) व **ओपशः**=शिरोभूषण थे। इन छन्दों के द्वारा ही इसके मस्तिष्क की शोभा थी। २. **सूर्यायाः**=सूर्या के **अश्विना**=माता-पिता कर्मव्याप्त (अशू व्याप्तौ) जनक व जननी ही **वरा**=इसके साथी का वरण करनेवाले थे। उन्होंने सूर्या के जीवनसंगी को ढूँढने का काम आरम्भ किया। इनके इस कार्य में **अग्निः पुरोगवः आसीत्**=ज्ञानी ब्राह्मण ही इनका अगवा, पथप्रदर्शक था। वस्तुतः विद्यार्थियों के आचार्य ही अग्नि हैं। वे इनके शिक्षक होने से इनके गुण-कर्म-स्वभावों से परिचित होने के कारण ठीक चुनाव कर पाते हैं। वे आचार्य परामर्श देते हैं। उस परामर्श से माता-पिता देखभाल करते हैं और अन्त में सन्तानों की स्वीकृति होने पर ये सम्बन्ध परिपक्व हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तोत्र ही सूर्या का भोजन है। वेदमन्त्र ही उसके शिरोवस्त्र व शिरोभूषण हैं। माता-पिता इस सूर्या के जीवनसाथी को ढूँढने का यत्न करते हैं। आचार्य इस कार्य में उनका सहायक होता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सूर्या व सोम' का परिणय

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा। सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात्॥ ९॥

१. पत्नी को 'सूर्या' बनना चाहिए तो पति को 'सोम'। पति शरीर में सोम का रक्षण करता हुआ सोमशक्ति का पुञ्ज बने। सोमरक्षण से वह अत्यन्त सौम्य स्वभाव का बन पाएगा। यह **सोमः**=सोमशक्ति का रक्षक व सौम्य स्वभाव का युवक **वधूयुः अभवत्**=वधू की कामनावाला हुआ, **उभा अश्विना**=दोनों माता-पिता **वरा**=उसके साथी का चुनाव करनेवाले **आस्ताम्** थे। २. 'सूर्या' के माता-पिता उसके लिए योग्य साथी की खोज में थे। 'सोम' युवक के माता-पिता भी उसके लिए एक योग्य युवति की खोज में थे। **अग्निः**=ज्ञानी आचार्य ने उन्हें उचित परामर्श दिया। **यत्**=जब उसके सुझाव पर **पत्ये शंसन्तीम्**=पति का शंसन करनेवाली **सूर्याम्**=सूर्या

को **सविता**=जन्म देनेवाले पिता ने **मनसा**=पूरे मन से **अददात्**=सोम के लिए दे दिया। इसप्रकार सूर्या का सोम के साथ विवाह सम्पन्न हो गया।

भावार्थ—युवक की विवाह करने की इच्छा हुई। माता-पिता ने खोज की और आचार्य के परामर्श से माता-पिता ने अपनी कन्या को वर को सौंप दिया।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाह**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वधू का रथ

मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः।

शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या पतिम्॥ १०॥

१. **यत्**=जब **सूर्या**=सावित्री **पतिं अयात्**=पति को प्राप्त हुई तब **अस्याः**=इस सूर्या का **मनः**=मन ही **अनः आसीत्**=रथ था। यह अपने मनोरथ पर आरूढ़ होकर पतिगृह को गई, इच्छापूर्वक यह पति को प्राप्त हुई। इसका सम्बन्ध माता-पिता ने इसकी इच्छा के बिना नहीं किया। उस समय मन तो रथ था, **उत**=और **द्यौः**=मस्तिष्क **छदिः आसीम्**=छत थी। उस रथ का रक्षक मस्तिष्क था। केवल हृदय की भावुकता के कारण यह सम्बन्ध नहीं हुआ था, यह सम्बन्ध मस्तिष्क से, अर्थात् सब बातें सोच-विचारकर किया गया था। २. इस मनोमय रथ की छत मस्तिष्क बना तो **शुक्रौ**=गतिशील कर्मेन्द्रियाँ (शुक् गतौ) तथा दीप्त ज्ञानेन्द्रियाँ (शुच दीप्तौ), इस रथ के **अनड्वाहौ आस्ताम्**=वृषभ थे। इसकी कर्मेन्द्रियाँ कर्मनिपुण होती हुईं इसे सशक्त बना रही थी और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में कुशल होती हुईं इसे ज्ञानदीप्त कर रहीं थी। यह शक्ति व ज्ञान ही इस रथ के संचालक थे।

भावार्थ—पति के चुनाव में सूर्या भी सहमत थी। यह सम्बन्ध भावुकता के कारण न होकर सोच-समझकर किया गया था। सूर्या की कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ गृहस्थ की गाड़ी को खेंचने में सशक्त बनीं थीं।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'ज्ञान व श्रद्धा के समन्वय' से कार्य तत्परता

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम्।

श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः॥ ११॥

१. गतमन्त्र के मनोमय रथ में **ते गावौ**=वे ज्ञानन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँरूप वृषभ **ऋक्सामाभ्याम्**=विज्ञान व उपासना से **अभिहितौ**=प्रेरित हुए-हुए थे, अर्थात् इन्द्रियों के सब व्यवहारों में विज्ञान व उपासना का समन्वय था। इसका प्रत्येक कार्य 'ज्ञान व श्रद्धा' के मेल से हो रहा था, इसीलिए ये इन्द्रियरूप वृषभ **सामनौ एताम्**=बड़ी शान्तिवाले होकर गति कर रहे थे, अर्थात् यह सूर्या ज्ञान व श्रद्धा से सम्पन्न होकर शान्तभाव से सब कार्यों को करती थी। २. **श्रोत्रे ते चक्रे आस्ताम्**=कान ही रथ के वे चक्र थे। 'चक्र' गति का प्रतीक है, श्रोत्र सुनने का। सूर्या सुनती थी और उसके अनुसार करती थी। उसका यह **चराचरः**=अत्यन्त क्रियाशील (भृशं चरति) **पन्थाः**=जीवन का मार्ग **दिवि**=ज्ञान में आश्रित था, अर्थात् सूर्या की सब क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक होती थीं। वह किसीप्रकार के रुढ़िवाद में फँसी हुई न थी।

भावार्थ—'सूर्या' ज्ञान व श्रद्धा से युक्त होकर शान्तभाव से ज्ञानपूर्वक निरन्तर क्रियामय जीवनवाली होती है।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—विवाहः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'प्राण, अपान, व्यान' की ठीक स्थिति

शुची॑ ते च॒क्रे या॒त्या व्या॒नो अक्ष॒ आह॑तः।
अनो॑ मन॒स्मयं॑ सू॒र्यारो॑हत्प्रय॒ती पति॑म्॥ १२॥

१. **पतिं प्रयती**=पतिगृह की ओर जाती हुई **सूर्या**=सूर्या **मनस्मयं अनः**=मन के बने रथ पर **आरोहत्**=आरूढ़ हुई, अर्थात् मन में उत्साह व प्रेम से परिपूर्ण होकर पतिगृह को हृदय से चाहती हुई चली। २. उस समय **यात्याः**=जाती हुई सूर्या के रथ के **ते चक्रे**=वे चक्र **शुची**=पवित्र प्राणापान ही थे और उन प्राणापानरूप चक्रों में **व्यानः अक्षः आहतः**=व्यान अक्ष के रूप में लगा हुआ था (प्राणापाणे पवित्रे—तै० ३.२.४.४)। प्राणापान ही शुची व पवित्र हैं। ये यदि रथ के पहिये हैं तो व्यान उनका अक्ष है। 'भूः' इति प्राणाः, 'भुवः' इति अपानाः, 'स्वः', इति व्यानः—इन ब्राह्मणग्रन्थों के शब्दों में 'भूः, भुवः, स्वः' ही प्राणापान व व्यान हैं। अध्यात्म में 'भूः' शरीर है, 'भुवः' हृदयान्तरिक्ष है, 'स्वः' मस्तिष्करूप द्युलोक है। सूर्या के ये तीनों ही लोक बड़े ठीक हैं। इनको ठीक बनाकर वह मनोमय रथ पर आरूढ़ हुई है। ये रथ ही उसे पतिगृह की ओर ले-जा रहा है।

भावार्थ—सूर्या के 'प्राण, अपान, व्यान' ठीक कार्य करनेवाले हैं, अतएव वह पूर्ण स्वस्थ व उल्लासमय मनवाली है। प्रसन्नता से पतिगृह की ओर चली है।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—विवाहः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

गोदान

सू॒र्याया॑ वह॒तुः प्रागा॑त्सवि॒ता यम॒वासृ॑जत्।
म॒घासु॑ ह॒न्यन्ते॒ गाव॒: फल्गु॑नीषु॒ व्यु॑ ह्यते॥ १३॥

१. **सूर्यायाः वहतु प्रागात्**=सूर्या का दहेज (गाय के रूप में दिया जानेवाला सामान) आज गया है। **सविता**=सूर्या के जन्मदाता पिता ने **यम् अवासृजत्**=जिसको दिया है या भेजा है। **मघासु**=मघा नक्षत्र में **गावः हन्यन्ते**=दहेज के रूप में दी जानेवाली गौएँ भेजी जाती हैं (हन् गतौ) और **फल्गुनीषु**=फल्गुनी नक्षत्र में **पर्यूह्यते**=कन्या का विवाह कर दिया जाता है। २. मघा नक्षत्रवाली पूर्णिमा माघी कहलाती है और फल्गुनी नक्षत्रवाली पूर्णिमा फाल्गुनी। एवं विवाह से एक मास पूर्व गोदान-विधि सम्पन्न हो जाती है। ये गौ इसलिए दी जाती है कि गुरुकुल में शिक्षित होनेवाला यह तपःकृश युवक गोदुग्ध से आप्लावित शरीरवाला हो जाए।

भावार्थ—गोदान-विधि विवाह से एक मास पूर्व सम्पन्न हो जाती है।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—विवाहः॥ छन्दः—विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः॥

सम्बन्ध करवानेवाले मूल पुरुष के विषय में

यद॑श्विना पृ॒च्छमा॑ना॒वया॑तं त्रिच॒क्रेण॑ वह॒तुं सू॒र्यायाः॑।
क्वैकं॑ च॒क्रं वा॑मासी॒त्क्व॑ दे॒ष्ट्राय॑ तस्थथुः॥ १४॥

१. **यत्**=जब **अश्विना**=लड़के के (वर के) माता-पिता (पति-पत्नी) **सूर्यायाः**=सूर्या के **वहतुम्**=विवाह के दहेज को **पृच्छमानौ**=चाहते हुए (पूछते हुए, ask for) **त्रिचक्रेण आयातम्**=तीन चक्रों से आते हैं, अर्थात् सामन्यतः वर पक्ष के माता-पिता तीन चक्कर लगाते हैं। पहले चक्कर में तो वे कन्यापक्ष के लोगों के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए किसी परिचित मित्र के यहाँ आते हैं। उस समय अपना कोई व्यक्ति उनके साथ नहीं होता। ये गुप्तरूप से ही जानकारी

प्राप्त कर लौट जाते हैं। अब सम्बन्ध ठीक हो जाने पर 'वहतु' के लिए दूसरा चक्कर लगता है। इस समय बिरादरी के व नगर के सज्जन भी साथ होते हैं। तीसरा चक्कर विवाह-कार्य के लिए होता है। मन्त्र 'त्रिचक्रेण' शब्द इन्हीं चक्करों का संकेत कर रहा है। २. विवाह के समय उपस्थित सब देव (सज्जन) वर के माता-पिता से स्वभावतः पूछते हैं कि इस सम्बन्ध को करवाने में किन-किन सज्जनों का मुख्य स्थान है? आप पहले कहाँ आकर ठहरे थे? **वाम्**=आप दोनों का **एकं चक्रम्**=प्रथम चक्कर **क्व आसीत्**=कहाँ हुआ था? सूर्या के विषय में **देष्ट्राय**=विविध निर्देशों को पाने के लिए **क्व तस्थथुः**=आप किनके यहाँ ठहरे थे?

भावार्थ—विवाह में उपस्थित होने पर उन सज्जन के विषय में वर के माता-पिता से पूछते हैं कि 'आप पहले पहल आकर कहाँ ठहरे? किससे आपको सब बातों का ज्ञान हुआ?'

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

वृत युवक द्वारा नये माता-पिता का वरण

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप।
विश्वेदेवा अनु तद्वामजानन्पुत्रः पितरमवृणीत पूषा॥ १५॥

१. **यत्**=जब **शुभस्पती**=सब शुभ कर्मों का रक्षण करनेवाले युवक के माता-पिता **सूर्यां वरेयम्**=सूर्या के वरण के लिए **उप अयातम्**=यहाँ समीप प्राप्त हुए तो **विश्वेदेवाः**=सब देव—समझदार लोग साथ आये हुए अनुभवी, वृद्ध सज्जन **वाम् तत्**=आप दोनों के उस कार्य की **अनु अजानन्**=अनुज्ञा देनेवाले हुए। सबने सम्बन्ध को सराहा। २. ऐसा हो जाने पर—सब बड़ों की अनुज्ञा मिल जाने पर **पूषा पुत्रः**=अपना ठीक प्रकार से पोषण करनेवाला वृत युवक—वर के रूप में आया हुआ युवक **पितरं अवृणीत**=कन्या के माता-पिता को अपने माता-पिता के रूप में वरता है।

भावार्थ—विवाह के प्रसङ्ग की पूर्ति पर वृत युवक अपने श्वसुर व श्वश्रू को माता-पिता के रूप में वरता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रथम चक्र तथा पिछले दो चक्र

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद्विदुः॥ १६॥

१. हे **सूर्ये**=सूर्य के अनुकूल व्रतवाली कन्ये! **ते**=तेरे विषय में **द्वे चक्रे**=लगनेवाले दो चक्रों को तो **ब्रह्माणः**=सब ज्ञानी पुरुष **ऋतुथा विदुः**=उस-उस समय के अनुसार जानते ही है। दहेज लेने के लिए आनेवाला चक्र और विवाह के लिए आनेवाला चक्र तो सबको पता लगता ही है। २. **अथ**=परन्तु **एकं चक्रम्**=पहला चक्र जबकि वरपक्ष के व्यक्ति पूछताछ के लिए अपने किसी मित्र के यहाँ आकर ठहरे, **गुहा**=जो चक्र संवृत-सा है, **तत्**=उस चक्र को तो **अद्धातयः इत्**=उस चक्र के ज्ञाता ही, अर्थात् उस चक्र में भाग लेनेवाले ही **विदुः**=जानते हैं। वर के माता-पिता व उनके स्थानीय मित्र, जिनके यहाँ वे आकर ठहरते हैं, ही उस चक्र को जानते हैं। यह पूछताछ संवृत रूप में कर लेना ही व्यावहारिक दृष्टिकोण से ठीक है। 'अजी, वहाँ क्या बात ठहरी', इसप्रकार की चर्चाओं का न होना ही ठीक है।

भावार्थ—विवाह-प्रसङ्ग में सर्वप्रथम जानकारी के लिए लगाया गया चक्र गुप्त ही होता है। पिछले दो दहेज तथा विवाह के लिए लगाये जानेवाले चक्र तो सबको ज्ञात होते ही हैं।

ऋषिः—सावित्री ॥ देवता—विवाहः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सुबन्धु-'पतिवेदन-अर्यमा' (Marriges are made in heaven)

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात्प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥ १७ ॥

१. विवाह में उपस्थित लोग विशेषतया वर-वधू के माता-पिता सब मिलकर इस रूप में प्रभु का उपासन करते हैं कि **अर्यमणम्**=सब शत्रुओं का नियमन करनेवाले (अरीन् यच्छति) अथवा सब-कुछ देनेवाले 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति', उस प्रभु का **यज्ञामहे**=हम पूजन करते हैं। वह प्रभु ही **सुबन्धुम्**=हमारा उत्तम बन्धु है, वही इन वर-वधू को परस्पर बाँधनेवाला है। प्रभु ही तो **पतिवेदनम्**=एक युवति के योग्य पति प्राप्त कराते हैं। २. **इव**=जैसे **उर्वारुकम्**=खरबूजे को **बन्धनात्**=बन्धन से अलग करते हैं—बेल से तोड़कर अलग करते हैं, उसीप्रकार इस युवति को भी **इतः मुञ्चामि**=इधर से, अर्थात् पितृगृह से मैं मुक्त करता हूँ, **अमुतः न**=श्वसुर-गृह से नहीं। ये कन्या बिना किसी प्रकार का कष्ट अनुभव करती हुई अपने पितृगृह से छूटे और पतिगृह को प्राप्त करे।

भावार्थ—वस्तुतः प्रभुकृपा से ही एक युवति के लिए उत्तम पति की प्राप्ति होती है। युवति पितृगृह को प्रसन्नतापूर्वक छोड़कर पतिगृह को प्राप्त करे।

ऋषिः—सावित्री ॥ देवता—विवाहः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वर का व्रतग्रहण

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ १८ ॥

१. विवाह हो जाने पर (युवक) प्रभु को साक्षी करके व्रत लेता है कि मैं इस युवति को **इतः**=इस पितृगृह से **प्रमुञ्चामि**=मुक्त कर रहा हूँ, **न अमुतः**=उधर से, अर्थात् पतिगृह से कभी मुक्त न करूँगा। मुक्त करना तो दूर रहा, **अमुतः सुबद्धाम् करम्**=उस पतिगृह में इसे सुबद्ध करता हूँ। इसको यही अनुभव होगा कि 'मेरा तो घर यही है, यह पतिगृह ही है, मैं ही तो इस घर की साम्राज्ञी हूँ'। २. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले व **मीढ्वः**=सब सुखों का सेचन करनेवाले प्रभो! आप ऐसा अनुग्रह कीजिए कि **यथा**=जिससे **इयम्**=यह युवति वधू **सुपुत्रा**=उत्तम सन्तानोंवाली व **सुभगा**=उत्तम ऐश्वर्यवाली **असति**=हो। यह इस घर को उत्तम सन्तानों व ऐश्वर्यों से परिपूर्ण करनेवाली बने, सचमुच गृहलक्ष्मी प्रमाणित हो।

भावार्थ—वर का यह व्रत होना चाहिए कि वह अपने प्रेम द्वारा इस वधू को घर में सुबद्ध करे, जिससे घर उत्तम सन्तानों व सौभाग्यों से सम्पन्न हो। जहाँ गृहपत्नी का आदर नहीं, पति-पत्नी में परस्पर कलह है,वह घर नरक-सा बन जाता है, वहाँ उत्तम सन्तानों व सौभाग्यों का स्थान नहीं।

ऋषिः—सावित्री ॥ देवता—विवाहः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वर की वधू के विषय में आकांक्षा

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवाः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सहसंभलायै ॥ १९ ॥

१. वर वधू से कहता है कि **त्वा**=तुझे **वरुणस्य पाशात्**=वरुण के बन्धन से **प्रमुञ्चामि**=छुड़ाता हूँ। पिता वरुण पाशी है। पिता भी सन्तानों को नियमपाश में बाँधकर रखता है। सन्तान को

श्रेष्ठ बनाने के लिए यह आवश्यक ही है। इस वरुण के पाश से वर ही उसे छुड़ाता है। उस पाश से मैं तुझे छुड़ाता हूँ, **येन**=जिससे **सुशेवाः**=उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले **सविता**=जन्मदाता, प्रेरक पिता ने **त्वा अबध्नात्**=तुझे बाँधा हुआ था। पिता का यह कर्त्तव्य ही है कि वह सन्तानों को नियमपाश में बाँधकर चले। कन्याओं को सुरक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक ही होता है। २. **ऋतस्य योनौ**=जिस घर में सब वस्तुएँ ऋतपूर्वक होती हैं, अर्थात् ठीक समय पर होती हैं, उस **सुकृतस्य लोके**=पुण्यलोक में, अर्थात् जहाँ सब कार्य शुभ ही होते हैं, उस घर में **सहसम् भलायै**=(भल परिभाषणे) सबके साथ मधुरता से भाषण करनेवाली **ते**=तेरे लिए **स्योनं अस्तु**=सुख-ही-सुख हो।

भावार्थ—वर को इस बात की प्रसन्नता है कि उसकी भाविनी पत्नी को पिता ने नियमों के बन्धनों में बाँधकर रक्खा था। अब वह पतिगृह में भी सब कार्यों को समय पर करनेवाली होगी, घर में शुभ ही कार्य होंगे और वह सबके साथ मधुरता से बोलनेवाली होगी।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पिता का कन्या को उपदेश

भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि॥ २०॥

१. पतिगृह को जाते समय पिता कन्या को अन्तिम उपदेश देता है कि **भगः**=ऐश्वर्य का उपार्जन करनेवाला यह पति **हस्तगृह्य**=पाणिग्रहण करके—यथाविधि तेरे हाथ का ग्रहण करके **त्वा इतः नयतु**=तुझे यहाँ—पितृगृह से ले-जानेवाला हो। इस समय **अश्विना**=ये तेरे धर्मपिता व धर्ममाता (श्वसुर एवं श्वश्रू) **त्वा**=तुझे **रथेन**=रथ से **प्रवहताम्**=घर की ओर ले-जानेवाले हों। २. तू **गृहान् गच्छ**=पतिगृह को जा। **यथा**=जिससे तू **गृहपत्नी असः**=पतिगृह में गृहपत्नी बन पाए। तूने वहाँ घर के सारे उत्तरदायित्व को अपने कन्धे पर लेना है, अतः **वशिनी**=अपनी सब इन्द्रियों को वश में करनेवाली **त्वम्**=तू **विदथम् आवदासि**=ज्ञानपूर्वक, समझदारी से सब कार्य करनेवाली हो। तेरी प्रत्येक बात का घर के निर्माण पर प्रभाव होना है, अतः अपना नियन्त्रण करती हुई, समझदारी से सब कार्य करती हुई सच्चे अर्थों में गृहपत्नी बनना।

भावार्थ—गृहपत्नी के लिए आवश्यक है कि (क) सब इन्द्रियों को वश में करके चले तथा (ख) सब बातें समझदारी से करे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**जगती**॥

उत्तम सन्तान व गार्हपत्य

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥ २१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'वशिनी' बनने पर **इह**=इस जीवन में **प्रजायै**=उत्तम सन्तान के लिए **ते**=तेरा **प्रियम्**=आनन्द **समृध्यताम्**=वृद्धि को प्राप्त हो। तेरे प्रसन्न होने पर ही सन्तान उत्तम होगी, माता की प्रसन्नता सन्तान के सौन्दर्य का कारण बनती है। **अस्मिन् गृहे**=इस घर में **गार्हपत्याय जागृहि**=घर के कर्त्तव्यों के पालन व रक्षणात्मक कर्मों के लिए तू सदा जागरित रहे। पत्नी की सफलता व सम्मान के दो ही मूलसूत्र हैं—एक तो वह उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली हो, सन्तान के अभाव में गृह आनन्दमय नहीं होता और पति-पत्नी के परस्पर प्रेम में भी कमी आ जाती है तथा दूसरी बात यह कि वह सदा सावधान व जागरित रहे। घर में

उसके प्रमाद से सौभाग्य का निवास नहीं होता। उसकी जागृति ही घर को समृद्ध बनाती है। २. इस गृहस्थ में **एना पत्या**=इस पति के साथ **तन्वं सं स्पृशस्व**=तू अपने शरीर व रूप को एक कर दे, तू उसकी अर्द्धाङ्गिनी ही बन जा। तुम दोनों अब दो न रहकर एक हो जाओ और इसप्रकार परस्पर मेल से गृहस्थ को सुन्दरता से बिताकर **अथ**=अब **जिर्विः**=जरावस्था को प्राप्त करने पर **विदथम्**=ज्ञान को **आवदासि**=उच्चरित करनेवाली होओ, अर्थात् वानप्रस्थ बनकर ज्ञान का प्रसार करनेवाली बन। गृहस्थ के साथ ही तेरा जीवन समाप्त न हो जाए।

भावार्थ—एक युवति गृहपत्नी बनने पर उत्तम सन्तान की प्राप्ति के आनन्द का अनुभव करे और घर के कार्यों में सदा जागरूक रहे। गृहस्थ को सफलता से बिताकर वनस्थ होने पर ज्ञान के क्षेत्र में विचरण करे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वर-वधू को आशीर्वाद

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्य श्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥ २२॥

१. हे वर-वधू! तुम दोनों **इह एव स्तम्**=यहाँ गृहस्थ में सुन्दर जीवनवाले होओ **मा वि यौष्टम्**=एक-दूसरे से पृथक् मत होओ, किसी एक का अल्पायुष्य तुम्हें वियुक्त करनेवाला न हो जाए। **विश्वम् आयुः व्यश्नुतम्**=तुम पूर्ण आयु को प्राप्त करनेवाले बनो। २. **पुत्रैः नप्तृभिः**=पुत्रों व नातियों से **क्रीडन्तौ**=खेलते हुए **मोदमानौ**=आनन्द का अनुभव करते हुए **स्वस्तकौ**=(सु+अस्तक) उत्तम गृहवाले बनो।

भावार्थ—पति-पत्नी गृह पर ही सारे अतिरिक्त समय को बिताएँ और अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए पूर्ण जीवन को प्राप्त करें। घर में सन्तानों की क्रीड़ा, वृद्धि का व घर के सौभाग्य का कारण बने।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**सौमार्कौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दम्पती का कार्यविभाग

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः॥ २३॥

१. घर में पहुँचकर **एतौ**=ये दोनों युवक-युवति (पति-पत्नी) **शिशू**=स्वाध्याय के द्वारा अपनी बुद्धि को तीव्र बनानेवाले होते हुए **मायया**=प्रज्ञान के द्वारा **पूर्वापरं चरतः**=(पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रम्) ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में प्रवेश करते हैं। ब्रह्मचर्याश्रमरूप प्रथम समुद्र को तैरकर गृहस्थाश्रमरूप द्वितीय समुद्र में आते हैं। इस **अर्णवम्**=समुद्र में **क्रीडन्तौ**=क्रीडा की मनोवृत्ति बनाकर सब कर्त्तव्य-कर्मों में गतिवाले होते हैं। इस मनोवृत्ति के कारण ही ये ऊँच-नीच में घबरा नहीं जाते। इस वृत्ति के अभाव में वस्तुतः संसार बड़ा कष्टमय प्रतीत होने लगता है। २. इन पति-पत्नी में **अन्यः**=एक पति तो **विश्वा भुवना विचष्टे**=घर में प्रवेश करनेवाले सब प्राणियों का ध्यान (look after) करता है। पति का कार्य रक्षण ही तो है (पा रक्षणे)। घर में सब आवश्यक सामग्री का वह व्यवस्थापन करता है। **अन्यः**=गृहस्थनाटक का दूसरा मुख्य पात्र 'पत्नी' **ऋतून् विदधत्**=गर्भाधान के लिए उचित समयों को धारण करती हुई **नवः जायसे**=फिर नवीन जन्म लेती है। इस प्रकार वह एक नये प्राणी को संसार में लाती है। पत्नी का कार्य उत्कृष्ट सन्तान को जन्म देना है और पति ने उस सन्तान के रक्षण व पोषण के सब

साधनों को जुटाने का ध्यान करना है।

भावार्थ—समझदार पति-पत्नी क्रीड़क की मनोवृत्ति से चलते हुए गृहस्थ को बड़ी सुन्दरता से निभाते हैं। पत्नी एक नव-सन्तान को जन्म देती है तो पति उसके रक्षण व पोषण का उत्तरदायित्व लेता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**चन्द्रमा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पति

नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन्प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः॥ २४॥

१. मानव-स्वभाव कुछ इस प्रकार का है कि वह एक वस्तु से कुछ देर पश्चात् ऊब जाता है। 'गृहस्थ में पति-पत्नी परस्पर ऊब न जाएँ', इस दृष्टिकोण से **जायमानः**=अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ तू (पति) **नवः नवः भवसि**=सदा नवीन बना रहता है। तेरा जीवन पुराना-सा (जीर्ण-सा) नहीं हो जाता। **अह्नां केतुः**=दिनों का तू प्रकाशक होता है—दिनों को तू प्रकाशमय बनाता है। स्वाध्याय के द्वारा अधिकाधिक प्रकाशमय जीवनवाला होता है। **उषसां अग्रम् एषि**=उषाओं के अग्रभाग में आता है, अर्थात् बहुत सवेरे ही प्रबुद्ध होकर क्रियामय जीवनवाला होकर चलता है। २. तू **आयन्**=गतिशील होता हुआ **देवेभ्यः भागं विदधासि**=देवों के लिए भाग को विशेषरूप से धारण करता है, अर्थात् यज्ञशील बनता है। यज्ञों को करके यज्ञशेष का ही सेवन करता है। इसप्रकार हे **चन्द्रमः**=आह्लादमय जीवनवाले पते! तू **दीर्घं आयुः प्रतिरसे**=दीर्घ जीवन को अत्यन्त विस्तृत करता है। मन की प्रसन्नता तेरे दीर्घ जीवन का कारण बनती है।

भावार्थ—पति अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ सदा स्तुत्य (नव) जीवनवाला हो। दिन को ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल बनाए, प्रातः जागरित होकर कार्यप्रवृत्त हो, यज्ञशील बने तथा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होता हुआ दीर्घ जीवन प्राप्त करे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**वधूवासः संस्पर्शमोचनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अतिथियज्ञ व मानस पवित्रता

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु।
कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम्॥ २५॥

१. हे नवविवाहित पुरुष! तू **शामुल्यम्**=शमन करने योग्य मानस दुर्भाव को—मलिनता को **परादेहि**=दूर कर दे, **ब्रह्मभ्यः**=ज्ञानी ब्राह्मणों के लिए **वसु विभजा**=निवास के लिए अवश्यक धन देनेवाला बन, यही तेरा ब्रह्मयज्ञ हो। तेरे घर पर विद्वान् ब्राह्मण आते रहें, उनसे तुझे उचित प्रेरणा मिलती रहे। तेरा यह अतिथियज्ञ नववधू को भी उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त कराएगा। तुझे भी सदा मानस दुर्भावों को दूर करने में सहायक होगा। २. **एषा जाया**=यह पत्नी **कृत्या**=(कृती छेदने) काम-क्रोधादि शत्रुओं का छेदन करनेवाली होती हुई **पद्वती भूत्वा**=(पद् गतौ) प्रशस्त चरणोंवाली—उत्तम क्रियाओंवाली होकर **पतिं विशते**=पति के साथ एक हो जाती है। पति-पत्नी में द्वैत न रहकर ऐक्य उत्पन्न होता है। पत्नी उसकी अर्द्धाङ्गिनी ही हो जाती है।

भावार्थ—गृहपति को चाहिए कि मन को सदा पवित्र बनाने के लिए यत्नशील हो। अतिथियज्ञ करता हुआ ज्ञानी ब्राह्मणों से सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त करे, ऐसा होने पर पत्नी भी काम-क्रोधादि का छेदन करती हुई क्रियाशील बनकर पति के साथ एक हो जाती है।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—विवाहमन्त्राशिषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अनुरागयुक्त क्रियाशील जीवन

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते॥ २६॥

१. **नीललोहितम्**=(पूर्वं नीलं, पश्चात् लोहितम्) ब्रह्मचर्याश्रम में जो हृदय सांसारिक रंगों में न रंगा जाकर बिल्कुल नीरंग (कृष्ण)-सा था अब गृहस्थ में आने पर वह लोहितम्=कुछ-कुछ प्रेम की लालिमावाला **भवति**=होता है। 'अनुराग' (प्रेम) युक्त होता है। पति-पत्नी के परस्पर अनुरागयुक्त जीवन में **कृत्यासक्तिः**=कर्त्तव्य-कर्मों के प्रति रुचि **व्यज्यते**=विशेषरूप से दीप्त हो जाती है। पति-पत्नी मिलकर घर को स्वर्ग बनाने का निश्चय करते हैं और आलस्यशून्य होकर क्रियाओं में तत्पर होते हैं। २. हृदय में अनुराग तथा क्रियाशीलता होने पर **अस्याः**=इस नव-विवाहिता पत्नी के **ज्ञातयः एधन्ते**=सब बन्धु बढ़ते हैं, उन्हें प्रसन्नता का अनुभव होता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि पति **बन्धेषु बध्यते**=उस युवति का पति उसके प्रति प्रेम-बन्धनों में बद्ध हो जाता है। पत्नी का विशुद्ध प्रेम तथा क्रियाशीलता पति को उसकी ओर आकृष्ट करते हैं।

भावार्थ—पत्नी अनुरागयुक्त हृदयवाली व क्रियाशील जीवनवाली होती हुई बन्धु-बान्धवों की प्रसन्नता का और पति के आकर्षण का कारण बनती है।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—वधूवासः संस्पर्शमोचनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

भोगासक्ति का दुष्परिणाम

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद्वध्वो॒३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते॥ २७॥

१. एक युवक जिसका कि **तनूः**=शरीर **रुशती**=देदीप्यमान होता है, यह **यत्**=यदि **पतिः**=पति बनने पर, गृहस्थ में प्रवेश करने पर, **वध्वः वाससः**=वधू के वस्त्रों से **स्वं अङ्गं अभ्यूर्णुते**=अपने अङ्गों को आच्छादित करता है, अर्थात् पत्नी के वस्त्रों को ओढ़कर घर पर ही बैठा रहता है, पत्नी के साथ प्रेमालाप में ही परायण रहता है तो उसका शरीर **अमुया पापया**=उस पापवृत्ति से **अश्लीला भवति**=श्रीशून्य हो जाता है। २. वधू के वस्त्रों को पहनकर घर में ही बैठे रहने का भाव प्रेमासक्त होकर अकर्मण्य बन जाने से है। विवाहित हो जाने पर भी एक युवक हृदय-प्रधान बनकर अपने कर्त्तव्यों को उपेक्षित न कर दे। पत्नी के प्रति आसक्ति उसे कर्त्तव्यविमुख न बना दे। ऐसा होने पर जीवन भोगप्रधान होकर नष्ट श्रीवाला हो जाता है।

भावार्थ—नवविवाहित युवक को चाहिए कि भोगप्रधान जीवनवाला न बन जाए। हर समय घर पर ही न बैठा रहे।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—विवाहमन्त्राशिषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

आशसन, विशसन, अधिविकर्तन

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति॥ २८॥

१. (क) **आशसनम्**=घर में सब प्रकार से उन्नति की इच्छा करता हुआ व तदनुसार शासन करना, अर्थात् घर के अन्दर सब कार्यों के ठीक प्रकार से होने की व्यवस्था करना, (ख) **विशसनम्**=विशिष्ट इच्छाओंवाला होना, अर्थात् घर की उन्नति के लिए आवश्यक सब पदार्थों

को जुटाने की कामना करना तथा सब आवश्यक कार्यों को करना। (ग) **अथो**=और निश्चय से **अधिविकर्तनम्**=वस्त्रों को विविधरूपों में काटने आदि का काम करना। **सूर्यायाः**=सूर्यसम दीप्त जीवनवाली इस गृहिणी के **रूपाणि पश्य**=इन रूपों को देखिए। सूर्या घर में समुचित शासन रखती है, उत्कृष्ट शब्दोंवाली होती है और कपड़ों के सीने आदि के कार्यों को स्वयं भी करती है। २. **उत**=और **ब्रह्मा**=घर का निर्माण करनेवाला समझदार पति **तु**=तो **तानि**=सूर्या के उन सब कार्यों को **शुम्भति**=शोभायुक्त करता है। उन कार्यों में थोड़ी बहुत कमी होती भी है तो उसे उचित परामर्श देकर दूर करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—गृहपत्नी (क) घर का समुचित शासन करती है, (ख) नई-नई इच्छाएँ करती हुई घर को उन्नत करने का प्रयत्न करती है (ग) वस्त्रों के सीने आदि की व्यवस्था को स्वयं करती है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती**॥

पत्नी द्वारा भोजन की समुचित व्यवस्था

तृष्टमेतत्कटुकमपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे।
सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद्वाधूयमर्हति॥ २९॥

१. सूर्या का सर्वमहान् कर्त्तव्य यह है कि भोजन की व्यवस्था को इसप्रकार सुन्दर व व्यवस्थित बनाये रक्खे कि घर में कोई अस्वस्थ हो ही नहीं। वह अन्नों के विषय में यह ध्यान रक्खे कि (क) **एतत् तृष्टम्**=यह गरम भोजन अत्यन्त प्यास पैदा करनेवाला है। (ख) **कटुकम्**=ये कटु है, काटनेवाला है। (ग) **अपाष्ठवत्**=यह फोकवाला है या कटिला-सा है (घ) **विषवत्**=यह विषैले प्रभाव को पैदा करनेवाला है, अतः **एतत अत्तवे न**=यह खाने योग्य नहीं। इसप्रकार वधू भोजन का पूरा ध्यान करे। २. पति को भी चाहिए कि वह पत्नी की मनोवृत्ति को समझे। समझकर इसप्रकार वर्ते कि पत्नी का जी दुःखी न हो। इस **सूर्याम्**=ज्ञानदीप्त, क्रियाशील वधू को **यः ब्रह्मा वेद**=जो विशाल हृदयवाला ज्ञानी पुरुष ठीक प्रकार से समझता है **सः इत्**=वह ही **वाधूयम् अर्हति**=इस वधू-प्राप्ति के कर्म के योग्य है। नासमझ पति पत्नी को कभी प्रसन्न नहीं रख सकता।

भावार्थ—वधू पाकस्थान की अध्यक्षता करती हुई न खाने योग्य अन्नों को घर से दूर रक्खे। पति भी पत्नी की मनोवृत्ति को समझता हुआ अपने व्यवहार से उसे सदा प्रसन्न रक्खे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गृह में उत्तम वस्त्रों का प्राप्त करना

स इत्तत्स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम्।
प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति॥ ३०॥

१. **सः ब्रह्मा इत्**=वह अपने हृदय को विशाल बनानेवाला ज्ञानी पुरुष ही **तत्**=उस **स्योनम्**=सुखकर **सुमंगलम्**=उत्तम मंगल के साधनभूत **वासः**=वस्त्र को **हरति**=घर में प्राप्त कराता है, **येन**=जिस वस्त्र से **जाया न रिष्यति**=पत्नी हिंसित नहीं होती। पत्नी के लिए वस्त्र सुखकर भी हों, अच्छे भी लगें और स्वास्थ्य-रक्षा के लिए भी आवश्यक हों। २. वह ब्रह्मा इन वस्त्रों को प्राप्त करता है **यः**=जो **प्रायश्चित्तिं अध्येति**='प्रायोनाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपोनिश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तमितीर्यते॥' तपस्यापूर्वक जीवन बिताने का निश्चय करता है, इस बात को भूलता नहीं (अध्येति=remembers) कि आराम का जीवन विनाश की ओर ले-जाता

है। Ease, disease का कारण है। यह तपस्वी जीवन घरवालों के लिए अति उत्तम प्रभाव पैदा करता है।

भावार्थ—विशाल हृदयवाला पति इस बात का ध्यान करता है कि पत्नी को आवश्यक वस्तुओं की कमी न हो। वह अपना जीवन तपस्यापूर्वक बिताता है, यह तपस्या ही उसे ब्रह्मा बनाती है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आशीर्वाद के तीन शब्द

युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम्॥ ३१॥

१. पति-पत्नी के लिए प्रेरणा प्राप्त कराते हुए उपस्थित विद्वान् कहते हैं कि **युवम्**=तुम दोनों **ऋतोद्येषु**=जहाँ ऋत ही बोला जाता है, जिनमें अनृत (असत्य) का व्यवहार नहीं होता, उन व्यवहारों में **ऋतं वदन्तौ**=सत्य बोलते हुए **समृद्धम्**=सम्यक् बढ़े हुए **भगं संभरतम्**=ऐश्वर्य का संभरण करो। पति-पत्नी घर को ऋत व्यवहारों द्वारा अति समृद्ध बनाएँ। २. वे विद्वान् प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **अस्यै**=इस पत्नी के लिए **पतिं रोचय**=पति को प्रेमास्पद बनाइए, यह पति के लिए प्रीतिवाली हो। पति भी **संभलः**=(भल परिभाषणे) उत्तम भाषणवाला होता हुआ **एतां वाचम्**=इस वाणी को **चारु वदतु**=सुन्दरता से ही बोले। इसकी वाणी में कभी भी कटुता का अंश न हो।

भावार्थ—पति-पत्नी ऋत व्यवहारों में ऋत (सत्य) ही बोलते हुए घर को समृद्ध करें। पत्नी पति के प्रति प्रीतिवाली हो। पति मधुरवाणी ही बोले।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सोमवर्चसः गावः

इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ।
शुभं यतीरुस्त्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि॥ ३२॥

१. हे **गावः**=गौवो! **इह इत् असाथ**=तुम इस घर में ही होओ, **परः न गमाथ**=इस घर से दूर न जाओ। तुम **इमम्**=इस गृहपति को **प्रजया वर्धयाथ**=उत्तम सन्तान से बढ़ानेवाली होओ। गोदुग्ध का सेवन 'स्वस्थ शरीर, निर्मल मनवाली व दीप्त मस्तिष्क' सन्तान को प्राप्त कराता है। २. **शुभं यतीः**=उत्तमता से गमन करती हुई (वायुर्येषां सहचारं जुजोष) शुद्ध वायु में चिरागाहों में चरने के लिए जाती हुई **उस्त्रियाः**=ये गौएँ **सोमवर्चसः**=सोम वर्चस्वाली हैं—शान्तियुक्त शक्ति देनेवाली हैं। **इह**=इस संसार में **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब पुरुष **वः मनांसि क्रन्**=तुम्हारे मनों को करें, अर्थात् तुम्हें घरों पर रखने के लिए हृदय से इच्छा करें। सब समझदार लोग यह समझ लें कि गौओं से घर सब प्रकार से समृद्ध बनता है।

भावार्थ—गौएँ सौम्य दुग्ध देती हुई घर की समृद्धि व उत्तम सन्तति का साधन बनती हैं। सब देव इन्हें घरों पर रखने की कामना करते हैं।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'पोषक व धारक' गौ

इमं गावः प्रजया सं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम्।
अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति॥ ३३॥

१. हे **गावः**=गौओ! **इमम्**=इस नव-गृहस्थ को **प्रजया सं विशाथ**=उत्तम सन्तति के हेतु से प्राप्त होओ। **अयम्**=यह **देवानां भागं न मिनाति**=देवों के भाग को हिंसित नहीं करता, अर्थात् देवयज्ञ आदि में प्रमाद न करता हुआ, देवों के लिए उनका भाग देकर बचे हुए यज्ञशेष का ही सेवन करता है। 'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'। इस गौ के द्वारा ही घृतादि प्राप्त कराकर देवयज्ञादि यज्ञ सम्पन्न कराये जाते हैं। **अस्मै**=इस गृहस्थ युवक के लिए **वः**=तुम्हें **पूषा**=पोषक प्रभु **च**=और **सर्वे मरुतः**=सब मरुत् प्राण प्राप्त कराते हैं, अर्थात् तुम्हारे दूध का प्रयोग करता हुआ ही यह अपने शरीर का उचित पोषण कर पाएगा तथा प्राणशक्ति के वर्धन में समर्थ होगा। **अस्मै**=इस गृहस्थ युवक के लिए **वः**=तुम्हें **धाता**=धारण करनेवाला **सविता**=शक्तियों को उत्पन्न करनेवाला प्रभु **सुवाति**=जन्म देता व प्रेरित करता है। प्रभु ने गौओं को वस्तुतः इसीलिए तो बनाया है कि ये इन गृहस्थों को उत्तम सात्त्विक दूध देकर उनका धारण करें और उनके शरीर में शक्तियों को उत्पन्न करें।

भावार्थ—गोदुग्ध का सेवन उत्तम सन्तति को प्राप्त कराता है। यह शरीर का पोषण व धारण करता है, इससे प्राणशक्ति का वर्धन होता है। इसके द्वारा ही हम यज्ञादि को सुचारुरूप से कर पाते हैं।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

'अनृक्षरा ऋजवः' पन्थानाः

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
सं भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा॥ ३४॥

१. कन्या के माता-पिता चाहते हैं कि हमारी कन्या के **पन्थानः**=मार्ग **अनृक्षराः**=कण्टकरहित **ऋजवः**=सरल **सन्तु**=हों, अर्थात् यह पतिगृह में जाकर कण्टकरहित, कुटिलता से शून्य मार्गों से चलनेवाली हो। ये पतिगृह में काँटे बोनेवाली न बन जाए। यह उन मार्गों से चले, **येभिः**=जिनके कारण **सखायः**=उसके पति के मित्र भी **वरेयम्**=हमारी अन्य कन्याओं के वरण के लिए **नः यन्ति**=हमारे समीप प्राप्त होते हैं। २. कन्या पक्षवाले कामना करते हैं कि **धाता**=सबका धारण करनेवाला प्रभु हमारी कन्या को **संसृजतु**=ऐश्वर्यशाली, धन कमाने की योग्यता के साथ संसृष्ट करे। **अर्यम्णा सम्**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं का संयम करनेवाले काम-क्रोध को जीत लेनेवाले युवक के साथ संसृष्ट करे तथा **वर्चसा सम्**=शक्ति के पुञ्ज प्रभु के साथ संसृष्ट करे।

भावार्थ—युवति के माता-पिता की कामना होती है कि हमारी कन्या पतिगृह में इसप्रकार कण्टकशून्य सरल मार्गों से चले कि वर के सभी मित्र हमारी अन्य कन्याओं को प्राप्त करने की कामनावाले हों। हमारी कन्या को 'सौभाग्यसम्पन्न, संयमी, वर्चस्वी' पति प्राप्त हो।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'अक्ष, सुरा, गौ' में स्थित वर्चस्

यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम्।
यद्गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम्॥ ३५॥

१. **यत्**=जो **च**=निश्चय से **वर्चः**=तेज **अक्षेषु**=ज्ञानेन्द्रियों में व ज्ञानों में **आहितम्**=स्थापित हुआ है **च**=और **यत्**=जो तेज **सुरायाम्**=ऐश्वर्य में (आहितम्) स्थापित हुआ है, **यत् वर्चः**=जो तेज **गोषु**=गौ आदि पशुओं में है, हे **अश्विना**=प्राणापानो! **तेन वर्चसा**=उस तेज से **इमाम्**=इस युवति को **अवतम्**=रक्षित करो। यह युवति ब्राह्मणों के ज्ञान से सम्पन्न हो, क्षत्रियों के ऐश्वर्य

से, ईशशक्ति (शासन-शक्ति) से सम्पन्न हो तथा वैश्यों के गौ आदि पशुओं से सम्पन्न हो। ज्ञान-सम्पन्न होकर यह समझदारी से सारा व्यवहार करे। शासन-शक्ति-सम्पन्न होने से घर को सुव्यवस्थित रक्खे तथा गौ आदि पशुओं के द्वारा घर में पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनेवाली हो।

भावार्थ—पत्नी बननेवाली युवति में तीन गुण आवश्यक हैं—ज्ञान, शासन-शक्ति तथा गौ आदि पशुओं से प्रेम (न कि कुत्तों से)। इसके लिए प्राण-साधना सहायक है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राणसाधना द्वारा वर्चस् की प्राप्ति

येन महानघ्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा।

येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम्॥ ३६॥

१. **येन वर्चसा**=जिस वर्चस् से, शक्ति से **महान् अघ्न्या**=महनीय (पूजनीय) व न हन्तव्य गौ का **जघनम्**=जघन प्रदेश (निचला दुग्धाशय प्रदेश) सिक्त होता है, **वा**=अथवा **येन**=जिस वर्चस् से **सुरा**=ऐश्वर्य से सिक्त होता है, **येन**=जिस वर्चस् से **अक्षाः**=ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-**अभ्यषिच्यन्त**=सिक्त होती हैं, **तेन**=उस वर्चस् से हे **अश्विना**=प्राणापानो! **इमाम् अवताम्**=इस युवति को प्रीणित करो। २. एक युवति प्राणसाधना करती हुई उस वर्चस् को प्राप्त करे जो अहन्तव्य गौ के दुग्धाशय को प्राप्त है, जो ऐश्वर्यशाली को प्राप्त है और जो ज्ञानियों को प्राप्त है।

भावार्थ—एक गृहस्थ युवति के लिए प्राणसाधना आवश्यक है। यह प्राणसाधना ही तेजस्विता प्राप्त करानेवाली सर्वोत्तम क्रिया है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अनिध्म अग्नि

यो अनिध्मो दीदयदप्स्व१न्तर्यं विप्रास ईडते अध्वरेषु।

अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्या [वान्॥ ३७॥

१. **यः**=जो **अनिध्मः**=बिना ही इध्मों-(काष्ठों)-वाला होता हुआ भी **अप्सु अन्तः दीदयत्**=सब प्रजाओं के अन्दर दीप्त होता है, **यम्**=जिसको **विप्रासः**=ज्ञानी लोग **अध्वरेषु**=यज्ञों में **ईडते**=पूजते हैं, वह **अपां नपात्**=हमारी शक्तियों को न नष्ट होने देनेवाला प्रभु हमारे लिए **मधुमतीः अपाः दाः**=जीवन को मधुर बनानेवाले रेतःकणों को दें, **याभिः**=जिन रेतःकणों से **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वावृधे**=अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त करता है और **वीर्यवान्**=शक्तिशाली होता है। २. प्रभुरूप अग्नि हम सबके हृदयों में प्रकाशित हो रही है, इस अग्नि के उद्बोधन के लिए काष्ठों की आवश्यकता नहीं होती। ये प्रभु ज्ञानियों से यज्ञों में उपासित होते हैं। उपासित प्रभु हमें वासनाओं से रक्षित करके उन शक्तिकणों से युक्त करते हैं, जो हमारे जीवनों को मधुर व वृद्धिवाला बनाते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखने के लिए यत्नशील हों तथा यज्ञों में प्रवृत्त होकर प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें जितेन्द्रिय बनाकर उन शक्तिकणों से युक्त करेंगे जो हमारे जीवनों को मधुर व वृद्धिवाला बनाएँगे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**पुरोबृहतीत्रिपदापरोष्णिक्**॥

नीरोगता व शुभ व्यवहार

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि। यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि॥ ३८॥

१. **इदम्**=(इदानीम्) अब प्रभु की उपासना के अन्तर **अहम्**=मैं **रुशन्तम्**=नष्ट करनेवाले,

तनूदूषिम्=शरीर को दूषित करनेवाले, **ग्राभम्**=शरीर को पकड़ लेनेवाले (जकड़ लेनेवाले) रोग को **अप ऊहामि**=शरीर से दूर करता हूँ। प्रभु की उपासना रेत:कणों के रक्षण के द्वारा हमें नीरोग बनाती है। २. रोगों को दूर करके **यः भद्रः रोचनः**=जो कल्याण व सुख देनेवाला, जीवन को दीप्त बनानेवाला व्यवहार है, **तम् उदचामि**=उसे उत्कर्षेण प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—हम नीरोग बनकर कल्याण करनेवाले यशस्वी व्यवहारों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

युवति का स्नान व अग्नि परिक्रमा के अनन्तर पतिगृह प्रवेश

आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः।
अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन्प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च॥ ३९॥

१. **आस्यै**=इस युवति के लिए **ब्राह्मणाः**=ज्ञानी पुरुष **स्नपनीः**=स्नान कराने के साधनभूत जलों को **आहरन्तु**=प्राप्त कराएँ, जीवन को शुद्ध बनाने के साधनभूत ज्ञान-जलों को इसके लिए दें तथा इसे **अवीरघ्नीः अपाः उत् अजन्तु**=वीर सन्तानों को न नष्ट होने देनेवाले ज्ञान-जल उत्कर्षेण प्राप्त हों। इसे उत्तम सन्तान के निर्माण के पालन के लिए आवश्यक ज्ञान भी अवश्य प्राप्त कराया जाए। २. **अर्यम्णः अग्निं परि एतु**=(अर्यमा अरीन् यच्छति) शत्रुओं के नियन्ता प्रभु अग्नि की यह परिक्रमा करे। अग्नि जैसे व्रत पर दृढ़ है, इसीप्रकार अपने व्रतों पर दृढ़ रहने की प्रतिज्ञा करे। 'नाधः शिखा याति कदाचिदेव' अग्नि की ज्वाला कभी नीचे नहीं जाती, इसीप्रकार यह युवति भी ऊर्ध्वगति का व्रत ले। ऐसी 'ज्ञान-जल में स्नात', सन्तान के निर्माण व पालन के ज्ञान से युक्त, उत्कृष्ट आचरणवाली युवति की ही **पूषन्**=पोषक पति **श्वशुरः**=श्वसुर भावी पिता **च देवरः**=और पति के छोटे भाई **प्रतीक्षन्ते**=प्रतीक्षा करते हैं, ऐसी कामना करते हैं कि उनके गृह में ऐसी युवति ही आये।

भावार्थ—एक युवति में पत्नी बनने के योग्य योग्यता के लिए आवश्यक है कि वह 'ज्ञान-जल स्नात' हो, सन्तान निर्माण के आनन्दों को समझती हो और उत्तम कुलीन आचरणवाली हो।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पत्नी के आवश्यक गुण

शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म।
शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं सं स्पृशस्व॥ ४०॥

१. हे वधु! **हिरण्यम्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) हितरमणीय ज्ञान का प्रकाश **ते शम्**=तेरे लिए शान्तिकर हो, **उ**=और **आपः** (आपो वै प्राणाः—शत० ३.८.२.४) प्राणशक्तियाँ **शं सन्तु**=शान्तिकर हों। तेरा मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से उज्ज्वल हो तो शरीर शक्ति-सम्पन्न बने। **मेथिः**=समझदारी (Understanding) **शं भवतु**=शान्ति देनेवाली हो, तू घर में समझदारी से वर्तनेवाली हो। **युगस्य**=राग-द्वेषरूप शत्रुओं के जोड़े का **तर्द्म**=हिंसन **शम्**=शान्तिकर हो। राग-द्वेष, काम-क्रोधरूप शत्रुओं का हिंसन करके तू शान्त जीवनवाली हो। 'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' ये राग-द्वेष ही तो शत्रु हैं। **शतपवित्रा**=शतवर्षपर्यन्त जीवन को पवित्र बनानेवाले **आपः**=रेत:कण **ते सं भवन्तु**=तेरे लिए शान्तिकर हों, **उ**=और **शम्**=शान्त जीवनवाली बनकर **पत्या**=पति के साथ **तन्वं संस्पृशस्व**=शरीर से स्पर्शवाली हो। पवित्र शान्तभाव से ही उत्तम सन्तान की उत्पत्ति के लिए तेरा पति से सम्बन्ध हो।

भावार्थ—पत्नी 'ज्ञानज्योति, प्राणशक्ति, समझदारी, काम-क्रोध-विनाश तथा रेतःकणों' से युक्त होकर पवित्र शान्तभाव से पति के साथ सम्पर्कवाली हो।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दोष-निराकरण

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाकृणोः सूर्यत्वचम्॥ ४१॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! **रथस्य खे**=शरीररूप रथ के छिद्र में **अनसः खे**=(अन प्राणने), प्राणमयकोश के छिद्र में—इन्द्रियों के छिद्र में (प्राणाः वाव इन्द्रियाणि) **युगस्य खे**=आत्मा व इन्द्रियों को परस्पर जोड़नेवाले मन के छिद्र में, हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! इस **अपालाम् (अप अलम्)**=दोषों का सुदूर वारण करने के लिए यत्नशील युवति को **त्रिः पूत्वा**=तीन प्रकार से पवित्र करके—शरीर, इन्द्रियों व मन में पवित्र व निर्दोष बनाकर **सूर्यत्वचम् अकृणोः**=आप सूर्यसम दीप्त त्वचावाला बनाते हैं, इसे नितराम तेजस्वी बनाते हैं। २. शरीर, इन्द्रियों व मन के दोषों का निराकरण होने पर जीवन तेजस्वी व पवित्र बनता ही है। शरीर के दोष रोग हैं, इन्द्रियों के दोष विषयसंग हैं तथा मन का दोष राग-द्वेष परिपूर्णता है। प्रभु अपाला के इन सब दोषों को दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे राष्ट्र में युवतियाँ 'शरीर, इन्द्रियों व मन' के दोषों से रहित होकर सूर्यसम दीप्त त्वचावाली हों।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सौमनस्य, प्रजा, सौभाग्य, रयि

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥ ४२॥

१. **सौमनसम्**=उत्तम स्वान्त (मन का), **प्रजां सौभाग्यं रयिम्**=सन्तान, सौभाग्य व सम्पत् को **आशासाना**=चाहती हुई, हे पुत्रवधु! तू **पत्युः अनुव्रता भूत्वा**=पति के अनुकूल व्रतोंवाली होकर **कम्**=सुखपूर्वक **अमृताय**=अमृतत्व के लिए, शतवर्षपर्यन्त जीवन के लिए **सं नह्यस्व**=संनद्ध हो जा।

भावार्थ—पत्नी 'सौमनस, सन्तति, सौभाग्य व सम्पत्' की कामना करती हुई पति के अनुकूल व्रतोंवाली होकर पूरे सौ वर्ष के दीर्घजीवन के लिए कामना करे।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सम्राज्ञी (पत्नी)

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥ ४३॥

यथा=जिस प्रकार **वृषा**=वृष्टि का कारणभूत (समुद्र से जल वाष्पीभूत होकर आकाश में पहुँचते हैं और वहाँ बादलों के रूप में होकर बरसते हैं), **सिन्धु**=समुद्र **नदीनाम् साम्राज्यं सुषुवे**=नदियों के साम्राज्यों को अपने लिए उत्पन्न करता है, **एव**=इसीप्रकार **त्वम्**=हे पुत्रवधु! तू **पत्युः अस्तं परेत्य**=पति के घर में पहुँचकर **सम्राज्ञी ऐधि**=शासन करनेवाली बन। एक युवति पतिगृह में प्राप्त होकर घर की व्यवस्था को समुचित रखने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ले।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र नदियों का सम्राट् है, उसीप्रकार युवतियाँ गृहों का शासन

करनेवाली हों, सम्राज्ञी हों।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—विवाहमन्त्राशिषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

घर की समुचित व्यवस्था

सम्राज्ञ्यैधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुः सम्राज्ञ्यैधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ ४४॥

१. पत्नी को घर में जाकर घर का समुचित प्रबन्ध करना है। उससे कहते हैं कि यहाँ पतिगृह में तू परायापन अनुभव न करना। परायेपन की बात तो दूर रही तू **श्वशुरेषु**=पितृतुल्य बड़े लोगों में **सम्राज्ञी ऐधि**=सम्राज्ञी बन। उनके सब कार्यों की सम्यक् व्यवस्था करनेवाली हो। **उत**=और **देवृषु सम्राज्ञी**=सब देवरों में भी तू सम्राज्ञी हो। उनके सब कार्यों को समुचितरूप से कराती हुई तू उनके रञ्जन का कारण बन। २. **ननान्दुः सम्राज्ञी ऐधि**=ननद की भी तू सम्राज्ञी हो। तू ननद की सब आवश्यकताओं का ध्यान करती हुई उसकी प्रिय बन, **उत**=और **श्वश्र्वाः**=श्वश्रू की भी **सम्राज्ञी**=तू सम्राज्ञी हो। सास को भी अपने उचित व्यवहार से तू महारानी-सी प्रिय लगे।

भावार्थ—पत्नी को चाहिए कि घर में सब व्यवस्थाओं का समुचितरूप से पालन करती-कराती हुई वह बड़े व छोटे सबकी प्रिय बने।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—विवाहमन्त्राशिषः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

घर में काते-बुने गये वस्त्रों का धारण

या अकृन्तन्नवयन्याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः॥ ४५॥

१. हे **आयुष्मति**=दीर्घ जीवन को प्राप्त करानेवाली नववधु! **याः**=जिन साड़ियों को **देवीः अकृन्तन्**=घर की देवियों ने स्वयं काता है और **अवयन्**=बुना है **याः च तत्निरे**=और जिनको घर की देवियों ने ही ताना है तथा **याः**=जिनको इन्होंने **अभितः अन्तान् अददन्त**=दोनों ओर के आँचलों (सिरों) को सिया है, **ताः**=वे साड़ियाँ **त्वा**=तुझे **जरसे संव्ययन्तु**=दीर्घ जीवन के लिए आच्छादित करनेवाली हों। हे आयुष्मति! **इदं वासः परि धत्स्व**=इस वस्त्र को ही धारण कर।

भावार्थ—घर में काते-बुने गये वस्त्रों के धारण की परिपाटी ही उत्तम है। इन वस्त्रों के एक-एक सूत्र में प्रेम का अंश पिरोया हुआ होता है तथा व्यर्थ के फैशन से भी बचाव रहता है।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—विवाहमन्त्राशिषः॥ छन्दः—जगती॥

कन्या को प्रसन्नतापूर्वक पतिगृह में भेजना

जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे॥ ४६॥

१. कन्या को माता-पिता पालते हैं, युवति होने पर उसे पतिगृह में भेजते हैं। उस समय वियोग में रोना कुछ अमंगल-सा हो जाता है, अतः कहते हैं कि **जीवं रुदन्ति**=जो इस जीवित व्यक्ति के लिए ही रोते हैं, वे **अध्वरं विनयन्ति**=इस पवित्र विवाह-यज्ञ को अमंगलयुक्त कर देते हैं। जो **नरः**=अनासक्तिपूर्वक कर्त्तव्य-कर्मों को करनेवाले (न रमते) लोग हैं वे **दीर्घाम् प्रसितिं अनुदीध्युः**=अपनी कन्या को लम्बे प्रकृष्ट बन्धन—पति-पत्नी सम्बन्ध को ध्यान करके दीप्त होते हैं। 'किस प्रकार उनकी कन्या पति के साथ मिलकर अपने गृहस्थ-यज्ञ को अनुकूलता

से चलाएगी' यह सोचकर वे प्रसन्न होते हैं। २. **ये**=जो भी **इदम्**=इस गृहयज्ञ को **सम् ईरिरे**=सम्यक् प्रेरित करते हैं वे **पितृभ्यः वामम्**=माता-पिता बड़ों के लिए सुन्दर कार्य को ही करते हैं। यह **जनये परिष्वजे**=पत्नी का आलिंगन **पतिभ्यः मयः**=पतियों के लिए भी कल्याणकर होता है।

भावार्थ—अपनी कन्या को पतिगृह में भेजने के अवसर पर माता-पिता प्रसन्नता का अनुभव करें। यही कामना करें कि उनकी कन्या पति के साथ दीर्घ बन्धन में बद्ध होकर रहे। यह गृहस्थ-यज्ञ तो माता-पिता के लिए अत्यन्त सुन्दर वस्तु है तथा पति के लिए यह पत्नी का सम्बन्ध कल्याणकर ही है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पाषाणतुल्य दृढ़ शरीर

स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे।
तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु॥ ४७॥

१. हे नववधु! **देव्याः पृथिव्या उपस्थे**=इस दिव्यगुणोंवाली पृथिवी माता की गोद में **ते**=तेरे लिए **स्योनम्**=सुखकर **ध्रुवम्**=स्थिरता से रहनेवाले, रोगों से न हिल जानेवाले **अश्मानम्**=पाषाणतुल्य दृढ़ शरीर को **प्रजायै**=उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए **धारयामि**=धारण करता हूँ। जितना पृथिवी के सम्पर्क में उठना-बैठना होगा उतना ही शरीर स्वस्थ रहेगा। शरीर को पाषाणतुल्य दृढ़ बनाना आवश्यक है। माता का शरीर पूर्ण स्वस्थ होगा तो सन्तान भी उत्तम होगी। २. हे नववधु! तू **अनुमाद्या**=पति की अनुकूलता में हर्ष को प्राप्त करती हुई **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस् बनकर **तं आतिष्ठ**=उस पाषाणतुल्य दृढ़ शरीर में स्थित हो। **सविता**=सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु **ते**=तेरे लिए **आयुः दीर्घं कृणोतु**=दीर्घ जीवन करें।

भावार्थ—पत्नी गृह में पृथिवी की गोद में उठने-बैठनेवाली हो। इसप्रकार उसका शरीर स्वस्थ व दृढ़ होगा, गद्दों व पलंगों पर ही बैठने से नहीं। तब प्रजा भी उत्तम होगी, पति की अनुकूलता में तेजस्विनी होती हुई यह दृढ़ शरीर में निवास करें और प्रभुकृपा से दीर्घ जीवन को प्राप्त करे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

प्रजया च धनेन च

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम्।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च॥ ४८॥

१. राजा पृथिवीपति कहलाता है, मानो यह पृथिवी का दक्षिण हाथ ग्रहण करके उसे अपनी पत्नी बनाता है और उसका सम्यक् रक्षण करता है, उसीप्रकार एक युवक भी युवति के हाथ को ग्रहण करता हुआ कहता है कि **अग्निः**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला राजा **येन**=जिस हेतु से **अस्याः भूम्याः**=भूमि के—प्रजाओं के निवासस्थानभूत पृथिवी के **दक्षिणं हस्तं जग्राह**=दाहिने हाथ को ग्रहण करता है, **तेन**=उसी हेतु से मैं **ते हस्तं गृह्णामि**=तेरे हाथ का ग्रहण करता हूँ। तू **मा व्यथिष्ठाः**=पितृगृह से पृथक् होती हुई किसी भी प्रकार पीड़ित न हो, दुःखी न हो। तू **मया सह**=मेरे साथ **प्रजया च धनेन च**=प्रजा व धन के साथ सम्यक् निवासवाली होगी, उत्तम सन्तति को प्राप्त होगी और तुझे उनके पालन के लिए आवश्यक धन की कमी न रहेगी।

भावार्थ—गृहस्थ युवक का कर्त्तव्य है कि घर में उत्तम सन्तति के पालन-पोषण के लिए

आवश्यक धन की कमी न होने दे।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—विवाहमन्त्राशिषः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

देव, सविता, सोम, राजा

देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु।
अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु॥ ४९॥

१. हे वधु! **देवः**=दिव्यगुणों की प्रकृतिवाला **सविता**=सदा उत्तम प्रेरणाएँ देनेवाला यह युवक **ते**=तेरे **हस्तम्**=हाथ को **गृह्णातु**=ग्रहण करे। **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला व सोमशक्ति का पुञ्ज **राजा**=व्यवस्थित (Regulated) जीवनवाला यह युवा पति तुझे **सुप्रजसं कृणोतु**=उत्तम सन्तानवाला करे। पति देववृत्तिवाला हो, घर में सबको उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त करानेवाला हो। सौम्य स्वभाव व शक्ति का पुञ्ज हो तथा व्यवस्थित जीवनवाला हो। २. **जातवेदाः अग्निः**=वह सर्वज्ञ अग्रणी प्रभु **सुभगां पत्नीम्**=तुझ सौभाग्यशालिनी पत्नी को **पत्ये**=पति के लिए **जरदष्टिं कृणोतु**=पूर्ण अवस्था को प्राप्त करनेवाला, अर्थात् दीर्घजीवनवाला करे। तू दीर्घजीवन को धारण करती हुई पति के लिए गृहस्थ-यज्ञ की पूर्ति में साथी बन।

भावार्थ—पति 'देववृत्ति का, सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाला, सौम्य व व्यवस्थित जीवनवाला हो'। पत्नी सौभाग्यशालिनी व दीर्घजीवनवाली होती हुई पति के लिए इस गृहस्थ-यज्ञ में सहायता करनेवाली हो।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—विवाहमन्त्राशिषः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि, देव

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ ५०॥

१. पति पत्नी से कहता है—मैं **सौभगत्वाय ते हस्तं गृह्णामि**=घर को सुभग-सम्पन्न बनाने के लिए तेरे हाथ का ग्रहण करता हूँ, **यथा**=जिससे **मया पत्या**=मुझ पति के साथ इस घर को सौभाग्य-सम्पन्न बनाती हुई तू **जरदष्टिः असः**=जरावस्था का व्यापन करनेवाली, दीर्घजीवनवाली हो। २. **भगः अर्यमा सविता पुरन्धिः देवाः**=भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि व देवों ने **त्वा**=तुझे **गार्हपत्याय**=गृहपतित्व के लिए—गृह के कार्य को सम्यक् चलाने के लिए **मह्यं अदुः**=मेरे लिए दिया है, अर्थात् तेरे माता-पिता ने यह देखकर कि (क) मैं धन को उचितरूप में कमानेवाला हूँ, (ख) काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करनेवाला हूँ (अरीन् यच्छति), (ग) निर्माणात्मक कार्यों में अभिरुचिवाला हूँ (सविता), (घ) पालक बुद्धि से युक्त हूँ (पुरन्धि), (ङ) उत्तम गुणों को अपनाये हुए हूँ (देवाः)। यह सब देखकर ही उन्होंने तेरे हाथ को मेरे हाथ में दिया है।

भावार्थ—पति को उचित मार्ग से धन कमानेवाला, काम-क्रोधादि का नियमन करनेवाला, निर्माणात्मक प्रवृत्तिवाला, पालक बुद्धियुक्त व देववृत्तिवाला होना चाहिए।

ऋषिः—सावित्री॥ देवता—विवाहमन्त्राशिषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

नव गृहपतिः

भगस्ते हस्तमग्रहीत्सविता हस्तमग्रहीत्। पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥ ५१॥

१. पति पत्नी से कहता है कि **भगः**=उचित मार्ग से ऐश्वर्य को कमानेवाले ने ही **ते हस्तं**

अग्रहीत्=तेरे हाथ का ग्रहण किया है। **सविता**=निर्माणात्मक कर्मों में अभिरुचिवाले ने ही **हस्तं अग्रहीत्**=तेरे हाथ को ग्रहण किया है। २. **पत्नी त्वं असि धर्मणा**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के हेतु से ही तू मेरी पत्नी हुई है। तेरे साथ मिलकर यज्ञादि उत्तम कर्मों को कर पाऊँगा। **अहं त्व गृहपतिः**=मैं तेरे घर का रक्षक होऊँगा। घर तो तेरा ही होगा, तूने ही इसका निर्माण करना होगा। मैं तो रक्षकमात्र ही होऊँगा।

भावार्थ—ऐश्वर्य की कामनावाला तथा निर्माण के कार्यों में रुचिवाला युवक ही एक युवति का हाथ ग्रहण करता है, जिससे उसके साथ वह धर्म के कार्यों को कर सके। पत्नी ने ही घर को बनाना है, पति तो उस निर्मित घर का रक्षक होगा।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ममेयमस्तु पोष्या

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्॥ ५२॥

१. **इयम्**=यह पत्नी **मम पोष्या अस्तु**=मेरी पोषणीय हो। मैं घर में पोषण के लिए आवश्यक वस्तुओं की कमी न होने दूँ। **मह्यम्**=मेरे लिए **त्वा**=तुझे **बृहस्पतिः अदात्**=ब्रह्मणस्पति प्रभु ने प्राप्त कराया है, दिया है। प्रभु की कृपा से ही यह हमारा सम्बन्ध हुआ है। हे **प्रजावति**=उत्तम सन्तानों को जन्मदेनेवाली सुभगे! तू **मया पत्या**=मुझ पति के साथ **शरदः शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **संजीव**=सम्यक् जीनेवाली हो। हम दोनों मिलकर इस गृहस्थयज्ञ को सम्यक् सम्पन्न करें।

भावार्थ—गृहपति यह अपना सर्वाधिक आवश्यक कर्त्तव्य समझे कि घर में पोषण के लिए आवश्यक सामग्री में कमी न हो। पत्नी भी इस सम्बन्ध को प्रभु प्रेरणा से हुआ-हुआ समझती हुई पति के साथ प्रेम से गृहस्थयज्ञ में उत्तम सन्तानोंवाली बने।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

बृहस्पते कवीनाम् प्रशिषा

त्वष्टा वासो व्य ∫ दधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम्।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया॥ ५३॥

१. **त्वष्टा**=देवशिल्पी, उत्तमं गृहनिर्माता ने **बृहस्पतेः**=उस ज्ञानी प्रभु की वेदोपदीष्ट **प्रशिषा**=आज्ञा के अनुसार तथा **कवीनाम्**=ज्ञानियों के **प्रशिषा**=प्रशासन के अनुसार (Architect के निर्देशानुसार) **शुभे**=शोभा की वृद्धि के लिए **कं वासः**=सुखप्रद वासगृह को **व्यदधात्**=बनाया है। २. **तेन**=उस वासगृह के द्वारा, उस घर में सम्यक् निवास के द्वारा **सूर्याम् इव इमां नारीम्**=सूर्या के समान दीप्त इस नारी को **सवितः भगः च**=निर्माणात्मक कार्यों में रुचिवाला यह ऐश्वर्य का विजेता पति **प्रजया परिधत्ताम्**=उत्तम प्रजा के हेतु से धारण करे। घर में सब व्यवस्था ठीक होने से मनःप्रसाद के कारण उत्तम सन्तानों का होना स्वाभाविक है।

भावार्थ—प्रभु द्वारा वेदोपदीष्ट प्रकार से तथा वास्तुकला-निपुण गृहालेखकर्त्ता (Architect) के निर्देशानुसार उत्तम शिल्पी द्वारा घर बनवाया जाए। उसमें प्रेरक व धन के अर्जक (earn) पति के साथ प्रसन्नतापूर्वक रहती हुई यह पत्नी उत्तम प्रजावाली हो।

ऋषिः—सावित्री ॥ देवता—विवाहमन्त्राशिषः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

एक नारी के चौदह रत्न

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु॥ ५४॥

१. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि, अर्थात् जितेन्द्रियता व आगे बढ़ने की भावना, **द्यावापृथिवी**=स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर (मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) **मातरिश्वा**=वायु, अर्थात् शुद्ध वायु का सेवन, **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता (द्वेष-निवारण) की भावना, **भगः**=उत्तम ऐश्वर्य—दरिद्रता का अभाव, **उभा अश्विना**=दोनों प्राण व अपान, **बृहस्पतिः**=(बृहतां पतिः) विशाल हृदयता, संकुचित मनोवृत्ति का न होना, **मरुतः**=मितराविता—बहुत बोलने की प्रवृत्ति का न होना, **ब्रह्म**=ज्ञान **सोमः**=शरीर में सोमशक्ति का **रक्षण**—ये सब **इमां नारीम्**=इस नारी को **प्रजया वर्धयन्तु**=उत्तम सन्तति से बढ़ाएँ। इन्द्र व अग्नि आदि शब्दों से सूचित भाव इस नारी को उत्तम सन्तति प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—सन्तति की उत्तमता के लिए गृहिणी को 'जितेन्द्रियता, प्रगतिशीलता, स्वस्थ मस्तिष्क, स्वस्थ शरीर, शुद्ध वायुसेवन, स्नेह, निर्द्वेषता, उत्तम ऐश्वर्य, प्राणशक्ति, अपानशक्ति, विशाल हृदयता, मितराविता, ज्ञान व सोमशक्ति का शरीर में रक्षण'—इन चौदह रत्नों को अपने जीवन में धारण करना चाहिए।

ऋषिः—सावित्री ॥ देवता—विवाहमन्त्राशिषः ॥ छन्दः—पुरस्ताद्बृहती ॥

केश-प्रसाधन-जनित 'सौन्दर्य'

बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत्।
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि॥ ५५॥

१. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति, ज्ञान के स्वामी **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) शक्तियों के विस्तारवाले प्रभु ने **सूर्यायाः शीर्षे**=सूर्य के समान ज्ञानदीप्त अथवा सूर्य के समान सरणशीला (क्रियाशीला) इस नारी के शीर्षे=सिर पर **केशान् अकल्पयत्**=बालों की रचना की है। हे **अश्विना**=स्त्री व पुरुषो! **इमां नारीम्**=इस नारी को **तेन**=उस केशसमूह से **पत्ये**=पति के लिए **संशोभयामसि**=सम्यक् शोभित करते हैं। बाल स्त्री के सिर की शोभा की वृद्धि के कारण बनते हैं। केशों की ठीक स्थिति स्त्री की शोभा व सौन्दर्य को बढ़ानेवाली होती है।

भावार्थ—स्त्री केशों की सुस्थिति द्वारा अपनी शोभा को बढ़ानेवाली होती है।

ऋषिः—सावित्री ॥ देवता—विवाहमन्त्राशिषः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

गुण-कर्म-स्वभाव को समझकर साथी का चुनाव

इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्।
तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान्विद्वान्वि चचर्त पाशान्॥ ५६॥

१. **योषा**=यह स्त्री **यत् अवस्त**=जो उत्तम वस्त्रों को धारण करती है, **इदं तत् रूपम्**=यह उसका उत्तम रूप है। उत्तम वस्त्रों को धारण करके यह रूपवती हुई है। **मनसा चरन्तीम्**=ज्ञानपूर्वक विचरण करती हुई **जायाम्**=जाया को, पत्नी को मैं **जिज्ञासे**=और अधिक जानना चाहता हूँ। गुण-कर्म-स्वाभावों को समझकर ही जीवनसाथी का चुनना ठीक होता है। केवल वस्त्रजनित सौन्दर्य पर ही मुग्ध होकर साथी का चुनाव नहीं हुआ करता। २. इसप्रकार ठीक चुनाव होने

पर **ताम् अनु**=उसको साथी के रूप में प्राप्त करने के लक्ष्य से **नवग्वैः सखिभिः**=प्रशस्त गतिवाले मित्रों के साथ **अन्वर्तिष्ये**=गतिवाला होऊँगा। इन मित्रों के साथ उस युवति के गृह पर उपस्थित होकर उसे सहधर्मिणि के रूप में स्वीकार करूँगा। **कः विद्वान्**=कोई विरल ज्ञानी पुरुष ही **इमान् पाशान्**=इन प्रेम-बन्धन के पाशों को **विचचर्त**=काटा करता है। सामान्यतः इन प्रेम-बन्धनों से बद्ध होकर सद्गृहस्थ बनना ही मानवोचित मार्ग है।

भावार्थ—वस्त्रों से एक युवति का शरीर शोभावाला होता ही है, परन्तु साथी का चुनाव केवल इस वस्त्रजनित सौन्दर्य के ही कारण न हो। उसके स्वभाव के सौन्दर्य को समझकर ही साथी का चुनाव उचित है। चुनाव ठीक हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए प्रशस्ताचरण मित्रों के साथ उसके घर पर जाना चाहिए। प्रेम-बन्धनों को एकदम काट डालना बहुत प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष के लिए ही सम्भव है। सामान्यतः सद्गृहस्थ बनना ही सत्पथ पर चलना है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पश्यन् वेदत्

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित्पश्यन्मनसः कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्॥ ५७॥

१. **अस्याः रूपम्**=इस युवति के रूप को अपने **मनसः कुलायम् पश्यन्**=मन का घोंसला, मन का आश्रय-स्थान देखता हुआ **वेदत् इत्**=निश्चय से समझता हुआ ही **अहम्**=मैं इसके रूप को **मयि विष्यामि**=अपने हृदय में (विष्यति to complete) पूर्ण करता हूँ, पूर्णरूप से धारण करता हूँ। इसका रूप मेरे मन के लिए आकर्षक हुआ है। उस आकर्षण के परिणामों को भी समझता हुआ मैं इसके रूप को अपने रूप में स्थान देता हूँ। 'मैं केवल हृदय से इसे चाहता हूँ', ऐसी बात नहीं। मस्तिष्क से विचार करके मैं इस सम्बन्ध को स्वीकार कर रहा हूँ। २. आज से **न स्तेयं अद्मि**=कोई भी वस्तु मैं चुपके-चुपके अकेले न खाने का व्रत लेता हूँ। **मनसा उद्मुच्ये**=अलग खाने के विचार को मैं मन से ही छोड़ देता हूँ। इसप्रकार **वरुणस्य पाशान्**=व्रतों के बन्धन के तोड़नेवालों को बाँधनेवाले वरुण के पाशों को स्वयं **श्रथ्नानः**=स्वयं ढीला करनेवाला होता हूँ। मैं अपने को व्रतों के बन्धनों में बाँधकर चलता हूँ और परिणामतः वरुण के पाशों से बद्ध नहीं होता।

भावार्थ—एक युवक युवति के रूप को तो देखता ही है, परन्तु केवल भावुकतावश आकृष्ट न होकर मस्तिष्क से सोचकर सम्बन्ध को स्थापित करता है। इसी कारण यह वरुण के पाशों से जकड़ा नहीं जाता। यह आज से 'अकेले न खाने का' व्रत लेता है। मिलकर खाना परस्पर प्रेम का वर्धक होता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उरुं लोकं, सुगं पन्थाम्

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवाः।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु॥ ५८॥

१. **त्वा**=तुझे **वरुणस्य पाशात्**=श्रेष्ठ प्रभु के उस पाश से **प्रमुञ्चामि**=छुड़ाता हूँ, **येन**=जिस पाश से **त्वा**=तुझे **सुशेवाः**=उत्तम कल्याण करनेवाले **सविता**=इस आनन्ददाता पिता ने **अबध्नात्**=बाँधा हुआ था। पुत्री के प्रति पिता का प्रेम ऐसा होता है कि उसको तोड़ लेना सरल नहीं। प्रभु ने इस प्रेम-बन्धन को पैदा किया है। यौवनावस्था तक पिता इस प्रेम के कारण ही

उसे पालित व पोषित करता है। २. अब यह उसका भावी पति उसे इस बन्धन से छुड़ाकर कहता है कि हे **वधु**=गृहस्थ के बोझ का वहन करनेवाली पत्नि! **अत्र**=यहाँ गृहस्थाश्रम में **सहपत्न्यै**=पति के साथ मिलकर गृहस्थभार का वहन करनेवाली **तुभ्यम्**=तेरे लिए **उरुं लोकम्**=विशाल लोक को, प्रकाश को तथा **सुगं पन्थां कृणोमि**=सुगमता से चलने योग्य मार्ग बनाता हूँ। मैं प्रयत्न करता हूँ कि तुझे समस्याओं का अन्धकार यहाँ न घेर ले और तुझे मार्ग पर बढ़ने पर कठिनता न हो।

भावार्थ—'पति' पत्नी को उसके पितृगृह से पृथक् करता हुआ प्रभु से उत्पादित पितृप्रेम के बन्धन से छुड़ाता है और प्रयत्न करता है कि पतिगृह में उसके सामने समस्याओं का अन्धकार न हो और उसे जीवन-मार्ग में आगे बढ़ने में कठिनता न हो।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गृह का पवित्र वातावरण

उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात।
धाता विपश्चित्पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन्॥ ५९॥

१. घर में सभी को यह कर्त्तव्यरूप से कहा जाता है कि **उद्यच्छध्वम्**=उद्यमवाले होओ, आलस्य को दूर फेंककर कर्त्तव्य-कर्मों में तत्पर होओ। **रक्षः अपहनाथ**=राक्षसीभावों को दूर नष्ट करो। आलस्य में ही राक्षसीभाव जागरित होते हैं। उद्योग से युक्त उत्तम वातावरण में **इमां नारीम्**=इस नारी को भी **सुकृते दधात**=पुण्यकर्म में धारण करो। यह भी इस गृह के उत्तम वातावरण में यज्ञादि पुण्यकर्मों को करनेवाली हो। २. उस **विपश्चित् धाता**=ज्ञानी, धारक प्रभु ने ही **अस्यै पतिं विवेद**=इसके लिए पति को प्राप्त कराया है। वह **भगः**=ऐश्वर्यशाली **राजा**=सबका शासक **प्रजानन्**=सर्वज्ञ प्रभु **पुरः एतु**=इसके आगे प्राप्त हो, इसके लिए मार्गदर्शक हो। यह युवति यही अनुभव करे कि प्रभु ने मुझे इस पति के साथ सम्बन्ध प्राप्त कराया है। प्रभु मेरे लिए मार्गदर्शक होंगे। इस मार्ग पर आक्रमण करती हुई मैं भी ऐश्वर्य-सम्पन्न व दीप्त जीवनवाली बन पाऊँगी (भगः राजा)।

भावार्थ—घर का वातावरण पुरुषार्थवाला होगा तो वहाँ अशुभ वृत्तियाँ होंगी ही नहीं। पवित्र वातावरण में यह युवति भी यज्ञादि पवित्र कर्मों को करनेवाली होगी। वह यही भाव धारण करेगी कि प्रभु ने मेरे लिए यह सम्बन्ध प्राप्त कराया है और प्रभु ही मेरे लिए मार्गदर्शक होंगे। उस मार्ग पर चलती हुई मैं ऐश्वर्य (भग) व दीप्ति (राजा) से सम्पन्न बन पाऊँगी।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

चतुरः पादान् चत्वारि आयुष्पलानि

भगस्ततक्ष चतुरः पादान्भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोऽनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली॥ ६०॥

१. **भगः**=उस भजनीय प्रभु ने हमारे लिए **चतुरः पादान्**=चार 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' रूप गन्तव्य पुरुषार्थों को **ततक्ष**=बनाया है। हमने केवल 'अर्थ-काम' में आसक्त नहीं होना। धर्म व मोक्ष से सुरक्षित अर्थ-काम ही पुरुषार्थ हैं। उनके न रहने पर तो ये व्यर्थ ही हो जाते हैं। धर्मपूर्वक अर्थ व काम होंगे तो ये मोक्ष के साधक बनेंगे। **भगः**=इस भजनीय प्रभु ने **चत्वारि**=चार—स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दानरूप कर्मों को **उष्पलानि**=(उष दाहे, पल रक्षणे) कामाग्नि में दग्ध हो जाने से रक्षण करनेवाला **ततक्ष**=बनाया है। स्वाध्याय, यज्ञ, तप

व दानरूप धर्मों में प्रवृत्त होने पर हम कामाग्नि से दग्ध होने से बचे रहेंगे। २. **त्वष्टा**=वह ज्ञानदीप्त निर्माता (त्विष् तक्ष्) प्रभु **मध्यता**=इस गृहस्थरूप जीवन के माध्यन्दिन सवन में **अनुवर्ध्रान्**=अनुकूल संयम रज्जुओं को **पिपेश**=हमारे लिए निर्मित करता है। यहाँ संयमी जीवनवाले पुरुषों से युक्त गृहस्थ में **सा**=वह नववधू **नः**=हमारे लिए **सुमंगली अस्तु**=उत्तम मंगलों को सिद्ध करनेवाली हो। वासनामय जीवन होने पर पत्नी घर को मंगलमय नहीं बना सकती।

भावार्थ—'प्रभु ने धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' इन चार पुरुषार्थों को हमारे लिए गन्तव्य मार्ग के रूप में नियत किया है। गृहस्थ में कामाग्नि में दग्ध हो जाने से रक्षण के लिए 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' इन सुकृतों का स्थापन किया है। गृहस्थ में भी व्रतरूप संयम-रज्जुओं से हमें बाँधा है। ऐसे घर में पत्नी सुमंगली होती है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गृहस्थ-रथ

सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम्॥ ६१॥

१. हे **सूर्ये**=सविता की पुत्री! सूर्यसम दीप्त जीवनवाली सरणशीले! तू **आरोह**=इस गृहस्थ-रथ पर आरूढ़ हो, जो रथ **सुकिंशुकम्**=उत्तम प्रकाशवाला है, जिसे तूने स्वाध्याय के द्वारा उत्तम प्रकाश से युक्त करना है। **वहतुम्**=जो हमें उद्दिष्ट स्थल की ओर ले-जानेवाला है। **विश्वरूपम्**=जो सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का निरूपण करनेवाला है, चमकता है। यहाँ सबका स्वास्थ्य उत्तम होने से सब चमकते हैं। **सुवृतम्**=यह रथ उत्तम वर्तनवाला है। यहाँ सबकी वृत्ति उत्तम है तथा **सुचक्रम्**=यह रथ उत्तम चक्रवाला है, अर्थात् सब उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हैं। २. हे सूर्ये! **त्वम्**=तू इस **वहतुम्**=रथ को **पतिभ्यः**=सब पतिकुलवालों के लिए **अमृतस्य लोकम्**=नीरोगता का स्थान तथा **स्योनं कृणु**=सुखप्रद कर। तेरे उत्तम व्यवहार व प्रबन्ध से यहाँ सब नीरोग और सुखी रहें।

भावार्थ—गृहपत्नी ने घर में ऐसी व्यवस्था करनी है कि वहाँ सभी स्वाध्यायशील हों, प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले हों, स्वास्थ्य की ज्योति से चमकते हों, उत्तम वृत्तिवाले व उत्तम कर्मोंवाले हों, घर में नीरोगता व सुख हो।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अभ्रातृघ्नी, अपशुघ्नी, अपतिघ्नी, पुत्रिणी

अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते। इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमस्मभ्यं सवितर्वह॥ ६२॥

१. हे **वरुण**=द्वेष का निवारण करनेवाले प्रभो! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अभ्रातृघ्नीम् आवह**=उस पत्नी को प्राप्त कराइए जो द्वेषादि के द्वारा हमारे भाइयों को नष्ट करनेवाली न हो, अपितु जिसके कारण भाइयों का प्रेम परस्पर बढ़े। हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप हमारे लिए ऐसी पत्नी प्राप्त कराइए जो **अपशुघ्नीम्**=घर के गौ आदि पशुओं को नष्ट करनेवाली न हो। उसे गोरक्षण आदि का ज्ञान हो। २. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप उस पत्नी का इस घर में प्रवेश कराइए, जो **अपतिघ्नीम्**=पति को नष्ट करनेवाली न हो। पत्नी जितेन्द्रिय हो। वह वासनामय जीवनवाली होगी तो पति को भोगप्रवण बनाकर क्षीणशक्ति कर डालेगी। हे **सवितः**=सर्वोत्पादक प्रभो! हमें उस पत्नी को प्राप्त कराइए जो **पुत्रिणीम्**=प्रशस्त पुत्रों को जन्म देनेवाली हो। वह गृहस्थ को एक पवित्र सन्तान-निर्माण का आश्रम समझे। इसे

भोगस्थली न जाने।

भावार्थ—एक उत्तम पत्नी वरुण से निर्द्वेषता का पाठ पढ़कर भाइयों के प्रेम को बढ़ानेवाली होती है। बृहस्पतिरूप में प्रभु-स्मरण से स्वयं भी विदूषी बनने का प्रयत्न करती है। इस ज्ञान के द्वारा गवादि पशुओं का भी समुचित रक्षण करती है। जितेन्द्रिय होती हुई पति के विनाश का कारण नहीं होती और सविता के स्मरण से गृहस्थ को पवित्र सन्तान-निर्माण का आश्रम समझती है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शाला का द्वार वधू के लिए स्योन हो

मा हिंसिष्टं कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि।
शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम्॥ ६३॥

१. घर में पुरुष व स्त्री घर के दो स्तम्भों के समान होते हैं, जो घर का धारण करते हैं। हे **स्थूणे**=घर के स्तम्भरूप स्त्री-पुरुषो! आप **देवकृते पथि**=उस महान् देव प्रभु से निश्चित किये गये मार्ग पर चलते हुए, अर्थात् अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्मों को करते हुए **कुमार्यम्**=इस तुम्हारे घर में प्राप्त कुमारी युवति को **मा हिंसिष्ट**=हिंसित मत करो। घर में बड़े स्त्री-पुरुषों का यह कर्त्तव्य होता है कि आई हुई नववधू को किसी प्रकार से पीड़ित न होने दे। वह यहाँ परायापन ही न अनुभव करती रहे। २. घर के सब स्त्री-पुरुष व्रत लें कि हम इस **दैव्याः शालायाः**=दिव्यगुणों से व प्रकाश से युक्त शाला के **द्वारम्**=द्वार को **स्योनम् वधूपथम्**=सुखकर व वधू का मार्ग **कृण्मः**=बनाते हैं, अर्थात् 'यह वधू इस शाला के द्वार में प्रवेश करती हुई सुख ही अनुभव कर', ऐसी व्यवस्था करते हैं।

भावार्थ—घर के सब स्त्री-पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने व्यवहार से नववधू के लिए किसी प्रकार के परायेपन व असुविधा को अनुभव न होने दें।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अनाव्याधा देवपुरा

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज॥ ६४॥

१. नववधू जिस घर में प्रवेश करे वहाँ **अपरम्**=पीछे की ओर **ब्रह्म युज्यताम्**=ब्रह्म का सम्पर्क हो, **पूर्वम्**=सामने की ओर **ब्रह्म**=प्रभु का सम्पर्क हो, **अन्ततः मध्यता**=दोनों सिरों व मध्य में भी **ब्रह्म**=प्रभु का सम्पर्क हो। **सर्वतः ब्रह्म**=सब ओर ब्रह्म का सम्पर्क हो। इस घर में सभी प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। २. हे नववधु! तू **अनाव्याधाम्**=व्याधियों से शून्य **देवपुराम्**=देववृत्ति के लोगों की नगरीरूप इस गृह को **प्रपद्य**=प्राप्त होकर यहाँ **पतिलोके**=पतिलोक में **शिवः**=कल्याणकर कर्मों को करनेवाली व **स्योना**=सुखी जीवनवाली **विराज**=विशिष्टरूप से दीप्त हो।

भावार्थ—नववधू को वह घर प्राप्त हो जहाँ सब प्रभु का स्मरण करनेवाले लोग हों, जिस घर में रोग नहीं, जिस घर में लोग देववृत्ति के हैं। यहाँ यह कर्त्तव्यपरायण सुखी जीवनवाली होवे।

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अग्नि के प्रति कन्या का अर्पण

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह।
स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सूर्याम्**=इस सूर्या को—सूर्यसम दीप्त कन्या को इसके माता-पिता **वहतुना सह**=सम्पूर्ण दहेज के साथ **अग्रे**=पहले **तुभ्यम्**=तेरे लिए **पर्यवहन्**=प्राप्त कराते हैं। माता-पिता को अपनी कन्या को दूसरे घर में भेजते हुए आशंका का होना स्वाभाविक ही है। वे प्रभु से कहते हैं कि हम तो इसे आपको ही सौंप रहे हैं। आपने ऐसी कृपा करनी कि वह ठीक स्थान पर ही जाए। २. हे अग्ने! हमने तो इस कन्या को आपके लिए सौंप दिया है। **सः**=वे आप **नः**=हमारी इस कन्या को **पतिभ्यः**=पतियों के लिए **जायां दाः**=पत्नी के रूप में प्राप्त कराइए। आप इस कन्या को **प्रजया सह**=उत्तम प्रजा के साथ कीजिए। 'अग्नि' शब्द (आचार्य) के लिए भी आता है। कन्या को आचार्य के प्रति सौंपकर माता-पिता आचार्य द्वारा ही उसका सम्बन्ध कराएँ।

भावार्थ—कन्याओं के विवाह-सम्बन्ध आचार्यों के माध्यम से होने पर सम्बन्ध के अनौचित्य की शंका नितान्त कम हो जाती है। यह सम्बन्ध प्रभु-पूजनपूर्वक होना ही ठीक है।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

परस्पर सामनस्य से दीर्घजीवन

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा। दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥ २॥

१. **अग्निः**=आचार्य, जिसके प्रति कन्या के माता-पिता ने कन्या के सम्बन्ध का कार्यभार सौंपा था, **पुनः**=फिर **पत्नीं अदात्**=पत्नी को पति के लिए देता है। वह उस पत्नी को **आयुषा वर्चसा सह**=आयुष्य और वर्चस् के साथ पति के लिए प्राप्त कराता है। इस सम्बन्ध से पत्नी आयुष्य और वर्चस्वाली बनती है। २. **अस्याः यः पतिः**=इस पत्नी का जो पति है वह भी **दीर्घायुः**=दीर्घजीवनवाला होता है और **शतं शरदः जीवाति**=सौ वर्ष तक जीनेवाला होता है। आचार्य पति-पत्नी का ठीक सम्बन्ध कराके दोनों के दीर्घजीवन को सिद्ध करता है।

भावार्थ—पति-पत्नी का सुन्दर सामञ्जस्य होने पर ही दोनों का दीर्घजीवन निर्भर है।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

सोमः, गन्धर्वः, अग्निः, मनुष्यजाः

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ ३॥

१. **प्रथमम्**=सबसे पहले यह युवति **सोमस्य जाया**=सोम की पत्नी होती है। कन्या के माता-पिता सबसे प्रथम यह विचार करते हैं कि पति सौम्यस्वभाव का हो, कटु स्वभाव का न हो। **ते**=तेरा **अपरः पतिः**=दूसरा पति **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला है। 'सौम्यता' यदि पति का प्रथम गुण है तो 'ज्ञान की वाणियों का धारण' उसका दूसरा गुण है। पति का ज्ञानी व ज्ञानरुचिवाला होना आवश्यक है। २. **तृतीयः**=तीसरे स्थान पर **अग्निः**=प्रगतिशील

मनोवृत्तिवाला **ते पतिः**=तेरा पति है। पति में तीसरा गुण यह होना चाहिए कि वह प्रगतिशील हो, जिसमें कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं, उसने क्या उन्नति करनी? **तुरीय**=चौथा **ते पतिः**=तेरा पति वह है जोकि **मनुष्यजाः**=मनुष्य की सन्तान है, अर्थात् जिसमें मानवता है, जो दयालु है, न कि क्रूर।

भावार्थ—पति में क्रमशः 'सौम्यता, ज्ञानरुचिता, प्रगतिशीलता व मानवता' का होना आवश्यक है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सोम+गन्धर्व+अग्नि+मानव' को धन व पुत्रों की प्राप्ति

सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये। र॒यिं च॑ पु॒त्रांश्चा॑दाद॒ग्निर्मह्य॒मथो॑ इ॒माम्॥ ४॥

१. **सोमः**=सोम (सौम्यस्वभाव का व्यक्ति) जिसके लिए कन्या के माता-पिता ने अपनी कन्या देने का निश्चय किया हुआ था, **गन्धर्वाय ददत्**=गन्धर्व के लिए इस कन्या को देनेवाला होता है, अर्थात् सौम्यता के साथ ज्ञानयुक्त पति प्राप्त हो जाता है तो फिर सोम के साथ सम्बन्ध न करके उस गन्धर्व के साथ ही सम्बन्ध किया जाता है। **गन्धर्वः**=ये गन्धर्व (ज्ञानी) भी **अग्नये ददत्**=इस कन्या को अग्नि—प्रगतिशील के लिए देता है, अर्थात् यदि सौम्यता व ज्ञान के साथ प्रगतिशीलता का गुण भी मिल जाए तो वह पति उत्तम होता है। 'सोम' उत् है, 'सोम+गन्धर्व' उत्तर है और 'सोम+गन्धर्व+अग्नि' उत्तम है। यह **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति भी **अथो**=अब, निश्चय से **इमाम्**=इस युवति को **मह्यम्**=मुझ मानव के लिए **अदात्**=देता है और वह अग्नि मेरे लिए **रयिं च पुत्रान् च**=धन और उत्तम सन्तति को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—'सौम्य' पति ठीक है, सौम्य से अधिक उत्कृष्ट (ज्ञानी) है, उससे भी उत्कृष्ट प्रगतिशील स्वभाववाला। इस प्रगतिशील में मानवता और अधिक शोभा को बढ़ा देती है। सोने पर सुहागे का काम करनेवाली होती है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**जगती**॥

'न कामातुर न कृपण' गृहपति

आ वा॑मगन्त्सुम॒तिर्वा॑जिनीवसू न्य᳘श्विना हृ॒त्सु कामा॑ अरंसत।
अभू॑तं गो॒पा मि॑थु॒ना शु॑भस्पती प्रि॒या अ॑र्य॒म्णो दु॒र्याँ॑ अशीमहि॥ ५॥

१. पति-पत्नी अश्विनीदेवों से प्रार्थना करते हैं कि **वाजिनीवसू**=अन्नरूप धनवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों की **सुमतिः**=कल्याणीमति **आ अगन्**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। प्राणापान को 'अन्न-धनवाले' इसीलिए कहा है कि इन्हीं से अन्न का पाचन होता है। वैश्वनर अग्नि (जाठराग्नि) प्राणापान से युक्त होकर सब अन्नों का पाचन करती है। अन्न का ठीक पाचन होकर इस सात्त्विक अन्न से सात्त्विक ही बुद्धि प्राप्त होती है। हे प्राणापानो! आपकी कृपा से **कामाः**=वासनाएँ **हृत्सु**=हृदयों में **नि अरंसत**=पूर्णरूप से नियमित हों। कामवासना का नियमन ही गृहस्थ का सर्वमहान् कर्त्तव्य है। इसके नियमन से सन्तान भी उत्तम होते हैं और पति-पत्नी की शक्ति भी स्थिर रहती है, इसप्रकार इससे नीरोगता व दीर्घजीवन सिद्ध होते हैं। २. हे प्राणापानो! आप **गोपा अभूतम्**=हमारी इन्द्रियों का रक्षण करनेवाले होओ। आप **मिथुना**=द्वन्द्वरूप में मिलकर कार्य करनेवाले होते हुए **शुभस्पती**=सब शुभों के पति होते हो। 'शुभ' का अर्थ (Water) शरीरस्थ रेतःकण भी है। प्राणसाधना के द्वारा शरीर में इनकी ऊर्ध्वगति होकर शरीर में ही रक्षण होता है। ३. पत्नी प्रार्थना करती है कि **प्रियाः**=पतियों की प्रिय होती हुई हम

अथवा प्रियरूपवाली होती हुई हम **अर्यम्णाः**=कामादि को वश में करनेवाले, नियन्त्रित वासनावाले (अरीन् यच्छति) तथा उदार (अर्यमेति तमाहुर्यो ददातीति) पति के **दुर्यान्**=घरों को **अशीमहि**=प्राप्त करें। हमें ऐसा पति प्राप्त हो जो न तो कामातुर हो और न ही कृपण।

भावार्थ—गृहस्थ में प्राणसाधना द्वारा हम 'अन्न के समुचित पाचनवाले, सुमति-सम्पन्न, नियमित वासनावाले, सुरक्षित इन्द्रियोंवाले व ऊर्ध्वरेतस्वाले' बनें। गृहपति न कामातुर हों, न कृपण।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**जगती**॥

सुगं तीर्थं सुप्रपाणं पथिष्ठां स्थाणुम्

सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्य ॒म्।

सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम्॥ ६॥

१. घर में **सा**=वह पत्नी भी **मन्दसाना**=घर के सारे वातावरण में हर्ष पैदा करती हुई **शिवेन मनसा**=शुभ मन से **सर्ववीरम्**=सब वीर सन्तानोंवाले **वचस्यम्**=प्रसंशनीय (न अवद्य) **रयिं धेहि**=धन को धारण करे। पत्नी की प्रसन्नता व मनःप्रसाद घर को उत्तम सन्तानों व उत्तम धनवाला बनाता है। हे **शुभस्पती**=शरीर में (शुभ water=रेतःकण) रेतःकणों के रक्षण के द्वारा सब शुभों का रक्षण करनेवाले पति-पत्नी! आप दोनों **सुगं तीर्थम्**=सुख से जाने योग्य घाटयुक्त जलाशय को, **सुप्रपाणम्**=उत्तम प्याऊ को तथा **पथिष्ठां स्थाणुम्**=मार्ग में स्थित होनेवाले वृक्षों को धारण करो, अर्थात् वापि, कूप, तड़ाग आदि बनानेवाले बनो तथा मार्ग के दोनों ओर वृक्ष लगानेवाले होओ। ये कर्म ही तो 'आपूर्त्त' हैं। **दुर्मतिं अपहतम्**=विषय-वासना में प्रवृत्त करनेवाली दुर्मति को अपने से दूर रक्खो।

भावार्थ—गृह में पत्नी मनःप्रसाद द्वारा उत्तम सन्तान व उत्तम धन का धारण करनेवाली हो। पति-पत्नी घाटों, प्याऊ तथा वृक्षों की स्थापनारूप आपूर्त्त कर्मों को करनेवाले हों। विषय-वासना की ओर झुकाववाली दुर्मति को अपने से दूर रक्खें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगकृमि-भय-निवारण

या ओषधयो या नद्यो ३ यानि क्षेत्राणि या वना।

तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः॥ ७॥

याः ओषधयः=जो ओषधियाँ हैं, **याः नद्यः**=जो नदियाँ हैं **यानि क्षेत्राणि**=जो क्षेत्र (खेत) हैं **या वना**=जो भी वन हैं, हे **वधु**=सन्तान को वहन करनेवाली पत्नि! **ताः**=वे सब **त्वा**=तुझे **पत्ये**=इस पति के हित के लिए, इसके वंश के अविच्छेद के लिए **प्रजावतीम्**=प्रशस्त प्रजा-(सन्तान)-वाला करें। ये सब तुझे **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमियों से **रक्षन्तु**=रक्षित करें।

भावार्थ—घर का सारा वातावरण इसप्रकार का हो कि वहाँ रोगकृमिजनित रोगों का भय न हो। इस स्वस्थ वातावरण में गृहपत्नी उत्तम सन्तान को जन्म देती हुई पति के वंश के अविच्छेद का कारण बने।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सुगं स्वस्तिवाहन' पन्था

एमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम्। यस्मिन्वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु॥ ८॥

इमम्=इस **सुगम्**=शुभ की ओर ले-जानेवाले **स्वस्तिवाहनम्**=कल्याण प्राप्त करानेवाले **पन्थाम् आ अरुक्षाम**=मार्ग पर ही आरोहण करें। हम सदा शुभ मार्ग पर ही चलें, उस मार्ग पर चलें, जिसपर चलता हुआ **वीरः न रिष्यति**=वीरपुरुष हिंसित नहीं होता तथा **अन्येषाम्**=विलक्षण पुरुषों (Extra-ordinary) के **वसु विन्दते**=धन को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम उत्तम मार्ग पर चलते हुए वीर बनें, रोगादि से हिंसित न हों तथा विशिष्ट धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**षट्पदाविराडत्यष्टिः**॥

गन्धर्वः व देवीः अप्सरसः

इदं सु मे नरः श‍ृणुत ययाशिषा दंपती वाममश्नुतः।
ये गन्धर्वा अप्सरसश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तस्थुः।
स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम्॥ ९॥

१. हे **नरः**=मनुष्यो! **मे**=मेरे **इदम्**=इस वचन को **सुशृणत**=सम्यक् श्रवण करो। इस वचन में उस आशीर्वाद का प्रतिपादन है, **यया आशिषा**=जिस आशीर्वाद से **दम्पती**=पति-पत्नी **वामम्**=सुन्दर गृहस्थ-जीवन को **अश्नुतः**=व्याप्त करनेवाले होते हैं। **ये गन्धर्वाः**=जो ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले ज्ञानी पुरुष हैं **च**=और **देवीः अप्सरसः**=दिव्य व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली (अप्+सर) क्रियाशील देवियाँ हैं, **ये**=जो **एषु वानस्पत्येषु**=इन वनस्पतिजनित पदार्थों पर ही **अधितस्थुः**=स्थित होते हैं, अर्थात् जो कभी भी मांसाहार की ओर नहीं झुकते **ते**=वे **अस्यै वध्वै**=इस वधू के लिए **स्योनाः भवन्तु**=सुख देनेवाले हों। नवदम्पती के लिए इससे उत्तम आशीर्वाद और क्या हो सकता है कि उनके सास-श्वसुर ज्ञान की हविवाले व क्रियाशील जीवनवाले हों। ये वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करनेवाले हों। इसप्रकार 'सास-श्वसुर' कभी भी कटुता को उत्पन्न नहीं होने देते। २. उल्लिखित 'गन्धर्व और देवी' अप्सराएँ **उह्यमानम्**=युवक व युवति से धारण किये जाते हुए इस गृहस्थ को **मा हिंसिषुः**=हिंसित न होने दें। उनका व्यवहार वधू को उत्साहित करनेवाला हो। उत्साहयुक्त हृदयवाली वधू ही गृहस्थ-रथ का सम्यक् वहन कर पाएगी।

भावार्थ—जिस युवक और युवति को उत्तम सास-श्वसुर प्राप्त होते हैं, वे उत्साहमय जीवनवाले होते हुए गृहस्थ-रथ का सम्यक् वहन कर पाते हैं। श्वसुर ज्ञानरुचिवाला हो, सास यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हो। दोनों ही मांसभोजन से दूर रहें। इससे बढ़कर वधू का सौभाग्य नहीं। इन 'गन्धर्वों व अप्सराओं' को पाकर युवतियाँ गृहस्थ का सम्यक् वहन कर पाती हैं।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगनिवारण

ये वध्व१श्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनु।
पुनस्तान्यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः॥ १०॥

१. **ये यक्ष्मा**=जो रोग **जनान् अनु**=मनुष्यों को प्राप्त होने के पश्चात् **वध्वः चन्द्रं वहतुम्**=वधू के आह्लादमय, सुन्दर शरीर-रथ को भी **यन्ति**=प्राप्त होते हैं, **तान्**=उन रोगों को **यज्ञियाः देवाः**=आदरणीय विद्वान् पुरुष **पुनः**=फिर वहाँ **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ, **यतः आगताः**=जहाँ से किये आये थे। २. पुरुष का जीवन कुछ भी भोगप्रधान हुआ तो शरीर में 'यक्ष्मा' का प्रवेश हो जाता है। पुरुष से यह रोग वधू को भी प्राप्त हो जाता है। आदरणीय विद्वान् अतिथियों का

यह कर्त्तव्य होता है कि जिस कारण से ये रोग उत्पन्न होते हैं उनका ठीक से ज्ञान देकर उन कारणों को दूर करने के लिए प्रेरित करें। मुख्य बात यही है कि पति-पत्नी का जीवन भोगप्रधान न हो जाए।

भावार्थ—मनुष्य भोगप्रवण होते ही रोगों को आमन्त्रित करता है। ये रोग पत्नी को भी प्राप्त हो जाते हैं। घर में अतिथिरूपेण आने-जानेवाले विद्वानों का कर्त्तव्य होता है कि वे रोग-कारणों का ज्ञान देकर रोगों को दूर करने में सहायक हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चोर आदि के भय का अभाव

मा विदन्परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः॥ ११॥

१. **ये परिपन्थिनः**=जो भी चोरादि विरोधी व्यक्ति—रास्ते में लूट लेनेवाले व्यक्ति **आसीदन्ति**=इधर-उधर छिपकर बैठे होते हैं, वे इन **दम्पती**=पति-पत्नी को **मा विदन्**=प्राप्त न हों। २. हम सब बराती, बरात के लोग **दुर्गम्**=कठिनता से गन्तव्य प्रदेशों को भी **सुगेन अतिताम्**=सुगमता से लाँघ जाएँ। **अरातयः अपद्रान्तु**=शत्रु सुदूर नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—बारात के मार्ग में किसी प्रकार का भय न हो। चोरादि के विघ्नों से बचकर हम दुर्गम स्थलों को भी निर्विघ्नता से पार कर सकें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**जगती**॥

वहतु (a marriage)

सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत्कृणोतु॥ १२॥

१. पति कहता है कि मैं **वहतुम्**=इस गृहस्थ-(विवाहित)-जीवन को **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **गृहैः**=उत्तम गृह से (गृहाः पुंसि च भूम्न्येव) **अघोरेण मित्रियेण चक्षुसा**=क्रोध के लव से शून्य स्नेहभरी दृष्टि से **संकाशयामि**=प्रकाशमय करता हूँ। विवाह व विवाहित जीवन तभी उत्तम होता है जब पति-पत्नी ज्ञानदीप्तिवाले हों, उनके पास रहने के लिए उत्तम गृह हो तथा परस्पर क्रोधशून्य, प्रेमभरी दृष्टि से देखनेवाले हों। २. **सविता**=वह सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु **पतिभ्यः**=पतियों के लिए **तत् स्योनं कृणोतु**=उस घर को बड़ा सुखद बनाएँ, **यत्**=जो घर **पर्याणद्धम्**=चारों ओर से सब प्रकार से बद्ध है, सुनियन्त्रित है तथा **विश्वरूपं असि**=उस सर्वव्यापक प्रभु के गुणों का निरूपण करनेवाला—प्रभु-स्तवन करनेवाला है, अर्थात् कल्याणकर घर वही होता है जिसमें सबका जीवन सुव्यवस्थित, प्रतिबद्ध है तथा जहाँ प्रातः-सायं सब घरवाले मिलकर प्रभु-स्तवन करते हैं।

भावार्थ—विवाहित जीवन के सुखी होने के लिए आवश्यक है कि (क) हम ज्ञान की रुचिवाले हों। (ख) निवास के लिए उत्तम गृह हो। (ग) परस्पर प्रेमपूर्ण दृष्टि से सब देखें। (घ) जीवन व्रतबन्ध व नियमबद्ध हों। (ङ) सब मिलकर प्रातः-सायं प्रभु का उपस्थान करते हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शिवा नारी

शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश।
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु॥ १३॥

१. **इयम्**=यह **शिवा**=कल्याण करनेवाली **नारी**=गृहपत्नी **अस्तम् आगात्**=इस घर में आई है, **धाता**=उस सर्वाधार प्रभु ने **अस्यै**=इसके लिए **इमं लोकं दिदेश**=इस स्थान को निर्दिष्ट किया है अथवा प्रकाश को प्राप्त कराया है। प्रभु की व्यवस्था से ही एक युवति को एक नये घर के निर्माण के लिए प्रेरणा प्राप्त होती है। २. **ताम्**=इस नारी को **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन **भगः**=संसार-यात्रा का साधनभूत मननीय ऐश्वर्य **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापान—प्राण साधना द्वारा प्राणापान की शक्ति का वर्धन तथा **प्रजापतिः**=सन्तान के रक्षण की भावना **प्रजया वर्धयन्तु**=उत्तम सन्तान के द्वारा बढ़ाएँ। 'अर्यमा' आदि देव नामों से सूचित भावनाएँ ही हमें उत्तम सन्तान को प्राप्त करानेवाली होंगी।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था से एक युवति एक नवगृहनिर्माण के लिए घर में आती है। इसके व्यवहार पर ही घर का कल्याण निर्भर है। घर में उत्तम सन्तानों का जन्म तभी होता है जब पति-पत्नी काम-क्रोधादि का नियमन करें, आवश्यक ऐश्वर्यों का सम्पादन करें, प्राणसाधना द्वारा प्राणापान को पुष्ट करें तथा सन्तान के संरक्षण की भावनावाले हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'आत्मन्वती उर्वरा' नारी

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन्तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्।
सा वः प्रजां जनयद्वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः॥ १४॥

१. **आत्मन्वती**=प्रशस्त अन्तःकरणवाली, आत्मिक बल से युक्त **उर्वरा**=उत्तम सन्तान को जन्म देने में समर्थ **इयं नारी आगन्**=यह नारी गृहपत्नी के रूप में इस घर में आई है। हे **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्यो! विषयों में आसक्त न होनेवाले पुरुषो (न रमते)! **तस्याम्**=ऐसी 'आत्मन्वती उर्वरा' नारी में **बीजं वपत**=सन्तानोत्पादनक्षम वीर्य का वपन करो। २. **सा**=वह नारी **ऋषभस्य**=शक्तिशाली पुरुष के **दुग्धं रेतः**=दोहन किये गये रेतस को, वीर्य को **बिभ्रती**=धारण करती हुई **वः**=तुम्हारे लिए **वक्षणाभ्यः प्रजां जनयत्**=अपनी कोखों (वक्षणा sides, flank) से उत्तम सन्तान को जन्म दे। मनु का यह वाक्य मन्त्रांश को सुव्यक्त कर रहा है, 'क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्। क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम्॥' (९.३३)। नारी क्षेत्र है, पुमान् बीज है। क्षेत्रबीज के योग से ही सब देहियों का जन्म होता है।

भावार्थ—स्त्री प्रशस्त मनवाली व सन्तानोत्पादन में समर्थ हो। वह शक्तिशाली पुरुष के वीर्य को धारण करती हुई उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

सरस्वती सिनीवाली

प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत्॥ १५॥

१. हे **सरस्वति**=ज्ञानजल को धारण करनेवाली गृहपत्नि! तू **इह प्रतितिष्ठ**=इस गृह में प्रतिष्ठित हो, तू सबसे मान प्राप्त कर। **विराट् असि**=तू विशिष्ट ही दीप्तिवाली है—तेरी शोभा निराली है। तू **विष्णुः इव**=देदीप्यमान सूर्य की भाँति है (आदित्यानामहं विष्णुः)। २. हे **सिनीवालि**=प्रशस्त अन्नोंवाली—सदा सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाली गृहपत्नि! तेरी सुव्यवस्था से यह गृहपति **प्रजायताम्**=सन्तान के रूप में जन्म लेनेवाला हो (तद्धि जायाया जायात्वं यदस्यां

जायते पुनः।) इसका पति **भगस्य**=ऐश्वर्यशाली भजनीय प्रभु की **सुमतौ असत्**=कल्याणी मति में सदा निवास करे। प्रभु-प्रेरणा को प्राप्त करता हुआ, सुपथ से धर्नाजन करनेवाला हो।

भावार्थ—घर में गृहपत्नी का समुचित मान हो। वह घर में सूर्य की भाँति दीप्त हो। प्रशस्त अन्नों का सेवन करनेवाली हो, उत्तम सन्तान को जन्म दे। इसका गृहपति भी प्रभु-प्रेरणा को सुनता हुआ सुपथ से धर्नाजन करनेवाला हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अदुष्कृत् व्येनस् अघ्न्या

उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।

मादुंष्कृतौ व्ये॑नसावघ्न्यावशुनमारताम्॥ १६॥

१. हे मनुष्यो! **वः**=तुम्हारा **ऊर्मिः**=ऊपर ऊठने का उत्साह **उत्**=ऊपर और ऊपर **हन्तु**=गतिवाला हो, उन्नति के लिए उत्साह बढ़ता ही चले। **शम्याः**=शान्तगुणों से युक्त पुरुष **हन्तु**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले हों। **आपः**=हे प्रजाओ! **योक्त्राणि**=(योजयते to censer) निन्दित कर्मों को **मुञ्चत**=छोड़ दो। २. हे स्त्रि-पुरुषो! आप **अदुष्कृतौ**=दुष्ट कर्मों से रहित हुए-हुए **विएनसौ**=विगत पापोंवाले—नष्ट पापोंवाले **अघ्न्यौ**=हिंसा से ऊपर उठे हुए होकर **अशुनम्**=दुःख को **मा आरताम्**=सर्वथा प्राप्त मत हो।

भावार्थ—गृहस्थ में मनुष्य उत्साह-सम्पन्न बनें। शान्तभाव से कर्म करते हुए बुराइयों को नष्ट करें। निन्दित कर्मों को छोड़ दें। दुष्कृत से दूर होते हुए निष्पाप बनकर अहिंसा धर्म का पालन करते हुए सुखी हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अघोरचक्षुः

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।

वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना॥ १७॥

१. हे नववधु! तू **अघोरचक्षुः**=आँख में क्रूरतावाली न होकर प्रिय, सौम्य दृष्टिवाली होना। **अपतिघ्नी**=किसी भी प्रकार पति के कष्टों का कारण बनकर पति के आयुष्य को नष्ट करनेवाली न होना। **स्योना**=सुख देनेवाली होना, **शग्मा**=निरन्तर उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होना। **गृहेभ्यः**=घर में रहनेवालों के लिए **सुशेवा**=उत्तम सेवावाली तथा **सुयमा**=उत्तम नियन्त्रणवाली बनना। २. **वीरसूः**=वीर सन्तानों को जन्म देनेवाली हो, **देवृकामा**=पति के छोटे भाइयों के साथ भी मधुर, प्रीतियुक्त व्यवहारवाली होना। इसप्रकार तू सदा **सुमनस्यमाना**=सौमनस्यवाली होना—सदा प्रसन्नचित्त रहना, मनःप्रसाद को अपनाना। ऐसी जो तू है, उस **त्वया**=तेरे साथ **सम्एधिषीमहि**=हम सम्यक् वृद्धि को प्राप्त करें।

भावार्थ—पत्नी सदा प्रसन्नचित्त, कार्यव्यस्त, पति के दीर्घायु का कारण, सेवा की वृत्तिवाली व गृह को व्यवस्था में रखनेवाली हो। पति व घर के अन्य सब व्यक्ति इसके व्यवहार से प्रसन्न हों और घर में फूलें-फलें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गार्हस्थ अग्नि की सपर्य

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।

प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥ १८॥

१. हे वधु! तू **इह**=इस घर में **अदेवृघ्नी अपतिघ्नी ऐधि**=देवरों व पति को नष्ट करनेवाली न होती हुई फूल-फल, अर्थात् तेरा व्यवहार भाइयों में कटुता पैदा न कर दे। परस्पर झगड़ते हुए वे अपने आयुष्य को कम न कर बैठें। **पशुभ्यः शिवा**=तू घर के गवादि पशुओं के लिए भी कल्याण करनेवाली होना—उन सबका भी पूरा ध्यान करना। **सुयमा सुवर्चाः**=तू उत्तम संयमवाली और परिणामतः उत्तम वर्चस्वाली बनना। २. संयम व सुवर्चस् जीवनवाली तू **प्रजावती**=उत्तम सन्तानवाली, **वीरसूः**=वीरों को ही जन्म देनेवाली बनना। 'कोई भी सन्तान निर्बल न हो', इस बात का पूरा ध्यान रखना। **देवृकामा**=पति के भाइयों के साथ भी मधुर व्यवहारवाली और इसप्रकार **स्योना**=घर में सुख को बढ़ानेवाली बनना। घर में सुख की वृद्धि के हेतु से ही तूने **इमं गार्हपत्यं अग्निं सपर्य**=इस गार्हपत्य अग्नि का पूजन करना—भोजन के परिपाक आदि की व्यवस्था का पूरा ध्यान करना।

भावार्थ—गृहपत्नी घर में कलह का कारण न बने, गवादि पशुओं का भी ध्यान करे। संयत जीवनवाली व वर्चस्विनी हो। उत्तम सन्तान को जन्म देती हुई घर में सुख-वृद्धि का कारण बने। भोजन के परिपाक को 'गार्हपत्य अग्नि में यज्ञ' रूप समझे। इस यज्ञ को सम्यक् करती हुई सबके स्वास्थ्य को सिद्ध करे।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अलक्ष्मी का निर्वासन

उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात्।
शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्था॥ १९॥

१. हे **निर्ऋते**=अलक्ष्मि! तू **इतः उत्तिष्ठ**=यहाँ से खड़ी हो। **किं इच्छन्ति इदं आ अगाः**=क्या चाहती हुई तू इस घर में आई है। **अहं त्वा ईडे**=मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि तू चुपके-से चली जा। **अभिभूः स्वात् गृहात्**=मैं अपने घर से तेरा पराभव करनेवाला हूँ। तुझे इस घर से अवश्य बहिष्कृत करूँगा। २. **शून्यैषी**=घर को सूना करना चाहती हुई **या**=जो तू **आजगन्थ**=यहाँ आई है, वह तू **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ी हो। हे **अराते**=अदान की वृत्ति, कृपणते! **प्रपत**=यहाँ से भाग जा। **इह मा रंस्था**=यहाँ तू रमण करनेवाली न हो।

भावार्थ—पति-पत्नी यह दृढ़ निश्चय करें कि उनके घर में अलक्ष्मी व अराति (अदानवृत्ति) का निवास नहीं होगा।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती**॥

देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ

यदा गार्हपत्यमसपर्यैत्पूर्वमग्निं वधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु॥ २०॥

१. **यदा**=जब **इयं वधूः**=यह वधू **पूर्वम्**=पहले **गार्हपत्यं अग्निं असपर्यैत्**=गार्हपत्य अग्नि का पूजन करती है, **अधा**=अब हे **नारि**=गृहपत्नि! तू **सरस्वत्यै**=सरस्वती के लिए—ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी के लिए **च**=तथा **पितृभ्यः**=पितरों के लिए **नमस्कुरु**=नमस्कार कर। २. गार्हपत्य अग्नि का पूजन यही है कि नैत्यिक अग्निहोत्र अवश्य किया जाए तथा घर में भोजनादि की सुव्यवस्था को सुव्यवस्थित रक्खा जाए, यही देवयज्ञ है। इसके साथ गृहपत्नी का यह भी आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह स्वाध्याय करे, यही सरस्वतीपूजन व ब्रह्मयज्ञ है। स्वाध्यायानन्तर बड़ों के चरणों में प्रणाम किया जाए, यह बड़ों को आदर देना ही पितृयज्ञ है।

भावार्थ—एक वधू घर में 'देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ व पितृयज्ञ' को अवश्य सम्पादित करनेवाली हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शर्म-वर्म

शर्म वर्मैतदा हरास्यै नार्या उपस्तिरे। सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत्॥ २१॥

१. हे प्रभो! आप **अस्यै नार्यै**=इस नारी के लिए **उपस्तिरे**=ओढ़ने के लिए **एतत्**=इस **शर्म वर्म**=सुखदायक कवचरूप गतमन्त्र में वर्णित 'देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ व पितृयज्ञ' को **आहर**=प्राप्त कराइए। ये यज्ञ इस नारी के लिए सुखप्रद कवच हों। इनसे आवृत हुई-हुई यह 'रोग, वासना व अल्पायुष्य' आदि से आक्रान्त न हो। २. हे **सिनीवालि**=प्रशस्त अन्नोंवाली नारि! तेरे द्वारा तेरा पति **प्रजायताम्**=उत्तम सन्तानोंवाला हो तथा घर की सुव्यवस्था के कारण शान्त मस्तिष्कवाला होता हुआ **भगस्य सुमतौ असत्**=ऐश्वर्य के पुञ्ज भजनीय प्रभु की कल्याणीमति में हो, अर्थात् प्रभु के निर्देशों के अनुसार यह जीवन का यापन करनेवाला बने।

भावार्थ—एक गृहपत्नी के लिए 'देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ व पितृयज्ञ' सुखदायक कवच के रूप में हों। इस कवच को धारण करके यह 'रोगों, वासनाओं व अल्पायुष्य' का शिकार न हो। इसकी सुव्यवस्था के द्वारा इसका शान्त मस्तिष्क पति उत्तम सन्तानोंवाला व प्रभु की प्रेरणा में चलनेवाला हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'मृगचर्म पर तृणासन बिछा' उसपर बैठकर अग्निहोत्र करना

यं बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन।
तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम्॥ २२॥
उप स्तृणीहि बल्बजमधि चर्मणि रोहिते। तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु॥ २३॥

१. **चर्म च उपस्तृणीथन**=जो तुम मृगचर्म बिछाते हो और उसपर **यम्**=जिस **बल्बजम्**=तृणासन को **न्यस्यथ**=स्थापित करते हो, **तत्**=उस आसन पर **सुप्रजाः**=यह उत्तम प्रजा को जन्म देनेवाली **कन्या**=कन्या **या पतिं विन्दते**=जो अभी-अभी पति को प्राप्त करती है, **आरोहतु**=आरोहण करे। इस आसन पर वह उपविष्ट हो। २. हे पुरुष! तू **रोहिते चर्मणि अधि**=रोहित मृग के चर्म (मृगचर्म) पर **बल्बजम् उपस्तृणीहि**=इस तृणासन को बिछा दे। **तत्र**=उस आसन पर **उपविश्य**=बैठकर **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजा को जन्म देनेवाली यह कन्या **इमम् अग्निं सर्पयतु**=इस अग्नि का पूजन करे। घर में अग्निहोत्र करना आवश्यक है। यह घर के रोगकृमियों को नष्ट करके स्वास्थ्य का साधक होता है।

भावार्थ—गृहपत्नी मृगचर्म पर तृणासन बिछाकर, उसपर बैठे। वहाँ स्थिरतापूर्वक सुख से बैठकर प्रतिदिन अग्निहोत्र अवश्य करे। यह अग्निहोत्र घर की नीरोगता का साधक है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरानुष्टुप्त्रिष्टुप्**॥

अग्निहोत्र से रोगकृमि-विनाश

आ रोह चर्मोप सीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा।
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत्पुत्रस्त एषः॥ २४॥

१. हे गृहपत्नि! तू **चर्म आरोह**=इस मृगचर्म के आसन पर आरोहण कर। **अग्निं उपसीद**=इसपर बैठकर तू अग्नि की उपासना कर। प्रभु-स्मरणपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाली बन। **एषः देवः**=यह रोगों को पराजित करने की भावनावाला (दिव् विजिगीषायाम्) अग्निदेव **सर्वा रक्षांसि हन्ति**=

सब रोगकृमियों का निवारण कर डालता है। २. **इह**=इस रोगशून्यगृह में **अस्मै पत्यै**=इस पति के लिए—इस पति के वंश के अविच्छेद के लिए **प्रजां जनय**=सन्तानों को जन्म देनेवाली हो। **एषः ते पुत्रः**=यह तेरा पुत्र **सुज्यैष्ठ्यः भवत्**=उत्तम ज्यैष्ठतावाला हो (शोभनं ज्यैष्ठ्यम्) यह ज्ञान, बल व धन की दृष्टि से आगे बढ़ा हुआ हो।

भावार्थ—गृहपत्नी घर में नियमितरूप से अग्निहोत्र करती हुई घर को रोगकृमिरहित बनाए। वहाँ पर उत्तम सन्तान को जन्म दे। वह सन्तान 'ज्ञान, बल व धन' की दृष्टि से अच्छी प्रकार से बढ़नेवाला हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरानुष्टुप्त्रिष्टुप्**॥

श्रीर्वै पशवः

वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।
सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान्॥ २५॥

१. यहाँ घर में **अस्याः मातुः उपस्थात्**=इस भूमिमाता की गोद से **जायमानाः**=प्रादुर्भूत होते हुए **नानारूपाः पशवः**=विविधरूपोंवाले पशु **वितिष्ठन्ताम्**=विशेषरूप से स्थित हों। 'स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शं अर्वते', इस मन्त्र के अनुसार घर में गौ हो तथा घर में घोड़े का भी स्थान हो। गौ सात्त्विक दूध के द्वारा हमारे शरीर-पोषण के साथ हमारी बुद्धि का भी वर्धन करती है तथा घोड़ा व्यायाम का साधन बनकर शक्तिवर्धन का हेतु बनता है। घर में पुरुष के एक ओर गौ और घोड़े का स्थान है तो दूसरी ओर अजा (बकरी) और अवि (भेड़) का। घर में इन पशुओं के होने पर 'श्री, यश व शान्ति' बनी रहती है। विवाह-संस्कार पर वर वधू से प्रारम्भ में ही कहता है कि 'शिवा पशुभ्यः' तूने घर में इन पशुओं का भी कल्याण करनेवाली बनना। इसे 'बलिवैश्वदेवयज्ञ' समझना। २. इसप्रकार **सुमंगली**=उत्तम मंगल करनेवाली **इमं अग्निं उपसीद्**=इस अग्नि का उपासन कर—प्रभु-स्मरणपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाली बन। देवयज्ञ द्वारा तू घर को स्वस्थ व दिव्यगुणसम्पन्न बनानेवाली हो और **संपत्नी**=सदा पति का साथ देनेवाली, पति के साथ निवास करनेवाली तू **इह**=इस घर में **देवान् प्रति भूष**=(भूष् to spread) विद्वान् अतिथियों का लक्ष्य करके आसन को बिछानेवाली हो, अर्थात् अतिथियज्ञ को सम्यक् सम्पन्न करनेवाली बन। घर में आये-गये का यथोचित्त सत्कार आवश्यक ही है।

भावार्थ—घर की श्री, यश व शर्म का साधन बननेवाले, 'गौ, अश्व, अजा, अवि' रूप पशुओं का भी गृहपत्नी ध्यान करे। अग्निहोत्र को नियम से करे, अतिथियज्ञ को भी उपेक्षित न करे।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराण्नामगायत्री, अनुष्टुप्**॥

सुमंगली-स्योना

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः॥
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान्विशेमान्॥ २६॥
स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ २७॥

१. हे नववधु! **सुमंगली**=घर का उत्तम मंगल साधनेवाली, **गृहाणां प्रतरणी**=घरों को दुःख से पार लगानेवाली **पत्ये सुशेवा**=पति के लिए उत्तम सुख देनेवाली **श्वशुराय शंभूः**=श्वसुर के लिए शान्ति प्राप्त करानेवाली तथा **श्वश्र्वै स्योना**=सास के लिए भी सुख देनेवाली तू **इमान्**

गृहान् प्रविश=इन घरों में प्रवेश कर। २. **श्वशुरेभ्यः**=घर में श्वसुर-तुल्य बड़ों के लिए तू **स्योना भव**=सुख देनेवाली हो। **पत्ये गृहेभ्यः**=पति के लिए तथा पति की माता के लिए **स्योना**=सुख देनेवाली हो। **अस्यै सर्वस्यै विशे**=घर में स्थित इस सारी प्रजा के लिए—पति के भाइयों के लिए व उनकी सन्तानों के लिए **स्योना**=तू सुख ही देनेवाली हो। **स्योना**=सुख देनेवाली होती हुई **एषां पुष्टाय भव**=इन सबके पोषण के लिए हो। गृह में कलह सबके अकल्याण व कष्टों का कारण बनती है। यह गृहपत्नी सभी के लिए सुखकर होती हुई सबके कल्याण का ही कारण बने।

भावार्थ—गृहपत्नी ने घर में सबके मंगल व सुख को साधनेवाली बनना है। उसके कारण घर में कलह उत्पन्न न हो और सबका समुचित पोषण हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सौभाग्य के लिए आशीर्वाद

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन॥ २८॥

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि। वर्चो न्व१स्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन॥ २९॥

१. जब बारात लौटती है तब नववधू को देखने के लिए सभी पड़ोसी बन्धु उपस्थित होते हैं। उस समय वर प्रार्थना करता है कि हे सज्जनो व बन्धुओ! **इयं वधूः सुमंगलीः**=यह नववधू उत्तम मंगलवाली है। आप सब **सम् एत**=यहाँ मिलकर उपस्थित हों और **इमाम् पश्यत**=इसे अपनी कृपादृष्टि से अनुगृहीत करो। **अस्यै**=इस नववधू के लिए **सौभाग्यं दत्वा**=सौभाग्य देकर और इसके **दौर्भाग्यैः**=दौर्भाग्यों को परे फेंकने के लिए साथ ही लेकर **विपरेतन**=घरों को लौटिए। जैसे वैद्य रोगी को स्वास्थ्य देकर व उसके रोग को ले-जाता है, उसीप्रकार सब महानुभाव इसे सौभाग्य देकर इसके दौर्भाग्यों को दूर ले-जाइए। **याः**=जो **दुर्हार्दः युवतयः**=उत्तम हृदयवाली युवतियाँ नहीं हैं, जिन्हें इस नववधू से कुछ ईर्ष्या भी है **च**=और **याः**=जो **इह**=यहाँ **जरतीः अपि**=वृद्ध स्त्रियाँ भी हैं, वे **नु**=अब **अस्यै**=इस नववधू के लिए **वर्चः संदत्त**=तेजस्विता प्रदान करें और **अथ**=अब **अस्यै**=इसके लिए **संदत्त**=मंगल आशीर्वाद दें और आशीर्वाद देने के बाद ही **अस्तं विपरेतन**=घरों को वापस जाएँ।

भावार्थ—वर चाहता है कि सभी पड़ोसी व बन्धुजन इस नववधू को सौभाग्य का आशीर्वाद दें। कुछ ईर्ष्या के होने पर भी युवतियाँ इससे आशीर्वाद ही दें। वृद्धाओं की भी यह आशीर्वादपात्र बने। ये सब इसके दौर्भाग्यों को दूर फेंकने का कारण बनें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रुक्म प्रसारणं वह्यम्

रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्।
आरोहत्सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम्॥ ३०॥

१. **सूर्या**=सूर्यसम तेजस्विनी, **सावित्री**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली यह वधू **बृहते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **कं वह्यम्**=इस सुखप्रद गृहस्थ-रथ पर **आरोहत्**=आरूढ़ हुई है। यह वधू इस गृहस्थ के सौभाग्य को बढ़ानेवाली ही प्रमाणित होगी। २. यह गृहस्थ **रुक्मप्रस्तरणम्**=देदीप्यमान, शुद्ध व अलंकृत प्रस्तरणों—बिछौनोंवाला है तथा **विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्**=(रूप cattle) गौ आदि सब पशुओं से युक्त हो। यहाँ न आवश्यक वस्त्रों की कमी है, न दूध, दही आदि की ही कमी है।

भावार्थ—वधू को 'सूर्या व सावित्री' होना है। वर को ऐसी व्यवस्था करनी है कि घर में न आवश्यक वस्त्रों की कमी हो और न शरीर के लिए आवश्यक दूधादि भोजनों की कमी हो।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—जगती॥

सुमनस्यमाना

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि॥ ३१॥

१. हे वधु! तू **सुमनस्यमाना**=प्रसन्नचित्तवाली होती हुई **इह**=यहाँ—गृहस्थाश्रम में **तल्पं आरोहः**=पर्यंक (चारपाई) पर आरोहण कर और **अस्मै**=इस पति के लिए—इसके वंश के अविच्छेद के लिए **प्रजां जनय**=सन्तान को जन्म दे। उत्तम सन्तान के लिए पति-पत्नी की मानस प्रसन्नता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें भी पत्नी का सौमनस्य अधिक महत्त्व रखता है। २. वधू के लिए उपदेश है कि तू **इन्द्राणी इव**=इन्द्र की पत्नी के समान बन। तेरा पति भी जितेन्द्रिय हो, तू भी इन्द्रियों को वश में रखनेवाली हो। वैषयिक वृत्ति होने पर सन्तानों के उत्तम होने का प्रश्न ही नहीं होता। **सुबुधा**=तू उत्तम बोधवाली हो। **बुध्यमाना**=बड़ी समझदार—सब बातों को ठीक से समझनेवाली हो। **ज्योतिरग्राः उषसः**=नक्षत्र ताराओंवाली उषाओं में ही **प्रतिजागरासि**=तू प्रतिदिन जागनेवाली हो—सूर्य-उदय से बहुत पूर्व ही जागकर क्रियाशील होती है।

भावार्थ—सन्तानों की उत्तमता के लिए गृहिणी ने 'सदा प्रसन्न मनवाली, जितेन्द्रिय व ज्ञानरुचि, समझदार व उषाकाल में प्रबुद्ध होनेवाली' होना है। ऐसी बनकर ही वह उत्तम सन्तानों को जन्म दे पाती है।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—पुरानुष्टुप्त्रिष्टुप्॥

पवित्र गृहस्थाश्रम

देवा अग्रे न्य पद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्व स्तनूभिः।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह॥ ३२॥

१. **अग्रे**=सृष्टि के आरम्भ में **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **पत्नीः न्यपद्यन्त**=पत्नियों को प्राप्त किया। **तन्वः**=अपने शरीरों को **तनूभिः**=उनके शरीरों से **समस्पृशन्त**=संस्पृष्ट किया। उत्तम सन्तान को जन्म देना भी एक पवित्र कार्य ही है। देववृत्ति के पुरुष इसे स्वीकार करते हैं। २. हे **नारि**=गृहस्थ-यज्ञ को आगे ले-चलनेवाली वधु! तू **सूर्या इव**=सूर्य के समान दीप्त जीवनवाली बन। **विश्वरूपा**=सब अङ्गों में रूप-सौन्दर्यवाली हो। **महित्वा**=प्रभु-पूजन के द्वारा (मह पूजायाम्) **प्रजावती**=प्रशस्त प्रजावाली होती हुई तू **इह**=यहाँ **पत्या संभव**=पति के साथ एक होकर रहनेवाली हो। तू पति की अर्द्धांगिनी बन जा। तुम दोनों परस्पर एक हो जाओ।

भावार्थ—गृहस्थ में उत्तम सन्तान को जन्म देना एक दिव्य व पवित्र कार्य है। पत्नी सूर्यसम दीप्त हो, वह सर्वांग सुन्दर होती हुई उत्तम सन्तानवाली हो। प्रभुपूजन करती हुई पति के साथ यह एक हो जाए।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—विराडास्तारपङ्क्तिः॥

कन्या के पिता को सर्वमहान् निर्देश

उत्तिष्ठेतो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा।
जामिमिच्छ पितृषदं न्य क्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि॥ ३३॥

१. विवाह हो जाने पर कन्या के वियोग से कुछ अन्यमनस्क पिता से कहते हैं कि **इतः उत्तिष्ठ**=अब इस आसन से उठिए। प्रभु से आप प्रार्थना कीजिए कि हे **विश्वावसो**=सम्पूर्ण धनोंवाले, सबको बसानेवाले प्रभो! **नमसा त्वा ईडामहे**=नमन के द्वारा हम आपका पूजन करते हैं। आपसे बनाई गई इस व्यवस्था के सामने हम सिर झुकाते हैं कि कन्या को पालकर हम उसे उसके वास्तविक घर में भेज दें। २. पिता से कहते हैं कि अब तू इस विवाहित कन्या की चिन्ता छोड़कर **जामिम् इच्छ**=उस कन्या की इच्छा कर—ध्यान कर जो **पितृषदम्**=अभी पितृगृह में ही आसीन है, **न्यक्ताम्**=निश्चय से अलंकृत अङ्गोंवाली है। **जनुषा**=आपके यहाँ जन्म लेने के कारण **सः ते भागः**=वह आपका कर्त्तव्यभाग है—उसका रक्षण आपका कर्त्तव्य है। **तस्य विद्धि**=उसका ही ध्यान कीजिए।

भावार्थ—कन्या के पिता को चाहिए कि विवाहित कन्या की चिन्ता को छोड़कर वह दूसरी अविवाहित कन्या के रक्षण व पोषण का ही ध्यान करे। विवाहित कन्या की सुख-समृद्धि के लिए प्रभु की प्रार्थना अवश्य करे, परन्तु उसके लिए बहुत चिन्तित न होता रहे।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरानुष्टुप्त्रिष्टुप्**॥

अप्सरसः

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च।
तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वर्तुना कृणोमि॥ ३४॥

१. **अप्सरसः**=(अप्+सर) उत्तम कर्मों में संचार करनेवाली ये नारियाँ **हविर्धानम्**=जहाँ हवि का धारण किया जाना है, उस पृथिवी, **सूर्यं च**=और जहाँ सूर्य उदय होता है उस द्युलोक के **अन्तरा**=मध्य में—अन्तरिक्ष में **सधमादं मदन्ति**=उस प्रभु के साथ उपासना में बैठकर आनन्दित होती हैं। इनका पृथिवीलोकरूप शरीर यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहता है तथा ये शरीररूप वेदि में हविरूप पवित्र भोजन को ही प्राप्त कराती हैं। मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य को उदित करती हैं और हृदयान्तिरक्ष में प्रभु का उपासन करती हुई प्रभु के साथ आनन्दित होती हैं। २. हे वर! **ताः**=वे नारियाँ ही **ते जनित्रम्**=तेरी जाया हैं—तेरी सन्तान को जन्म देनेवाली हैं **ताः अभि गन्धर्वऋतुना परेहि**=उनकी ओर (परा=towards) ज्ञानी पुरुष की नियमित गति से तू प्राप्त हो। उनके साथ तेरा सम्पर्क शास्त्रविधि के अनुसार उचित ऋतु पर हो। **ते**=इसप्रकार ऋतुगामी तेरे लिए **नमः कृणोमि**=मैं नमस्कार करता हूँ। ऐसे पुरुष को प्रत्येक व्यक्ति आदर देता है।

भावार्थ—अप्सरारूप गृहनारियाँ यज्ञ करनेवाली हों, उनका भोजन भी यज्ञरूप हो। मस्तिष्करूप द्युलोक में ये ज्ञानसूर्य को उदित करें। हृदय में प्रभु का उपासन करती हुई आनन्दित हों। ज्ञानी पति इनके प्रति ऋतुगामी होता हुआ उत्तम सन्तान प्राप्त करे और आदरणीय जीवनवाला हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरोबृहतीत्रिष्टुप्**॥

नमसे, भामाय चक्षुषे

नमो गन्धर्वस्य नमसे नमो भामाय चक्षुषे च कृण्मः।
विश्वावसो ब्रह्मणा ते नमोऽभि जाया अप्सरसः परेहि॥ ३५॥

१. **गन्धर्वस्य**=ज्ञान को धारण करनेवाले इस युवक को **नमसे नमः**=नम्रता के लिए अथवा शत्रुओं को झुकानेवाले बल के लिए हम नमस्कार **कृण्मः**=करते हैं **च**=और इस युवक के **भामाय**=तेजस्विता से दीप्त **चक्षुषे**=नेत्रों के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। हे **विश्वावसो**=घर

में सबको बसानेवाले व सब आवश्यक धनोंवाले युवक! **ब्रह्मणा**=ज्ञान के कारण **ते नमः**=हम तेरे लिए नमस्कार करते हैं। तू **अप्सरसः**=गृहकार्यों में गतिशील **जायाः अभि**=पत्नी का लक्ष्य करके (परा towards)=**इहि** उसकी ओर जानेवाला हो।

भावार्थ—उत्तम गृहपति वही है जो 'नम्रता, उत्तम बल, दीप्त नेत्र व ज्ञान' से युक्त है। यह घर में सबको बसाने के लिए आवश्यक धनों का अर्जन करनेवाला हो। क्रियाशील पत्नी को प्राप्त होकर उत्तम सन्तान को प्राप्त करे।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धन+सौमनस

राया वयं सुमनसः स्यामोदितो गन्धर्वमावीवृताम्।
अगन्त्स देवः परमं सधस्थमगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥ ३६॥

१. **वयम्**=हम **राया**=धन के साथ **सुमनसः स्याम**=उत्तम मनवाले भी हों। उत्तम मनोवृत्ति के न होने पर धन हमारे विनाश का ही कारण बनेगा। **इतः उत्**=इधर से ऊपर उठकर—संसार के भोगों से ऊपर उठे हुए **गन्धर्वम्**=हम उस ज्ञान के धारक प्रभु का **आवीवृताम्**=आवर्तन करनेवाले हों—प्रभु-नाम का निरन्तर स्मरण करें। २. **सः देवाः**=वह प्रकाशमय प्रभु **परमं सधस्थम्**=सर्वोत्कृष्ट प्रभु के साथ मिलकर बैठने के स्थानभूत इस हृदयदेश में **अगन्**=प्राप्त हो। हम भी उस प्रभु के समीप **अगन्म**=प्राप्त हों, **यत्र**=जिसमें स्थित होते हुए **आयुः प्रतिरन्त**= जीवन को प्रकर्षेण पार कर पाते हैं, अत्युत्तम दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—धन के साथ हम प्रशस्त मनवाले हों, विषयों से ऊपर उठकर प्रभु का स्मरण करनेवाले हों, वे प्रभु हमें हृदयदेश में प्राप्त हों। प्रभु में स्थित हुए-हुए हम प्रकृष्ट दीर्घ जीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

ऋत्विये संसृजेथाम्

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः।
मर्यइव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम्॥ ३७॥

१. **पितरौ**=समीप भविष्य में माता-पिता बननेवाले तुम दोनों **ऋत्विये**=ऋतुकाल के प्राप्त होने पर **संसृजेथाम्**=परस्पर संसृष्ट होओ **च**=और आप दोनों **रेतसः**=इस रेतस् के द्वारा (रज-वीर्य के द्वारा) **माता पिता भवाथः**=माता-पिता बनते हो। इस रज-वीर्य के मेल से सन्तान होती है और यह सन्तान तुम्हें माता-पिता की पदवी प्राप्त कराती है। २. हे विवाहित होनेवाले युवक! तू **मर्यः इव**=एक शक्तिशाली मनुष्य की भाँति **एनां योषाम् अधिरोहय**=इस स्त्री को अपनी शैय्या पर आरूढ़ कर। तुम दोनों **प्रजां कृण्वाथाम्**=उत्तम सन्तान का निर्माण करो और **इह**=यहाँ—इस जीवन में **रयिं पुष्यतम्**=धन का पोषण करो।

भावार्थ—ऋतुकाल में परस्पर संगत होते हुए ये वर-वधू बीजवपन के द्वारा उत्तम सन्तान को जन्म देकर माता व पिता बनें। ये जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक धन का पोषण करनेवाले हों।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

पूषा शिवतमा

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः॥ ३८॥

१. हे **पूषन्**=अपनी शक्तियों का उचित पोषण करनेवाले युवक! तू **तां शिवतमाम्**=उस अतिशयेन मंगलमय स्वभाववाली पत्नी को **एरयस्व**=प्रेरित करनेवाला हो। पति में सन्तान-प्राप्ति की कामना हो तो पत्नी को भी उस भावना से युक्त होने के लिए प्रेरित करे। उस पत्नी को तू प्रेरणा देनेवाला हो **यस्याम्**=जिसमें **मनुष्याः**=विचारशील व्यक्ति **बीजं वपन्ति**=सन्तानोत्पत्ति के लिए बीज का वपन करते हैं। २. पत्नी वही ठीक है **या**=जो **उशती**=उत्तम सन्तान की कामनावाली होती हुई **नः ऊरू विश्रयाति**=हमारे ऊरूओं को खोलनेवाली होती है। **यस्याम्**=जिसमें पति भी **उशन्तः**=उत्तम सन्तान की कामनावाले होते हुए **शेपः प्रहरेम**=जननेन्द्रिय को प्राप्त कराते हैं। सन्तान की कामना से होनेवाला यह बीजवपन 'वीर्यदान' कहलाता है। भोगवृत्ति में यही 'वीर्यविनाश' हो जाता है।

भावार्थ—पति 'पूषा' हो, पत्नी 'शिवतमा'। दोनों उत्तम सन्तान की कामनावाले होकर ही परस्पर सम्बद्ध हों। यह सम्बन्ध पवित्र होता हुआ शक्ति-विनाश का कारण न बनेगा।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥

मोदमानौ

आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्तं परि ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु॥ ३९॥

१. हे पूषन् (पुष्टशक्तिवाले वर)! **ऊरुं आरोह**=युवति की जाँघ पर आरोहण कर। **हस्तं उपधत्स्व**=हाथ को तकिये के रूप में सहारा देनेवाला बना और **सुमनस्यमानः**=प्रसन्नचित्तवाला होता हुआ **जायां परिष्वजस्व**=पत्नी का आलिंगन करनेवाला हो। प्रसन्नचित्तता पर ही सन्तान की उत्तमता निर्भर है। हे पूषन् और हे शिवतमे! आप दोनों **इह**=यहाँ—गृहस्थाश्रम में **मोदमानौ**=अत्यन्त हर्ष का अनुभव करते हुए **प्रजां कृण्वाथाम्**=उत्तम सन्तति का निर्माण करो। **सविता**=वह सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु **वां आयुः**=आप दोनों के आयुष्य को **दीर्घं कृणोतु**=अत्यन्त दीर्घ करे।

भावार्थ—पति प्रसन्नता से मोदमाना पत्नी का आलिंगन करता हुआ उत्तम सन्तान को जन्म दे। इस पवित्र भावनावाले (भोगवृत्ति से ऊपर उठे हुए) पति-पत्नी के आयुष्य को प्रभु दीर्घ करें।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—जगती॥

अदुर्मङ्गली

आ वां प्रजां जनयतु प्रजापतिरहोरात्राभ्यां समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ ४०॥

१. **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक प्रभु **वां प्रजाम्**=आप दोनों की सन्तति को **आजनयतु**=प्रादुर्भूत करे। प्रभु-कृपा से आप दोनों को उत्तम सन्तति प्राप्त हो। **अर्यमा**=शत्रुओं का नियमन करनेवाला प्रभु **अहोरात्राभ्यां समनक्तु**=दिन-रात से आपको संगत करे, अर्थात् आपके जीवन को प्रभु दीर्घ करें। वस्तुतः काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतना ही दीर्घजीवन का साधन है। हे युवति! तू **अदुर्मङ्गली**=सब अशुभों से रहित हुई-हुई **इमं पतिलोकं आविश**=उस पतिलोक को प्राप्त कर। पतिलोक को प्राप्त होकर तू उसे मंगलमय बनानेवाली हो। **नः**=हमारे

द्विपदे शं भव=दो पाँववाले मनुष्यादि के लिए शान्ति प्राप्त करानेवाली हो, **चतुष्पदे शम्**=चार पाँववाले गवादि पशुओं के लिए भी तू शान्ति प्राप्त करा।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से पति-पत्नी को उत्तम सन्तान व दीर्घजीवन प्राप्त हो। पतिलोक में आती हुई युवति इस पतिलोक को मंगलमय बनाए। इस पतिलोक में मनुष्यों व पशुओं सभी को शान्ति प्राप्त हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वाधूयं वासः, वध्वः च वस्त्रम्

देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद्वाधूयं वासो वध्व ऽश्च वस्त्रम्।
यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति स इद्रक्षांसि तल्पानि हन्ति॥ ४१॥
यं मे दत्तो ब्रह्मभागं वधूयोर्वाधूयं वासो वध्व ऽश्च वस्त्रम्।
युवं ब्रह्मणेऽनुमन्यमानौ बृहस्पते साकमिन्द्रश्च दत्तम्॥ ४२॥

१. हे बृहस्पते और इन्द्र! आप विवाह की कामनावाले एक युवक के लिए **देवैः**=दिव्यगुणों के साथ तथा **मनुना साकम्**=ज्ञान के साथ **एतत्**=इस **वाधूयं वासः**=वधू के लिए उपयुक्त गृह को **च**=तथा **वध्वः वस्त्रम्**=वधू के वस्त्र को **दत्तम्**=देते हो। यहाँ प्रभु को बृहस्पति और इन्द्र नाम से स्मरण करते हुए यह संकेत हुआ है कि एक युवक को ज्ञान प्राप्त करना है और जितेन्द्रियता द्वारा दिव्यगुण-सम्पन्न (देवराट् इन्द्र) बनना है, तभी वह उत्तम पति बन पाएगा। गृहस्थ के सम्यक् विवाह के लिए यह भी आवश्यक है कि निवास के लिए एक गृह हो और उसमें वस्त्रादि की कमी न हो। २. इस घर को **यः**=जो **चिकितुषे ब्रह्मणे**=ज्ञानी ब्राह्मण के लिए **ददाति**=देता है, **सः इत्**=वही **तल्पानि रक्षांसि**=शैय्या-सम्बन्धी राक्षसीभावों को, अर्थात् भोगविलास की वृत्तियों को विनिष्ट कर डालता है। घर को ब्राह्मण के लिए देने का भाव यह है कि घर में ज्ञानी ब्राह्मण के आने पर घर को 'आपका ही है', ऐसा कहकर उस ज्ञानी अतिथि के प्रति अर्पित करते हैं। वे ज्ञानी भी स्नेहपूर्वक घर को उत्तम बनाने की प्रेरणा देते हैं। इसप्रकार इस घर में उस ज्ञानी के सम्पर्क के कारण पवित्र भावना बनी रहती है। ३. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के पति प्रभो! **च इन्द्रः साकम्**=और परमैश्वर्यशाली प्रभु साथ-साथ **युवम्**=आप दोनों **वधूयोः**=वधू की कामनावाले—गृहस्थ में प्रवेश की कामनावाले **मे**=मेरे लिए **यं ब्रह्मभागम्**=जिस ज्ञान के अंश को **वाधूयं वासः**=वधू के निवास के योग्य गृह को **च**=और **वध्वः वस्त्रम्**=वधू के वस्त्र को **दत्तः**=देते हो, आप उसको **ब्रह्मणे**=ज्ञानी ब्राह्मण के लिए **अनुमन्यमानौ**=अनुमति देते हुए ही **दत्तम्**=देते हो। आप मुझे यह अनुकूल मति भी प्राप्त कराते हो कि मैं उस घर को ज्ञानी ब्राह्मण के लिए अर्पित करनेवाला बनूँ। यह ब्राह्मण-सत्कार ही इस घर को पवित्र बनाए रक्खेगा।

भावार्थ—'बृहस्पति व इन्द्र' नाम से प्रभु-स्मरण करता हुआ युवक ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनकर दिव्यगुणों को धारण करे। गृहस्थ के निर्वाह के लिए गृहसामग्री को जुटाने के लिए यत्नशील हो। अपने घर को वह ज्ञानी ब्राह्मण के प्रति अर्पित करने की वृत्तिवाला बनकर घर को विलास का शिकार होने से बचा लेता है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुब्गर्भापङ्क्तिः**॥

सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥ ४३॥

१. **स्योनात् योनेः अधिबुध्यमानौ**=सुखकर घर के हेतु से आधिक्येन प्रबुद्ध (जागरित), सावधान होते हुए, अर्थात् प्रमाद, आलस्य व निद्रा से ऊपर उठकर घर को सुखमय बनाते हुए **हसामुदौ**=हँसी के साथ प्रसन्न होते हुए **महसा मोदमानौ**=तेजस्विता से आनन्दित होते हुए **सुगू**=उत्तम इन्द्रियोंवाले व उत्तम गौओंवाले **सुपुत्रौ**=उत्तम सन्तानोंवाले और इसप्रकार **सुगृहौ**=उत्तम गृहोंवाले **जीवौ**=जीवनीशक्ति से परिपूर्ण आप दोनों पति-पत्नी **विभातीः उषसः तराथः**=देदीप्यमान उषाकालों को तैरनेवाले बनो।

भावार्थ—घर को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि पति-पत्नी प्रबुद्ध हों, प्रसन्न हों, तेजस्विता से प्रफुल्लित हों। उत्तम गौओं, उत्तम सन्तानों व उत्तम घरोंवाले होकर जीवनीशक्ति से परिपूर्ण होते हुए उषाकालों को तैरनेवाले बनें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

नवं वसानः सुरभिः सुवासाः

नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः।
आण्डात्पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि॥ ४४॥

१. एक गृहस्थ प्रार्थना करता है कि मैं **नवं वसानः**=(नु स्तुतौ) स्तुति को धारण करता हुआ—प्रभु स्मरण को—प्रणवजप को अपना कवच बनाता हुआ **सुरभिः**=सुगन्धित, पापशून्य, यशस्वी जीवनवाला **सुवासाः**=उत्तम वस्त्रों को धारण किये हुए **जीवः**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण मैं **विभातीः उषसाः**=देदीप्यमान उषाओं में **उत् आगाम्**=शैय्या से उठ खड़ा होऊँ—बिछौनों को छोड़कर कर्त्तव्यकर्मों में तत्पर होऊँ। २. इसप्रकार सदा उषाकाल में जागता हुआ मैं **विश्वस्मात् एनसः**=सब पापों से इसप्रकार **परि अमुक्षि**=दूर होऊँ **इव**=जैसेकि **आण्डात्पतत्री**=अण्डे से पक्षी मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—प्रणवजप करते हुए हम सुगन्धित जीवनवाले बनें, उषाकाल में प्रबुद्ध हों। पाप से सर्वथा मुक्त होकर दीप्तजीवनवाले हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्ञान व पवित्रता

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ४५॥

१. **द्यावापृथिवी**=हमारे मस्तिष्क व शरीर **शुम्भनी**=ज्ञान और शक्ति-सम्पन्न होते हुए जीवन को शोभायमान करें। **अन्तिसुम्ने**=ये हमें प्रभु के सामीप्य में सुख प्राप्त करानेवाले हों। **महिव्रते**=महनीय व्रतोंवाले हों। 'द्यौरहं पृथिवी त्वम्', वर से उच्चारण किये जानेवाले इस वाक्य के अनुसार प्रकाशमय जीवनवाला 'वर' द्यौ है तथा पृथिवी के समान अपने व्रतों पर दृढ़ रहनेवाली वधू पृथिवी है। ये अपने जीवन को शोभायुक्त करें, प्रभु सामीप्य का आनन्द अनुभव करें और महनीय व्रतोंवाले हों। २. हमारे जीवनों में **सप्त देवीः आपः सुस्रुवुः**='दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुख' इन सप्त ऋषियों से प्रवाहित होनेवाले दिव्यज्ञानजल बहें। **ताः**=वे दिव्यज्ञानजल **नः**=हमें **अंहसा मुञ्चन्तु**=पाप से छुड़ाएँ। ज्ञान हमारे जीवनों को पवित्र करे।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर शोभासम्पन्न हों। हमारे जीवनों में 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' इन सप्त ऋषियों से उद्भूत हुए ज्ञानजल पवित्रता लानेवाले हों।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

कन्या के प्रस्थानकाल में 'नमस्कार'

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च।
ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः॥ ४६॥

१. विदा के समय कन्या के पिता सर्वप्रथम अपनी कन्या को ही नमस्कार करते हैं। **सूर्यायै नमः अकरम्**=सूर्या को मैं नमस्कार करता हूँ। सूर्या को मैं यही कहना चाहता हूँ कि तूने कुल की लाज रखने के लिए शुभ व्यवहार ही करना, नमस्करणीय ही बने रहना। **देवेभ्यः**=बारात में आये हुए देवों के लिए भी मैं नमस्कार करता हूँ। आप सबने यहाँ आकर इस प्रसंग की शोभा बढ़ाकर मुझे कृतकृत्य किया है। **मित्राय वरुणाय च**=वर के माता-पिता के लिए जोकि स्नेह व निर्द्वेषता की भावना से ओत-प्रोत हैं, मैं नमस्कार करता ही हूँ। आप इस नवदम्पती में भी स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को भरने का अनुग्रह करना। २. **ये**=जो **भूतस्य**=प्राणियों के **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ध्यान करनेवाले देव हैं, उन सब देवों के लिए **इदं नमः अकरम्**=इस नमस्कार को करता हूँ। सब देव इस नवदम्पती का रक्षण करें, इसकी समृद्धि का कारण बनें।

भावार्थ—कन्यापक्षवालों को चाहिए कि विदा के समय अपनी कन्या को उत्तम प्रेरणा करते हुए सबको नमस्कारपूर्वक उचित आदर के साथ विदा करें।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—पथ्याबृहती॥

शरीर की अद्भुत रचना

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विहुतं पुनः॥ ४७॥

१. **यः**=जो प्रभु **अभिश्रिषः ऋतेचित्**=सन्धान द्रव्य के बिना ही **जत्रुभ्यः आतृदः पुरा**=ग्रीवास्थिवाले स्थान से कट जाने से पूर्व **सन्धिं सन्धाता**=जोड़ को फिर से मिला देनेवाले हैं। वे प्रभु सचमुच **मघवा**=परम ऐश्वर्यवाले हैं। प्रभु ने शरीर की व्यवस्था ही इसप्रकार से की है कि सब घाव फिर से भर जाते हैं। गर्दन ही कट जाए तो बात अलग है, अन्यथा सब कटाव फिर से जुड़ जाते हैं। २. **पूरू वसुः**=वे पालक और पूरक वसुओंवाले प्रभु **पुनः**=फिर से **विहुतं निष्कर्ता**=कटे हुए को ठीक कर देनेवाले हैं। सब कटाओं को फिर से भर देते हैं। शरीर में प्रभु ने यह अद्भुत ही व्यवस्था की है।

भावार्थ—शरीर में प्रभु ने क्या ही अद्भुत रचना की है कि बड़े-से-बड़ा घाव भी फिर से भर जाता है। हम भी प्रभुस्मरण करते हुए पारस्परिक मानस घावों को फिर से भरनेवाले हों।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—सतःपङ्क्तिः॥

'नीलं पिशङ्गं लोहितम्' तमः

अपास्मत्तम उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत्।
निर्दहनी या पृषातक्य१स्मिन्तां स्थाणावध्या सजामि॥ ४८॥

१. हे प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **तमः अपउच्छतु**=अविद्यान्धकार दूर हो, **यत्**=जो अविद्यान्धकार **नीलम्**=अत्यन्त कृष्णवर्ण का है—अँधेरे को लाकर जो हमें प्रमाद, आलस्य व निद्रा में ले-जानेवाला है, वह अविद्यान्धकार भी दूर हो (यत्)=जो **पिशङ्गम्**=पिशङ्ग, कपिलवर्ण का है, जो हमें प्रत्येक वस्तु के विश्लेषण में प्रवृत्त करनेवाला है, जिसके कारण वस्तु का विश्लेषण

करते हुए हम कर्त्तव्यकर्मों को भी विस्मृत कर देते हैं, यह भी एक आसंग ही है। इसे ही 'ज्ञानसंग' कहा गया है। **उत**=और यह अविद्यान्धकार भी **यत्**=जोकि **लोहितम्**=लालवर्ण का है। जो तेजस्विता के अतिरेक में हमें निरन्तर इधर-उधर भटकाता है, जो हमें यश व धन की कामना से बाँधकर कर्त्तव्यविमुख कर देता है। २. **निर्दहनी**=निश्चय से जलन को उत्पन्न करनेवाली **या**=जो **पृषातकी**=(पृष् vese, pain, veary) अन्ततः पीड़ित करनेवाली यह अविद्या है, **ताम्**=इस अविद्या को **अस्मिन् स्थाणौ**=इस वृक्ष के ठूँठ में **अध्यासजामि**=आसक्त करता हूँ। उस अविद्या को इन स्थानों को अर्पित करके मैं अविद्या से मुक्त होता हूँ। 'स्थाणु' शब्द का अर्थ प्रभु भी है। उस प्रभु में स्थित हुआ-हुआ मैं इस अविद्या को अपने से दूर करता हूँ और इन वृक्षों में उसे स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—हम सब प्रकार के अज्ञान को अपने से दूर करें। प्रभु का स्मरण हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाएगा।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

व्यृद्धि व असमृद्धि से दूर

यावतीः कृत्या उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः।
व्यृद्धयो या असमृद्धयो या अस्मिन्ता स्थाणावधि सादयामि॥ ४९॥

१. अग्निहोत्र की प्रज्वलित अग्नि में कई कृमियों का नाश तो होता ही है, अतः कहते हैं कि **उपवासने**=यज्ञादि की अग्नि के प्रज्वलन (Kindling a sacred fire) में **यावतीः कृत्या**=जो भी हिंसाएँ हो जाती हैं, **यावन्तः**=जितने भी अनृतवादी के लिए **राज्ञः वरुणस्य पाशाः**=राजा वरुण के पाश हैं, **याः व्यृद्धयः**=जो भी अनेश्वर्य हैं, **याः असमृद्धयः**=(समृद्धि power) जो शक्तिशून्यताएँ हैं, **ताः**=उन सबको **अस्मिन् स्थाणौ**=इस स्थिर और अविचल प्रभु में स्थित होता हुआ मैं **अधिसादयामि**=विनष्ट करता हूँ।

भावार्थ—प्रभुस्मरण द्वारा 'हिंसा, असत्य, दौर्भाग्य व शक्तिशून्यता' को दूर करके हम उत्तम जीवनवाले बनते हैं। प्रभुस्मरण हमें अहिंसक, सत्यवादी, सौभाग्यसम्पन्न व समृद्ध बनाता है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**उपरिष्टान्निचृद्बृहती**॥

पवित्र यज्ञमय सम्बन्ध

या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः।
तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम॥ ५०॥

१. 'कन्धे पर बोझ पड़ना' एक शब्दप्रयोग है, जिसका भाव कन्धे पर एक उत्तरदायित्व का आ जाना है। एक युवक के कन्धे पर अब एक युवति का यह वस्त्र आ पड़ा है तो वह 'उसके उत्तरदायित्व की वृद्धि हो जाती है', इतना ही नहीं अपितु उसके भोगविलास में डूब जाने की आशंका भी बढ़ जाती है, अतः युवक कहता है कि **या**=जो **मे प्रियतमा तनूः**=मेरा यह प्रियतम—प्यारा व सुन्दर प्रतीत होनेवाला शरीर है, **मे सा**=मेरा वह शरीर **वाससः बिभाय**=इस मेरे कन्धे पर आ जानेवाले वस्त्र से भयभीत होता है। मुझे भय प्रतीत होता है कि कहीं विलास में पड़कर मैं इस प्रियतम तनू को विकृत न कर बैठूँ। हे **वनस्पते**=यज्ञस्तम्भ (sacrificial post) **त्वम्**=तू **अग्रे**=पहले **तस्य**=उसके वस्त्र की **नीविं कृणुष्व**=ग्रन्थि (Knot) को कर। पहले वह वस्त्र तेरे साथ बँधे और बाद में मेरे साथ। यज्ञस्तम्भ के साथ युवति के वस्त्र-बन्धन का भाव यह कि इस युवक-युवति का सम्बन्ध मिलकर यज्ञ करने के लिए हो।

यज्ञीय वृत्ति के होने पर हम विलासमय जीवन में न डूबेंगे और इसप्रकार **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न होंगे। पति-पत्नी तो यज्ञमय जीवन होने पर हिंसित होंगे ही नहीं, ऐसा होने पर उनके सन्तान भी उत्तम होंगे। यही भाव 'वयम्' इस बहुचनान्त शब्द से संकेतित हो रहा है।

भावार्थ—एक युवति का वस्त्र एक युवक के कन्धे पर पड़ता है तो उस समय यह सम्बन्ध की पवित्रता को बनाये रखने के लिए इस वस्त्र-ग्रन्थि को पहले यज्ञस्तम्भ से करता है, अर्थात् प्रभु से यही प्रार्थना करता है कि हमारा यह सम्बन्ध यज्ञिय हो। हम मिलकर यज्ञ करते हुए विलासी वृत्ति से बचे रहें। इसप्रकार हम स्वस्थ हों और उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। इसी उद्देश्य से अगले मन्त्र में कहेंगे कि स्त्रियाँ अपने अतिरिक्त समय को वस्त्रों को कातने व बुनने में व्यतीत करें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

गृह में ही वस्त्र निर्माण

ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः।
वासो यत्पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात्॥ ५१॥

१. **ये अन्तः**=जो वस्त्रों की झालरें हैं, **यावतीः सिचः**=जितनी किनारियाँ हैं, **ये ओतवः**=जो उनके बाने हैं **च**=और **ये तन्तवः**=जो ताने के सूत्र हैं, इस प्रकार **यत् वासः**=जो वस्त्र **पत्नीभिः उतम्**=गृहदेवियों ने ही बुना है, **तत्**=वह **स्योनम्**=सुखकर वस्त्र ही **नः उपस्पृशात्**=हमारे शरीर को छूए। २. स्त्रियों का अतिरिक्त समय वस्त्र-निर्माण में व्यतीत होकर उन्हें भोगविलास की वृत्ति से ऊपर उठनेवाला बनाए। इसप्रकार प्रत्येक युवति देश के ऐश्वर्य की वृद्धि में भी कुछ-न-कुछ सहायक हो रही होगी और समय को भी उत्तमता से व्यतीत कर पाएगी। वस्तुतः इन वस्त्रों के एक-एक तार में प्रेम भी ग्रथित हुआ-हुआ होता है। उस वस्त्र को धारण करके प्रेम की पवित्र भावना में भी वृद्धि होती है। यान्त्रिक वस्त्र 'मृत'-सा होता है तो यह 'जीवित' होता है। यान्त्रिक वस्त्रों में केवल 'सौन्दर्य' है तो गृह के वस्त्र में प्रेममय सौन्दर्य है।

भावार्थ—गृहिणियाँ अपने अतिरिक्त समय का घर के वस्त्रों के निर्माण में सदुपयोग करें। इसप्रकार वे ऐश्वर्य-वृद्धि में व विलासवृत्ति-विनाश में सहायक बनेगी।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**विराट्परोष्णिक्**॥

दीक्षा अवसर्जन

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात्पतिं यतीः। अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा॥ ५२॥

१. **उशतीः**=पतिलोक की कामना करती हुई **इमाः कन्यलाः**=ये कन्याएँ—दीप्त जीवनवाली युवतियाँ (**कन दीप्तौ**), **पितृलोकात् पतिं यतीः**=पितृलोक से पति की ओर जाती हुई **दीक्षाम्**=व्रत-संग्रह को **अव असृक्षत्** (to form, to create)=निर्मित करती हैं। गृह के उत्तम निर्माण के लिए व्रत के बन्धन में अपने को बाँधकर पतिगृह की ओर जाती हैं। २. इसके लिए **स्वाहा**=वे महान् स्वार्थ-त्याग करती हैं। वस्तुतः 'वर्षों एक गृह से सम्बद्ध रहकर उसे छोड़कर अन्यत्र जाना' त्याग तो है ही और अपने कन्धों पर एक नवगृह-निर्माण के भार को उठाना भी त्याग ही है। इस उत्तरदायित्व को समझने पर विलास में डूबने की आशंका नहीं रहती।

भावार्थ—एक दीप्त जीवनवाली युवति पितृगृह से पतिगृह की ओर जाती है। इस समय यह व्रतों को आधार बनाकर उत्तम गृह के निर्माण में अपनी आहुति दे डालती है। इसी से जीवन की पवित्रता बनी रहती है।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

वर्चः, तेजः, भगः, यशः, पयः, रसः

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
वर्चो गोषु प्रविष्टं यत्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५३॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
तेजो गोषु प्रविष्टं यत्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५४॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५५॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
यशो गोषु प्रविष्टं यत्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५६॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
पयो गोषु प्रविष्टं यत्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५७॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५८॥

१. **बृहस्पतिना**=उस ब्रह्मणस्पति—ज्ञान के स्वामी प्रभु से **अवसृष्टा**=(form, create), वेदवाणी में प्रतिपादित कर्त्तव्यदीक्षा को **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब विद्वान् **आधारयन्**=धारण करते हैं। गृहस्थ बनने पर देववृत्ति के पुरुष प्रभु-प्रतिपादित कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए यत्नशील होते हैं। २. गृहस्थ में प्रवेश करने पर इन देवों का यही संकल्प होता है कि **यत् वर्चः**=जो वर्चस्, रोगनिरोधक शक्ति **गोषु प्रविष्टम्**=इन वेदवाणियाँ में प्रविष्ट है, **तेन**=उस वर्चस् से **इमाम्**=इस युवति को **संसृजामसि**=संसृष्ट करते हैं, अर्थात् वेदोपदिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करते हुए हम वर्चस्वी जीवनवाले बनते हैं। ३. इसी प्रकार इन वाणियों में जो **तेजः प्रविष्टम्**=तेज प्रविष्ट है, उस तेज से इसे संयुक्त करते हैं। **यः भगः प्रविष्टः**=इनमें जो ऐश्वर्य निहित है, **यत् यशः**=जो यश स्थापित है, **यत् पयः**=जो आप्यायन (वर्धन) निहित है तथा **यः रसः**=जो रस, आनन्द विद्यमान है, उससे इस युवति को संसृष्ट करते हैं।

भावार्थ—देववृत्तिवाला पति स्वयं वेदवाणी से अपना सम्बन्ध बनाता है, अपनी पत्नी को भी इस सम्बन्ध की महत्ता समझाता है। इस वेदवाणी के द्वारा वे 'वर्चस्, तेज, ऐश्वर्य, यश, शक्तिवर्धन व आनन्द' को प्राप्त करते हैं। इनसे युक्त होकर वे गृह को स्वर्गोपम बनाते हैं।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—५९, ६०, ६२ पथ्यापङ्क्तिः, ६१ त्रिष्टुप्॥

अघ-निवारक 'अग्नि व सविता'

यदीमे केशिनो जना गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तो३घम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम्॥ ५९॥
यदीयं दुहिता तव विकेश्यरुदद् गृहे रोदेन कृण्वत्य१घम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम्॥ ६०॥
यज्जामयो यद्युवतयो गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वतीरघम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम्॥ ६१॥

यत्ते प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिरघं कृतम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम्॥ ६२॥

१. **यदि**=यदि **इमे**=ये **केशिनाः जनाः**=बिखरे हुए बालोंवाले लोग **ते गृहे**=तेरे घर में **अघं कृण्वन्ति**=(अघ: pain, grief, distress) शोक करते हुए **रोदेन समनर्तिषुः**=नाच-कूद करने लगें—बिलखें तो **तस्मात् एनसः**=उस (एनस् unhappiness) निरानन्दता से—दुःखमय वातावरण से **अग्निः सविता च**=अग्नि और सविता—वह अग्रणी, सर्वोत्पादक प्रभु **त्वा प्रमुञ्चताम्**=तुझे मुक्त करें। तुम्हारे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो तथा निर्माण के कार्यों में लगे रहने की प्रवृत्ति हो। ऐसा होने पर घर में इसप्रकार बिलख-बिलखकर रोने के दृश्य उपस्थित न होंगे। २. **यदि इयम्**=यदि यह **तव दुहिता**=तेरी दूरेहिता—विवाहिता कन्या **विकेशी**=बालों को खोले हुए **गृहे अरुदन्**=घर में रोती है और **रोदेन**=अपने रोने से **अघं कृण्वती**=दुःख के वातावरण को उपस्थित कर देती है और इसीप्रकार **यत्**=जो **जामयः**=तेरी विवाहिता बहिनें, **यत् युवतयः**=और युवति कन्याएँ **ते गृहे समनर्तिषुः**=तेरे घर में नाच-कूद मचा देती है और **रोदेन अघं कृण्वति**=रोने के द्वारा दुःखमय वातावरण बना देती हैं, इसीप्रकार **यत्**=जो **ते प्रजायाम्**=तेरी सन्तानों में, **पशुषु**=गवादि पशुओं में **यत् वा**=अथवा **गृहेषु**=पत्नी में **अघकृद्भिः**=किन्हीं पापवृत्तिवालों ने **निष्ठितम् अघं कृतम्**=(निष्ठितम्=firm, certain) निश्चितरूप से स्थाई कष्ट उत्पन्न कर दिया है तो अग्नि और सविता तुझे उस कष्ट से मुक्त करें। वस्तुतः आगे बढ़ने की भावना से और घर में सबके निर्माण-कार्यों में लगे रहने से इसप्रकार के कष्टों में रोने के अवसर उपस्थित ही नहीं होते। सामान्यतः घरों में शान्ति बनी रहती है। अग्नि व सविता की उपासना के अभाव में अज्ञान की वृद्धि होती है, दुःखद घटनाएँ उपस्थित हो जाती हैं और रोने-धोने के दृश्य उपस्थित हुआ करते हैं।

भावार्थ—यदि घरों में सब आगे बढ़ने की भावना से युक्त हों और निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहें तो व्यर्थ के कलहों के कारण रोने-धाने के दृश्य उपस्थित ही न हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पूल्य आववन

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका। दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥ ६३॥

१. **इयं नारी**=यह नारी **पूल्यानि अवपन्तिका**=पूल्यों का वपन करती हुई (पूल to collect) संग्रह-कार्यों के बीज का वपन करती हुई, अर्थात् घर में मेल व निर्माण के कार्यों की ही प्रवृत्ति को पैदा करती हुई **उपब्रूते**=प्रभु से प्रार्थना करती है कि—**मे पतिः दीर्घायुः अस्तु**=मेरा पति दीर्घजीवी हो, **शरदः शतं जीवाति**=वे सौ वर्ष के पूर्ण आयुष्य तक जीनेवाले बनें। २. वस्तुतः स्त्री के संग्रहात्मक कार्यों से घर का वातावरण उत्तम बना रहता है और पति का जीवन आनन्दमय व दीर्घ होता है। इस नारी के विग्रहात्मक कार्य ही घर के वातावरण को कलहमय बनाकर पति के जीवन को निरानन्द व अल्प कर देते हैं।

भावार्थ—घर में नारी इसप्रकार वर्ते कि परस्पर सबका मेल बना रहे और प्रसन्नता से पति का जीवन दीर्घ हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चक्रवाकः इव दम्पती

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती। प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्य श्नुताम्॥ ६४॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले ऐश्वर्यशाली प्रभो! **इह**=इस घर में **इमौ दम्पती**=इन पति-पत्नी को **चक्रवाकः इव**=चकवा-चकवी की भाँति **संनुद**=प्रेरित कीजिए। 'चक्रवाक' की भावना है 'चक तृप्तौ, वच भाषणे', जो तृप्त हैं, असन्तुष्ट नहीं और प्रभु का गुणगान करते हैं। घर में पति-पत्नी काम-क्रोध से ऊपर उठे हुए, आवश्यक ऐश्वर्य से युक्त हुए-हुए प्रसन्नतापूर्वक प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। २. **एनौ**=ये सन्तुष्ट व प्रभु-स्मरणयुक्त पति-पत्नी **प्रजया**=उत्तम सन्तान के साथ **स्वस्तकौ**=उत्तम गृहवाले होते हुए **विश्वं आयुः**=पूर्ण जीवन को **व्यश्नुताम्**=प्राप्त करें। इनके शरीर स्वस्थ हों। मन पवित्र हों तथा मस्तिष्क सुलझे हुए हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से घर में पति-पत्नी पुरुषार्थ के साथ प्रभु-स्मरण करते हुए पवित्र ऐश्वर्यवाले हों। उत्तम सन्तान को प्राप्त करके अपने घर को शुभ बनाएँ और पूर्ण जीवन प्राप्त करें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आ-स्नान

यदा॑स॒न्द्यामु॑प॒धाने॒ यद्वो॑प॒वास॑ने कृ॒तम्।
वि॒वा॒हे कृ॒त्यां यां च॒क्रुरा॒स्नाने॒ तां नि द॑ध्मसि॥ ६५॥

१. **यत्**=जो **आसन्द्याम्**=कुर्सी में बैठने के उपकरणभूत आसन में, **उपधाने**=तकिये में, **यत् वा**=अथवा **उपवासने**=अग्नि के प्रज्वलन में (kindling of fire) **कृतम्**=दोष उत्पन्न कर दिया गया है अथवा **विवाहे**=विवाह के सारे कार्यक्रम में **यां कृत्यां चक्रुः**=जिस छेदन-भेदन की क्रिया को दुष्ट लोग कर देते हैं **ताम्**=उस सबको **आस्नाने निदध्मसि**=(षण शौचे) सर्वतः शोधन प्रक्रिया के द्वारा (निधा=put down, remove, end) समाप्त करते हैं। २. कुर्सी को एकबार हाथ से ठीक प्रकार हिलाकर तभी उसपर बैठना चाहिए इससे उसमें कुछ विकार होगा तो उसका पता लग जाएगा। सिरहाने व बिस्तरे को भी एकबार झाड़ लेना ठीक है। अग्नि प्रज्वलन में तो सावधानी नितान्त आवश्यक है ही। विवाह के अवसर पर जागरूकता के अभाव में अधिक हानि हो जाने की सम्भावना होती ही है।

भावार्थ—कुर्सी पर बैठने, तकिये पर सिर रखने, अग्नि के प्रज्वलन व विवाह-कार्य के समय जागरूक होते हुए शोधन आवश्यक है, अन्यथा हानि की सम्भावना बनी रहती है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सम्भल का कम्बल

यद्दु॑ष्कृ॒तं यच्छम॑लं वि॒वा॒हे व॑ह॒तौ च॒ यत्।
तत्सं॑भ॒लस्य॑ क॒म्ब॒ले मृ॒ज्म॒हे॑ दु॒रि॒तं व॒यम्॥ ६६॥

१. **यत्**=जो **विवाहे**=विवाह के अवसर पर **वहतौ च**=और दहेज में या रथ में, जिसमें बैठकर पतिगृह की ओर जाया जाता है, उस रथ में **यत्**=जो **दुष्कृतम्**=अशुभ हो जाता है, **यत्**=जो **शमलम्**=शान्तिभंग का कारणभूत विघ्न हो जाता है, **तत् दुरितम्**=उस सब अशुभ आचरण को **वयम्**=हम **सम्भलस्य**=सम्यक् परिभाषण करनेवाले—ठीक प्रकार से बात करनेवाले पुरुष के **कम्बले**=मधुरवाणीरूप जल में (कम्बलम्=जलम्) **मृज्महे**=धो डालते हैं।

भावार्थ—विवाह के अवसर पर तथा रथ द्वारा पतिगृह की ओर प्रस्थान के अवसर पर मधुरता से व्यवहार करते हुए हम सब अशुभों व अशान्तियों को दूर करते हैं।

ऋषिः—सावित्री सूर्या ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

यज्ञिय व शुद्ध दीर्घजीवन

संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम्।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६७ ॥

१. **सम्भले**=सम्यक् परिभाषण में **मलं सादयित्वा**=सब मल को विनष्ट करके **वयम्**=हम **कम्बले**=मधुरवाणीरूप जल में **दुरितम्**=सब दुरित को दूर करके **यज्ञियाः**=यज्ञ करने के योग्य **शुद्धा अभूम**=शुद्ध हो जाते हैं। प्रभु **नः आयूंषि प्रतारिषत्**=हमारे जीवनों को दीर्घ करें।

भावार्थ—हम सम्यक् परिभाषणरूप जलों में सब मल व दुरितों को दूर करके पवित्र जीवनवाले बनें और प्रभु के अनुग्रह से दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—सावित्री सूर्या ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—पुरउष्णिक् ॥

कृत्रिम कण्टक

कृत्रिमः कण्टकः शतदन्य एषः। अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् ॥ ६८ ॥

१. **यः**=जो **एषः**=यह **शतदन्**=सैकड़ों दाँतोंवाली **कृत्रिमः**=शिल्पियों द्वारा निर्मित **कण्टकः**=कंघी है, वह **अस्याः**=इस वधू के **केश्यम्**=केशों में होनेवाले **शीर्षण्यं मलम्**=सिर के मल को **अपलिखात्**=दूर व सुदूर कर दे। २. कंघी से बाहर से सिर-शुद्धि इसप्रकार हो जाती है कि उसमें किसी प्रकार की जुएँ आदि पड़कर क्लेश का कारण नहीं बन पातीं। जहाँ अन्तःशुद्धि अत्यन्त आवश्यक है, वहाँ बाह्यशुद्धि उसमें सहायक बनती है।

भावार्थ—सिर के बालों को कंघी से शुद्ध कर लेना आवश्यक है। इससे मल-सञ्चित होकर केशों में जुएँ आदि पड़ने की आशंका नहीं रहती।

ऋषिः—सावित्री सूर्या ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—षट्पदातिशक्वरी ॥

नीरोगता का रहस्य

अङ्गादङ्गाद्वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि।
तन्मा प्रापत्पृथिवीं मोत देवान्दिवं मा प्रापदुर्व१न्तरिक्षम्।
अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत्पितृंश्च सर्वान् ॥ ६९ ॥

१. **वयम्**=हम शुद्धता व अग्निहोत्रादि द्वारा **अस्याः**=इस युवति के **अङ्गात् अङ्गात्**=प्रत्येक अंग से **यक्ष्मं अपनिदध्मसि**=रोग को सुदूर निवारित करते हैं। **तत्**=वह रोग **पृथिवीं मा प्रापत्**=इस शरीररूप पृथिवी को मत प्राप्त हो **उत**=और **देवान् मा**=विषयों की प्रकाशक इन इन्द्रियों को मत प्राप्त हो। **दिवं मा प्रापत्**=मस्तिष्करूप द्युलोक में न प्राप्त हो तथा **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल हृदयान्तिरक्ष में मत प्राप्त हो। २. **अग्ने**=यज्ञिय अग्ने! **एतत्**=यह रोगजनक **मलम्**=मल **अपः मा प्रापत्**=रेतःकणों में मत प्राप्त हो जाए। **यमं मा प्रापत्**=यह मल इस दम्पतीरूप जोड़े को मत प्राप्त हो **उ**=तथा **सर्वान् पितॄन्**=सब पितरों को भी मत प्राप्त हो। वस्तुतः रोगजनक मल से बचने का साधन भी 'यम तथा पितृन्' शब्द से संकेतित हो रहा है। हमें संयमी बनना है तथा रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त रहना है, रोगों से बचने का यही मार्ग है।

भावार्थ—इस नवविवाहित युवति के शरीर में नीरोगता हो, इसमें रोगकृमियों का प्राबल्य न हो जाए। इसके 'शरीर, इन्द्रियाँ, मस्तिष्क, हृदय, रेतःकण' रोगजनक मलों से प्रभावित न

हों। इस घर में सब संयमी बने रहें व रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त रहें। इसप्रकार यहाँ सब नीरोग रहें।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

संनहन

सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्याः सं त्वा नह्यामि पयसौषधीनाम्।
सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सा संनद्धा सनुहि वाजमेमम्॥ ७०॥

१. पति कहता है कि हे मेरे जीवन के साथी! **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः**=पृथिवी के—पृथिवी से उत्पन्न **पयसा**=आप्यायन के साधनभूत पदार्थों से **संनह्यामि**=सम्यक् बद्ध करता हूँ। मैं **ओषधिनाम् पयसा**=ओषधियों की आप्यायन-शक्ति से **संनह्यामि**=सन्नद्ध करता हूँ। मैं अपने पास पार्थिव पदार्थों व ओषधि-वनस्पतियों की कमी नहीं होने देता। २. **त्वा**=तुझे **प्रजया धनेन**=उत्तम सन्तानों व धनों से **संनह्यामि**=इस कुल से सम्यक् बद्ध करता हूँ। इस प्रकार सब आवश्यक पदार्थों से **सन्नद्धा**=सन्नद्ध हुई-हुई **सा**=वह तू **इमं वाजम्**=इस शक्ति को **आसनुहि**=समन्तात् अंग-प्रत्यंग में संभजन करनेवाली हो। घर-सञ्चालन के लिए आवश्यक वस्तुओं की कमी होने पर चिन्ता के कारण शक्ति में कमी आ जाती है। सब आवश्यक पदार्थों से परिपूर्ण गृह चिन्ता का विषय न बनकर शक्तिवृद्धि का हेतु होता है।

भावार्थ—पति का कर्त्तव्य है कि घर में सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करने की व्यवस्था करे। इससे पत्नी का जीवन चिन्ता से दूर होता हुआ सशक्त बना रहेगा।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—बृहती॥

अम+सा, साम+ऋक्, द्यौ+पृथिवी

अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्।
ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै॥ ७१॥

१. पति कहता है कि **अहम्**=मैं **अमः**=प्राणशक्ति (vital air) **अस्मि**=हूँ तो **त्वम्**=तू **सा (असि)**=लक्ष्मी है (सा name of लक्ष्मी)। पति को प्राणशक्तिसम्पन्न होना चाहिए तथा पत्नी तो गृहलक्ष्मी होकर ही घर को शोभान्वित कर सकेगी। २. **साम अहं अस्मि**=मैं साम हूँ, **त्वं ऋक्**=तू ऋचा है। पति ने साम के गायन के समान मधुर होना है न कि कर्कश स्वभाव का। पत्नी ने विज्ञानवाली बनना है—समझदार। ऋचाओं से साम पृथक् नहीं, इसीप्रकार पति ने पत्नी से पृथक्त्व को सोचना ही नहीं। ३. **द्यौः अहम्**=मैं द्युलोक के समान हूँ, **त्वं पृथिवी**=तू पृथिवी है। द्युलोक बरसता है, पति ने भी घर में धन की वृष्टि करनी है। पृथिवी उत्पन्न करती है, पत्नी ने भी उत्तम पदार्थों का निर्माण करना है। द्युलोक पृथिवी पर वृष्टि का सेचन करता है, इसीप्रकार पति पत्नी में वीर्य का सेचन करनेवाला है। पृथिवी अन्नादि को उत्पन्न करती है, पत्नी उत्तम सन्तान को। ४. पति कहता है कि **तौ**=वे हम दोनों **इह सम्भवाव**=यहाँ सह स्थानों में मिलकर हों। हमारे हृदय एक हों, मन एक हों, हम अविद्वेषवाले हों, परस्पर प्रीतिसम्पन्न हों। इसप्रकार हम **प्रजां आजनयावहै**=उत्तम सन्तान को जन्म दें।

भावार्थ—पति प्राण है तो पत्नी लक्ष्मी। प्राणशक्ति ही शरीर को लक्ष्मी-सम्पन्न बनाती है। पति शान्त हो, पत्नी विज्ञानवाली। पति द्युलोक के समान ज्ञानदीप्त हो, पत्नी पृथिवी के समान दृढ़ आधारवाली। ऐसे पति-पत्नी ही मिलकर उत्तम सन्तान को जन्मदेनेवाले होते हैं।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अरिष्टासू

ज॒नि॒यन्ति॒ ना॒व॒ग्रव॑: पुत्रि॒यन्ति॑ सु॒दान॑वः। अरि॑ष्टासू सचेवहि बृह॒ते वाज॑सातये॥ ७२॥

१. **अग्रवः**=(अग्रे गन्तारः) हमारे आगे चलनेवाले, अर्थात् हमारे बड़े (हमारे माता-पिता) **नौ**=हम दोनों को **जनयन्ति**=पति-पत्नी के रूप में चाहते हैं। **सुदानवः**=ये उत्तम दानशील व्यक्ति **पुत्रियन्ति**=हमारे लिए सन्तानों की कामना करते हैं। 'वर-वधू' दोनों के माता-पिता 'इन्हें उत्तम सन्तान प्राप्त हो', ऐसी कामना करते हैं। २. **अरिष्टासू**=अहिंसित प्राणोंवाले हम प्राणशक्ति को नष्ट न करते हुए **सचेवहि**=परस्पर मिलकर चलें। इसप्रकार हम **बृहते वाजसातये**=महान् शक्ति-लाभ के लिए हों। हमारी शक्ति में वृद्धि ही हो।

भावार्थ—हम बड़ों के आशीर्वाद के साथ पति-पत्नी के रूप में होते हुए इसप्रकार परस्पर मिलकर चलें कि हमारी प्राणशक्ति अहिंसित रहे और हम शक्ति प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

प्रजावत् शर्म

ये पि॒तरो॑ वधूद॒र्शा इ॒मं व॑ह॒तुमाग॑मन्। ते अ॒स्यै व॒ध्वै संप॑त्न्यै प्र॒जाव॒च्छर्म॑ यच्छन्तु॥ ७३॥

१. **ये पितरः**=जो हमारे पितर—बड़े लोग **वधूदर्शा**=वधू को देखने की कामनावाले **इमम्**=इस **वहतुं आगमन्**=विवाह में आये हैं, **ते**=वे सब **अस्यै**=इस **संपत्न्यै**=पति के साथ सम्यक् मेलवाली **वध्वै**=वधू के लिए **प्रजावत् शर्म यच्छन्तु**=प्रशस्त सन्तानवाले सुख को प्राप्त कराएँ। उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए आशीर्वाद दें।

भावार्थ—विवाह में उपस्थित सब बड़े लोग इस पति के साथ मेलवाली वधू के लिए उत्तम सन्तति की प्राप्ति का आशीर्वाद दें।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

पूर्वा रशनायमाना

येदं पूर्वाग॑न्रशना॒यमा॑ना प्र॒जाम॒स्यै द्रवि॑णं चे॒ह द॒त्त्वा।
तां व॑ह॒न्त्वग॑त॒स्यानु॒ पन्थां॑ वि॒राडि॒यं सु॑प्र॒जा अत्य॑जैषीत्॥ ७४॥

१. **या**=जो **पूर्वा**=(पॄ) पालन व पूरण करनेवाली **रशनायमाना**=रशना के समान आचरण करनेवाली, अर्थात् कर्त्तव्यकर्मों के करने में सदा कटिबद्ध यह युवति **इदम्**=इस गृह में **आगन्**=आई है। **अस्यै**=इस वधू के लिए **इह**=यहाँ इस गृह में **प्रजां द्रविणं च दत्वा**=उत्तम सन्तति व ऐश्वर्य को प्राप्त कराके **ताम्**=उस वधू को **अ-गतस्य पन्थाम् अनुवहन्तु**=न चले गये, अर्थात् दीर्घजीवी पति के मार्ग पर अनुकूलता से सब देव ले-चलें। सब देवों के अनुग्रह से यह दीर्घजीवी पति के अनुकूल मार्ग पर चलनेवाली हो। इसका सौभाग्य स्थिर रहे और पति के साथ अनुकूलता में बनी रहे। २. इस प्रकार **इयम्**=यह **विराट्**=अति तेजस्विनी वधू **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजावाली होती हुई **अति अजैषीत्**=सब कष्टों व शत्रुओं को जीतनेवाली बनें।

भावार्थ—पत्नी (क) पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो। (ख) कर्त्तव्य-कर्मों के करने में सदा कटिबद्ध हो। (ग) सौभाग्यशालिनी बने। (घ) पति के अनुकूल मार्ग पर चले। तेजस्विनी हो। (ङ) उत्तम प्रजावाली हो। (च) कष्टों व शत्रुओं को जीतनेवाली हो।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

सुबुधा-बुध्यमाना

प्र बु॑ध्यस्व सु॒बुधा॒ बुध्य॑माना दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय।
गृ॒हान्ग॑च्छ गृ॒हप॑त्नी॒ यथासो॑ दी॒र्घं त॒ आयुः॑ सवि॒ता कृ॑णोतु॥ ७५॥

१. पत्नी को अन्तिम आशीर्वाद व शिक्षा इस रूप में दी जाती है कि **प्रबुध्यस्व**=तू प्रकृष्ट बोधवाली हो। **सुबुधा**=उत्तम बुद्धिवाली तू **बुध्यमाना**=समझदार बन। इसप्रकार तू **शतशारदाय दीर्घायुत्वाय**=शत वर्षों के दीर्घजीवन के लिए हो। २. **गृहान् गच्छ**=पति के गृह को तू प्राप्त हो **यथा**=जिससे तू **गृहपत्नी असः**=गृहपत्नी बने। तू वस्तुतः घर का उत्तमता से रक्षण करनेवाली हो। **सविता**=वह सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु ते **आयुः**=तेरे आयुष्य को **दीर्घं कृणोतु**=दीर्घ करे।

भावार्थ—पत्नी उत्तम बोधवाली होती हुई सब कार्यों को समझदारी से करे। पतिगृह को प्राप्त होकर वस्तुतः गृहपत्नी बने। प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्यों को करती हुई दीर्घजीवन प्राप्त करे।

॥ इति चतुर्थदशं काण्डम्॥

अथ पञ्चदशं काण्डम्

अथ त्रिंशः प्रपाठकः ॥

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

सम्पूर्ण पञ्चदशकाण्ड का ऋषि अथर्वा है—अथ अर्वाङ् =अन्तः-निरीक्षण करनेवाला व अथर्वा न डाँवाडोल होनेवाला। यह व्रात्य है—व्रतमय जीवनवाला है, विद्वान्, ज्ञानी है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—**साम्नीपङ्क्तिः, द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

इयमान व्रात्य

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्॥ १ ॥

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्तत्प्राजनयत्॥ २ ॥

१. **व्रात्यः**=व्रतसमूह का पालन करनेवाला यह व्रतीपुरुष **इयमानः एव आसीत्**=गतिशील ही था, यह कभी अकर्मण्य नहीं हुआ। **सः**=वह व्रात्य **प्रजापतिं समैरयत्**=अपने हृदयदेश में प्रजापति प्रभु की भावना को प्रेरित करता था। इसने हृदय में प्रभु का चिन्तन किया। वस्तुतः प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रिया होने पर क्रिया में अपवित्रता नहीं आती। २. **सः प्रजापतिः**=उस प्रजापति प्रभु ने **सुवर्णम्**=प्रभु गुणों का सम्यक् वर्णन करनेवाले इस ज्ञानी को **आत्मन् अपश्यत्**=अपनी गोद में बैठा देखा। ब्रह्मनिष्ठ होकर ही तो यह व्रात्य सब कर्मों को कर रहा था, **तत्**=अतः **प्राजनयत्**=प्रभु ने इस व्रात्य के जीवन का विकास किया। इसे उत्तम गुणों से युक्त जीवनवाला बनाया।

भावार्थ—व्रतमय जीवनवाला यह साधक क्रियाशील हुआ। इसने हृदय में प्रभु की भावना को प्रेरित किया। प्रभु ने इस आत्मनिष्ठ व्रात्य के गुणों का विकास किया।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—**३ एकपदायजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्, ४ एकपदाविराड्गायत्री, ५ साम्न्यनुष्टुप्** ॥

'ब्रह्म (ज्ञान) तप व सत्य' द्वारा व्रात्य का 'महादेव व ईशान' बनना

तदेकमभवत्तल्ललाममभवत्तन्महदभवत्तज्ज्येष्ठमभवत्तद्
ब्रह्माभवत्तत्तपोऽभवत्तत्सत्यमभवत्तेन प्राजायत॥ ३ ॥

सो ऽवर्धत स महानभवत्स महादेवो ऽभवत्॥ ४ ॥

स देवानामीशां पर्यैत्स ईशानोऽभवत्॥ ५ ॥

१. **तत्**=प्रभु ने जब इस व्रात्य की शक्तियों का विकास किया तब वह **एकं अभवत्**=अद्वितीय हुआ—वह अनुपमरूप से विकसित शक्तियोंवाला बना। **तत् ललामं अभवत्**=वह बड़े सुन्दर (charming) जीवनवाला हुआ। **तत् महत् अभवत्**=वह महान् हुआ। विकसित शक्तियोंवाले सुन्दर जीवनवाला होने से वह पूज्य हुआ। **तत् ज्येष्ठम् अभवत्**=वह प्रशस्यतम बना—सबसे बड़ा हुआ—'ज्ञान-बल व ऐश्वर्य' से बढ़ा। **तत् ब्रह्म अभवत्**=वह ज्ञान का पुञ्ज बना। **तत् तपः अभवत्**=वह तपोमूर्त्ति हुआ। **तत् सत्यं अभवत्**=वह सत्य का पालन करनेवाला हुआ।

तेन=उस 'ब्रह्म, तप व सत्य' से वह **प्राजायत**=प्रकृष्ट विकासवाला हुआ। मस्तिष्क में ज्ञान से, शरीर में तप से तथा मन में सत्य से शोभायमान हुआ। २. इसप्रकार **सः**=वह **अवर्धत**=बढ़ा, **सः**=वह **महान्**=पूज्य **अभवत्**=हुआ। **सः महादेवः अभवत्**=उस महान् देव प्रभु के पूजन से वह पुजारी भी प्रभु के रंग में रंगा गया और वह महादेव ही हो गया। 'ब्रह्म इव' परमेश्वर-सा बन गया। ३. **सः**=वह **देवानाम्**=सब देवों की **ईशा पर्यैत्**=ऐश्वर्यशक्ति को व्याप्त करनेवाला हुआ। सब दिव्यगुणों को धारण करने के लिए यत्नशील हुआ। इसी से **सः**=वह **ईशानः**=ईशान **अभवत्**=हो गया। उस व्रात्य का नाम ईशान ही पड़ गया।

भावार्थ—व्रात्य ने प्रभु-सम्पर्क द्वारा अपने जीवन को अनुपम, सुन्दर, महान् व ज्येष्ठ बनाया। 'ज्ञान, तप व सत्य' को धारण करके वह विकसित शक्तिवाला हुआ। महादेव की उपासना करता हुआ 'महान् व ईशान' बना।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**६ त्रिपदाप्राजापत्याबृहती, ७ आसुरीपङ्क्तिः, ८ त्रिपदाऽनुष्टुप्**॥

इन्द्रधनुष् द्वारा 'अन्तः व बाह्य' शत्रुओं का विजय

स एकव्रात्योऽभवत्स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः॥ ६॥
नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम्॥ ७॥
नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन
द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति॥ ८॥

१. सब देवों का ईश बनकर **सः**=वह **एकव्रात्यः अभवत्**=अद्वितीय व्रतमय जीवनवाला हुआ। **सः धनुः आदत्त**=उसने धनुष् ग्रहण किया। धनुष् कोई और नहीं था। **तत् एव इन्द्रधनुः**=वही इन्द्रधनुष् था। 'प्रणवो धनुः' ओंकाररूप धनुष् को उसने ग्रहण किया। २. **अस्य**=इस धनुष् का **उदरं नीलम्**=उदर नीला है और **पृष्ठं लोहितम्**=पृष्ठ लोहित है। 'ओम्' इस धनुष का 'अ' एक सिरा है, 'म्' दूसरा। 'अ' विष्णु है, 'म्' शिव व रुद्र है। इसका मध्य 'उ' ब्रह्मा है। ३. यह उदर में होनेवाला—मध्य में होनेवाला 'उ' नील है, '(नि+इला)'=निश्चित ज्ञान की वाणी है। इसका अधिष्ठाता ब्रह्मा है। **नीलेन एव**=इसके द्वारा ही **अप्रियं भ्रातृव्यम्**=अप्रीतिकर शत्रु=कामवासना को **प्रोर्णोति**=आच्छादित कर देता है। ज्ञान प्रबल हुआ तो वह काम को नष्ट कर देता है। 'ओम्' इस धनुष् का पृष्ठ सिरा 'अ और म्' क्रमशः विष्णु व रुद्र के वाचक होते हुए शक्ति की सूचना देते हैं। 'लोहित' रुधिर का वाचक है तथा लाल रंग का प्रतिपादन करता है। ये दोनों ही शक्ति के साथ सम्बद्ध हैं। इस **लोहितेन**=शक्ति से **द्विषन्तं विध्यति**=द्वेष करनेवाले को विद्ध करता है—शत्रुओं को जीतता है। 'उ' से अन्तःशत्रुओं की विजय होती है तो 'म्' से बाह्यशत्रुओं की। **इति ब्रह्मवादिनो वदन्ति**=ऐसा ब्रह्मज्ञानी पुरुष कहते हैं।

भावार्थ—व्रतमय जीवनवाला पुरुष 'ओम्' नामक इन्द्रधनुष् को अपनाता है। इस धनुष् का मध्य 'उ' 'ज्ञान की वाणी' (वेद) का वाचक है। इसके द्वारा यह अन्तःशत्रु काम का विजय करता है और इस धनुष के सिरे 'अ' और 'म्' विष्णु व रुद्र के वाचक होते हुए शक्ति के प्रतीक हैं। इनके द्वारा यह बाह्य शत्रुओं को जीतता है।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—१ साम्न्यनुष्टुप्, २ साम्नीत्रिष्टुप्, ३ द्विपदाऽऽर्षीपङ्क्तिः, ४ द्विपदाब्राह्मीगायत्री॥

प्राची दिशा में 'बृहत्-रथन्तर, आदित्य व विश्वेदेवों' की प्राप्ति

स उदतिष्ठत्स प्राचीं दिशमनु व्यऽचलत्॥ १॥
तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यऽचलन्॥ २॥
बृहते च वै स रथन्तराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च
देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति॥ ३॥
बृहतश्च वै स रथन्तरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च
देवानां प्रियं धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि॥ ४॥

१. **सः**=वह व्रात्य **उदतिष्ठत्**=उठा, आलस्य को छोड़कर उद्यत हो गया और **सः**=वह **प्राचीं दिशम्**=(प्र अञ्च) आगे बढ़ने की दिशा को **अनुव्यचलत्**=लक्ष्य करके चला। व्रतमय जीवनवाला पुरुष क्यों न आगे बढ़ेगा? २. **तम्**=उस व्रतमय जीवनवाले, अग्रगति के लिए निरन्तर उद्यत व्रात्य को **बृहत् च**=हृदय की विशालतां, **रथन्तरं च**=शरीररूप रथ से जीवनमार्ग को पार करने की वृत्ति **आदित्याः च**=सूर्यसम ज्ञानदीप्तियाँ तथा **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। ३. **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **बृहते च**=हृदय की विशालता के लिए **रथन्तराय**=शरीररूप रथ के द्वारा जीवनमार्ग को पार करने की वृत्ति के लिए **आदित्येभ्यः च**=ज्ञानदीप्तियों को प्राप्त करने के लिए **च**=और **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब दिव्यगुणों के ग्रहण के लिए **आवृश्चते**=समन्तात् वासनारूप शत्रुओं का छेदन करता है। यह भी शत्रुओं का छेदन करने में प्रवृत्त होता है। **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार **विद्वांसं व्रात्यम् उपवदति**=ज्ञानी व्रतीपुरुष के समीप उपस्थित होकर इन ज्ञानों व व्रतों की चर्चा करता है—इन ज्ञान व व्रत की बातों को ही पूछता है, ४. **सः**=वह **वै**=निश्चय से **बृहत् च**=विशाल हृदय का **रथन्तरस्य च**=शरीर-रथ से जीवन-यात्रा के मार्ग को पार करने की वृत्ति का, **आदित्यनां च**=विज्ञानों के आदानों का **च**=और **विश्वेषां देवानाम्**=सब दिव्यगुणों का **प्रियं धाम भवति**=प्रियधाम बनता है। इन सब बातों का वह निवासस्थान होता है। **तस्य**=उस विद्वान् व्रात्य के जीवन में **प्राच्यां दिशि**=प्रगति की दिशा में 'बृहत्, रथन्तर, आदित्य और विश्वेदेव' जीवन के साथी बनते हैं।

भावार्थ—जिस समय यह व्रतमय जीवनवाला पुरुष आलस्य को छोड़कर प्रगति की दिशा में आगे बढ़ता है तब इस दिशा में वह 'विशालहृदयता, शरीर-रथ से जीवनमार्ग को पार करने की वृत्ति, विज्ञानों का आदान व दिव्यगुणों के धारण' से अलंकृत जीवनवाला होता है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—५ द्विपदाऽऽर्चीजगती, ६ साम्न्यनुष्टुप्, ७ पदपङ्क्तिः, ८ त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्॥

श्रद्धा (कीर्ति और यश) मातरिश्वा पवमान

श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः॥ ५॥
भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम्॥ ६॥
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः॥ ७॥

कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद॥ ८॥

१. प्राची दिशा में आगे बढ़नेवाले इस विद्वान् व्रात्य की **श्रद्धा पुंश्चली**=श्रद्धा प्रेरिका भावना होती है (प्रमोसं चालयति प्रेरयति)! यह अपने अग्रगति के मार्ग पर श्रद्धापूर्वक आगे बढ़ता है। इसके लिए **मित्रः**=प्राणशक्ति के संचार द्वारा मृत्यु से रक्षित करनेवाला (प्रमीते त्रायते) सूर्य **मागधः**=स्तुति पाठक होता है। सूर्य इन्हें प्रभु-स्तवन करता प्रतीत होता है। सूर्य प्रभु की अद्भुत विभूति है—यह प्रभु की महिमा का मानो गायन करता है। **विज्ञानं वासः**=विज्ञान इसका वस्त्र होता है। विज्ञान इसके आच्छादन का साधन बनता है। **अहः उष्णीषम्**=दिन इसका उष्णीष स्थानापन्न होता है। दिन को यह शिरोवेष्टन=मुकुट बनाता है। दिन के एक-एक क्षण को यह उपयुक्त करता हुआ उन्नति-शिखर पर पहुँचने के लिए यत्नशील होता है। **रात्री केशः**=रात्रि इसके केश बनते हैं। केश जैसे सिर के रक्षक होते हैं उसीप्रकार रात्रि इसके लिए रमयित्री होती हुई इसे स्वस्थ मस्तिष्क बनाती है। **हरितौ**=अन्धकार का हरण करनेवाले सूर्य और चन्द्र **प्रवतौ**=इसे विराट् पुरुष के कुण्डल प्रतीत होते हैं और **कल्मलिः**=तारों की ज्योति (splendour) **मणिः**=उसे विराट् पुरुष की मणि प्रतीत होती है। ये सूर्य-चन्द्र व तारों में प्रभु की महिमा को देखता है। २. **भूतं च भविष्यत् च**=भूत और भविष्यत् **परिष्कन्दौ**=इसके दास (servent) होते हैं। भूत से यह ग़लतियों को न करने का पाठ पढ़ता है और भविष्यत् को उज्ज्वल बनाने के स्वप्न लेता है तथा प्रवृद्ध पुरुषार्थवाला होता है। **मनः**=मन इसका **विपथम्**=विविध मार्गों से गति करनेवाला युद्ध का रथ होता है। मन के दृढ़ संकल्प से ही तो इसने जीवन-संग्राम में विजय पानी है। ३. **मातरिश्वा च पवमानश्च**=श्वास तथा उच्छ्वास इसके **विपथवाहौ**=मनरूपी रथ के वाहक घोड़े होते हैं। प्राणापान के द्वारा ही जीवन-रथ आगे बढ़ता है। **वातः सारथी**= क्रियाशीलता (वा गतौ) इस रथ का सारथि है। **रेष्मा प्रतोदः**=वासनाओं का संहार ही चाबुक है। ४. **कीर्तिः च यशः च**=प्रभु-गुणगान (glory, speach) व (कीर्तन तथा दीप्ति splendour) इसके **पुरः सरौ**=आगे चलनेवाले होते हैं। **यः एवं वेदः**=जो इसप्रकार इस सारी बात को समझ लेता है, वह भी इस मार्ग पर चलता है और **कीर्तिः गच्छति**=कीर्ति प्राप्त होती है तथा **यशः गच्छति**=यश प्राप्त होता है।

भावार्थ—विद्वान् व्रात्य जब प्राची दिशा में (अग्र गति की दिशा में) आगे बढ़ता है तब उसे श्रद्धा, कीर्ति व यशादि प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**९ साम्न्यनुष्टुप्, १० एकपदोष्णिक्, ११ द्विपदाऽऽर्षीभुरिक्त्रिष्टुप्, १२ आर्षीपरानुष्टुप्**॥

दक्षिणा दिक् में 'यज्ञायज्ञिय वामदेव्य यज्ञ यज्ञमान व पशुओं' की प्राप्ति

स उदतिष्ठत्स दक्षिणां दिशमनु व्य चलत्॥ ९॥
तं यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च।
पशवश्चानुव्य चलन्॥ १०॥
यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च यजमानाय
च पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति॥ ११॥
यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च यजमानस्य
च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य दक्षिणायां दिशि॥ १२॥

१. **सः**=वह व्रात्य **उदतिष्ठत्**=उठता है। आलस्य को छोड़कर आगे बढ़ता हुआ **सः**=वह

दक्षिणां दिशम्=नैपुण्य की दिशा को **अनुव्यचलत्**=अनुक्रमेण प्राप्त होता है, किसी भी क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ता हुआ वह बड़ा निपुण बन जाता है। २. **तम्**=उस नैपुण्यप्राप्त व्रात्य को **यज्ञायज्ञियं च**=(सर्वेभ्यो यज्ञेभ्यः हितकरं वेदज्ञानम्) सब यज्ञों के लिए हितकर वेदज्ञान, **वामदेव्यं च**=सुन्दर, दिव्यगुणों (वाम lovely) के लिए हितकर प्रभु-स्तवन, **यज्ञः च**=श्रेष्ठतम कर्म, **यजमानाः च**=यज्ञशील पुरुष **च**=तथा **पशवः**=यज्ञघृत को प्राप्त कराने के लिए आवश्यक गवादि पशु **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। उसके अनुकूल गतिवाले होते हैं। ३. **सः**=वह व्रात्य विद्वान् **वै**=निश्चय से **यज्ञायज्ञियाय च**=यज्ञों के लिए हितकर वेदज्ञान के लिए, **वामदेव्याय च**=सुन्दर, दिव्यगुणों के लिए हितकर प्रभु-स्तवन के लिए, **यज्ञाय च**=यज्ञ के लिए, **यजमानाय च**=यज्ञशील पुरुष की प्राप्ति के लिए, **पशुभ्यः च**=गवादि पशुओं की प्राप्ति के लिए **आवृश्चते**=समन्तात् वासनारूप शत्रुओं का छेदन करता है। वह व्यक्ति भी ऐसा ही करता है, **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार **विद्वांसं व्रात्यं उपवदति**=ज्ञानी व्रतीपुरुष के समीप इसीप्रकार ज्ञानचर्चा करता है। ४. यह वासनारूप शत्रुओं का छेदन करनेवाला पुरुष **वै**=निश्चय से **यज्ञायजिस्य च**=यज्ञों के लिए हितकर वेदज्ञान का **वामदेवस्य च**=सुन्दर, दिव्यगुणों के लिए हितकर प्रभु-स्तवन का **यज्ञस्य च**=यज्ञ का, **यजमानस्य च**=यज्ञशील पुरुषों का, **पशूनां च**=यज्ञ का घृत प्राप्त करानेवाले गवादि पशुओं का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है—ये सब इसे प्राप्त होते हैं, **तस्य**=उस विद्वान् व्रात्य के जीवन में **दक्षिणां दिशि**=दक्षिण दिशा में 'यज्ञायज्ञीय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान, पशु' जीवन के साथी बनते हैं।

भावार्थ—यह विद्वान् व्रात्य आलस्य को छोड़कर आगे बढ़ता हुआ नैपुण्य को प्राप्त करता है तो वह 'यज्ञों के लिए हितकर वेदज्ञान को, दिव्यगुणोत्पादक प्रभु-स्तवन को, यज्ञों को, यज्ञमानों व पशुओं' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१३ द्विपदाऽऽर्चीजगती, १४ साम्नीपङ्क्तिः**॥

उषा, अमावास्या, पौर्णमासी

उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवतौ कल्मलिर्मणिः॥ १३॥
अमावास्या॑ च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम्।
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी
रेष्मा प्रतोदः। कीर्तिश्च यशश्च पुरः सरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या
यशो गच्छति य एवं वेद॥ १४॥

१. दक्षिण दिशा में—नैपुण्य की दिशा में गतिवाले इस विद्वान् व्रात्य की **उषाः**=उषा **पुंश्चली**=नारी के समान होती है, इसे कर्मों में प्रेरित करती है। यह उषा में ही उठकर कर्त्तव्य-कर्मों का प्रारम्भ करता है। **मन्त्रः मागधः**=वेदमन्त्र इसके स्तुति-पाठक होते हैं। यह मन्त्रों द्वारा प्रभु-स्तवन करता है। शेष मन्त्र पञ्चमवत्। २. **अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ**=अमावास्या और पौर्णमासी इसके सेवक होते हैं। अमावास्या से यह अपने जीवन में सूर्य-चन्द्र के समन्वय का पाठ पढ़ता है। मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य को तथा हृदय में मनःप्रसादरूप चन्द्र को उदित करने का प्रयत्न करता है तथा पौर्णमासी से जीवन को पूर्ण चन्द्र की भाँति सोलह कला सम्पूर्ण बनाने के लिए यत्नशील होता है। शेष मन्त्र षष्ठवत्।

भावार्थ—यह विद्वान् व्रात्य आगे बढ़ता हुआ, नैपुण्य को प्राप्त करता हुआ, ऐश्वर्यसम्पन्न

होकर भी उषाकाल में प्रबुद्ध होकर मन्त्रों द्वारा प्रभु-स्तवन करता है। अपने जीवन में ज्ञान व मनःप्रसाद का समन्वय करता है और जीवन को पूर्ण व चन्द्र की भाँति सोलह कला सम्पन्न बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१५ साम्न्यनुष्टुप्, १६ साम्नीत्रिष्टुप्, १७ द्विपदाविराडार्षीपङ्क्तिः, १८ द्विपदाब्राह्मीगायत्री**॥

प्रतीची दिशा में 'वैरूप, वैराज, आपः, वरुण राजा'

स उदतिष्ठत्स प्रतीचीं दिशमनु व्य॑चलत्॥ १५॥
तं वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्य॑चलन्॥ १६॥
वैरूपाय च वै स वैराजाय चाद्भ्यश्च वरुणाय च
राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति॥ १७॥
वैरूपस्य च वै स वैराजस्य चापां च वरुणस्य च
राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्य प्रतीच्यां दिशि॥ १८॥

१. **सः**=वह व्रात्य विद्वान् **उदतिष्ठत्**=उठा और आलस्य को दूर भगाकर **प्रतीचीं दिशं अनुव्यचलत्**=प्रतीची दिशा की ओर 'प्रति अञ्च' प्रत्याहार की दिशा में चला। इन्द्रियों को इसने विषय-व्यावृत्त करने का प्रयत्न किया। २. इस प्रत्याहार के होने पर **तम्**=उस व्रात्य विद्वान् को **वैरूपं च**=विशिष्ट तेजस्वीरूप **वैराजं च**=विशिष्ट ज्ञानदीप्ति, **आपः च**=रेतःकण (आपः रेतो भूत्वा०), **वरुणः च राजा**=और जीवन को दीप्त करनेवाला (राजा), निर्द्वेषता का भाव **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। ३. **सः**=वह व्रात्य विद्वान् **वै**=निश्चय से **वैरूपाय च**=विशिष्ट तेजस्वीरूप के लिए, **वैराजाय च**=विशिष्ट ज्ञानदीप्ति के लिए, **अद्भ्यः च**=शरीर में रेतःकणों के रक्षण के लिए **च**=तथा **वरुणाय राज्ञः**=जीवन को दीप्त बनानेवाले निर्द्वेषता के भाव के लिए **आवृश्चते**=समन्तात् वासनाओं का छेदन करता है। यह पुरुष भी वासनाओं का छेदन करता है, **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार **व्रात्यम्**=व्रती **विद्वांसम्**=विद्वान् के **उपवदति**=समीप होकर इन बातों की चर्चा करता है ४. **सः**=वह **वैरूपस्य च**=विशिष्ट तेजस्वीरूप का, **वैराजाय च**=विशिष्ट ज्ञानदीप्ति का, **अपां च**=रेतःकणों का **च**=और **राज्ञः वरुणस्य**=जीवन को दीप्त बनानेवाले निर्द्वेषता के भाव का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है। **तस्य**=उस विद्वान् व्रात्य के **प्रतीच्यां दिशि**=इस प्रत्याहार की दिशा में 'वैरूप, वैराज्ञ, आपः और वरुण राजा' साथी बनते हैं।

भावार्थ—यह व्रात्य विद्वान् प्रत्याहार के द्वारा 'विशिष्ट तेजस्वीरूप को, विशिष्ट ज्ञानदीप्ति को, रेतःकणों को तथा जीवन को दीप्त बनानेवाली निर्द्वेषता' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१९ द्विपदाऽऽर्षीजगती, २० आसुरीगायत्री**॥

प्रत्याहार में सफल बनने के लिए

इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवतौ कल्मलिर्मणिः॥ १९॥
अहश्च रात्री च परिष्कन्दौ मनो विपथम्। मातरिश्वा च
पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः। कीर्तिश्च

यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद॥ २०॥

१. इस व्रात्य विद्वान् के प्रत्याहार की दिशा में चलने पर इस **पुंश्चली**=ज्ञानवाणी की अधिष्ठात्री देवता पत्नी के समान होती है—प्रेरणा देनेवाली होती है। **हसः मागधः**=हास्य इसका स्तुतिपाठक होता है, इसे अपने चारों ओर खिलते हुए फूल व चमकते हुए (twinkling) तारे प्रभु-स्तवन करते प्रतीत होते है। शेष पञ्चम मन्त्रवत्। २. **अह च रात्री च**=दिन और रात **परिष्कन्दौ**=सेवक (servant) होते हैं। दिन इसे यज्ञादि उत्तम कर्मों को करने का अवसर देता है और रात्री इसे अपने अन्दर फिर से शक्ति भरने में सहायक होती है। शेष सप्तमाष्टममन्त्रवत्।

भावार्थ—यह व्रात्य विद्वान् इस प्रत्याहार में सफलता प्राप्त करने के लिए सरस्वती का प्रिय बनता है, प्रसन्न रहता हुआ प्रभु-स्तवन करता है, दिन को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यतीत करता है और रात्रि में विश्राम करता हुआ फिर से अपने में शक्ति भरता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**२१ साम्न्यनुष्टुप्, २२ साम्नीत्रिष्टुप्, २३ निचृदार्षीपङ्क्तिः, २४ द्विपदाब्राह्मीगायत्री**॥

उदीची दिशा में 'श्यैत, नौधस, सप्तर्षि, सोम राजा'

स उदतिष्ठत्स उदीचीं दिशमनु व्यचलत्॥ २१॥

तं श्यैतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्य चलन्॥ २२॥

श्यैताय च वै स नौधसाय च सप्तर्षिभ्यश्च सोमाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति॥ २३॥

श्यैतस्य च वै स नौधसस्य च सप्तर्षीणां च सोमस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्योदीच्यां दिशि॥ २४॥

१. **सः**=वह व्रात्य **उदतिष्ठत्**=आलस्य छोड़कर उठ खड़ा हुआ और **सः**=वह इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करके **उदीचीं दिशं अनुव्यचलत्**=उत्तर दिशा की ओर—उन्नति की ओर क्रमशः चला। २. **तम्**=उन्नति की दिशा में चलते हुए उसको **श्यैतं च**=(श्यैङ् गतौ) गतिशीलता **नौधसं च**=(नौधा ऋषिर्भवति भवनं दधाति—नि०) प्रभु-स्तवन, **सप्तर्षयः च**='दो कान, दो आँखें, दो नासिका-छिद्र व मुख' रूप सप्तर्षयः और **राजा सोमः**=जीवन को दीप्त बनानेवाला सोम (वीर्यशक्ति)—ये सब **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। ३. **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **श्यैताय च**=गतिशीलता के लिए **नौधसाय च**=प्रभु-स्तवन के लिए, **सप्तर्षभ्यः च**=कान आदि सप्तर्षियों के लिए **च**=और **राज्ञे सोमाय**=जीवन को दीप्त बनानेवाले सोम (वीर्य) के लिए **आवृश्चते**=समन्तात् वासनाओं का विनाश करता है। वह भी वासनाओं का विनाश करता है **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार **व्रात्यम्**=व्रती **विद्वांसम्**=विद्वान् को **उपवदति**=समीपता से प्राप्त होकर इस उन्नति के मार्ग की चर्चा करता है। ४. **सः**=वह व्रात्य विद्वान् **वै**=निश्चय से **श्यैतस्य च**=क्रियाशीलता का **नौधसस्य च**=प्रभु-स्तवन की वृत्ति का **सप्तर्षीणां च**=कान आदि सप्तर्षियों का **च**=और **राज्ञः सोमस्य**=जीवन को दीप्त बनानेवाले सोम का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है। **तस्य**=उस व्रात्य विद्वान् के **उदीच्यां दिशि**=उत्तर दिशा में—उन्नति की दिशा में 'श्यैत, नवधस, सप्तर्षि व सोम राजा' साथी होते हैं।

भावार्थ—यह व्रात्य विद्वान् उन्नति की दिशा में आगे बढ़ता हुआ 'गतिशीलता, प्रभु-स्तवन, सप्तर्षियों द्वारा ज्ञानप्राप्ति तथा सोमरक्षण द्वारा दीप्त जीवन' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—२५ द्विपदाऽऽर्चीजगती, २६ साम्न्यनुष्टुप्, २७ पदपङ्क्तिः, २८ त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्॥

विद्युत्, स्तनयित्नु, श्रुतविश्रुत

विद्युत्पुंश्चली स्तनयित्नुर्मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः॥ २५॥
श्रुतं च विश्रुतं च परिष्कन्दौ मनो विपथम्॥ २६॥
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः॥ २७॥
कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद॥ २८॥

१. इस उन्नति की दिशा में चलनेवाले व्रात्य की **विद्युत् पुंश्चली**=बिजली के समान विशिष्ट ज्ञान की दीप्ति पत्नी होती है—प्रेरिका होती है। **स्तनयित्नु**=मेघ-गर्जना इसका **मागधः**=स्तुतिपाठ होता है। मेघ गर्जना में भी यह प्रभु की महिमा को देखता है। शेष पञ्चम मन्त्रवत्। २. **श्रुतं च विश्रुतं च**=प्रकृति-विज्ञान व अध्यात्म-विज्ञान इस व्रात्य विद्वान् के **परिष्कन्दौ**=सेवक होते हैं। प्रकृति-विज्ञान से यह अभ्युदय को सिद्ध करता है तो अध्यात्म-विज्ञान से यह निःश्रेयस की साधना करनेवाला होता है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—यह व्रात्य विद्वान् निरन्तर उन्नत होने के लिए, विशिष्ट ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है। यह मेघ-गर्जना में भी प्रभु-स्तवन होता हुआ देखता है। प्रकृति-विज्ञान इसके अभ्युदय का साधक होता है और आत्मविज्ञान इसे निःश्रेयस का अधिकारी बनाता है।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—रुद्रः॥ छन्दः—१ त्रिपदासमविषमागायत्री, २ त्रिपदाभुरिगार्चीत्रिष्टुप्, ३ द्विपदाप्राजापत्याऽनुष्टुप्, ४ त्रिपदास्वराट्प्राजापत्यापङ्क्तिः॥

व्रात्य की आसन्दी

स संवत्सरमूर्ध्वो ऽतिष्ठत्तं देवा अब्रुवन्व्रात्य किं नु तिष्ठसीति॥ १॥
सो ऽब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति॥ २॥
तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन्॥ ३॥
तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ॥ ४॥

१. **सः**=वह व्रात्य विद्वान् **संवत्सरम्**=वर्षभर **ऊर्ध्वः अतिष्ठत्**=संसार से मानो ऊपर उठा हुआ ही, अपनी तपस्या में ही स्थित रहा। **तम्**=उसको **देवाःअब्रुवन्**=देववृत्ति के व्यक्तियों ने मिलकर कहा अथवा माता-पिता व आचार्यादि ने **इति**=इसप्रकार कहा कि—हे **व्रात्य**=व्रतमय जीवनवाले विद्वन्! **किम्**=क्या **नु**=अब भी **तिष्ठति इति**=इसप्रकार तपस्या में ही स्थित हुए हो। अब कहीं आश्रम में स्थित होकर लोकहित के दृष्टिकोण से कार्य आरम्भ करो न? २. इसप्रकार देवों के आग्रह पर **सः**=उस व्रात्य ने **इति**=इसप्रकार **अब्रवीत्**=कहा कि **मे**=मेरे लिए आप **आसन्दीं संभरन्तु**=आसन्दी का संभरण करने की कृपा कीजिए। 'मुझे कहाँ बैठकर कार्य करना चाहिए', उस बात का आप निर्देश कीजिए। ३. यह उत्तर पाने पर सब देवों ने **तस्मै व्रात्याय**=उस व्रात्य के लिए **आसन्दीं समभरन्**=आसन्दी प्राप्त कराई। वस्तुतः वह आसन्दी क्या थी? सारा काल ही उस आसन्दी के चार चरणों के रूप में था। इस आसन्दी के संभरण का कोई

शुभ मुहूर्त्त थोड़े ही निकालना था। शुभ कार्य के लिए सारा समय ही शुभ है। ४. देवों से प्राप्त कराई गई **तस्याः**=उस आसन्दी के **ग्रीष्मः च वसन्तः च**=ग्रीष्म और वसन्त ऋतु **दौ पादौ आस्ताम्**=दो पाँव थे तथा **शरद च वर्षा च दौ**=शरद और वर्षा दूसरे दो पाये बने। वस्तुतः इस व्रात्य ने न सर्दी देखनी है न गर्मी, न वर्षा न पतझड़। उसने तो सदा ही लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होना है।

भावार्थ—व्रात्य विद्वान् संसार से अलग रहकर तपस्या ही न करता रह जाए। उसे लोकहित के कार्यों को भी अवश्य करना ही चाहिए और इन शुभ कार्यों के लिए मुहूर्त्त ढूँढने की आवश्यकता नहीं। शुभ कार्य के लिए सारा समय शुभ ही है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**५ आर्चीबृहती, ६ आसुर्यनुष्टुप्, ७ साम्नीगायत्री, ८ आसुरीपङ्क्तिः, ९ आसुरीजगती**॥

'ज्ञान व उपासना'-मयी आसन्दी

बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये३ आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्चये॥ ५॥
ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः॥ ६॥
वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम्॥ ७॥
सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः॥ ८॥
तामासन्दीं व्रात्य आरोहत्॥ ९॥

१. व्रात्य की इस आसन्दी के **बृहत् च रथन्तरं च**=हृदय की विशालता और शरीर-रथ से भवसागर को तैरने की भावना ही **अनूच्ये आस्ताम्**=दाएँ-बाएँ की लकड़ी की दो पाटियाँ थीं **च**=तथा **यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च**=यज्ञों के लिए हितकर वेदज्ञान तथा सुन्दर दिव्यगुणों के लिए हितकर प्रभु का उपासन ही **तिरश्च्ये**=दो तिरछे काष्ठ सेरुवे थे। २. **ऋचः**=ऋचाएँ—प्रकृतिविज्ञान के मन्त्र ही उस आसन्दी के **प्राञ्चः तन्तवः**=लम्बे फैले हुए तन्तु थे और **यजूंषि**=यज्ञ-प्रतिपादक मन्त्र ही **तिर्यञ्चः**=तिरछे फैले हुए तन्तु थे। **वेदः**=ज्ञान ही उस आसन्दी का **आस्तरणम्**=बिछौना था, **ब्रह्म**=तप (ब्रह्मः तपः) व तत्त्वज्ञान ही **उपबर्हणम्**=तकिया (सिर रखने का सहारा) था। **साम**=उपासना-मन्त्र व शान्तभाव ही **आसादः**=उस आसन्दी में बैठने का स्थान था और **उद्गीथः**=उच्चैः गेय 'ओम्' इसका **उपश्रयः**=सहारा था (टेक थी)। ३. **ताम्**=इस ज्ञानमयी **आसन्दीम्**=आसन्दी पर **व्रात्यः आरोहत्**=व्रात्य ने आरोहण किया।

भावार्थ—व्रात्य जिस आसन्दी पर आरोहण करता है वह ज्ञान व उपासना की बनी हुई है। उपासना से शक्ति प्राप्त करके व ज्ञान से मार्ग का दर्शन करके वह लोकहित के कार्यों में आसीन होता है—तत्पर होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१० प्राजापत्यात्रिष्टुप्, ११ विराड्गायत्री**॥

देवजनों के रक्षण में

तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः
प्रहाय्या३ विश्वानि भूतान्युपसदः॥ १०॥
विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद॥ ११॥

१. **तस्य**=उस व्रात्य के **देवजनाः**=माता-पिता-आचार्यादि देव **परिष्कन्दाः आसन्**=चारों ओर गति करनेवाले रक्षक होते हैं। इनके रक्षण में यह अपना लोकहित का कार्य उत्तमता से

कर पाता है। **संकल्पाः**=उस-उस कार्य को करने के संकल्प इसके **प्रहाय्याः**=दूत होते हैं। इन संकल्पों के द्वारा यह अपने कार्यों को करने में समर्थ होता है। **विश्वानि भूतानि**=सब प्राणी **उपसदः**=इसके समीप बैठनेवाले होते हैं—इसी की शरण में जाते हैं, इसे ही वे अपना सहारा मानते हैं। २. **यः**=जो भी व्रात्य **एवं वेद**=इसप्रकार समझ लेता है कि उसका जीवनलक्ष्य 'भूतहित' ही है, **अस्य**=इसके **विश्वानि एव भूतानि**=सभी प्राणी **उपसदः भवन्ति**=समीप आसीन होनेवाले होते हैं।

भावार्थ—लोकहित में प्रवृत्त व्रात्य को 'माता-पिता-आचार्य' आदि देवों का रक्षण प्राप्त होता है। संकल्पों द्वारा यह अपने सन्देश को दूर तक पहुँचाने में समर्थ होता है और सब प्राणी इसकी शरण में आते हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ दैवीजगती, २ आर्च्यनुष्टुप्, ३ द्विपदाप्राजापत्याजगती**॥

प्राच्याः दिशः

तस्मै प्राच्या दिशः॥ १॥
वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्बृहच्च रथन्तरं चानुष्ठातारौ॥ २॥
वासन्तावेनं मासौ प्राच्या दिशो गोपायतो बृहच्च
रथन्तरं चानु तिष्ठतो य एवं वेद॥ ३॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **प्राच्याः दिशः**=पूर्व दिशा से सब देव **वासन्तौ मासौ**=वसन्त ऋतु के दो मासों को **गोप्तारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाते हैं **च**=तथा **बृहत् रथन्तरं च**=हृदय की विशालता तथा शरीर-रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करने की प्रवृत्ति को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाते हैं। **एनम्**=इस व्रात्य को **वासन्तौ मासौ**=वसन्त ऋतु के दो मास **प्राच्याः दिशः गोपायतः**=पूर्व दिशा से रक्षित करते हैं **च**=तथा **बृहत् रथन्तरं च**=हृदय की विशालता तथा शरीर-रथ से भव-सागर को तैरने की प्रवृत्ति **अनुतिष्ठतः**=उसके कर्त्तव्य-कर्मों को करनेवाले होते हैं। इस व्यक्ति के ये कर्त्तव्य साधक होते हैं, **यः**=जो **एवं वेद**=इस तत्त्व को समझ लेता है, वह 'बृहत् और रथन्तर' के महत्त्व को जान लेता है।

भावार्थ—व्रात्य को वसन्त के दो मास पूर्व दिशा से रक्षित करते हैं और 'बृहत् तथा रथन्तर' इसे कर्त्तव्य-कर्मों में प्रवृत्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**४ प्राजापत्यागायत्री, ५ प्राजापत्यापङ्क्तिः, ६ आर्चीजगती**॥

दक्षिणायाः दिशः

तस्मै दक्षिणाया दिशः॥ ४॥
ग्रैष्मौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानुष्ठातारौ॥ ५॥
ग्रैष्मावेनं मासौ दक्षिणाया दिशो गोपायतो यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं
चानु तिष्ठतो य एवं वेद॥ ६॥

१. **तस्मै**=इस व्रात्य के लिए **दक्षिणायाः दिशः**=दक्षिणा दिक् से सब देवों ने **ग्रैष्मौ मासौ**=ग्रीष्म ऋतु के दो मासौ को **गोपतारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाया, **च**=तथा **यज्ञायज्ञियम्**=यज्ञों

के साधक वेदज्ञान को **वामदेव्यं च**=सुन्दर दिव्यगुणों की साधक ईश-उपासना को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाया। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार 'यज्ञायज्ञिय व वामदेव्य' के महत्त्व को समझता है, **एनम्**=इस व्रात्य को **दक्षिणाया दिशः**=दक्षिण दिक् से **ग्रैष्मौ मासौ गोपायतः**=ग्रीष्म ऋतु के दो मास रक्षित करते हैं, **च**=तथा **यज्ञायज्ञियम्**=यज्ञों का साधक वेदज्ञान **वामदेव्यं च**=सुन्दर दिव्यगुणों का साधन प्रभु-पूजन **अनुतिष्ठतः**=विहित कार्यों को सिद्ध कराते हैं।

भावार्थ—व्रात्य को ग्रीष्मर्तु के दो मास दक्षिण दिशा से रक्षित करते हैं और 'यज्ञसाधक वेदज्ञान तथा सुन्दर दिव्यगुणों का साधन व प्रभु-पूजन' विहित कर्मों में प्रवृत्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**७ प्राजापत्यागायत्री, ८ आर्चीनुष्टुप्, ९ आर्चीत्रिष्टुप्**॥

प्रतीच्याः दिशः

तस्मै प्रतीच्या दिशः॥ ७॥
वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्वैरूपं च वैराजं चानुष्ठातारौ॥ ८॥
वार्षिकावेनं मासौ प्रतीच्या दिशो गोपायतो वैरूपं च
वैराजं चानु तिष्ठतो य एवं वेद॥ ९॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से सब देव **वार्षिकौ मासौ**=वर्षा ऋतु के दो मासों को **गोप्तारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाते हैं **च**=तथा **वैरूपम्**=विशिष्ट तेजस्विता-सम्पन्न रूप को **वैराजं च**=तथा विशिष्ट ज्ञानदीप्ति को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाते हैं। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार 'वैरूप और विराज' के महत्त्व को समझता है, **एनम्**=इस व्रात्य को **वार्षिकौ मासौ**=वर्षा के दो मास **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से **गोपायतः**=रक्षित करते हैं, **च**=तथा **वैरूपम्**=विशिष्ट तेजस्विता-सम्पन्न रूप **वैराजं च**=और विशिष्ट ज्ञानदीप्ति **अनुतिष्ठतः**=विहित कर्मों को सिद्ध करने में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—व्रात्य को पश्चिम दिशा से वर्षा के दो मास रक्षित करते हैं और 'वैरूप तथा वैराज' विहित कर्मों को सिद्ध करने में समर्थ करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१० प्राजापत्यागायत्री, ११ साम्नीत्रिष्टुप्, १२ द्विपदाप्राजापत्याजगती**॥

उदीच्याः दिशः

तस्मा उदीच्या दिशः॥ १०॥
शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वञ्छ्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ॥ ११॥
शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च
नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद॥ १२॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **उदीच्याः दिशः**=उत्तर दिशा से सब देवों ने **शारदौ मासौ**=शरद् ऋतु के दो मासों को **गोप्तारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाया, **च**=तथा **श्यैतम्**=क्रियाशीलता को **नौधसं च**=और प्रभु-स्तवन को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाया। २. **यः**=जो **एवं वेद**=इसप्रकार क्रियाशीलता व प्रभु-स्तवन के महत्त्व को समझता है **एनम्**=इस व्रात्य विद्वान् की **उदीच्याः दिशः**=उत्तर दिशा से **शारदौ मासौ**=शरद् ऋतु के दो मास **गोपायतः**=रक्षित करते

हैं च=और **श्यैतं नौधसं च**=क्रियाशीलता व प्रभु-स्तवन विहित कार्यों के सिद्ध करने में प्रवृत्त करते हैं।

भावार्थ—व्रात्य विद्वान् उत्तर दिशा की ओर से शरद् ऋतु के दो मासों से रक्षित किया जाता है तथा क्रियाशीलता व प्रभु-स्तवन इसे विहितकार्यों के अनुष्ठान में प्रवृत्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१३ दैवीजगती, १४ प्राजापत्याबृहती, १५ द्विपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः**॥

ध्रुवायाः दिशः

तस्मै ध्रुवाया दिशः॥ १३॥
हैमन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ॥ १४॥
हैमन्तावेनं मासौ ध्रुवाया दिशो गोपायतो
भूमिश्चाग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद॥ १५॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य विद्वान् के लिए **ध्रुवायाः दिशः**=ध्रुव दिशा से **हैमन्तौ मासौ**=हेमन्त ऋतु के दो मासों को सब देवों ने **गोप्तारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाया तथा **भूमिं च अग्निं च**=इस भूमिरूप शरीर को तथा शरीर में स्थित अग्निरूप शक्ति को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाया। इस व्रात्य का शक्तिसम्पन्न शरीर विहितानुष्ठान में प्रवृत्त हुआ। २. **यः**=जो व्रात्य **एवं वेद**=इसप्रकार भूमि व अग्नि के प्रयोजन को समझता है **एनम्**=इस व्रात्य को **हेमन्तौ मासौ**=हेमन्त ऋतु के दो मास **ध्रुवायाः दिशः**=ध्रुवा दिशा से **गोपायतः**=रक्षित करते हैं और **भूमिः च अग्निः च अनुतिष्ठतः**=शरीर व शरीरस्थ शक्ति विहित कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त करते हैं।

भावार्थ—व्रात्य विद्वान् ध्रुवा दिशा से हेमन्त ऋतु के दो मासों द्वारा रक्षित होता है तथा इस विद्वान् को शक्तिसम्पन्न शरीरविहित कार्य के अनुष्ठान में समर्थ करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१६ दैवीजगती, १७ आर्च्युष्णिक्, १८ द्विपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः**॥

ऊर्ध्वायाः दिशः

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः॥ १६॥
शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ॥ १७॥
शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया दिशो गोपायतो
द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद॥ १८॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य विद्वान् के लिए **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिशा से सब देवों ने **शैशिरौ मासौ**=शिशिर ऋतु के दो मासों को **गोप्तारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाया। **दिवं च आदित्य च**=मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा ज्ञानरूप आदित्य को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाया। **यः**=जो विद्वान् **एवं वेद**=इसप्रकार ज्ञानसम्पन्न मस्तिष्क के महत्त्व को समझता है **एनम्**=इस व्रात्य को **शैशिरौ मासौ**=शिशिर ऋतु के दो मास **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् से **गोपायतः**=रक्षित करते हैं **च**=तथा **द्यौः आदित्यः च**=मस्तिष्क तथा ज्ञान (धीः+विद्या) **अनुतिष्ठतः**=इसके सब विहित कार्यों को सिद्ध करते हैं। यह ज्ञान-सम्पन्न मस्तिष्क से पवित्र कार्यों का ही सम्पादन करनेवाला होता है।

भावार्थ—ऊर्ध्वा दिक् से शिशिर के दो मास व्रात्य विद्वान् की रक्षा करते हैं और यह व्रात्य

विद्वान् ज्ञानसम्पन्न मस्तिष्क से विहित कार्यों का सम्पादन करता है।

सूचना—सम्पूर्ण सूक्त का सार यह है कि व्रात्य विद्वान् सब कालों में स्वस्थ जीवनवाला होता हुआ अपने जीवन में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' का समन्वय करता हुआ शास्त्रविहित कर्त्तव्यों के अनुष्ठान में तत्पर रहता है।

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—१ त्रिपदासमविषमागायत्री, २ त्रिपदाभुरिगार्चीत्रिष्टुप्, ३ द्विपदाप्राजापत्यानुष्टुप्॥

प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्

तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद्भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ १॥
भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः॥ २॥
नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ ३॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए सब देवों ने **प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=पूर्व दिशा के अन्तर्देश (मध्यदेश) से **भवम्**=सर्वोत्पादक प्रभु को **इष्वासम्**=धनुर्धारी—धनुष् के द्वारा रक्षक **अनुष्ठातारम्**=सब क्रियाओं का करनेवाला **अकुर्वन्**=किया। इसे बाल्यकाल से ही यह शिक्षा प्राप्त हुई थी कि वे सर्वोत्पादक प्रभु तुम्हारे रक्षक हैं और सब क्रियाएँ उन्हीं की शक्ति व कृपा से होती हैं। २. **भवः**=वह सर्वोत्पादक **इष्वासः**=धनुर्धर प्रभु **एनम्**=इस व्रात्य को **प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=पूर्व दिशा के मध्यदेश से **अनुष्ठाता**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देता हुआ **अनुतिष्ठति**=अनुकूलता से स्थित होता है। ३. **यः एवं वेद**=जो इस प्रकार उस 'भव, इष्वास, अनुष्ठाता' प्रभु को समझ लेता है **एनम्**=इस विद्वान् व्रात्य को **शर्वः**=वह (शृ हिंसायाम्) प्रलय-कर्त्ता प्रभु (रुद्र), **न भवः**=न ही (ब्रह्म) सर्वोत्पादक प्रभु, **न ईशानः**=न ही ईश (शासक, विष्णु) **हिनस्ति**=विनष्ट करते हैं। **अस्य**=इसके **पशून् न**=पशुओं को भी नष्ट नहीं करते। **न समानान्**=न इसके समान—तुल्य गुणवाले व्यक्तियों को, बन्धु-बान्धवों को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—यह व्रात्य विद्वान् पूर्वदिशा के अन्तर्देश में उस सर्वोत्पादक प्रभु को ही अपना, अपने पशुओं का, अपने समान बन्धु-ब्रान्धवों का रक्षक जानता है, उन्हें ही कार्य करने की शक्ति देनेवाला समझता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—४ त्रिपदास्वराट्प्राजापत्यापङ्क्तिः, ५, ७, ९, ११, १३ त्रिपदाब्राह्मीगायत्री [नास्य इत्यस्योक्तम्], ६, ८, १२ त्रिपदाककुप्, १०, १४ आर्षीगायत्री, १५ विराड्बृहती, १६ द्विपदाप्राजापत्याऽनुष्टुप्॥

सब अन्तर्देशों से

तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ ४॥
शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः। नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ ५॥
तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात्पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ ६॥
पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः। नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ ७॥

तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ ८॥
उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः।
नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ ९॥
तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद्रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ १०॥
रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः।
नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ ११॥
तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ १२॥
महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः।
नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ १३॥
तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ १४॥
ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योऽनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः॥ १५॥
नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ १६॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **दक्षिणायाः दिशः अन्तर्देशात्**=दक्षिणदिशा के अन्तर्देश से **शर्वम्**=सर्वसंहारक प्रभु को सब देवों ने **इष्वासम्**=धुनर्धर रक्षक को तथा **अनुष्ठातारम्**=सब क्रियाओं का सामर्थ्य देनेवाला **अकुर्वन्**=किया। यह **इष्वासः शर्वः**=धनुर्धर—सर्वसंहारक प्रभु **एनम्**=इस व्रात्य को **दक्षिणायाः दिशः अन्तर्देशात्**=दक्षिणदिक् से मध्यदेश से **अनुष्ठाता अनुतिष्ठति**=सब कार्यों का सामर्थ्य देता हुआ अनुकूलता से स्थित होता है। २. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **प्रतीच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=पश्चिमदिशा के अन्तर्देश से **पशुपतिं इष्वासम्**=सब प्राणियों के रक्षक धनुर्धर प्रभु को सब देवों ने **अनुष्ठातारं अकुर्वन्**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देनेवाला किया। यह **इष्वासः पशुपतिः**=धनुर्धर सब प्राणियों का रक्षक प्रभु **एनम्**=इस व्रात्य को **प्रतीच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=पश्चिमदिशा के मध्यदेश से **अनुष्ठातानुतिष्ठति**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देता हुआ अनुकूलता से स्थित होता है। ३. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **उदीच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=उत्तरदिशा के अन्तर्देश से **उग्रं देवम्**=प्रचण्ड सामर्थ्यवाले (so powerful), शत्रुभयंकर (fierce), उदात्त (highly noble) दिव्य प्रभु को सब देवों ने **इष्वासम्**=धनुर्धर को **अनुष्ठातारं अकुर्वन्**=सब कार्यों को करने की सामर्थ्य देनेवाला किया। यह **उग्रः देवः**=उदात्त, दिव्य प्रभु **इष्वासः**=धनुर्धर होकर **एनम्**=इस व्रात्य को **उदीच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=ऊपर दिशा के मध्यदेश से **अनुष्ठाता अनुतिष्ठति**=सब कार्यों का सामर्थ्य देनेवाला होता हुआ अनुकूलता से स्थित होता है। ४. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **ध्रुवायाः दिशः अन्तर्देशात्**=ध्रुवा दिशा के अन्तर्देश से **रुद्रम्**=शत्रुओं को रुलानेवाले प्रभु को सब देवों ने **इष्वासम्**=धनुर्धर को **अनुष्ठातारं अकुर्वन्**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देनेवाला बनाया। यह **रुद्रः इष्वासः**=रुद्र धनुर्धर **एनम्**=इस व्रात्य को **ध्रुवायाः दिशः अन्तर्देशात्**=ध्रुवादिशा के मध्यदेश से **अनुष्ठाता अनुतिष्ठाति**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देता हुआ अनुकूलता से

स्थित होता है। ५. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **ऊर्ध्वायाः दिशः अन्तर्देशात्**=ऊर्ध्वा दिक् के अन्तर्देश से **महादेवम्**=सर्वमहान्, सर्वपूज्य देव को सब देवों ने **इष्वासम्**=धनुर्धर की **अनुष्ठातारं अकुर्वन्**=सब क्रियाओं का सामर्थ्य देनेवाला किया। **देवः**=यह महादेव **इष्वासः**=यह महान् धनुर्धर देव **एनम्**=इस व्रात्य को **ऊर्ध्वायाः दिशः अन्तर्देशात्**=ऊर्ध्वादिक् के अन्तर्देश से **अनुष्ठाता अनुतिष्ठति**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देता हुआ अनुकूलता से स्थित होता है। ६. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **सर्वेभ्यः अन्तर्देशेभ्यः**=सब मध्य देशों से सब देवों ने **ईशानम्**=सबके शासक प्रभु **इष्वासम्**=धनुर्धर को **अनुष्ठातारं अकुर्वन्**=कार्यों को करने का सामर्थ्य देनेवाला किया। यह **ईशानः इष्वासः**=सबका ईशान प्रभु धनुर्धर होकर **एनम्**=इस व्रात्य को **सर्वेभ्यः अन्तर्देशेभ्यः**=सब अन्तर्देशों से **अनुष्ठाता अनुतिष्ठति**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देता हुआ अनुकूलता से स्थित होता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् दक्षिण दिशा के अन्तर्देश में सर्वसंहारक प्रभु को अपने रक्षक व सामर्थ्यदाता के रूप में देखता है। पश्चिम दिशा के अन्तर्देश से सब प्राणियों का रक्षक प्रभु इसे अपने रक्षक के रूप में दिखता है। उत्तर दिशा के अन्तर्देश से प्रचण्ड सामर्थ्यवाले प्रभु उसका रक्षण कर रहे हैं तो ध्रुवा दिशा के अन्तर्देश से रुद्र प्रभु उसके शत्रुओं को रुला रहे हैं। ऊर्ध्वा दिशा के अन्तर्देश से महादेव उसका रक्षण कर रहे हैं तो सब अन्तर्देशों से ईशान उसके रक्षक बने हैं। इन्हें ही वह अपने लिए सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देनेवाला जानता है।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ आसुरीपङ्क्तिः, २ आर्चीपङ्क्तिः, ३ आर्षीपङ्क्तिः**॥

ध्रुवा दिशा से 'भूमि, अग्नि, ओषधी, वनस्पति, वानस्पत्य व वीरुध'

स ध्रुवां दिशमनु व्य चलत्॥ १॥
तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्य चलन्॥ २॥
भूमेश्च वै सो ३ ग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ ३॥

१. **सः**=वह व्रात्य **ध्रुवां दिशं अनुव्यचलत्**=ध्रुवादिक् को लक्ष्य करके गतिवाला हुआ। उसने ध्रुवादिक् के अनुकूल गति की और परिणामतः **तम्**=उस व्रात्य को **भूमिः च अग्निः च**=पृथिवी का मुख्य देव अग्नि, **ओषधयः च वनस्पतयः च**=पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाली ओषधी-वनस्पतियाँ तथा **वानस्पत्याः च वीरुधः च**=विविध प्रकार के फल, अन्न व लताएँ **अनुव्यचलन्**=अनुकूल गतिवाली हुईं। २. **यः**=जो **एवं वेद**=इसप्रकार इस ध्रुवादिशा को समझने का प्रयत्न करता है, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **भूमेः च अग्नेः च**=भूमि और अग्नि का **ओषधीनां च वनस्पतिनां च**=ओषधियों व वनस्पतियों का **वानस्पत्यनां च वीरुधां च**=फलों, अन्नों व बेलों का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय अवस्थान बनता है।

भावार्थ—व्रात्य विद्वान् ध्रुवादिशा के अनुकूल गतिवाला होकर 'भूमि, अग्नि, ओषधी, वनस्पति तथा वानस्पत्य व वीरुधों' का प्रिय पात्र बनता है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—४ आसुरीपङ्क्तिः, ५ साम्नीत्रिष्टुप्, ६ निचृद्बृहती॥

ऊर्ध्वा दिक् में 'ऋत, सत्य, सूर्य-चन्द्र व नक्षत्र'

स ऊर्ध्वां दिशमनु व्य᳚चलत्॥ ४॥

तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्य᳚चलन्॥ ५॥

ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च
नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ ६॥

१. **सः**=वह व्रात्य **ऊर्ध्वां दिशं अनुव्यचलत्**=ऊर्ध्वादिक् का लक्ष्य करके गतिवाला हुआ। उस समय **तम्**=उस व्रात्य को **ऋतं च सत्यं च**=भौतिक जगत् के नियम (सब भौतिक क्रियाओं की नियमितता) तथा अध्यात्म जगत्-नियम (शुद्ध, नैतिक आचरण), **सूर्यः च चन्द्रः नक्षत्राणि च**=सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र ये सब **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार ऊर्ध्वादिक् को समझता है, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **ऋतस्य च सत्यस्य च**=ऋत और सत्य का तथा **सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों का **प्रियं धाम भवति**=प्रियस्थान बनता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् ऊर्ध्वादिक् की ओर ध्यान करता है तो उसे सृष्टि में ऋत और सत्य कार्य करते हुए दिखते हैं तथा सूर्य, चन्द्र व नक्षत्रों में प्रभु की महिमा दिखती है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—७ आसुरीबृहती, ८ साम्नीपङ्क्तिः, ९ प्राजापत्यात्रिष्टुप्॥

ऊर्ध्वा दिक् में 'ऋक्, यजुः, सत्य व ब्रह्म (अथर्व)'

स उत्तमां दिशमनु व्य᳚चलत्॥ ७॥

तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्य᳚चलन्॥ ८॥

ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ ९॥

१. **सः**=वह व्रात्य **उत्तमां दिशं अनुव्यचलत्**=उत्तमादिक् का लक्ष्य करके गतिवाला हुआ। उसने जीवन को उत्तम बनाने का दृढ़ संकल्प किया **तम्**=उस उत्तमादिक् की ओर गतिवाले व्रात्य को **ऋचः च सामानि च**=ऋचाएँ व साम—विज्ञानमन्त्र व उपासनामन्त्र **च**=तथा **यजूंषि च ब्रह्म च**=यज्ञ-प्रतिपादक मन्त्र तथा ब्रह्मज्ञान देनेवाले अथर्वमन्त्र **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। २. **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **ऋचां च साम्नां च**=ऋचाओं और साममन्त्रों का **च**=और **यजुषां ब्रह्मणश्च**=यज्ञ प्रतिपादक मन्त्रों व ब्रह्मज्ञानप्रद मन्त्रों का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है, **यः**=जो व्रात्य **एवं वेद**=इसप्रकार उत्तमा दिक् में अनुकूलता से गति का विचार करता है।

भावार्थ—उत्तमादिक् में गति का संकल्प करनेवाला व्रात्य 'ऋक्, यजुः, साम व अथर्व (ब्रह्म)' मन्त्रों का प्रिय स्थान बनता है। इनके द्वारा ही तो उसने जीवन को उत्तम बनाना है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—१० आसुरीबृहती, ११ साम्नीत्रिष्टुप्, १२ निचृद्बृहती॥

बृहती दिशा में 'इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी'

स बृहतीं दिशमनुव्य᳚चलत्॥ १०॥

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्य॑चलन्॥ ११॥
इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च
नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ १२॥

१. **सः**=वह व्रात्य **बृहतीं दिशं अनुव्यचलत्**=बृहती दिशा—वृद्धि की दिशा का लक्ष्य करके चला। **तम्**=उस बृहती दिशा में चलनेवाले व्रात्य को **इतिहासः पुराणं च**=सृष्टि-उत्पत्ति आदि का नित्य इतिहास और जगदुत्पत्ति आदि का वर्णनरूप पुराण **च**=तथा **गाथाः नाराशंसीः च**=किसी का दृष्टान्त-दार्ष्टान्तरूप कथा-प्रसंग कहनारूप गाथाएँ तथा मनुष्यों के प्रसंशनीय कर्मों का कहनारूप नाराशंसी **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुई। इनके द्वारा ही वस्तुतः वह वेद व्याख्यान को सुन्दरता से कर पाया। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इतिहास आदि के महत्त्व को समझता है, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **इतिहासस्य पुराणस्य च**=इतिहास व पुराण का **च**=तथा **गाथानां नाराशंसीनां च**=गाथाओं व नाराशंसियों का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय धाम होता है। इनके द्वारा वह वेद को खूब व्याख्यात कर पाता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् 'इतिहास, पुराण, गाथा व नाराशंसी' द्वारा वेद का वर्धन—व्याख्यान करता हुआ 'बृहती दिक्' की ओर चलता है—वृद्धि की दिशा में आगे बढ़ता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१३ आसुरीबृहती, १४ आर्चीत्रिष्टुप्, १५ विराड्जगती**॥

परमा दिशा में 'यज्ञासियां, यज्ञमान व पशु'

स परमां दिशमनु व्य॑चलत्॥ १३॥
तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च
यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्य॑चलन्॥ १४॥
आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य
च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ १५॥

१. **सः**=वह व्रात्य **परमां दिशं अनुव्यचलत्**=परमा दिशा की ओर गतिवाला हुआ—सर्वोत्कृष्ट यज्ञीय मार्ग की ओर गतिवाला हुआ। **तम्**=उस व्रात्य को **आहवनीयः च गार्हपत्यः च दक्षिणा अग्निः च**=आहवनीय, गार्हपत्य व दक्षिणा अग्नि नामक तीनों अग्नियाँ **च**=और **यज्ञः यजमानः च पशवः च**=यज्ञ, यजमान और यज्ञसाधक गवादि पशु **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इस यज्ञिय परमा दिशा को समझ लेता है, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **आहवनीयस्य च गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेः च**=आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि नामक तीनों अग्नियों का **च**=और **यज्ञस्य यज्ञमानस्य च पशुनां च**=यज्ञ, यजमान व यज्ञ के लिए घृतादि पदार्थों को प्राप्त करानेवाले गवादि पशुओं का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय आश्रय-स्थान बनता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् यज्ञों द्वारा परमा दिशा में आगे बढ़ने का संकल्प करता है। इसे 'यज्ञासियां व यज्ञ, यजमान व यज्ञसाधक पशु' सब अनुकूलता से प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—१६ आसुरीबृहती, १७ आर्चीपङ्क्तिः, १८ विराड्जगती॥

अनादिष्टा दिक् में 'ऋतुएँ, आर्तव, लोक, लौक्य मास, अर्धमास व अहोरात्र'

सोऽनादिष्टां दिशमनु व्य∫चलत्॥ १६॥
तमृतवश्चार्तवाश्च लोकाश्च लौक्याश्च
मासाश्चार्धमासाश्चाहोरात्रे चानुव्य∫चलन्॥ १७॥
ऋतूनां च वै आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां
चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ १८॥

१. **सः**=वह व्रात्य **अनादिष्टां दिशाम्**=जिसमें किसी प्रकार का प्रयोजन (aim, intention) नहीं है, ऐसी एकदम निष्कामता की दिशा में **अनुव्यचलत्**=चला। **तम्**=उस व्रात्य को **ऋतवः च आर्तवाः च**=सब ऋतुएँ व ऋतुजनित सब पदार्थ **च**=और **लोकः लौक्याः च**=सब लोक और लोकों में होनेवाले पदार्थ **च**=तथा **मासाः अर्धमासाः च अहोरात्रे च**=महीने, पक्ष व दिन-रात **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। २. **यः एवं वेद**=इसप्रकार जो अनादिष्टा निष्कामता की दिशा के महत्त्व को समझ लेता है, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **ऋतुनां च आर्तवानां च**=ऋतुओं का और ऋतुजनित पत्र-पुष्प-फलों का **च**=और **लोकानां लौक्यनां च**=लोकों का और लोकों में होनेवालों का **च**=तथा **मासानां अर्धमासां च अहोरात्रयोः च**=महीनों, पक्षों व दिन-रात का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय धाम बनता है।

भावार्थ—निष्काम होकर अनादिष्टा दिक् में आगे और आगे बढ़ने पर इस व्रात्य को सब ऋतुएँ, लोक व काल अनुकूलता से प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—१९ आर्च्युष्णिक्, २० साम्न्यनुष्टुप्, २१आर्षीबृहती॥

अनावृत्ता दिशा में 'दिति, अदिति, इडा, इन्द्राणी'

सोऽनावृत्तां दिशमनु व्य∫चलत्ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत॥ १९॥
तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्य∫चलन्॥ २०॥
दितेश्च वै सोऽदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम
भवति य एवं वेद॥ २१॥

१. **सः**=वह व्रात्य **अनावृत्तां दिशं अनुव्यचलत्**=अनावृत्ता दिशा में अनुकूलता से गतिवाला हुआ **ततः**=तब **न आवर्त्स्यन् अमन्यत**='लौटूँगा नहीं', ऐसा उसने विचार किया। 'आगे और आगे चलते चलना, लौटना नहीं', वही वस्तुतः एक संन्यस्त का आदर्श है। **तम्**=उस व्रात्य को इस अनावृत्ता दिशा में चलने पर **दितिः च अदितिः च**=वासनाओं का खण्डन और स्वास्थ्य का अखण्डन (पवित्रता व स्वास्थ्य) **च**=तथा **इडा इन्द्राणी च**=वेदवाणी और इन्द्रशक्ति **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुई। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार न लौटने की दिशा के महत्त्व को समझ लेता है **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **दितेः च अदितेः च**=वासना-विनाश और स्वास्थ्य के अविनाश का **च**=तथा **इडायाः इन्द्राण्याः च**=वेदवाणी व इन्द्रशक्ति का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय आधार बनता है।

भावार्थ—हम 'आगे बढ़ना और न लौटने का' व्रत लेकर 'पवित्र, स्वस्थ, ज्ञानी व

आत्मशक्ति-सम्पन्न' बनें।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—२२ परोष्णिक्, २३ आर्चीत्रिष्टुप्॥

विराट्, देव, देवता

स दिशोऽनु व्य ऽचलत्तं विराडनु व्य ऽचलत्सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः॥ २२॥

विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च

देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ २३॥

१. सः=वह व्रात्य दिशः=वेद के निर्देशों के अनुसार अनुव्यचलत्=गतिवाला हुआ, परिणामतः तम्=उस व्रात्य को विराट्=विशिष्ट दीप्ति च=और सर्वेदेवाः=सब दिव्यभाव, च=और सर्वाः देवताः=सब दिव्यशक्तियाँ अनुव्यचलन्=अनुकूलता से प्राप्त हुईं। २. यः एवं वेद=जो इसप्रकार प्रभु-निर्देशों के पालन के महत्त्व को समझ लेता है सः=वह व्रात्य वै=निश्चय से विराजः च=विशिष्ट ज्ञानदीप्ति का च=और सर्वेषां देवानाम्=सब दिव्यभावों का च=तथा सर्वासां देवतानाम्=सब दिव्यशक्तियों का प्रियं धाम भवति=प्रिय निवासस्थान बनता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् वेद-निर्देशों के अनुसार चलता हुआ 'विशिष्ट ज्ञानदीप्ति को, सब दिव्यभावों को तथा सब दिव्यशक्तियों' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—२४ आसुरीबृहती, २५ आर्च्यनुष्टुप्, २६ विराड्बृहती॥

प्रजापति परमेष्ठी तथा पिता, पितामह

स सर्वानन्तर्देशाननु व्य ऽचलत्॥ २४॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्य ऽचलन्॥ २५॥

प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य

च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ २६॥

१. सः=वह व्रात्य सर्वान् अन्तर्देशान् अनुव्यचलत्=सब अन्तर्देशों में—दिशाओं के मध्यमार्गों में अनुकूलता से गतिवाला हुआ। अविरोध से यह अपने मार्ग पर बढ़नेवाला बना च=और तम्=उस व्रात्य को प्रजापतिः च=प्रजारक्षक प्रभु परमेष्ठी च=सर्वोपरि स्थान में स्थित प्रभु पिता च पितामहः च=पिता और पितामह अनुव्यचलन्=अनुकूलता से प्राप्त हुए, अर्थात् इस व्रात्य को प्रभु व पिता उत्तम प्रेरणा देनेवाले बने। २. यः=जो एवं वेद=इसप्रकार अविरोध से सब अन्तर्देशों में चलने के महत्त्व को समझ लेता है, सः=वह व्रात्य वै=निश्चय से प्रजापतेः=प्रजारक्षक प्रभु का परमेष्ठिनः च=और परम स्थान में स्थित प्रभु का च=और पितुः पितामहस्य च=पिता व पितामह का प्रियं धाम भवति=प्रिय धाम बनता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् सब अन्तर्देशों में (दिङ्मध्यों में) अविरोध से चलता हुआ सर्वरक्षक व सर्वश्रेष्ठ प्रभु का तथा पिता व पितामह का प्रिय बनता है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—१ त्रिपदानिचृद्गायत्री, २ एकपदाविराड्बृहती, ३ विराडुष्णिक्॥

महिमा-सद्रुः, समुद्रः

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत्स समुद्रो ऽभवत्॥ १॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च
श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्य वर्तयन्त॥ २॥
ऐनमापो गच्छत्यैनं श्रद्धा गच्छत्यैनं वर्षं गच्छति य एवं वेद॥ ३॥

१. **सः**=वह व्रात्य **महिमा**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाला—प्रभुपूजनपरायण तथा **सद्रुः**=द्रुतगति से युक्त—अतिकर्मनिष्ठ **भूत्वा**=होकर **पृथिव्याः अन्तम्**=पृथिवी के अन्त को—पार्थिव भागों की समाप्ति को **आगच्छत्**=प्राप्त हुआ और परिणामतः **सः**=वह व्रात्य **समुद्रः**=अत्यन्त आनन्द-(मोद)-मय जीवनवाला हुआ। पार्थिव भागों से ऊपर उठकर प्रभुस्मरणपूर्वक कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होना ही आनन्द का मार्ग है। २. **तम्**=उस व्रात्य को **प्रजापतिः च परमेष्ठी च**=प्रजारक्षक, परम स्थान में स्थित प्रभु, **पिता च पितामहः च**=पिता और पितामह, **आपः च श्रद्धा च**=(आपः रेतो भूत्वा) शरीरस्थ रेतःकण और श्रद्धा की भावना **वर्षं भूत्वा**=आनन्द की वृष्टि का रूप धारण करके **अनुवर्तयन्त**=अनुकूलता से कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। 'प्रभु प्रेरणा, बड़ों की प्रेरणा तथा शक्ति और श्रद्धा' इसे कर्त्तव्य-कर्मों में प्रेरित करते हैं। यह उन्हीं में आनन्द का अनुभव करता है। ३. **एनम्**=इस व्रात्य को **आपः**= शरीरस्थ रेतःकण **आगच्छन्ति**=समन्तात् प्राप्त होते है। **एनम्**=इसे **श्रद्धा**=श्रद्धा **आगच्छति**=प्राप्त होती है। **एनम्**=इसे **वर्षम्**=आनन्द की वृष्टि **आगच्छति**=प्राप्त होती है। ये उस व्रात्य को प्राप्त होती हैं जो **एवं वेद**=इस प्रकार कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होने के महत्त्व को समझ लेता है। वह यह समझ लेता है कि परमेष्ठी बनने का उपाय प्रजापति बनना ही है, अर्थात् सर्वोच्च स्थिति तभी प्राप्त होती है जब हम प्रजारक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—व्रात्य प्रभुपूजन-परायण होकर कर्त्तव्यकर्मों में लगा रहता है, पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर आनन्दमय जीवनवाला होता है। इसे प्रभु-प्रेरणा, बड़ों की प्रेरणा तथा शक्ति और श्रद्धा सदा कर्मों में प्रेरित करती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—४ एकपदागायत्री, ५ पङ्क्तिः॥

श्रद्धा, यज्ञ, प्रकाश तथा अन्न और अन्नाद्य

तं श्रद्धा च यज्ञश्च लोकश्चान्नं चान्नाद्यं च भूत्वाभिपर्यावर्तन्त॥ ४॥
ऐनं श्रद्धा गच्छत्यैनं यज्ञो गच्छत्यैनं लोको गच्छत्यैनमन्नं
गच्छत्यैनमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद॥ ५॥

१. **तम्**=उस व्रात्य को **श्रद्धा च यज्ञः च**=श्रद्धा और यज्ञ **लोकः च**=प्रकाश, **अन्नं च अन्नाद्यं च**=जौ, चावलादि अन्न तथा भात आदि खाने योग्य पदार्थ **भूत्वा**=(भू गतौ) प्राप्त होकर **अभिपर्यावर्तन्त**=अभ्युदय व निःश्रेयस (अभि) के साधक कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। २. **यः**=जो **एवं वेद**=इसप्रकार 'श्रद्धा, यज्ञ व प्रकाश के तथा अन्न और अन्नाद्य' के महत्त्व को समझ लेता है, **एनम्**=इस व्रात्य को **श्रद्धा आगच्छति**=श्रद्धा प्राप्त होती है, **एनम्**=इसे **यज्ञः आगच्छति**=यज्ञ प्राप्त होता है, **एनम्**=इसको **लोकः**=प्रकाश **आगच्छति**=प्राप्त होता है, **एनम्**=इसे **अन्नम्**=अन्न **आगच्छति**=प्राप्त होता है। **एनम्**=इसे **अन्नाद्यं आगच्छति**=खानेयोग्य भातादि पदार्थ प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—यह व्रात्य 'श्रद्धा, यज्ञ, प्रकाश, अन्न व अन्नाद्य' से युक्त होकर अभ्युदय व निःश्रेयस-साधक कर्मों में प्रवृत्त होता है।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ साम्न्युष्णिक्, २ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ३ आर्चीपङ्क्तिः**॥

राजन्य

सो ऽरज्यत ततो राजन्यो ऽजायत॥ १॥

स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत्॥ २॥

विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ ३॥

१. **सः अरज्यत**=इस व्रात्य ने प्रजाओं का रञ्जन किया। **ततः**=उस रञ्जन के कारण **राजन्यः**=राजन्य **अजायत**=हो गया। 'राजति' दीप्त जीवनवाला बना। **सः**=वह प्रजा का रञ्जन करनेवाला व्रात्य **सबन्धून् विशः**=बन्धुओंसहित प्रजाओं का तथा **अन्नं अन्नाद्यं अभि**=अन्न और अन्नाद्य का लक्ष्य करके **उदतिष्ठत्**=उत्थानवाला हुआ। उसने बन्धुओं व प्रजाओं की स्थिति को उन्नत करने का प्रयत्न किया कि अन्न व अन्नाद्य की कमी न हो। कोई भी भूखा न मरे। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार समझ लेता है कि उसने बन्धुओं व प्रजाओं को उन्नत करना है और अन्न व अन्नाद्य की कमी नहीं होने देनी, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **सबन्धूनां च**=अपने समान बन्धुओं का **विशाम् च**=प्रजाओं का तथा **अन्नस्य अन्नाद्यस्य च**=अन्न और अन्नाद्य का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है।

भावार्थ—एक व्रात्य लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त हुआ-हुआ बन्धुओं व प्रजाओं को उन्नत करने का प्रयत्न करता है, अन्न व अन्नाद्य की कमी न होने देने के लिए यत्नशील होता है। इसप्रकार प्रजाओं का रञ्जन करता हुआ यह राजन्य होता है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ आसुरीजगती, २ आर्चीगायत्री, ३ आर्चीपङ्क्तिः**॥

'सभा, समिति, सेना, सुरा' का अनुचलन

स विशोऽनु व्यचलत्॥ १॥

तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्॥ २॥

सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ ३॥

१. **सः**=वह गत सूक्त का राजन्य व्रात्य **विशः अनुव्यचलत्**=प्रजाओं की उन्नति का लक्ष्य करके गतिवाला हुआ। 'प्रजा-समृद्धि' ही उसके शासन का धेय बना। ऐसा होने पर **तम्**=उस राजन्य व्रात्य को **सभा च समितिः च**=व्यवस्थापिका सभा व कार्यकारिणी समिति **च**=तथा सेना **सुरा च**=(सुर ऐश्वर्य) राष्ट्ररक्षक सेना व राज्यकोष (राज्यलक्ष्मी) **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। २. **यः एवं वेद**=जो राजन्य व्रात्य 'प्रजा-समृद्धि' को ही शासन का लक्ष्य समझ लेता है **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **सभायाः च समितेः च**=सभा व समिति का **च**=तथा **सेनायाः सुरायाः च**=सेना व राज्यलक्ष्मी का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है।

भावार्थ—प्रजा की उन्नति को ही शासन का लक्ष्य समझनेवाला राजन्य व्रात्य—व्रती राजा—सभा-समिति, सेना व सुर (लक्ष्मी) का प्रिय बनता है।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—**१ द्विपदासाम्नीबृहती, २ त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः** ॥

राजा द्वारा विद्वान् व्रात्य का सत्कार

तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ १ ॥

श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत्तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते॥ २॥

१. **तत्**=इसलिए **यस्य राज्ञः गृहान्**=जिस राजा के घर को **एवं विद्वान् व्रात्यः**=इसप्रकार ज्ञानी व्रती **अतिथिः आगच्छेत्**=अतिथिरूपेण प्राप्त हो, राजा को चाहिए कि **एनम्**=इसको **आत्मनः श्रेयांसम्**=अपने से अधिक श्रेष्ठ को **मानयेत्**=मान दे तथा वैसा करने पर यह राजा **क्षत्राय**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल के लिए **न आवृश्चते**=अपने को छिन्न करनेवाला नहीं होता तथा वैसा करने पर **राष्ट्राय**=राष्ट्र के लिए **न आवृश्चते**=अपने को छिन्न करनेवाला नहीं होता, अर्थात् यह विद्वान् व्रात्य अतिथि का सत्कार करनेवाला राजा उससे उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त करके बल व राष्ट्र का वर्धन करनेवाला होता है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में आये विद्वान् व्रात्य का उचित सत्कार करे। उससे उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त करता हुआ राष्ट्र के बल व ऐश्वर्य का वर्धन करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—**३ द्विपदाप्राजापत्यापङ्क्तिः, ४ त्रिपदावर्धमानागायत्री, ५ त्रिपदासाम्नीबृहती** ॥

'ब्रह्म+क्षत्र' का उत्थान

अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति॥ ३ ॥

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्रा विशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति॥ ४॥

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम्॥ ५ ॥

१. **अतः**=इसप्रकार राजा के द्वारा विद्वान् व्रात्य का मान करने से **वै**=निश्चयपूर्वक **ब्रह्म च क्षत्रं च**=ब्रह्म और क्षत्र—ज्ञान और बल—दोनों **उदतिष्ठताम्**=उन्नत होते हैं—उथित होते हैं। **ते**=वे ब्रह्म और **क्षत्र अब्रूताम्**=कहते हैं **इति**=कि **कं प्रविशाव**=हम किसमें प्रवेश करें। २. **अतः**=इस राजा द्वारा व्रात्य के सत्कार से उत्पन्न हुआ-हुआ **ब्रह्म**=ज्ञान **वै**=निश्चय से **बृहस्पतिं एव**=ब्रह्मणस्पति—वेदज्ञ विद्वान् पुरोहित में ही **प्रविशतु**=प्रवेश करे तथा **वा**=उसीप्रकार निश्चय से **क्षत्रम्**=बल **इन्द्रम्**=राष्ट्रशत्रुओं के विदारक राजा में प्रवेश करे, **इति**=यह निर्णय ठीक है। ३. **अतः**=इस निर्णय के होने पर **वै**=निश्चय से **ब्रह्म**=ज्ञान **बृहस्पतिं एव प्राविशत्**=बृहस्पति में ही प्रविष्ट हुआ और **क्षत्रं इन्द्रम्**=बल ने शत्रुविदारक राजा में आश्रय किया।

भावार्थ—राजा द्वारा विद्वान् व्रात्यों का आदर करने पर राष्ट्र पुरोहित बृहस्पति ब्रह्मसम्पन्न होता है, शत्रुविदारक राजा बल-सम्पन्न होता है। ब्रह्म व क्षत्र मिलकर राष्ट्र के उत्थान का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—**६, ८, १० द्विपदाऽऽसुरीगायत्री, ७, ९ साम्न्युष्णिक्, ११ आसुरीबृहती** ॥

पृथिवी+द्यौ (ज्ञान व बल)

इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः॥ ६ ॥

अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम्॥ ७॥
ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति॥ ८॥
यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद॥ ९॥
ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान्भवति॥ १०॥
य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद॥ ११॥

१. **इयं वा उ पृथिवी**=यह पृथिवी ही निश्चय से **बृहस्पतिः**=बृहस्पति है, **द्यौः एव इन्द्रः**=द्युलोक ही इन्द्र है। जैसे पृथिवी व द्युलोक माता व पिता के रूप में होते हुए सब प्राणियों का धारण करते हैं (द्यौष्पिता, पृथिवीमाता), इसीप्रकार बृहस्पति व इन्द्र—ज्ञानी पुरोहित व राजा मिलकर राष्ट्र का धारण करते हैं। २. **अयं वा उ अग्निः**=निश्चय से यह अग्नि ही **ब्रह्म**=ज्ञान है और **असौ आदित्यः क्षत्रम्**=वह आदित्य क्षत्र=बल है। ज्ञान ही राष्ट्र को ले-चलनेवाला 'अग्रणी' है। जैसे उदय होता हुआ सूर्य कृमियों का संहार करता है, उसीप्रकार क्षत्र व बल राष्ट्रशत्रुओं का उपमर्दन करनेवाला आदित्य है। ३. **एनम्**=इस व्यक्ति को **ब्रह्म आगच्छति**=ज्ञान समन्तात् प्राप्त होता है। यह **ब्रह्मवर्चसी भवति**=ब्रह्मवर्चसवाला होता है, **यः**=जो **पृथिवीं बृहस्पतिम्**=पृथिवी को बृहस्पति के रूप में तथा **अग्निं ब्रह्म**=पृथिवी के मुख्य देव अग्नि को बृहस्पति के मुख्य गुण 'ब्रह्म' (ज्ञान) के रूप में **वेद**=जानता है, ४. **एनम्**=इस व्यक्ति को **इन्द्रियम् आगच्छति**=समन्तात् वीर्य (बल) प्राप्त होता है, तथा यह **इन्द्रवान् भवति**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होता है जो **आदित्यं क्षत्रम्**=सूर्य को बल के रूप में तथा **दिव्यम्**=सूर्याधिष्ठान द्युलोक को **इन्द्रम्**=बल के अधिष्ठानभूत राजा के रूप में देखता है।

भावार्थ—हम ज्ञान को ही माता के रूप में जानें 'ज्ञानाधिपति, बृहस्पति' पृथिवी के रूप में है। इसका गुण 'ज्ञान' अग्नि है। इसे प्राप्त करके हम ब्रह्मवर्चस्वी हों। बल को हम रक्षक पिता द्युलोक के रूप में देखें। द्युलोक इन्द्र है तो उसका मुख्य देव आदित्य बल है। इस तत्त्व को समझकर हम प्रशस्त, सबल इन्द्रियोंवाले बनें।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ दैवीपङ्क्तिः, २ द्विपदापूर्वात्रिष्टुबतिशक्वरी**॥

आतिथ्य

तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ १॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य
तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते
वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति॥ २॥

१. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहान्**=जिसके घरों को **एवम्**=(इण् गतौ)=गति के स्रोत अथवा सर्वगत=(सर्वव्यापक) परमात्मा को **विद्वान्**=जानता हुआ **व्रात्यः**=व्रतमय जीवनवाला **अतिथिः**=अतिथि **आगच्छेत्**=आये—प्राप्त हो तो **स्वयम्**=अपने-आप **एनम्=अभि उदेत्य**=इसकी ओर जाकर **ब्रूयात्**=कहे कि **व्रात्य**=हे व्रतिन्! **क्व अवात्सीः**=आप कहाँ रहे, **व्रात्य**=हे व्रतिन्! **उदकम्**=आपके लिए यह जल है। **व्रात्य**=हे व्रतिन्! मेरे गृह के ये भोजन **तर्पयन्तु**=आपको तृप्त व प्रीणित करनेवाले हों। हे **व्रात्य**=व्रतमय जीवनवाले विद्वन्! **यथा ते प्रियम्**=जैसे आपको

प्रिय हो **तथास्तु**=उसीप्रकार से व्यवस्था की जाए। **यथा ते वशः**=जैसे आपकी इच्छा (wish) हो, **तथास्तु**=वैसा ही हो। यथा ते **निकामः**=जैसे आपकी अभिलाषा हो, **तथास्तु इति**=वैसा ही किया जाए।

भावार्थ—घर पर आये हुए विद्वान् व्रात्य का सत्कारपूर्वक आतिथ्य करना आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**३-६ निचृदार्चीबृहती,**
७ द्विपदाप्राजापत्याबृहती॥

आतिथ्य से दीर्घजीवन

यदेनमाह व्रात्य क्वा ऽवात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानव रुन्द्धे॥ ३॥
यदेनमाह व्रात्योदकमित्यप एव तेनाव रुन्द्धे॥ ४॥
यदेनमाह व्रात्य तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते॥ ५॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति प्रियमेव तेनाव रुन्द्धे॥ ६॥
ऐनं प्रियं गच्छति प्रियः प्रियस्य भवति य एवं वेद॥ ७॥

१. **यत्**=जो **एनम्**=इस विद्वान् व्रात्य को **आह**=यह कहता है कि **व्रात्य**=हे व्रतिन्! **क्व अवात्सीः इति**=आप कहाँ रहे? **तेन एव**=उस निवास के विषय में सत्कारपूर्वक किये गये प्रश्न के द्वारा ही **देवयानान् पथः अवरुन्द्धे**=देवयानमार्गों को अपने लिए सुरक्षित करता है, अर्थात् इस प्रकार आतिथ्य से उसकी प्रवृत्ति उत्तम होती है और वह देवयानमार्गों से चलनेवाला बनता है। २. **यत् एनम् आहः**=जो इसको कहता है कि **व्रात्य उदकम् इति**=हे व्रतिन्! आपके लिए यह जल है। **तेन एव**=इस जल के अर्पण से ही यह **आपः अवरुन्द्धे**=उत्तम कर्मों को अपने लिए सुरक्षित करता है, अर्थात् उस अतिथि की प्रेरणाओं से प्रेरित होकर उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होनेवाला होता है। **यत् एनम् आह**=जो इस विद्वान् व्रात्य से कहता है कि **व्रात्य तर्पयन्तु इति**=हे व्रतिन्! ये भोजन आपको तृप्त करनेवाले हों। **तेन एव**=इस सत्करण से ही **प्राणं वर्षीयांसं कुरुते**=जीवन को दीर्घ करता है। स्वयं आतिथ्यावशिष्ट भोजन करता हुआ दीर्घजीवनवाला बनता है। ३. **यत् एनम् आह**=जो इस व्रात्य से कहता है कि **व्रात्य**=हे व्रतिन्! **यथा ते प्रियम्**=जैसा आपको प्रिय लगे **तथा अस्तु इति**=वैसा ही हो। **तेन एव**=उस प्रिय प्रश्न से ही **प्रियं अवरुन्द्धे**=अपने लिए प्रिय को सुरक्षित करता है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार व्रात्य से प्रिय-विषयक प्रश्न करना जानता है, **एनम्**=इस प्रश्नकर्त्ता को **प्रियं आगच्छति**=प्रिय प्राप्त होता है और वह **प्रियः प्रियस्य भवति**=प्रियों का प्रिय बनता है।

भावार्थ—विद्वान् व्रात्यों के आतिथ्य से हम देवयानमार्ग पर चलनेवाले, उत्तम कर्मों में प्रवृत्त, दीर्घजीवनवाले व सर्वप्रिय बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**८ निचृदार्चीबृहती,**
९ द्विपदाप्राजापत्याबृहती, १० भुरिगार्चीबृहती, ११ द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्॥

वशः-निकामः

यदेनमाह व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति वशमेव तेनाव रुन्द्धे॥ ८॥
ऐनं वशो गच्छति वशी वशिनां भवति य एवं वेद॥ ९॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति निकाममेव तेनाव रुन्द्धे॥ १०॥
ऐनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद॥ ११॥

१. **यत्**=जो **एनम्**=इसको **आह**=कहता है कि हे **व्रात्य**=व्रतिन्! **यथा ते वशः**=जैसी आपकी इच्छा हो, **तथा अस्तु इति**=वैसा ही हो। **तेन**=उस कथन से वह **वशमेव अवरुन्द्धे**=चाहने योग्य पदार्थों को अपने लिए सुरक्षित करता है। **यः एवं वेद**=जिस प्रकार व्रात्य का आतिथ्य करता हुआ 'यथा ते वशः तथा अस्तु' यह कहना जानता है, **एवम्**=इस आतिथ्यकर्त्ता को **वशः आगच्छति**=सब इष्ट-पदार्थ प्राप्त होते हैं और यह **वशिनां वशी भवति**=सर्वश्रेष्ठ वशी बनता है। २. **यत्**=जो **एनम् आह**=इसको कहता है कि हे **व्रात्य**=व्रतिन्! **यथा ते निकामः**=जैसी आपकी अभिलाषा हो **तथा अस्तु इति**=वैसा ही हो **तेन**=उस कथन से **निकामं एव अवरुन्द्धे**=सब अभिलषित पदार्थों को अपने लिए सुरक्षित करता है। **यः एवं वेद**=जो अतिथि के लिए ऐसा करना जानता है **एनं निकामः आगच्छति**=इसे अभिलषित पदार्थ सर्वतः प्राप्त होते हैं। **निकामस्य निकामे भवति**=अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति (पूर्ति) में यह स्थित होता है, अभिलषित पदार्थों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—आतिथ्य हमारे सब मनोरथों को पूर्ण करता है और हमें सब अभिलषित पदार्थ प्राप्त होते हैं।

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ त्रिपदागायत्री, २ प्राजापत्याबृहती, ३ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

देवयज्ञ, अतिथियज्ञ

तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेऽग्निहोत्रे ऽतिथिर्गृहानागच्छैत्॥ २॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्यातिं सृज होष्यामीति॥ २॥
स चातिसृजेज्जुहुयान्न चातिसृजेन्न जुहुयात्॥ ३॥

१. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहान्**=जिसके घर पर **एवं विद्वान् व्रात्यः**=(इण् गतौ) सर्वत्र गतिवाले प्रभु को जाननेवाला **व्रती उद्धृतेषु अग्निषु**=अग्नियों के गार्हपत्य से उठाकर आहवनी में आधान किये जाने पर **अग्निहोत्रे अधिश्रिते**=अग्निहोत्र के प्रारम्भ होने की तैयारी हो जाने पर **अतिथिः आगच्छेत्**=अतिथि के रूप में प्राप्त हो तो **स्वयम्**=अपने-आप **एनं अभि उदेत्य**=इसके प्रति प्राप्त होकर कहे कि हे **व्रात्य**=व्रतिन्! **अतिसृज**=आप मुझे अनुज्ञा दीजिए जिससे **होष्यामि इति**=मैं यज्ञ करूँ। २. इसप्रकार अनुज्ञा माँगने पर **सः च अतिसृजेत्**=यदि वह अनुज्ञया दे दे तो **जुहुयात्**=अग्निहोत्र करे, परन्तु यदि **न च अतिसृजेत्**=यदि वह अनुज्ञा न दे तो **न जुहुयात्**=अग्निहोत्र न करे।

भावार्थ—अग्निहोत्र प्रारम्भ होने के अवसर पर अकस्मात् अतिथि आ जाए तो गृहस्थ व्रात्य का आदरपूर्वक स्वागत करे। उससे अनुज्ञया लेकर ही अग्निहोत्र करे। जबतक अतिथि अनुज्ञया न दे तब अग्निहोत्र स्थगित रक्खे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**४ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ५-६ आसुरीगायत्री, ७ त्रिपदा प्राजापत्यात्रिष्टुप्**॥

अतिथि सत्कार व गृहरक्षण

स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति॥ ४॥
प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम्॥ ५॥

न देवेष्वा वृश्चते हुतमस्य भवति॥ ६॥

पर्यस्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति॥ ७॥

१. **सः**=वह गृहस्थ **यः**=जो **एवम्**=इस गति के स्रोत प्रभु को **विदुषा**=जाननेवाले **व्रात्येन**=व्रतीपुरुष से **अतिसृष्टः**=अनुज्ञा दिया हुआ **जुहोति**=अग्निहोत्र करता है, **प्र पितृयाणं पन्थां जानाति**=पितृयाण मार्ग को जानता है और **देवयानं प्र (जानाति)**=देवयानमार्ग को भी जानता है। बड़ों के आदेश में चलना ही पितृयाणमार्ग है और दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाला मार्ग ही देवयान है। घर पर आये हुए मान्य अतिथि से अनुज्ञा लेकर अग्निहोत्र आदि में प्रवृत्त होने से घर में पितृयाण व देवयान मार्गों की नींव पड़ती है। २. **यः**=जो **एवं विदुषा**=गति के स्रोत प्रभु के ज्ञाता व्रात्य से **अतिसृष्टः जुहोति**=अनुज्ञा दिया हुआ अग्निहोत्र करता है, वह **देवेषु**=देवों के विषय में **न आवृश्चते**=अपने कर्त्तव्य को क्षीण नहीं करता, अर्थात् उनके विषय में अपने कर्त्तव्य का पालन करता है **अस्य हुतं भवति**=इसका अग्निहोत्र ठीक सम्पन्न होता है तथा **अस्मिन् लोके**=इस जगत् में **अस्य आयतनम्**=इसका घर **परिशिष्यते**=विनाश से बचा रहता है, अर्थात् इस घर में विलास आदि की वृत्तियाँ उत्पन्न होकर इसके विनाश का कारण नहीं बनतीं।

भावार्थ—विद्वान् व्रती अतिथि से अनुज्ञा लेकर ही अग्निहोत्र आदि में प्रवृत्त होने से उस अतिथि का मान बना रहता है और गृहस्थ के घर में उत्तम प्रथाएँ बनी रहती हैं जो घर को विनष्ट नहीं होने देतीं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**८ विराड्गायत्री, ९-१० आसुरीगायत्री, ११ त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्**॥

बड़ों का निरादर व गृहविनाश

अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति॥ ८॥

न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम्॥ ९॥

आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति॥ १०॥

नास्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा
व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति॥ ११॥

१. **अथ**=अब **यः**=जो **एवं विदुषा**=इसप्रकार ज्ञानी **व्रात्येन**=व्रती से **अनतिसृष्टः**=बिना अनुज्ञा पाये ही, उसके आतिथ्य को उपेक्षित करके **जुहोति**=यज्ञ में प्रवृत्त होता है, वह **पितृयाणं पन्थां न प्रजानाति**=पितृयाणमार्ग के तत्त्व को नहीं जानता **न देवयानं प्र (जानाति)**=न ही देवयानमार्ग के रहस्य को जानता है। २. **यः**=जो **एवं विदुषा व्रात्येन**=इसप्रकार ज्ञानीव्रती से **अनतिसृष्टः**=बिना अनुज्ञा प्राप्त किये हुए ही **जुहोति**=अग्निहोत्र में प्रवृत्त हो जाता है, वह **देवेषु**=देवों के विषय में **आवृश्चते**=अपने कर्त्तव्य को छिन्न करता है। **अहुतम् अस्य भवति**=इसका अग्निहोत्र किया न किया बराबर हो जाता है और **अस्मिन् लोके**=इस संसार में **अस्य आयतनम्**=इसका घर उत्तम परिपाटियों के न रहने से **नशिष्यते**=विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—अतिथि की उपेक्षा करके यज्ञ में लगे रहना भी उचित नहीं, इससे घर में बड़ों के आदर की भावना का विलोप होकर घर विनाश की ओर चला जाता है।

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—१ साम्न्युष्णिक्, २, ६ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ३, ५, ७ आसुरीगायत्री, ४, ८ साम्नीबृहती, ९ द्विपदानिचृद्गायत्री, १० द्विपदाविराड्गायत्री ॥

आतिथ्य से पुण्यलोकों की प्राप्ति

तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ १ ॥
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥
तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ३ ॥
ये ३ न्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ५ ॥
ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥
तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ७ ॥
ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्योऽपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति ॥ ९ ॥
य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ १० ॥

१. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहे**=जिसके घर में **एवं विद्वान्**=सर्वत्र गतिवाले प्रभु को जानता हुआ **व्रात्यः**=व्रतीपुरुष **एकाम् रात्रिम्**=एक रात **अतिथिः वसति**=अतिथि बनकर रहता है तो **तेन**=उस अतिथि से वह **गृहस्थ यः**=जो **पृथिव्याम्**=पृथिवी में **पुण्याः लोकाः**=पुण्यलोक हैं **तान् एव**=उनको ही **अवरुन्द्धे**=अपने लिए सुरक्षित करता है। २. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहे**=जिसके घर में **एवं विद्वान् व्रात्यः**=सर्वत्र गतिवाले प्रभु को जाननेवाला व्रतीपुरुष **द्वितीयां रात्रिं अतिथिः वसति**=दूसरे रात भी अतिथिरूपेण रहता है तो **तेन**=उस आतिथ्य कर्म से ये **अन्तरिक्षे पुण्याः लोकाः**=जो अन्तरिक्ष में पुण्यलोक हैं **तान् एव**=उनको निश्चय ही **अवरुन्द्धे**=अपने लिए सुरक्षित करता है। ३. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहे**=जिसके घर में **एवं विद्वान् व्रात्यः**=उस गति के स्रोत (इ गतौ) प्रभु को जाननेवाला व्रतीपुरुष **तृतीयां रात्रिम्**=तीसरी रात भी **अतिथिः वसति**=अतिथिरूप में रहता है तो **तेन**=उस आतिथ्य कर्म से **ये दिवि पुण्याः लोकाः**=जो द्युलोक में पुण्यलोक हैं **तान् एव अवरुन्द्धे**=उनको अपने लिए निश्चय से सुरक्षित कर पाता है। ४. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहे**=जिसके घर में **एवं विद्वान् व्रात्यः**=गति के स्रोत प्रभु को जाननेवाला व्रतीपुरुष **चतुर्थीं रात्रिं अतिथिः वसति**=चौथी रात भी अतिथिरूपेण रहता है तो **तेन**=उस आतिथ्य कर्म से **ये पुण्यानां पुण्याः लोकाः**=जो पुण्यों के भी पुण्यलोक हैं—अतिशयेन पुण्यलोक हैं, **तान् एव अवरुन्द्धे**=उन्हें अपने लिए सुरक्षित कर लेता है। ५. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहे**=जिसके घर में **एवं विद्वान् व्रात्यः**=गति के स्रोत प्रभु को जाननेवाला व्रती विद्वान् **अपरमिताः रात्रीः अतिथिः वसति**=न सीमित—बहुत रात्रियों तक अतिथिरूपेण रहता है तो **तेन**=उस आतिथ्य कर्म से यह गृहस्थ **ये एव अपरिमिताः पुण्याः लोकाः**=जो भी अपरिमित पुण्यलोक हैं **तान् अवरुन्द्धे**=उन सबको अपने लिए सुरक्षित कर लेता है।

भावार्थ—विद्वान् व्रात्य के आतिथ्य से गृहस्थ पुण्यलोकों को प्राप्त करता है। उन विद्वान् व्रात्यों की प्रेरणाएँ इन्हें पुण्य-मार्ग पर ले-चलती हुई पुण्यलोकों को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—११ प्राजापत्यापङ्क्तिः, १२ आसुरीजगती, १३ सतःपङ्क्तिः, १४ अक्षरपङ्क्तिः॥

अव्रात्य अतिथि का भी अनिरादर

अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ ११॥
कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत्॥ १२॥
अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात्॥ १३॥
तस्यामेवास्य तद्देवतायां हुतं भवति य एवं वेद॥ १४॥

१. **अथ**=अब **यस्य गृहान्**=जिसके घर को **अव्रात्यः**=एक अव्रती **व्रात्यब्रुवः**=अपने को व्रती कहनेवाला, **नाम बिभ्रती**=केवल अतिथि के नाम को धारण करनेवाला **अतिथिः आगच्छेत्**=अतिथि आ जाए तो क्या **एनं कर्षेत्**=इसे खदेड़ दें—क्या इसका निरादर करके भगा दें? **न च एनं कर्षेत्**=नहीं, निश्चय से उसे निरादरित न करें, २. अपितु अतिथि की भावना से ही इसप्रकार अपनी पत्नी से कहे कि **अस्यै देवतायै उदकं याचामि**=इस देवता के लिए उदक (पानी) माँगता हूँ। **इमां देवतां वासये**=इस देवता को निवास के लिए स्थान देता हूँ। **इमाम्**=इस और **इमां देवताम्**=इस देवता को ही **परिवेवेष्यात्**=भोजन परोसे। ऐसा करने पर **अस्यै**=इस गृहस्थ का **तत्**=वह भोजन परिवेषणादि कर्म **तस्यां एव देवतायाम्**=उस अतिथिदेव में ही **हुतं भवति**=दिया हुआ होता है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार अतिथि के महत्त्व को समझता है, वह इस व्रात्यब्रुव को भी भोजन परोस ही देता है और अतिथियज्ञ को विच्छिन्न नहीं होने देता।

भावार्थ—अव्रती भी अतिथिरूपेण उपस्थित हो जाए तो उसका निरादर न करके उसे भी खानपान से तृप्त ही करें। अतिथियज्ञ को विच्छिन्न न होने दे।

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—१ त्रिपदाऽनुष्टुप्, २ आसुरीगायत्री॥

मारुतं शर्धः+अन्नादं मनः

स यत्प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्धो भूत्वानुव्य[चलन्मनोऽन्नादं कृत्वा॥ १॥
मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ २॥

१. **सः**=वह व्रात्य **यत्**=जब **प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्**=प्रगति (प्र अञ्च) की दिशा में क्रमशः आगे बढ़ा तो **मारुतं शर्धः**=प्राण-सम्बन्धी बल का पुञ्ज **भूत्वा**=होकर, अर्थात् प्राणसाधना द्वारा सबल बनकर **अनुव्यचलत्**=क्रमशः आगे बढ़ा। २. इसके साथ यह **मनः अन्नादं कृत्वा**=मन को अन्नाद बनाकर आगे बढ़ा। मन के दृष्टिकोण से यह भोजन खानेवाला हुआ। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार समझ लेता है कि मन की पवित्रता का निर्भर अन्न पर ही है, (जैसा अन्न वैसा मन, you are, what you eat, आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः) वह **अन्नादेन**=अन्न का ग्रहण करनेवाले **मनसा अन्नं अत्ति**=मन से अन्न खाता है। मन की अपवित्रता के कारणभूत अन्न को नहीं खाता।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा प्राणशक्ति का वर्धन करें और मन की पवित्रता के दृष्टिकोण से सात्त्विक भोजन ही खाएँ, यही प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने का उपाय है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—३ परउष्णिक्, ४ आसुरीगायत्री ॥

इन्द्र+अन्नादं बलं

स यद्दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्य ऽचलद् बलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥
बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ४ ॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **दक्षिणां दिशं अनुव्यचलत्**=दक्षिणा (नैपुण्य) की दिशा की ओर चला तो **इन्द्रः भूत्वा अनुव्यचलत्**=जितेन्द्रिय बनकर चला। जितेन्द्रिय बनकर ही हम दाक्षिण्य प्राप्त कर सकते हैं। २. दाक्षिण्य प्राप्त करनेवाला **यः**=जो भी व्यक्ति **एवं वेद**=इस तत्त्व को समझ लेता है कि जितेन्द्रियता से दाक्षिण्य प्राप्त किया जा सकता है, वह जितेन्द्रिय बनकर **बलं आन्नदं कृत्वा**=बल को अन्न खानेवाला करके आगे बढ़ता है। **अन्नादेन बलेन अन्नं अत्ति**=अन्न को खानेवाले बल से अन्न को खाता है। उसी अन्न को खाता है जो बल को बढ़ानेवाला है। ये किसी भी स्वाद को भोजन का मापक नहीं बनाता।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर दाक्षिण्य प्राप्त करें। बल के वर्धन के दृष्टिकोण से ही भोजन करें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्, ६ आसुरीगायत्री ॥

वरुण राजा+अन्नादीः अपाः

स यत्प्रतीचीं दिशमनु व्यचलद्वरुणो राजा भूत्वानुव्य ऽचलदपो ऽन्नादीः कृत्वा ॥ ५ ॥
अद्भिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ ६ ॥

१. **सः**=वह व्रात्य **यत्**=जब **प्रतीचीं दिशं अनुव्यचलत्**=प्रत्याहार—इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करने की दिशा की ओर चला तो **वरुणः**=सब व्यसनों का निराकरण करनेवाला वह **राजा**=दीप्तजीवनवाला **भूत्वा**=होकर **अनुव्यचलत्**=अनुक्रमेण गतिवाला हुआ। २. **यः**=जो **एवं वेद**=इस तत्त्व को समझ लेता है कि निरव्यसन व दीप्तजीवनवाला बनने के लिए 'प्रत्याहार' आवश्यक है, वह **आपः**=रेतःकणों को **अन्नादीः कृत्वा**=अन्न खानेवाला बनाकर प्रत्याहार को सिद्ध करता है। यह **अन्नादीभिः अद्भिः अत्ति**=अन्न को खानेवाले रेतःकणों से ही अन्न को खाता है। उन्हीं सौम्य अन्नों का सेवन करता है जो रेतःकणों के रक्षण के लिए अनुकूलतावाले हों, अर्थात् यह उत्तेजक, राजस् भोजन से बचता है, राजस् भोजनों का सेवन नहीं करता।

भावार्थ—हम निर्व्यसन व दीप्तजीवनवाले बनकर इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करें। उन्हीं सात्त्विक भोजनों का सेवण करें जो रेतःकणों के रक्षण के लिए हितकर हों, न राजसों, न तामसों का।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः ॥ छन्दः—७ प्रस्तारपङ्क्तिः, ८ आसुरीगायत्री ॥

सोमराजा+अन्नादी ज्ञानयज्ञाहुति

स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत्सोमो राजा
भूत्वानुव्य ऽचलत्सप्तर्षिभिर्हुत आहुतिमन्नादीं कृत्वा ॥ ७ ॥
आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥

१. **सः**=वह व्रात्य **यत्**=जब **उदीचीम्**=(उद् अञ्च) उन्नति की दिशा की ओर **अनुव्यचलत्**=चला तो **सोमः**=सौम्य, शान्त व **राजा**=दीप्तजीवनवाला **भूत्वा**=बनकर **अनुव्यचलत्**=क्रमशः आगे बढ़ा। सौम्यता व ज्ञानदीप्त जीवन में ही उन्नति सम्भव है। २. **यः एवं वेद**=जो

इस तत्त्व को समझ लेता है कि उन्नति के लिए सौम्य, दीप्त जीवन की आवश्यकता है वह **सप्तर्षिभिः**='दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' रूप सप्तर्षियों से **हुते**=किये जानेवाले ज्ञानयज्ञ में **आहुतिम्**=ज्ञेय विषयों की आहुति को **अन्नादीं कृत्वा**=अन्न खानेवाली बनाकर आगे बढ़ता है। इस **अन्नाद्या आहुत्या**=अन्न को खानेवाली, विषयों की ज्ञानयज्ञ में दी जानेवाली आहुति से ही यह **अन्नं अत्ति**=अन्न को खाता है। उसी अन्न को खाता है जो ज्ञानेन्द्रियों को अपने कार्य में सक्षम करे।

भावार्थ—हम सौम्य व ज्ञानदीप्त जीवनवाले बनते हुए जीवन में ऊर्ध्वगतिवाले हों। उन्हीं अन्नों का सेवन करें जो ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति के कार्य में सक्षम करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**९ पुरउष्णिक्, १० आसुरीगायत्री**॥

विष्णु+अन्नादी विराट्

स यद् ध्रुवां दिशमनु व्यचलद्विष्णुर्भूत्वानुव्य᳡चलद् विराजमन्नादीं कृत्वा॥ ९॥
विराजान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद॥ १०॥

१. **सः**=वह व्रात्य **यत्**=जब **ध्रुवां दिशं अनुव्यचलत्**=ध्रुवता—स्थिरता की दिशा की ओर चला तो **विष्णुः**=व्यापक उन्नतिवाला—'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों की उन्नतिवाला—'स्वस्थ शरीर, पवित्र मन व दीप्त मस्तिष्क' वाला **भूत्वा अनुव्यचलत्**=होकर अनुकूलता से गतिवाला हुआ। त्रिविध उन्नति में ही उन्नति की स्थिरता है। २. **यः एवं वेद**=जो त्रिविध उन्नति में ही उन्नति की स्थिरता के तत्त्व को समझ लेता है, वह **विराजम्**=इस विशिष्ट दीप्ति को ही **अन्नादीं कृत्वा**=अन्न खानेवाला बनकर चलता है। उसी अन्न को खाता है जो उसे विराट्—विशिष्ट दीप्तिवाला बनाए। **अन्नाद्या**=अन्न को खानेवाला **विराजा**=विशिष्ट दीप्ति से ही वह **अन्नं अत्ति**=अन्न खाता है—उसी अन्न को खाता है, जो उसे विशिष्ट दीप्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—उन्नति की स्थिरता इसी में है कि हम शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों को उन्नत करें, तभी हम 'विराट्' बनेंगे। विराट् बनने के दृष्टिकोण से ही अन्न खाना चाहिए—वह अन्न जो हमें 'शरीर में स्वस्थ, मन में पवित्र तथा मस्तिष्क में दीप्त' बनाये।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**११ स्वराड्गायत्री, १२ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

रुद्र+अन्नादी ओषधी

स यत्पशूननु व्यचलद्रुद्रो भूत्वानुव्य᳡चलदोषधीरन्नादीः कृत्वा॥ ११॥
ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद॥ १२॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **पशुं अनुव्यचलत्**=पशुओं के अनुकूल गतिवाला हुआ—पशुओं को किसी प्रकार की हानि न पहुँचानेवाला बनकर चला तब **रुद्रः भूत्वा अनुव्यचलत्**=(रुत् द्र) रोगों को दूर भगानेवाला बनकर चला। किसी को हानि न पहुँचाना ही अपने को हानि से बचाने का उपाय है। **यः एवं वेद**=जो इस तत्त्व को समझ लेता है कि रोगों से बचने के लिए आवश्यक है कि हम किन्हीं भी पशुओं को हानि न पहुँचाएँ, वह **ओषधीः अन्नादीः कृत्वा**=ओषधियों को ही अन्नभक्षण करनेवाला बनाकर चलता है। दोष-दहन करनेवाले अन्नों का ही सेवन करता है (उष दाहे+धी) **अन्नादीभिः ओषधीभिः**=अन्नों को खानेवाली दोषदग्धकरी स्थिति से ही वह अन्न खाता है।

भावार्थ—हम नीरोग बनने के लिए किसी भी पशु के अहिंसन का व्रत लें। उन्हीं भोजनों

को खाएँ जो शरीर के दोषों का दहन करनेवाले हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—१३ आर्चीपङ्क्तिः,
१४ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्॥

यमः राजा+अन्नाद स्वधाकार

स यत्पितॄननु व्यचलद्यमो राजा भूत्वानुव्य᳚चलत्स्वधाकारमन्नादं कृत्वा॥ १३॥
स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ १४॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **पितॄन् अनुव्यचलत्**=पितरों को लक्ष्य करके गतिवाला हुआ तो **यमः राजा भूत्वा अनुव्यचलत्**=संयत व दीप्तजीवनवाला होकर चला। संयत व दीप्ति जीवनवाला बनकर ही तो वह पितरों के समान बन सकेगा। २. **यः एवं वेद**=जो पितरकोटि में प्रवेश के लिए संयम व ज्ञानदीप्ति के महत्त्व को समझता है, वह **स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा**=स्वधाकार को अन्नाद बनाकर चलता है, अर्थात् पहले पितरों (बड़ों) को खिलाकर पीछे स्वयं खाता है (पितृभ्यः स्वधा)। यह **अन्नादेन स्वधाकारेण अन्नं अत्ति**=अन्न खानेवाले स्वधाकार से ही अन्न को खाता है, अर्थात् सदा पितृयज्ञ करके अवशिष्ट को ही खानेवाला बनता है।

भावार्थ—पितृयाणमार्ग का सफलता से आक्रमण करने के लिए आवश्यक है कि हम संयत व ज्ञानदीप्तजीवनवाले बनें और पितरों को खिलाकर पितृयज्ञावशिष्ट को ही खाएँ।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—१५ आर्चीपङ्क्तिः,
१६ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्॥

अग्नि+स्वाहाकार अन्नाद

स यन्मनुष्या३ँ ननु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्य᳚चलत्स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा॥ १५॥
स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ १६॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **मनुष्यान् अनुव्यचलत्**=मनुष्यों के अनुकूल गतिवाला हुआ, अर्थात् जब उसने एक उत्तम मानव बनने का निश्चय किया तब **अग्निः भूत्वा अनुव्यचलत्**=अग्नि बनकर चला—निरन्तर आगे बढ़नेवाला प्रकाशमय उत्साहवाला (अग्नि=उत्साह)। २. **यः एवं वेद**=जिसने यह समझ लिया कि उत्तम सन्तान वही है जो 'आगे बढ़नेवाला, प्रकाशमय व उत्साहवाला' है, तो वह **स्वाहाकारम् अन्नादं कृत्वा**=स्वाहाकार को अन्नाद बनाकर चला। यज्ञ करके यज्ञशेष को खाने की वृत्तिवाला बना। यह व्यक्ति **अन्नादेन स्वाहाकारेण अन्नं अत्ति**=अन्न को खानेवाले स्वाहाकार से ही अन्न को खाता है। पहले 'अग्नये स्वाहा' और पीछे 'उदराय'। यह उसका जीवन-सूत्र बनता है।

भावार्थ—उत्तम मानव वही है जो 'अग्रगतिवाला, प्रकाश व उत्साहवाला है'। यह सदा यज्ञशेष अमृत का सेवन करता है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—१७ आर्चीत्रिष्टुप्,
१८ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्॥

बृहस्पति+वषट्कार अन्नाद

स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद् बृहस्पतिर्भूत्वानुव्य᳚चलद्वषट्कारमन्नादं कृत्वा॥ १७॥
वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ १८॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **ऊर्ध्वाम्**=उन्नति की सर्वोपरि **दिशं अनुव्यचलत्**=दिशा की ओर चला, तब **बृहस्पतिः भूत्वा अनुव्यचलत्**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञान का स्वामी बनकर चला। २. **यः**

एवं वेद=जो इस बात को समझ लेता है कि उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए बृहस्पति बनना आवश्यक है, वह **वषट्कारम्**=(वश् to kill) वासना-विनाश के कार्य को **अन्नादं कृत्वा**=अन्न का खानेवाला करके चलता है, अर्थात् उन्हीं भोजनों को करता है जो वासनाओं को उत्तेजित करनेवाले न हों। यह **वषट्कारेण**=वषट्काररूपी **अन्नादेन**=अन्न खानेवाले से **अन्नं अत्ति**=अन्न को खाता है, अर्थात् भोजन का उद्देश्य वासनाशून्य शक्ति को जन्म देना ही मानता है।

भावार्थ—उन्नति के शिखर पर ज्ञान के द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। ज्ञान के मार्ग में वासनाएँ ही विघातक हैं, अतः भोजन वही ठीक है जो वासनाशून्य शक्ति को जन्म दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१९ भुरिङ्नाम्नीगायत्री, २० आसुरीगायत्री**॥

ईशान+अन्नादमन्यु

स यद्देवाननु व्यचलदीशानो भूत्वानुव्य चिलन्मन्युमन्नादं कृत्वा॥ १९॥
मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ २०॥

१. **सः**=वह व्रात्य **यत्**=जब **देवान् अनुव्यचलत्**=दिव्यगुणों की प्राप्ति को लक्ष्य करके चला तब **ईशानः भूत्वा अनुव्यचलत्**=ईशान—इन्द्रियों का स्वामी बनकर गतिवाला हुआ। बिना ईशान बने दिव्यगुणों का सम्भव कहाँ? जितेन्द्रियता ही उस वृत्त का केन्द्र है, जिसकी परिधि पर सब दिव्यगुणों की स्थिति है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार जितेन्द्रियता व सद्गुणों के कारणकार्य-भाव को समझ लेता है, वह **मन्युम्**=(A sacrifice, spirit, couarge) त्याग व उत्साह को **आनन्दं कृत्वा**=आनन्द बनाकर चलता है। **मन्युना अन्नादेन अन्नं अत्ति**=त्याग व उत्साहरूप अन्नादि से ही अन्न को खाता है। उसी सात्त्विक भोजन का ग्रहण करता है जो उसके मन में त्यागवृत्ति व उत्साह को जन्म दे।

भावार्थ—जितेन्द्रियता ही सब दिव्यगुणों का मूल है। जितेन्द्रियता के लिए हम उन्हीं भोजनों को करें जो हमारे हृदयों में उत्साह व त्यागवृत्ति का संचार करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**२१ प्राजापत्यात्रिष्टुप्, २२ आसुरीगायत्री**॥

प्रजापति+अन्नाद प्राण

स यत्प्रजा अनु व्यचलत् प्रजापतिर्भूत्वानुव्य चिलत्प्राणमन्नादं कृत्वा॥ २१॥
प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ २२॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **प्रजाः अनुव्यचलत्**=प्रजाओं के हित का लक्ष्य करके गतिवाला हुआ तब **प्रजापतिः भूत्वा अनुव्यचलत्**=प्रजाओं का रक्षक बनकर अनुकूल गतिवाला हुआ। २. इस समय यह **प्राणम् अन्नादं कृत्वा**=प्राण को अन्न खानेवाला करके चला, अर्थात् केवल प्राण-धारण के उद्देश्य से ही उसका भोजन होता था। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार समझ लेता है कि वह खाने के लिए नहीं आया, अपितु जीवन के लिए खाना है, वह **अन्नादेन प्राणेन अन्नम् अत्ति**=अन्न को खानेवाले प्राण से अन्न को खाता है—प्राणधारण के लिए ही उसका भोजन होता है।

भावार्थ—हम प्राणधारण के लिए—जीवन की रक्षा के लिए भोजन करें। जीवन को प्रजाहित में तत्पर करें—प्राजापत्ययज्ञ में जीवन की आहुति दें।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—२३ आर्चीत्रिष्टुप्, २४ आसुरीगायत्री॥

परमेष्ठी+अन्नाद ब्रह्म

स यत्सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत्परमेष्ठी भूत्वानुव्य ऽचलद् ब्रह्मान्नादं कृत्वा॥ २३॥

ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ २४॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **सर्वान् अन्तर्देशान्**=सब अन्तर्देशों में—प्रजाओं के निवासस्थानों में **अनुव्यचलत्**=अनुकूलता से गतिवाला हुआ तो **परमेष्ठी भूत्वा अनुव्यचलत्**=परम स्थान में स्थित होता हुआ गतिवाला हुआ। प्रजाहित के लिए सब अन्तर्देशों में भ्रमण ही मानवजीवन का चरमोत्कर्ष है। इस समय यह **ब्रह्म अन्नादं कृत्वा**=ब्रह्म को ही अन्नाद बनाकर चला। भोजन को केवल इसलिए खाने लगा कि स्वस्थ शरीर में मैं ब्रह्मदर्शन कर पाऊँगा। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार प्रजाहित के लिए सब अन्तर्देशों में विचरण को आवश्यक समझ लेता है, वह परमेष्ठी (व्रात्य) **ब्रह्मणा अन्नादेन अन्नम् अत्ति**=अन्न को खानेवाले ब्रह्म से ही अन्न को खाता है—भोजन का उद्देश्य ही ब्रह्म-प्राप्ति ही जानता है। जो भोजन ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग पर चलने में सहायक है, उन्हीं को करता है।

भावार्थ—प्रजाहित के लिए सब अन्तर्देशों में विचरते हुए हम 'परमेष्ठी' बनें। उन्हीं भोजनों को करें जो हमारी प्रवृत्तियों को ब्रह्मप्रवण करनेवाले हों।

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—१ दैवीपङ्क्तिः,
२ आसुरीबृहती (१-२ तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)॥

सात 'प्राण, अपान, व्यान'

तस्य व्रात्यस्य॥ १॥

सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः॥ २॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रतमय जीवनवाले विद्वान् के **सप्त प्राण**=सात प्राण हैं। **सप्त अपानाः**=सात अपान है और **सप्त व्यानाः**=सात व्यान हैं। २. शरीर में शक्ति का संचार करनेवाले तत्त्व प्राण हैं। शरीर में दोषों को दूर करनेवाले तत्त्व अपान हैं तथा शरीर की सब क्रियाओं को शासित करनेवाली शक्तियाँ व्यान हैं।

भावार्थ—व्रात्य 'सात प्राणों, सात अपानों तथा सात व्यानों' का स्वामी होता है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—३ प्राजापत्याऽनुष्टुप्,
४ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ५ द्विपदासाम्नीबृहती (३-५ तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)॥

अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा

तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः॥ ३॥

तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः॥ ४॥

तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य तृतीयः प्राणो३भ्यू ऽढो नामासौ स चन्द्रमाः॥ ५॥

१. **तस्य व्रातस्य**=उस व्रात्य का, **यः अस्य**=जो इसका **प्रथमः प्राणः**=पहला प्राण है, **ऊर्ध्वः नाम**=वह ऊर्ध्व नामवाला है, **अयं सः अग्निः**=यह वह 'अग्नि' है। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **द्वितीयः प्राणः**=द्वितीय प्राण है, वह **प्रौढः नाम**=प्रौढ नामवाला, **असौ सः आदित्यः**=वह वही आदित्य है। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य तृतीयः**

प्राणः=जो इसका तीसरा प्राण है **अभ्यूढः नाम**=अभ्यूढ नामवाला है। **असौ सः चन्द्रमाः**=वह वही चन्द्रमा है। २. प्रथम प्राण 'ऊर्ध्व' व 'अग्नि' है। 'ऊर्ध्व' का अभिप्रायः है शरीर में रेतःकणों की ऊर्ध्वगति करनेवाला। प्राणसाधना के द्वारा शरीर के रेतःकण ऊर्ध्वगतिवाले होते ही हैं। यह 'अग्नि' है—शरीर में उचित शक्ति की अग्नि का पोषण करता है। दूसरा प्राण 'प्रौढ' (प्र+ऊढ)=प्रकृष्ट वहनवाला है। यह हमें उन्नति की दिशा में ले-चलता है। प्राणसाधना द्वारा बुद्धि का विकास होकर हमारा ज्ञान बढ़ता है। यह ज्ञान ही हमें उन्नत करनेवाला होता है, अतः इस प्राण को 'आदित्य' कहा गया है—सब ज्ञानों व गुणों का आदान करनेवाला। अब तृतीय प्राण 'अभि ऊढ' है। यह हमें प्रभु की ओर—आत्मतत्त्व की ओर ले-चलता है। प्राणायाम द्वारा ही विवेकख्याति होकर आत्मदर्शन होता है। यह प्राण 'चन्द्रमा' है—(चदि आह्लादे) अद्भुत आह्लाद का साधन बनता है। आत्मदर्शन का आनन्द वाग्विषय न होकर अन्तःकरणग्राह्य ही है।

भावार्थ—व्रात्य प्राणसाधना करता हुआ अपने अन्दर शक्ति को 'अग्नि' को, ज्ञान व गुणों के आदानरूप 'आदित्य' को तथा आत्मदर्शन के आनन्द रूप 'चन्द्रमा' को धारण करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**६ द्विपदासाम्नीबृहती, ७-८ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ९ विराड्गायत्री (६-९ तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)**

पवमानः, आपः, पशवः, प्रजाः

तस्य व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य चतु॒र्थः प्रा॒णो वि॒भूर्नामा॒यं स पव॑मानः॥ ६॥

तस्य व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य पञ्च॒मः प्रा॒णो योनि॒र्नाम॒ ता इ॒मा आपः॥ ७॥

तस्य व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य ष॒ष्ठः प्रा॒णः प्रि॒यो नाम॒ त इ॒मे प॒शवः॥ ८॥

तस्य व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य स॒प्तमः प्रा॒णोऽप॑रिमितो॒ नाम॒ ता इ॒माः प्र॒जाः॥ ९॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का, **यः**=जो **अस्य**=इसका **चतुर्थः प्राणः**=चतुर्थ प्राण है, वह **विभूः नाम**=विभू नामवाला है—वैभवसम्पन्न-शक्तिशाली। **अयं सः**=यह वह **पवमानः**=वायु है—जीवन को गति देने के द्वारा पवित्र रखनेवाला है। पवित्रता के साथ शक्ति भी देने के कारण यह 'विभू' है। २. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **पञ्चमः प्राणः**=पाँचवा प्राण है, **योनिः नाम**=वह योनि नामवाला है—उत्तम सन्तति को जन्म देनेवाला—उत्पत्ति का कारण **ताः इमाः आपः**=वे ये रेतःकण ही हैं। प्राणायाम द्वारा सुरक्षित रेतःकण ही सन्तान को जन्म देने का साधन बनते हैं। ३. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **षष्ठः प्राणः**=षष्ठ प्राण है, वह **प्रियः नाम**=प्रिय नामवाला है—प्रीति को उत्पन्न करनेवाला। **ते इमे पशवः**=वे ये पशु ही हैं। 'पश्यन्ति इति' जो ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनती है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ ही यहाँ पशु कही गई हैं। प्राणशक्ति की वृद्धि में इनकी भी वृद्धि है। ये ज्ञान का वर्धन करती हुई प्रीति का कारण बनती हैं। ४. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो इसका **सप्तमः प्राणः**=सातवाँ प्राण है, वह **अपरिमितः नाम**=अपरिमित नामवाला है। यह मनुष्य को बड़ी व्यापक वृत्तिवाला बनाता है। **ताः इमाः प्रजाः**=वे ही ये शक्तियों के प्रादुर्भाव हैं। प्राणायाम से अद्भुत शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है—इसी को यहाँ 'प्रजाः' (जनी प्रादुर्भावे) इस रूप में कहा गया है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शक्तियों का जन्म होकर जीवन की पवित्रता उत्पन्न होती है। शरीर में सुरक्षित रेतःकण उत्तम सन्तति को जन्म देने का साधन बनाते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ सशक्त

होकर ज्ञानसम्पादन करती हुई प्रीति उत्पन्न करती हैं और सब शक्तियों का प्रादुर्भाव होकर हम अपरिमित लोकों (ब्रह्मलोक) को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अध्यात्मम्, व्रात्यः॥ छन्दः—१, ३ साम्न्युष्णिक्; २,४,५ प्राजापत्योष्णिक्; ६ याजुषीत्रिष्टुप्; ७ आसुरीगायत्री; (१-७ तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)॥

सात 'अपान' दोषापनयन साधन

तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी॥ १॥
तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य द्वितीयो ऽपानः साष्टका॥ २॥
तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य तृतीयो ऽपानः सामावास्या॥ ३॥
तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य चतुर्थो ऽपानः सा श्रद्धा॥ ४॥
तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य पञ्चमो ऽपानः सा दीक्षा॥ ५॥
तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य षष्ठो ऽपानः स यज्ञः॥ ६॥
तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य सप्तमो ऽपानस्ता इमा दक्षिणाः॥ ७॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **प्रथमः अपानः**=प्रथम अपान है **सा पौर्णमासी**=वह पौर्णमासी है **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **द्वितीयः अपानः**=द्वितीय अपान है **सा अष्टका**=वह अष्टका है। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **तृतीयः अपानाः**=तीसरा अपान है **सा अमावास्या**=वह अमावास्या है **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **चतुर्थः अपानः**=चौथा अपान है **सा श्रद्धा**=वह श्रद्धा है **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **पञ्चमः अपानः**=पञ्चम अपान है **सा दीक्षा**=वह दीक्षा है **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **षष्ठः अपानः**=छठा अपान है, **सः यज्ञः**=वह यज्ञ है और **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **सप्तमः अपानः**=सातवाँ अपान है **ताः इमा दक्षिणाः**=वे ये दानवृत्तियाँ हैं। २. व्रात्य ने अपने दोषों को दूर करने के लिए जिन साधनों को अपनाया, वे ही अपान हैं। पहला अपान पौर्णमासी है, अर्थात् व्रात्य संकल्प करता है कि जैसे पूर्णिमा का चाँद सब कलाओं से पूरिपूर्ण हैं, इसी प्रकार मैं भी अपने जीवन को १६ कलाओं से (प्राण, श्रद्धा, पंचभूत, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, मन्त्र, कर्म, लोक व नाम) परिपूर्ण बनाऊँगा। जीवन को ऐसा बनाने के लिए दूसरा 'अपान' अष्टक साधन बनता है। अष्टका से अष्टांगयोगमार्ग अभिप्रेत है। इस योगमार्ग को (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि) अपनाने से मानवजीवन पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। इस जीवन का तीसरा अपान है 'अमावास्या'। इसका अभिप्राय है 'सूर्य व चन्द्र' का एक राशि में होना। इस व्रात्य के जीवन में मस्तिष्क गगन में ज्ञानसूर्य का उदय होता है तो हृदय में भक्तिरस के चन्द्र का। एवं इसका जीवन प्रकाश व आनन्द से परिपूर्ण होता है। ४. इस अनुभव से इसके जीवन में 'श्रद्धा' का प्रवेश होता है। यह श्रद्धा उसके जीवन को पवित्र करती हुई उसके लिए 'कामायनी' बनती है। इस श्रद्धा के कारण ही यह 'दीक्षा' में प्रवेश करता है—कभी भी इसका जीवन 'अव्रती' नहीं होता। अल्पव्रतों का पालन करता हुआ यह महाव्रतों की ओर झुकता है। इसका जीवन 'यज्ञमय' बनता है। यज्ञों की पराकाष्ठा ही 'दक्षिणाएँ' व दानवृत्तियाँ होती हैं (यज् दाने) इनको अपनाता हुआ यह सब पापों को छिन्नकर लेता है

और पूर्ण पवित्र जीवनवाला बनकर प्रभु की प्रीति का पात्र होता है।

भावार्थ—हम इस सूक्त में प्रतिपादित 'पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या, श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ, दक्षिणा' रूप सात अपानों को अपनाते हुए पवित्र जीवनवाला बनें।

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—१,५ **प्राजापत्योष्णिक्; २, ७ आसुर्यनुष्टुप्; ३ याजुषीत्रिष्टुप्; ४ साम्न्युष्णिक्; ६ याजुषीत्रिष्टुप्; (१-७ तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)॥**

सात व्यान

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य प्रथ॒मो व्या॒नः सेयं भूमि॑ः॥ १॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य द्वि॒तीयो॒ व्या॒नस्तद॒न्तरि॑क्षम्॥ २॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य तृ॒तीयो॒ व्या॒नः सा द्यौः॥ ३॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य च॒तु॒र्थो॒ व्या॒नस्तानि॒ नक्ष॑त्राणि॥ ४॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य प॒ञ्च॒मो व्या॒नस्त ऋ॒तव॑ः॥ ५॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य ष॒ष्ठो व्या॒नस्त आर्त॒वाः॥ ६॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य स॒प्त॒मो व्या॒नः स सं॑वत्सरः॥ ७॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो **अस्य**=इसका **प्रथमः व्यानः**=पहला व्यान है, **सा इयं भूमिः**=वह यह भूमि है। **तस्य व्रात्यस्य अस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **द्वितीयः व्यानः**=दूसरा व्यान है **तत् अन्तरिक्षम्**=वह अन्तरिक्ष है। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **तृतीयः व्यानः**=तीसरा व्यान है, **सा द्यौः**=वह द्युलोक है। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो **अस्य**=इसका **चतुर्थः व्यानः**=चौथा व्यान है **तानि**=वे **नक्षत्राणि**=नक्षत्र हैं। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो **अस्य**=इसका **पंचमः व्यानः**=पाँचवाँ व्यान है **ते ऋतवः**=वे ऋतुएँ हैं। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो **अस्य**=इसका **षष्ठः व्यानः**=छठा व्यान है **ते आर्तवाः**=वे आर्तव हैं—उस-उस ऋतु में होनेवाले फल, अन्न आदि हैं। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो **अस्य**=इसका **सप्तमः व्यानः**=सातवाँ व्यान है, **सः संवत्सरः**=वह संवत्सर है।

२. 'व्यान' का अर्थ आचार्य (स्वा० दयानन्द) यजुः० १५.६५ पर 'विविधविद्या व्याप्ति' करते हैं। १.२० पर 'विविधमन्यते व्याप्यते येन स सर्वेषां शुभगुणानां कर्मविद्योगानाञ्च व्याप्तिहेतुः' इस रूप में लिखते हैं। एवं स्पष्ट है कि व्यान का भाव—सब ज्ञानों की प्राप्ति—जीवन के निर्माण के लिए, जीवन को शुभगुणों व विद्याओं से व्याप्त करने के साधनभूत प्राणवायु पर आधिपत्य। इस व्रात्य के जीवन में प्रथम व्यान 'भूमि' है, द्वितीय 'अन्तरिक्ष', तृतीय 'द्यौः' और चतुर्थ 'नक्षत्र'। यह व्रात्य इन सबके ज्ञान को सम्यक्तया प्राप्त करके क्रमशः अपने 'शरीर, मन व मस्तिष्क' (भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौः) को उत्तम बनाता हुआ व विज्ञान के नक्षत्रों को अपने मस्तिष्क-गगन में उदित करता है। इनके उदय से ही वह जीवन के लिए आवश्यक सब सामग्री को जुटानेवाला होता है। ३. पाँचवाँ व्यान 'ऋतुएँ' हैं, छठा 'आर्तव' ऋतुओं में होनेवाले अन्न व फल तथा सातवाँ 'संवत्सर'। यह व्रात्य अपनी ऋतुचर्या को ठीक रखता है, उस-उस ऋतु में उन 'आर्तव' पदार्थों का ठीक प्रयोग करता है, सम्पूर्ण वर्ष बड़ी नियमित गतिवाला होता है। इसी दृष्टिकोण से यह कालविद्या को खूब समझने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—व्रात्य 'भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक, नक्षत्र, ऋतु, आर्तव व संवत्सर' इन सबका ज्ञान प्राप्त करके इनका ठीक प्रयोग करता हुआ अपने जीवन को सुन्दरतम बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**८ प्रतिष्ठाऽऽर्चीपङ्क्तिः; ९ द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप्; १० साम्न्यनुष्टुप् (८-१० तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)**॥

अमृतत्वम्-आहुतिः

तस्य व्रात्यस्य। समानमर्थं परि यन्ति देवाः संवत्सरं वा एतदृतवोऽनुपरियन्ति व्रात्यं च॥ ८॥

तस्य व्रात्यस्य। यदादित्यमभिसंविशन्त्यमावास्यां चैव तत्पौर्णमासीं च॥ ९॥

तस्य व्रात्यस्य। एकं तदेषाममृतत्वमित्याहुतिरेव॥ १०॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य के **समानं अर्थम्**=(सम् आनयति) पृथक् प्राणित करने के प्रयोजन को **देवाः परियन्ति**=सब देव—प्राकृतिक शक्तियाँ सर्वतः इसप्रकार प्राप्त होती हैं, जैसे **ऋतुवः**=ऋतुएँ **एतत् संवत्सरम्**=इस संवत्सर को **अनुपरियन्ति**=अनुक्रमेण प्राप्त होती हैं। ये **च**=और ये सब धातुएँ **व्रात्यम्**=व्रात्य को भी अनुकूलता से प्राप्त होती हैं। ऋतुओं की अनुकूलता से यह व्रात्य स्वस्थ बना रहता है। २. ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ (देव) **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य के **यत् आदित्यं अभिसंविशन्ति**=ज्ञानसूर्य में अनुकूलता से प्रविष्ट होती हैं, **अमावास्यां च एव**=और निश्चय से उस व्रात्य की अमावास्या में—ज्ञानसूर्य व भक्तिरसरूप चन्द्र के समन्वय में प्रवेश करती हैं, **च तत्**=और तब **पौर्णमासीम्**=पौर्णमासी में—जीवन को सोलह कलापूर्ण बनाने में, प्रवेश करती हैं, **तत्**=वे 'सब प्राकृतिक शक्तियाँ **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य को ज्ञानसूर्ययुक्त जीवनवाला बनाती है—इसके जीवन में ज्ञानसूर्य व भक्तिचन्द्र का समन्वय करना तथा इसे षोडश कला सम्पन्न जीवनवाला करना' **एषाम्**=इन देवों का **एकम्**=अद्वितीय कर्म है। यही **अमृतत्वम्**=अमृतत्व है। यही **आहुतिः एव**=परब्रह्म में व्रात्य का आहुत हो जाना है—पूर्णरूप से अर्पित हो जाना।

भावार्थ—हम व्रात्य बनते हैं तो सब देव (प्राकृतिक शक्तियाँ) हमारे अनुकूल होते हुए हमें ज्ञानसूर्य से दीप्त जीवनवाला बनाते हैं। ये हमारे जीवन में ज्ञान व भक्ति के सूर्य और चन्द्र का सहवास कराते हैं तथा हमारे जीवन को सोलह कलापूर्ण करते हैं। यही अमृतत्व है, यही प्रभु के प्रति अर्पण है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ दैवीपङ्क्तिः; २, ३ आर्चीबृहती; ४ आर्च्यनुष्टुप्; ५ साम्न्युष्णिक्**॥

व्रात्याय नमः

तस्य व्रात्यस्य॥ १॥

यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः॥ २॥

योऽस्य दक्षिणः कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोऽयं स पवमानः॥ ३॥

अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः॥ ४॥

अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय॥ ५॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य की—अमृतत्व, को प्राप्त करनेवाले तथा प्रभु के प्रति अपना

अर्पण करनेवाले व्रात्य की **यत् अस्य दक्षिणम् अक्षि**=जो इसकी दाहिनी आँख है **असौ स आदित्यः**=वही आदित्य है। **यत् अस्य सव्य अक्षि**=जो इसकी बायीं आँख है **असौ स चन्द्रमाः**=वही चन्द्रमा है। दाहिनी आँख ज्ञान का आदान करनेवाली है तो बायीं आँख सबको चन्द्र=शीतल ज्योत्स्ना की भाँति प्रेम से देखनेवाली है। **यः**=जो **अस्य दक्षिणः कर्णः**=इसका दाहिना कान है **अयं सः**=वह ये **अग्निः**=अग्नि है, **यः अस्य सव्यः कर्णः**=जो इसका बायाँ कान है, **अयं सः**=वह यह **पवमानः**=पवमान है। दाहिने कान से यह अग्रगति (उन्नति) की बातों को सुनता है तो बाएँ कान से उन्हीं ज्ञानचर्चाओं को सुनता है जो उसे पवित्र बनानेवाली हैं। २. इसके **अहोरात्रे नासिके**=नासिका-छिद्र अहोरात्र हैं। दाहिना छिद्र अहन् है तो बायाँ रात्रि। दाहिना सूर्यस्वरवाला (दिन) है तो बायाँ चन्द्रस्वरवाला (रात) है। दाहिना प्राणशक्ति का संचार करता है तथा बायाँ अपान के द्वारा दोषों को दूर करता है। इसी दृष्टि से यह दिन-रात प्राणसाधना का ध्यान करता है। इस व्रात्य के **दितिः च अदितिः च शीर्षकपाले**=दिति और अदिति सिर के दो कपाल हैं (Cerebrum, cerebelium) प्रकृति विद्या ही दिति है, आत्मविद्या अदिति। यह विविध प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है। **संवत्सरं शिरः**=इसका संवत्सर ही सिर है। सम्पूर्ण वर्ष उसी ज्ञान को प्राप्त करने का यह प्रयत्न करता है, जोकि उसके निवास को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है। ३. इस प्रकार अपने जीवन को बनाकर वह **व्रात्यः**=व्रतमय जीवनवाला पुरुष **अह्नः**=दिनभर के कार्यों को करने के द्वारा दिन की समाप्ति पर **प्रत्यङ्**=अपने अन्दर आत्मतत्त्व को देखने का प्रयत्न करता है और **रात्र्या**=सम्पूर्ण रात्रि के द्वारा अपने जीवन में शक्ति का संचार करके **प्राङ्**=(प्र अञ्च) अपने कर्त्तव्य-कर्मों में आगे बढ़ता है। **व्रात्याय नमः**=इस व्रात्य के लिए हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—व्रतमय जीवनवाले पुरुष की दाहिनी आँख ज्ञान का आदान करती है तो बायीं आँख सबको प्रेम से देखती है। इसका दाहिना कान अग्रगति की-बातों को सुनता है तो बायाँ कान पवित्रता की। इसके नासिका-छिद्र दिन-रात दीर्घश्वास लेनेवाले होते हैं। यह प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या को प्राप्त करता है। कालज्ञ बनता है—सब कार्यों को ठीक स्थान व ठीक समय पर करता है। दिनभर के कार्य के पश्चात् आत्मचिन्तन करता है और रात्रि विश्राम के बाद कर्त्तव्यों में प्रवृत्त होता है। यह व्रात्य नमस्करणीय है।

॥ इति पञ्चदशं काण्डम्॥

अथ षोडशं काण्डम्

अथैकत्रिंशः प्रपाठकः

अथ प्रथमोऽनुवाकः १. [प्रथमं सूक्तम्]

१. 'अथर्वा' का भाव है 'न डाँवाडोल होनेवाला' (अथर्वा) तथा 'अथ अर्वाङ्' अपने अन्दर देखनेवाला—आत्मनिरीक्षण करनेवाला। यह आत्मनिरीक्षण करता हुआ अनुभव करता है कि—

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

प्रभु+'माता-पिता-आचार्य'

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥

१. मैंने **अपां वृषभः**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः) नर-समूह पर सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु को **अतिसृष्टः**=(to part with, abandon, dismiss) छोड़ दिया—ध्यान द्वारा प्रभु-सम्पर्क-प्राप्त करने का विचार नहीं किया। इतना ही नहीं, **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियों को भी (पिता वै गार्हपत्योऽग्निः मातागिनर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी। —मनु०) **अतिसृष्टः**=छोड़ दिया। उनके निर्देशों के अनुसार चलने के लिए यत्न नहीं किया। **दिव्याः**=ये अग्नियाँ तो दिव्य थीं। इन्होंने ही तो मेरे जीवन को प्रकाशमय बनाया था। इनसे दूर होकर मेरा जीवन अन्धकारमय हो गया।

भावार्थ—प्रभु का ध्यान तथा माता-पिता व आचार्य की प्रेरणाएँ हमारे जीवनों को प्रकाशमय व सुखी बनाती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**याजुषीत्रिष्टुप्** ॥

रुजन्-मृणन्

रुजन्परिरुजन्मृणन्प्रमृणन् ॥ २ ॥

१. माता, पिता व आचार्यों की प्रेरणाओं को न सुनने पर तथा प्रभु-ध्यान को छोड़ने से जीवन की स्थिति विकृत और अतिविकृत हो गई। **रुजन्**=मैंने अपने शरीर को रुग्ण कर लिया। **परिरुजन्**=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में मैं शक्तिभंग का कारण बना। जीवन के विलासमय हो जाने से शक्ति-विनाश तो होना ही था। २. **मृणन्**=(to slay) मैं मन के सब उत्तमभावों का हिंसन करनेवाला बना। **प्रमृणन्**=मैंने दिव्यभावों को पूर्णतया नष्ट ही कर डाला।

भावार्थ—प्रभु के ध्यान से तथा 'माता पिता व आचार्य की प्रेरणा' से दूर होने पर शरीर व्याधियों का तथा मन आधियों का शिकार हो जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

आत्मदूषिः—तनूदूषिः

म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥ ३ ॥

१. उत्तम प्रेरणाओं के अभाव में मन बड़ा अशान्त हो जाता है। यह 'कामवासना' का शिकार होता है। यह 'काम' **म्रोकः**=(म्रुच् to go, to move) मन को अतिशयेन चञ्चल व

अशान्त कर देता है। **मनोहा**=मन को मार ही डालता है, चिन्तन की शक्ति रह ही नहीं जाती—उत्साह नहीं रहता। **खनः**=(खनु अवदारणे) शरीर की सब शक्तियों का भी यह अवदारण कर देता है। **निर्दाहः**=वासना के सन्ताप से यह सदा जलता रहता है। २. **आत्मदूषिः**=यह काम मन को तो दूषित करता ही है **तनूदूषिः**=शरीर को भी दूषित कर डालता है। यह मदन (कामदेव) 'मन्मथ' है—चेतना को नष्ट करनेवाला है और 'मार' है—शरीर की शक्तियों को नष्ट करके मार ही डालता है।

भावार्थ—कामवासना जीवन में अशान्ति व अज्ञान पैदा करती है। यह शक्तियों का अवदारण करके हृदय में जलन का कारण बनती है। यह मन व शरीर को दूषित करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**आसुरीगायत्री** ॥

'काम' विनाश

इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥

१. **इदम्**=(इदानीम्) अब मैं **तम्**=शरीर व मन को दूषित करनेवाले उस काम को **अतिसृजामि**= सुदूर छोड़ता हूँ। **तम्**=उस 'काम' को मैं **मा**=मत **अभ्यवनिक्षि**=परिचुम्बित करूँ (निक्ष् to kiss)। इस कामवासना के प्रति मेरा स्नेह न हो। इसे अपना सर्वमहान् शत्रु जानकर मैं इसे नष्ट करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—शरीर व मन को दूषित करनेवाली इस कामवासना को हम दूर से ही प्रणाम करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीपङ्क्तिः** ॥

सर्वमहान् शत्रु

तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

१. **यः**=जो यह 'काम'-रूप शत्रु **अस्मान् द्वेष्टिः**=हमारे साथ प्रीति नहीं करता और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम भी **द्विष्मः**=प्रिय नहीं जानते, **तेन**=उस हेतु से **तम्**=उस काम को **अतिसृजामः**=सुदूर छोड़ने के लिए यत्नशील होते हैं। यह हमारे विनाश का कारण बनता है। आत्मविनाश से बचने के लिए काम का परित्याग आवश्यक ही है।

भावार्थ—कामरूप शत्रु हमारे साथ कभी प्रीति नहीं कर सकता। इसे दूर करना आवश्यक ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

कर्म+ज्ञान

अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि ॥ ६ ॥

१. काम को जीतने के लिए दो मार्ग हैं। उन्हीं का संकेत प्रभु इस रूप में करते हैं कि **अपाम् अग्रम् असि**=(अप् कर्म) तू कर्मों के अग्रभाग में है, अर्थात् कर्मशील पुरुषों का मुखिया है तथा **वः**=तुम्हें **समुद्रम् अभि**=ज्ञान के समुद्र की ओर **अवसृजामि**=भेजता हूँ, अर्थात् तुम अपना सारा खाली समय ज्ञान-प्राप्ति में ही लगाने का ध्यान करो। ज्ञान अनन्त है। (अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्)। ज्ञानप्राप्ति में लगे रहने पर काम ज्ञानग्नि में भस्म ही हो जाएगा। कर्मों में लगे रहने से काम को हमपर आक्रमण का अवसर ही न मिलेगा।

भावार्थ—कामवासना से आक्रान्त न होने का सुन्दरतम उपाय यही है कि हम कर्मों में लगे रहें तथा सारे खाली समय का उपयोग ज्ञान-प्राप्ति में करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**निचृद् [द्विपदा] विराड्गायत्री** ॥

'म्रोक-खनि' काम

योऽ३प्स्व१ग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम्॥ ७॥

१. **यः**=जो **अप्सु**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः) प्रजाओं में यह **अग्निः**=कामाग्नि उत्पन्न हो जाता है। यह 'मनसि-ज' है—भौतिक सौन्दर्य को देखकर मन में उत्पन्न हो ही जाता है। **तम् अति सृजामि**=उसको मैं कर्मों में व ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहकर सुदूर परित्यक्त करता हूँ। २. उस कामाग्नि को दूर करता हूँ जोकि **म्रोकम्**=जीवन को बड़ा अशान्त बनाता है। **खनिम्**=शक्तियों का अवदारण कर देता है तथा **तनूदूषिम्**=शरीर को दूषित ही कर डालता है।

भावार्थ—हृदय में उत्पन्न हो जानेवाली इस कामाग्नि को हम ज्ञान व कर्म में व्यापृत रहकर दूर करते हैं। इसने ही तो हमारे जीवन को अशान्त बनाया हुआ था, शक्तियों को विनष्ट कर दिया था तथा सारे शरीर को ही दूषित कर दिया था।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीपङ्क्तिः** ॥

कामाग्नि का भयंकर परिणाम

यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद्वो घोरं तदेतत्॥ ८॥

१. हे **आपः**=प्रजाओ! **यः**=जो **अग्निः**=कामाग्नि **वः अविवेशः**=तुममें प्रविष्ट हो गया है **सः एव**=वही—वह कामाग्नि ही **यत् वः घोरम्**=जो तुम्हारे लिए भयंकर है, **तत् एतत्**=वह सब यही है। शरीर में, मन में व मस्तिष्क में जो कुछ भी भयंकर विकार आता है, वह सब इस कामाग्नि के कारण है।

भावार्थ—हम ज्ञान-प्राप्ति में व कर्मों में लगे रहकर कामाग्नि को शान्त करें। अन्यथा 'शरीर, मन व मस्तिष्क' पर इसका परिणाम अति भयंकर होगा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**आसुरीपङ्क्तिः** ॥

इन्द्र का इन्द्रिय से अभिषेचन

इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत्॥ ९॥

१. उल्लिखित मन्त्र के अनुसार कामाग्नि का शमन **वः**=तुम्हें **इन्द्रस्य**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के **इन्द्रियेण**=वीर्य व बल से **अभिषिञ्चेत्**=सिक्त करे। कामाग्नि के शमन से शरीर में शक्ति सुरक्षित रहती है। यह शक्ति प्रत्येक इन्द्रिय को उस-उस सामर्थ्य से सम्पन्न करती है।

भावार्थ—हम कामाग्नि को शान्त करके वीर्यरक्षण द्वारा इन्द्रियों को शक्ति-सम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**याजुषीत्रिष्टुप्** ॥

'अरिप्राः' आपः

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्॥ १०॥

१. **आपः** (आपः रेतो भूत्वा०)=कामाग्नि के शमन से शरीर में सुरक्षित हुए रेतःकण **अरिप्राः**=निर्दोष हैं (रिप्रम् sin)। शरीर में रेतःकणों का रक्षण होने पर किसी प्रकार की अपवित्रता (Impurity रिप्रम्) उत्पन्न नहीं होती। २. ये सुरक्षित रेतःकण **अस्मत्**=हमसे **रिप्रम् अप**=पापों व अपवित्रता को दूर करें। शरीर में सुरक्षित रेतःकण जहाँ शरीर को पवित्र व निर्मल और अतएव नीरोग रखते हैं, वहाँ ये मन को पापभावना से आक्रान्त नहीं होने देते।

भावार्थ—कामाग्नि का शमन हममें रेतःकणों का रक्षण करे। ये सुरक्षित रेतःकण हमें नीरोग

व निर्मल बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

'एनस् व दुःष्वप्न्य' का दूरीकरण

प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुःष्वप्न्यं वहन्तु॥ ११॥

१. शरीर में सुरक्षित रेतःकण **अस्मत्**=हमसे **एनः प्रवहन्तु**=पाप को दूर बहा ले-जाएँ। केवल पाप को ही नहीं, **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत सब पापों व अशुभ विचारों को **प्रवहन्तु**=दूर ले-जाएँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित रेतःकण हमारे जीवन से पापों व अशुभ स्वप्नों के कारणभूत अशुभ विचारों को दूर ही रखते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**[द्विपदा] आर्च्यनुष्टुप्** ॥

शिवचक्षु

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे॥।१२॥

१. हे **आपः**=शरीर में सुरक्षित रेतःकणो! तुम **मा**=मुझे **शिवेन चक्षुषा पश्यत्**=कल्याणकारिणि दृष्टि से देखो। तुम्हारे द्वारा मेरा कल्याण हो—मेरी चक्षु आदि सब इन्द्रियाँ ठीक बनी रहें। यही तो 'सु-ख' है—इन्द्रियों का (ख) उत्तम होना (सु)। २. हे आप! तुम **मे त्वचम्**=मेरी त्वचा को **शिवया तन्वा**=कल्याणयुक्त शरीर से **उपस्पृशत**=स्पृष्ट करो, अर्थात् इन सुरक्षित रेतःकणों द्वारा मेरा शरीर कल्याणयुक्त हो और वह सुन्दर त्वचा से आवृत हुआ रहे।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित रेतःकण चक्षु आदि सब इन्द्रियों की शक्ति को ठीक बनाये रखते हैं और नीरोग शरीर को नीरोग त्वचा से आवृत किये रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**[द्विपदा] आर्च्यनुष्टुप्** ॥

क्षत्रं+वर्चः

शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः॥ १३॥

१. हम कामाग्नि को शान्त करके उन **शिवान् अग्नीन्**=कल्याणकारिणी 'तेजस्विता-स्नेह व ज्ञान' की अग्नियों को **हवामहे**=पुकारते हैं, जोकि **अप्सुषदः**=इन सुरक्षित रेतःकणों में आसीन होनेवाली हैं। रेतःकणों के रक्षण से शरीर में तेजस्विता की अग्नि, हृदय में स्नेह की अग्नि तथा मस्तिष्क में ज्ञान की अग्नि का प्रादुर्भाव होता है। २. हे **देवीः**=रेतःकणरूप दिव्यगुणों से युक्त जलो! **मयि**=मुझमें **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल को तथा **वर्चः**=रोगों का निवारण करनेवाली प्राणशक्ति को **आधत्त**=स्थापित करो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित रेतःकण हमें 'क्षत्र व वर्चस्' प्राप्त कराते हैं। इनमें ही 'तेजस्विता, स्नेह व ज्ञान' की अग्नियाँ निहित हैं।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्** ॥

मधुरवाणी

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्॥ १॥

मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम्॥ २॥

१. गतसूक्त के भाव के अनुसार कामाग्नि के शान्त होने पर तथा रेतःकणों के रक्षित होने

पर **दुःअर्मण्यः** (a disease of the eye)=जीवन को दुःखमय बनानेवाला आँख का रोग **निः**=हमसे दूर हो। ये रेतःकण हमें 'शिवचक्षु' प्राप्त कराएँ। हम आँखों से मृदु को ही देखें। न हमारी आँखें अभद्र को देखें और न ही हम अशुभ वाणी बोलें। हमारी **वाक्**=वाणी **ऊर्जा**=बल व प्राणशक्ति के साथ **मधुमतीः**=अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए हो। २. हे शरीरस्थ रेतःकण! (आपः) तुम **मधुमतीः स्थ**=अत्यन्त माधुर्यवाले हो—शरीर में सुरक्षित होकर तुम सारे जीवन को मधुर बनाते हो। तुम्हारा रक्षण होने पर **मधुमतीं वाचम् उदेयम्**=अत्यन्त मधुर ही वाणी को बोलूँ।

भावार्थ—रेतःकणों के रक्षण के द्वारा हमारे चक्षु आदि इन्द्रियों के रोग दूर हों। हम शिव ही देखें और हमारी वाणी ओजस्विनी व मधुर हो। रेतःकण हमारे जीवन को अतिशयेन मधुर बनाते हैं। मैं मधुर ही वाणी बोलूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

गोपाः—गोपीथः

उप॑हूतो मे गो॒पा उप॑हूतो गोपी॒थः ॥ ३ ॥

१. जीवन को ठीक बनाये रखने के लिए **मे**=मेरे द्वारा **गोपाः**=वह इन्द्रियों का रक्षक प्रभु **उपहूतः**=पुकारा गया है। मैं प्रभु की आराधना करता हूँ और इसप्रकार अपनी इन्द्रियों को विषयों से बद्ध नहीं होने देता। इसी उद्देश्य से **गोपीथः**=(पीथः=drink) ज्ञान की वाणियों का पान **उपहूतः**=पुकारा गया है। मैं ज्ञान की वाणियों के पान के लिए प्रार्थना करता हूँ। 'प्रभु-स्मरण व ज्ञान की वाणियों का पान' ये ही दो साधन हैं, जो मेरे जीवन को मधुर बनाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का आराधन करें और ज्ञान की वाणियों के पान में तत्पर रहें। इसप्रकार हम अपने जीवन को मधुर बना पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिपदासाम्नीबृहती** ॥

भद्र-श्रवण

सु॒श्रु॒तौ॒ कर्णौ॑ भद्र॒श्रु॒तौ॒ कर्णौ॑ भ॒द्रं श्लोकं॑ श्रूयासम् ॥ ४ ॥

१. हे प्रभो! आपके अनुग्रह से **कर्णौ सुश्रुतौ**=मेरे कान उत्तम श्रवणशक्ति से सम्पन्न हों। श्रवणशक्ति में किसी प्रकार की कमी न हो जाए। ये **कर्णौ**=कान **भद्रश्रुतौ**=सदा भद्र बातों को ही सुननेवाले हों। श्रवणशक्ति का प्रयोग सदा कल्याणी वाणियों के श्रवण के लिए ही हो। २. हे प्रभो! आपका स्मरण करता हुआ मैं सदा **भद्रं श्लोकम्**=कल्याणकर पद्यों को ही **श्रूयासम्**=सुनूँ। ज्ञान की शुभवाणियाँ ही मेरे कानों का विषय बनें। '**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः**'।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे कानों की शक्ति ठीक बनी रहे और हम उनसे सदा भद्र वाणियों का ही श्रवण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

सुश्रुति+उपश्रुति

सुश्रु॑तिश्च॒ मोप॑श्रुतिश्च॒ मा हा॑सिष्टां॒ सौप॑र्णं॒ चक्षु॒रज॑स्रं॒ ज्योतिः॑ ॥ ५ ॥

१. हे प्रभो! **सुश्रुतिः च**=उत्तम श्रवण-शक्ति तथा **उपश्रुतिः च**=आचार्यों के समीप रहकर श्रवण **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ। मैं सदा उत्तम श्रवणशक्तिवाला होऊँ और ज्ञानियों के चरणों में उपस्थित होकर ज्ञान की वाणियों का श्रवण करूँ। २. **सौपर्णं चक्षुः**=सुपर्ण (गरुड़) की दृष्टि हमें प्राप्त हो—हम दूर तक देख सकें। अथवा **सौपर्णम्**=उत्तमता से पालन व पूरण

करनेवाली दृष्टि हमें प्राप्त हो और **अजस्रं ज्योतिः**=हमारी ज्ञान की ज्योति निरन्तर दीप्त रहे—हम स्वाध्याय से कभी पराङ्मुख न हों।

भावार्थ—हमारी कान की शक्ति ठीक रहे, हम सदा आचार्यचरणों में ज्ञानचर्चाओं को सुनें। दूरदृष्टि बनें, स्वाध्याय में कभी विच्छेद न होने दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**निचृद् [द्विपदा] विराड्गायत्री** ॥

ऋषि-प्रस्तर

ऋषीणां प्रस्तरो ऽसि नमो ऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ ६ ॥

१. उल्लिखित मन्त्रों की भावना के जीवन में अनूदित होने पर यह **प्रस्तरः**=पत्थर के समान दृढ़ शरीर (अश्मा भवतु नस्तनूः) **ऋषीणाम्**=ऋषियों का शरीर हो जाता है। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'=इस शरीर में सात ऋषि (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) प्रभु ने रक्खे ही हैं। हे मेरे शरीर! तू ऋषियों का **प्रस्तरः**=प्रस्तर **असि**=है। २. **दैवाय**=उस महान् देव से दिये गये अथवा उस महान् देव की प्राप्ति के साधनभूत इस **प्रस्तराय**=प्रस्तर-तुल्य शरीर के लिए **नमः अस्तु**=उचित आदर का भाव हो। इसकी शक्तियों को हम पवित्र समझें, उन्हें कभी विनष्ट न होने दें। इस शरीर के प्रति आदर का भाव होने पर हम इसकी शक्तियों को भोग-विलास में व्ययित न करेंगे।

भावार्थ—इस शरीर को हम ऋषियों का आश्रम समझें। इसे देव-मन्दिर जानकर इसमें प्रभु का पूजन करें। इसकी शक्तियों को विलास में विनष्ट न कर डालें।

इसप्रकार इस शरीर को 'ऋषियों का आश्रम' व 'दैव-मन्दिर' बनानेवाला व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है—सर्वमहान्। अगले दो सूक्त इस ब्रह्मा के ही हैं—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ** ॥ छन्दः—**आसुरीगायत्री** ॥

मूर्धा

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥ १ ॥

१.ब्रह्मा यह कामना करता है कि **अहम्**=मैं **रयीणाम्**=ऐश्वर्यों का—अन्नमय आदि कोशों की सम्पत्ति का—'तेज-वीर्य-बल व ओज-मन्यु (ज्ञान) तथा सहस् (सहनशक्ति)' का—**मूर्धा**=शिखर **भूयासम्**=होऊँ। मैं तेजस्विता आदि गुणों में अग्रणी बनूँ। २. **समानानाम्**=अपने समान लोगों में मैं **मूर्धा**=शिखर पर स्थित होऊँ। ब्राह्मण हूँ तो ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी बनूँ। क्षत्रिय हूँ तो बल में सब क्षत्रियों को पराजित करनेवाला होऊँ। वैश्य हूँ तो अत्यधिक कमानेवाला व देनेवाला बनकर वैश्यों का मूर्धन्य बनूँ।

भावार्थ—मैं अन्नमय आदि कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवालों में शिरोमणि होऊँ। अपने समान लोगों का अग्रणी बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

रुजः-वेनीः

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥ २ ॥

१. **रुजः च** (रुजो भंगे)=शत्रुओं का विदारण **वेनः च**=और प्रभु का पूजन (वेन्=worship) **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ। मैं सदा प्रभु का पूजन करनेवाला बनूँ और

प्रभु-पूजन द्वारा काम-क्रोधादि शत्रुओं का विदारण करूँ। २. **मूर्धा च**=मस्तिष्क **च**=और **विधर्मा च**=विशिष्ट धारणशक्ति **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ। ज्ञान मुझे धारण-शक्ति-सम्पन्न बनाए। ज्ञान के अभाव में ही मनुष्य धारणशक्ति से रहित होकर 'पा-गल' हो जाता है। (पा=रक्षण, गल=च्युत)।

भावार्थ—मैं जीवन में प्रभुपूजन करता हुआ शत्रुओं का विदारण करनेवाला बनूँ तथा मस्तिष्क को स्वस्थ रखता हुआ ज्ञान द्वारा विशिष्ट धारणशक्तिवाला होऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्**॥

उर्वः-चमसः

उर्वश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम्॥ ३॥

१. **उर्वः च**=(उर्वति to kill) शत्रुओं का संहार **च**=तथा **चमसः**=(चमसः=सोमपानपात्र, व जौ-चावल की बनी रोटी) सोमपानपात्र **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ अथवा जौ चावल की रोटी मुझे न छोड़ जाए, अर्थात् मैं सदा काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाला बनूँ। इनका संहार करता हुआ मैं शरीर में सोम (वीर्य) का पान करनेवाला बनूँ तथा इसी उद्देश्य से सदा जौ-चावल आदि सात्त्विक अन्नों का सेवन करूँ। २. **धर्ता च**=वह सबका धारक प्रभु **च**=और **धरुणः**=स्वर्ग (Heaven) **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ। प्रभु से धारण किया जाता हुआ मैं सदा स्वर्ग में निवास करूँ।

भावार्थ—काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करके मैं शरीर को सोम (वीर्य) के पान का पात्र बनाऊँ। प्रभु से धारण किया जाता हुआ मैं सदा स्वर्ग में निवास करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**प्राजापत्यात्रिष्टुप्**॥

आर्द्रपविः-आर्द्रदानुः

विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम्॥ ४॥

१. **विमोकः च**=काम-क्रोधादि शत्रुओं से छुटकारा **च**=और **आर्द्रपविः**=शत्रुरुधिर से क्लिन्न वज्र **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ, अर्थात् मैं काम आदि से सदा मुक्त रहूँ और अपने क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा शत्रुओं का संहार करनेवाला बनूँ। २. **आर्द्रदानुः च**=स्नेहार्द्र हृदय से युक्त दानवृत्ति **च**=और **मातरिश्वा**=वेदमाता में गति व वृद्धि, अर्थात् वेद की प्रेरणा के अनुसार कार्यों को करते हुए उन्नत होना **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ। मैं दानवृत्ति व वेदानुकूल आचरण को अपनानेवाला बनूँ।

भावार्थ—'काम-क्रोध आदि शत्रुओं से छुटकारा', 'क्रियाशीलतारूप व्रज द्वारा शत्रुसंहार', 'स्नेहपूर्वक दानवृत्ति', तथा 'वेदानुकूल आचरण' ये बातें सदा मेरे जीवन में हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**५ साम्न्युष्णिक्, ६ द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप्**॥

असन्तापं मे हृदयम्

बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः॥ ५॥

असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा॥ ६॥

१. **बृहस्पतिः**=वह ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे आत्मा**=मेरी आत्मा है—मुझमें प्रभु का निवास है। मैं भी प्रभु के शरीर के समान हूँ। वह प्रभु **नृमणा नाम**='नृमणा' नामवाला है—'नृषु मनो यस्य' उन्नति-पथ पर चलनेवालों में मनवाला है, उनका सदा ध्यान करनेवाला है। वे प्रभु **हृद्यः**=हम सबके हृदयों में निवास करनेवाले हैं। २. इस प्रभु का स्मरण करते हुए **मे**=मेरा

हृदयम्=हृदय **असंतापम्**=सन्तापशून्य है। **गव्यूतिः उर्वी**=इन्द्रियरूप गौओं का प्रचारक्षेत्र विशाल है, अर्थात् मेरी इन्द्रियाँ दूर-दूर के विषयों का भी ज्ञान प्राप्त करनेवाली हैं और विशालहित के साधक कर्मों को करने में तत्पर हैं। **विधर्मणा**=विशिष्ट धारणशक्ति के द्वारा मैं **समुद्रः अस्मि**=सदा आनन्दमय (स-मुद्) जीवनवाला हूँ अथवा समुद्र जैसे सब रत्नों का आधार है, उसीप्रकार मैं भी धारणात्मक कर्मों का आधार बनता हूँ।

भावार्थ—प्रभु को मैं अपनी आत्मा जानूँ। वे प्रभु हमारा ध्यान करनेवाले हैं। हमारे हृदयों में उनका वास है। इस प्रभु का स्मरण करता हुआ मैं सन्तापशून्य हृदयवाला, विशाल दृष्टिकोणवाला तथा धारणात्मकशक्ति से आनन्दमय जीवनवाला बनूँ।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्**॥

नाभिः

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम्॥ १॥

१. **अहम्**=मैं **रयीणाम्**=सब ऐश्वर्यों का **नाभिः**=अपने में बाँधनेवाला बनूँ। इसीप्रकार **समानानाम्**=अपने समान जातिवालों का भी **नाभिः भूयासम्**=केन्द्र बन पाऊँ। उन सबमें मैं श्रेष्ठ बनूँ। सब मुझे ही नेता के रूप में देखें।

भावार्थ—हम सब कोशों के ऐश्वर्यों का सम्पादन करते हुए अपने वर्ग में श्रेष्ठतम स्थान में पहुँचने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्**॥

सूषाः

स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा॥ २॥

१. **स्वासत् असि** (स्व आ सत्)=तू सब ओर से इन्द्रिय-वृत्तियों को प्रत्याहृत करके अपने में आसीन होनेवाला है। प्रतिदिन ध्यान में स्थित होकर आत्मनिरीक्षण करने की प्रवृत्तिवाला है और इसलिए **सूषाः**=(सु उष्) दोषों को सम्यक् दग्ध करनेवाला है (उष दाहे)। दोषों को दग्ध करके तू **मर्त्येषु**=मरणधर्मा पुरुषों में **अमृतः**=अमृत बना है। न तो तू विषयों के पीछे मारा-मारा फिरता है (अ मृत) और न ही तू रोगों का शिकार होता है (एकशतं मृत्यवः)। संसार में फैले हुए सैकड़ों रोगों का तू शिकार नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रतिदिन अपने अन्दर आसीन होनेवाले हों—आत्मनिरीक्षण करें और दोषों को दग्ध करके अमृत बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्**॥

प्राणापान

मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्॥ ३॥

१. आत्मनिरीक्षण करनेवाला व्यक्ति युक्ताहार-विहार करनेवाला बनता है। युक्ताहार-विहारवाला होता हुआ यह प्रार्थना करता है कि **माम्**=मुझे **प्राणः**=प्राणशक्ति **मा हासीत्**=मत छोड़ जाए। **उ**=और **अपानः**=अपानशक्ति भी **माम्**=मुझे छोड़कर **मा परागात्**=दूर मत चली जाए। २. प्राणशक्ति ने ही तो शरीर में बल का संचार करना है तथा अपान ने सब दोषों का निराकरण करके हमें स्वस्थ बनाना है।

भावार्थ—आत्मनिरीक्षण करते हुए मैं युक्ताहार-विहारवाला बनूँ तथा वासनाओं को विनष्ट

करता हुआ अपनी प्राणापानशक्ति को सुरक्षित रक्खूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽनुष्टुप्**॥

रक्षण

सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद्यमो मनुष्ये᳡भ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः॥ ४॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **मा**=मुझे **अह्नः पातु**=अहन् (दिन) से रक्षित करे। जहाँ तक सम्भव हो मैं दिनभर सूर्य के सम्पर्क में अपने कार्यों को करनेवाला बनूँ। सूर्य की भाँति ही निरन्तर क्रियाशील रहूँ। (अ+हन्) एक क्षण को भी आलस्य में अपव्ययित न करूँ। **अग्निःपृथिव्याः**=अग्नि पृथिवी से मुझे रक्षित करे। प्रातः-सायं अग्नि-परिचर्या (अग्निहोत्र) करता हुआ मैं शरीररूप पृथिवी में आ जानेवाले रोगरूप शत्रुओं से बचा रहूँ। **वायुः अन्तरिक्षात्**=वायु अन्तरिक्ष से मुझे रक्षित करे। खुली वायु में जीवन-यापन करता हुआ मैं हृदयान्तरिक्ष को उदार व पवित्र बना पाऊँ। मेरे हृदय में वायु की भाँति ही सदा गतिशीलता का संकल्प बना रहे। २. **यमः**=नियन्ता राजा **मनुष्येभ्यः**=मनुष्यों से मेरा रक्षण करे। शासन-व्यवस्था के ठीक होने से मैं आधिभौतिक कष्टों से बचा रहूँ। मेरा स्वयं का जीवन भी संयमवाला हो। इस संयत जीवन में **सरस्वती**=विद्या की अधिष्ठातृ देवता **पार्थिवेभ्यः**=शरीररूप पृथिवी में उत्पन्न हो जानेवाले पार्थिव कष्टों से मुझे बचाए। स्वाध्याय द्वारा सरस्वती की आराधना मुझे अध्यात्म-कष्टों से रक्षित करनेवाली हो।

भावार्थ—'सूर्य, अग्नि व वायु' का उचित आराधन मुझे आधिदैविक कष्टों से बचाए। उचित शासनव्यवस्था आधिभौतिक कष्टों से बचानेवाली हो तथा सरस्वती का आराधन मुझे अध्यात्म-कष्टों से बचाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**आसुरीगायत्री**॥

प्राणसाधना द्वारा दोषदहन

प्राणापानौ मा मा हासिष्टं मा जने प्र मेषि॥ ५॥

१. **प्राणापानौ**=प्राण और अपान **मा**=मुझे **मा हासिष्टं**=मत छोड़ जाएँ। मैं सदा प्राणापान की साधना करनेवाला बनूँ। प्राण की अपान में तथा अपान की प्राण में आहुति देता हुआ प्राणापान यज्ञ को करनेवाला बनूँ। २. इस साधना को करता हुआ मैं **जने**=मनुष्य के विषय में **मा**=मत **प्रमेषि**=भ्रान्त (go astray) हो जाऊँ, अर्थात् मनुष्यों के विषय में किसी प्रकार की ग़लती न करूँ। सदा मानवोचित कार्य ही करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम प्राणसाधना में प्रवृत्त रहते हुए इन्द्रिय-दोषों को दूर करनेवाले बनें—'तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्'।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**॥

सर्वः सर्वगणाः

स्वस्त्य᳡द्योषसो दोषसश्च सर्व आपः सर्वगणो अशीय॥ ६॥

१. **अद्य**=आज, हे **आपः**=शरीरस्थ रेतःकणरूप जलो! **उषसः दोषसः च**=दिनों व रात्रियों में—दिन के आरम्भ से दिन की समाप्ति तक—**सर्वः**=(whole) सब पूर्ण अङ्गोंवाला, अर्थात् स्वस्थ होता हुआ तथा **सर्वगणाः**='पंचभूतों के गण, पाँच प्राणों के गण, पाँच कर्मेन्द्रियों के गण, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के गण' तथा 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' रूप अन्तःकरण पञ्चकवाला मैं **स्वस्ति अशीय**=कल्याण को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार प्राणसाधना के होने पर, वासनारूप दोषों के दूर होने से,

शरीर में रेत:कणों का रक्षण होगा। इनके रक्षण से हम स्वस्थ होंगे, हमारे शरीरस्थ सब पञ्चक बड़े ठीक होंगे। तब प्रातः से सायं तक सारा दिन हम कल्याण-ही-कल्याण का अनुभव करेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गर्भाऽनुष्टुप्** ॥

मित्रावरुणौ-दक्षम्

शक्वरी स्थ पशवो मोप स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानावग्निर्मे दक्षं दधातु ॥ ७ ॥

१. गतमन्त्र से 'आपः' का यहाँ भी अनुवर्तन है। हे आपः (शरीरस्थ रेत:कणो)! **शक्वरी स्थ**=तुम शरीर को शक्तिशाली बनानेवाले हो। इन रेत:कणों के रक्षण से **पशवः** (प्राणः पशवः शत० ७.५.२.६)=प्राण **मा उपस्थेषुः**—मुझे प्राप्त हों। रेत:कणों का रक्षण मेरे प्राणापान को सबल बनाए। २. ये **प्राणपानौ**=प्राण और अपान **मे मित्रावरुणौ**=मुझे पापों व मृत्यु से बचानेवाले (प्रमीतेः त्रयते) तथा मुझे द्वेषशून्य बनानेवाले (वारयति) हैं। प्राणसाधना के होने पर शरीर नीरोग बनता है तथा मन निष्पाप व निर्दोष होता है। ३. इन रेत:कणों का रक्षण होने पर **अग्निः**=शरीर में उचित मात्रा में विकसित हुआ-हुआ अग्नितत्त्व **मे दक्षं दधातु**=मुझमें बल का धारण करे।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा शरीर में रेत:कणों का रक्षण होता है। इसप्रकार ये प्राणापान हमें 'नीरोग, निर्द्वेष, निष्पाप व शक्तिशाली' बनाते हैं।

प्राणसाधना द्वारा हम इन्द्रियों का संयम करनेवाले 'यम' बनते हैं। अगले सब सूक्तों का (५ से ९ तक) ऋषि 'यम' ही है—

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ५. [पञ्चमम् सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**१ विराड्गायत्रीबृहती, २ (द्वि०), ३ (तृ०)** ॥

ग्राही का पुत्र

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ १ ॥

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ २ ॥

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि ॥ ३ ॥

१. हे **स्वप्न**=सोने के समय, गाढ़ निन्द्रा के न होने पर, अन्तःकरण में उत्पन्न होनेवाले स्वप्न! **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्तिकारण को हम जानते हैं। **ग्राह्याः पुत्रः असि**=तू ग्राही का पुत्र है। वह बीमारी जो हमें पकड़ लेती है 'ग्राही' कहलाती है। इस बीमारी से सामान्य पुरुष दुःखी जीवनवाला होकर रात को भी उस बीमारी के ही स्वप्न देखता है। इसप्रकार यह स्वप्न उसे मृत्यु की ओर ले-जाता है। यह **यमस्य करणः**=यम का करण—साधन बनता है। २. वस्तुतः हे स्वप्न! तू **अन्तकः असि**=अन्त करनेवाला है, **मृत्युः असि**=तू मौत ही है। ३. हे **स्वप्न**=रात्रि में भी व्याकुलता का कारण बननेवाले स्वप्न! **तं त्वा**=उस तुझको **तथा**=उस तेरे अन्तक व मृत्यु के ठीक रूप को हम **संविद्म**=सम्यक् जानते हैं। तुझे ठीक रूप में देखते हैं। जैसा तू है, वैसा तुझे समझते हैं। वैसा समझकर ही प्रार्थना करते हैं कि हे **स्वप्न**=स्वप्न! **सः**=वह तू **नः**=हमें **दुःष्वप्न्यात् पाहि**=दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत रोगों से बचा। न हम ग्राही से पीड़ित हों और न ही अशुभ स्वप्नों को देखें।

भावार्थ—हमें बुरी तरह से जकड़ लेनेवाले रोग ग्राही कहलाते हैं। इनसे पीड़ित होने पर हम अशुभ स्वप्नों को देखते हैं। ये स्वप्न हमें मृत्यु की ओर ले-जाते है। हम प्रयत्न करके ऐसे रोगों से अपने को बचाएँ। परिणामतः अशुभ स्वप्नों से बचकर दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—यमः॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम्॥ छन्दः—४-६ (प्र०) विराड्गायत्री;
४-७ (द्वि०), ९ प्राजापत्यगायत्री; ४-७ (तृ०), १० द्विपदासाम्नीबृहती;
७ (प्र०) भुरिग्विराड्गायत्री; ८ स्वराड्विराड्गायत्री॥

'दुर्गति, अशक्ति, अनैश्वर्य व पराजय' आदि से बचना

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रो ऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ ४॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रो ऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ ५॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रो ऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ ६॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ ७॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः॥ ८॥
अन्तकोऽसि मृत्युरसि॥ ९॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ १०॥

१. हे **स्वप्न**=स्वप्न! **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्ति-कारण को हम जानते हैं। तू **निर्ऋत्याः पुत्रः असि**=दुर्गति (विनाश, decay) का पुत्र है। मृत्यु की देवता का तू साधन बनता है। तू अन्त करनेवाला है, मौत ही है। हे स्वप्न! उस तुझको हम तेरे ठीक रूप में जानते हैं। तू हमें दुःस्वप्नों की कारणभूत इस दुर्गति (निर्ऋति=विनाश) से बचा। २. हे स्वप्न! हम **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्ति-कारण को समझते हैं। तू **अभूत्याः पुत्रः असि**=अभूति का (want of power) शक्ति के अभाव का पुत्र है। शक्ति के विनाश के कारण तू उत्पन्न होता है। मृत्यु की देवता का तू साधन बनता है। तू अन्त करनेवाला है, मौत ही है। हे स्वप्न! उस तुझको हम तेरे ठीक रूप में जानते हैं। तू हमें दुःस्वप्नों की कारणभूत इस अभूति (शक्ति के विनाश) से बचा। ३. हे स्वप्न! हम **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्ति-कारण को जानते हैं। तू **निर्भूत्याः पुत्रः असि**=अनैश्वर्य (ऐश्वर्य के नष्ट हो जाने) का पुत्र है। धन के विनष्ट होने पर रात्रि में उस निर्भूति के कारण अशुभ स्वप्न आते हैं। हे स्वप्न! तू मृत्यु की देवता का साधन बनता है। तू अन्त करनेवाला है, मौत ही है। हे स्वप्न! हम तुझे तेरे ठीक रूप में जानते हैं। तू हमें दुःस्वप्नों की कारणभूत इस निर्भूति (अनैश्वर्य) से बचा। ४. हे स्वप्न! हम **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्ति-कारण को जानते हैं। तू **पराभूत्याः पुत्रः असि**=पराजय का पुत्र है। तू मृत्यु की देवता का साधन बनता है। तू अन्त करनेवाला है, मौत ही है। हे स्वप्न! तू हमें दुःस्वप्नों की कारणभूत इस पराभूति (पराजय) से बचा। ५. हे स्वप्न! हम **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्ति-कारण को जानते हैं। तू **देवजामीनां पुत्रः असि**=(देवः इन्द्रियाँ, जम् to eat) 'इन्द्रियों का जो निरन्तर विषयों का चरण (भक्षण) है' उसका पुत्र है। इन्द्रियाँ सदा विषयों में भटकती हैं तो रात्रि में उन्हीं विषयों के स्वप्न आते रहते हैं। इसप्रकार ये स्वप्न **यमस्य करणः**=मृत्यु की देवता के उपकरण बनते हैं। हे स्वप्न! तू तो **अन्तकः असि**=अन्त ही करनेवाला है, **मृत्युः असि**=मौत ही है। हे स्वप्न! **तं त्वा**=उस तुझको **तथा**=उस प्रकार, अर्थात् मृत्यु के उपकरण के रूप में **संविद्म**=हम जानते हैं, अतः हे स्वप्न! **सः**=वह तू **नः**=हमें **दुःष्वप्न्यात् पाहि**=दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत इन

'इन्द्रियों के निरन्तर विषयों में चरण' से बचा।

भावार्थ—'दुर्गति-अशक्ति-अनैश्वर्य-पराजय व इन्द्रियों का विषयों में भटकना' ये सब अशुभ स्वप्नों के कारण होते हुए शीघ्र मृत्यु को लानेवाले होते हैं। हम इन सबसे बचकर अशुभ स्वप्नों को न देखें और दीर्घजीवन प्राप्त करें।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्** ॥

विजय-पूजन-निष्पापता

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम्॥ १॥

१. **अद्य**=आज **अजैष्म**=हमने सब वासनाओं को जीता है। इसी उद्देश्य से **असनाम** (worship)=हमने प्रभुपूजन किया है और प्रभुपूजन द्वारा **वयम्**=हम **अद्य**=आज **अनागसः अभूम**=निष्पाप हुए हैं।

भावार्थ—हम सदा वासनाओं को पराजित करने के लिए यत्नशील हों। इस वासना-संग्राम में विजय के लिए प्रभु का पूजन करें। यह प्रभुपूजन हमें निष्पाप बनाएगा।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्** ॥

दुःष्वप्नों का दूरीकरण

उषो यस्माद्दुःष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु॥ २॥

१. हे **उषः**=सब अन्धकारों का दहन करनेवाली उषे! **यस्मात्**=जिस **दुःष्वप्न्यात्**=दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत 'ग्राही, दुर्गति, अशक्ति, अनैश्वर्य, पराजय व इन्द्रियों की विषय-परायणता' आदि से **अभैष्म**=हम भयभीत होते हैं, **तत्**=वह सब **अप उच्छतु**=हमसे दूर हो।

भावार्थ—'उषाकाल में जाग जाना' स्वयं दुष्ट स्वप्नों से हमें बचाता है। दुष्ट स्वप्नों की कारणभूत दुर्गति आदि भी हमसे दूर हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्** ॥

द्विषते-शपते

द्विषते तत्परा वह शपते तत्परा वह॥ ३॥

१. हे उषः! दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत जितने भी रोग, दुर्गति आदि तत्त्व हैं **तत्**=उनको **द्विषते**=द्वेष की वृत्तिवाले पुरुष के लिए, सबके साथ प्रीति न करनेवाले पुरुष के लिए, **परावह**=सुदूर ले-जानेवाली हो। **तत्**=उन दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत पदार्थों को **शपते**=आक्रोश करनेवाले क्रोधी स्वभाववाले पुरुष के लिए **परावह**=सुदूर ले-जा।

भावार्थ—दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत दुर्गति आदि तत्त्व द्वेष की वृत्तिवाले आक्रोशी पुरुष के लिए प्राप्त हों। न हम द्वेष करें, न शाप दें। इसप्रकार दुःष्वप्नों से बचे रहें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्** ॥

सर्वाप्रियता

यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद्गमयामः॥ ४॥

१. **यम्**=जिस एक समाज-विरोधी पुरुष को हम सब **द्विष्मः**=प्रीति नहीं कर पाते **च**=और **यत्**=जो **नः द्वेष्टि**=हम सबके प्रति अप्रीतिवाला है **तस्मै**=उस सर्वाप्रिय पुरुष के लिए **एनत्**=इस दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत 'ग्राही, निर्ऋति' आदि को **गमयामः**=प्राप्त कराते हैं। २. वस्तुतः समाज

में जो सबका अप्रिय बन जाता है, वह सदा द्वेषाग्नि में जलता रहता है और परिणामतः भयंकर रोगों का शिकार हो जाता है। दुष्ट स्वप्नों को देखता हुआ यह अल्पायु हो जाता है।

भावार्थ—हम समाज में इसप्रकार शिष्टता व बुद्धिमत्ता से वर्तें कि सबके द्वेषपात्र न बन जाएँ। यह स्थिति नितान्त अवाञ्छनीय है। यह दुष्ट स्वप्नों व अल्पायुष्य का कारण बनती है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**५ साम्नीपङ्क्तिः, ६ निचृदार्चीबृहती** ॥

उषा+वाक्, उषस्पति+वाचस्पति

उषा देवी वाचा संविदाना वाग्देव्यु१षसा संविदाना ॥ ५ ॥

उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥ ६ ॥

१. 'हमारे जीवनों में गतमन्त्र में वर्णित सर्वाप्रियता न उत्पन्न हो जाए' इसके लिए हम प्रयत्न करें कि **उषाः देवी**=अन्धकार को दूर करनेवाली यह उषा **वाचा संविदाना**=स्तुति व ज्ञान की वाणियों के साथ मेलवाली हो—ऐकमत्यवाली हो, अर्थात् उषा में जागरित होकर हम प्रभु-स्तवनपूर्वक स्वाध्याय में प्रवृत्त हों। हमारी यह **वाग् देवी**=दिव्य गुणयुक्त वाणी **उषसा संविदाना**=उषा के साथ मेलवाली हो। उषाकाल में हम स्तोत्रों व ज्ञानवाणियों का ही उच्चारण करनेवाले बनें। २. प्रातः प्रबुद्ध होनेवाला व्यक्ति 'उषस्पति' है और ज्ञान की वाणियों का स्वामी बननेवाला व्यक्ति 'वाचस्पति' है। **उषस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः**=उषस्पति वाचस्पति के साथ मेलवाला हो और **वाचस्पतिः उषस्पतिना संविदानः**=वाचस्पति उषस्पति के साथ मेलवाला हो, अर्थात् एक व्यक्ति केवल उषस्पति व केवल वाचस्पति ही न बने, वह 'उषस्पति और वाचस्पति' दोनों बनने का प्रयत्न करे। वह प्रातः जागरणशील भी हो और प्रातः प्रबुद्ध होकर प्रभु-स्तवनपूर्वक स्वाध्याय में प्रवृत्त हो।

भावार्थ—हमारे जीवनों में 'उषा व वाक्' का मेल हो। हम 'उषस्पति व वाचस्पति' दोनों बनने का प्रयत्न करें। हमारे जीवनों में प्रातःजागरण के साथ प्रभु-स्तवन व स्वाध्याय जुड़े हुए हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**७ द्विपदासाम्नीबृहती, ८ आसुरीजगती, ९ आसुरीबृहती** ॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए वर्जनीय बातें

ते३ऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान्दुर्णाम्नः सदान्वाः ॥ ७ ॥

कुम्भीका दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥

जाग्रद्दुःष्वप्न्यं स्वप्नेदुःष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥

१. **ते**=वे गतमन्त्र में वर्णित 'उषस्पति+वाचस्पति' बननेवाले पुरुष **अमुष्मै**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए—प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से—निम्न दुर्गुणों को अपने से **परा वहन्तु**=सुदूर (परे) प्राप्त करानेवाले हों। सबसे प्रथम **अरायान्**=(stingy, niggard) कृपणता की वृत्तियों को दूर करें। फिर **दुर्णाम्नः**=दुष्ट नामों को—अशुभ वाणियों को अपने से दूर करें तथा **सदान्वाः**=(सदा नू=war, cry, shout, नुवति) हमेशा गालियाँ न देते रहे। २. **कुम्भीकाः** (swelling of the eyelids) पलकों के सदा सूजे रहने को हम दूर करें। शोक में क्रन्दन के कारण हमारी पलकें सदा सूजी न रहें। **दूषीकाः**=(rheum of the eyes) आँखों के मल को हम अपने से दूर करें, द्वेष आदि से आँखें मलिन न हों तथा **पीयकान्** (पीयते to drink) अपेय द्रव्यों (शराब आदि) के पीने की वृत्ति को अपने समीप न आने दें। ३. **जाग्रद् दुःष्वप्न्यम्**=जगाते हुए अशुभ स्वप्नों

को अपने से दूर करें तथा **स्वप्ने दुःष्वप्न्यम्**=सोते हुए अशुभ स्वप्नों को न लेते रहें। दिन में भी अशुभ कार्यों का ध्यान न आता रहे तथा रात्रि में स्वप्नावस्था में तो अशुभ बातों का ध्यान हो ही नहीं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति कृपणता, अशुभवाणी व अपशब्दों से दूर रहता है। यह शोक व द्वेष में फँसकर आँखों को विकृत नहीं कर लेता। यह शराब आदि अपेय पदार्थों का ग्रहण नहीं करता। जागते व सोते यह अशुभ स्वप्नों को नहीं लेता रहता।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥

उपासक की तीन बातें

अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान्॥ १०॥

१. हे प्रभु के उपासक! तू **अनागमिष्यतः**=उन सब उत्तम पदार्थों को जो आते प्रतीत नहीं होते **अमुच्याः**=छोड़नेवाला बन। प्रयत्न में तो कमी नहीं करना, परन्तु व्यर्थ की आशाएँ नहीं लगाए रखना। 'ये तो मिल गया है, ये भी मिल जाएगा' इस प्रकार नहीं सोचते रहना। २. साथ ही **अवित्तेः संकल्पान्**=अनैश्वर्य के संकल्पों को भी तू छोड़नेवाला हो। निर्धनता के आ जाने की आकांक्षाओं से डरते न रहना। **द्रुहः पाशान्**=द्रोह की भावना के पाशों को भी तू छोड़। किसी के विषय में द्रोह की भावना को अपने हृदय में स्थान न देना।

भावार्थ—प्रभु का उपासक भविष्य की उज्ज्वल कल्पनाओं में नहीं उड़ता रहता। निर्धनता के आ जाने के भय से घबराया नहीं रहता और कभी भी द्रोह की भावना से युक्त नहीं होता।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**त्रिपदायवमध्यागायत्री, आर्च्युनुष्टुब्वा** ॥

वध्रिः, न विधुरः, साधुः

तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद्विथुरो न साधुः॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अमुष्मै**=उस उल्लिखित साधक के लिए **देवाः**=सब देव **तत् परावहन्तु**='अनागमिष्यतो वरान्०' इत्यादि उपर्युक्त बातों को दूर करनेवाले हों। 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देव उसे इसप्रकार शिक्षित करें कि वह भविष्य की कल्पनाओं में उड़नेवाला न हो, निर्धनता की आकांक्षाओं से भयभीत न हो और द्रोह की भावना से जकड़ा हुआ न हो। २. इसे इसप्रकार शिक्षित कीजिए **यथा**=जिससे यह **वध्रिः असत्**=(वधति to kill) सब बुराइयों का संहार करनेवाला हो, **न विथुरः**=(विथुर A thief) चोर न बन जाए। **साधुः**=सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला हो।

भावार्थ—माता, पिता, आचार्य व अतिथि हमें इसप्रकार शिक्षित करें कि हम ख्याली पुलावों को ही न पकाते रहें, आनेवाली विपत्तियों से भयभीत भी न हुए रहें और द्रोहशून्य बनें। बुरायों का संहार करें, चोर न बनें और सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले हों।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**१ पङ्क्तिः, २ साम्न्यनुष्टुप्, ३ आसुर्युष्णिक्, ४ प्राजापत्यागायत्री** ॥

द्वेष से विनाश

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि
पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि॥ १॥

देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि॥ २॥
वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि॥ ३॥
एवानेवाव सा गरत्॥ ४॥

१. पञ्चम मन्त्र में कहेंगे कि 'योऽस्मान् द्वेष्टि'=जो हमारे साथ द्वेष करता है, **तेन**=उस हेतु से अथवा उस द्वेष से **एनं विध्यामि**=इस द्वेष करनेवाले को ही विद्ध करता हूँ। द्वेष करनेवाला स्वयं ही उस द्वेष का शिकार हो जाता है। **अभूत्या एनं विध्यामि**=शक्ति के अभाव से, शक्ति के विनाश से, इस द्वेष करनेवाले को विद्ध करता हूँ। **निर्भूत्या एनं विध्यामि**=ऐश्वर्य-विनाश से इसको विद्ध करता हूँ। **पराभूत्या एनं विध्यामि**=पराजय से इसे विद्ध करता हूँ। **ग्राह्याः एनं विध्यामि**=जकड़ लेनेवाले रोग से इसे विद्ध करता हूँ। **तमसा एनं विध्यामि**=अन्धकार से इसे विद्ध करता हूँ। यह द्वेष करनेवाला 'अभूति' इत्यादि से पीड़ित होता है। २. **एनं**=इस द्वेष करनेवाले को **देवानाम्**=विषयों की प्रकाशक इन्द्रियों की **घोरैः**=भयंकर **क्रूरैः** (undesirable) अवाञ्छनीय **प्रैषैः**=(crushing) विकृतियों से **अभिप्रेष्यामि**=अभिक्षिप्त (Hurt) करता हूँ। द्वेष करनेवाले की इन्द्रियों में अवाञ्छनीय विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ३. **वैश्वानरस्य**=उन सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु की **दंष्ट्रयोः**=दाढ़ों में—न्याय के जबड़ों में **एनं अपिदधामि**=इस द्वेष करनेवाले को पिहित (क़ैद) कर देता हूँ। ४. **सा**=वह उल्लिखित मन्त्रों में वर्णित 'अभूति-निर्भूति०' इत्यादि बातें **एवा**=इसप्रकार शक्ति व ऐश्वर्य के विनाश के द्वारा या **अनेव**=किसी अन्य प्रकार से **अवगरत्**=इस द्वेष करनेवाले को निगल जाए।

भावार्थ—द्वेष करनेवाला व्यक्ति 'अभूति' आदि से विद्ध होकर इन्द्रियों की विकृति का शिकार होता है। यह प्रभु से भी दण्डनीय होता है। यह द्वेष की भावना किसी-न-किसी प्रकार इसे ही निगल जाती है।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**५ आर्च्युष्णिक्, ६ साम्नीबृहती**॥

समाज-विद्वेष=आत्मविद्वेष

योऽस्मान्द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु॥ ५॥
निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद्भजाम॥ ६॥

१. हे प्रभो! **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके प्रति द्वेष करता है, **तम्**=उसको **आत्मा द्वेष्टु**=आत्मा प्रीति न करनेवाला हो। **यं वयं द्विष्मः**=जिसको हम सब प्रीति नहीं कर पाते **सः आत्मानं द्वेष्टु**=वह अपने से प्रीति करनेवाला न हो। वस्तुतः जो एक व्यक्ति सारे समाज के प्रति प्रीतिवाला न होकर स्वार्थसिद्धि को ही महत्त्व देता है, वह सारे समाज का अप्रिय होकर अन्ततः अपनी ही दुर्गति कर बैठता है। यह समाजविद्वेष आत्म-अवनति का मार्ग है, अतः यह समाज के प्रति द्वेष करनेवाला व्यक्ति आत्मा का ही द्वेष कर रहा होता है। २. **द्विषन्तम्**=इस द्वेष करनेवाले को **दिवः निर्भजाम**=द्युलोक से दूर भगा दें (भज to put to flight)। केवल द्युलोक से ही नहीं, **पृथिव्या निर् (भजाम)**=पृथिवीलोक से भी भगा दें तथा **अन्तरिक्षात् निः**=अन्तरिक्ष से भी दूर भगा दें। इस द्वेष करनेवाले का इस त्रिलोकी में स्थान न हो। त्रिलोकी में कोई भी इसका न हो। त्रिलोकी से दूर भगाने का यह भी भाव है कि इसका मस्तिष्क (द्युलोक), हृदय (अन्तरिक्ष) व शरीर (पृथिवी) सभी विकृत हो जाएँ। इसके मस्तिष्क हृदय व शरीर की शक्ति का भंग हो जाए। द्वेष का यह परिणाम स्वाभाविक है।

भावार्थ—समाजविद्वेष्य पुरुष वस्तुतः आत्मा की अवनति करता हुआ अपने से ही द्वेष

करता है। इसके लिए त्रिलोकी में स्थान नहीं रहता। यह 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी को विकृत कर लेता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**७ याजुषीगायत्री, ८ प्राजापत्याबृहती** ॥

सुयामन्+चाक्षुष

सुयामंश्चाक्षुष॥ ७॥

इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुःष्वप्न्यं मृजे॥ ८॥

१. मनुष्य को चाहिए कि वह द्वेष की भावना से ऊपर उठकर आत्महित का साधन करे। इस साधक को सम्बोधन करते हुए प्रभु कहते हैं कि हे **सुयामन्**=सम्यक् नियमन करनेवाले! और अतएव **चाक्षुष**=आत्मनिरीक्षण करनेवाले पुरुष! २. **अहम्**=मैं **आमुष्यायणे**=(well-born) तेरे-जैसे कुलीन पुरुष के जीवन में **अमुष्याः पुत्रे**=एक कुलीन माता के पुत्र में **इदं दुःष्वप्न्यम्**=इस दुष्ट स्वप्न के कारणभूत रोग, अशक्ति व अनैश्वर्य आदि को **मृजे**=शुद्धकर डालता हूँ। इन अभूति आदि को नष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—प्रभु अपने पुत्र जीव को इस रूप में सम्बोधित करते हैं कि तूने जीवन का नियमन करना है और आत्मनिरीक्षण करनेवाला बनना है। तू अपने को कुलीन प्रमाणित करना। माता के सुपुत्र तुझमें सब दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत अभूति आदि को मैं विनष्ट किये देता हूँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**९, ११ साम्नीबृहती, १० साम्नीगायत्री** ॥

दोष-विनाश

यददोऽदो अभ्यगच्छन्यद्दोषा यत्पूर्वां रात्रिम्॥ ९॥

यज्जाग्रद्यत्सुप्तो यद्दिवा यन्नक्तम्॥ १०॥

यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये॥ ११॥

१. प्रभु-प्रेरणा को सुनकर जीव उत्तर देता है कि **यत्**=जो **अदः अदः**=अमुक-अमुक दोष **अभ्यगच्छन्**=मेरे प्रति आता हो, **यत्**=जो दोष **दोषा**=रात्रि के समय आता है, **यत्**=जो **पूर्वां रात्रिम्**=रात्रि के पूर्वभाग में मुझे प्राप्त होता है। मेरे न चाहते हुए भी रात्रि के समय जिस दोष से मैं आक्रान्त हो जाता हूँ। २. अथवा **यत्**=जिस दोष को **जाग्रत्**=जागते हुए, **यत्**=जिस दोष को मैं **सुप्तः**=सोये हुए, **यत्**=जिस दोष को **दिवः**=दिन में और **यत्**=जिस दोष को **नक्तम्**=रात्रि में, ३. **यत्**=जिस दोष को **अहरहः**=प्रतिदिन **अभिगच्छामि**=मैं प्राप्त होता हूँ, **एनम्**=इस दोष को **तस्मात्**=संयम के द्वारा (सुयामन्), आत्मनिरीक्षण के द्वारा (चाक्षुष) तथा कुलीनता के विचार के द्वारा (आमुष्यामण) **अवदये**=सुदूर विनष्ट करता हूँ। (दय हिंसायाम्)।

भावार्थ—जो दोष मुझे रात्रि के समय आक्रान्त कर लेता है, या जिस दोष के प्रति मैं सोते-जागते चला जाता हूँ, उस दोष को 'संयम, आत्मनिरीक्षण व कुलीनता' के विचार से दूर करता हूँ—विनष्ट करता हूँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**१२ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्, १३ आसुरीत्रिष्टुप्** ॥

प्रभु का आदेश

तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि॥ १२॥

स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ १३॥

१. दोषविनाश के लिए पुत्र द्वारा की गई प्रतिज्ञा को सुनकर प्रभु उसे उत्साहित करते हुए कहते हैं कि **तं जहि**=उस दोष को नष्ट कर डाल और **तेन**=उस दोषविनाश से **मन्दस्व**=आनन्द का अनुभव कर। तुझे दोषविनाश में ही आनन्द प्राप्त हो। **तस्य**=उस दोष की, **पृष्टीः अपि**=पसलियों को भी **शृणीहि**=नष्ट कर डाल। २. **सः मा जीवीत्**=वह मत जीवे। **तं प्राणो जहातु**=उसको प्राण छोड़ जाए। यहाँ दोष को पुरुषविध कल्पित करके उसे विनष्ट करने का उपदेश दिया गया है।

भावार्थ—परमपिता प्रभु उपदेश देते हैं कि हे जीव! तू दोषविनाश में ही आनन्द लेनेवाला बन। दोषरूप पुरुष की पसलियों को तोड़ दे, उसे निष्प्राण कर दे।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**१ एकपदायजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्, २ त्रिपादानिचृद्गायत्री, ३ प्राजापत्यागायत्री, ४ त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्** ॥

जितम्—उद्भिन्नम्, मृतम्

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्व॒रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्॥ १॥
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः॥ २॥
स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि॥ ३॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ४॥

१. (क) **अस्माकं जितम्**=हमारी विजय हो—हम अन्तः व बाह्य शत्रुओं को जीतनेवाले बनें। इन शत्रुओं को जीतकर **उद्भिन्नम् अस्माकम्**=हमारा उत्थान हो। जिस प्रकार पृथिवी को विदीर्ण करके अंकुर ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार हम शत्रुओं को विदीर्ण करके ऊपर उठनेवाले हों। **ऋतम् अस्माकम्**=शत्रुओं को पराजित करके हम ऋत को प्राप्त करें। हम अपनी सब भौतिक क्रियाओं में सूर्य-चन्द्र की भाँति ऋत का पालन करें। असमय में भोजनादि करने से रोगों के कारण हम मृत्यु का शिकार न हो जाएँ। (ख) **तेजः अस्माकम्, ब्रह्म अस्माकम्**=शत्रु-विजय के परिणामस्वरूप ही हमारा तेज हो और हमारा ज्ञान हो। यह शत्रु-विजय हमें शरीर में तेजस्वी बनाए और मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त। (ग) तेजस्वी व ज्ञानदीप्त बनने पर **स्वः अस्माकम्, यज्ञः अस्माकम्**=हमारे हृदय में आत्मप्रकाश हो तथा हमारे हाथों में यज्ञ हों। जहाँ हृदय में हम आत्मप्रकाश को देखें, वहाँ हाथों से सदा यज्ञों में प्रवृत्त रहें। (घ) अब इन यज्ञों के होने पर **अस्माकं पशवः, अस्माकं प्रजाः, अस्माकं वीराः**=हमारे पास उत्तम पशु हों, हमारी सन्तानें उत्तम हों और हमारे सब पुरुष वीर हों। २. **तस्मात्**=अपनी प्रजाओं व वीरों को उत्तम बनाने के द्वारा **अमुम् निर्भजामः**=हम उस शत्रु को दूर भगा देते हैं, **आमुष्यायणम्**=जो अमुक गोत्र का है, **अमुष्या पुत्रम्**=अमुक का पुत्र है, **असौ यः**=जो वह है। ३. **सः**=वह हमारा शत्रु **ग्राह्याः पाशात्**=जकड़ लेनेवाले रोग के पाश से **मा मोचि**=मत छूटे। यह शत्रुता का भाव ही उसके इन रोगों का कारण बने। ४. **तस्य**=उसके **इदम्**=इस **वर्चः तेजः प्राणं आयुः**=वीर्य, बल, प्राणशक्ति व आयु को **निवेष्टयामि**=मैं वेष्टित किये लेता हूँ—घेर लेता हूँ और **इदम्**=(इदानीम्) अब **एनम्**=इसको **अधराञ्चं पादयामि**=नीचे गिरा देता हूँ—पाँव तले रौंद डालता हूँ। शत्रुओं को जीतकर ही सब प्रकार की उन्नति सम्भव है।

भावार्थ—इस जीवन में विजय व उन्नति को प्राप्त होते हुए हम ऋत का पालन करें। शरीर

में तेजस्वी हों, मस्तिष्क में ज्ञानपूर्ण, हृदय में आत्मप्रकाशवाले व हाथों में यज्ञोंवाले बनें। हमारे पशु, प्राण व वीर सब उत्तम हों। शत्रुओं को हम पराजित कर दूर भगा दें। वे शत्रु शत्रुता के कारण ही रोगों का शिकार हो जाएँ। उनके वीर्य, बल, प्राण व आयु को हम नष्ट कर सकें। उन्हें पराजित करके उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—यमः॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम्॥ छन्दः—५-९ एकपदायजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्, त्रिपदानिचृद्गायत्री, त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्, ५-७ (सर्वेषां तृ०) आसुरीजगती, ८ (सर्वेषां तृ०) आसुरीत्रिष्टुप्, ९ (सर्वेषां तृ०) आसुरीपङ्क्तिः॥

शत्रुता का दुष्परिणाम

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामो ऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स निर्ऋत्याः पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ५॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। सोऽभूत्याः पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ६॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स निर्भूत्याः पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ७॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स पराभूत्याः पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ८॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स देवजामीनां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ९॥

१. हम विजय व उन्नति आदि दशों रत्नों को प्राप्त करें। इसी उद्देश्य से शत्रु को परास्त करें। **सः**=वह शत्रु शत्रुता के कारण ही '**निर्ऋत्याः**=दुर्गति, **अभूत्याः**=शान्ति का अभाव, **पराभूत्याः**=पराजय व **देवजामीनां**=इन्द्रियों की विषयासक्ति' के **पाशात्**=पाशों से **मा मोचि**=मत मुक्त हो। हम उसके वीर्य, बल, प्राण व आयु को घेरकर उसे परास्त करने में समर्थ हों।

भावार्थ—हमारा शत्रु, इस शत्रुता के कारण ही, 'दुर्गति, शक्ति-अभाव, अनैश्वर्य, पराजय व विषयासक्ति' के पाशों में जकड़ा जाकर नष्ट हो जाए। हम उसे पराजित कर पाएँ।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम् ॥ छन्दः—१०-१७ एकपदायजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्, त्रिपदानिचृद्गायत्री, त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्, १२ (सर्वेषां तृ०) आसुरीजगती, १०,११,१३,१४,१६ (सर्वेषां तृ०) आसुरीत्रिष्टुप्, १५,१७ (सर्वेषां तृ०) आसुरीपङ्क्तिः ॥

अध्यात्म शत्रुओं का प्रतीकार

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स बृहस्पतेः पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १०॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स प्रजापतेः पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ११॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स ऋषीणां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १२॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स आर्षेयाणां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १३॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १४॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स आङ्गिरसानां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १५॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। सोऽथर्वणां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १६॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्व ∫ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्। तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १७॥

१. हम विजय आदि दशों रत्नों को प्राप्त करें। उसके लिए हम काम-क्रोधादि आध्यात्म शत्रुओं को जीतनेवाले बनें। **सः**=वह 'काम'-रूप शत्रु **बृहस्पते पाशात् मा मोचि**=बृहस्पति के पाश से मुक्त न हो। हम इस कामरूप शत्रु के वीर्य, बल, प्राण व आयु को घेरकर उसे परास्त करने में समर्थ हों। बृहस्पति ज्ञान का स्वामी है। बृहस्पति के पाश में जकड़ने का भाव है 'ज्ञान की रुचिवाला' बनना। ज्ञान की रुचिवाला बनते ही वह पुरुष काम का विध्वंस कर पाता है। २. इसीप्रकार क्रोधरूप शत्रु है। **सः**=वह **प्रजापतेः पाशात्**=प्रजापति के पाश से **मा मोचि**=मत छोड़ा जाए। 'प्रजापति' में सन्तानों के रक्षण की भावना है। इस भावना के प्रबल होने पर हम क्रोध से ऊपर उठते हैं। क्रोध विनाश का कारण बनता है—न कि पालन का। ३. तीसरा शत्रु लोभ है। **सः**=वह **ऋषीणाम्**=ऋषियों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। ऋषियों के पाश में हम अपने को जकड़ते हैं, तो लोभ विनष्ट हो जाता है। ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं—विचारशील हैं। 'कस्य स्विद्धनम्' इस बात का विचार करने पर लोभ स्वतः ही नष्ट हो जाता है। **सः**=वह लोभरूप शत्रु **आर्षेयाणाम्**=ऋषिकृत ग्रन्थों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। ऋषिकृतग्रन्थों का अध्ययन हमें लोभ से ऊपर उठाता ही है। ४. चौथा 'मोह' रूप शत्रु है। **सः**=वह **अङ्गिरसाम्**=(प्राणो वा अङ्गिरसाः—श० ६.१.२.२८) प्राणों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। प्राणसाधना करते हुए हम मोह से ऊपर उठें। प्राणसाधना वैचित्य को (मुह वैचित्ये) दूर करती ही है। एवं, प्राणसाधक वस्तुओं को ठीकरूप में देखता हुआ मोह में नहीं फँसता। **सः**=वह मोहरूप शत्रु **आङ्गिरसानाम्**=(स वा एष आंगिरसाः 'अन्नाद्यम्' अतो हीमान्यंगानि रसं लभन्ते। तस्मादांगिरसः—जै० ३.२.११.९) आद्य अन्नों के **पाशात् मा मोचि**=बन्धन से मत मुक्त हो। यदि हम खाने योग्य सात्त्विक अन्नों का ही प्रयोग करेंगे तो हमारा मन भी सात्त्विक भावना से ओत-प्रोत होने से मोह में न फँसेगा। एवं मोह से ऊपर उठने के लिए 'अङ्गिरा व आङ्गिरसों' के पाश में हमें अपने को जकड़ना चाहिए। प्राणसाधना करें व आद्य अन्न का सेवन करें तभी हमारा मोह (वैचित्य='अज्ञान') नष्ट होगा। ५. पाँचवाँ 'मद' हमारा शत्रु है। **सः**=वह **अथर्वणाम्**=(अथ अर्वाङ्) आत्मनिरीक्षण करनेवालों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। यदि हम आत्मनिरीक्षण करनेवाले बनेंगे तो कभी मदवाले न होंगे। दूसरों को देखते रहने पर ही अपने दोष नहीं दिखते और अभिमान (मद) की उत्पत्ति होती है। इसीप्रकार 'मत्सर' शत्रु है। **सः**=वह **आथर्वणानाम्**=आथर्वणों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। (अ+थर्व् to go, move) आथर्वण, अर्थात् स्थिरवृत्ति के बनकर हम मत्सर से ऊपर उठें। हमें औरों की सम्पत्ति को देखकर जलन न हो।

भावार्थ—ज्ञानरुचिता हमें 'कामवासना' पर विजयी बनाए। प्रजापतित्व की भावना हमें क्रोध से ऊपर उठाकर प्रेममय बनाए। तत्त्वद्रष्टा बनते हुए व तत्त्वदर्शी पुरुषों के ग्रन्थों को पढ़ते हुए हम लोभ से ऊपर उठें। प्राणसाधना द्वारा हमारा मोह विनष्ट हो। इसके विनाश के लिए ही हम सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करें। आत्मनिरीक्षण करते हुए हम 'मद' को नष्ट करें तथा स्थिरवृत्ति के बनकर मत्सर से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—यमः॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम्॥ छन्दः—१८-२९ (प्र०), ३० एकपदा-यजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्, १८-२९ (द्वि०), ३१ त्रिपदानिचृद्गायत्री, १८-२९ (च०), ३३ त्रिपदा-प्राजापत्यात्रिष्टुप्, २०,२२,२७ (सर्वेषां तृ०) आसुरीजगती, २१ (सर्वेषां तृ०) आसुरीत्रिष्टुप्, १८,१९,२३-२६ (सर्वेषां तृ०), ३२ आसुरीपङ्क्तिः, २८,२९ (द्वयोः तृ०) आसुरी बृहती॥

शारीर 'रोगरूप' शत्रुओं का प्रतीकार

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स वनस्पतीनां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १८॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स वानस्पत्यानां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १९॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स ऋतूनां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २०॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स आर्तवानां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २१॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स मासानां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २२॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। सो ऽर्धमासानां पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २३॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ऽ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। सो ऽहोरात्रयोः पाशान्मा
मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २४॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ॒ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २५॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ॒ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २६॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ॒ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २७॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ॒ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २८॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ॒ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २९॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व ॒ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्॥ ३०॥
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः॥ ३१॥
स मृत्योः पड्बीशात्पाशान्मा मोचि॥ ३२॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ३३।

१. हम विजय आदि दशों रत्नों को प्राप्त करें। इसी उद्देश्य से शरीर में उत्पन्न हो जानेवाले रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करें। **सः**=वह रोगरूप शत्रु **वनस्पतीनां**=वनस्पतियों के **पाशात्**=पाशों से **मा मोचि**=मत मुक्त हो, अर्थात् वनस्पतियों का प्रयोग इन रोगों के नाश का कारण बने। **सः**=वह रोग **वानस्पत्यानाम्**=वनस्पति से प्राप्त पदार्थों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो, अर्थात् वानस्पत्य भोजनों को करते हुए हम रोगों का शिकार न हों। २. **सः**=वह रोग **ऋतूनाम्**=ऋतुओं के **पाशात्**=पाश से **मा मोचि**=मत मुक्त हो। ऋतुचर्या का ठीक से पालन हमें रोगाक्रान्त होने से बचाए। **सः**=वह रोग **आर्तवानाम्**=उस-उस ऋतु में होनेवाले पदार्थों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। हम ऋतु के पदार्थों का प्रयोग करते हुए नीरोग बने रहें। ३. **सः**=वह व्याधि **मासानां**=मासों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। इसीप्रकार

सः=वह **अर्धमासानां**=अर्धमासों (पक्षों) के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। उस-उस मास व पक्ष के अनुसार अपनी चर्या को करते हुए हम नीरोग बनें। ४. **सः**=वह रोग **अहोरात्र्योः**=दिन-रात के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। **सः**=वह **संयतो अह्नोः**=(be formed in rows) क्रम में स्थित दिनों के **पाशात्**=पाश से **मा मोचि**=मत मुक्त हो। 'दिन के बाद रात और रात के बाद दिन' इसप्रकार दिन-रात चलते ही रहते हैं। दिन कार्य के लिए है और रात्रि आराम के लिए। इनके व्यवहार के ठीक होने पर रोगों से बचाव रहता है। यह 'काम और आराम' का क्रम टूटते ही रोग आने लगते हैं। 'रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा'। ५. **सः**=वह रोग **द्यावापृथिव्योः**=द्यावापृथिवी के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। 'द्यावा' मस्तिष्क है, 'पृथिवी' शरीर है। हम इन्हें क्रमशः दीप्त व दृढ़ बनाएँ और इसप्रकार नीरोग जीवनवाले हों। **सः**=वह रोग **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का प्रतीक है, 'अग्नि' प्रगति का। जितेन्द्रियता व प्रगतिशीलता हमें नीरोग बनाएँ। **सः**=वह **मित्रावरुणयोः**=मित्र और वरुण के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। हम मित्र=स्नेहवाले व वरुण=निर्द्वेष बनकर रोगों के शिकार होने से बचें। **सः**=वह रोग **राज्ञः वरुणस्य**=राजा वरुण के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। 'राजा' का भाव है—व्यवस्थित जीवनवाला (well regulated) और अतएव वरुण=श्रेष्ठ व्यक्ति रोगों का शिकार नहीं होता। ६. **सः**=वह रोग **मृत्यो पड्बीशात्**=मृत्यु के पादबन्धनरूप **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। जब हम इस बात को भूलते नहीं कि 'यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया'। हमें पैदा होने के साथ ही मृत्यु उत्तम पाशों से जकड़ लेती है तो हम युक्ताहार-विहार करते हुए स्वस्थ बने रहते हैं और उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—नीरोग बनने का मार्ग यह है कि (क) हम वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करें। (ख) ऋतुचर्या का ध्यान करें। (ग) प्रत्येक मास व पक्ष का ध्यान करते हुए हमारा खान-पान हो। (घ) दिन में सोएँ नहीं, रात्रि में जागें नहीं। (ङ) मस्तिष्क और शरीर दोनों का ध्यान करें। (च) जितेन्द्रिय व प्रगतिशील हों। (छ) स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाएँ। (ज) व्यवस्थित जीवनवाले हों। (झ) मृत्यु को न भूल जाएँ।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

शत्रुसैन्याभिभव

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्य१ष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥ १ ॥

१. गतसूक्त के अनुसार बाह्य शत्रुओं को, काम, क्रोध आदि मानस शत्रुओं को तथा शारीर रोगों को दूर करके **अस्माकं जितम्**=हमारा विजय हो। **अस्माकम् उद्भिन्नम्**=हमारा उदय-ही-उदय होता चले। **विश्वाः**=सब **अरातीः पृतनाः**=शत्रु-सेनाओं को **अभ्यष्ठाम्**=मैंने पादाक्रान्त किया है—उनपर अधिष्ठित हुआ हूँ। इनको पराजित करके ही तो विजय व उन्नति सम्भव होता है।

भावार्थ—शत्रु-सैन्यो का पराभव करके हम संसार में विजयी व उन्नत बनें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥

अग्नि+सोम

तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात्सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥

१. **तत्**=गतमन्त्र में कही गई उस बात को कि 'हमारा विजय हो, हमारा उदय हो, मैं

सब शत्रुसैन्यों को पादाक्रान्त करता हूँ' **अग्निः आह**=अग्नि कहता है। आगे बढ़ने की वृत्तिवाला पुरुष ही विजय व उदय की बात को कह सकता है। **उ**=और **तत्**=उस बात को **सोम**=सौम्य स्वभाव का, निरभिमान पुरुष **आह**=कहता है। अग्नि की तेजस्वितावाला, परन्तु शान्त व्यक्ति ही विजय व उदय को सिद्ध कर पाता है। २. यह प्रार्थना करता है कि **पूषा**=वह सबका पोषक प्रभु **मा**=मझे **सुकृतस्य लोके धात्**=पुण्य के प्रकाश में धारण करे। प्रभु के अनुग्रह व प्रेरणा से मैं कभी भी पुण्य के मार्ग से विचलित न होऊँ।

भावार्थ—अग्नि व सोम का अपने में समन्वय करता हुआ मैं निरन्तर विजयी व उन्नत बनूँ। प्रभु मुझे सन्मार्ग में स्थापित करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**साम्नीपङ्क्तिः** ॥

सूर्यस्य ज्योतिषा

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म॥ ३॥

१. **स्वः**=(Water आपः=रेतः) हमने वासनाओं को पराजित करके शरीर में रेतःकणों को **अगन्म**=प्राप्त किया है। इन सुरक्षित रेतःकणों से ज्ञानाग्नि की दीप्ति होने पर **स्वः अगन्म**=(Radiance, lustre) हमने ज्ञानज्योति को प्राप्त किया है। २. **सूर्यस्य**=उस आदित्यवर्ण सूर्यसम ज्योति '**ब्रह्म**' (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः) की **ज्योतिषा**=ज्ञानदीप्ति से **सम् अगन्म**=हम संगत हुए हैं।

भावार्थ—सन्मार्ग में चलते हुए हम रेतःकणों के रक्षण से ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करें। प्रकाश को ही क्या उस सूर्यसम ज्योति ब्रह्म के ज्ञान से संगत हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

वसु-प्राप्ति

वस्योभूयाय वसुमान्यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान्भूयासं वसु मयि धेहि॥ ४॥

१. **वस्यः भूयाय**=ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए **वसुमान् भूयासम्**=मैं प्रशस्त वसुवाला बनूँ। मेरा धन प्रशस्त हो, अर्थात् धन का विनियोग प्रशंसनीय रूप में ही करूँ। वह भोगविलास में व्ययित न होकर लोकहित के कार्यों में—यज्ञों में व्ययित हो। मैं इस बात को न भूल जाऊँ कि **वसुमान् यज्ञः**=यज्ञ प्रशस्त धनवाला है, अर्थात् यज्ञों में धन का विनियोग धन को बढ़ानेवाला ही है। **वसु वंशिषीय**=मैं वसु का संभजन (वन् संभक्तौ) करनेवाला बनूँ। धन को प्रशस्तरूप में बढ़ानेवाली दो ही बातें हैं कि वह यज्ञों में विनियुक्त हो तथा हम धन का समुचित संविभाग करनेवाले बनें। समुचित संविभाग यही है कि उसमें आधार देने योग्य लूले-लंगड़े व्यक्तियों को भी भाग प्राप्त हो। लोकोहित के कार्यों में लगे हुए लोग भी उसमें भाग प्राप्त करें तथा राजा को भी उसमें से उचित कर मिले। आध्रश्चिद्यं मन्यमानः तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं मक्षीत्याह। हे प्रभो! इस प्रकार धन का समुचित संविभाग करनेवाले **मयि**=मुझमें वसु **धेहि**=प्रशस्त धन धारण कीजिए।

भावार्थ—हम धनों का यज्ञों में विनियोग करें तथा धनों का उचित संविभाग करते हुए प्रशस्त धनों के पात्र बनें।

इति षोडशं काण्डम्॥

अथ सप्तदशं काण्डम्

अथ द्वात्रिंशः प्रपाठकः ॥

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

इस काण्ड में तीस मन्त्रों का एक ही सूक्त है। इसका ऋषि 'ब्रह्मा' है जो 'देवानां प्रथमा' देवों में प्रथम कहलाता है। यह प्रभु का स्मरण करता है और पुरुषार्थमय प्रशस्त जीवनवाला बनता है। सब गुणों का आदान करता हुआ यह 'आदित्य' बनता है। इस सूक्त का देवता आदित्य ही है—

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आदित्यः ॥ छन्दः—१ षट्पदाजगती, २-५ षट्पदातिजगती ॥

प्रशस्ततम जीवन

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं सन्धनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान्भूयासम्॥ १ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं सन्धनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम्॥ २ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं सन्धनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम्॥ ३ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं सन्धनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम्॥ ४ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं सन्धनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम्॥ ५ ॥

१. मैं **ईड्यं नाम**=प्रशंसनीय (स्तुत्य) यशवाले **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु को **ह्वे**=पुकारता हूँ। उन प्रभु को पुकारता हूँ जो **विषासहिं**=शत्रुओं का अत्यधिक पराभव करनेवाले हैं। **सहमानम्**=शत्रुओं को कुचल देनेवाले हैं। **सासहानम्**=निरन्तर शत्रुओं का विनाश कर रहे हैं। **सहीयांसम्**=शत्रुमर्षकों में श्रेष्ठ हैं। उन प्रभु को मैं पुकारता हूँ जो **सहमानम्**=(be able to resist) मेरे अन्दर उत्पन्न होनेवाले—मुझपर आक्रमण करनेवाले सब प्रलोभनों को रोकने में समर्थ हैं। **सहोजितम्**=मेरे लिए शत्रुपराभवधारी बल का विजय करनेवाले हैं—मुझे 'सहस्' प्राप्त करानेवाले हैं। केवल 'सहस्' ही नहीं **स्वर्जितम्**=प्रलोभनों के निराकरण के द्वारा **स्वः**=आत्मप्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। **गोजितं**=मेरे लिए ज्ञान की वाणियों का विजय करनेवाले, इन्हें मुझे प्राप्त

करानेवाले हैं और **सन्धनाजितम्**=प्रशस्त धनों का मेरे लिए विजय करनेवाले हैं। २. इसप्रकार बल '(सहस्) को, आत्मप्रकाश (स्वः) को, गौओं को (ज्ञानवाणियों को) व धनों को' प्राप्त करके **आयुष्मान् भूयासम्**=मैं प्रशस्त आयु-(जीवन)-वाला बनूँ। प्रशंसनीय जीवन वही है जिसमें भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धनों की कमी नहीं, जो जीवन ज्ञानमय है, जिसमें आत्मप्रकाश को प्राप्त करने की रुचि है और सहस् (बल) है, शत्रुमर्षक बल है। ३. ऐसा बनकर मैं **देवानां प्रियः भूयासम्**=देवों का प्रिय बनूँ। माता, पिता, आचार्य व विद्वान् अतिथि और अन्ततः प्रभु का भी मैं प्रिय बनूँ। ये सब देव मुझे प्रशस्त जीवन के बनाने में सहायक हों। ४. इसप्रकार का बनकर **प्रियः प्रजानां भूयासम्**=मैं प्रजाओं का भी प्रिय बनूँ। सब लोग मुझे देखकर प्रसन्न हों। मेरा कोई भी कार्य किसी के अहित का कारण न बने। **पशूनां प्रियः भूयासम्**=पशुओं का भी मैं प्रिय बनूँ। गौ आदि का तो घर पर पालन करूँ ही, परन्तु इसके साथ ही इसप्रकार अहिंसा की साधना करूँ कि 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।' इस योगसूत्र के अनुसार मेरे समीप शेर आदि भी वैरत्याग करके आसीन हों। ५. मेरा व्यवहार इतना सुन्दर व अभिमानशून्य हो कि मैं **समानानां प्रियः भूयासम्**=अपने समवर्ग के लोगों का भी प्रिय बनूँ। अपने उत्थान का अभिमान न करूँ और किसी की निन्दा में कभी प्रवृत्त न होऊँ। प्रभु-स्मरण करता हुआ अभिमान आदि दुर्गुणों से दूर रहूँ।

भावार्थ—प्रभु का 'विषासहि, सहमान, सासहान, सहीयान् व सहमान' इन पाँच शब्दों से स्मरण करता हुआ मैं पाँचों कोशों के शत्रुओं का पराभव करूँ। शत्रुपराभव द्वारा 'बल, आत्मप्रकाश, ज्ञान व धन' का विजय करके मैं प्रशस्त जीवनवाला बनूँ। इस प्रशस्त जीवन में मैं 'देवों का, प्रजाओं का, पशुओं का व अपने समवर्गवालों का' प्रिय बनूँ।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आदित्यः॥ छन्दः—६,७ पदाधृतिः॥

सुधा व परम व्योम में धारण

उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि। द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा
चाहं द्विषते रधं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ ६॥
उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि। यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा
सुमतिं कृधि तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ ७॥

१. हे **सूर्य**=(सरतेः सुवतेर्वा) सबको गति देनेवाले व सबको प्रेरणा देनेवाले प्रभो! **उदिहि**=आप हमारे हृदयाकाश में उदित होइए। हम हृदयों में आपके प्रकाश को देखें। **वर्चसा मा अभ्युदिहि उदिहि**=वर्चस् के हेतु से आप मेरी ओर उदित होइए। हृदय में आपका प्रादुर्भाव मुझे वर्चस्वी बनाएगा **च**=और आपके प्रादुर्भाव से **द्विषन्**=द्वेष करता हुआ शत्रु **मह्यं रध्यतु**=मेरे लिए वशीभूत हो जाए **च**=और **अहम्**=मैं **द्विषते मा रधम्**=वैर करनेवाले के वश में न हो जाऊँ। २. हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **तव इत्**=आपके ही ये **बहुधा वीर्याणि**=नानाप्रकार के पराक्रम हैं। ब्रह्माण्ड में सूर्य आदि पिण्डों के निर्माण व धारणरूप एवं शक्तिशाली कर्म आपके ही हैं। हे प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **विश्वरूपैः पशुभिः**=इन नानारूपवाले पशुओं से **पृणीहि**=पूरित कीजिए। गवादि पशु दूध आदि देकर हमारे पालन का साधन बनें। हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **सुधायाम्**=(सुधा) उत्तम भरण-पोषण करनेवाली अमृतरूप शक्ति में तथा **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट

(विशेषेण अवति) रक्षण-स्थान में—हृदयाकाश में **धेहि**=स्थापित कीजिए। मैं मन को इधर-उधर भटकने देने की अपेक्षा हृदय में मन को निरुद्ध करूँ।

भावार्थ—मेरे हृदय में प्रभु के प्रकाश का प्रादुर्भाव हो। मैं शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला बनूँ। ब्रह्माण्ड में सर्वत्र प्रभु के शक्तिशाली कर्मों को देखूँ। प्रभु मुझे आत्मधारण शक्ति दें तथा मन को हृदयाकाश में सन्निरुद्ध कर सकने का सामर्थ्य दें।

७—प्रभुरूप सूर्य मेरे हृदयाकाश में उदित हों। मुझे वर्चस्वी बनाने के लिए वे मुझे प्राप्त हों। हे प्रभो! आप **यान् च पश्यामि**=जिन मनुष्यों को मैं देखता हूँ **च**=और **यान् न**=जिनको नहीं देखता, **तेषु**=उन सबमें **मा**=मुझे **सुमतिम्**=कल्याणी मतिवाला **कृधि**=कीजिए। मैं सबके कल्याण का ही चिन्तन करूँ—किसी के अशुभ को सोचनेवाला न बनूँ। २. हे प्रभो! आपके अनेक शक्तिशाली कर्म हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु के प्रकाश को देखता हुआ, प्रभु के वर्चस् को प्राप्त करता हुआ मैं सबके प्रति सुमतिवाला बनूँ। प्रभु के अनन्त पराक्रम हैं। वे हमें गवादि पशुओं द्वारा दूध आदि पदार्थों को प्राप्त करके पालित करते हैं। वे हमें 'सुधा व परमव्योम' में स्थापित करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**सप्तपदातिधृतिः** ॥

सलिले अप्स्वनाः

मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्वन्तर्ये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्र। हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ ८॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **ये**=जो **पाशिनः**=हाथ में पाश लिये हुए विषयरूप व्याध **अत्र**=यहाँ **उपतिष्ठन्ति**=उपस्थित होते हैं, वे **सलिले**=ज्ञान-जल में स्नान करते हुए होने पर तथा **अप्सु अन्तः**=(यज्ञादि) कर्मों के अन्दर व्याप्त होने पर **मा दभन्**=मत हिंसित करें। तू इन विषयों का शिकार न हो जाए, इसी उद्देश्य से तू ज्ञान-जल में निरन्तर स्नान करनेवाला बन तथा यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा रह। **अशस्तिम्**=सब अप्रशस्त कर्मों को **हित्वा**=छोड़कर **एतां दिवम् आरुक्षः**=इस द्युलोक में (देवलोक में) आरोहण कर। यहीं से तो तू ब्रह्मलोक में पहुँचेगा। 'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तारिक्षमारुहम्, अन्तरिक्षद्दिवमारुहम्, दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्'। २. प्रभु की प्रेरणा को सुनकर जीव प्रार्थना करता है कि **सः**=वे आप **नः मृड**=हमें सुखी जीवनवाला कीजिए—हमपर आपका अनुग्रह हो। हम सदा **ते सुमतौ स्याम**=आपकी कल्याणी मति में निवास करें। आपकी प्रेरणा के अनुसार चलते हुए कल्याण के भागी हों। ३. आपके अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु की इस प्रेरणा को तू सुन कि ज्ञान व कर्मों में लगे रहने पर विषयपाश तुझे न जकड़ पाएँगे। तू सब अप्रशस्त कर्मों को छोड़कर देवलोक में निवास करनेवाला हो। प्रभु से हम प्रार्थना करें कि वे हमपर अनुग्रह करें—हम प्रभु की कल्याणी मति में हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

महते सौभगाय

त्वं न इन्द्र महते सौभगायादब्धेभिः परि पाह्यक्तुभिस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य

के लिए **अदब्धेभि**=अहिंसित **अक्तुभिः**=प्रकाश की किरणों से **परिपाहि**=सब ओर से रक्षा कीजिए। प्रकाश की किरणों के द्वार सदा कर्त्तव्यपथ को देखते हुए हम कर्त्तव्यमार्ग का अनुसरण करें। यह मार्गानुसरण हमारे सौभाग्य का साधक हो। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम प्रभु से निरन्तर प्रकाश की किरणों को प्राप्त करके मार्ग पर ही चलें। मार्ग पर चलते हुए हम प्रथमाश्रम में ऐश्वर्यसाधक शिक्षा व धर्म को प्राप्त करें, द्वितीयाश्रम में संयम द्वारा वीर्य तथा यज्ञ के भागी बनें तथा तृतीयाश्रम में ज्ञान व वैराग्य का साधन करें। यही तो महान् सौभाग्य है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाधृतिः**॥

प्रियधामा

त्वं न इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शन्तमो भव। आरोहंस्त्रिदिवं दिवो गृणानः
सोमपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिए **शिवाभिः ऊतिभिः**=कल्याण-कर रक्षणों के द्वारा **शन्तमः भव**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले होओ। आपकी कृपा से मैं **त्रिदिवं आरोहम्**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' के त्रिविध ज्ञान का आरोहण करता हुआ—त्रिविध ज्ञान को प्राप्त करता हुआ **दिवः गृणानः**=प्रकाशमयी स्तुतिवाणियों का उच्चारण करता हुआ (दिव् द्युतौ स्तुतौ) **सोमपीतये**=शरीर में सोम के पान के लिए समर्थ बनूँ और **स्वस्तये**=कल्याण के लिए **प्रियधामा**=प्रियतेजोंवाला होऊँ। २. हे **विष्णो**! आपके जो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हमें प्रभु के कल्याणकर रक्षण प्राप्त हों। हम त्रिविध ज्ञान को प्राप्त करते हुए, ज्ञानपूर्वक स्तुति-शब्दों का उच्चारण करते हुए शरीर में सोम का रक्षण करें और प्रिय तेजोंवाले बनकर कल्याण प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदातिधृतिः**॥

विश्वजित् सर्ववित्

त्वमिन्द्रासि विश्वजित्सर्ववित्पुरुहूतस्त्वमिन्द्र। त्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममेरयस्व
स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ ११॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वजित् असि**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के विजेता हैं **सर्ववित्**=सर्वज्ञ हैं। **त्वं पुरुहूतः**=आप बहुतों से पुकारे जानेवाले हैं। आपकी पुकार हमारा पालन व पूरण करनेवाली है। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **इमम्**=इस **सुहवम्**=उत्तमता से पुकारे जाने योग्य **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को—स्तोत्र को **आ ईरयस्व**=समन्तात् हममें प्रेरित कीजिए। हम सदा आपका स्तवन करनेवाले बनें। **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **मृड**=सुख कीजिए—अनुग्रह कीजिए। हम **ते**=आपकी **सुमतौ स्याम**=कल्याणी मति में हों। आपकी कल्याणी मति हमारे जीवनमार्ग की प्रदर्शिका हो। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम 'विश्वजित्, सर्ववित्' प्रभु का स्तवन करते हुए उस प्रभु की कल्याणी मति को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। वही मति हमारे लिए मार्गदर्शिका हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**कृतिः** ॥

अदब्धः

अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे। अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि षंच्छर्म यच्छ तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १२॥

१. हे प्रभो! आप **दिवि**=द्युलोक में **अदब्धः**=अहिंसित सत्तावाले हैं, **उत**=और **पृथिव्याम्**=इस पृथिवीलोक पर भी अहिंसित सत्तावाले हैं। आप सर्वोपरि हैं, आपको कोई अतिक्रान्त नहीं कर सकता। **ते**=आपकी **महिमानं**=महिमा को **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षलोक में भी **न आपुः**=व्याप्त नहीं कर सकते। आपकी महिमा अन्तरिक्ष से महान् है। वस्तुतः आप तीनों लोकों को अपने एकदेश में ही व्याप्त किये हुए हैं। २. **अदब्धेन**=अहिंसित—कभी नष्ट न होनेवाले **ब्रह्मणा**=इस वेदज्ञान से **वावृधानः**=हमारा वर्धन करते हुए **सः**=वे **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिए **दिवि सन्**=अपने प्रकाशमयरूप में होते हुए **शर्म यच्छ**=सुख दीजिए। आपके ही तो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु की महिमा त्रिलोकी में सर्वत्र व्याप्त है। वे प्रभु अहिंसित वेदज्ञान से हमारा वर्धन करते हुए हमारे लिए सुख प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**प्रकृतिः** ॥

पञ्चभूतों की कल्याणरूपता

या त इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्नौ या त इन्द्र पवमाने स्वर्विदि। ययेन्द्र तन्वा३न्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वा३ शर्म यच्छ तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **या**=जो **ते**=तेरी **तनूः**=मूर्त्ति, अर्थात् रस-रूप शक्ति **अप्सु**=जलों में है (रसोऽहमप्सु कौन्तेय), **या**=जो तेरी **पृथिव्याम्**='पुण्यगन्ध रूप' शक्ति पृथिवी में है, **वा**=जो तेरी **अग्नौ अन्तः**=तेजरूप शक्ति अग्नि में है (पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च, तेजाश्चास्मि विभावसौ)। हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **या**=जो **ते**=तेरी शक्ति **पवमाने**=इस निरन्तर बहनेवाली व जीवन को पवित्र बनानेवाली वायु में है, जो वायु **स्वःविदि**=सुख को प्राप्त करानेवाली है और हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यया तन्वा**=अपनी जिस मूर्त्ति व शक्ति से **अन्तरिक्षं व्यापिथ**=आपने सारे अन्तरिक्ष को व्याप्त किया हुआ है, हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **तया तन्वा**=उस स्वरूप व शक्ति से **नः शर्म यच्छ**=हमारे लिए कल्याण दीजिए। २. हे प्रभो! आपके ही निश्चय से अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—जल, पृथिवी, अग्नि, वायु व सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में प्रभु की जो शक्तियाँ हैं, वे हमारा कल्याण करनेवाली हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

प्रभु-प्राप्ति का मार्ग

त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि षेदुरृषयो नाधमानास्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **त्वाम्**=आपको **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक

उच्चारित स्तुति-वाणियों के द्वारा **वर्धयन्तः**=बढ़ाते हुए तथा **नाधमानाः**=आपकी प्राप्ति की कामना करते हुए **सत्रं निषेदुः**=यज्ञों में आसीन होते हैं। २. हे विष्णो! आपके ही तो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) हम ऋषि=तत्त्वद्रष्टा बनें, (ख) हममें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो, (ग) ज्ञानपूर्वक-स्तुति वाणियों का उच्चारण करते हुए हम अपने हृदयों में प्रभु को बढ़ाने के लिए यत्नशील हों, (घ) यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी**॥

उत्स

त्वं तृतं त्वं पर्येष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १५॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **तृतम्**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान का विस्तार करनेवाले **उत्सम्**=ज्ञानस्रोत को **पर्येषि**=व्याप्त किये हुए हो। जो उत्स, **सहस्रधारम्**=हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करनेवाला है, **विदथम्**=ज्ञानरूप है, हमारे लिए सब ज्ञानों को प्राप्त करानेवाला है तथा **स्वर्विदम्**=आत्मप्रकाश व सुख को प्राप्त कराता है। २. हे विष्णो! आपके ही तो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ही उस ज्ञानस्रोत का व्यापन किये हुए हैं जो प्रकृति, जीव व परमात्मा के ज्ञान का विस्तार करता है, हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करता है, हमें ज्ञान प्राप्त कराता तथा सुख देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदातिधृतिः**॥

ऋत के मार्ग के अनुपात में

त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि। त्वमिमा विश्वा
भुवनानु तिष्ठस ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वांस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १६॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **चतस्रः प्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाओं को—इन दिशाओं में स्थित प्राणियों को **रक्षसे**=रक्षित करते हैं। **त्वम्**=आप ही **शोचिषा**=दीप्ति से **नभसी**=द्युलोक व अन्तरिक्षलोक को **विभासि**=विशिष्टरूप से दीप्त करते हैं। २. **त्वम्**=आप **इमा**=इन **विश्वा भुवना**=सब लोकों में **अनुतिष्ठसे**=व्याप्त होकर स्थित हैं। **विद्वान्**=सर्वज्ञ होते हुए आप **ऋतस्य पन्थाम् अनु एषि**=ऋत के मार्ग के अनुपात में हमें प्राप्त होते हैं। जितना-जितना हम ऋत के मार्ग का अनुसरण करते हैं, उतना ही आपको प्राप्त करनेवाले होते हैं। हे प्रभो! आपके तो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—उस सर्वरक्षक, सर्वव्यापक प्रभु को हम उतना ही प्राप्त करेंगे जितना कि ऋत के मार्ग पर चलेंगे। हमारे कर्म ऋत के अनुसार हों—ठीक समय पर व ठीक स्थान में हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाविराडतिशक्वरी**॥

बाहर प्रभु की महिमा, अन्दर प्रभु

पञ्चभिः पराङ् तपस्येकयार्वाङशस्तिमेषि सुदिने बाधमानस्तवेद्विष्णो बहुधा
वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १७॥

१. हे प्रभो! **पञ्चभिः**=मेरी इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से आप **पराङ्**=बाहर **तपसि**=दीप्त होते हो। मेरी इन्द्रियाँ बाहर सर्वत्र आपकी ही महिमा को देखती हैं। **एकया**=एक मन की मननशक्ति से आप **अर्वाङ्**=अन्दर दीप्त होते हो। मैं मनन करता हुआ हृदयदेश में आपके प्रकाश को देखता हूँ। २. इस **सुदिने**=सुदिन में जबकि मेरी इन्द्रियाँ सर्वत्र आपकी महिमा को देखने का प्रयत्न करती हैं और मन में आपके प्रकाश का अनुभव होता है, आप **अशस्तिम्**=सब बुराइयों को **बाधमानः**=रोकते हुए—हमसे दूर करते हुए **एषि**=हमें प्राप्त होते हैं। हे प्रभो! आपके अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम ज्ञानेन्द्रियों से ब्रह्माण्ड में प्रभु की महिमा को देखें, हृदय में मनन द्वारा प्रभु के प्रकाश का अनुभव करें। यह हमारे जीवन का महान् सुदिन होगा जब प्रभु हमारी सब बुराइयों को समाप्त कर देंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**भुरिगष्टिः** ॥

याग, होम

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः। तुभ्यं यज्ञो वि तायते
तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १८ ॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हो, **त्वम्**=आप **महेन्द्रः**=महान् इन्द्र हो—वृत्र आदि के विनाशक सर्वशक्तिमान् हो (इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महान् अभवत्। ऐ०आ० १.१)। **त्वं लोकः**=आप ही प्रकाश हो, **त्वं प्रजापतिः**=आप सब प्रजाओं के पालक हो। प्रकाश प्राप्त कराके मार्ग दिखाते हो और इसप्रकार हमारा रक्षण करते हो। २. हे प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **यज्ञः वितायते**=यज्ञ का विस्तार किया जाता है। इन यज्ञों के द्वारा ही तो आपका उपासन होता है। **जुह्वतः**=आहुतियाँ देनेवाले होमकर्त्ता लोग **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **जुह्वति**=आहुतियाँ देते हैं—होम करते हैं। (याज्ञा पुरोवाक्या पुरःसरं हूयमाना यागाः तद्रहिता होमाः) सब याग और होम आपकी प्राप्ति के लिए ही होते हैं। हे प्रभो! आपके तो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हे प्रभो! आप 'इन्द्र हो—महेन्द्र हो' लोक हो, प्रजापति हो'। आपकी प्राप्ति के लिए ही ये सब याग व होम किये जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥

अद्भुत रचना

असति सत्प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम्। भूतं ह भव्य आहितं
भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १९ ॥

१. **असति**=अदृश्य अव्यक्त प्रकृति में **सत्**=प्रकृति का विकारभूत यह दृश्य महत्तत्त्व **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है। प्रकृति से महत्तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। **सति**=इस महत्त्व में **भूतम्**=भूतपञ्चक—पृथिव्यादि पंचभूत **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित हैं। यह **भूतम्**=पंचभूत **भव्ये**=इस सब कार्यसमूह में—सब पदार्थों में **आहितम्**=निश्चय से आहित हैं,—अनुगत हैं। यह **भव्यम्**=कार्यजगत् **भूते**=अपने उपादानकारणभूत भूतपंञ्चक में **प्रतिष्ठितम् भूतम्**=आश्रित है। हे विष्णो! आपके ही ये अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—संसार का स्वरूप अद्भुत हैं। 'किस प्रकार अव्यक्त प्रकृति से यह व्यक्त महत्तत्व पैदा होता है। किस प्रकार उससे पंचभूतों का प्रादुर्भाव होकर यह संसार प्रकट हो जाता है।' यह सब चिन्तन करता हुआ उपासक यह कह उठता है कि हे विष्णो! आपके ये अनन्त पराक्रम हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥

शुक्रः-भ्राजः

शुक्रो ऽसि भ्राजो ऽसि।
स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम्॥ २०॥

१. हे प्रभो! आप **शुक्रः असि**=अत्यन्त निर्मलस्वरूप हैं—कलुष-लेश से भी संस्पृष्ट नहीं हैं—अपापविद्ध हैं। **भ्राजः असि**=दीप्त हैं—सकल-लोक-प्रकाशक तेज से युक्त हैं। २. **सः त्वम्**= वे आप **यथा**=जिस प्रकार **भ्राजता भ्राजः असि**=सकल-लोक-प्रकाशक तेजोमयरूप से दीप्त हैं, **एव**=इसीप्रकार **अहम्**=मैं **भ्राजता**=दीप्तरूप शरीर-कान्ति से **भ्राज्यासम्**=दीप्त होऊँ। तेजोमय आपकी उपासना मुझे भी तेजोमय बनाए।

भावार्थ—प्रभु अत्यन्त निर्मलस्वरूप हैं, तेजस्वी हैं। प्रभु की उपासना से मैं भी दीप्त बन आऊँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**चतुष्पदोपरिष्टाद्बृहती**॥

रुचिः

रुचिरसि रोचो ऽसि। स यथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं
पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेन च रुचिषीय॥ २१॥

१. हे प्रभो! **रुचिः असि**=आप दीप्तरूप हैं तथा **रोचः असि**=सकललोक के दीपक हैं। प्रकाशस्वरूप होते हुए आप सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित कर रहे हैं। २. **स त्वम्**=वे आप **यथा**=जिस प्रकार **रुच्या**=दीप्ति से **रोचः असि**=सम्पूर्ण संसार को दीप्त करनेवाले हैं, **एव**=इसीप्रकार **अहम्**=मैं **पशुभिः च ब्राह्मणवर्चसेन च**=(पशु=fire) यज्ञाग्नियों से तथा ज्ञान के तेज से **रुचिषीय**=दीप्त जीवनवाला बनूँ। मेरी कर्मेन्द्रियाँ यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करें तो मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के तेज को दीप्त करनेवाली बनें। इस प्रकार ये यज्ञ व ज्ञान मुझे दीप्त जीवनवाला बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु दीप्त हैं, संसार के दीपक हैं। मैं भी यज्ञों को करता हुआ व स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाता हुआ चमकूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**२२ अनुष्टुप्, २३ निचृद्बृहती**॥

ज्ञानोदय+अन्धकारविलय

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥ २२॥
अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥ २३॥

१. **उद्यते**=उदय होते हुए ज्ञानसूर्य के लिए **नमः**=नमस्कार हो, **उदायते**=कुछ उदित हो गये इस ज्ञानसूर्य के लिए **नमः**=नमस्कार हो और **उदिताय**=उदित हुए इस ज्ञानसूर्य के लिए **नमः**=नमस्कार हो। २. 'उद्यन्' प्रकृतिविज्ञान सूर्यवाले **विराजे**=अतएव विशिष्टरूप से दीप्त

होनेवाले इस पुरुष के लिए **नमः**=हम आदर देते हैं। 'उदायत्' ज्ञानसूर्यवाले इस **स्वराजे**=आत्मज्ञान की दीप्ति से दीप्त पुरुष के लिए **नमः**=हम प्रणाम करते हैं। उदित ब्रह्मज्ञान सूर्यवाले इस **सम्राजे**=सम्यक् दीप्त पुरुष के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ३. उद्यन् ज्ञानसूर्य के होने पर इस **अस्तंयते**=अस्त को जाते हुए वासनान्धकार के लिए हम **नमः**=प्रभु के प्रति नमन करते हैं। 'उदायत्' ज्ञानसूर्य के होने पर **अस्तम् एष्यते**=कुछ अस्त हो गये वासनान्धकार के लिए **नमः**=हम प्रभु का नमन करते हैं और 'उदित' ज्ञानसूर्य के होने पर **अस्तमिताय**=अस्त हो गये वासनान्धकार के लिए **नमः**=हम प्रभु का नमन करते हैं। अस्त को जाते हए वासनान्धकार के होने पर **विराजे**=विशिष्ट दीप्तिवाले इस पुरुष के लिए **नमः**=आदर हो। कुछ अस्त हो गये वासनान्धकारवाले इस **स्वराजे**=आत्मदीप्तिवाले पुरुष के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **अस्तमिताय**=अस्त हुए वासनान्धकारवाले इस **सम्राजे**=सम्यक् दीप्त पुरुष के लिए **नमः**=नमस्कार हो।

भावार्थ—हम ज्ञानसूर्य के उदय के द्वारा वासनान्धकार के विलय के लिए यत्नशील हों, तभी हम विशिष्ट दीप्तिवाले (विराट्), आत्मदीप्तिवाले (स्वराट्) व सम्यक् दीप्तिवाले (सम्राट्) बन पाएँगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**विराडत्यष्टिः**॥

आदित्योदय

उदगादयमादित्यो विश्वेन तपसा सह। सपत्नान्मह्यं रन्धयन्मा
चाहं द्विषते रधं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ २४॥

१. **अयम्**=यह **आदित्य**=(आदानात्) सारे ब्रह्माण्ड को अपने में समा लेनेवाला प्रभु **उदगात्**=मेरे हृदयदेश में प्रादुर्भूत हुआ है। गतमन्त्र के अनुसार वासनान्धकार के विलीन होने पर प्रभु का प्रकाश दिखता ही है। यह प्रभु **विश्वेन**=सम्पूर्ण **तपसा सह**=दीप्ति के साथ यहाँ उदित हुआ है। प्रभु ही **सपत्नान्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं को **मह्यं रन्धयन्**=मेरे लिए वशीभूत करते हैं। **च**=और प्रभु के अनुग्रह से **अहम्**=मैं **द्विषते मा रधम्**=इस कामरूप शत्रु के कभी वशीभूत न हो जाऊँ। हे विष्णो! आपके पराक्रम अनन्त हैं। शेष मन्त्र १९ के अनुसार।

भावार्थ—हृदयदेश में प्रभुरूप सूर्य के उदित होते ही काम-क्रोध का अन्धकार नष्ट हो जाता है। प्रभु हमारे लिए इन सब शत्रुओं का विनाश कर देते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभुरूप नाव

आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये।
अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्राति पारय॥ २५॥

१. हे **आदित्य**=सबका अपने में आदान करनेवाले प्रभो! **नावम्**=भवसागर को पार करने के लिए नौकारूप जो आप हैं, उनपर **आरुक्षः** (आरोहम्)=मैंने आरोहण किया है। उस नाव पर जोकि **शतारित्राम्**=सैकड़ों चप्पुओंवाली है। प्रभु के रक्षासाधन अनेक हैं। **स्वस्तये**=कल्याण के लिए मैंने इस नाव पर आरोहण किया है। २. हे प्रभो! **अहः मा अति अपीपरः**=दिन में सब अपत्तियों के परिहारपूर्वक मुझे आपने पार किया है तथा **सत्रा**=साथ ही, दिन के साथ मध्य में व्यवधान न करके **रात्रिं अतिपारय**=रात में भी पार ले-चलिए।

भावार्थ—प्रभुरूप नाव पर आरोहण करके हम दिन-रात, सब आपत्तियों से रहित होते हुए भवसागर को तैरते चलें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शतारित्रा नौः

सूर्यं नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। रात्रिं मात्यपीपरोऽहः सत्राति पारय॥ २६॥

१. हे **सूर्य**=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न व प्रेरित करनेवाले प्रभो! मैं **नावम्**=नौकारूप आप पर **आरुक्षः**=आरूढ़ हुआ हूँ। यह नाव **शतारित्रा**=सैकड़ों चप्पुओंवाली है। **स्वस्तये**=यह हमारे कल्याण के लिए है। **रात्रिं मा अति अपीपरः**=रात में आपने मुझे पार किया ही है। अब **सत्रा**=साथ ही, बिना व्यवधान के **अहं अतिपारय**=दिन में भी पार कीजिए।

भावार्थ—प्रभु का आश्रय ही हमें इस भवसागर से तराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

ज्योतिषा वर्चसा च

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्॥ २७॥

१. **अहम्**=मैं **प्रजापतेः**=प्रजाओं के रक्षक उस प्रभु के **ब्रह्मणा वर्मणा**=ज्ञानरूप कवच से **आवृतः**=आवृत हुआ-हुआ **च**=और **कश्यपस्य** (पश्यकस्य)=उस सर्वद्रष्टा प्रभु की **ज्योतिषा वर्चसा**=ज्ञानज्योति व तेजस्विता से आवृत हुआ-हुआ **जरदष्टिः**=जीर्णावस्था तक उचित भोगों को भोगता हुआ, **कृतवीर्यः**=सम्पादित शक्तिवाला **विहायाः**=(अहोङ् गतौ) विशिष्ट गतिवाला, **सहस्रायुः**=अपरिमित आयुष्यवाला, खूब ही दीर्घजीवनवाला, **सुकृतः**=पुण्य कर्मों के करनेवाला **चरेयम्**=इस पृथिवी पर विचरण करूँ।

भावार्थ—ज्ञानरूप कवच से आवृत हुआ-हुआ मैं ज्ञानी व वर्चस्वी बनूँ। दीर्घ व सुन्दर जीवन को प्राप्त करूँ। मस्तिष्क में ज्योतिवाला, शरीर में शक्तिवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञानकवच का धारण

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय॥ २८॥

१. **अहम्**=मैं **ब्रह्मणा वर्मणा**=ज्ञानरूप कवच से **परीवृतः**=अपने को समन्तात् आच्छादित किये हुए होऊँ **च**=और **कश्यपस्य**=उस सर्वद्रष्टा प्रभु की **ज्योतिषा वर्चसा**=ज्ञानज्योति व तेजस्विता से मैं अपने को परीवृत करूँ। २. इसप्रकार ज्ञानकवच को धारण करने पर **मा**=मुझे **याः**=जो **दैव्याः**=देव से प्रेरित **इषवः**=बाण हैं वे **मा प्रापन्**=मत प्राप्त हों, इसीप्रकार वधाय वध के लिए **अवसृष्टः**=छोड़े हुए **मानुषीः**=(इषवः) मानव-बाण **मा**=मत प्राप्त हों। हम ज्ञानकवच को धारण करके उत्तम कर्मों को करते हुए न तो आधिदैविक आपत्तियों का शिकार हों और न ही आधिभौतिक आपत्तियाँ हमें घेर लें।

भावार्थ—ज्ञान का कवच हमें आधिदैविक व आधिभौतिक आपत्तियों से रक्षित करनेवला हो।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आदित्यः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

पाप व मृत्यु से दूर

ऋतेन॑ गु॒प्त ऋ॒तुभि॑श्च॒ सर्वै॑र्भू॒तेन॑ गु॒प्तो भव्ये॑न चा॒हम्।
मा मा॒ प्राप॑त्पा॒प्मा मोत मृ॒त्युर॒न्तर्द॑धे॒ऽहं स॑लि॒लेन॑ वा॒चः॥ २९॥

१. **अहम्**=मैं **ऋतेन गुप्तः**=ऋत के द्वारा—नियमित क्रियाओं के द्वारा रक्षित किया गया हूँ च=और **सर्वैः ऋतुभिः**=सब ऋतुओं से रक्षित हुआ हूँ। ऋतुचर्या के ठीक पालन के कारण स्वस्थ बना हूँ। **भूतेन भव्येन च गुप्तः**=उपादानकारणभूत 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' रूप पञ्चभूतों से तथा इन भूतों से उत्पन्न शरीर आदि से मैं **गुप्तः**=सुरक्षित हुआ हूँ। इन भूतों के साथ उचित सम्पर्क से स्वाभाविक जीवन बिताने से मैं स्वस्थ बना दूँ। २. **मा**=मुझे **पाप्मा**=पाप **मा प्रापत्**=मत प्राप्त हो। **उत**=और **मृत्युः मा**=मृत्यु भी मत प्राप्त हो। पाप का परिणाम ही मृत्यु होती है। **अहम्**=मैं **वाचः**=ज्ञान की वाणियों के **सलिलेन**=जल से **अन्तर्दधे**=अपने को अन्तर्हित करता हूँ। इनसे अन्तर्हित होने पर मुझ तक पाप व मृत्यु का पहुँचना नहीं हो पाता। जैसे जल से भरी खाई (परिखा) शत्रु को किले की दीवार तक नहीं आने देती, इसीप्रकार ज्ञानजल से अन्तर्हित मुझ तक ये पाप व मृत्यु नहीं पहुँच पाते।

भावार्थ—मेरा जीवन नियमित हो। ऋतुचर्या का मैं ठीक से पालन करूँ। पृथिवी आदि पञ्चभूतों व तज्जन्य सूर्य आदि से मेरा समुचित सम्पर्क हो। साथ ही ज्ञान के जल से मैं अपने को सदा पवित्र बनाऊँ। इसप्रकार पाप व मृत्यु से मैं बचा रहूँ।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आदित्यः॥ छन्दः—जगती॥

'अग्नि-सूर्य, उषाएँ व पर्वत'

अ॒ग्निर्मा॑ गो॒प्ता परि॑ पातु वि॒श्वत॑ उ॒द्यन्त्सूर्यो॑ नुदतां मृत्युपा॒शान्।
व्यु॒च्छन्ती॑रु॒षसः॒ पर्व॑ता ध्रु॒वाः स॒हस्रं॑ प्रा॒णा मय्या य॑तन्ताम्॥ ३०॥

१. **गोप्ता**=जीवन का रक्षक **अग्निः**=अग्नितत्त्व **मा**=मुझे **विश्वतः परिपातु**=सब ओर से रक्षित करे। शरीर में उचित मात्रा में अग्नितत्त्व जीवन के लिए आवश्यक है। वस्तुतः यही जीवन का रक्षण करता है। **उद्यन् सूर्यः**=उदय होता हुआ सूर्य **मृत्युपाशान्**=रोगों के बन्धनों को **नुदताम्**=हमसे दूर धकेलनेवाला हो। 'उद्यान्नादित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः' उदय होता हुआ सूर्य रोगकृमियों को नष्ट करता ही है, अस्त होता हुआ सूर्य भी रश्मियों से इन कृमियों का विनाश करता है। २. **व्युच्छन्ती**=अन्धकार का विवासन करती हुई **उषसः**=उषाएँ तथा **ध्रुवाः पर्वताः**=अपने स्थान से च्युत न होनेवाले पर्वत मुझसे मृत्यु व पापों को दूर करें। उषा का वायुमण्डल तथा पर्वतों का वायु ओज़ोनगैस की अधिकतावाला होता है, अतएव यह स्वास्थ्यजनक है और मृत्यु को दूर करता है। हे प्रभो! 'अग्नि, सूर्य, उषा व पर्वतों' का सम्पर्क हमें स्वस्थ बनाए—मृत्यु को हमसे दूर रक्खे। **सहस्रं प्राणाः**=अपरिमित प्राणशक्तियाँ **मयि**=मुझ में **आयतन्ताम्**=विविध चेष्टाओं का सम्पादन करनेवाली हों, अर्थात् शरीर में प्राणों का कार्य समुचितरूप से चलता रहे।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'अग्नि, सूर्य, उषाएँ व पर्वत' सब रोगों को दूर करनेवाले हों। शरीर में प्राणों के विविध कार्य ठीकरूप में चलते रहें।

॥इति सप्तदशं काण्डम्॥

अथाष्टादशं काण्डम्

अथ त्रयस्त्रिंशः प्रपाठकः॥

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

इस काण्ड में 'अथर्वा' ऋषि है। 'अथ अर्वाङ्' अपने अन्दर देखनेवाला, आत्मनिरीक्षण करनेवाला, अतएव 'अथर्वा' न डाँवाडोल होनेवाला। 'यमः' देवता है—इस काण्ड का सम्बन्ध इस यम 'मृत्यु के देवता' से ही है। 'यम' का स्मरण करनेवाला ही अथर्वा बनता है। इसका प्रारम्भ 'यम-यमी' के संवाद से होता है—

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सन्तान क्यों?

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः॥ १॥

१. यमी यम से कहती है कि **ओचित्**=निश्चय से **सखायम्**=मित्रभूत तुझको **सख्या**=मित्रभाव से **आववृत्याम्**=आवृत्त करती हूँ। 'सखे सप्तपदी भव' इस सातवें पग के वाक्य के अनुसार पति-पत्नी इस संसार-समुद्र में एक-दूसरे के सखा तो हैं ही, इसलिए मैं तुझे पतिरूप से चाहती हूँ कि **पुरूचित्**=इस अत्यन्त विस्तृत **अर्णवम्**=संसार-समुद्र को **जगन्वान्**=गया हुआ पुरुष **तिरः**=अन्तर्हित हो जाता है। मनुष्य मृत्यु का शिकार होकर संसार-समुद्र में लीन हो जाता है। २. इस बात का ध्यान करके ही **प्रतरं दीध्यानः**=इस विस्तृत समुद्र का विचार करता हुआ **वेधाः**=बुद्धिमान् पुरुष **अधि क्षमिः**=इस पृथ्वी पर **पितुः नपातमा**=पिता के न नष्ट होने देनेवाले सन्तान को **आदधीत**=आहित करता है। इसप्रकार इस नश्वर शरीर के नष्ट हो जाने पर भी उस सन्तान के रूप में बना ही रहता है। यमी का युक्तिक्रम यह है कि (क) इस विशाल संसार-समुद्र में मनुष्य कुछ देर बाद तिरोहित हो जाता है। (ख) सन्तानन के रूप में ही उसका चिह्न बना रहता है, (ग) अतः सन्तान-प्राप्ति के लिए तू मुझे पत्नी रूप में चाहनेवाला हो।

भावार्थ—इस विशाल संसार-समुद्र में मनुष्य सन्तान के रूप में ही बना रहता है, अतः सन्तान-प्राप्ति के लिए 'यम' 'यमी' की कामना करे। 'यम-यमी' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि पति-पत्नी संयत जीवनवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विवाह-सम्बन्ध समीप में नहीं

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन्॥ २॥

१. यमी को यम कहता है कि सन्तान-प्राप्ति के लिए पुरुष और स्त्री का मित्रभाव ठीक ही है, परन्तु **ते सखा**=सहोत्पन्न होने से तेरा मित्र मैं **एतत् सख्यम्**=इस पति-पत्नीरूप मित्रता को **न वष्टि**=नहीं चाहता, **यत्**=चूँकि **सलक्ष्मा**=समान लक्षणोंवाली कन्या, सन्तानोत्पत्ति के लिए

विषुरूपा=बहुत ही विषम रूपवाली होती है। सन्तानोत्पत्ति के लिए सलक्ष्मत्व हानिकर है। ऐसे सम्बन्धों में सन्तान विरूप व अल्पजीवी उत्पन्न होती है। २. **महस्पुत्रासः**=तेजस्विता के द्वारा अपने को पवित्र व रक्षित करनेवाले (पुनाति त्रायते) **असुरस्य वीराः**=उस प्राणशक्ति के देनेवाले प्रभु के वीर पुत्र (असून् राति) **दिवः धर्तारः**=प्रकाश व ज्ञान का धारण करनेवाले व्यक्ति इस समीप सम्बन्ध का **उर्विया परिख्यन्**=अत्यन्त ही निषेध करते हैं। समीप सम्बन्धों में (क) सन्तान तेजस्वी नहीं होती, क्योंकि ये सम्बन्ध भोगवृत्ति को प्रधानता देने पर ही होते हैं। (ख) हम उस प्रभु के पुत्र न रहकर प्रकृति के पुत्र बन जाते हैं और सन्तानक्षीण प्राणशक्तिवाले होते हैं। (ग) इन सम्बन्धों के होने पर ज्ञान भी क्षीण हो जाता है।

भावार्थ—समीप-सम्बन्ध विकृत सन्तानों को जन्म देते हैं। इनके कारण सन्तान निस्तेज, विलासमय व क्षीण ज्ञानवाले होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सन्तान के लिए वीर्यदान की अनिन्द्यता

उ॒शन्ति॑ घा॒ ते अ॒मृता॑स ए॒तदेक॑स्य चि॒त्त्य॒जसं॒ मर्त्य॑स्य॥

नि ते॒ मनो॒ मन॑सि धाय्य॒स्मे जन्यु॑ः पति॑स्त॒न्व॒मा वि॑विश्याः॥ ३॥

१. यमी कहती है कि **ते**=वे **अमृतासः**=भोगों के पीछे न मरनेवाले (अमृत) पुरुष भी **एतत्**=इस पति-पत्नी सम्बन्ध को **घा उशन्ति**=चाहते ही हैं। प्रभु के अमृत मानसपुत्र इस सम्बन्ध द्वारा ही तो लोक में इन प्रजाओं को जन्म देते हैं। वे तो इस सम्बन्ध को **चित्**=निश्चय से **एकस्य मर्त्यस्यः**=एक मनुष्य का **त्यजसम्**=त्याग समझते हैं। सन्तानोत्पत्ति के लिए यह वीर्य का दान तो सचमुच एक महान् त्याग है। २. इसलिए हे यम! **ते मनः**=तेरा मन **अस्मे मनसि धायि**=हमारे मन में निहित हो, अर्थात् तू मेरी कामना करनेवाला हो। **जन्युः पतिः**=सन्तान को जन्म देनेवाला पति बनकर **तन्वं आविविश्याः**=मेरे शरीर में प्रवेश कर। '**तद्धि जायाया जायात्वं यदस्यां जायते पुनः**' यही तो जाया का जायात्व है कि पुरुष पुनः उसमें जन्म लेता है। एवं पुत्र के रूप में उत्पन्न होकर वह पुरुष अमर बना रहता है 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्'।

भावार्थ—प्रभु के मानसपुत्र भी परस्पर पति-पत्नी भाव को चाहते ही हैं। यह तो एक महान् त्याग है। सन्तान को जन्म देने के लिए यह सम्बन्ध अनिन्द्य है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उत्कृष्ट बन्धुत्व

न यत्पुरा च॑कृ॒मा कद्ध॑ नू॒नमृ॒तं वद॑न्तो॒ अनृ॑तं रपेम।

ग॒न्ध॒र्वो अ॒प्स्वप्या॑ च॒ योषा॒ सा नौ॒ नाभि॑ः पर॒मं जा॒मि तन्नौ॑॥ ४॥

१. यम उत्तर देता हुआ कहता है कि **यत्**=जिस बात को **पुरा**=इससे पहली सृष्टि में **कत् ह न चकृमा**=कभी भी नहीं किया है, **नूनम्**=निश्चय से **ऋतं वदन्तः**=सत्यों को ही अपने जीवन से कहते हुए हम **अनृतं रपेम**=अनृत को परे भगा दें। जो सत्य नहीं है, उसे अपने जीवन में क्यों लाएँ। यह ठीक नहीं है। २. सृष्टि के प्रारम्भ में पुरुष **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला है तथा **अप्सु**=कर्मों में निवासवाला है **च**=और **योषा**=स्त्री भी **अप्या**=कर्मों में उत्तमता से लगी रहनेवाली है। वस्तुतः इसीलिए तो वह **योषा**=गुणों को अपने से संपृच्य करनेवाली तथा दोषों को अपने से दूर करनेवाली है। **सः**=वह ज्ञान का धारण व कर्मशीलता ही हम सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होनेवाले स्त्री-पुरुषों का **नाभिः**=बन्धन है—हमें परस्पर बाँधनेवाली बात

है। **तत्**=वही **नौ**=हम दोनों का भी **परमं जामि**=सर्वोत्कृष्ट बन्धुत्व है 'पति पत्नी' बनने से ही तो बन्धुत्व नहीं होता?

भावार्थ—पिछली सृष्टि में भी भाई-बहिन कभी पति-पत्नी के समीप सम्बन्ध में सम्बद्ध नहीं हुए। सदा ऋत का आचरण करते हुए हमें अनृत को अपनाना शोभा नहीं देता। 'ज्ञानधारण व क्रियामय जीवन' ही पुरुष-स्त्री का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध है। वही भाई-बहिन का परम बन्धुत्व है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'सम्बन्ध निर्माता' प्रभु

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः॥ ५॥

१. यमी पुनः यम की परीक्षा लेती हुई कहती है कि **जनिता**=हम सबको जन्म देनेवाले उस प्रभु ने **गर्भे नु**=गर्भ में ही, साथ-साथ जन्म देने से **नौ**=हम दोनों को **दम्पती**=पति पत्नी **कः**=बनाया है। वे प्रभु **देवः**=पूर्ण ज्ञानमय हैं, **त्वष्टा**=वे ही सब सम्बन्धों का निर्माण करनेवाले हैं, **सविता**=सब प्रेरणाओं को देनेवाले हैं **विश्वरूपः**=और उन प्रेरणाओं को देकर इस संसार को रूप प्राप्त करानेवाले हैं। २. **अस्य व्रतानि**=इस सविता देव के व्रतों को **नाकिः प्रमिनन्ति**=कोई भी हिंसित नहीं करते। प्रभु की व्यवस्था को कोई तोड़नेवाला नहीं है। **नौ**=हम दोनों के **अस्य**=इस सम्बन्ध को **पृथिवी उत द्यौः**=पृथिवी और द्युलोक, अर्थात् सारा संसार **वेद**=जानता है। 'हमारा यह सम्बन्ध कोई छिपा हुआ व पापमय हो' ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—हमारे इस पति-पत्नीरूप सम्बन्ध को करनेवाले तो हमारे पिता प्रभु ही हैं। यह स्पष्ट है—'कोई छिपी हुई व पापमय बात हो' ऐसा नहीं है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

ज्ञानोज्ज्वल जीवन

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्॥ ६॥

१. यम कहता है कि **कः**=वे आनन्दमय प्रभु **अद्य**=आज इस मानवदेह में **ऋतस्य धुरि**=यज्ञ के निर्वाह में—यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिए **गाः युङ्क्ते**=ज्ञान की वाणियों को हमारे साथ जोड़ते हैं। ये ज्ञान की वाणियाँ **शिमीवतः**=कर्मवाली हैं—इनमें कर्मों का उपदेश दिया गया है। **भामिनः**=सत्यज्ञान के द्वारा उत्तम कर्म कराती हुई ये वाणियाँ हमें तेजस्वी बनाती हैं। **दुर्हृणायून्**=यह (हृणीयतिर्हातिकर्म हातुमशक्यम्) छोड़ने योग्य नहीं है। स्वाध्याय नित्यकर्त्तव्य होने से इनका छोड़ना सम्भव नहीं। **आसन् इषून्**=मुख से उच्चारित हुई ये वाणियाँ शत्रुओं का संहार करनेवाली हैं—इषु तुल्य हैं। **हृत्स्वसः**=(अस् कान्तौ) हृदयों में चमकनेवाली हैं। **मयोभून्**=ये कल्याण का भावन करनेवाली हैं। २. **यः**=जो भी व्यक्ति **एषाम्**=इन ज्ञानवचनों के **भृत्याम् ऋणधत्**=भाव को समृद्ध करता है, अर्थात् इन वचनों को अधिक-से-अधिक धारण करता है, **सः जीवात्**=वह ही वस्तुतः जीता है—सुन्दर जीवनवाला होता है। ज्ञानोज्ज्वल जीवन ही जीवन है।

भावार्थ—हमें प्रभुप्रदत्त ज्ञान की वाणियों को धारण करके उज्ज्वल जीवनवाला बनने का प्रयत्न करना चाहिए। भोग-विलास की बातों में समय को नष्ट न करना चाहिए।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पहले दिन की बात

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥ ७ ॥

१. **अस्य प्रथमस्य अह्नः**=इस पहले दिन की बात को **कः वेद**=परमात्मा ही जानता है। **ईम्**=निश्चय से **कः ददर्श**=उस दिन की बात को प्रभु ही देखते हैं और **इह**=इस सृष्टि के प्रारम्भ समय में **कः**=वह अनिर्वचनीय महिमावाले प्रभु ही **प्रवोचत्**=ज्ञान का प्रवचन करते हैं। उस पहले दिन की बात को मनुष्य ठीक-ठीक नहीं जान पाता और अगले सृष्टिक्रम में तो निश्चय से पति-पत्नी सम्बन्ध दूर-दूर ही होता है। २. **मित्रस्य**=सबके साथ स्नेह करनेवाले **वरुणस्य**=द्वेषादि निवारण करनेवाले उस प्रभु का **धाम**=तेज **बृहत्**=बहुत अधिक है। उसका तेज हमारी वृद्धि करनेवाला है। **उ**=और वे **कत्**=(तनोति) सुख का विस्तार करनेवाले प्रभु ही **ब्रवः**=सृष्टि के प्रारम्भ में हमें उपदेश देते हैं—वे हमारे पिता ही नहीं, गुरु भी हैं। हम सब उनके शिष्य हैं। वे प्रभु **नॄन्**=सब उन्नतिशील मनुष्यों को **वीच्या**=हृदयतरंगों से, अर्थात् भावनाओं से **आहनः**=आहत करते हैं (हन् गतौ)—हमारे जीवनों को गतिमय बनाते हैं। भावनाओं के अभाव में जीवन शक्तिशून्य हो जाता है। 'काम' (भाव) से सब वेदाधिगाम व वैदिक कर्मयोग सम्पन्न होता है। इस काम को अपवित्र न होने देने के लिए ज्ञान है। एवं, ज्ञान व काम (भाव) मिलकर हमारे जीवनों को व सम्बन्धों को सुन्दर बनाते हैं।

भावार्थ—पहले दिन की बात को प्रभु ही जानते हैं। प्रभु का तेज अनन्त है। उनका मौलिक उपदेश यही है कि हम प्रेम व निर्द्वेषता से चलें। वे प्रभु ही हमें ज्ञान देते हैं और वे ही हमारे हृदयों को भावान्वित करते हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः ॥

समाने योनौ सह शेय्याय

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ८ ॥

१. **यमस्य**=तुझ यम का **कामः**=प्रेम **यम्यं मा**=मुझ यमी के प्रति **आगन्**=प्राप्त हो। **समाने योनौ**=समान ही घर में **सहशेय्याय**=साथ-साथ निवास के लिए हम हों। २. हे यम! तू मेरी कामना कर और मैं **जाया इव**=पत्नी की भाँति **पत्ये**=पति के रूप में तेरे लिए **तन्वं रिरिच्याम्**=अपने शरीर को (रिरिच्यां प्रकाशयेयम्) प्रकाशित करूँ, अर्थात् हम परस्पर पति-पत्नी के रूप में हों। **चित्**=और निश्चय से **विवृहेव**=हम 'धर्म, अर्थ, काम' रूप पुरुषार्थों के लिए उद्योग करें। **रथ्या चक्रा इव**=जैसे रथ के दो पहिये रथ को उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचानेवाले होते हैं, उसीप्रकार हम पति-पत्नी इस जीवन-रथ के दो पहियों के समान हों और जीवन को सफल बनाएँ।

भावार्थ—यमी कहती है कि हे यम! क्या तुझे मेरे प्रति प्रेम नहीं! हमारा आपस में सम्बन्ध स्वाभाविक है। हम पति-पत्नी बनकर धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों को सिद्ध करते हुए जीवन को सफल करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

देवस्पश हमें देख रहे हैं

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।

अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा॥ ९॥

१. यम उत्तर देता हुआ कहता है कि 'यह समझना कि हमारा यह सम्बन्ध छिपा रहेगा' ठीक नहीं है। मनुष्यों को न भी पता लगे, तो भी सूर्य आदि देव तो हमारे इन कर्मों को देखते ही हैं। **ये एते**=जो ये **देवानां स्पशः**=देवों के गुप्तचर, मनुष्यों के आचरण को देखते हुए **इह चरन्ति**=यहाँ विचरण करते हैं, **न तिष्ठन्ति**=न तो खड़े होते हैं, **न निमिषान्ति**=न पलक मारते हैं, अर्थात् ये देव अन्तर्हित हुए-हुए हमारे सब कार्यों को जान रहे हैं। २. इसलिए हे **आहनः**=गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाली मेरी बहिन! **मद् अन्येन**=मुझसे भिन्न व्यक्ति के साथ **तूयम्**=शीघ्र **याहि**=तू इस जीवनयात्रा में गतिशील हो। **तेन**=उसी के साथ **विवृह**=तू धर्म, अर्थ व कामरूप पुरुषार्थ के लिए उद्योग कर। उसी के साथ मिलने पर तुम दोनों **रथ्या चक्रा इव**=रथ के पहियों के समान जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़नेवाले होओ।

भावार्थ—देव हमारे प्रत्येक कर्म को देख रहे हैं, अतः हम समीप सम्बन्धों को दूर रखकर, दूर ही सम्बन्ध बनाकर धर्मार्थ, कामरूप पुरुषार्थ को सिद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

सुदूर सम्बन्ध

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।

दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि॥ १०॥

१. यम चाहता है कि उसकी बहिन (मद् अन्येन) उससे भिन्न जिस भी पुरुष को पति रूप में प्राप्त करे **रात्रीभिः अहभिः**=रात-दिन **अस्मा**=अपने इस पति के लिए **दशास्येत्**=आराम देने की इच्छा करें। उसकी बहिन व बहिन के पति पर **सूर्यस्य चक्षुः**=सूर्य की आँख **मुहुः**=बारम्बार **उन्मिमीयात्**=खुले, अर्थात् इनका जीवन दीर्घ हो। २. जैसे **दिवा पृथिव्या**=द्युलोक पृथिवीलोक के साथ **मिथुना सबन्धू**=परस्पर साथ-साथ समान बन्धुत्ववाले होते हैं, उसीप्रकार ये भी बन्धुत्ववाले हों। द्युलोक व पृथिवीलोक कितने दूर-दूर हैं। इसीप्रकार यम चाहता है कि उसकी बहिन व उसके भावी पति भी सुदूर स्थितिवाले हों। **यमीः**=संयत जीवनवाली मेरी बहिन **यमस्य**=मुझ यम के **अजामि**=(अभ्रातरम्) असम्बद्ध व्यक्ति को, अर्थात् किसी सुदूर गोत्रवाले को ही **विवृहात्**=बढ़ानेवाली हो—उसी के वंश की वृद्धि करनेवाली बने।

भावार्थ—पत्नी दिन-रात पति के सुख का ध्यान करे। परस्पर मेल व प्रेम से ये पति-पत्नी दीर्घजीवी हों। द्युलोक व पृथिवीलोक जिस प्रकार परस्पर दूरी पर हैं, इसीप्रकार दूरस्थ पुरुष ही पति-पत्नी सम्बन्धवाले बनें, भिन्न गोत्रों में ही सम्बन्ध हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

उत्कृष्ट युग

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।

उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥ ११॥

१. यम चाहता है कि **घा**=निश्चय से **ता**=वे **उत्तरा युगानि**=उत्कृष्ट युग—समय **आगच्छान्**=आएँ **यत्र**=जहाँ **जामयः**=बहिनें **अजामि**=(अभ्रातरम्) न भाई को ही, न रिश्तेदार को ही, अर्थात्

सुदूर गोत्रवाले को ही **कृणवन्**=पतिरूपेण स्वीकार करें। वस्तुतः सुदूर सम्बन्धों से ही उत्कृष्ट सन्तानों का निर्माण होता है। तभी एक समाज उत्कृष्ट युग में पहुँचता है। २. हे यमि! तू **वृषभाय**=एक शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुष के लिए **बाहुम्**=अपनी भुजा को **उपबर्बृहि**=उपबर्हण व तकिया बनानेवाली हो, अर्थात् उस श्रेष्ठ पुरुष के साथ तेरा सम्बन्ध प्रेमपूर्ण हो। हे **सुभगे**=उत्तम भाग्यवाली! **मत् अन्यम्**=मुझसे भिन्न विलक्षण पुरुष को ही **पतिम्**=पति के रूप में **इच्छस्व**=चाहनेवाली हो।

भावार्थ—सुदूर सम्बन्ध में ही सौभाग्य व सौन्दर्य है। यह सुदूर सम्बन्ध ही एक राष्ट्र में उत्कृष्ट युग को लाने का कारण बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

संरक्षण व सुस्थिति

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वे३तद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि॥ १२॥

१. यमी परीक्षा लेती हुई कहती है कि **यत्**=यदि **अनाथं भवाति**=बहिन अनाथ—रक्षक से रहित होती है तो **किं भ्राता असत्**=वह भाई कुत्सित होता है। भाई को तो बहिन का सदा रक्षक होना चाहिए, **उ**=और **यत्**=यदि भाई को **निर्ऋतिः**=दुर्गति व कष्ट **निगच्छात्**=प्राप्त होता है तो वह **किं स्वसा**=कुत्सित ही तो बहिन है, अर्थात् हे यम! तू सदा मेरा रक्षक बन और मैं तुझे सदा सुख पहुँचानेवाली बनूँ। ऐसा ही हमारा सम्बन्ध बना रहे। २. **काम-मूता (मव बन्धने)**=प्रेमभाव से बद्ध हुई-हुई **एतत्**=यह बात **बहुरपामि**=फिर-फिर मैं कहती हूँ। तू **मे तन्वा**=मेरे शरीर से **तन्वम्**=अपने शरीर को **संपिपृग्धि**=सम्यक् संपृक्त करनेवाला हो। इसप्रकार हम दो होते हुए भी एक हो जाएँ।

भावार्थ—पति पत्नी का रक्षण करता है। पत्नी पति को सुस्थिति प्राप्त कराती है। परस्पर प्रेमभाव से युक्त होकर वे एक-दूसरे की न्यूनताओं को दूर करनेवाले होते हैं। पति पत्नी वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सौभाग्य सम्पन्न गृह

न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्याम्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्॥ १३॥

१. हे **यमि**=संयत जीवनवाली बहिन! **अत्र**=यहाँ इस संसार में **अहम्**=मैं **ते नाथं न अस्मि**=तेरा नाथ नहीं हूँ—तुझे पत्नीरूप में चाहनेवाला (नाथ याच्ञायाम्) नहीं हूँ। **ते तनूम्**=तेरे शरीर को **तन्वः**=अपने शरीर से **न संपपृच्याम्**=सम्पृक्त नहीं करता हूँ। २. तू **मत् अन्येन**=मुझसे भिन्न (विलक्षण) पुरुष के साथ **प्रमुदः कल्पयस्व**=प्रकृष्ट आनन्दों को साधनेवाली हो, अर्थात् असगोत्र पुरुष को पतिरूप में प्राप्त करके आनन्दयुक्त जीवनवाली हो। हे **सुभगे**=उत्तम भाग्यवाली! **ते भ्राता**=तेरा भाई **एतत्**=इस पतिरूप सम्बन्ध को **न वष्टि**=नहीं चाहता है।

भावार्थ—हम सुदूर सम्बन्धों को स्थापित करते हुए, घरों को सुख-समृद्धि-सम्पन्न बनाएँ। फूलते-फलते हमारे घर आमोद-प्रमोद से भरपूर हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

महान् असंयम्

न वा उ ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय॥ १४॥

१. **वा उ**=निश्चय से **ते तनूम्**=तेरे शरीर का **तन्वा**=अपने शरीर से **न संपपृच्याम्**=नहीं सम्पृक्त करता हूँ। **यः**=जो **स्वसारम्**=बहिन को **निगच्छात्**=पतिभाव से प्राप्त होता है—सम्भोग के लिए प्राप्त होता है, उसे **पापं आहुः**=पापी कहते हैं। २. **एतत्**=यह **मे**=मेरे **मनसः**=मन का तथा **हृदः**=हृदय का **असंयत्**=असंयम ही होगा, **यत्**=यदि **भ्राता**=भाई होता हुआ मैं **स्वसुः**=बहिन के **शयने**=बिछौने पर **शयीय**=सोऊँ।

भावार्थ—यह बड़ा भारी पाप है तथा असंयम की बात है कि भाई बहिन को पतिभाव से प्राप्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**॥

कक्ष्या जैसे युक्त को, बेल जैसे वृक्ष को

ब॒तो ब॑तासि यम॒ नैव ते॒ मनो॒ हृद॑यं चाविदाम।
अ॒न्या कि॒ल त्वां क॒क्ष्ये॑व यु॒क्तं परि॑ ष्वजाते॒ लिबु॑जेव वृ॒क्षम्॥ १५॥

१. सम्पूर्ण कड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण होते हुए अपने भाई को देखकर हृदय में प्रसन्न होती हुई यमी कहती है कि **बतः बत असि** (Joy, Wonder)=अरे भाई! तू तो मेरे हृदय को आनन्दित व आश्चर्यित करनेवाला है। मैंने अभी तक **ते मनः**=तेरे मन को **हृदयं च**=व हृदय की गहराई को **न एव अविदाम**=नहीं ही जाना था। आज तेरे मानसभावों व हृदय की पवित्रता को जानकर बड़ी प्रसन्नता, खुशी हुई है। २. यह ठीक ही है कि **अन्या किल**=निश्चय से मुझसे भिन्न (विलक्षण) अर्थात् सुदूर गोत्रवाली ही कोई कन्या **त्वां परिष्वजाते**=तेरा आलिंगन करे। उसीप्रकार आलिंगन करे **इव**=जैसे **लिबुजः**=बेल वृक्ष को आलिंगित करती है, अथवा **इव**=जिस प्रकार **कक्ष्या**=कमर में बाँधी जानेवाली रज्जु **युक्तम्**=अपने से सम्बद्ध घोड़े को आलिंगित करती है। तेरा अपनी पत्नी से सम्बन्ध तुझे शक्तिशाली बनानेवाला हो, उसीप्रकार जैसे कक्ष्या घोड़े को कसी हुई कमरवाला बनाती है और तू पत्नी का उसीप्रकार सहारा हो जैसे कि वृक्ष बेल का।

भावार्थ—सुदूर सम्बन्ध होने पर पत्नी पति की शक्ति व उत्साह-वर्धन का कारण बने और पति पत्नी का आश्रय व वर्धक हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'सुभद्रां सवित्'

अ॒न्यमू॒ षु य॑म्य॒न्य उ॒ त्वां परि॑ ष्वजाते॒ लिबु॑जेव वृ॒क्षम्।
तस्य॑ वा॒ त्वं मन॑ इ॒च्छा स वा॒ तवाधा॑ कृणुष्व सं॒विदं॒ सुभ॑द्राम्॥ १६॥

१. यम भी बहिन के लिए मंगलकामना करता हुआ कहता है कि हे **यमि**=संयत जीवनवाली! **त्वम्**=तू **उ**=निश्चय से **अन्यम्**=अपने से विलक्षण रुधिरादि धातुओंवाले पुरुष को ही **सुपरिष्वजातै**=सम्यक् आलिंगन करे। उसीप्रकार **इव**=जैसेकि **लिबुजा**=बेल **वृक्षं**=वृक्ष को आलिंगित करती है। २. **त्वम्**=तू **तस्य मनः**=उसके मन को **वा**=निश्चय से **इच्छा**=चाहनेवाली बन। **वा स तव**=और वह भी तेरे मन को चाहनेवाला हो। तुम्हारा परस्पर प्रेम हो, तुम एक-दूसरे के भावों को आदृत करनेवाले होओ, तुम्हारा परस्पर ऐकमत्य हो। **अधा**=अब **सुभद्रां**

संविदम्= कल्याणी बुद्धि को (Understanding) परस्पर ऐक्यमतिता को (agreement) **कृणुष्व**=तू करनेवाली हो। तुम्हारे घर में शुभविचार व सामञ्जस्य बना रहे।

भावार्थ—पति पत्नी का परस्पर प्रेम हो। घर में सदा 'सुभद्रां संवित्' बनी रहे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

आपः, वाताः, ओषधयः

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।

आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन्भुवन आर्पितानि॥ १७॥

१. **कवयः**=ज्ञानीपुरुष, क्रान्तदर्शी पुरुष—तत्त्व तक पहुँचनेवाले पुरुष उस **पुरुरूपम्**=अनन्त रूपों को उत्पन्न करनेवाले (पुरूणि रूपाणि यस्मात्) **दर्शतम्**=दर्शनीय **विश्वचक्षणम्**=सर्वद्रष्टा—सभी का ध्यान (पालन) करनेवाले प्रभु से **त्रीणि छन्दांसि**=तीन (छन्दांसि छादनात्) रक्षणात्मक वस्तुओं को **वियेतिरे**=विशेषरूप से चाहते हैं (Long for)। वे वस्तुएँ हैं—**आपः**=जल, **वाताः**=वायु तथा **ओषधयः**=ओषधियाँ। पीने के लिए जल, श्वास लेने के लिए वायु तथा भोजन के लिए ओषधियाँ (वनस्पतियाँ)। २. **तानि**=वे तीनों वस्तुएँ **एकस्मिन् भुवने**=एक ही भुवन में **आर्पितानि**=प्रभु द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में स्थापित की गई हैं। किसी भुवन के व्यक्ति को इनमें से किसी वस्तु के लिए लोकान्तर में नहीं जाना पड़ता। अपने ही भुवन में उसे ये सब सुलभ होती हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्रभु से 'जल, वायु व ओषधियाँ' इन तीन वस्तुओं को ही मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चाहते हैं। वस्त्र भी रुई से ही प्राप्त हो जाते हैं। प्रभु ने इन तीनों वस्तुओं को प्रत्येक भुवन में स्थापित किया है। इन्हीं से लोकनिर्वाह होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

द्युलोक-दोहन

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः।

विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ ऋतून्॥ १८॥

१. **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला वह प्रभु **यह्वः**=महान् है, **अदाभ्यः**=अहिंसित है—अपने कार्यों में किसी से पराभूत नहीं होता। वे प्रभु **वृष्णे**=औरों के सुख के लिए धन का वर्षण करनेवाले यज्ञशील पुरुष के लिए **दिवः दोहसा**=द्युलोक के दोहन से **अदितेः**=स्वास्थ्य के हेतु से **पयांसि दुदुहे**=जलों का दोहन व पूरण करते हैं। **अदितिः**=अखण्डन—स्वास्थ्य का नष्ट न होना। इस अदिति के हेतु से प्रभु वृष्टि-जल प्राप्त कराते हैं। ये वृष्टि-जल वस्तुतः अमृत हैं। २. **सः वरुणः**=वह हमारे कष्टों का निवारण करनेवाले प्रभु **यथा**=क्योंकि **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों से (धी=ज्ञान, कर्म) **विश्वं वेद**=सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। **सः यज्ञियाः**=वह यज्ञशील पुरुष **यज्ञियान् ऋतून् यजति**=यज्ञ करने योग्य ऋतुओं को लक्ष्य करके यज्ञ करता है। ऋतुओं के अनुसार यज्ञ करने से वर्षा ठीक समय पर होती है, सब ऋतुएँ भी ठीक समय पर ठीक रूप में आती हैं, अतः वे हमारे स्वास्थ्य के लिए साधक बनती हैं।

भावार्थ—हम ऋतुओं के अनुसार यज्ञ करनेवाले बनें। स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है। इन ज्ञानपूर्वक किये गये यज्ञों से प्रभु हमें सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराएँगे और वर्षा आदि ठीक समय पर होगी। हम पृथिवीलोक का दोहन करके यज्ञ करें व प्रभु हमारे लिए द्युलोक का दोहन करेंगे।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

स्तवन+वेदज्ञान+यज्ञ (रपद्+गन्धर्वीः+अप्या)

रपद्गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति॥ १९॥

१. एक घर में गृहिणी **रपत्**=प्रातः उठकर प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करती है। इससे बच्चों में भी भक्तिभाव का उदय होता है। यह गृहिणी वेदवाणी का धारण करती है। स्वाध्याय को जीवन का नियमित अंग बनाती है। यह स्वाध्याय ही तो जीवन को पवित्र बनाता है। **च**=और यह **अप्या**=(अप्सु साध्वी) कर्मों में उत्तम होती है। वेदज्ञान के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त रहती है। इस कर्मशीलता के कारण ही **योषणा**=यह अवगुणों से अपने को पृथक् करनेवाली तथा गुणों से अपने को संपृक्त करनेवाली होती है। २. गृहपति भी प्रार्थना करता है कि **नदस्य**=स्तवन करनेवालों में मेरे स्तवन करने पर **नः**=हमारे **मनः**=मनों को **अदितिः**=अदीना देवमाता—अथवा अखण्डित (अ-दिति) यज्ञक्रिया, अथवा अविनाशी प्रभु **परिपातु**=सुरक्षित करें। प्रभु-स्तवन में लगा हुआ मेरा मन वासनाओं से आक्रान्त होगा ही कैसे? **नः**=हम सब (इस घर के व्यक्तियों) को **अदितिः**=वे अविनाशी प्रभु **इष्टस्य मध्ये निदधातु**=यज्ञों के बीच में स्थापित करें—प्रभु कृपा से हमारा जीवन यज्ञमय हो। **नः**=हमारा **भ्राता**=भरण करनेवाला **नः**=हममें सबसे बड़ा, **प्रथमः**=प्रथम स्थान में स्थित व्यक्ति **विवोचति**=हमारे लिए विविध क्रियाओं का उपदेश करता है। उस बड़े के कहने के अनुसार ही घर में हम सब क्रियाओं को करते हैं।

भावार्थ—आदर्श घर वही है जिसमें पति-पत्नी 'प्रभु का स्तवन करनेवाले, स्वाध्यायशील व पवित्र वृत्तिवाले' हैं। प्रभु कृपा से उनका मन यज्ञप्रवण बना रहता है। उस घर में यह नियम होता है कि बड़े ने कहा और छोटे ने किया। यही देवपूजा है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

'भद्रा' उषा

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्व र्वती।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन्॥ २०॥

१. **सा उ चित् नु उषा**=और अब वह उषा निश्चय से **मनवे**=समझदार पुरुष के लिए **उवास**=उदित होती है—अन्धकार को दूर करती है, जो उषा **भद्रा**=कल्याण व सुख देनेवाली है, **क्षुमती**=(क्षु शब्दे) स्तुति के शब्दोंवाली है, जिस उषा में प्रबुद्ध होकर हम प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हैं, **यशस्वती**=जो उषा हमारे लिए कीर्तिवाली है। हम उषा में ऐसे ही कर्मों को करें जो हमारी कीर्ति का कारण बनें—'स्तवन-स्वाध्याय व यज्ञों' को ही करनेवाले हों। **स्वर्वती**=यह उषा प्रकाशवाली होती है। इस समय स्वाध्याय के द्वारा हम अपने अन्दर प्रकाश को बढ़ानेवाले हों। २. ऐसा उषाकाल हमारे लिए तभी उदित होता है **यत्**=जब हम **ईम्**=निश्चय से **उशन्तम्**=हमारे हित की कामनावाले **उशताम्**=उन्नति की कामनावाले पुरुषों के **अनु क्रतुम्**=संकल्प व पुरुषार्थ के अनुसार **अग्निम्**=अग्रगति के साधक, **होतारम्**=उन्नति के लिए आवश्यक सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाले उस प्रभु को **विदथाय**=ज्ञान-प्राप्ति के लिए **जीजनन्**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं।

भावार्थ—जब हम अपने हृदयों में उस प्रभु के प्रकाश को देखने का दृढ़ संकल्प तथा

पुरुषार्थ करते हैं तभी हम प्रभु को देख पाते हैं। उसी समय हमारे लिए उषाकाल 'भद्र-क्षुमान्-यशस्वान् व स्वर्वान्' होता है।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

आर्याः विशः

अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषिरः श्येनो अध्वरे।
यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत॥ २१॥

१. **अध**=अब, गतमन्त्र के अनुसार हृदय में प्रभु का प्रकाश होने पर **श्येनः (श्यैङ् गतौ)** यह गतिशील **इषिरः**=प्रभु-प्रेरणा प्राप्त करनेवाला **विः**=जीवरूप पक्षी **त्यम्**=उस **द्रप्सम्**=हर्ष के कारणभूत सोम को **अध्वरे आभरत्**=अपने हिंसाशून्य जीवन-यज्ञ में पोषित करता है। जो सोम **विभ्वम्**=शरीर में शक्ति प्राप्त करानेवाला है तथा **विचक्षणम्**=विशिष्ट प्रकाश प्राप्त करानेवाला है। यह सोम मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर प्रकाश भरनेवाला है। सोम के रक्षण के लिए गतिशीलता आवश्यक है (श्येनः) तथा ऊँची उड़ान का लेना—ऊँचे लक्ष्य का रखना आवश्यक है (विः)। इस सोम के रक्षण से शक्ति व ज्ञान की वृद्धि होती है (विभ्वं, विचक्षणम्) २. सोमरक्षण के बाद **यत्**=जब **ई**=निश्चय से **आर्याः विशः**=श्रेष्ठ प्रजाएँ **दस्मम्**=सब दुःखों व पापों को नष्ट करनेवाले—दर्शनीय, **अग्निम्**=अग्रणी—उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले, **होतारम्**=सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभु को **वृणते**=वरती हैं। **अध**=इसके बाद ही **धीः**=ज्ञानपूर्वक कर्म **अजायत**=उत्पन्न होता है। आर्यपुरुष ज्ञानपूर्वक कर्मों को करते हैं। प्रभु का वरण करने से उनके कर्मों में पवित्रता बनी रहती है।

भावार्थ—गतिशील व ऊँचे लक्ष्यवाले बनकर हम सोम का रक्षण करें। सोमरक्षण के द्वारा शक्ति व प्रकाश प्राप्त करें। आर्यलोग प्रभु का ही वरण करते हैं, अतः उनके कर्म पवित्र होते हैं।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

शाकाहारी-लोकहितकारी

सदासि रण्वो यवसेव पुष्यते होत्राभिरग्ने मनुषः स्वध्वरः।
विप्रस्य वा यच्छशमान उक्थ्यो३ वाजं ससवाँ उपयासि भूरिभिः॥ २२॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **सदा रण्वः असि**=सदा रमणीय हो। आप उसी प्रकार सुन्दर हो, **इव**=जैसेकि **पुष्यते**=पुष्ट होनेवाले के लिए **यवसा**=यव आदि तृणधान्य सुन्दर होते हैं, जो किसी प्रकार की हानि न करके मनुष्य को नीरोग-ही-नीरोग बनाते है। इसी प्रकार प्रभु का सान्निध्य मनुष्य की अध्यात्म उन्नति के लिए अत्यन्त हितकर है। **होत्राभिः**=दानपूर्वक अदन की क्रियाओं से **मनुषः**=विचारशील पुरुष **स्वध्वरः**=उत्तम हिंसाशून्य कर्मोंवाला होता है। २. **यत्**=जब **शशमानः**=प्रभु का स्तवन करता हुआ अथवा द्रुतगतिवाला, अत्यन्त क्रियाशील व्यक्ति **विप्रस्य**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले व्यक्ति के **उक्थः वाजम्**=प्रशंसनीय बल को प्राप्त होता है। **वा**=निश्चय से हे विप्र! तू **ससवान्**=(सस्यवान्) वानस्पतिक भोजनों का सेवन करनेवाला बनकर **भूरिभिः**=धारण व पोषण की क्रियाओं से—लोकसंग्रहात्मक कार्यों से **उपयासि**=प्रभु के समीप प्राप्त होता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—(क) वानस्पतिक भोजन को ही अपनाना तथा (ख) अधिक-से-अधिक प्राणियों के हित में प्रवृत्त होना।

भावार्थ—मनुष्य दानपूर्वक अदन करता हुआ जीवन को यज्ञमय बनाता है। प्रभु-स्तवन व क्रियाशीलता को अपनाकर प्रशस्त बल प्राप्त करता है। शाकाहारी व लोकहितकारी बनकर प्रभु को पाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

जारः-असुरः

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती॥ २३॥

१. **पितरा**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **उदीरय**=उत्कृष्ट गति प्राप्त करा। मस्तिष्क व शरीर दोनों को उन्नत कर। द्युलोक मस्तिष्क है और पृथिवीलोक शरीर 'द्यौ पिता, पृथिवी माता' (मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्।) इसके लिए तू प्रभु का स्तोता बन, क्योंकि **जारः**=प्रभु का स्तोता **भगम्**=भग को—ऐश्वर्य को **आ इयक्षति**=सब प्रकार से अपने साथ संगत करता है। उस भगवान् के सम्पर्क में आकर यह उपासक भी भगवाला बनता है। 'समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्य' रूप भग को यह प्राप्त करता है। **हर्यतः**=उस प्रभु की ओर जानेवाला और प्रभु-प्राप्ति की कामनावाला (हर्य गतिकान्तयोः) यह **हृत्तः**=हृदय से—हृदयस्थ उस प्रभु से **इष्यति**=प्रेरणा प्राप्त करता है। २. **वह्निः**=उस प्रेरणा को धारण करनेवाला यह व्यक्ति **विवक्ति**=उस प्रेरणा को अपने जीवन से कहता है, अर्थात् उस प्रेरणा के अनुसार कार्य करता है। इस **स्वपस्यते (सु अपस्)**=उत्तम कर्मों को अपनाने की इच्छा करते हुए और इस प्रकार **तविष्यते**=दिव्यगुणों की वृद्धि की इच्छावाले पुरुष के लिए (तु वृद्धौ) **मखः**=यह जीवन यज्ञ बन जाता है। **असुरः (अस् क्षेपणे)**=सब अशुभों को अपने से परे फेंकनेवाला यह **मती**=बुद्धि से **वेपते**=दुरितों को कम्पित करके दूर कर देता है। इसका जीवन पूर्ण पवित्र हो जाता है।

भावार्थ—हम मस्तिष्क व शरीर की उन्नति करें। प्रभु-स्तवन से भगवान् के भग को प्राप्त करें। हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुनें। उसके अनुसार कार्य करें। हमारा जीवन यज्ञमय हो जाए। हम बुद्धिपूर्वक कार्यों को करते हुए सब दुरितों को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्युमान्+अमवान्

यस्ते अग्ने सुमतिं मर्तो अख्यत्सहसः सूनो अति स प्र शृण्वे।
इषं दधानो वहमानो अश्वैरा स द्युमाँ अमवान्भूषति द्यून्॥ २४॥

१. हे **अग्ने**=(अगि गतौ, गतिः ज्ञानम्) सर्वज्ञ व **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यः मर्तः**=जो मनुष्य **ते**=आपकी **सुमतिम्**=कल्याणी बुद्धि को **अख्यत्**=(कथयति) प्रतिपादित करता है—आपके किये हुए वेदज्ञान को प्रसारित करना है, **सः**=वह **अतिप्रशृण्वे**=सब लोकों में ख्याति प्राप्त करता है। वह अत्यन्त यशस्वी जीवनवाला होता है। २. **इषं दधानः**=प्रभु की प्रेरणा को धारण करता हुआ, **अश्वैः**=इन्द्रियाश्वों से **वहमानः**=उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाता हुआ **सः**=वह पुरुष **आद्युमान्**=सब ओर से प्रकाशमय जीवनवाला, अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञान की ज्योतिवाला तथा **अमवान्**=बलवाला होता हुआ **द्यून् भूषति**=अपने जीवन के दिनों को भूषित करता है।

भावार्थ—हम उस शक्तिपुञ्ज प्रभु की सुमति का प्रसार करते हुए कीर्तिमय जीवनवाले हों। प्रभु-प्रेरणा के अनुसार कार्यों को करते हुए 'द्युमान् व अमवान्' बनें—ज्योतिर्मय व शक्तिशाली।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-प्रेरणा

श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम्।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः॥ २५॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि—हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **सदने**=इस शरीररूप गृह में **सधस्थे**=मिलकर बैठने के स्थान इस हृदय में **नः श्रुधी**=हमारी बात को सुन। हृदयस्थ प्रभु जीव को सदा प्रेरणा देते हैं। जीव को चाहिए कि उस प्रेरणा को सुने। प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **रथं युक्ष्व**=तू इस शरीर-रथ को जोत। यह खड़ा ही न रह जाए, अर्थात् तू सदा क्रियाशील बन। **अमृतस्य द्रवित्नुम्**=यह तेरा रथ अमृत का द्रावक हो, अर्थात् तू सदा मधुर शब्दों को ही बोलनेवाला हो। तेरा सारा व्यवहार ही मधुर हो। २. **नः**=हमसे दिये गये **रोदसी**=इन द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **आवह**=सब प्रकार से धारण करनेवाला हो। तेरा शरीर स्वस्थ हो और मस्तिष्क दीप्त हो। ये **देवपुत्रे**=दिव्यगुणों के द्वारा अपने को पवित्र रखनेवाले (पु) व अपने को सुरक्षित करनेवाले (त्र) हों (देवैः पुनीतः त्रायते च)। **इह**=इस जीवन में **देवानाम्**=दिव्यगुण-सम्पन्न विद्वानों का **अपभूः**=निरादर करनेवाला **माकिः स्याः**=मत हो। सदा उनके संग में उत्तम प्रेरणा के द्वारा अपने जीवन को पवित्र करनेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें। क्रियाशील बनें। वाणी व सब व्यवहार को मधुर बनाएँ। शरीर को स्वस्थ व मस्तिष्क को दीप्त रक्खें। सदा सत्संग की रुचिवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

समिति=मेल

यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यजत्र।
रत्ना च यद्विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात्॥ २६॥

१. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **यजत्र**=(यज्ञ सङ्गति) मेल के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **एषा**=यह **समितिः**=मेल **भवाति**=होता है, अर्थात् जब हम परस्पर मिलकर चलते हैं तब यह मिलकर चलना **देवी**=(दिव् विजिगीषायाम्) हमारी सब बुराइयों को जीतने की कामनावाला होता है। यह मेल **देवषु**=देवपुरुषों में सदा निवास करता है। **यजता**=यह मेल हमें एक-दूसरे का आदर करना सिखाता है (यज् पूजायाम्)। हम परस्पर प्रेमभाववाले होते हैं २. **च**=और हे **स्वधावः**=आत्मतत्त्व का शोधन करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब आप हमें **रत्ना विभजासि**=उत्तमोत्तम रमणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं तब **नः**=हमें **अत्र**=इस मानव-जीवन में **वसुमन्तम्**=उत्तम निवास को देनेवाले **भागम्**=भजनीय धनों को **वीतात्** (आगमय)=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम परस्पर मेलवाले हों और इससे हमारा निवास सब प्रकार से उत्तम हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश॥ २७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हम अपने निवास को उत्तम बनाने के लिए प्रभु का स्मरण करें कि **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **उषसाम् अग्रम्**=उषाकालों के पूर्वभाग को **अनु अख्यत्**=क्रम से

प्रकाशित करते हैं। वही **जातवेदः**=सर्वज्ञ व सर्वव्यापक **(जातं जातं वेत्ति, जाते जाते विद्यते) प्रथमः**=सबके आदिमूल प्रभु **अहानि**=दिनों को **अनु (अख्यत्)**=प्रकट करते हैं। २. वे प्रभु ही **सूर्यं अनु**=सूर्य को प्रकाशित करते हैं, **उषसः अनु**=उषाकालों को प्रकाशित करते हैं, **रश्मीन्**=सब प्रकाशमय किरणों को **अनु (अख्यत्)**=प्रकाशित करते हैं। वे प्रभु ही **द्यावापृथिवी आविवेश**=द्यावापृथिवी में प्रविष्ट हो रहे हैं। अपने प्रवेश से ही वे इन्हें दीप्त व दृढ़ बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही उषाकालों में, दिनों में, सूर्य में व रश्मिमात्र में दीप्त हो रहे हैं, द्यावापृथिवी में प्रविष्ट होकर प्रभु ही इन्हें दीप्त व दृढ़ बना रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सर्वनिर्माता' प्रभु

प्रत्य॒ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्यु॒त्प्रत्यहा॑नि प्रथ॒मो जा॒तवे॑दाः।

प्रति॒ सूर्य॑स्य पुरु॒धा च॑ र॒श्मीन्प्रति॒ द्यावा॑पृथि॒वी आ त॑तान॥ २८॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु ही **उषसाम् अग्रम् प्रति अख्यत्**=उषाओं के अग्रभाग को प्रतिदिन प्रकाशित करते हैं। वे ही **जातवेदाः**=सर्वज्ञ व सर्वव्यापक **प्रथमः**=सबके आदिमूल प्रभु **अहानि**=दिनों को **प्रति (अख्यत्)**=प्रकाशित करते हैं २. **च**=और वे प्रभु ही **सूर्यस्य**=सूर्य की **पुरुधा**=अनेक प्रकार की—सात रंगोंवाली **रश्मीन्**=किरणों को **प्रति** (अख्यत्)=प्रतिदिन प्रकाशित करते हैं। **द्यावापृथिवी प्रति आततान**=द्यावापृथिवी को प्रत्येक सृष्टि में वे प्रभु ही विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सूर्य-किरणों द्वारा सबका धारण करते हैं। वे ही द्यावापृथिवी को विस्तृत करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्यावाक्षामा के लिए सत्य व ऋत का पालन

द्यावा॑ ह॒ क्षामा॑ प्रथ॒मे ऋ॒तेना॑भिश्रा॒वे भ॑वतः स॒त्यवा॑चा।

दे॒वो यन्मर्ता॑न्य॒जथा॑य कृ॒ण्वन्त्सीद॒द्धोता॑ प्र॒त्यङ् स्वमसुं॒ यन्॥ २९॥

१. अध्यात्म में **द्यावाक्षामा**='द्युलोक व पृथिवीलोक' का अभिप्राय मस्तिष्क व शरीर है। ये मस्तिष्क और शरीर **ह**=निश्चय से **प्रथमे**=मानव-जीवन में प्रथम स्थान में हैं। मनुष्य का मौलिक कर्त्तव्य यही है कि वह मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करे। इनका ध्यान न करके रुपया कमाने व यश प्राप्त करने (वाहवाही लूटने) में न लगा रहे। ये मस्तिष्क व शरीर **ऋतेन**=ऋत से—प्रत्येक कार्य को ठीक समय पर करने से तथा **सत्यवाचा**=सत्य वाणी से, अर्थात् असत्य को सदा अपने से दूर रखने से **अभिश्रावे भवतः**=सदा अन्दर व बाहर घर में व समाज में प्रशंसनीय होते हैं। ऋत से—सब कार्यों को ठीक समय पर करने से—शरीर ठीक रहता है। सत्य से मस्तिष्क पवित्र बना रहता है। (सत्यं पुनातु पुनः शिरसि)। २. स्वस्थ शरीर व मस्तिष्कवाले बनकर हम प्रभु के प्रिय होते हैं। वे **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **यत्**=जब **मर्तान्**=हम मनुष्यों को **यजथाय**=अपने साथ सम्पर्क के लिए **कृण्वन्**=करते हैं, तब वे प्रभु **प्रत्यङ् सीदत्**=हमारे अन्दर ही हृदयान्तरिक्ष में विराजते हुए **होता**=हमें सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले होते हुए **स्वम् असुम्**=अपनी प्राणशक्ति को **यन्**=प्राप्त कराते हैं। प्रभु से प्राणशक्ति व तेज के अंश को प्राप्त करके वे लोग प्रभु-जैसे ही प्रतीत होने लगते हैं। ये अतिमानव प्रतीत

होते हैं।

भावार्थ—हम ऋत व सत्य के द्वारा शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाएँ। प्रभु के प्रिय बनकर—प्रभुसम्पर्क में आकर अन्दर स्थित प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न हों। यही हमारा मौलिक कर्त्तव्य है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रथमः चिकित्वान्

देवो देवान्परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान्।
धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान्॥ ३०॥

१. प्रभु ऋत व सत्य का पालन करनेवाले जीव से कहते हैं कि **देवः**=देववृत्तिवाला तू **ऋतेन**=यज्ञ के पालन से **देवान् परिभूः**=सब दिव्यगुणों को शरीर में चतुर्दिक् भावित करनेवाला हो। तेरे शरीर में यथास्थान उस-उस देवता की स्थिति हो। तू **प्रथमः**=शरीर व मस्तिष्क को उत्तम बनानेवालों में सर्वाग्रणी व **चिकित्वान्**=समझदार होता हुआ **नः**=हमारे **हव्यम्**=हव्य को **वहा**=वहन करनेवाला हो, अर्थात् तेरा जीवन यज्ञमय हो—तू सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाला बन। २. **धूमकेतुः**=ज्ञान के द्वारा वासनाओं को कम्पित करके अपने से दूर करनेवाला तू बन। **समिधा भाऋजीकः**=ज्ञान की दीप्ति से दीप्ति का अर्जन करनेवाला तू हो। **मन्द्रः**=तेरा जीवन सदा प्रसन्नतापूर्ण हो। **नित्यः होता**=तू सदा देनेवाला बन। जितना हम देते हैं—त्याग करते हैं, उतना ही तो जीवन आनन्दमय बनता है। **वाचा यजीयान्**=ज्ञान की वाणी से तू उस प्रभु का पूजन करनेवाला बन। अथवा ज्ञान की वाणियों से संग करनेवाला बन—सदा स्वाध्यायशील हो।

भावार्थ—प्रभु का आदेश है कि हे जीव! तू दिव्यगुणों को धारण कर, यज्ञशील हो, ज्ञान के द्वारा वासनाओं को कम्पित करनेवाला हो, ऋजु, दीप्त, सदा प्रसन्न, नित्य होता व स्वाध्यायशील बन।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

द्यावाभूमि का माधुर्य

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे।
अहा यद्देवा असुनीतिमायन्मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम्॥ ३१॥

१. **अपः वर्धाय**=कर्मों के वर्धन के लिए **वाम्**=आप दोनों—द्युलोक व पृथिवीलोक (मस्तिष्क व शरीर) को **अर्चामि**=पूजित करता हूँ। मेरा मस्तिष्क व शरीर **घृतस्नू**=घृत का धारण करनेवाले हों। मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्ति हो (घृत-दीप्ति) और शरीर से मलों का क्षरण हो जाए (घृ क्षरणे)। **मे द्यावाभूमि**=मेरा ज्ञानदीप्त मस्तिष्क तथा क्षरित मलोंवाला शरीर **रोदसी**=(क्रन्दसी) प्रभु का आह्वान करनेवाले होते हुए **शृणुतम्**=प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें। २. **यत्**=जब **देवाः**=ज्ञानी स्तोता (दिव द्युतौ-स्तुतौ) **अहा**=प्रतिदिन **असुनीतिम् आयन्**=प्राणों के मार्ग पर चलते हैं, अर्थात् प्राणसाधना द्वारा प्राणशक्ति का वर्धन करते हैं तब **अत्र**=इस जीवन में **नः**=हमें **पितरा**=द्यावापृथिवी (मस्तिष्क व शरीर) **मध्वा**=माधुर्य से **शिशीताम्**=संस्कृत कर दें। हमारी प्रत्येक क्रिया माधुर्यपूर्ण हो, हमारा ज्ञान भी मधुरता से औरों तक पहुँचाया जाए। वस्तुतः द्यावाभूमी का माधुर्य से पूर्ण होना ही जीवन के विकास की पराकाष्ठा है। इनको ऐसा बनाना ही इनका अर्चन है।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर ज्ञानदीप्त व निर्मल हों। हम प्राणरक्षण के मार्ग से चलें तथा अपने को मधुर बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजन' का सेवन

स्वावृग्देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी।
विश्वेदेवा अनु तत्ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः॥ ३२॥

१. मनुष्य **देवस्य**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभु का **स्वावृक् (सु आवृज्)**=उत्तमता से आवर्जन करनेवाला होता है। एक मनुष्य का झुकाव प्रभु की ओर होता है **यत्**=जब **ई**=निश्चय से **गोः अमृतम्**=गौ का अमृत-तुल्य दुग्ध तथा **अतः जातासः**=इस पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थ (गौ भूमिः) **उर्वी**=इन द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **धारयन्त**=धारण करते हैं, अर्थात् जब एक मनुष्य गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजनों का सेवन करता है तब उसका शरीर व मस्तिष्क दोनों बड़े उत्तम बनते हैं और इस मनुष्य का झुकाव प्राकृतिक भोगों की ओर न होकर प्रभु की ओर होता है। २. **तत्**=तब **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **ते यजुः**=तेरे सम्पर्क को (यज् संगतिकरणे) **अनु गुः**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। प्रभु की ओर झुकाव होने पर दिव्यगुण प्राप्त होते हैं, **यत्**=क्योंकि **एनी**=यह श्वेत—शुद्ध-वेदवाणी **दिव्यम्**=अलौकिक-उत्कृष्टतम **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को तथा **वाः (वार्)**=रोगों के निवारण को **दुहे**=पूरित करती है। वेदवाणी ज्ञान को तो प्राप्त कराती ही है, यह मनुष्य की वृत्ति को सुन्दर बनाकर, उसे वासनाओं से ऊपर उठाकर, नीरोग भी बनाती है। यह वरदा वेदमाता 'आयुः प्राणं' आयुष्य व प्राण को देनेवाली तो है ही।

भावार्थ—जब गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजन हमारे शरीर व मस्तिष्क को धारण करते हैं तब हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है। उस समय हमें दिव्यगुण प्राप्त होते हैं और ज्ञान की वाणी हमें ज्ञानदीप्ति व नीरोगता प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यशोबलम् (श्लोकः-वाजः)

किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवाञ्छ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति॥ ३३॥

१. यह **राजा**=देदीप्यमान (राज् दीप्तौ) ब्रह्माण्ड का शासक (Regulate करनेवाला) **किंस्वित्**=भला क्या **नः**=हमारा **जगृहे**=ग्रहण करेगा! जैसे पिता पुत्र को गोद में लेता है, उसी प्रकार क्या वे प्रभु हमें गोद में लेंगे? **कत्**=कब **अस्य**=इस प्रभु के **अतिव्रतं चकृम**=तीव्र व्रतों को हम कर पाएँगे, अर्थात् उस पिता प्रभु की प्राप्ति के लिए साधनाभूत महान् यम-नियम आदि व्रतों को हम कब पूर्ण तथा पालन कर सकेंगे? इन बातों को **कः विवेद**=वे अनिर्वचनीय प्रभु ही जानते हैं। 'हमारे कर्म प्रभु-प्राप्ति के योग्य कब होंगे?' यह बात तो प्रभु के ही ज्ञान का विषय हो सकती है। ज्यों ही हमारे कर्म उस योग्यता के होंगे, त्यों ही प्रभु हमें अपनी गोद में अवश्य ग्रहण करेंगे। २. वे प्रभु **चित् हि ष्मा**=निश्चय से **मित्रः**=मृत्यु व रोगों से बचानेवाले हैं (प्रमीतेः त्रयाते) और **देवान्**=देववृत्तिवाले लोगों को **जुहुराणः**=स्नेहपूर्वक अपने समीप बुलानेवाले हैं (स्निग्धम् आह्लादयमानः—सा०)। जब हम देव बनते हैं तब हमें उस पिता का स्नेह प्राप्त होता ही है। देव बनने के इस मार्ग पर चलने पर **न** (संप्रति)=अब भी **याताम्**=गतिशील हम लोगों का **श्लोकः**=यश और **वाजः अपि**=बल भी **अस्ति**=होता ही है। इस यशस्वी बल

के द्वारा आगे बढ़ते हुए हम देव बनते हैं और देव बनकर महादेव की गोद में आसीन होते हैं।

भावार्थ—हम देव बनकर प्रभु के स्नेह के पात्र हों। गतिशील बनकर यशस्वी बलवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नाम-स्मरण की दुष्करता

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन्॥ ३४॥

१. प्रभु को भूल गये तो प्रभु को क्या प्राप्त करेंगे, अतः प्रभु-स्मरण आवश्यक है। यह बात भी ठीक है कि **अत्र**=यहाँ—इस संसार में **अमृतस्य नाम**=अविनाशी प्रभु का नाम **दुर्मन्तु**=स्मरण करना कठिन है, **यत्**=क्योंकि **सलक्ष्मा**=यह उत्तम लक्षणोंवाली (लक्ष्मभिः सहिता) प्रकृति **विषुरूपा भवाति**=विविध सुन्दर रूपोंवाली होती है। यह हिरण्मयी प्रकृति हमारे ध्यान को आकृष्ट करके हमें प्रभु से दूर ले-जाती है। २. **यः**=जो मनुष्य **यमस्य**=उस नियन्ता प्रभु के **सुमन्तु**=उत्तम मननयोग्य नाम का **मनवते**=मनन करता है, **अग्ने**=हे अग्रणी! **ऋष्व**=दर्शनीय व जानने योग्य प्रभो! **तम्**=उस नामस्मरण करनेवाले को **अप्रयुच्छन्**=प्रमादरहित होते हुए आप **पाहि**=रक्षित करते हो। यह स्तोता अवश्य आपकी रक्षा का पात्र होता है।

भावार्थ—प्रकृति की चमक के कारण यहाँ—इस संसार में मनुष्य प्रभु को भूल जाता है, प्रभु-नामस्मरण से दूर हो जाता है, परन्तु जब भी हम उस प्रभु के नाम का स्मरण कर पाते हैं तब प्रभु के द्वारा रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

क्रियाशीलता व ज्ञान की उपासना

यस्मिन्देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते।
सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्य१क्तून्परि द्योतनिं चरतो अजस्रा॥ ३५॥

१. प्रभु की रक्षा प्राप्त करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के लोग **यस्मिन्**=जिस समय, प्रभु की गोद में रहते हुए **विदथे मादयन्ते**=ज्ञानयज्ञों में हर्ष का अनुभव करते हैं, अर्थात् सदा ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हैं तब **विवस्वतः**=सूर्य के **सदने**=निवासस्थान द्युलोक में **धारयन्ते**=अपना धारण करते हैं। ये मस्तिष्क प्रधान (Sensible) बनते हैं—शरीर में मस्तिष्क ही तो द्युलोक है। २. **सूर्ये**=(सूर्यश्चक्षुर्भूत्वा०) अपनी आँखों में **ज्योतिः अदधुः**=प्रकाश को धारण करते हैं—इनकी आँखों में सदा चमक होती है। **मासि (चन्द्रमा मनो भूत्वा, मास् moon)**=अपने मनों में **अक्तून्**=प्रकाश की किरणों को धारण करते हैं, अर्थात् हृदयस्थ प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। इसप्रकार की वृत्तिवाले पति-पत्नी **अजस्रा** (अ-जस्)=सदा कर्मों को करनेवाले **द्योतनिम्**=ज्ञान की ज्योति का **परिचरतः**=सदा उपासन करते हैं। इसप्रकार आदर्श गृहस्थ 'निरन्तर क्रियाशील व ज्ञान के उपासक' होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानयज्ञों में आनन्द लें, सदा समझदारी से चलें। हमारी आँखों में ज्योति हो और मन में आह्लाद। हम क्रियाशील हों और ज्ञान के उपासक बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

निष्पापता व प्रभुदर्शन

यस्मिन्देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्येऽ न वयमस्य विद्म।
मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत्॥ ३६॥

१. **यस्मिन्**=जिस परमात्मा की उपासना होने पर **देवाः**=देववृत्ति के लोग **मन्मनि**=उस ज्ञानस्वरूप प्रभु में **संचरन्ति**=विचरते हैं, जो प्रभु **अपीच्ये**=अन्तर्हित हैं—हृदयरूप गुहा में स्थित होते हुए भी हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनते। **वयम्**=हम **अस्य न विद्म**=इस प्रभु के स्वरूप को नहीं जानते। हृदय में होते हुए भी वे हमारे लिए अचिन्त्य ही बने रहते हैं। २. ये प्रभु **नः मित्रः**=हमारे मित्र हैं, **अदितिः**=अपने उपासक के स्वास्थ्य को न नष्ट होने देनेवाले हैं। (अविद्यमाना दितिर्यस्मात्)। मित्ररूप में वे प्रभु हमें पापों से बचाते हैं तो अदिति के रूप में रोगों से। ये **सविता**=सब प्रेरणओं को देनेवाले **देवः**=ज्ञानप्रकाश के पुञ्ज प्रभु **अनागान्**=निरपराध जीवनवाले हम लोगों को **वरुणाय वोचत्**=द्वेषनिवारण के लिए उपदेश देते हैं। द्वेषशून्यता होने पर प्रभु-साक्षात्कार सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे मित्र हैं। निर्द्वेषता से ही हम इस मित्र का साक्षात्कार कर पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

'इन्द्र-वज्री-नृतम-धृष्णु' प्रभु का स्तवन

सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे। स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे॥ ३७॥

१. **सखायः**=हे मित्रो! हम **इन्द्राय**=सब शत्रओं का विद्रावण करनेवाले, **वज्रिणे**=वज्रहस्त अथवा (वज् गतौ) सब गतियों के देनेवाले, **नृतमाय**=(नेतृ-तमाय) सर्वोत्तम नेता **धृष्णवे**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले—शत्रुओं को कुचल देनेवाले प्रभु के लिए **स्तुषे**=(स्तोतुम् सा०) स्तवन करने के लिए **उ**=निश्चय से **ब्रह्म**=(वेद) ज्ञान को **सु आशिषामहे**=अच्छी प्रकार चाहते हैं। २. ज्ञान प्राप्त करके इन वेदवाणियों के द्वारा हम प्रभु का शंसन करते हैं। यह प्रभु-स्तवन हमें जितेन्द्रिय (इन्द्राय) गतिशील (वज्रिणे) आगे और आगे बढ़नेवाला (नृतमाय) तथा शत्रुओं को कुचल देनेवाला बनाता है (धृष्णवे)।

भावार्थ—वेदवाणी द्वारा प्रभु-स्तवन करते हुए हम जितेन्द्रिय, गतिशील प्रगतिवाले व शत्रु को कुचलनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरोष्णिक्** ॥

शवसा+मघैः

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा। मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि॥ ३८॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **शवसा**=बल से **श्रुतः असि**=प्रसिद्ध हैं। सर्वशक्तिमान् हैं। **वृत्रहत्येन**=हमारे सबसे महान् शत्रु वृत्र का—ज्ञान की आवरणभूत कामवासना का विनाश करने से आप **वृत्र-हा**=वृत्र का हनन करनेवाले कहलाये हैं। २. हे शूर! आप **मघैः**=अपने ऐश्वर्यों के द्वारा **मघोनः अति**=सब ऐश्वर्य-सम्पन्नों को लाँघकर **दाशसि**=देनेवाले हैं। आप के समान अन्य कोई दाता नहीं है।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् प्रभु हमारे प्रबलतम वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं। वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही सर्वमहान् दाता हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हृदय में प्रभु का उपासन व दीप्त जीवन

स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह वान्तु भूमौ।
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम्॥ ३९ ॥

१. **स्तेगः**=(स्त्यायते Spread about) हे प्रभो! चारों ओर व्याप्त होते हुए आप इस **क्षाम्** (**क्षि=निवासे**)=हमारी निवासस्थानभूत **पृथिवीम्**=शरीररूप पृथिवी को **न अति एषि**=कभी लाँघकर नहीं जाते हो। आपका सर्वश्रेष्ठ निवासस्थान (परम व्योम) हमारा हृदय ही होता है। हम सदा हृदय में आपका स्मरण करें। ऐसा करने पर **इह भूमौ**=यहाँ पृथिवी पर **नः**=हमारे लिए **मही वातः**=महत्त्वपूर्ण—हमें शक्ति देनेवाली वायुएँ **वान्तु**=बहें। हमारे लिए सारा वातावरण बड़ा अनुकूल हो। २. **मित्रः**=वह सबके प्रति स्नेह करनेवाला, **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला प्रभु **युज्यमानः**=योग द्वारा सम्पृक्त होता हुआ **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **नः**=हमारे लिए **शोकम्**=दीप्ति को **व्यसृष्ट**=विशेषरूप से उत्पन्न करता है, उसीप्रकार **न**=जैसेकि (न=इव) **अग्निः वने**=अग्नि वन में वनाग्नि को उत्पन्न करके विशिष्ट दीप्ति उत्पन्न करता है।

भावार्थ—सर्वव्यापक होते हुए भी प्रभु हमारे हृदयों में विशेषरूप से उपासनीय होते हैं। उस समय हमारा सारा वातावरण बड़ा सुन्दर बनता है। प्रभु का उपासक जब स्नेह व निर्द्वेषतावाला बनता है तब उसका हृदय प्रभु-दीप्ति से दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, रुद्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-स्तवन व प्रभु का अनुग्रह

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम्।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत्ते नि वपन्तु सेन्यम्॥ ४० ॥

१. हे जीव! तू **स्तुहि**=उस प्रभु का स्तवन कर जोकि **श्रुतम्**=वेदवाणियों में सर्वत्र सुनने योग्य हैं (सर्वे वेदाः यत् पदमामनन्ति०) **गर्तसदम्**=जो हृदयरूप गुहा में आसीन हैं। **जनानां राजानम्**=सब उत्पन्न होनेवाले लोगों के शासक हैं (इन्द्रो विश्वस्य राजति) **उपहत्नुम्**=सब दुष्टों को विनष्ट करनेवाले हैं। **भीमम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर हैं। **उग्रम्**=अत्यन्त तेजस्वी हैं। २. हे **रुद्र**=दुष्टों को रुलानेवाले प्रभो! **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **जरित्रे**=स्तोता के लिए **मृड**=सुख देनेवाले होइए। हे प्रभो! **ते**=आपकी **सेन्यम्**=सेनाएँ **अस्मत् अन्यम्**=हम स्तोताओं से भिन्न पुरुषों को **निवपन्तु**=काटनेवाली हैं। सब आधिदैविक शक्तियाँ ही प्रभु की सेनाएँ हैं। नास्तिक व्यक्ति प्रभु की उपासना से दूर होकर इन शक्तियों की प्रतिकूलता के कारण रोग आदि का शिकार हो जाते हैं। उपासक के लिए ही 'द्युलोक, अन्तरिक्षलोक व पृथिवीलोक' शान्ति देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह प्रभु-स्तवन हमें उचित प्रेरणा व शक्ति प्राप्त कराएगा। इससे हम स्वधर्म का पालन करते हुए प्रभु के सच्चे उपासक होंगे और सब कष्टों से बचे रहेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, सरस्वती** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सरस्वती की आराधना

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥ ४१ ॥

१. **देवयन्तः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामनावाले और उनके द्वारा उस महान् देव प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले पुरुष **सरस्वतीं हवन्ते**=विद्या की अधिष्ठात्री देवता को पुकारते हैं, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति के लिए यत्नशील होते हैं। यह ज्ञान ही उनके जीवन को पवित्र व दिव्यगुण-सम्पन्न बनाकर उन्हें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाएगा। २. **तायमाने अध्वरे**=विस्तृत किये जाते हुए यज्ञ के निमित्त **सरस्वतीम्**=सरस्वती को ही पुकारते हैं। वस्तुतः यह ज्ञान ही हमारे जीवनों को यज्ञमय बनाता है। सब **सुकृतः**=शुभ कर्मों को करनेवाले लोग इस **सरस्वतीं हवन्ते**=सरस्वती को पुकारते हैं। यह ज्ञान की आराधना ही तो उन्हें सब दुर्व्यसनों से बचाकर शुभ कर्मों में प्रवृत्त करती है। ३. वस्तुतः **सरस्वती**=यह ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—आत्मार्पण करनेवाले व्यक्ति के लिए सब **वार्यम्**=वरणीय वस्तुओं को **दात्**=देती है। ज्ञान की आराधना हमारे जीवन में सब शुभों को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—सरस्वती का आराधन, अर्थात् ज्ञानप्राप्ति की लगन हमें दिव्यगुणसम्पन्न बनाकर प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाती है (देवयन्तः)। यह हमें यज्ञशील बनाती है (अध्वरे) पुण्य कर्मों में प्रवृत्त करती है (सुकृतः) और सब शुभों को प्राप्त कराती है (वार्यं दात्)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, सरस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सरस्वती की आराधना का फल

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे॥ ४२॥

१. **सरस्वतीम्**=इस ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता को **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत पिता **हवन्ते**=पुकारते हैं। यह ज्ञारुचि ही उन्हें पवित्र जीवनवाला बनाकर अपने कार्य को सुचारु रूप से करने में समर्थ करती है। **दक्षिणा**=(दक्ष् to grow) उन्नति व विकास के हेतु से **यज्ञम् अभिनक्षमाणाः**=(यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म) श्रेष्ठतम कर्मों को प्राप्त होते हुए लोग इस सरस्वती को ही पुकारते हैं। सरस्वती ही तो उन्हें इन यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त करके उन्नत करती है। २. हे पुरुषो! तुम **अस्मिन् बर्हिषि**=(बृहि वृद्धौ) इस वृद्धि के निमित्तभूत सरस्वती के आराधन में **आसद्य**=आसीन होकर **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। स्वाध्याय में तुम्हें रस की प्रतीति हो। हे सरस्वति! तू **अस्मे**=हमारे लिए **अनमीवाः**=व्याधिरहित **इषः**=अन्नों को **आधेहि**=स्थापित कर। राजस् अन्न (दुःखशोकामयप्रदाः) ही रोगों का कारण बनते हैं। उन्हें न ग्रहण करके हम सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें। यह सात्त्विक अन्न का सेवन हमारी बुद्धि की वृद्धि करता हुआ हमें और अधिक सरस्वती का आराधक बनाएगा।

भावार्थ—सरस्वती की आराधना हमें रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त करती है (पितरः), यह हमें श्रेष्ठतम कर्मों की ओर ले-जाती है (यज्ञम्), यही वृद्धि का निमित्त बनती है (बर्हिषि), अतः हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए तीव्र बुद्धि बनें और सरस्वती के आराधक हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, सरस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सरस्वती का आराधक

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ ४३॥

१. हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवते! **यः**=जो तू **उक्थैः**=स्तोत्रों के साथ **सरथं ययाथ**=समान रथ में—एक ही शरीररूप रथ में गतिवाली होती है। हे **देवि**=जीवन को

प्रकाशमय बनानेवाली! तू **स्वधाभिः**=(स्व-धा) आत्मधारण-शक्तियों के साथ **पितृभिः**=तथा रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत लोगों के साथ **मदन्ती**=आनन्द का अनुभव करती है। ज्ञानी पुरुष अवश्य (क) प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बनता है (उक्थैः)। (ख) यह आत्मशक्ति को धारण करता है (स्वधाभिः)। (ग) पालनात्मक कार्यों में व्यापृत होता है (पितृभिः)। २. हे सरस्वति! तू **अत्र**=इस हमारे जीवन में **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए (यज्ञ—पूजा, संगतिकरण, दान) तेरा पूजन करनेवाले, तेरा संग करनेवाले व तेरे प्रति अपने को दे डालनेवाले के लिए **सहस्रार्घम्**=अनन्त मूल्यवाले—अमूल्य इस **इडः भागम्**=ज्ञान की वाणी के भजनीयांश को तथा **रायस्पोषम्**=जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन का पोषण **धेहि**=धारण कर।

भावार्थ—सरस्वती का आराधक (१) प्रभुभक्त बनता है, (२) आत्मशक्ति का धारण करता है, (३) रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है (४) वेदवाणी का अमूल्य ज्ञानधन प्राप्त करता है और (५) आवश्यक धन का पोषक होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अवर, पर व मध्यम' पितर

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ४४॥

१. हमारे जीवनों में **अवरे पितरः**=सबसे प्रथम स्थान में प्राप्त होनेवाले माता-पितारूप पितर **उदीरताम्**=उत्कृष्ट गतिवाले हों। वे हमारे जीवनों में चरित्र व शिष्टाचार की स्थापना के लिए यत्नशील हों। **उत्**=और **मध्यमाः**=मध्यम श्रेणी के पितर, अर्थात् हमारे जीवनों के मध्यकाल में शिक्षा के द्वारा हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाले आचार्य (उदीरताम्) ज्ञानप्रदान की क्रिया में सदा सचेष्ट हों। **उत्**=और **परासः**=जीवन के परभाग में हमारे घरों में प्राप्त होनेवाले अतिथिरूप पितर सदा सत्प्रेरणा देते हुए (उदीरताम्) उत्कृष्ट गतिवाले हों। उपनिषद् के 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव' इन शब्दों में इन्हीं पितरों का उल्लेख हुआ है। २. ये सब पितर **सोम्यासः**=अत्यन्त सोम्य स्वभाव के हों, स्वयं सौम्य होते हुए ही ये हमें सौम्य बना सकेंगे। पितर वे हैं **ये**=जो **असुम् ईयुः**=प्राणशक्ति को प्राप्त करते हैं—प्राणसाधना द्वारा जीवनशक्ति से परिपूर्ण हैं। **अवृकाः**=लोभ से रहित हैं। **ऋतज्ञाः**=ऋत को जाननेवाले हैं—यज्ञशील हैं (ऋत=यज्ञ)। **ते**=वे पितर **नः**=हमें **हवेषु**=पुकारे जाने पर **अवन्तु**=हमारा रक्षण करनेवाले हैं—अपनी सत्प्रेरणाओं द्वारा हमें प्रीणित करनेवाले हैं।

भावार्थ—सौम्य-प्राणशक्तिसम्पन्न-निर्लोभ व यज्ञशील पितर हमारे जीवनों में हमारा रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सुविदत्र और बर्हिषद्' पितर

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ४५॥

१. **अहम्**=मैं **सुविदत्रान्**=उत्तम ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले **पितॄन्**=पितरों को **आ अवित्सि**=सर्वथा प्राप्त होऊँ। माता-पिता, आचार्य व अतिथि—ये सब ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले हों **च**=और परिणामतः मैं **न-पातम्**=न गिरने को, अर्थात् धर्ममार्ग में स्थिरता को, प्राप्त करूँ **च**=तथा **विष्णोः विक्रमणम्**=विष्णु के विक्रमण को भी मैं प्राप्त करूँ, अर्थात् विष्णु

ने जैसे तीन पगों में त्रिलोकी को व्याप्त किया हुआ है, उसी प्रकार मैं भी त्रिलोकी का विजेता बनूँ, अर्थात् 'स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व दीप्त मस्तिष्क' वाला होऊँ। २. मैं उन पितरों को प्राप्त करूँ ये जो **बर्हिषदः**=यज्ञों में आसीन होनेवाले हैं और **स्वधया**=प्राणशक्ति के धारण के हेतु से **पित्वः**=अन्न के **सुतस्य**=परिणामभूत (उत्पन्न) सोम का **भजन्त**=सेवन करते हैं, अर्थात् इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखते हैं। इस वीर्यरक्षण के द्वारा ही वे दीप्त ज्ञानाग्निवाले बनकर आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले बनते हैं। **ते**=वे पितर **इह आगमिष्ठाः**=इस जीवन में हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हमें उन पितरों की प्राप्ति हो जो ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करें, यज्ञशील हों, प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से (आत्मशक्ति के धारण के उद्देश्य से) वीर्य का रक्षण करनेवाले हों। इनके सम्पर्क से हम भी मार्गभ्रष्ट न होकर शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नतिरूप तीन पगों को रखनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों का आदर

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु॥ ४६॥

१. **इदम्**=यह **अद्य**=आज **पितृभ्यः**=उन सब पितरों के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। हम उन सब पितरों के लिए आदर का भाव धारण करते हैं, **ये**=जो **पूर्वासः**=हमारे जीवनों में सर्वप्रथम 'माता-पिता' के रूप में **ईयुः**=आते हैं और **ये**=जो **अपरास**=अपर काल में (पीछे) आचार्यों व अतिथियों के रूप में आते हैं। २. उन पितरों के लिए हम आदर का भाव धारण करते हैं **ये**=जो **पार्थिवे रजसि**=इस पार्थिवलोक में—शरीर में **आ-निषत्ताः**=समन्तात् निषण्ण हैं, अर्थात् जिनका शरीर पर पूर्ण प्रभाव है, **वा**=तथा **ये**=जो **नूनम्**=निश्चय से **सुवृजनासु**=(वृजन Strenght, power) उत्तम शक्तिवाली **दिक्षु**=दिशाओं में चल रहे हैं। अपने पर पूर्ण प्रभाव रखते हुए वे शक्तिशाली बने हैं।

भावार्थ—हम 'माता-पिता व आचार्य, अतिथि' रूप पूर्व-अपर सब पितरों के लिए आदर का भाव धारण करते हैं। उन पितरों का लिए आदर का भाव धारण करते हैं जो शरीर पर पूर्ण प्रभुत्व रखते हुए शक्ति-सम्पादन की दिशाओं में चल रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मातली-यम-बृहस्पति

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ४७॥

१. (मा लक्ष्मीं तालयति—तल् प्रतिष्ठायाम्) 'मातलि' बुद्धि है। बुद्धिवाला होने से इन्द्र 'मातली' (मातलि+ई) कहलाता है। यह **मातली**=समझदार, बुद्धिमान् पुरुष **कव्यैः**=पितरों को—वृद्ध माता-पिता को दिये जानेवाले अन्नों से **वावृधानः**=धर्ममार्ग पर खूब बढ़नेवाला होता है। एक समझदार व्यक्ति माता-पिता को श्रद्धा व आदर से भोजन कराके, बाद में स्वयं भोजन करता है। इस माता-पिता के श्राद्ध को ही वह प्रत्यक्ष धर्म मानता है। इस सेवा से ही वह 'आयु, विद्या, यश व बल' में वावृधान होता है। २. **यमः**=संयमी पुरुष **अङ्गिरोभिः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस से वावृधान होता है। संयम इसकी शक्तियों की वृद्धि व स्थिरता का कारण बनता

है। **बृहस्पतिः**=उत्कृष्ट वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला यह **ब्रह्मणस्पतिः**=बृहस्पति **ऋक्वभिः**=विज्ञानों के द्वारा बढ़नेवाला होता है। यह विज्ञान के द्वारा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचनेवाला होता है। २. ये वे व्यक्ति हैं **ये**=जो **च**=निश्चय से **देवान् वावृधुः**=यज्ञों द्वारा देवों का वर्धन करते हैं, **यान् च**=और जिनको **देवाः वावृधुः**=वृष्टि आदि द्वारा देव बढ़ानेवाले होते हैं। **ते**=वे देवों को यज्ञों द्वारा प्रीणित करनेवाले **पितरः**=पितर **नः**=हमें **हवेषु**=हमारी पुकारों के होने पर **अवन्तु**=रक्षित व प्रीणित करनेवाले हों।

भावार्थ—हम समझदार बनकर माता-पिता को श्रद्धा से भोजनादि प्राप्त कराएँ, संयमी बनकर अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले हों, बृहस्पति बनकर विज्ञानों को प्राप्त करें। हम यज्ञों द्वारा देवों का वर्धन करें। अपने पितरों के प्रिय हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'स्वादु-मधुमान्-तीव्र व रसवान्' सोम

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु॥ ४८॥

१. **किल**=निश्चय से **अयम्**=यह सोम शरीर में ही व्याप्त किया जाने पर **स्वादु**=वाणी को स्वादवाला बनाता है (वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु)। सोमी पुरुष कभी कड़वी वाणी नहीं बोलता। **उत्**=और **अयम्**=यह **मधुमान्**=जीवन को मधुर बनानेवाला है। सोमरक्षण होने पर हमारी सब क्रियाएँ माधुर्य को लिये हुए होती हैं। **किल**=निश्चय से **अयम्**=यह **तीव्रः**=बड़ा तीव्र है—रोगरूप शत्रुओं के लिए भयंकर है। **उत**=और **अयम्**=यह **रसवान्**=अंग-प्रत्यंग को रसवाला बनाता है। रोगों को दूर करके यह हमें स्वस्थ व सबल शरीरवाला करता है। २. **उत् उ**=और निश्चय से **अस्य पपिवांसम्**=इस सोम का पान करनेवाले **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **आहवेषु**=संग्रामों में **कश्चन**=कोई भी न **सहते**=पराभूत नहीं कर पाता। न इसपर कोई रोग आक्रमण कर पाता है और न ही कोई वासना इसे दबा पाती है।

भावार्थ—शरीर में सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष 'मधुरवाणीवाला, मधुर व्यवहारवाला, नीरोग व अंग-प्रत्यंग में रसवाला' बनता है। इसे न रोग आक्रान्त कर पाते हैं, न वासना दबा पाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

'वैवस्वत-यमराजा' का उपासन

परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥ ४९॥

१. **प्रवतः**=(प्रकृष्टकर्मवतः) उत्कृष्ट कर्मोंवाले, **महीः**=(मह पूजायाम्) पूजा व उपासना करनेवालों को **परेयिवांसम्**=सुदूर स्थानों से भी प्राप्त होनेवाले प्रभु को **इति**=इस कारण से **हविषा सपर्यत**=हवि के द्वारा पूजित करो। प्रभु अज्ञानियों के लिए दूर-से-दूर होते हैं, परन्तु वे ही प्रभु 'पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' ज्ञानियों के लिए यहाँ शरीर में ही गुहा के भीतर निहित होते हैं। इति=इस कारण इस हृदयस्थ प्रभु के दर्शन के लिए आवश्यक है कि हम उत्कृष्ट कर्मों में लगे रहें (प्रवत्) तथा प्रातः-सायं उस अद्वितीय सत् प्रभु का उपासन करनेवाले हों (महि)। वे प्रभु ही इन **बहुभ्यः**=अनेक अपासकों के लिए **पन्थाम्**=जीवन-मार्ग को **अनुपस्पशानम्**=अनुकूलता से दिखानेवाले होते हैं। 'सोम्यानां भृमिरसि' वे प्रभु इन शान्त, सोम्य

स्वभाववाले उपासकों को, अज्ञानवश विरुद्ध दिशा में जा रहे हों तो मुख मोड़कर ठीक दिशा में चलानेवाले होते हैं। २. वे प्रभु **वैवस्वतम्**=ज्ञान की किरणोंवाले हैं। अपने उपासकों के हृदयों को इन ज्ञान-किरणों से उज्ज्वल करनेवाले हैं। यह ज्ञान का प्रकाश ही इन उपासकों को प्रथभ्रष्ट होने से बचाता है। **जनानां संगमनम्**=ये प्रभु लोगों के एकत्र होने के स्थान हैं। इस प्रभु में अधिष्ठित होने पर सब मनुष्य परस्पर एकत्व का अनुभव करते हैं। **यमम्**=हृदयस्थ रूपेण वे प्रभु सबका नियमन करनेवाले हैं तथा **राजानम्**=सूर्य-चन्द्र व तारे आदि सभी लोक-लोकान्तरों की गति को व्यवस्थित करनेवाले हैं। इन प्रभु का उपासन हवि के द्वारा होता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट कर्मोंवाले उपासकों को प्रभु प्राप्त होते हैं। इन विनीत उपासकों के लिए प्रभु मार्ग-दर्शन करते हैं। वे प्रभु ज्ञान की किरणोंवाले हैं। सबका निवासस्थान होते हुए हमें परस्पर एकत्व का अनुभव कराते हैं। उस नियामक व शासक प्रभु का पूजन यही है कि हम यज्ञशेष का सेवन करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

यमनिर्दिष्ट मार्ग पर चलना

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः॥ ५०॥

१. वे **प्रथमः यमः**=(प्रथ विस्तारे) सम्पूर्ण जगत् में विस्तृत नियामक प्रभु **नः**=हमारे लिए **गातुं विवेद**=मार्ग का ज्ञान देते हैं। **उ**=निश्चय से **एषा गव्यूतिः**=यह मार्ग **अपभर्तवा न**=अपहरण के लिए नहीं होता, अर्थात् इस मार्ग पर चलने से हम इस संसार में विषयों से आकृष्ट होकर पथभ्रष्ट नहीं हो जाते। २. यह वह मार्ग है **यत्र**=जिसपर **नः**=हमारे **पूर्वे पितरः**=अपना पूरण करनेवाले—अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले, रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पितर **परेताः**=चले हैं। इस मार्ग पर चलने से ही तो वे अपना पूरण कर पाये हैं। **एना**=इस मार्ग पर चलने के द्वारा **जज्ञानाः**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव व विकास करनेवाले लोग ही **पथ्याः**=उत्तम मार्ग पर चलनेवाले होते हैं और **अनुस्वाः**=उस प्रभु के अनुकूल व प्रिय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर ही चलना चाहिए। यही मार्ग हमारे पूरण व विकास के लिए होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शान्ति-निर्भयता-निर्दोषता

बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शन्तमेनाधा नः शं योररपो दधात॥ ५१॥

१. **बर्हिषदः**=यज्ञों में आसीन होनेवाले **पितरः**=रक्षक लोगो! **ऊती**=हमारे रक्षण के हेतु से **अर्वाक्**=आप हमें समीपता से प्राप्त होवें। **इमा हव्या**=इन हव्य पदार्थों को हम **वः चकृमा**=आपके लिए संस्कृत करते हैं। **जुषध्वम्**=आप उन वस्तुओं का प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। वस्तुतः 'माता पिता की सेवा करना—उनको खिलाकर ही खाना' यह पितृयज्ञ है—एक गृहस्थ का यह प्रत्यक्ष धर्म है। ये पितर अपने क्रियात्मक उदाहरण से हमारे जीवनों में यज्ञों को प्रेरित करते हैं। २. हे पितरो! **ते**=वे आप लोग **शन्तमेन**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले **अवसा**=रक्षण के साथ **आगत**=हमें प्राप्त होओ। **अधा**=और **नः**=हमारे लिए **शंयोः**=शान्ति को तथा यावन (पृथक्- करण) को और **अरपः**=निर्दोषता को **दधात**=धारण कीजिए।

भावार्थ—हमें पितरों का आदर करना चाहिए। ये यज्ञशील पितर हमारा रक्षण करते हुए हमें 'शान्ति, निर्भयता व निर्दोषता' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों द्वारा कर्त्तव्यकर्मों का उपदेश

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ ५२॥

१. हे **पितरः**=पितरो! आप **जानु आच्या**=घुटनों को संगतरूप में पृथिवी पर स्थापित करके, अर्थात् घुटने मिलाकर आसन पर स्थित होकर **दक्षिणतः निषद्य**=दक्षिण की ओर बैठकर, अर्थात् हमारे दहिने ओर बैठकर **विश्वे**=सब **नः**=हमारे लिए **इदं हविः**=इस हवि को **अभिगृणन्तु**=उपदिष्ट करें। आप हमें यज्ञादि कर्मों का उपदेश करें। (घुटने मिलाकर भूमि पर बैठने से वात पीड़ाएँ सामान्यतः नहीं होतीं। ये होती प्रायः बड़ी उम्र में ही हैं, अतः पितरों के लिए यह आसन उपयुक्ततम है)। आदर देने के लिए हम इन्हें दक्षिणपार्श्व में बिठाते हैं। इस प्रकार स्थित होकर ये हमारे लिए हवि का उपदेश करें। यह हवि ही प्रभु-पूजन का सर्वोत्तम साधन है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। २. घर पर आये हुए पितरों के विषय में हम कुछ त्रुटि भी कर बैठें तो हम चाहते हैं कि वे पितर हमसे अप्रसन्न न हो जाएँ। हे (पितरः) मान्य पितरो! **पुरुषता**=एक अल्पज्ञ पुरुष के नाते **यत्**=जो भी **वः**=आपके विषय में **आगः**=अपराध **कराम**=कर बैठें, उस **केनचित्**=किसी भी अपराध से **नः**=हमें **मा**=मत **हिंसिष्ट**=हिंसित कीजिए। आप हमसे रुष्ट न हों, आपकी कृपा हमपर बनी ही रहे।

भावार्थ—पितर आएँ। संगतजानु होकर वे हमारे दक्षिणपार्श्व में बैठें और हमारे लिए कर्त्तव्यकर्मों का उपदेश करें। अज्ञानवश हो जानेवाले हमारे अपराधों से वे अप्रसन्न न हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वष्टा की दुहिता का परिणय

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥ ५३॥

१. **त्वष्टा**=संसार के निर्माता व सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले (त्वक्षतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः) तथा दीप्तिमय (विष्णोर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः) प्रभु अपनी **दुहित्रे**=वेदवाणीरूप दुहिता (मानव-जीवन का प्रपूरण करनेवाली) के लिए **वहुतं कृणोति**=विवाह को रचते हैं। **तेन**=इस विवाह के हेतु से **इदं विश्वं भुवनम्**=यह सारा भुवन उपस्थित (संगत) होता है। वस्तुतः इस वेदवाणी का विवाह सब चाहनेवाले मनुष्यों के साथ होता है। जो वेदवाणी को चाहते हैं, उन्हें यह प्राप्त होती है 'काम्यो हि वेदाधिगमः'। २. यह **पर्युह्यमाना**=परिणीत होती हुई वेदवाणी **यमस्य माता**=एक संयत जीवनवाले पुरुष का निर्माण करती है। वेदवाणी के साथ हम अपना सम्बन्ध स्थापित करेंगे तो यह हमारे जीवन को अवश्य उत्कृष्ट बनाएगी। यह वेदवाणी **महः**=तेजस्वी **विवस्वतः**=ज्ञान की किरणोंवाले (ज्ञानी) पुरुष की **जाया**=जन्म देनेवाली है। (तद्धि जायाया जायात्वं यदस्यां जायते पुनः)। इस वेदवाणी में जन्म लेकर यह द्विज बन जाता है। इसप्रकार यह **ननाश**=(नश् to reach, attain, meet with, find) उस प्रभु के साथ मिलानेवाली होती है। वेदवाणी को जीवन का अंग बनाते हुए हम प्रभु को पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपनी वेदवाणीरूप दुहिता को हमें साथी के रूप में देते हैं। यह साथी

हमें 'बड़े संयत जीवनवाला, तेजस्वी व ज्ञानी' बनाता है। ऐसा बनकर हम प्रभु को पाने के अधिकारी बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'यम+वरुण' (संयम-निर्द्वेषता)

प्रेहि॒प्रेहि॑ प॒थिभि॑ः पूर्या॒णैर्येना॑ ते॒ पूर्वे॑ पि॒तर॑ः परे॑ताः।
उ॒भा राजा॑नौ स्व॒धया॒ मद॑न्तौ य॒मं प॑श्यासि॒ वरु॑णं च दे॒वम्॥ ५४॥

१. **येन**=जिस मार्ग से **ते**=तेरे **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **पितरः**=रक्षक लोग **परेताः**=उत्कृष्टता से चले हैं तू भी उन **पूर्याणैः**=ब्रह्मपुरी की ओर ले-चलनेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **प्रेहि**=चल और **प्रेहि**=अवश्य चलनेवाला बन। हम अपने बड़ों के उत्कृष्ट मार्ग का अनुसरण करनेवाले बनें। आचार्य विद्यार्थी को अन्तिम उपदेश यही तो देते हैं कि 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि'। २. तू **यमं पश्यासि**=अपने मार्गदर्शन के लिए यम को देख **च**=और **वरुणं देवम्**=वरुणदेव को देख। यम के जीवन की विशेषता 'जीवन का नियन्त्रण' है और 'वरुण' द्वेष का निवारण करनेवाला—द्वेषशून्य व सबके प्रति प्रेमपूर्ण। इनको देखने का अभिप्राय यह है कि हम भी 'द्वेषशून्य व नियन्त्रित जीवनवाले' बनें। **उभा**=ये दोनों 'नियन्त्रित जीवनवाला, व द्वेषशून्य व्यक्ति' **राजानौ**=चमकनेवाले होते हैं (राज् दीप्तौ)—इनका जीवन दीप्त होता है और **स्वधया मदन्तौ**=आत्मशक्ति के धारण से हर्ष का अनुभव करते हैं। 'यम' बनकर ये पूर्ण स्वस्थ होते हैं और परिणामतः स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकते हैं तथा 'वरुण' निर्द्वेष होने के कारण ये अपने हृदय में आत्मप्रकाश देखते हैं और इसप्रकार आत्मशक्ति को धारण करते हुए आनन्दित होते हैं।

भावार्थ—हमारा मार्ग वही हो जो हमारे धार्मिक पितरों का है—हमारे जीवन में कुलधर्म नष्ट न हो जाए। हम यम और वरुण के मार्ग से चलते हुए संयम से स्वस्थ जीवन की दीप्ति-वाले बनें और निर्द्वेषता से पवित्र हृदय होकर आत्मप्रकाश को देखते हुए आनन्दित हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

यात्रा का अवसान

अपे॑त॒ वी॑त॒ वि च॑ सर्पता॒तोऽस्मा ए॒तं पि॒तरो॑ लो॒कम॑क्रन्।
अहो॑भिर॒द्भिर॒क्तुभि॒र्व्य॑क्तं य॒मो द॑दात्यव॒सान॑मस्मै॥ ५५॥

१. इस जीवनयात्रा में **अपेत**=सब दुरितों से दूर होने के लिए यत्न करो। **वीत** (वि+इत)= विशिष्ट मार्ग पर चलो, **च**=और **विसर्पत**=विशेषरूप से गतिशील बनो। आलस्य को अपने समीप मत फटकने दो। इसी दृष्टिकोण से **पितरः**=रक्षक लोग **अस्मै**=इसके लिए **लोकम् अक्रन्**=प्रकाश प्राप्त कराते हैं। पितरों से आलोक प्राप्त करके ये अशुभ से दूर होते हुए शुभ मार्ग का ही आक्रमण करते हैं। २. इसप्रकार **अहोभिः**=(अहन्) एक-एक क्षण के सदुपयोग के द्वारा—समय को नष्ट न करने के द्वारा—**अद्भिः**=(आपः=रेतः) रेतःकणों की रक्षा के द्वारा तथा **अक्तुभिः**=ज्ञान की रश्मियों के द्वारा **व्यक्तम्**=विशेषरूप से अलंकृत **अवसानम्**=जन्म-मरण के अन्त को **अस्मै**=इस साधक के लिए **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **ददाति**=देते हैं, अर्थात् इसे जन्म-मरण के चक्र से मुक्त कर देते हैं।

भावार्थ—मोक्षप्राप्ति का साधन यही है कि हम जीवन को अलंकृत व सुशोभित बनाएँ। जीवन को अलंकृत करने के लिए (क) समय को व्यर्थ न जाने दें, (ख) रेतःकणों का रक्षण

करें, (ग) प्रकाश की किरणों को प्राप्त करें। संक्षेप में बात यह है कि सदा उत्तम कर्मों में लगे रहने से वीर्यरक्षण होता है। उससे ज्ञानाग्नि समिद्ध होकर हमारा जीवन प्रकाशमय होता है। इस प्रकाश से जीवन सुशोभित होगा तभी हम मोक्ष के अधिकारी बनेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पितृयज्ञ (उशन्तः-द्युमन्तः)

उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत आ वह पितॄन्हविषे अत्तवे॥ ५६॥

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि।
द्युमान्द्युमत आ वह पितॄन्हविषे अत्तवे॥ ५७॥

१. हे प्रभो! **उशन्तः**=जीवन-यात्रा को सफलतापूर्वक पूर्ण करने की कामना करते हुए हम **त्वा**=आपको **इधीमहि**=अपने हृदयदेश में दीप्त करते हैं—आपकी ज्योति को देखने के लिए यत्नशील होते हैं। हे प्रभो! **उशन्**=हम पुत्रों की सफलता को चाहते हुए आप **उशतः पितॄन्**=हमारे हित को चाहनेवाले सत्प्रेरणाओं द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले पितरों को **आवह**=हमारे घरों पर प्राप्त कराइए, जिससे वे **हविषे अत्तवे**=हमारे घरों पर हवि को (पवित्र भोजनों को) ग्रहण करने का अनुग्रह करें। २. हे प्रभो! **द्युमन्तः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतने की कामनावाले हम (दिव् विजिगीषायाम्) **त्वा**=आपको **इधीमहि**=अपने हृदयदेश में दीप्त करते हैं—आपकी ज्योति को देखने के लिए यत्नशील होते हैं। **द्युमन्तः**=शत्रुविजय की कामनावाले हम **समिधीमहि**=आपको अपने हृदयों में ख़ूब ही दीप्त करते हैं। हे प्रभो! आप **द्युमान्**=स्वयं ज्योतिर्मय होते हुए **द्युमन्तः पितॄन्**=ज्योतिर्मय जीवनवाले पितरों को **आवह**=हमारे घरों पर प्राप्त कराइए, जिससे वे **हविषे अत्तवे**=हमारे घरों पर हवि को (पवित्र भोजनों को) ग्रहण करें।

भावार्थ—हम अपने हृदयों में प्रभु को देखने के लिए प्रबल कामनावाले हों और इसी उद्देश्य से काम-क्रोधरूप शत्रुओं को जीतने के लिए यत्नशील हों। प्रभु के अनुग्रह से हमें 'हमारा हित चाहनेवाले व ज्योतिर्मय जीवनवाले' पितर प्राप्त हों। हम उनका भोजनादि द्वारा सत्कार करें और उनसे उचित प्रेरणाओं व ज्ञानों को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सुमति व सौमनस

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ५८॥

१. **नः**=हमारे **पितरः**=पालन करनेवाले (Guardians) **अङ्गिरसः**=(अगि गतौ) अत्यन्त गतिशील व क्रियामय जीवनवाले हैं, अतएव अंग-अंग में रसवाले हैं। **नवग्वा**=वे स्तुत्य गतिवाले हैं (नु स्तुतौ) और (नव गु) अतएव नव्वे वर्ष के दीर्घजीवन तक पहुँचनेवाले हैं। **अथर्वाणः**=(अथ अर्वाङ्) सदा आत्मनिरीक्षण करते हुए ये (अ-थर्व) स्थिर वृत्तिवाले हैं—विषयों से इनके मन डाँवाडोल नहीं हो जाते। **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) इन्होंने ज्ञानाग्नि से अपने को परिपक्व किया है, अतएव **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य व विनीत हैं। २. **तेषाम्**=इन **यज्ञियानाम्**=संगतिकरण योग्य पितरों की **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे सौमनसे**=प्रशस्त (कल्याणकर) उत्तम मन में **वयं अपि स्याम**=हम भी हों, अर्थात् इन पितरों के संग में उनकी सत्प्रेरणाओं से हमें भी 'सुमति व भद्र सौमनस' प्राप्त हो। ये पितर अन्नमयकोश में 'अङ्गिरस' हैं—अंग-अंग में रस व शक्तिवाले हैं। प्राणमयकोश में प्रत्येक इन्द्रिय की प्रशंसनीय गतिवाले

'नवग्व' हैं। मनोमयकोश में 'अथर्व' न डाँवाडोल वृत्तिवाले हैं। विज्ञानमयकोश में 'भृगु' व परिपक्व ज्ञानवाले हैं और आनन्दमयकोश में अत्यन्त 'सौम्य' हैं—उस सोम (शान्त प्रभु) के साथ निवास करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम 'अङ्गिरस-नवग्व-अथर्वा-भृगु व सौम्य' पितरों के सम्पर्क में आकर इनकी 'सुमति व भद्र सौमनस' को प्राप्त करके इन-जैसे ही बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पुरोबृहती**॥

सत्संग व वासनाशून्य हृदय

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्बर्हिष्या निषद्य॥ ५९॥

१. हे **यम**=संयमी जीवनवाले पुरुष! तू **इह**=इस जीवन में **अङ्गिरोभिः**=सदा क्रियाशील जीवनवाले और अतएव अंग-प्रत्यंग में रसवाले, **यज्ञियैः**=यज्ञशील व संगतिकरणयोग्य **वैरूपैः**=विशिष्ट तेजस्वीरूपवाले पितरों के साथ (मान्य पुरुषों के साथ) **इह**=यहाँ इस संसार में **आगहि**=आनेवाला हो—उनके साथ तेरा उठना बैठना हो और **मादयस्व**=उन्हीं के साथ तू आनन्द का अनुभव कर। २. तू **अस्मिन्**=इस जीवन में, **बर्हिषि**=(उद् बृह=उखाड़ना) वासनाशून्य हृदय में—जिसमें से सब वासनाओं को उखाड़ दिया गया है **आनिषद्य**=स्थित होकर **विवस्वन्तं हुवे**=ज्ञान की किरणोंवाले उस प्रभु को पुकारनेवाला हो, **यः ते पिता**=जो तेरे पिता हैं। वस्तुतः हमें यही चाहिए कि हम अपने जीवन को यज्ञमय बनाएँ—हृदय को वासनाशून्य करें। इन्हीं में स्थित होकर प्रभु की उपासना करें।

भावार्थ—हमारा संग सदा उत्तम हो। जीवन में हम हृदय को वासनाशून्य बनाकर वहाँ प्रभु का उपासन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यम का प्रसार

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषो मादयस्व॥ ६०॥

१. हे **यम**=संयमी पुरुष! **हि**=निश्चय से **इमं प्रस्तरम्**=इस पत्थर के समान दृढ़ शरीर में **आरोह**=तू आरोहण कर। इस शरीर में स्थित होता हुआ तू उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़नेवाला हो। शरीर को दृढ़ बनाने के साथ तू अपनी मानस व बौद्धिक उन्नति के लिए **अङ्गिरोभिः**=(अगि गतौ) गतिशील जीवनवाले **पितृभिः**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त व्यक्तियों से **संविदानः**=मिलकर ज्ञान की चर्चा करनेवाला बन। इन गतिशील व पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोगों के सम्पर्क में तू भी वैसा ही बनेगा। २. अब **त्वा**=तुझे **कविशस्ताः**=उस महान् कवि प्रभु से **उपदिष्ट मन्त्राः**= ज्ञान की वाणियाँ **आवहन्तु**=जीवन के मार्ग में सर्वत्र ले-चलनेवाली हों। 'मन्त्रश्रुत्यं चरामसि' जैसा तू इन वेदों में अपने कर्त्तव्यों को सुनता है, वैसा ही करनेवाला बन। हे **राजन्**=इन वेदवाणियों के अनुसार व्यवस्थित जीवनवाले (Regulated) पुरुष! तू **एना**=इस **हविषः**=हवि के द्वारा ही **मादयस्व**=आनन्द का अनुभव कर। तुझे यज्ञशेष के सेवन में आनन्द आये।

भावार्थ—संयम से हम शरीर को पत्थर के समान दृढ़ बनाएँ। गतिशील व रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोगों के साथ हमारा संग हो। वेदज्ञान के अनुसार हम जीवन को बनाएँ। हवि के सेवन में ही आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

द्युलोक का आरोहण

इत एत उदारुहन्दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः॥ ६१॥

१. **एते**=गतमन्त्र के गतिशील व रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग **इतः**=इस पृथिवीपृष्ठ से **उत् आरुहन्**=ऊपर चढ़ते हैं। **दिवः पृष्ठानि आरुहन्**=ये द्युलोक के पृष्ठों पर आरूढ़ होते हैं। पृथिवीपृष्ठ से अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से द्युलोक के पृष्ठ पर पहुँचते हैं। २. **भूर्जयः**=(भूः=प्राणं, तं जयति) प्राणों का विजय करनेवाले—प्राणसाधना द्वारा सब इन्द्रिय-दोषों को दग्ध करनेवाले, **अङ्गिरसः**=अंग-प्रत्यंग को रसमय रखनेवाले—शरीर को जीर्ण करनेवाली वासनाओं को दग्ध करनेवाले, सरस अंगोंवाले ये व्यक्ति **यथा पथा**=शास्त्रानुकूल मार्ग से—यथार्थ मार्ग से **द्यां प्रययुः**=द्युलोक को—प्रकाशमयलोक को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा प्राणों को वश में करनेवाले व अंग-प्रत्यंग में रसवाले बनकर योग्य मार्ग से आक्रमण करते हुए ऊपर उठते चलें और द्युलोक को प्राप्त हों—देवलोक को, प्रकाशमय लोक को प्राप्त हों।

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु-प्राप्ति के साधन

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ १॥

१. **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमः पवते**=(पूयते) सोम पवित्र किया जाता है। शरीर में सोम को—वीर्यशक्ति को वासना से मलिन व विनाश होने से बचाने पर ज्ञानाग्नि की दीप्ति के द्वारा प्रभुदर्शन होता है। **यमाय**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही **हविः**=दानपूर्वक अदन—यज्ञशेष का सेवन **क्रियते**=किया जाता है। २. **यमम्**=उस सर्वनियन्ता प्रभु को **ह**=निश्चय से **यज्ञः**=देवपूजक, देव के साथ संगतिकरण-(मेल)-वाला, देव के प्रति अपना अर्पण करनेवाला व्यक्ति **गच्छति**=प्राप्त होता है। जो व्यक्ति **अग्निदूतः**=अग्निरूप दूतवाला है—उस अग्रणी प्रभु से ज्ञान के व स्वकर्त्तव्यों के संदेश को सुनता है तो **अरंकृतः**=सब दिव्यगुणों से अलंकृत जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (१) हम शरीर में सोम का रक्षण करें, (२) दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले हों (३) प्रभुपूजक—प्रभुमेल व प्रभु के प्रति अर्पण की वृत्तिवाले हों, (४) प्रभु से वेद में उपदिष्ट स्वकर्त्तव्यों के सन्देश को सुनें, (५) जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्याग व बड़ों का आदर

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः॥ २॥

१. **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु की प्राप्ति के लिए **मधुमत्तमम्**=अत्यन्त मधुर—अतिशयेन प्रिय भौतिक वस्तु को भी **जुहोत**=देनेवाले बनो। लोकहित के लिए—प्राजापत्य यज्ञ में तन-मन-धन का अर्पण करने से ही प्रभु-प्राप्ति होती है **च**=और इसप्रकार **प्रतिष्ठत**=प्रतिष्ठा पाओ। इस त्याग से इहलोक में यश मिलता है तो परलोक में प्रभु। २. इसप्रकार का जीवन बनाने के लिए **ऋषिभ्यः इदं नमः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के लिए हम यह नमस्कार करते हैं। **पूर्वजेभ्यः**=अपने बड़ों के लिए नमस्कार करते हैं। **पूर्वेभ्यः**=अपना पालन व पूरण करनेवालों के लिए नमस्कार करते हैं। **पथिकृद्भ्यः**=जो हमारे लिए मार्ग बनाते हैं—अपने उदाहरण से हमें मार्ग दिखलाते हैं, उनके लिए नमस्कार हो।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम प्रियतम भौतिक वस्तु का भी त्याग कर सकें तथा संसार में मार्गदर्शकतत्त्वज्ञों का आदर करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

घृतं, पयः, हविः

यमाय घृतवत्पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे॥ ३॥

१. **यमाय**=सर्वनियन्ता प्रभु की प्राप्ति के लिए **राज्ञे**=सबके शासक प्रभु के लिए **घृतवत् पयः हविः**=घृत की भाँति दूध को—अथवा घृतवाले दूध को तथा यज्ञशेषान्न को (हु=दानपूर्वक अदन) **जुहोतन**=जाठराग्नि में आहुत करनेवाले बनो। हम 'घृत, दुग्ध व यज्ञिय अन्नों' का सेवन करते हुए सात्त्विक बुद्धिवाले बनकर प्रभुदर्शन के योग्य बनेंगे। २. **सः**=वह प्रभु **नः**=हमारे लिए **जीवेषु**=सब जीवों में **प्रजीवसे**=प्रकृष्ट जीवन के लिए **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन **आयमेत्**=दें। इस दीर्घजीवन में साधना करते हुए हम अधिकाधिक पवित्र जीवनवाले बनें।

भावार्थ—हम सर्वनियन्ता, सर्वरक्षक प्रभु की प्राप्ति के लिए 'घृत-दुग्ध व यज्ञिय भोजनों' का ही प्रयोग करें। दीर्घ जीवन प्राप्त करके साधना द्वारा उसे प्रकृष्ट बनाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥

तप व दण्ड की उचित व्यवस्था

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात्पितॄंरुप॥ ४॥

१. ज्ञान देनेवाले आचार्य भी पितर हैं। विद्यार्थी को अग्रगति कराने से ये 'अग्नि' कहलाते हैं। माता-पिता इस अग्नि के प्रति विद्यार्थी को प्राप्त करा देते हैं। वह आचार्यरूप अग्नि इन्हें तीव्र तपस्या में ले-चलता है, परन्तु इतना अतिमात्र तप भी ठीक नहीं जो उसके शरीर को अतिक्षीण ही कर डाले, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=अग्रणी आचार्य! **एनम्**=इस आपके प्रति अर्पित शिष्य को **मा विदहः**=तपस्या की अग्नि में भस्म ही न कर दीजिए। 'शरीरमबाधमानेन तप आसेव्यम्' शरीर को पीड़ित न करते हुए ही तप करना ठीक है। इसे अतिक्षीण करके **मा अभिशूशुचः**=शोकयुक्त ही न कर दीजिए। यह शोकातुर हो घर को ही न याद करता रहे। २. तप के अतिरिक्त शिक्षा में दण्ड भी अनिवार्य हो जाता है, परन्तु क्रोध में कभी अधिक दण्ड न दे दिया जाए। हे आचार्य! **अस्य त्वचं मा चिक्षिपः**=इसकी त्वचा को ही न क्षिप्त कर देना—चमड़ी ही न उधेड़ देना। **मा शरीरम्**=इसका शरीर विक्षिप्त न हो जाए, अर्थात् दण्ड के

कारण इसका कोई अंग भंग ही न हो जाए। संक्षेप में, न तप ही अतिमात्र हो और न दण्ड। शरीर को अबाधित करनेवाला तप हो और अमृतमय हाथों से ही दण्ड दिया जाए। ३. इसप्रकार तप व दण्ड की उचित व्यवस्था से **यत्**=जब हे **जातवेदः**=ज्ञानी आचार्य! आप **शृतं आकरसि**=इस विद्यार्थी को ज्ञान में परिपक्व कर चुकें, **अथ**=तब **ईम्**=अब **एनम्**=इस विद्यार्थी को **पितॄन् उप प्रहिणुतात्**=जन्मदाता माता-पिता के समीप भेजने का अनुग्रह करें। आचार्यकुल में ज्ञानाग्नि में परिपक्व होकर यह विद्यार्थी समावृत्त होकर आज घर में आता है।

भावार्थ—आचार्य, उचित तप व दण्ड-व्यवस्था रखते हुए, विद्यार्थी को ज्ञान-परिपक्व करते हैं और अध्ययन की समाप्ति पर उसे पितृगृह में वापस भेजते हैं। यही इसका समावर्तन है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**, जातवेदा॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

असुनीति द्वारा देवों का वशीकरण

यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परि दत्तात्पितृभ्यः।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति॥ ५॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञानी आचार्य! आप **यदा**=जब **शृतं कृणवः**=शिष्य को ज्ञानपरिपक्व कर देते हैं, **अथ**=तो **ईम्**=अब **एनम्**=इसको **पितृभ्यः**=अपने माता-पिता के लिए **परिदत्तात्**=वापस देने का अनुग्रह करें। २. आचार्यकुल में रहता हुआ **यदा**=जब **उ**=निश्चय से **एताम् असुनीतिम्**=इस प्राणविद्या को—जीवन-नीति को **गच्छाति**=अच्छी प्रकार प्राप्त कर लेता है, **अथ**=तब यह ज्ञान को प्राप्त पुरुष **देवानाम्**=सब देवों का—इन्द्रियों का **वशनीः**=वश में करनेवाला **भवाति**=होता है। प्राणसाधना द्वारा यह शरीरस्थ सब देवों को स्वस्थ व स्वाधीन देखता है। सूर्य आदि देवों के साथ इसकी अनुकूलता होती है।

भावार्थ—आचार्यकुल में प्राणविद्या व प्राणसाधना करके हम इन्द्रियों को वश में करनेवाले हों। सब देवों को हम वशीभूत कर पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यम का सुन्दरतम जीवन

त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता॥ ६॥

१. गतमन्त्र का साधक **त्रिकद्रुकेभिः**=(कदि आह्वानेषु) तीनों कालों में प्रभु के आह्वान के साथ **पवते**=चलता है। प्रातः, मध्याह्न व सायं—तीनों समय प्रभु की प्रार्थना करता है। प्रातःकाल जीवन के प्रथम २४ वर्ष हैं, मध्याह्न अगले ४४ वर्ष हैं और सायं अन्तिम ४८ वर्ष हैं। इन सबमें यह प्रभु-प्रार्थना से जीवन को सशक्त व उत्साहमय बनाये रखता है। अथवा 'ज्योतिः, गौः, आयुः' नामक तीन यागविशेष त्रिकद्रुक हैं। यह साधक इन यागों को करता हुआ जीवन में चलता है। साधना द्वारा ज्ञान 'ज्योति' का सम्पादन करता है, प्राणसाधना द्वारा इन्द्रियों को (गौः) शुद्ध बनता है और क्रियाशीलता के द्वारा दीर्घ व उत्तम 'आयुष्य'-वाला होता है। २. इसके जीवन में **षड् उर्वीः**='द्यौ च पृथिवी च आपश्च ओषधयश्च ऊर्क् च सूनृता च' द्युलोक, अर्थात् ज्ञानदीप्त मस्तिष्क, पृथिवी, अर्थात् विस्तृतशक्तिसम्पन्न शरीर, आपः अर्थात् रेतःकण (आपो रेतो भूत्वा०) ओषधयः=दोषों का दहन करनेवाले सात्त्विक अन्न, ऊर्क्=बल और प्राणशक्ति तथा सूनृता=प्रिय सत्यात्मिकावाणी—ये छह उर्वियाँ **आहिताः**=स्थापित होती हैं।

एकम् इत् बृहत्=इसका शरीर में—केन्द्र-स्थान में स्थापित सबसे महत्त्वपूर्ण साधन 'मन' (हृदय) निश्चय से विशाल होता है (ज्योतिषां ज्योतिरेकम्) ३. इसप्रकार **यमे**=इस साधनामय जीवनवाले संयमी पुरुष में **ताः सर्वाः**=आगे वर्णित सब बातें **अर्पिता**=अर्पित होती हैं—स्थापित होती हैं। एक तो **त्रिष्टुप्**= 'काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों को रोक देना; दूसरे **गायत्री**=(गयाः प्राणास्तान् तत्रे) प्राणों का रक्षण तथा **छन्दांसि**=पापों का छादन—बुरी वृत्तियों का दूरीकरण।

भावार्थ—हम सदा प्रभुस्मरण के साथ चलें। हमारे शरीर व मस्तिष्क दोनों ही ठीक हों, जलों व ओषधियों का प्रयोग करते हुए शक्ति का रक्षण करें, प्राणशक्ति व सूनृतवाणीवाले हों। हमारा हृदय विशाल हो। 'काम, क्रोध, लोभ' को रोकें। प्राणों का रक्षण करें। पापों से अपने को दूर रक्खें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥

सूर्य आदि देवों के साथ सम्पर्क से शरीर का स्वास्थ्य

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ ७ ॥

१. तू **चक्षुषा**=चक्षु के हेतु से **सूर्यं गच्छ**=सूर्य के प्रति जा। सूर्य ही तो चक्षु का रूप धारण करके आँखों में प्रवेश करता है 'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्'। सूर्याभिमुख होकर हम प्रभु का ध्यान करते हैं और सूर्य आँखों में शक्ति प्राप्त कराता है। **आत्मना**=(आत्मा प्राणाः, सा०) प्राणों के हेतु से **वातम्**=वायु की ओर जा। शुद्ध वायु में प्राणायाम के द्वारा प्राणशक्ति का वर्धन होता ही है। **दिवं च गच्छ**=द्युलोक की ओर तू जानेवाला बन। अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को तू विज्ञान के नक्षत्रों से और ज्ञान के सूर्य से दीप्त करनेवाला हो **च**=और **धर्मभिः**=अंग-प्रत्यंग के धारण के उद्देश्य से तू **पृथिवीं गच्छ**=शरीररूप पृथिवी की ओर जानेवाला बन। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए पृथिवी से सम्पर्क आवश्यक है। मिट्टी शरीर के विषों को खैंच लेती है। २. इसीप्रकार तू **अपः गच्छ**=जलों की ओर जानेवाला बन। शरीर में जल रेतःकणों के रूप में रहते हैं। **यदि तत्र ते हितम्**=यदि वहाँ तेरा हित है तो तू इन रेतःकणों की ओर जानेवाला बन। इन रेतःकणों का रक्षण आवश्यक ही है। तू **शरीरैः**=अपने 'स्थूल-सूक्ष्म व कारण' शरीरों के हेतु से **ओषधीषु प्रतितिष्ठा**=ओषधियों में प्रतिष्ठित हो। वानस्पतिक भोजनों के द्वारा हमारे सब शरीर ठीक रहते हैं।

भावार्थ—सूर्य आदि देवों के साथ हमारी अनुकूलता बनी रहे। शरीरों के स्वास्थ्य के लिए वानस्पतिक भोजनों का ही प्रयोग करें। देव वनस्पति का ही सेवन करते हैं। मांस देवों का भोजन नहीं है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'तप, पवित्रता व अर्चना' से प्रभु का धारण

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥ ८ ॥

१. **अजः**=कभी न उत्पन्न होनेवाला (अज) अथवा गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाला (अज् गतिक्षेपणयोः) प्रभु ही **भागः**=तेरा उपास्य है (भज् सेवायाम्) **तम्**=उस प्रभु को **तपसः**=तप के द्वारा **तपस्व**=अपने अन्दर दीप्त कर—उस प्रभु के प्रकाश को तप के द्वारा देखनेवाला बन। **तम्**=उस प्रभु को **ते शोचिः**=तेरी शुचिता (पवित्रता) **तपतु**=दीप्त करे। **तम्**=उस

प्रभु को **ते अर्चिः**=तेरी पूजा व उपासना दीप्त करे। प्रभु का दर्शन 'तप-पवित्रता-व उपासना' से होता है। २. हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले उपासक! **याः**=जो तेरी **शिवाः तन्वः**=शिव तनु हैं—पवित्र कल्याणमय शरीर है, **ताभिः**=उन शरीरों से **एनं वह**=इस प्रभु को अपने अन्दर धारण कर। उस प्रभु को धारण कर, जो **उ**=निश्चय से **सुकृतां लोकम्**=पुण्यशील लोगों के निवासस्थान हैं अथवा पुण्यशील लोगों को प्रकाश प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हम 'तप, पवित्रता व ज्ञानदीप्ति तथा उपासना' से शरीरों को निर्दोष बनाते हुए उस प्रभु को धारण करनेवाले बनें, जिन प्रभु में पुण्यशील लोग निवास करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शोचयः-रंहयः

यास्ते॑ शो॒चयो॒ रंह॑यो जातवेदो॒ याभि॑रापृ॒णासि॒ दिव॑म॒न्तरि॑क्षम्।
अ॒जं यन्त॒मनु॒ ताः सम॑ृण्वता॒मथेत॑राभिः शि॒वत॑माभि शृ॒तं कृ॑धि॥ ९ ॥

१. हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले उपासक! **यः**=जो **ते**=तेरी **शोचयः**=पवित्रताएँ व ज्ञानदीप्तियाँ तथा **रंहयः**=वेगवती क्रियाएँ हैं, **याभिः**=जिनसे तू **दिवम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **आपृणासि**=परिपूरित करता है, ज्ञान दीप्तियों से मस्तिष्क को तथा क्रियासङ्कल्पों से हृदयान्तरिक्ष को तू व्याप्त करता है। **ताः**=वे सब ज्ञानदीप्तियाँ व वेगवती क्रियाएँ **अजम् अनु यन्तम्**=प्रभु के पीछे चलते हुए तुझे **समृण्वताम्**=सम्यक् प्राप्त हों। प्रभु की उपासना ही तुझे इन ज्ञानदीप्तियों को तथा वेगवती क्रियाओं को प्राप्त कराएगी। २. हे उपासक! **अथ**=अब इस प्रभु के उपासन के बाद, तू **इतराभिः**=अन्य विलक्षण **शिवतमाभिः**=अत्यन्त कल्याणकारिणी ज्ञानदीप्तियों व वेगवती क्रियाओं से **शृतं कृधिः**=अपने को पूर्ण परिपक्व बना।

भावार्थ—प्रभु की उपासना का ही यह परिणाम होता है कि हम ज्ञानदीप्तियों से मस्तिष्क को परिपूर्ण कर पाते हैं और क्रियासंकल्पों से हृदयान्तरिक्ष को। इन विलक्षण दीप्तियों व क्रियाओं से ही हम अपने को परिपक्व करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुनः पितरों के प्रति अर्पण व प्रव्रजित होने की तैयारी

अव॑ सृ॒ज पुन॑रग्ने पि॒तृभ्यो॒ यस्त॒ आहु॑त॒श्चर॑ति स्व॒धावा॑न्।
आयु॒र्वसा॑न॒ उप॑ यातु॒ शेषः॒ सं ग॑च्छतां त॒न्वा॑ सु॒वर्चाः॑ ॥ १० ॥

१. माता-पिता अपने सन्तानों को पितरों (आचार्यों) के प्रति सौंपते हैं। आचार्य उन्हें ज्ञानपरिपक्व करके घर वापस भेजते हैं। यहाँ घरों में देवों के साथ अनुकूलता रखते हुए यह स्वस्थ शरीर बनता है, उपासना द्वारा हृदय में प्रभु-दर्शन करता है। अब गृहस्थ को सुन्दरता से समाप्त करके हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **पुनः**=फिर, वनस्थ होता हुआ, **पितृभ्यः अवसृज**=वनस्थ पितरों के लिए अपने को देनेवाला बन। इनके चरणों में ही तू अपने को संन्यास के लिए तैयार कर पाएगा। उस पितर के लिए तू अपने को अर्पित कर **यः**=जो **ते**=तेरे द्वारा **आहुतः**=आहुत हुआ था, जिसके प्रति तूने अपना अर्पण किया है, वह **स्वधावान् चरति**=आत्मतत्त्व को धारण करनेवाला होकर सब क्रियाएँ करता है। तुझे भी वह आत्मतत्त्व को धारण के मार्ग पर ले-चलेगा। २. अब स्वधावान् बनकर तू प्रव्रजित होता है, और **आयुः वासना**=उत्कृष्ट-सशक्त व दीप्त-जीवन को धारण करता हुआ **शेषः उप यातु**=अवशिष्ट भोजन को ही (शेषस्=अवशिष्ट) तू प्राप्त करनेवाला हो। सब खा चुकें तब बचे हुए को ही तूने भिक्षा में

प्राप्त करना (विधूमे सन्नमुसले)। **सुवर्चाः**=संयम द्वारा उत्तम वर्चस् शक्तिवाला तू **तन्वा संगच्छताम्**=शक्तियों के विस्तार से संगत हो। परिपक्व फल की तरह तू अधिक और अधिक दीप्त होता चल।

भावार्थ—गृहस्थ के बाद वनस्थ होने के समय हम उन पितरों के सम्पर्क में आएँ जो हमें आत्मदर्शन के मार्ग पर ले-चलें। अब अन्त में संन्यस्त होकर हम गृहस्थों के भुक्तावशिष्ट भोजन को ही भिक्षा में प्राप्त करके, किसी पर बोझ न बनते हुए सुवर्चस् बनें, शक्तियों के विस्तारवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सारमेयो श्वानौ

अति॑ द्रव॒ श्वानौ॑ सारमे॒यौ च॑तुर॒क्षौ श॒बलौ॑ सा॒धुना॑ प॒था।
अधा॑ पि॒तॄन्त्सु॑वि॒दत्राँ॒ अपी॑हि य॒मेन॒ ये स॑ध॒माद॒ं मद॑न्ति॥ ११॥

१. हमारे जीवन में 'काम-क्रोध' उन दो श्वानों के समान हैं जो **सारमेयौ**=सरमा के पुत्र हैं। 'सृ गतौ' गति के पुत्र हैं, अर्थात् अत्यन्त चञ्चल हैं। **श्वानौ**=(श्वि वृद्धौ) ये निरन्तर बढ़ते ही चलते हैं। 'काम' उपभोग से शान्त न होकर बढ़ता ही जाता है, जैसेकि हवि के द्वारा 'अग्नि'। **चतुरक्षौ**=ये चार आँखेंवाले हैं। इन्हें ज़रा-सा अवसर मिला और इन्होंने हमारे घर पर आक्रमण किया। हम सदा सावधान रहेंगे और उत्तम कर्मों में लगे रहेंगे तभी इनसे बच सकेंगे। **शबलौ**=ये रंगबिरंगे हैं—नानारूपों में ये प्रकट होते हैं। प्रभु कहते हैं कि **साधुना पथा**=उत्तम मार्ग से इनको **अतिद्रव**=लाँघ जा। सदा उत्तम कर्मों में लगे रहने से ही हम इन्हें जीत पाते हैं। २. **अधा**=और अब **सु-विदत्रान्**=उत्तम ज्ञान के द्वारा त्राण करनेवाले **पितॄन्**=पितरों की **अपीहि**=ओर आनेवाला हो। इनका सत्संग तुझे ज्ञान की रुचिवाला तथा उत्तम कर्मों को करनेवाला बनाएगा। उन पितरों के समीप उपस्थित हो **ये**=जोकि **यमेन**=सर्वनियन्ता प्रभु के **सधमादं मदन्ति**=साथ आनन्द का अनुभव करते हैं। इन प्रभु के उपासकों के सम्पर्क में तू भी प्रभु के उपासन की वृत्तिवाला बनेगा। हम ज्ञानी (सुविदत्रान्) रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त (पितॄन्) प्रभु के उपासकों (यमेन सधमादम्) के सम्पर्क में उन-जैसे ही बनेंगे। इनके सम्पर्क में हम काम, क्रोधरूप यम के श्वानों को लाँघ सकेंगे।

भावार्थ—हम ज्ञानी, कर्मशील, उपासक पितरों के सम्पर्क में इन-जैसे ही बनते हुए, सदा सुपथ से चलते हुए, काम, क्रोध को जीतनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उपादेय काम व मन्यु

यौ ते॒ श्वानौ॑ यम रक्षि॒तारौ॑ चतु॒र॒क्षौ प॑थि॒षदी॑ नृ॒चक्ष॑सा।
ताभ्यां॑ राज॒न्परि॑ धेह्येनं स्व॒स्त्य॑स्मा अनमी॒वं च॑ धेहि॥ १२॥

१. हे **यम**=सर्वनियन्ता प्रभो! **यौ**=जो **ते**=आपके **श्वानौ**=गति के द्वारा वृद्धि के कारणभूत **रक्षितारौ**=हमारे जीवन का रक्षण करनेवाले, **चतुरक्षौ**=चार आँखोंवाले, अर्थात् सदा सावधान, **पथिरक्षी**=मार्ग के रक्षक **नृचक्षसा**=(चक्ष् to look after) मनुष्यों का पालन करनेवाले काम व क्रोध (मन्यु) हैं, **ताभ्याम्**=उन दोनों के लिए **एनम्**=इस उपासक को **परिधेहि**=धारण कर, २. **च**=और हे **राजन्**=संसार के शासक व व्यवस्थापक प्रभो! इन रक्षक काम व क्रोध के द्वारा **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **स्वस्ति**=उत्तम स्थिति को—कल्याण को तथा **अनमीवम्**=नीरोगता को

धेहि=धारण कीजिए। काम-क्रोध प्रबल हुए तो ये मनुष्य को समाप्त कर देनेवाले होते हैं। 'काम' शरीर को जीर्ण करता है तो क्रोध मन को अशान्त कर देता है। ये ही काम-क्रोध सीमा के अन्दर होने पर मनुष्य के रक्षक व पालक हो जाते हैं। काम उसे वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग में लगाकर उत्तम स्थिति प्राप्त कराता है और मन्यु (मर्यादित क्रोध) उसे उपद्रवों से आक्रान्त नहीं होने देता। फुफकारता हुआ सर्प चीटियों व क्षुद्र पशुओं से आक्रान्त नहीं होता—इसीप्रकार मन्युवान् होते हुए हम भी 'अनमीव' बने रहते हैं।

भावार्थ—वे काम-क्रोध जो अमर्यादित रूप में विनाशक होते हैं, वे मर्यादित होते हुए हमें 'स्वस्तिवान् व अनमीव' बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'भद्र असु' के प्रदाता यमदूत

उरूणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥ १३॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित 'काम-क्रोध' **उरूणसौ**=बड़ी नाकवाले हैं—सेवन से ये बढ़ते ही जाते हैं अथवा (णस् कौटिल्ये गतौ च) ये बड़ी कुटिल गतिवाले हैं। **अ-सुतृपौ**=ये कभी अच्छी प्रकार तृप्त नहीं हो जाते—बढ़ते ही जाते हैं (भूय एवाभिवर्धते) **उदुम्बलौ**=(उरुबलौ) अत्यन्त प्रबल हैं। अपराजित होते हुए ये **यमस्य दूतौ**=यम के दूत हैं—हमें मृत्यु के समीप ले-जाते हैं। ये यमदूत **जनान् अनुचरतः**=सदा मनुष्यों के पीछे चलते हैं। ये किसी का पीछा छोड़ते नहीं। २. अब यदि ये प्रबल हो जाएँ तो ये हमें समाप्त कर देते हैं, अतः इन्हें ज्ञानाग्नि द्वारा भस्मीभूत करना आवश्यक है। यदि हम इन्हें पराजित व संयत कर पाये तो **तौ**=वे काम और क्रोध **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **पुनः**=फिर **अद्य**=अज **इह**=यहाँ **भद्रं असुम्**=शुभ जीवन को **दाताम्**=दें और हम **दृशये सूर्याय**=दीर्घकाल तक सूर्यदर्शन करनेवाले हो सकें—दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—काम-क्रोध अत्यन्त प्रबल हैं। वशीभूत हुए-हुए ये हमारे लिए भद्र जीवन दें, जिससे हम दीर्घकाल तक सूर्यदर्शन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सोम-घृत-मधु

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥ १४॥

१. **एकेभ्यः**=कुछ पितरों से **सोमः**=सोम (यत् सामानि सोम एभ्यः पवते। तै० २.१०.१) साममन्त्र—उपासना मन्त्र **पवते**=प्रवाहित होते हैं। **एके**=कई पितर **घृतम्**=(यद् यजूंषि घृतस्य कूल्याः। तै० २.१०.१) यजुर्मन्त्रों को **उपासते**=उपासित करते हैं, **येभ्यः**=जिससे **मधु प्रधावति**=(यद् अथर्वांगिसो मधोः कूल्याः तै० २.१०.१) अथर्वमन्त्र गतिवाले होते हैं। यह उपासक **चित्**=निश्चय से **तान् एव**=उनके प्रति ही **अपि गच्छतात्**=जानेवाला हो। २. जिन पितरों से साममन्त्र प्रवाहित होते हैं उनके सम्पर्क में यह साधक भी उपासना की वृत्तिवाला बनेगा। यजुर्मन्त्रों के उपासकों के सम्पर्क में यह भी यज्ञशील होगा तथा अथर्वमन्त्रों में गतिवालों के सम्पर्क में यह भी अथर्वा (स्थिरवृत्ति) का बनता हुआ प्रभु को प्राप्त करनेवाला होगा।

भावार्थ—हम 'उपासक, यज्ञशील, स्थिरवृत्तिवाले' पितरों के सम्पर्क में आएँ और हम भी 'सोम-घृत-मधु' के उपासक बनें। साम, यजुः व अथर्वमन्त्रों को अपनानेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋत-तप व ज्ञान

ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥ १५॥

१. **ये**=जो **चित्**=निश्चय से **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले हैं, **ऋत-साताः**=ऋत का सम्भजन करनेवाले—बड़े व्यवस्थित जीवनवाले (ऋत् right), **ऋतजाताः**=(ऋत्=यज्ञ) यज्ञों में ही प्रादुर्भूत हुए-हुए, अर्थात् सदा यज्ञशील हैं, **ऋतावृधः**=सत्य के द्वारा (ऋत्=सत्य) वृद्धि को प्राप्त करनेवाले हैं, उन **ऋषीन्**=तत्त्वद्रष्टा, **तपस्वतः**=तपस्वी **तपोजान्**=तप में ही प्रादुर्भूत हुए-हुए, अर्थात् सदा तपस्वी पितरों को ही, हे **यम**=सर्वनियन्ता प्रभो! यह साधक **अपिगच्छतात्**=प्राप्त होनेवाला हो। २. ऐसे पितरों के सम्पर्क में यह भी 'ऋत व तप' को अपनाता हुआ ऋषि (तत्त्वद्रष्टा) बन पाये।

भावार्थ—हम उन पितरों के सम्पर्क में आएँ जिनमें 'ऋत, तप व ज्ञान' का निवास है। इनके सम्पर्क में हम भी ऐसे ही बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

महान् तप

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्व र्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥ १६॥

१. **तपसा**=तप के द्वारा **ये**=जो **अनाधृष्याः**=काम, क्रोध, लोभरूप शत्रुओं से धर्षण के योग्य नहीं होते, **तपसा**=तप के द्वारा **ये**=जो **स्वः ययुः**=आत्मप्रकाश को प्राप्त करते हैं। **ये**=जो **महः तपः**=महान् तप **चक्रिरे**=करते हैं, **चित्**=निश्चय से **तान् एव**=उन पितरों के ही समीप यह **अपिगच्छतात्**=प्राप्त हो। २. उन पितरों के सम्पर्क में तपस्वी होता हुआ यह भी शत्रुओं से अधर्षणीय और आत्मज्योति को प्राप्त करनेवाला बने।

भावार्थ—तप के द्वारा शत्रुओं से अधर्षणीय व तप के द्वारा आत्मज्योति के द्रष्टा महान् तपस्वी पितरों के सम्पर्क में हम भी तपस्वी बनते हुए शत्रुओं से अधर्षणीय और आत्मदर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

योद्धा व दाता

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥ १७॥

१. **ये**=जो **शूरासः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले वीर **प्रधनेषु**=(**प्रकीर्णानि धनानि अस्मिन्**) प्रकृष्ट धनों की प्राप्ति के साधनभूत संग्रामों में **युध्यन्ते**=युद्ध करते हैं और **ये**=जो इन संग्रामों में **तनूत्यजः**=शरीरों को छोड़ने के लिए उद्यत होते हैं **वा**=अथवा **ये**=जो पितर **सहस्रदक्षिणः**=हज़ारों का दान देनेवाले हैं, **तान् चित् एव**=उन पितरों को ही निश्चय से यह **अपिगच्छतात्**=प्राप्त हो।

भावार्थ—वीर योद्धाओं व दानवीरों के सम्पर्क में हम भी संग्राम से मुख न मोड़नेवाले वीर व दानवीर बनें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सहस्रणीथाः कवयः

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥ १८॥

१. **ये**=जो **सहस्रणीथाः**=(सहस्रनयनाः) हज़ारों ज्ञानचक्षुओंवाले **कवयः**=क्रान्तदर्शी, ज्ञानी **सूर्यम् गोपायन्ति**=ज्ञानसूर्य को अपने में सुरक्षित करते हैं, उन **ऋषीन्**=तत्त्वद्रष्टा **तपस्वतः**=तपस्वी **तपोजान्**=तप के लिए ही मानो प्रादुर्भूत हुए-हुए पितरों को, हे **यम**=सर्वनियन्ता प्रभो! यह साधक **अपिगच्छतात्**=प्राप्त हो।

भावार्थ—तपस्वी व ज्ञानी पितरों के सम्पर्क में हम भी तप व ज्ञान की साधना करनेवाले बनें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिपदागायत्री ॥

'स्योना' पृथिवी

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥

१. हे **पृथिवि**=मातृभूतभूमे! तू **अस्मै**=उल्लिखित प्रकार से साधना करनेवाले के लिए **स्योना**=सुखकारिणी **भव**=हो। **अनृक्षरा**=तू इसके लिए कण्टकरहित हो अथवा (अ नृक्षरा) मनुष्यों (सन्तानों) का विनाश करनेवाली न हो। **निवेशनी**=तू इसके लिए निवेश देनेवाली हो और **सप्रथाः**=विस्तार से युक्त होती हुई तू **शर्म यच्छ**=सुख देनेवाली हो।

भावार्थ—उत्तम पितरों के सम्पर्क में साधनामय जीवन बितानेवाले पुरुष के लिए यह पृथिवी सुख देनेवाली होती है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

विशाल व सम्बाधाशून्य घरों में पितृयज्ञ का अनुष्ठान

असम्बाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व।
स्वधा याश्चकृषे जीवन्तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥ २० ॥

१. हे पुरुष! तू **पृथिव्याः**=पृथिवी के **असम्बाधे**=पीड़ा व भय से रहित—सम्बाधाशून्य **उरौ लोके**=बड़े विशाल लोक में **निधीयस्व**=निवास कर। तेरा निवासस्थान बाधाओं से शून्य व विशाल हो। २. **जीवन्**=जीता हुआ—प्राणों का धारण करता हुआ तू **याः**=जिन **स्वधाः**=स्वधाओं को—वृद्ध माता-पिता के लिए आदरपूर्वक अन्न-प्रदानों को (पितृभ्यः स्वधा) **चकृषे**=करता है, **ताः**=वे सब स्वधाएँ **ते**=तेरे लिए **मधुश्चुतः सन्तु**=मधु को क्षरित करनेवाली—आनन्द-रस प्रवाहित करनेवाली हों। वृद्ध माता-पिता से दिया गया आशीर्वाद तुम्हारी समृद्धि व आनन्द का कारण बने।

भावार्थ—हमारे घर विशाल व सम्बाधाशून्य हों। उनमें हम पितरों के लिए श्रद्धापूर्वक अन्नों को प्राप्त कराएँ। यह पितृयज्ञ हमारे जीवनों को मधुर बनाये।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'स्योनाः शग्माः' वाताः (शान्ति+शक्ति)

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान्गृहाँ उप जुजुषाण एहि।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः ॥ २१ ॥

१. हे साधक! **मनसा**=मन से **ते मनः ह्वयामि**=तेरे मन को पुकारता हूँ, अर्थात् घरों में तुम्हारे मन परस्पर मिले हुए हों। एक का मन दूसरे के मन को पुकारनेवाला हो। **इह**=यहाँ **इमान् गृहान्**=इन घरों को **जुजुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **उप एहि**=समीपता से प्राप्त हो। जब घरों में सबके मन मिले होते हैं—जब इनमें सौमनस होता है तब मनुष्य घर में आने के लिए उत्सुक रहता है—घर से दूर नहीं होता। २. इन घरों में रहता हुआ तू **पितृभिः संगच्छस्व**= पितरों के साथ सम्पर्कवाला हो—उनकी सेवा करता हुआ सदा उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर। **यमेन**=सर्वनियन्ता प्रभु से **सम्**=संगत हो। प्रभु की उपासना ही तो तुझे शक्ति, उत्साह व पवित्रता प्राप्त कराएगी। इसप्रकार जीवन बिताने पर **त्वा**=तेरे लिए **स्योनाः**=सुखकर **शग्माः**=शक्तिप्रद (शक्) **वाताः**=वायु **उपवान्तु**=बहें। तेरे लिए सभी वातावरण सुख व शक्ति को देनेवाला हो।

भावार्थ—घरों में परस्पर मन मिले हों। इन घरों में प्रीतिपूर्वक निवास करते हुए हम पितरों का आदर करें और प्रभु का उपासन करें—पितृयज्ञ व ब्रह्मयज्ञ को सम्यक् करनेवाले हों। ऐसा होने पर सारा वातावरण हमारे लिए शान्ति (सुख) व शक्ति को देनेवाला होगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदवाहा मरुतः

उत्त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः।
अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति॥ २२॥

१. **उदप्रुतः**=जल के साथ गति करनेवाले **उदवाहाः**=जल का वहन करनेवाले ये **मरुतः**=वृष्टि लानेवाले वायु **त्वा**=हे साधक! तुझे **उद् वहन्तु**=उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त कराएँ। ठीक समय पर वृष्टि होकर जीवन के लिए अन्नादि की किसी प्रकार से कमी न हो। २. **अजेन**= (अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा व वृष्टिजल के क्षेपण के द्वारा **शीतंकृण्वन्तः**=सर्दी को करते हुए ये मरुत् **वर्षेन**=वृष्टि से **उक्षन्तु**=भूमि को सिक्त करें, **बाल इति**=जिससे (बल जीवने) सब प्राणियों को जीवनधारण के लिए अन्न प्राप्त हो सके।

भावार्थ—वृष्टि लानेवाले वायु (मरुत्) ठीक से बहते हुए हमारी स्थिति को उत्कृष्ट बनाएँ। ये वृष्टि द्वारा ग्रीष्म के सन्ताप को दूर करने के साथ अन्नोत्पादन का साधन बनते हुए हमारे लिए जीवनप्रद हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

क्रत्वे दक्षाय जीवसे

उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
स्वान्गच्छतु ते मनो अधा पितॄँरुप द्रव॥ २३॥

१. मैं तेरे लिए **आयुः उद् अह्वम्**=आयु को पुकारता हूँ—तुझे आयुष्यवृद्धि का उपदेश करता हूँ, जिससे तू **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए हो, **क्रत्वे**=यज्ञादि कर्मों को करने के लिए होवे, **दक्षाय**=उन्नति व दक्षता के लिए होवे। अथवा 'प्राणो वै दक्षः, अपानः क्रतुः' (तै० २.५.२.४) इस वाक्य के अनुसार प्राण और अपान के लिए होवे और इसप्रकार **जीवसे**=दीर्घजीवन के लिए होवे। २. **ते मनः**=तेरा मन **स्वान् गच्छतु**=अपने बन्धुजनों के प्रति जाए—उनके प्रति प्रेम भी तुझे दीर्घजीवन की प्रेरणा दे। **अधा**=तथा **पितॄन् उपद्रव**=पितरों के समीप तू प्राप्त होनेवाला हो—उनके चरणों में बैठकर अपने कर्त्तव्यों का उपदेश ग्रहण करनेवाला बन।

भावार्थ—हम आयुष्यवृद्धि के उपायों को जानकर दीर्घजीवन धारण करें। हमारा जीवन यज्ञमय हो—उन्नतिपथ पर हम आगे बढ़ें। अपनों के प्रति कर्त्तव्यों को निभानेवाले हों और बड़ों के चरणों में बैठकर उनसे उपदेश ग्रहण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदासमविषमाऽऽर्षीगायत्री**॥

'मन व शरीर' की स्वस्थता

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते मा ते हास्त।
तन्वः किं चनेह॥ २४॥

१. हे पुरुष! **ते मनः मा हास्त**=तेरा मन तुझे न छोड़ जाए—तेरा मन सदा सोत्साह बना रहे। **इह**=यहाँ **असोः**=प्राणों का कुछ भी अंश **मा (हास्त)**=तुझे न छोड़ दे। **अङ्गानाम्**=अंगों का भी कोई अंश **मा**=तुझे न छोड़े—तेरा कोई भी अंग विकृत न हो जाए। **ते**=तेरे **रसस्य**=शरीरस्थ रुधिरादि का भी कोई अंग **मा**=तुझे न छोड़े। २. संक्षेप में, **ते तन्वः**=तेरे शरीर का **किंचन मा (हास्त)**=यहाँ कोई भी भाग तुझसे पृथक् न हो। तू अरिष्ट सर्वांग बना रहे।

भावार्थ—हम आयुष्य के नियमों का ज्ञान प्राप्त करके इसप्रकार युक्ताहारविहार बनें कि न तो हमारा मन हतोत्साह हो और न ही किसी अंग में कोई विकृति व कमी आये।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यमराजसु पितृषु

मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु॥ २५॥

१. हे साधक! **त्वा**=तुझे **वृक्षः**=यह संसार-वृक्ष (वृक्ष वरणे)—वरणीय (उत्तम) संसार **मा सम्बाधिष्ट**=बाधा पहुँचानेवाला न हो। यह **देवी**=दिव्यगुणों से युक्त **मही**=महनीय (पूजनीय) **पृथिवी**=भूमिमाता **मा**=मत बाधा पहुँचाए। यह संसार तेरे अनुकूल हो, विशेषकर यह पृथिवी तुझे सब महनीय दिव्य पदार्थों को प्राप्त करके अधिकतम बढ़ानेवाली हो, जैसे माता पुत्र को सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराके उसकी उन्नति की हेतु होती है। २. हे साधक! इसप्रकार बड़ा होकर तू **यमराजसु**=संयमी व व्यवस्थित और दीप्त जीवनवाले **पितृषु**=पितरों में—उनके चरणों में **लोकं वित्त्वा**=प्रकाश (आलोक) को प्राप्त करके **एधस्व**=सतत वृद्धि को प्राप्त हो।

भावार्थ—यह संसार हमारे अनुकूल हो। महनीय पृथिवी हमें दिव्य पदार्थों को प्राप्त कराके उन्नत करे। हम संयमी व दीप्त जीवनवाले पितरों से प्रकाश प्राप्त करके वृद्धि प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

क्षीणता का उचित उपचार

यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः।
तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु॥ २६॥

१. **यत्**=जो **ते**=तेरा **अङ्गम्**=अंग **पराचैः अतिहितम्**=(पराङ्मुखम् अतीत्य स्थितम् सा०) उलटकर अपने स्थान से विचलित हो गया है **वा**=या **यः**=जो **ते**=तेरा **प्राणः अपानः**=प्राण और अपान **परा इतः**=तुझसे दूर चला गया है, अर्थात् प्राणापान शक्ति में कमी आ गई है, **तत्**=उसको **ते**=तेरे **सनीडा**=समान घरवाले **पितरः**=पितर (रक्षक) लोग **संगत्य**=मिलकर—परस्पर विचार करके—**घासाद्**=(अद्यते भुज्यतेऽस्मिन् इति घासः शरीरम्) शरीर के उद्देश्य से—शरीर को ठीक

करने के लक्ष्य से—**घासम्**=भोजन को **पुनः**=फिर **आवेशयन्तु**=शरीर में प्रविष्ट कराएँ।

भावार्थ—अंग भंग हो जाए, अथवा प्राणापान शक्ति में कमी आ जाए तो बड़े, अनुभवी लोग मिलकर शरीर को ठीक करने के उद्देश्य से उचित भोजन की व्यवस्था करें। औषध से भी अधिक महत्त्व इस पथ्य भोजन का है। पथ्य के अभाव में औषध तो व्यर्थ ही हो जाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आचार्यकुल में प्रवेश तथा वहाँ से समावर्त्तन

अपेमं जीवा अरुधन्गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून्पितृभ्यो गमयां चकार॥ २७॥

१. **जीवाः**=जीवन धारण करनेवाले सब गृहस्थ **इमम्**=इस अपने सन्तान को **गृहेभ्यः**=घरों से **अप अरुधन्**=दूर ही निरुद्ध करते हैं। घरों से दूर आचार्यकुलों में अपने इस सन्तान को रखते हैं। **तम्**=उस सन्तान को **इतः ग्रामात्**=यहाँ ग्राम से **परि निर्वहत**=दूर बाहर आचार्यकुल में प्राप्त कराओ। माता-पिता कहें—अब तुझे 'मृत्यवे त्वा ददामीति' मृत्यु (आचार्य) के लिए सौंपते हैं। मोहवश सन्तानों को घरों में ही रक्खे रखना ठीक नहीं। २. **मृत्युः**=(आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः०) यह आचार्य **यमस्य**=उस सर्वनियन्ता प्रभु का **दूतः आसीत्**=दूत है—सन्देशहर है। यह विद्यार्थी के लिए ज्ञान का सन्देश सुनाता है। **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। ज्ञान ही तो इस आचार्य की वास्तविक सम्पत्ति है। यह विद्यार्थियों को खूब शक्तिसम्पन्न व ज्ञानी बनाकर इन **असून्**=(असु=प्राणशक्ति+प्रज्ञा) प्राणशक्ति व प्रज्ञा के पुञ्जभूत स्नातकों को **पितृभ्यः**=माता-पिता के लिए **गमयांचकार**=भेजता है। यही इनका समावर्त्तन होता है।

भावार्थ—गृहस्थ सन्तानों को आचार्यकुलों में भेज दें। आचार्य उन्हें संयमी विद्वान् बनाकर पुनः पितरों के समीप प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों के रूप में दस्यु

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात्प्र धमाति यज्ञात्॥ २८॥

१. **ये**=जो **दस्यवः**=(दस् उपक्षये) हमारा विनाश करनेवाले, **पितृषु प्रविष्टाः**=पितरों की श्रेणी में किसी प्रकार प्रविष्ट हो गये हैं, **ज्ञातिमुखाः**=(ज्ञातीनां मुखमिव मुखं येषाम्) हमारे सम्बन्धी प्रतीत होनेवाले **अहुतादः**=यज्ञों को किये बिना सब-कुछ खा जानेवाले **चरन्ति**=वहाँ समाज में विचरते हैं। **ये**=जो **परापुरः**=(पिण्डोदकं परापृणन्ति=पुत्राः, निपृणन्ति=पौत्राः, नियमेन पृणन्ति) हमारे पुत्रों को तथा **निपुरः**=पौत्रों को **भरन्ति**=अपहृत कर लेते हैं, अर्थात् उनके जीवनों को बिगाड़ देते हैं। **अग्निः**=राष्ट्र का संचालक **तान्**=उन दुष्टों को **अस्मात् यज्ञात्**=इस राष्ट्रयज्ञ से (संघ से बने हुए राष्ट्र से) **प्रधमाति**=बाहर करदे (धमतिर्गतिकर्मा)। २. राजा का यह कर्त्तव्य है कि जो पितर अपना कर्त्तव्यपालन न करें, उन्हें दण्डित करे। इनके लिए सर्वोत्तम दण्ड यही है कि इन्हें राष्ट्र से निष्कासित कर दिया जाए। ये पितर वे हैं जोकि रक्षणात्मक कार्य के स्थान पर भक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। बन्धु का रूप धारण करके सब-कुछ खा जाते हैं और हमारे पुत्रों व पौत्रों का जीवन बिगाड़ देते हैं।

भावार्थ—राजा का यह कर्त्तव्य है कि दुष्ट पितरों को दण्डित करे, उन्हें राष्ट्र से निर्वासित ही कर दे।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

स्वाः पितरः

सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः।
तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग्जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥ २९ ॥

१. **इह**=यहाँ—इस जीवन में **नः**=हमारे लिए **स्वाः पितरः**=अपने ही पितर—जो वानप्रस्थाश्रम में गये हुए 'पिता, पितामह व प्रपितामह' **संविशन्तु**=घरों में सम्यक् प्रविष्ट हों। समय-समय पर हमारे बुलाने पर ये अवश्य आएँ। ये पितर **स्योनं कृण्वन्तः**=सुख प्रदान करते हुए **आयुः प्रतिरन्त**=हमारे आयुष्य को बढ़ाते हैं। २. **तेभ्यः**=अनके लिए **हविषा**=यज्ञिय भोजन से **नक्षमाणाः**=प्राप्त होते हुए हम **शकेम**=शक्तिशाली बनें। हम **ज्योग्जीवन्तः**=दीर्घकाल तक जीते हुए **पुरुचीः शरदः**=अत्यन्त गतिशील वर्षोंवाले हों (पुरु अञ्च्)। खाट पर लेटे हुए न हों। अकर्मण्य जीवन, जीवन नहीं है।

भावार्थ—हमारे वनस्थ पितर समय-समय पर घरों पर आएँ। वे उचित परामर्शों द्वारा हमारे जीवन को सुखी करें, हमें दीर्घजीवी बनाएँ और हमारा जीवन अत्यन्त गतिमाय हो।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अजीवनों का पालन

यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम्।
तेना जनस्यासो भर्ता योऽत्रासदजीवनः ॥ ३० ॥

१. हे वनस्थ पितः! **याम्**=जिस **ते**=आपके लिए **धेनुम्**=गौ को **निपृणामि**=देता हूँ, **उ**=और **यम्**=जिस **क्षीरे आदेनम्**=दूध में पकाये गये भोजन को—मिष्टान्नादि को **ते**=आपके लिए देता हूँ, **तेन**=उस गौ व क्षीरान्नों से उस **जनस्य**=मनुष्य का आप **भर्ता असः**=भरणकरनेवाले हो, **यः**=जो **अत्र**=यहाँ **अजीवनः असत्**=जीविका से रहित हो—जिसमें जीविका के अपार्जन की क्षमता न हो।

भावार्थ—लूले, लंगड़ें व्यक्ति नगर में ही भीख न माँगते रहें। इनके वनों में आश्रम हों। वहाँ वानप्रस्थ पितरों के द्वारा इनकी व्यवस्था की जाए। इन वानप्रस्थ पितरों के लिए नागरिक आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते रहें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आदर्श पितर

अश्वावतीं प्र तर या सुशेवाक्षाकं वा प्रतरं नवीयः।
यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद्विदत भागधेयम् ॥ ३१ ॥

१. हे साधक! तू **अश्वावतीम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली जीवनस्थिति को **प्रतर**=बढ़ा, **या सुशेवा**=जो उत्तम कल्याण प्रदान करनेवाली है। **वा**=तथा **ऋक्षाकम्**=(ऋष्=to kill) वासनाओं के संहारक ज्ञान को **प्रतरम्**=खूब ही बढ़ा, जो ज्ञान **नवीयः**=अतिशयेन स्तुत्य है (नु स्तुतौ)। कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों का ठीक विकास व प्रयोग ही जीवन को सुन्दर बनाता है। २. **यः**=जो वासना **त्वा**=तुझे **जघान**=नष्ट करती है, **सः**=वह **वध्यः अस्तु**=नाश करने योग्य हो। 'काम-क्रोध' आदि को तू विनष्ट करनेवाला बन। अन्यथा ये तेरे विनाश का कारण बनेंगे। **सः**=काम-क्रोध-लोभरूप शत्रु **अन्यत् भागधेयम्**=वध से अन्य भाग को **मा विदत**=मत प्राप्त हो, अर्थात्

इन्हें तो नष्ट ही कर डाला जाए। इनके लिए कोई अन्य विकल्प न हो।

भावार्थ—हम कर्मेन्द्रियों को प्रशस्त करें, ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाएँ। 'काम-क्रोध' आदि विनाशक शत्रुओं को विनष्ट करें। ऐसा करने पर ही हम उत्तम पितर बन पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

परोवरः यमः

यमः परोऽवरो विवस्वान्ततः परं नाति पश्यामि किं चन।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान॥ ३२॥

१. प्रभुस्मरण ही हमें उत्तम जीवनवाला बनाता है, अतः साधक प्रभुस्मरण करता हुआ कहता है कि—**यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **परः अवरः**=दूर-से-दूर है और समीप-से-समीप है। 'दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च'। **विवस्वान्**=वह ज्ञान की किरणोंवाला है—अपनी ज्ञानकिरणों से साधकों के हृदयान्धकार को नष्ट करता है। **ततः परम्**=उस प्रभु से उत्कृष्ट मैं **किंचन न अतिपश्यामि**=किसी भी वस्तु को नहीं देखता हूँ। वह प्रत्येक गुण की चरमसीमा है। २. यह **मे अध्वरः**=मेरा यज्ञ **यमे अधिपश्यामि**=उस नियन्ता प्रभु में ही स्थित है—प्रभु के आधार से ही इस यज्ञ की पूर्ति होती है। 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। वस्तुतः प्रभु ही 'होता' है, हम तो बीच में निमित्तमात्र बनते हैं। ये **विवस्वान्**=सूर्यसम दीप्त प्रभु **भुवः**=सब लोकों को **अन्वाततान**=अनुकूलता से विस्तृत किये हुए हैं। इन लोकों को वे प्रभु ही विस्तृत करनेवाले हैं। उस प्रभु का प्रकाश ही लोकों में सर्वत्र फैला हुआ है।

भावार्थ—सर्वनियन्ता प्रभु सर्वव्यापक हैं, प्रभु से महान् और कुछ भी नहीं। प्रभु ही हमारे यज्ञों के पालक हैं और प्रभु ने ही सब लोकों को आलोकित किया हुआ है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सरण्यू के दो सन्तान

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥ ३३॥

१. **अमृताम्**=कभी नष्ट न होनेवाली—अथवा मृत्यु से बचानेवाली इस वेदवाणी को **मर्त्येभ्यः**=वासनाओं से आक्रान्त होकर विषयों के पीछे मरनेवाले मनुष्यों से **अपागूहन्**=दूर छिपाकर रखा जाता है। मर्त्य इसे प्राप्त नहीं कर सकता। यह अमृत वेदवाणी असंयत जीवनवाले पुरुष को प्राप्त नहीं होती। इस वेदवाणी को **सवर्णाम् कृत्वा**=(स-वर्णाम्) प्रभुवर्णन से युक्त करके **विवस्वते**=ज्ञानी पुरुष के लिए **अदधुः**=धारण करते हैं। 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' इस वाक्य के अनुसार वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ही है। २. जब एक ज्ञानी पुरुष इस वेदवाणी का धारण करता है तब यह **उत**=निश्चय से **अश्विनौ अभरत्**=प्राणापान का पोषण करती है, 'असुनीति' का—प्राणविद्या का प्रतिपादन करनेवाली यह वेदवाणी प्राणापान का पोषण क्यों न करेगी? **यत्**=जो **तत्**=वह प्राणापान का पोषण करनेवाली अमृता वेदवाणी **आसीत्**=थी, अर्थात् जब इसने हमारे प्राणापान की शक्तियों का वर्धन किया तो **सरण्यूः**=ज्ञान व कर्म से हमारा मेल करनेवाली इस वेदवाणी ने **उ**=निश्चय से **द्वा मिथुना**=दो युगलभूत 'नासत्या व दस्रा' को **जहात्**=जन्म दिया। ज्ञान ही नासत्य है—ज्ञान से सत्य का दर्शन होता है (न+असत्य); और कर्म ही दस्र है—कर्म से सब बुराइयों का संहार होता है (दसु उपक्षये)।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा इस 'सरण्यू' नामवाली वेदवाणी से सम्बन्ध हो और हमारे

जीवन में सत्य व पवित्रता का संचार हो।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः, अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

चार पितर

ये निखा॑ता॒ ये परो॑प्ता॒ ये द॒ग्धा ये चोद्धि॑ताः।
सर्वा॒ंस्ताना॑ग्न॒ आ व॑ह पि॒तॄन्ह॒विषे॒ अत्त॑वे॥ ३४॥

१. **ये निखाता**=जो संयम की भूमि में निश्चय से दृढ़ तथा गाड़े गये हैं—जिन्होंने दृढ़ संयम से ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञान प्राप्त किया है। **ये परोप्ताः**=(परम् उप्तं येषाम्) जिन्होंने गृहस्थ में सन्तानोत्पत्ति के लिए उत्कृष्टरूप में बीजवपन किया है। **ये दग्धाः**=वानप्रस्थ में जिन्होंने अपने को ज्ञानाग्निदग्ध बनाया है **च**=और **ये**=जो संन्यस्त होकर **उद्धिताः**=संसार से ऊपर स्थापित हुए हैं (उत् हिताः)। हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **तान् सर्वान् पितॄन्**=उन सब पितरों को **हविषे अत्तवे**=इन्द्रियों के—सात्त्विक भोजनों के सेवन के लिए **आवह**=तू अपने समीप प्राप्त करा। इनका सम्पर्क हमें भी इनकी भाँति पवित्र बनाएगा।

भावार्थ—हमारे घरों पर संयत जीवनवाले ब्रह्मचारी, पवित्र गृहस्थ, ज्ञानाग्निदग्ध वानप्रस्थ व भौतिक क्षेत्र से ऊपर उठे हुए संन्यस्त पधारें। हम उनके लिए सात्त्विक भोजनों को प्राप्त कराएँ और उनकी सात्त्विक प्रेरणाओं से लाभान्वित हों।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'अग्निदग्ध व अनग्निदग्ध' पितर

ये अ॑ग्निद॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।
त्वं तान्वे॑त्थ॒ यदि॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धया॑ य॒ज्ञं स्वधि॑तिं जुषन्ताम्॥ ३५॥

१. ये **अग्निदग्धाः**=जो पितर अग्निविद्या में परिपक्व ज्ञानवाले वा निपुण हैं—जिन्होंने अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त किया है। ये **अनाग्निदग्धः**=अथवा जो अग्निविद्या में निपुण नहीं भी हैं—जो आत्मचिन्तन में व समाज-स्वभाव के अध्ययन में लगे रहकर, विज्ञान की शिक्षा को बहुत महत्त्व नहीं दे पाये। ये सब पितर **दिवः मध्ये**=ज्ञान के प्रकाश में **स्वधया मादयन्ते**=आत्मतत्त्व के धारण से अत्यन्त हर्ष का अनुभव करते हैं। २. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! यदि **त्वं तान् वेत्थ**=यदि आप उन्हें जानते हो—उनकी सुध लेते हो तो **ते**=वे **स्वधया**=आत्मधारणशक्ति के साथ **स्वधितिं यज्ञं जुषन्ताम्**=अपना धारण करनेवाले यज्ञ का सेवन करनेवाले हों। जब ये परमात्मा के बनते हैं तब स्वधा के साथ 'स्वधितियज्ञ' का सेवन करते हैं। ये आत्मतत्त्व का धारण करते हैं और यज्ञमय जीवनवाले होते हैं। यह यज्ञ इनका धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—अग्निविद्या में तथा समाजशास्त्र व आत्मविद्या में निपुण पितर ज्ञान के प्रकाश में आत्मतत्त्व के धारण से हर्ष का अनुभव करते हैं। प्रभु के प्रिय बनकर ये आत्मतत्त्व का धारण करते हैं तथा यज्ञमय जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

मर्यादित तप

शं त॑प॒ माति॑ तपो॒ अग्ने॒ मा त॒न्वं॑१ तपः॑।
वने॑षु॒ शुष्मो॑ अस्तु ते पृ॒थि॒व्याम॑स्तु॒ यद्धरः॑॥ ३६॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी आचार्य (अग्निराचार्यस्तव)! इस विद्यार्थी को शान्त जीवनवाला बनाने

के लिए तपस्या में ले-चल, इसे **शं तप**=सुखकर तप करा, परन्तु **मा अति तपः**=मर्यादा से अधिक तप्त न करा। **तन्वं मा तपः**=इसके शरीर को संतप्त मत कर डाल। 'शरीरमबाधमानेन तपः आसेव्यम्' शरीर को न पीड़ित करते हुए ही तो तप करना चाहिए। २. हे आचार्य! **वनेषु**=संभजनीय कर्मों में **ते**=आपका **शुष्मः**=बल **अस्तु**=हो तथा **यत्**=जो **हरः**=रोगों का हरण करनेवाला तेज है, वह **पृथिव्याम् अस्तु**=इस शरीररूप पृथिवी में हो। सेवनीय कर्मों को करते हुए हम शक्तिशाली बनें तथा शरीर में वह शक्ति हो जो हमें नीरोग बनाये रक्खे। आचार्य विद्यार्थी को ऐसा ही बनाने का यत्न करें।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को तपस्या की अग्नि में समुचितरूप से तप्त कराते हुए शान्त जीवनवाला बनाएँ। तपस्या में भी मर्यादा अपेक्षित है—शरीर को सन्तप्त नहीं कर देना। संभजनीय कर्मों को करते हुए विद्यार्थी सशक्त बनें और शरीर में रोगों का हरण करनेवाले तेज से युक्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

आचार्य के गर्भ में

दुदाम्यस्मा अवसानमेतद्य एष आगन्मम चेदभूदिह।
यमश्चिकित्वान्प्रत्येतदाह ममैष राय उप तिष्ठतामिह॥ ३७॥

१. विद्यार्थी आचार्य के समीप आता है। आचार्य उसके माता-पिता से कहते हैं कि **अस्मै!** इसके लिए **एतत्**=इस **अवसानम्**=(अवस्यन्ति निवसन्ति अस्मिन्—निवासस्थानम्) निवासस्थान को **ददामि**=देता हूँ। **चेत्**=यदि **इह**=यहाँ **यः एषः आगन्**=यह जो आया है, वह **मम अभूत्**=मेरा ही हो गया है। अब विद्यार्थी ने आचार्य के समीप रहना है—उसी का हो जाना है। २. **चिकित्वान् यमः**=यह ज्ञानी नियन्ता आचार्य **प्रति एतत् आह**=प्रत्येक माता-पिता से यह कहते हैं कि **एषः**=यह बालक **मम राये**=मेरे ज्ञानधन के लिए **इह उपतिष्ठताम्**=यहाँ उपस्थित हो—यहाँ रहता हुआ यह मेरे ज्ञानधन को ग्रहण करनेवाला बने।

भावार्थ—विद्याथी आचार्य के समीप रहकर आचार्य से ज्ञानधन प्राप्त करे। आचार्य विद्यार्थी को अपने समीप निवासस्थान प्राप्त कराये। विद्यार्थी आचार्य का ही हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—३८, ३९, ४१ आर्षीगायत्री, ४०, ४२-४४ भुरिगार्षीगायत्री॥

'मात्रा बलम्' (उपनिषत्)

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै। शते शरत्सु नो पुरा॥ ३८॥
प्रेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै। शते शरत्सु नो पुरा॥ ३९॥
अपेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै। शते शरत्सु नो पुरा॥ ४०॥
वी३मां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै। शते शरत्सु नो पुरा॥ ४१॥
निरिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै। शते शरत्सु नो पुरा॥ ४२॥
उदिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै। शते शरत्सु नो पुरा॥ ४३॥
समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै। शते शरत्सु नो पुरा॥ ४४॥

१. सब बातों को मर्यादा में करना आवश्यक है। ३६वें मन्त्र के अनुसार तप की भी एक मर्यादा है। **इमाम्**=इस **मात्राम्**=मात्रा को **मिमीमहे**=हम मापनेवाले बनते हैं, अर्थात् सब कार्यों

को माप-तोलकर, युक्तरूप में करते हैं। युक्तचेष्ट पुरुष के लिए ही तो योग दुःखहा होता है। उपनिषद् का 'मात्रा बलम्' यह वाक्य इसी बात पर बल देता हुआ कह रहा है कि यह मात्रा ही तुम्हारे बल को स्थिर रक्खेगी। मात्रा को हम नापते हैं, **यथा**=जिससे **अपरं न मासातै**=कोई और वस्तु हमें न माप ले, अर्थात् हमारे जीवन को समाप्त न कर दे। **नः**=हमें **शते शरत्सु पुरा**=जीवन के सौ वर्षों से पहले कोई वस्तु न नाप ले, अर्थात् असमय में हमारी मृत्यु न हो जाए। २. इसी उद्देश्य से **(प्र इमां०)** हम मात्रा को प्रकर्षेण मापनेवाले बनते हैं। (हर्षे चापः प्रयुज्यते) **अप इमाम्**=आनन्दपूर्वक हम मात्रा को मापते हैं—माप तोलकर कार्यों को करने में आनन्द लेते हैं। **वि इमाम्**=विशेषरूप से इस मात्रा को मापते हैं। **निर् इमाम्**=निश्चय से इस मात्रा को मापते हैं। **उत् इमाम्**=उत्कर्षेण इस मात्रा को मापते हैं। **सम् इमाम्**=सम्यक् इस मात्रा को मापते हैं। मात्रा में सब कार्यों को करना ही तो दीर्घ व उत्कृष्ट जीवन का साधन है।

भावार्थ—हम मात्रा को मापनेवाले बनेंगे, अर्थात् सब कार्यों को माप-तोलकर करेंगे—विशेषकर खान-पान को। ऐसा करने पर सौ वर्ष से पूर्व हमें यम माप न सकेगा, अर्थात् हम दीर्घजीवनवाले बनेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

स्वः आगाम, आयुष्मान् भूयासम्

अमासि मात्रां स्व ऽरगामायुष्मान्भूयासम्।
यथापरं न मासातै शते शरत्सु नो पुरा॥ ४५॥

१. **मात्रां अमासि**=मैंने मात्रा को मापा है, अर्थात् प्रत्येक कार्य को माप-तोलकर किया है। मैं युक्ताहार-विहार बना हूँ—युक्तस्वप्नावबोध हुआ हूँ (सोना व जागना भी मात्रा में ही किया है) सब कर्मों में युक्तचेष्ट रहा हूँ। इसी से **स्वः अगाम**=सुख व आत्मप्रकाश को मैंने प्राप्त किया है। **आयुष्मान् भूयासम्**=मैं प्रशस्त दीर्घजीवनवाला बनूँ। २. मात्रा को मैंने इसीलिए मापा है कि **यथा अपरं न मासातै**=कोई और वस्तु हमें न माप ले। **नः**=हमें **शते शरत्सु पुरा**=सौ वर्षों के पूर्ण होने से पहले यम मापनेवाला न बने। हम अवश्य सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

भावार्थ—सब कार्यों को—खान-पान आदि को मात्रा में करने पर दीर्घ सुखी-जीवन की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपरिपर पथ (अकुटिल मार्ग)

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन्गच्छ॥ ४६॥

१. हम इस बात को कभी न भूलें कि **प्राणः**=प्राण, **अपानः**=अपान, **व्यानः**=व्यान, **आयुः**=जीवन तथा **चक्षुः**=आँख—ये सब **सूर्याय दृशये**=उस सूर्यस्थ ज्योति ब्रह्म के दर्शन के लिए दिये गये हैं। वस्तुतः जीवन का लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति ही है, २. अतः हे साधक! तू **यमराज्ञः**=उस सर्वनियन्ता शासक (देदीप्यमान) प्रभु के—प्रभु से उपदिष्ट **अपरिपरेण पथा**=अकुटिल मार्ग से **पितॄन् गच्छ**=पितरों को प्राप्त होनेवाला हो। अकुटिल मार्ग से चलता हुआ तू भी पितरों में गिना जानेवाला हो। 'आर्जवं ब्रह्मणः पदम्' सरलता ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम जीवन का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति को समझें। सरलमार्ग से चलते हुए पितरों में गिने-जाते हुए, प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सुखमय दीप्त' जीवन

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥ ४७ ॥

१. **ये**=जो **अग्रवः**=अग्रगतिवाले, अग्रु (ummarried) गृहस्थ में अनासक्त (अविवाहित), **शशमानाः (शंसमानाः)**=प्रभु-स्तवन करते हुए अथवा (शश प्लुतगतौ) प्लुतगति से कर्त्तव्यकर्मों को करते हुए **द्वेषांसि हित्वा**=सब प्रकार के द्वेषभावों को छोड़कर **अनपत्यवन्तः**=सन्तानों के चक्कर में न पड़े हुए, अथवा ऐश्वर्यशाली (पत्यते एश्वर्यकर्मणः)—ज्ञान के ऐश्वर्य से सम्पन्न पुरुष **परेयुः**=(परा ईयुः) सब दुरितों से दूर गतिवाले होते हैं। **ते**=वे **द्याम् उत् इत्य**=पृथिवीलोक से अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर द्युलोक में **लोकम् अविदन्त**=प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करते हैं—ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं 'दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्'। २. ये व्यक्ति **नाकस्य पृष्ठे**=स्वर्गलोक के पृष्ठ पर **अधिदीध्यानाः**=आधिक्येन दीप्त होते हैं। ये सुखमय व दीप्तजीवनवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु की दीप्ति से इनका जीवन दीप्त बनता है।

भावार्थ—हम अग्रगतिवाले, प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले, द्वेषशून्य, ज्ञानैश्वर्यपूर्ण बनकर प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले बनें तभी हमारा जीवन सुखमय व दीप्त होगा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उदन्वती, पीलुमती, प्रद्यौः

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥ ४८ ॥

१. प्रकृति का विज्ञान हमें विविध भोगों को प्राप्त कराता है। यहाँ मन्त्र में 'उदक' शब्द भोगों का प्रतीक है। यह **उदन्वती द्यौः**=सब भोगों को प्राप्त करानेवाला प्रकृतिविज्ञान **अवमा**=सबसे निचला है। (पालयति इति पीलुः), **पीलुमती इति**=पालक तत्त्वोंवाला जो जीव-विज्ञान है, वह **मध्यमा**=मध्यम ज्ञान है। २. इस प्रकृति व जीव के ज्ञान से **ह**=निश्चयपूर्वक **तृतीया**=तृतीय आत्मविज्ञान है। यह परमात्मज्ञान ही **प्रद्यौः इति**=प्रकृष्ट ज्ञान के रूपों में कहा जाता है। **यस्याः**=जिस 'प्रद्यौः' में—प्रकृष्ट ज्ञान में **पितरः आसते**=पितर आसीन होते हैं। इस ज्ञान को प्राप्त करके ही तो वे पितर बनते हैं। प्रभु का जाननेवाला किसी की हिंसा न करता हुआ रक्षणात्मक कार्यों में ही प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—प्रकृतिविज्ञान से हम आवश्यक भोगों को प्राप्त करें। जीवविज्ञान के द्वारा अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अपना पालन कर पाएँ। प्रकृष्ट आत्मविज्ञान हमें रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'अन्तरिक्ष, पृथिवी व द्युलोक' में स्थित पितर

ये नः पितु पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम्।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ ४९ ॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **पितुः पितरः**=पिता के भी पिता हैं—पिताजी के भी पिता के समान हैं, **ये**=जो **पितामहा**=हमारे दादा हैं, **ये**=जो **उरु अन्तरिक्षम् आविविशुः**=गृहस्थ के संकुचित क्षेत्र से निकलकर विशाल अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं—जिन्होंने अब सारी वसुधा को ही अपना कुटुम्ब बनाया है, **ये**=जो **पृथिवीम् आक्षियन्ति**=पृथिवी में निवास करते हैं—इस प्रकृतिरूप पृथिवी में निवास करते हुए गतिशील होते हैं (क्षि निवासगत्यौ), **उत**=और **द्याम्**=जो द्युलोक में—ज्ञान के प्रकाश में निवास करते हैं, **तेभ्यः पितृभ्यः**=उन पितरों के लिए **नमसा विधेम**=नमन से (आदर से) तथा अन्न से पूजन करते हैं। उन्हें आदरपूर्वक अन्न देनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—पितर वे हैं जो गृहस्थ के छोटे क्षेत्र से विशाल अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं—वानप्रस्थ बनकर सभी को अपना मानने लगे हैं। जो इस शरीर में निवास करते हुए गतिशील हैं और उत्कृष्ट आत्मतत्त्व को प्राप्त करते हैं। इन पितरों का हम आदरपूर्वक आतिथ्य करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जैसे माता पुत्र को

इदमिद्वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्ये᳕नं भूम ऊर्णुहि॥ ५०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्कृष्ट आत्मज्ञान को प्राप्त करनेवाले पितर प्रभु के प्रकाश को देखते हुए कहते हैं कि **इदम् इत् वा उ**=निश्चय से यह ब्रह्म ही सत्य है। **न अपरम्**=इसके समान और कुछ नहीं (अन्यत् सर्वमार्तम्) **दिवि सूर्यं पश्यसि**=ये प्रभु तो ऐसे हैं जैसे द्युलोक में सूर्य (आदित्यवर्णं, तमसः परस्तात्)। वहाँ अन्धकार का चिह्न भी नहीं है। २. **भूमे**=सब प्राणियों के निवास स्थानभूत प्रभो! (भवन्ति भूतानि अस्याम्) **यथा**=जैसे **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **सिचा**=वस्त्र प्रान्त से आच्छादित कर लेती है, इसीप्रकार **आप एनम्**=अपने इस रूप को **अभि ऊर्णुहि**=आच्छादित करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु अद्वितीय हैं, द्युलोकस्थ सूर्य के समान दीप्त हैं 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'। प्रभु अपने भक्त को इसप्रकार अपनी गोद में सुरक्षित कर लेते हैं, जैसे माता वस्त्रप्रान्त से पुत्र को।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जैसे पत्नी पति को

इदमिद्वा उ नापरं जरस्यन्यदितोऽपरम्।
जाया पतिमिव वाससाभ्ये᳕नं भूम ऊर्णुहि॥ ५१॥

१. **इदम् इत् वा उ**=यह हृदयों में द्योतित होनेवाला प्रभु ही निश्चय से है, **न अपरम्**=इसके समान और कोई नहीं 'अन्यत् सर्वमार्तम्'। **जरसि**=उस प्रभु का स्तवन होने पर **अन्यत्**=और सब-कुछ **इतः अपरम्**=इससे अपर है—नीचे है। प्रभु ही सर्वमहान् हैं। 'महतो महीयान्'। २. भक्त प्रार्थना करता है कि हे **भूमे**=सबके निवासस्थानभूत प्रभो! **इव जाया**=जैसे एक पत्नी **वासा**=वस्त्र से **पतिम्**=पति को आच्छादित कर लेती है, इसीप्रकार **आप एनम्**=इस भक्त को **अभि ऊर्णुहि**=सर्वतः आच्छादित करनेवाले होवें।

भावार्थ—प्रभु सर्वमहान् हैं। वही स्तुति के योग्य हैं। प्रभु अपने भक्त को इसप्रकार सुरक्षित कर लेते हैं जैसे पत्नी पति को।

सूचना—इस दृष्टान्त में भक्त कवियों के रहस्यवाद की गन्ध स्पष्ट है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पृथिवी माता के वस्त्र से अपना आच्छादन

अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि॥ ५२॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे साधक! मैं **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः मातुः**=इस पृथिवी माता के **वस्त्रेण**=वस्त्र से—आच्छादन शक्ति से **भद्रया**=कल्याण और सुख के हेतु से **अभि ऊर्णोमि**=आच्छादित करता हूँ। यह पृथिवी तुझे माता के समान अपनी गोद में कल्याण के हेतु से धारण करे। इससे तुझे भोजन व वस्त्र ठीक रूप में प्राप्त होते रहें। तू पृथिवी से ही भोजन व वस्त्रों को प्राप्त कर। मांस भोजनों से दूर रहना ही ठीक है। २. साधक प्रार्थना करता है कि **जीवेषु**=जीवों में **भद्रम्**=जो भद्र है—शुभ है **तत् मयि**=वह मुझमें हो, अर्थात् मैं सब शुभ बातों से युक्त होऊँ। ३. इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु उत्तर देते हैं कि जो **पितृषु स्वधा**=पितरों के विषय में स्वधा है—अन्नादि का देना है, **सा त्वयि**=वह तुझमें हो, अर्थात् तू पितरों को आदरपूर्वक अन्नादि प्राप्त करानेवाला हो। यह बड़ों का आदर तुझे सदा सुपथ पर ले-चलनेवाला बनेगा।

भावार्थ—हम माता पृथिवी से भोजन व वस्त्रों को प्राप्त करें। अपने बड़ों को आदरपूर्वक अन्न प्राप्त कराएँ, इससे हमारे जीवन में सब शुभों का समावेश होगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्नि और सोम के समन्वय से 'स्योन, रत्न व लोक' की प्राप्ति

अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्वि लोकम्।
उप प्रेष्यन्तं पूषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम्॥ ५३॥

१. **अग्नीषोमा**='अग्नि और सोम' क्रमशः 'ज्योति व आपः' के वाचक हैं। 'अग्नि' तेजस्विता व उग्रता है तो 'सोम' शान्ति है। इन दोनों—अग्नि और सोम का समन्वय ही जीवन में अभिप्रेत है। जो **पथिकृता**=मार्ग को बनानेवाले हैं—इन दोनों का समन्वय ही जीवन में ठीक मार्ग है। ये अग्नि और सोम **देवेभ्यः**=देववृत्ति के पुरुषों के लिए **स्योनम्**=सुख को, **रत्नम्**=रत्न को—रमणीय धन को तथा **लोकम्**=प्रकाश को **विदधथुः**=धारण करते हैं। २. **यः**=जो मार्ग **अञ्जोयानैः पथिभिः**=सरल (ऋजुतायुक्त) गतियोंवाले मार्गों से **प्र ईष्यन्तम्**=(ईष दर्शनं) प्रकर्षेण सबको देखते हुए **पूषणम्**=सर्वपोषक प्रभु को **उपवहाति**=समीप प्राप्त कराता है, हे अग्नीषोमा! आप **तत्र गच्छतम्**=वहाँ ही चलो। उस मार्ग की ओर ही चलो।

भावार्थ—यदि हम अपने जीवन में अग्नि और सोम का समन्वय करेंगे तो देववृत्ति के बनकर सुख, रमणीय धन व प्रकाश को प्राप्त करेंगे। ये अग्नि और सोम हमें उस मार्ग पर ले-चलेंगे जो हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इतः प्रच्यावयतु

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ ५४॥

१. **पूषा**=वह पोषक प्रभु **त्वा**=तुझे **इतः प्रच्यवतु**=इस भौतिक संग से पृथक् करे। वह प्रभु जो **विद्वान्**=ज्ञानी है, **अनष्टपशुः**=अपने प्राणियों को नष्ट नहीं होने देता। साधकों का कल्याण

करनेवाला है। **भुवनस्य गोपाः**=सम्पूर्ण भुवन का रक्षक है। २. **सः**=वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु ही **त्वा**=तुझे **एतेभ्यः**=इन **सुविदत्रियेभ्यः**=उत्तम ज्ञान के द्वारा रक्षा करनेवाले, **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले **पितृभ्यः**=पितरों के लिए **परिददत्**=प्राप्त कराता है। इनके रक्षण से तू भी उत्तम ज्ञान को प्राप्त करता हुआ देववृत्ति का बनता है।

भावार्थ—वह पोषक प्रभु हमें भौतिक संग में डूबने से बचाता है। इसी उद्देश्य से प्रभु हमें ज्ञानी, देववृत्तिवाले पितरों को प्राप्त कराते हैं। इनके रक्षण में हम भी देव बन पाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आयुः विश्वायुः

आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्।
यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥ ५५॥

१. **आयुः** (इण् गतौ), सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गति देनेवाला, **विश्वायुः**=(आयुः अन्नम्—नि० २.७)=सबके लिए अन्नों को प्राप्त करानेवाला **पूषाः**=पोषक प्रभु **त्वा परिपातु**=तेरा सर्वत्ररक्षण करे। यह प्रभु **त्वा**=तुझे **प्रपथे**=उत्कृष्ट मार्ग में **पुरस्तात् पातु**=आगे से रक्षित करे। प्रभु हमें उत्तम अन्नों को प्राप्त कराएँ और प्रशस्त मार्ग पर ले-चलें। सात्त्विक अन्नों से हमारी वृत्ति भी सात्त्विक ही बनेगी। २. **यत्र**=जिस मार्ग पर **सुकृतः**=पुण्यकर्मा लोग **आसते**=आसीन होते हैं, **यत्र**=जिस मार्ग पर **ते ईयुः**=वे गति करते हैं, **तत्र**=उस मार्ग पर **त्वा**=तुझे **सविता देवः**=प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **दधातु**=धारण करें।

भावार्थ—प्रभु ही गति देनेवाले हैं, प्रभु ही सब अन्नों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमें उत्कृष्ट मार्ग पर ले-चलते हैं। उस मार्ग पर ले-चलते हैं, जिस मार्ग से पुण्यकर्मा लोग गति करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यमस्य सादनं समितीः च

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात्॥ ५६॥

१. प्रभु कहते हैं कि मैं तेरे इस शरीर-रथ में **इमौ युनज्मि**=इन प्राणापान को जोड़ता हूँ। ये **ते**=तुझे **वह्नी**=लक्ष्य-स्थान पर ले-जानेवाले हों। **असुनीताय** (असु=प्रज्ञा। नि० १०.३४) ये प्राणापान तुझे प्रज्ञापूर्वक मार्ग पर ले-चलनेवाले हों। **वोढवे**=तेरे सब कार्यों का वहन करनेवाले हों। २. **ताभ्याम्**=उन प्राणापान के द्वारा **यमस्य सादनम्**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के गृह को **अवगच्छतात्**=तू प्राप्त होनेवाला हो **च**=और इसी उद्देश्य से **समितीः (सम् इतीः)**=उत्तम गतियों को तथा मिलकर होनेवाली गतियों को तू प्राप्त होनेवाला हो। तेरे कार्य विरोधात्मक न हों। 'येन देवः न वियन्ति'=देव विरुद्ध-गतियोंवाले नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु ने हमें प्राणापान प्राप्त कराये हैं। इनकी साधना के द्वारा हम लक्ष्यस्थान पर पहुँचेंगे। प्राणसाधना हमें प्रज्ञासम्पन्न करके कर्त्तव्य-वहन में समर्थ करेगी। अन्ततः इन्हीं से हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करेंगे और उत्तम गतियोंवाले होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

इष्टापूर्त द्वारा पापमोचन

एतत्त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान्यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु॥ ५७॥

१. हे जीव! **एतत्**=यह **प्रथमं वासः**=सर्वोत्कृष्ट मानव शरीररूप वस्त्र **त्वा आगन्**=तुझे प्राप्त हुआ है। **नु**=अब **एतत्**=इसको **अप ऊह**=दूर करनेवाला बन। **यत्**=जिसे **इह**=यहाँ—संसार में **पुरा अबिभः**=तूने पहले भी धारण किया है। कितनी ही बार यह शरीर तुझे प्राप्त हुआ है। यह प्राप्त तो इसलिए होता है कि हम इसप्रकार की साधना करें कि यह शरीर फिर न लेना पड़े। साधना के अभाव में बारम्बार हम यहाँ आते हैं। २. इस बार तो **विद्वान्**=ज्ञानी बनता हुआ तू **इष्टापूर्तं अनुसंक्राम**=इष्ट व आपूर्तरूप कर्मों में गतिवाला हो। तू यज्ञशील हो और लोकाहित के लिए किये जानेवाले 'वापी, कूप, तड़ाग' आदि के निर्माणरूप कार्यों को कर। **यत्र**=जिन कार्यों में **ते**=तेरे द्वारा **विबन्धुषु**=बन्धुरहित अनाथ व्यक्तियों की सहायता के लिए **बहुधा दत्तम्**=बहुत प्रकार से दिया जाता है, अर्थात् तू केवल अपना ही पेट भरना नहीं जानता, अपितु यज्ञशेष का ही सेवन करता है। 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः' यज्ञशिष्ट का सेवन करते हुए तू सब पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

भावार्थ—मानवजीवन को प्राप्त करके हम इसप्रकार साधना करें कि हमें फिर यह शरीर न लेना पड़े। साधना यही है कि हम जीवन को यज्ञमय बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभुरूप कवच के अभाव में 'काम' का आक्रमण

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा पीवसा च।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्षन्परीङ्खयातै॥ ५८॥

१. हे साधक! तू **गोभिः**=वेदवाणियों के द्वारा **अग्नेः वर्म परिव्ययस्व**=उस प्रभुरूप कवच को धारण करनेवाला बन। प्रभु तेरे कवच हों। इसके लिए वेदवाणियों का अध्ययन तेरा साधन हो, **च**=और तू अपने शरीर को भी **पीवसा मेदसा**=मज्जा तथा मेदस् तत्त्व—स्थौल्य व चर्बी से भी **संप्रोर्णुष्व**=सम्यक् आच्छादित कर। तेरा शरीर दुबला-पतला-सा न हो। ऐसा व्यक्ति चिड़चिड़े स्वभाव का बन जाता है। शरीर भरा हुआ हो और मनुष्य प्रभु-स्मरण में चलता हो, तब वह वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता। २. तू प्रभु को कवच बना तथा शरीर भी तेरा भरा हुआ हो, जिससे **त्वा**=तुझे यह 'काम' रूप शत्रु **न इत् परीङ्खयातै**=चारों ओर से घेर न ले—तुझे यह अपने वशीभूत न कर ले। यह काम **धृषणुः**=धर्षण करनेवाला है—हमें कुचल डालनेवाला है। **हरसा जर्हृषाणः**=विषयों में हरण के द्वारा रोमाञ्चित करनेवाला है। **दधृक्**=पकड़ लेनेवाला है—इससे पीछा छुड़ाना बड़ा कठिन है। **विधक्षन्**=यह हमें भस्म कर डालनेवाला है।

भावार्थ—'काम' के आक्रमण से हम तभी बच सकते हैं यदि प्रभु-स्मरणरूप कवच हमने धारण किया हुआ हो और हमारा शरीर अस्थि-पंजर-सा न होकर भरा व सुदृढ़ हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सुवीर, न कि गतासु (मृतप्राय-सा)

दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम॥ ५९॥

१. जो व्यक्ति उत्साहशून्य जीवनवाला मृतप्राय-सा होता है उस **गतासोः**=गतप्राण (मृतप्राय) व्यक्ति के **हस्तात्**=हाथ से **दण्डम्**=दमनशक्ति को **आददानः**=छीन लेते हुए, हे प्रभो! **त्वम्**=आप **श्रोत्रेण**=ज्ञान-प्राप्ति की साधनभूत श्रवणशक्ति के साथ **वर्चसा बलेन सह**=रोगों से मुक़ाबला करनेवाली 'वर्चस्' शक्ति के साथ तथा शत्रुओं से मुक़ाबला करनेवाले बल के साथ **अत्र**

एव=यहाँ ही हमारे जीवन में होओ। २. **इह**=यहाँ इस जीवन में **वयम्**=हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनते हुए **विश्वाः**=सब **मृधः**=हिंसन करनेवाली **अभिमातीः**=शत्रुभूत अभिमान आदि भावनाओं को **जयेम**=जीतनेवाले हों। सब शत्रुओं को जीतकर हम इस जीवन में सुखी हों और आपको प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु निरुत्साही (गतप्राण-से) व्यक्ति के हाथ से दमनशक्ति को छीन लेते हैं। वे प्रभु 'श्रोत्र, वर्चस् व बल' के साथ हमारे जीवन में हों। हम वीर बनकर विनाशक अभिमान आदि वृत्तियों को पराभूत करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

क्षत्रेण वर्चसा बलेन

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम्॥ ६०॥

१. **मृतस्य**=मृत=मरे हुए-से—निराशावादी पुरुष के **हस्तात्**=हाथ से **धनुः आददाना**=शत्रु-संहारक धनुष् को छीनता हुआ **त्वम्**=तू **क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह**=क्षतों से त्राण की शक्ति, रोगनिवारकशक्ति तथा शत्रुओं से मुक़ाबला करनेवाली शक्ति के साथ **भूरि वसु समागृभाय**=पालन-पोषण क़रनेवाले धन को ग्रहण कर। २. इसप्रकार तू **अर्वाङ्**=हम सबके सामने **पुष्टं जीवलोकम् एहि**=पोषणशक्तियुक्त इस जीवलोक को प्राप्त हो।

भावार्थ—हम मृतप्राय न बनकर जीवित होते हुए हाथ में शत्रु-विद्रावक धनुष् को लें। 'क्षत्र, वर्चस् व बल' के साथ खूब ही धन को प्राप्त हों। पुष्ट जीवलोक को प्राप्त करनेवाले हों।

अथ चतुस्त्रिंशः प्रपाठकः

अथ तृतीयोऽनुवाकः

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पत्नी का उत्तराधिकार

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥ १॥

१. **इयं नारी**=यह गृह को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाली स्त्री **पतिलोकं वृणाना**=पतिलोक का वरण करती हुई हे **मर्त्य**=मनुष्य! **त्वा उपनिपद्यते**=तेरे समीप प्राप्त होती है। **प्रेतम्**=इस संसार से चले गये हुए भी तुझको समीपता से प्राप्त होती है, अर्थात् अपने पिता के घर में, या फिर से विवाहित होकर किसी अन्य घर में नहीं चली जाती है। २. यह नारी **पुराणम्**=(पुरा अपि नवम्) सनातन **धर्मं अनुपालयन्ती**=धर्म का पालन करती हुई तुझसे दूर नहीं होती। तेरे कुल को ही अपना कुल समझती है। **तस्मै**=उस नारी के लिए **प्रजां द्रविणं च**=सन्तान व धन को **इह**=यहाँ **धेहि**=धारण कर, अर्थात् यदि पत्नी पिता के घर में लौट नहीं जाती तो सन्तानों व धनों की उत्तराधिकारिणी वही है।

भावार्थ—पति की अकस्मात् मृत्यु हो जाने पर पत्नी ही धन व सन्तान की उत्तराधिकारिणी है, यदि धर्म का पालन करती हुई वह पतिलोक का ही वरण करती है, पिता के घर नहीं लौट जाती और न ही अन्य विवाह करती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

स्वस्थ रहते हुए सन्तान का ध्यान करना

उदीर्ष्व नार्युभि जीवलोकं गुतासुमेतमुप शेष एहिं।

हुस्तुग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमुभि सं बभूथ॥ २॥

१. हे **नारि**=गृह की उन्नति की कारणभूत पत्नि! तू **उदीर्ष्व**=ऊपर उठ और घर के कार्यों में लग (ईर गतौ) **जीवलोकम् अभि**=इस जीवित संसार का तू ध्यान कर। जो गये वे तो गये ही। अब तू **गतासुम्**=गतप्राण **एतम्**=इस पति के **उपशेषे**=समीप पड़ी है। इसप्रकार शोक में पड़े रहने का क्या लाभ? **एहि**=आ, घर की ओर चल। घर की सब क्रियाओं को ठीक से करनेवाली हो। २. **हस्तग्राभस्य**=तेरे हाथ का ग्रहण करनेवाले **दधिषोः**=गर्भ में सन्तान को स्थापित करनेवाले **तव पत्युः**=तेरे पति की **इदं जनित्वम्**=इस उत्पादित सन्तान को **अभि**=लक्ष्य करके **सं बभूथ**=सम्यक्तया होनेवाली हो, अर्थात् तू अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यानकर, जिससे सन्तान के पालन-पोषण में किसी प्रकार से तू असमर्थ न हो जाए।

भावार्थ—यदि अकस्मात् पति मृत्यु का शिकार हो जाए तो पत्नी शोक न करती रहकर, पति के सन्तानों का ध्यान करती हुई अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

नीयमानां, परिणीयमानाम्

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्।

अन्धेन यत्तमसा प्रावृतासीत्प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम्॥ ३॥

१. मैंने **जीवां युवतिम्**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण इस युवति को **नीयमानाम् अपश्यम्**=पितृगृह से पतिगृह की ओर ले-जाती हुई को देखा है। एकदिन इस युवति का विवाह हुआ था। आज उसी युवति को **मृतेभ्यः**=मरे हुओं से **परिणीयमानाम्**=परे ले-जायी जाती हुई को देखता हूँ। इसके पति प्राण छोड़कर चले गये हैं। यह शोकाकुल है—बन्धु-बान्धव इसे मृत पति के शरीर से दूर ले-जाने में लगे हैं। २. **यत्**=क्योंकि यह **अन्धेन तमसा प्रावृत आसीत्**=पति की मृत्यु से घने शोकान्धकार से आवृत थी, **तत्**=अतः **एनाम्**=इसको **प्राक्तः**=इस पति के शव के सामने से **अपाचीम् अनयम्**=(पराङ्मुखीम्) दूर—परे प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—संसार क्या विचित्र है! एकदिन युवति विवाहित होती है। कुछ देर बाद वह मृत शरीरों से दूर ले-जायी जा रही होती है। पत्नी के लिए पति की मृत्यु पर शोकान्धकार में डूब जाना स्वाभाविक है। उसे पति के शव के सामने से दूर—परे ले-जाना ही ठीक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—सतःपङ्क्तिः॥

घर को स्वर्ग बनाना

प्रजानत्य ∫ घ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती।

अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम्॥ ४॥

१. हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये नारि! तू **जीवलोकं प्रजानती**=जीवति प्राणियों को जाननेवाली हो—उनका ध्यान करनेवाली हो। **देवानां पन्थाम् अनुसंचरन्ती**=देवों के मार्ग पर चलती हुई हो—दिव्य गुणोंवाली बनने का प्रयत्न कर। २. **अयम्**=यह **ते**=तेरा पति **गोपतिः**=इन्द्रियों का स्वामी है—जितेन्द्रिय है, **तं जुषस्व**=इस जितेन्द्रिय पति को प्रीतिपूर्वक सेवति करनेवाली हो।

एनम्=इसको **स्वर्गं लोकम् अधिरोहय**=स्वर्गलोक में आरूढ़ करनेवाली हो। इस जितेन्द्रिय पुरुष का यह घर स्वर्ग बने। स्वर्ग बनाने का उत्तरदायित्व पत्नी पर ही तो है।

भावार्थ—पत्नी गौ के समान अहन्तव्य है। यह सन्तानों का ध्यान करती है—दिव्यगुणों को धारण करती है। अपने जितेन्द्रिय पति का प्रीतिपूर्वक धारण—सेवन करती हुई यह घर को स्वर्ग बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिपदानिचृद्गायत्री** ॥

उप द्याम्, उप वेतसम्

उप द्यामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम्। अग्ने पित्तमपामसि॥ ५॥

१. गृहपति को यहाँ 'अग्नि' कहा गया है। उसने घर को आगे ले-चलना है—उन्नत करना है। इसका जीवन उत्तम होगा तो यह घर को भी उन्नत कर पाएगा, अतः इस अग्नि के लिए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील गृहपते! तू **द्याम् उप असि**=ज्ञान के प्रकाश के समीप रहनेवाला है। स्वाध्याय के द्वारा सदा ज्ञान को बढ़ानेवाला है। **वेतसम् उप** (अजेर्वीभावः भज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा वासनाओं को परे फेंकने की क्रिया के समीप है, अर्थात् सदा क्रियाशील रहता हुआ वासनाओं को अपने से दूर रखता है। २. तू **नदीनाम् अवत्तरः**=स्तोताओं में सर्वाधिक प्रीणन करनेवाला है (अव प्रीणने)। स्तुति द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाला है। हे अग्ने! तू **अपाम्**=शरीरस्थ रेतःकणों का **पित्तम्**=तेज **असि**=है। रेतःकणों के रक्षण से तेरे शरीर में उचित उष्मता की सत्ता है। वस्तुतः इन रेतःकणों की शक्ति से ही तो तेरे जीवन में ज्ञान (द्याम्) कर्म (वेतसम्) तथा स्तुति (नदीनाम्) का सुन्दर समन्वय है।

भावार्थ—हम उत्तम गृहपति बनने के लिए स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की वृद्धि करनेवाले, क्रियाशीलता द्वारा वासनाओं को दूर रखनेवाले तथा स्तुति द्वारा प्रभु का प्रीणन करनेवाले बनें। इन सब बातों के लिए शरीर में रेतःकणों के रक्षण से उचित उष्मता व तेजस्वितावाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोम्य भोजन, न कि आग्नेय

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
क्याम्बूरत्र रोहतु शाण्डदूर्वा व्य[ल्कशा॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम वाक्य में शरीर में रेतःकणों के रक्षण का उल्लेख है। वस्तुतः 'आग्नेय भोजन' सोमरक्षण के लिए अनुकूल नहीं है, अतः कहते हैं कि हे **अग्ने**=अग्नितत्त्व-प्रधान आग्नेय भोजन! **त्वम्**=तूने **यम्**=जिसको **सम् अदहः**=जला-सा दिया है, जिसमें उत्तेजना पैदा कर दी है—अब **तम्**=उसको **उ**=निश्चय से **पुनः निर्वापय**=फिर शान्त करनेवाला हो—उसकी उत्तेजना को बुझानेवाला हो। २. इस उत्तेजना की शान्ति के लिए **अत्र**=यहाँ—हमारे लिए **क्याम्बूः**=(कियत् प्रमाणमुदकं-अम्बु-अस्मिन्) अत्यधिक जल के परिमाणवाले ये व्रीहि (चावल) आदि पदार्थ **रोहतु**=उगें तथा **व्यल्कशा**=विविध शाखाओं से युक्त **शाण्डदूर्वा**=(शडि रोगे, ऊर्व हिंसायाम्) रोगों का हिंसन करनेवाली वनस्पति उगे। इन व्रीहि व अन्य वनस्पति भोजनों से हम उत्तेजना से बचकर सोम का रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम आग्नेय भोजनों से बचें और सदा सौम्य भोजनों को करते हुए नीरोग व शान्त बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

तीन ज्योतियाँ

इदं त एकं पर ऊं त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
संवेशने तन्वा३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे॥ ७॥

१. हे साधक—गतमन्त्र के अनुसार सौम्य भोजनों को ग्रहण करके सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष! **इदं ते एकम्**=यह 'प्रकृतिविज्ञान' तेरी एक ज्योति है **उ**=और **एकम्**=एक **ते**=तेरी **परः**=इस प्रकृतिविज्ञान से उत्कृष्ट 'आत्मविज्ञान' की ज्योति है, परन्तु यहाँ भी न रुककर तू **तृतीयेन ज्योतिषा**=तृतीय 'परमात्मविज्ञान' रूप ज्योति के साथ **संविशस्व**=(संविश to enter, to enjoy, to engage oneself in) यहाँ शरीर में रह, आनन्द ले और अपने को व्यापृत रख। २. **संवेशने**=इन तीन ज्योतियों के साथ आनन्दमय जीवनवाला होकर **तन्वा**=इस शरीर से—अथवा शक्तियों के विस्तार के साथ **चारुः**=सुन्दर जीवनवाला व ज्ञान का चरण (भक्ष्ण) करनेवाला तू **एधि**=हो। तू **देवानाम्**=देवों का **प्रियः**=प्रिय बन। दिव्य गुण ही तुझे रुचिकर हों। **परमे सधस्थे**=सर्वोत्कृष्ट हृदयदेश में, जहाँ आत्मा व परमात्मा की सहस्थिति है, (सध-स्थ) उस हृदय में, तू निवास करनेवाला हो। अन्तर्दृष्टिवाला बन।

भावार्थ—हम 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करें। अपनी शक्तियों का विस्तार करते हुए सुन्दर जीवनवाले बनें। दिव्यगुण हमें प्रिय हों। अन्तर्दृष्टि बनें—हृदय में प्रभु के समीप बैठनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

सं सोमेन, सं स्वधाभिः

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे।
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः॥ ८॥

१. हे साधक! **उत्तिष्ठ**=तू उठ—सोता ही न रह। **प्रेहि**=प्रकृष्ट मार्ग पर गतिवाला बन। **प्रद्रव**=कर्त्तव्यपथ पर आगे बढ़ तथा **सलिले सधस्थे**=(सलिलम्—अन्तरिक्ष सा०) आत्मा व परमात्मा के सहस्थानभूत हृदयान्तरिक्ष में **ओकः कृणुष्व**=तू अपना घर बना। लौकिक कार्यों से निपटते ही तू इस घर में आनेवाला बन। संभजन में ही तू रिक्त समय का यापन कर। मार्ग में इधर-उधर न भटक। २. **तत्र**=वहाँ उस उत्कृष्ट जीवनस्थिति में **त्वम्**=तू **पितृभिः**=ज्ञान देनेवाले आचार्यों के साथ **संविदानः**=(विद् लाभे) संगत होता हुआ, **सोमेन**=शरीर में सोमशक्ति से **सं मदस्व**=संगत होकर आनन्दित हो—शरीर में सोम का रक्षण करनेवाला बन तथा **स्वधाभिः सम्**=आत्मधारणशक्तियों के साथ संगत हो। इसप्रकार तेरा जीवन आनन्दमय बने।

भावार्थ—आलस्य को छोड़कर हम गतिशील हों—कर्त्तव्यकर्मों को करनेवाले बनें। रिक्त समय को हृदय में प्रभु के साथ ही बिताएँ, अर्थात् हृदय में प्रभु का ध्यान करें। ज्ञानियों के सम्पर्क में ज्ञानवृद्धि करते हुए सोम का शरीर में रक्षण करें और आत्मधारणशक्तियों के साथ आनन्दमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

स्वस्थ शरीर, रुच्यनुकूल कार्य, प्रिय निवासस्थान

प्र च्यवस्व तन्वं१ सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम्।
मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ॥ ९॥

१. **प्रच्यवस्व**=(प्रच्यु drive, urge on) तू अपने को आगे प्रेरित कर। सबसे प्रथम **तन्वं संभरस्व**=शरीर का सम्भरण करनेवाला बन। शरीर में उत्पन्न हो गई सब न्यूनताओं को दूर कर। **ते गात्रा मा विहायि**=तेरे अंग तुझे न छोड़ जाएँ—उनमें किसी प्रकार की कमी न आ जाए **मा उ शरीरम्**=और न ही तेरा शरीर छूट जाए—तू स्वस्थ बना रहे। २. अब स्वस्थ बनकर जहाँ तेरा **मनः निविष्टम्**=मन लगे **अनु संविशस्व**=उसके अनुसार कार्यक्षेत्र में प्रवेश कर। आजीविका के लिए 'ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यों' के योग्य जिस भी कार्य में तेरा मन लगे उस कार्य को तू करनेवाला बन। **यत्र भूमेः जुषसे**=जिस भूप्रदेश को तू प्रेम करता है **तत्र गच्छ**=वहाँ जा। जिस भूभाग में तुझे रहना अच्छा लगे, वहाँ तू अपना निवासस्थान बना।

भावार्थ—संसार में आलस्य को छोड़कर हम आगे बढ़ें। शरीर के सब अंगों को स्वस्थ रक्खें। आजीविका के लिए रुचि के अनुसार कार्य का चुनाव करें। जो भूप्रदेश प्रिय हो, वहाँ अपना निवासस्थान बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वर्चसा, मधुना घृतेन

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु॥ १०॥

१. **माम्**=मुझे **सोम्यासः**=सौम्य स्वभाववाले अथवा सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाले **पितरः**=माता-पिता व आचार्य **वर्चसा**=तेजस्विता से **अञ्जन्तु**=अलंकृत करें। **देवाः**=सब देव मुझे **मधुना**=वाणी के माधुर्य से तथा **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति से अलंकृत करें। २. **चक्षुषे**=दीर्घकाल तक सूर्य के दर्शन के लिए **मा**=मुझे **प्रतरम्**=ख़ूब ही **तारयन्तः**=रोग आदि से व्यावृत्त करते हुए **जरसे**=पूर्ण जरावस्था, अर्थात् आयुष्य के लिए **मा**=मुझे **जरदष्टिं वर्धन्तु** (जरती जीर्णा अष्टिः अशनं यस्य—सा०) पचे हुए भोजनवाला करके बढ़ाए, अर्थात् अन्त तक मेरी पाचनशक्ति ठीक बनी रहे और मैं स्वस्थ व दीर्घजीवी बन सकूँ।

भावार्थ—मुझे माता-पिता-आचार्य 'वर्चस्वी' बनाएँ। देव मुझे मधुर व ज्ञानदीप्त करें। सब प्राकृतिक शक्तियाँ—सूर्य, चन्द्र आदि देव मुझे स्वस्थ व दीर्घजीवी करें। इनकी अनुकूलता से मेरी पाचनशक्ति ठीक बनी रहे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः**॥

वर्चः मेधा, रयि

वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्य ꣡नक्त्वासन्।
रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु॥ ११॥

१. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **माम्**=मुझे **वर्चसा**=वर्चस्—तेजस्विता से **समनक्तु**=संयोजित करे। अग्रगति की भावना मुझे तेजस्वी बनाए। **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **मे आसन्**=मेरे मुख में **मेधां नि अनक्तु**=बुद्धिपूर्वक बोली गई उत्तम वाणी को निश्चय से संयोजित करे। व्यापक व उदार हृदयवाला बनता हुआ मैं सबके प्रति मधुर वाणी बोलनेवाला बनूँ। मेरे मुख से उच्चरित शब्दों में मूर्खता का आभास न हो। २. **विश्वेदेवाः**=सब देव **मे**=मेरे लिए **रयिम्**=ऐश्वर्य को **नियच्छन्तु**=निश्चय से देनेवाले हों। सब देवों की—प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता मेरे अन्नमयादि सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण करे। **स्योनाः**=सुख देनेवाले **आपः**=शरीरस्थ रेतःकण **पवनैः**=अपनी शोधनशक्तियों के द्वारा **मा पुनन्तु**=मुझे पवित्र करनेवाले हों।

शरीर में शक्तिकणों के रक्षण से रोगादि का सम्भव नहीं रहता, मन भी राग-द्वेष का शिकार नहीं होता। ये रेत:कण शरीर को नीरोग व मन को निर्मल बनाते हैं।

भावार्थ—अग्रगति की भावना मुझे वर्चस्वी बनाये, व्यापकता (उदारता) मुझे बुद्धिपूर्वक मधुर शब्द बोलनेवाला करे। सूर्य आदि सब देव मेरे अन्नमयादि कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से सम्पन्न करें। शरीर में सुरक्षित रेत:कण मुझे नीरोग व निर्मल बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

मित्रावरुणा, आदित्याः, इन्द्रः, सविता

मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु।
वर्चो म इन्द्रो न्य ङ्क्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु॥ १२॥

१. **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण—स्नेह व निर्द्वेषता की देवताएँ **माम्**=मुझे **परि अधाताम्**=सब प्रकार से धारण करें। स्नेह व निर्द्वेषता के धारण से शरीर स्वस्थ बनता है, मन पवित्र रहता है और बुद्धि तीव्र होती है। **स्वरवः** (स्वृ शब्दे)=ज्ञान का उपदेश करनेवाले **आदित्याः**=सूर्य के समान ज्ञानदीप्त आचार्य **मा**=मुझे **वर्धयन्तु**=बढ़ाएँ। ज्ञानोपदेश द्वारा वे मेरी वृद्धि का कारण बनें। २. **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **मे हस्तयोः**=मेरे हाथों में **वर्चः न्यनक्तु**=वर्चस् को—तेजस्विता को निश्चय से जोड़े। **सविता**=वह सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु **मा**=मुझे **जरदष्टिम्** (जरती जीर्णा अष्टिः अशनं यस्य)=जीर्ण—पचे हुए भोजनवाला **कृणोतु**=करे। भोजन के ठीक पाचन से मुझे नीरोगता व दीर्घजीवन प्राप्त हो।

भावार्थ—मैं स्नेह व निर्द्वेषतावाला बनकर अपना सब प्रकार से धारण करूँ। ज्ञानी आचार्यों के उपदेश से वृद्धि को प्राप्त होऊँ। सर्वशक्तिमान् प्रभु मुझे शक्ति दें। प्रेरक प्रभु मुझे उचित प्रेरणा दें और मैं युक्ताहारविहारवाला बनकर दीर्घजीवी बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'संगमनं जनानां' (सपर्यत)

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥ १३॥

१. **यः**=जो **मर्त्यानाम्**=मरणधर्मा पुरुषों में **प्रथमः ममार**=सर्वप्रथम मृत्यु को प्राप्त हुआ, **यः**=जो **एतं लोकम्**=इस लोक में **प्रथमः प्रेयाय**=सर्वप्रथम प्राप्त हुआ, उन सब **जनानाम्**=जानेवाले व आनेवाले मनुष्यों के **संगमनम्**=गतिरूप—सबके आश्रयस्थान **वैवस्वतम्**=ज्ञान की किरणों के पुञ्ज **यमम्**=सर्वनियन्ता **राजानम्**=सबके शासक—दीप्त प्रभु को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से—यज्ञशिष्ट के सेवन से **सपर्यत**=पूजो।

भावार्थ—प्रभु सबके आश्रयस्थान हैं। ज्ञान की किरणों के पुञ्ज हैं। सर्वनियन्ता व शासक हैं। यज्ञशेष का सेवन करते हुए हम प्रभु का पूजन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

पितरों का आना

परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात॥ १४॥

१. गृहस्थ को सम्यक् पूर्ण करके, वानप्रस्थ में प्रवेश करनेवाले लोग 'पितर' कहलाते हैं।

उनसे प्रार्थना करते हैं कि **परायात**=दूर-दूर देशों में जानेवाले बनो, **च**=और हे **पितरः**=ज्ञानादि द्वारा रक्षण करनेवाले पितरो! **आयात**=समय-समय पर हमारे घरों पर भी आओ। **अयम्**=यह **वः**=आपका **यज्ञः**=संग (यज् संगतिकरणे) **मधुना समक्तः**=माधुर्य से सम्यक् अलंकृत है। आप ज्ञान देकर हमारे जीवनों को मधुर बनाते हो। २. **इह**=यहाँ **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **द्रविणा दत्त उ**=ज्ञानधनों को अवश्य दीजिए **च**=तथा **नः**=हमारे लिए **भद्रम्**=कल्याणकर **सर्ववीरं**=(सर्वः पूर्ण स्वस्थ) स्वस्थ सन्तानों के साथ **रयिम्**=ऐश्वर्य को **दधात**=धारण कीजिए।

भावार्थ—वनस्थ पितरों का समय-समय पर घरों में आना घरों के जीवन को मधुर बनाने में सहायक होता है। ये पितर हमारे लिए ज्ञानधन देकर हमारे घरों को वीरसन्तानों व कल्याणकर धनों से युक्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्वादश पितरः

कण्वः कक्षीवान्पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः॥ १५॥

१. 'कण्व' आदि द्वादश पितर **नः**=हमें **अवन्तु**=ज्ञान द्वारा व अपने जीवन द्वारा प्रेरणा देते हुए प्रीणित करें। **कण्वः**=कण-कण करके ज्ञान का संचय करनेवाला अथवा ज्ञानोपदेश करनेवाला। **कक्षीवान्**=(कक्ष्या अश्वरज्जुः) प्रशस्त कक्ष्यावाला—इन्द्रियों को जिसने कसा हुआ है। **पुरुमीढः**=अपने में ख़ूब ही शक्ति का सेचन करनेवाला, **अगस्त्यः**=(अगस्त्य पापपर्वत का संघात (सम्यक् विनाश) करनेवाला, **श्यावाश्वः**=गतिशील इन्द्रियोंवाला—सदा कर्त्तव्यकर्मों में तत्पर **सोभरि**=उत्तमता से वरण करनेवाला, **अर्चनानाः**=पूजा की वृत्तिवाला, अथवा (अर्चनीयं अनः शरीरशकटं यस्य) उत्तम आदरणीय शरीर शकटवाला, **विश्वामित्रः**=सबके प्रति स्नेह की भावनावाला, **अयं जमदग्निः**=यह (जमतः, ज्वलन्तः अग्नयो यस्य) सदा प्रज्वलित यज्ञाग्निवाला, **कश्यपः** (पश्यकः)=ज्ञानी और **वामदेवः**=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला।

भावार्थ—'कण्व' आदि पितरों के सम्पर्क में हम भी उनके जीवन से प्रेरणा लेते हुए वैसे ही बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों से प्रेरणा व उपदेश की प्राप्ति

विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥ १६॥

१. हे **विश्वामित्र**=सबके प्रति स्नेहवाले, **जमदग्ने**=प्रज्वलित यज्ञाग्निवाले, **वसिष्ठ**=उत्तम वसुओंवाले, **भरद्वाज**=अपने में शक्ति भरनेवाले, **गोतम**=प्रशस्त इन्द्रियों व ज्ञान की वाणियोंवाले, **वामदेव**=सुन्दर दिव्यगुणोंवाले पितरो! आप **नः**=हमें **अग्रभीत्**=ग्रहण करो। हम आपके प्रिय हों—आपके चरणों में उपस्थित हों। आप हमारे गृहों पर आने का अनुग्रह करें। २. **शर्दिः**=(छर्दिः, घृ दीप्तौ) ज्ञानदीप्त व (छर्दिः=गृहम्) सबको शरण देनेवाला, **अत्रिः**=काम, क्रोध, लोभ से शून्य (अ-त्रि) **नः**=हमें **नमोभिः**=नम्रता की भावनाओं के द्वारा ग्रहण करें। हम नम्र होकर इनके समीप पहुँचें, प्रथम इनकी नम्रता से प्रभावित होकर नम्र बनने का संकल्प करें। **सुसंशासः**=उत्तम रीति से सम्यक् शासन (अनुशासन=उपदेश) करनेवाले **पितरः**=पितरो! आप **नः मृडत**=हमें सुखी करें। आपका उपदेश हमें उत्तम प्रेरणा देनेवाला हो।

भावार्थ—विश्वामित्र आदि पितरों के समीप हम प्राप्त हो सकें, उनकी नम्रता हमें भी नम्र बनाये। इनके उत्तम उपदेश हमारे जीवनों को सुखी बनानेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कस्ये मृजाना!

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु॥ १७॥

१. **कस्ये** (कस् गतिशासनयोः)=गति व शासन में उत्तम प्रभु में—सब गतियों के स्रोत व सबके शासक प्रभु में **मृजानाः**=अपने जीवन को शुद्ध करते हुए साधक लोग **रिप्रम्**=दोषों को **अतियन्ति**=लाँघ जाते हैं। प्रभु का उपासन जीवन को निर्दोष बनाता है। इसप्रकार निर्दोष बनकर **प्रतरम्**=दीर्घ **नवीयः**=स्तुत्य **आयुः दधानाः**=जीवन को धारण करते हैं। २. इस उत्तम गृह में **प्रजया धनेन**=उत्तम सन्तानों व धनों से **आप्यायमानाः**=आप्यायित होते हुए **अध**=अब **गृहेषु**=घरों में **सुरभयः स्याम**=सुगन्धित, अर्थात् प्रशस्त जीवनोंवाले हों अथवा ऐश्वर्यसम्पन्न व दीप्त जीवनवाले हों।

भावार्थ—घरों में प्रभु की उपासना करते हुए हम शुद्ध, निर्दोष, दीर्घ व स्तुत्य जीवनवाले बनें। हमारे सन्तान उत्तम हों—धन-धान्य की कमी न हो। हमारे घर ऐश्वर्यसम्पन्न व दीप्त हों—अर्थात् वहाँ धन के साथ ज्ञान भी हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिग्जगती**॥

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृह्णते॥ १८॥

१. गतमन्त्र के साधक लोग **अञ्जते**=अपने जीवन को स्वास्थ्य व नीरोगता से अलंकृत करते हैं। **व्यञ्जते**=अपने मनों को विशेषरूप से निर्द्वेषता व प्रेमादि सद्गुणों से सुशोभित करते हैं। **समञ्जते**=अब ये अपने मस्तिष्क को ज्ञान-विज्ञान की दीप्ति से कान्त व सुन्दर बनाते हैं। ऐसे बनकर ये **क्रतुं रिहन्ति**=यज्ञात्मक कर्मों में स्वाद लेते हैं। **मधुना अभ्यञ्जते**=इसप्रकार जीवन को माधुर्य से सजाते हैं, अर्थात् स्वस्थ, निर्मल, दीप्त, यज्ञमय व मधुर जीवनवाले होते हैं। २. **सिन्धोः उच्छ्वासे**=ज्ञानसमुद्र के उच्छ्वसित (अभिवृद्ध) होने पर **पतयन्तम्**=(पत् गतौ) प्राप्त होनेवाले **उक्षणम्**=शक्ति के सेचक **पशुम्**=सर्वद्रष्टा प्रभु को, **हिरण्यपावाः आसु गृह्णते**=(हिरण्यं वै वीर्यम्, हिरण्यं वै ज्योतिः) वीर्य का रक्षण करनेवाले व ज्ञानज्योति को अपने में सुरक्षित करनेवाले लोग यज्ञादि उत्तम क्रियाओं के होने पर, ग्रहण करते हैं। प्रभुदर्शन के लिए वीर्यरक्षण व ज्ञानवृद्धि आवश्यक है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को स्वस्थ, निर्मल, दीप्त, यज्ञमय व मधुर बनाएँ। प्रभु तभी प्राप्त होते हैं जब हमारे अन्दर ज्ञानसमुद्र उच्छ्वसित हो उठता है। वीर्य व ज्योति का रक्षण करनेवाले लोग ही प्रभु को यज्ञादि उत्तम क्रियाओं के होने पर ग्रहण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अर्वाणः, कवयः, सुविदत्राः' पितरः

यद्वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः॥ १९॥

१. हे **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पितरो! **यत्**=जो **वः**=आपका **मुद्रम्**=आनन्दजनक **सोम्यं च**=और सोम के रक्षण की अनुकूलतावाला अतएव सौम्य स्वभाव का साधनभूत ज्ञान है **तेनो** (तेन उ)=उस ज्ञान के साथ ही **सचध्वम्**=आप हमें प्राप्त होओ। आप **हि**=निश्चय से **स्वयशसः भूत**=अपने ज्ञान व कर्मों के कारण यशस्वी हो। आपके सम्पर्क में हमें भी उत्तम ज्ञान व कर्मों की प्रेरणा प्राप्त होगी। २. **ते**=वे आप **अर्वाणः**=(अर्व to kill) वासनाओं का संहार करनेवाले, **कवयः**=क्रान्तदर्शी व ज्ञानी हो। **आश्रृणोत**=आप हमारी पुकार को अवश्य सुनिए। **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **हूयमानः**=पुकारे जाते हुए आप हमारे लिए **सुविदत्राः**=उत्तम ज्ञानधनों के द्वारा त्राण करनेवाले होते हो।

भावार्थ—पितरों से प्राप्त होनेवाला ज्ञान हमें 'आनन्द व सौम्यता' प्राप्त करनेवाला होता है। ये पितर वासनाओं का संहार करनेवाले, क्रान्तदर्शी व उत्तम ज्ञान व धन से हमारा रक्षण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यज्ञों में पितरों का आह्वान

ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः।
दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वम्॥ २०॥

१. हे पितरो! **ये**=जो आप **अत्रयः**=काम, क्रोध व लोभ से रहित हो, **अङ्गिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले व अंगारों के समान दीप्त तेजवाले हो, **नवग्वाः**=स्तुत्य गतिवाले, **इष्टावन्तः**=यज्ञशील, **रातिषाचः**=दान की क्रिया से समवेत (युक्त) हो और **दधानाः**=धारणात्मक क्रियाओंवाले हो। २. **दक्षिणावन्तः**=प्रशस्त दक्षिणवाले, **सुकृतः**=पुण्यकर्मा **ये**=जो आप **उ**=निश्चय से **स्थ**=हो, वे आप **अस्मिन् बर्हिषि**=इस हमारे द्वारा आयोजित यज्ञ में **आसद्य**=आकर **मादयध्वम्**=आनन्द अनुभव करो अथवा इस यज्ञ में उपस्थित होकर हमारे हर्ष का कारण बनो।

भावार्थ—यज्ञों में 'अत्रि, अंगिरस्, नवग्व, इष्टावान्, रातिषाच, दधान, दक्षिणावान् व सुकृत्' पितरों की उपस्थिति हमारे उत्साह को बढ़ानेवाली होती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यज्ञों द्वारा 'पवित्र व दीप्त लोक' की प्राप्ति

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः।
शुचीदयन्दीध्यतः उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्॥ २१॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अधा**=अब **यथा**=जैसे **नः**=हमारे **परासः**=उत्कृष्ट जीवनवाले **प्रत्नासः**=पुराणे **पितरः**=पितर **ऋतम् आशशानाः**=यज्ञ व सत्य को प्राप्त करते हुए **इत्**=निश्चय से **शुचि अयन्**=दीप्तलोक को प्राप्त करनेवाले हुए, उसीप्रकार अब भी हमारे **दीध्यतः**=ज्ञान की दीप्तिवाले, **उक्थशासः**=प्रभु के स्तोत्रों का शंसन करनेवाले पितर **क्षाम भिन्दन्तः**=(क्षमा रात्रिः तत्सम्बन्धि तमः पापम्) अविद्यान्धकारवाली रात्रि के सम्बन्धी अज्ञानान्धकार को विदीर्ण करते हुए **अरुणीः**=ज्ञान की तेजस्वी किरणों को **अपव्रन्**=विवृत करनेवाले होते हैं। ये हमारे लिए अन्धकार को दूर करके प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—पितर यज्ञों को करते हुए पवित्र, दीप्तलोक को प्राप्त करते हैं। वे ज्ञानी व प्रभु के स्तोता पितर हमारे लिए अज्ञानान्धकार को दूर करके ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुचन्तः, अग्निम्, वावृधन्तः इन्द्रम्

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन्॥ २२॥

१. **सुकर्माणः**=उत्तम यज्ञरूप कर्मों को करनेवाले, **सुरुचः**=उत्तम ज्ञानदीप्तिवाले, **देवयन्तः**=प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले, **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अयः न**=जैसे एक अयस्कार (लोहार) अग्नि में तपाकर धातु को शुद्ध कर लेता है, इसीप्रकार तपस्या की अग्नि में **जनिमा धमन्तः**=अपने जन्मों को शुद्ध कर लेते हैं। २. ये पितर **अग्निं शुचन्तः**=यज्ञाग्नियों को समिधाओं से दीप्त करते हुए, **इन्द्रं वावृधन्तः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को स्तुतियों के द्वारा बढ़ाते हुए—अपने अन्दर प्रभु के अधिकाधिक प्रकाश को देखते हुए, **नः**=हमारे लिए **उर्वीं गव्याम्**=विशाल ज्ञानवाणी समूह को **परिषदं अक्रन्**=(परितः सीदन्तीम्) चारों ओर आसीन करते हैं। हम चारों ओर ज्ञान की वाणियों से ही घिरे होते हैं—ये ज्ञानवाणियाँ हमारा कवच बनती हैं।

भावार्थ—पितर 'सुकर्मा, सुरुच् व देवयन्' हैं। ये अपने जीवन को तप की अग्नि में परिशुद्ध करते हैं। यज्ञशील व प्रभु के स्तोता होते हुए, हमें ज्ञानवाणियों का कवच प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः** ॥

उपासना से लाभ

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद्देवानां जनिमान्त्युग्रः।
मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन्वृधे चिदर्य उपरस्यायोः॥ २३॥

१. **इव**=जैसे **क्षुमति**=अन्नवाले स्थान में (चरागाह में) एक व्यक्ति **पश्वः यूथा**=पशुओं के झुण्ड को **आ अख्यत्**=समन्तात् देखता है, इसीप्रकार एक उपासक **अन्ति**=उस प्रभु के समीप **देवानां जनिम**=देवों के विकास (प्रादुर्भाव) को देखता है, अर्थात् जैसे एक चरागार में पशु संघ उपस्थित होता है, इसीप्रकार प्रभु की उपासना में दिव्यगुण उपस्थित होते हैं। इनकी उपस्थिति से यह उपासक **उग्रः**=बड़ा तेजस्वी व दीप्त बनता है। २. इस उपासना के द्वारा **मर्तासःचित्**=ये मरणधर्मा पुरुष—आजतक विषयों के पीछे मरनेवाले ये पुरुष **उर्वशीः अकृप्रन्**=(उरु वश्ये अस्याः) अपने को महान् वशीकरणवाला व समर्थ बनाते हैं। सामान्य मनुष्य, उपासना के द्वारा अपने पर शासन करनेवाला व शक्तिशाली बन जाता है। **अर्यः**=(स्वामी) यह जितेन्द्रिय पुरुष **उपरस्य**=(उप्रस्य) बीजवपन द्वारा उत्पन्न हुई-हुई अपनी **आयोः**=सन्तान की **वृधे चित्**=निश्चय से वृद्धि के लिए होता है।

भावार्थ—उपासना से (१) दिव्यगुणों का वर्धन होता है (२) मनुष्य जितेन्द्रिय बनता है (३) सन्तानों को उत्तम बना पाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वपसः अभूम

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ २४॥

१. गतमन्त्र का उपासक प्रभु से कहता है कि **ते अकर्म**=आपकी प्राप्ति के लिए जप-तप आदि कर्मों को हमने किया है (मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि) और **स्वपसः**=उत्तम

यज्ञादि कर्मोंवाले हम **अभूम**=हुए हैं। **विभातीः उषसः**=ये प्रकाशमान् उषाएँ **ऋतम् अवस्त्रन्**=सत्य वेदज्ञान को आच्छादित करनेवाली हुई हैं, अर्थात् इन उषाओं में हम स्वाध्याय करनेवाले बने हैं। २. **विश्वं तद् भद्रम्**=वह सब कल्याणकर ही होता है **यद् देवाः अवन्ति**=जिसे माता-पिता-आचार्य आदि देव हममें (Animate, promote, favour) उत्पन्न करते हैं। हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **सुवीराः**=बड़े वीर बनते हुए **बृहद् वदेम**=खूब ही ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम प्रातः जप करें, यज्ञ करें, स्वाध्याय को अपनाएँ। देवों से प्रेरित कर्मों को करें। परस्पर मिलने पर ज्ञानचर्चाओं को करें और वीर बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'इन्द्र-धाता-अदिति-सोम'

इन्द्रो॑ मा म॒रुत्वा॒न्प्राच्या॑ दि॒शः पा॑तु बाहु॒च्युता॑ पृथि॒वी द्यामि॑वो॒परि॑।
लो॒क॒कृतः॑ पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ॥ २५॥
धा॒ता मा॒ निर्ऋ॑त्या॒ दक्षि॑णाया दि॒शः पा॑तु बाहु॒च्युता॑ पृथि॒वी द्यामि॑वो॒परि॑।
लो॒क॒कृतः॑ पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ॥ २६॥
अदि॑तिर्मादि॒त्यैः प्र॒तीच्या॑ दि॒शः पा॑तु बाहु॒च्युता॑ पृथि॒वी द्यामि॑वो॒परि॑।
लो॒क॒कृतः॑ पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ॥ २७॥
सोमो॑ मा॒ विश्वै॑र्दे॒वैरुदी॑च्या दि॒शः पा॑तु बाहु॒च्युता॑ पृथि॒वी द्यामि॑वो॒परि॑।
लो॒क॒कृतः॑ पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ॥ २८॥

१. **मरुत्वान्**=प्राणोंवाला **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक प्रभु **मा**=मुझे **प्राच्याः दिशः**=पूर्व दिशा से आनेवाली किन्हीं भी आपत्तियों से **पातु**=बचाए। प्राणसाधना करते हुए (मरुत्वान्) हम जितेन्द्रिय बनकर (इन्द्रः) आगे बढ़ते चलें (प्राची), जिससे मार्ग में आनेवाले विघ्नों को हम जीत सकें। २. **बाहुच्युता**=बाहुओं से विनिर्गत—दान में दे दी गई **पृथिवी**=भूमि **इव**=जैसे **उपरि**=ऊपर **द्याम्**=द्युलोक का रक्षण करती है, पृथिवी के दान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह दान हमारे लिए स्वर्ग का रक्षण करता है, इसीप्रकार प्राणसाधना व जितेन्द्रियता हमारे लिए प्राची दिशा का (अग्रगति का) रक्षण करती है। ३. इस प्राणसाधना व जितेन्द्रियता के उद्देश्य से ही हम **लोककृतः**=प्रकाश करनेवाले, **पृथिकृतः**=हमारे लिए मार्ग दर्शनेवाले पितरों को **यजामहे**=अपने साथ संगत करते हैं—इन्हें आदर देते हैं। उन पितरों को **ये**=जो **इह**=यहाँ **देवानाम्**=देवों के **हुतभागा**=हुत का सेवन करनेवाले **स्थ**=हैं, अर्थात् जो यज्ञ करके सदा यज्ञशेष का सेवन करते हैं। ४. **धाता**=सबका धारण करनेवाला प्रभु **मा**=मुझे **दक्षिणायाः दिशः**=दक्षिण दिशा से आनेवाली **निर्ऋत्याः**=दुर्गति से **पातु**=रक्षित करें। धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होकर हम दाक्षिण्य (कुशलता) को प्राप्त करें और दुर्गति से अपना रक्षण कर पाएँ। ५. **अदितिः**=(अ-दिति) स्वास्थ्य का देवता **आदित्यैः**=सब दिव्यगुणों के आदान के साथ **मा**=मुझे **प्रतीच्या दिशः**=इस पश्चिम दिशा से **पातु**=रक्षित करें। यह प्रतीची दिशा 'प्रति अञ्च्'=प्रत्याहार की दिशा है। हम प्रत्याहार के द्वारा ही स्वस्थ बनते हैं और दिव्यगुणों का आदान कर पाते हैं। ६. **सोमः**=सोम (शान्त) प्रभु **मा**=मुझे **विश्वैर्देवैः**=सब देवों के साथ **उदीच्याः दिशः पातु**=उत्तर दिशा से रक्षित करें। यह उदीची दिशा उन्नति की दिशा है। इसके रक्षण के लिए सोम या विनीत बनना आवश्यक है। विनीतता के साथ ही सब दिव्यगुणों का वास है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा जितेन्द्रिय बनते हुए आगे बढ़ें। धारणात्मक कर्मों में लगे हुए हम दाक्षिण्य को प्राप्त करें। स्वाध्याय व दिव्यगुणों के आदान के लिए हम प्रत्याहार का पाठ पढ़ें—इन्द्रियों को विषयव्यावृत करें। हम विनीत बनकर दिव्यगुणों को धारण करते हुए उन्नति की दिशा में आगे बढ़ें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

ऊर्ध्वं धारयातै

धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २९॥

१. वह **धर्ता**=धारण करनेवाला **ह**=निश्चय से **धरुणः**=सूक्ष्माति सूक्ष्म सत्य तत्त्वों का भी आधारभूत प्रभु **त्वा**=तुझे **ऊर्ध्वं धारयातै**=ऊपर धारण करे—उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त कराए। इसप्रकार ऊपर धारण करे **इव**=जैसेकि **सविता**=सर्वप्रेरक प्रभु **भानुम्**=दीप्त **द्याम्**=द्युलोक को **उपरि**=ऊपर धारण करता है। वस्तुतः प्रभु हमारे भी मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानदीप्ति से दीप्त करके हमें ऊपर धारण करनेवाले हों। २. इसी उद्देश्य से हम **इह**=यहाँ उन पितरों का **यजामहे**=आदर करते हैं—संगतिकरण करते हैं उनके प्रति अपना अर्पण करते हैं, **ये**=जोकि **लोककृतः**=प्रकाश करनेवाले हैं, ज्ञान देकर **पथिकृतः**=मार्ग बनानेवाले हैं तथा **देवानां हुतभागाः स्थ**=देवों के हुत का सेवन करनेवाले, अर्थात् यज्ञशील है। इन पितरों के सम्पर्क में हमारे मस्तिष्क अवश्य ज्ञानदीप्त बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु धर्ता हैं—धरुण हैं। वे दीप्त द्युलोक को जैसे ऊपर धारण करते हैं, उसी प्रकार हमारे मस्तिष्क को भी ज्ञानदीप्त करके हमें उन्नत करते हैं। हम इस ज्ञानप्रकाश द्वारा मार्गदर्शक, यज्ञशील पितरों के चरणों में नम्रता से उपस्थित होकर ज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**३० पञ्चपदातिजगती; ३१ विराट्शक्वरी; ३२-३५ भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व

प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३०॥
दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३१॥
प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३२॥
उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३३॥
ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३४॥
ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३५॥

१. हे प्रभो! **पुरा संवृतः**=इस शरीर से आच्छादित हुआ-हुआ मैं **त्वा**=आपको **प्राच्यां दिशि**=आगे बढ़ने की दिशा के निमित्त तथा **स्वधायाम्**=आत्मतत्त्व के धारण के निमित्त **आदधामि**=इसप्रकार धारण करता हूँ, **इव**=जैसे **बाहुच्युता**=बाहु से दी गई **पृथिवी**=भूमि **उपरि**=ऊपर **द्याम्**=स्वर्ग को (आकाश को) धारण करती है। प्रभु का धारण हमें अग्रगति में स्थापित करता है और आत्मशक्ति को धारण कराता है। इसी उद्देश्य से हम **लोककृतः**=प्रकाश करनेवाले, **पथिकृतः**=हमारे लिए मार्गों को बनानेवाले उन पितरों का **यजामहे**=आदर व संग करते हैं, **ये**=जो पितर **इह**=यहाँ **देवानां हुतभागाः स्थ**=देवों के हुत का सेवन करनेवाले हैं, अर्थात् यज्ञशील हैं। इन पितरों का सम्पर्क हमें भी उन-जैसा बनाएगा। २. इसीप्रकार **दक्षिणायां दिशि**=दक्षिण दिशा के निमित्त हम प्रभु को धारण करते हैं। धारण किये गये प्रभु हमें दाक्षिण्य प्राप्त कराते हैं—कर्मों में कुशलता प्राप्त कराते हैं। यह कर्मकुशलता ऐश्वर्यवृद्धि का कारण बनती है। यह ऐश्वर्य हमें विलास में न ले-जाए, अतः **प्रतीच्यां दिशि**=(प्रति अञ्च्) इस पश्चिम व प्रत्याहार की दिशा के निमित्त प्रभु को हृदयों में स्थापित करते हैं। हृदयों में प्रभुस्मरण हमें वासनाओं का शिकार न होने देगा। इसप्रकार **उदीच्यां दिशि**=उदीची दिशा के निमित्त मैं प्रभु को धारण करता हूँ। प्रभुस्मरण से मैं ऊपर और ऊपर उठता चलूँगा। यह उत्कर्ष होता ही चले, अतः **ध्रुवायां दिशि**=ध्रुवता की दिशा के निमित्त प्रभु को धारण करूँ और इस ध्रुवता के द्वारा **ऊर्ध्वायां दिशि**=ऊर्ध्व दिशा के निमित्त प्रभु को धारण करता हूँ। हृदयस्थ प्रभु मुझे सर्वोच्च स्थिति में प्राप्त कराएँगे। ३. अथवा इन सब दिशाओं में प्रभु की महिमा व सत्ता का अनुभव करते हुए उपासक कह उठता है—आगे-पीछे सब ओर से मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप अनन्तवीर्य व अमित विक्रम हैं। सबमें समाये हुए हैं—आप सर्व हैं। वस्तुतः ऐसा अनुभव करनेवाला व्यक्ति ही प्राणतत्त्व का धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—इस शरीर को प्राप्त करके इसे स्वस्थ रखते हुए हम 'अग्रगति, दाक्षिण्य, विषयव्यावृत्ति, उन्नति, स्थिरता व चरमोत्कर्ष' को प्राप्त करते हुए आत्मतत्त्व के धारण के निमित्त प्रभु का स्मरण करें। सब दिशाओं में प्रभु की महिमा को देखते हुए ही हम 'स्व-धा' में स्थापित होंगे। इसी उद्देश्य से उत्तम पितरों के सम्पर्क में विनीतता से ज्ञान को बढ़ाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप् (एकावसाना); ३७ आसुरीगायत्री (एकावसाना)**॥

'उदपूः-मधुपूः-वातपूः' धर्ता प्रभु

धर्तासि धरुणोऽसि वंसगोऽसि॥ ३६॥

उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि॥ ३७॥

१. हे प्रभो! आप **धर्ता असि**=हम सबका धारण करनेवाले हैं। आप अपने उपासकों के शरीरों को स्वस्थ करते हैं। उपासना से हमारी वृत्ति विलास की ओर नहीं झुकती और परिणामतः हम स्वस्थ बने रहते हैं। **धरुणः असि**=आप सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का भी धारण करनेवाले हैं—आप हमारे मनों व बुद्धियों को भी सुरक्षित रखते हैं। आपकी उपासना से हमारे मन निर्मल व बुद्धियाँ सूक्ष्मार्थग्राहिणी बनती हैं। **वंसगः असि**=हे प्रभो! आप हमें (वंसानां वननीयगतीनां गमयता) सम्भजनीय, सुन्दर व्यवहारों को प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु का उपासक सदा यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है। २. हे प्रभो! आप **उदपूः असि**=(उदकस्य पूरयिता) हमारे शरीरों में रेतःकणों (उदक) के पूरयिता हैं। इन रेतःकणों के रक्षण के द्वारा **मधुपूः असि**=माधुर्य के

पूरयिता हैं। विलासी व शक्ति का अपव्य करनेवाले लोग ही कटुवचनों का प्रयोग करते हैं। रेतःकणों के रक्षण व माधुर्य के द्वारा आप **वातपूः असि**=(वातस्य पूरयिता) वात का—प्राणशक्ति का पूरण करनेवाले हैं। रेतःकणों का अपव्य व कटुता प्राणशक्ति का संहार करती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीरों को धारण करते हैं—मन व बुद्धि का भी धारण करते हैं। इसप्रकार वे हमें 'स्वस्थ शरीर, मन व बुद्धि' वाला बनाकर उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। प्रभु हमारे रेतःकणों का व माधुर्य का पूरण करके प्राणशक्ति का पूरण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यमे इव यतमाने

इतश्च मामुतश्चावतां यमेइव यतमाने यदैतम्।
प्र वां भरन्मानुषा देवयन्त आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने॥ ३८॥

१. प्रभु गृहस्थ पति-पत्नी से कहते हैं कि आप दोनों **इतः च अमुता च**=इधर से और उधर से—इस लोक से और परलोक से—इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस के द्वारा—**मा अवताम्**=मुझे प्रीणित करनेवाले होओ। अभ्युदय और निःश्रेयस को सिद्ध करते हुए आप मेरे प्रिय बनो। यह होगा तभी **यदा**=जबकि **यमे इव**=एक युगल की भाँति—बिलकुल मिलकर चलनेवालों की भाँति **यतमाने**=घर को स्वर्ग बनाने के लिए यत्नशील होते हुए तुम दोनों **एतम्**=गति करते हो। पति-पत्नी की क्रियाएँ बिलकुल मिलकर हों—वे एक-दूसरे के पूरक बनें। परस्पर का विरोध तो घर को नरक ही बना देता है। २. **वाम्**=आप दोनों को **मानुषा**=मानवमात्र का हित करनेवाले **देवयन्तः**=दिव्यगुणों को अपनाने की कामनावाले पुरुष **प्रभरन्त**=उत्कृष्ट भावनाओं से भरनेवाले हों। इनसे आपको उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त हो। आप दोनों **विदाने**=स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की प्रवृत्तिवाले होते हुए **उ**=निश्चय से **स्वं लोकं आसीदताम्**=अपने घर में आसीन होओ। इधर-उधर कल्बों में न जाकर घर को ही अपना प्रिय स्थान बनाओ।

भावार्थ—गृहस्थ में पति-पत्नी एक युगल की भाँति मिलकर घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करते हुए, अभ्युदय और निःश्रेयस को सिद्ध करते हुए प्रभु के प्रिय बनें। घरों में मानवहित में प्रवृत्त देवपुरुषों से प्रेरणा प्राप्त करते हुए अतिरिक्त समय को घरों को अच्छा बनाने में लगाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**परात्रिष्टुप्पङ्क्तिः**॥

'स्वस्थ, नम्र, ज्ञानी'

स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः।
वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत्॥ ३९॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे पति-पत्नि! आप दोनों **नः इन्दवे**=हमारे ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए **स्वासस्थे**=(सु आस स्थे) स्वस्थ शरीररूप उत्तम स्थान में स्थित होनेवाले **भवतम्**=होओ। मैं **वाम्**=तुम्हें **नमोभिः**=नमस्कारों के साथ **पूर्व्यं ब्रह्म**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले वेदज्ञान से **युजे**=युक्त करता हूँ। इसप्रकार 'शरीर के स्वस्थ, मन के नमन के भावों से युक्त तथा मस्तिष्क के ज्ञानयुक्त' होने पर प्रभु का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। २. तुम्हें **श्लोकः**=प्रभु-स्तवनात्मक पद्य **वि एतु**=विशेषरूप से प्राप्त हो, अर्थात् तुम स्तवन करनेवाले बनो तथा **पथ्या इव सूरिः**=पथ्य भोजनों की भाँति प्रेरक ज्ञानी पुरुष भी तुम्हें विशेषरूप से प्राप्त हो। पथ्यभोजन तुम्हारे शरीरों को स्वस्थ बनाएँ और वह प्रेरक ज्ञानी तुम्हारे मस्तिष्कों को दीप्त ज्ञानवाला करे। **विश्वेः**=सब **अमृतासः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले लोग **एतत् शृण्वन्तु**=इस वेदज्ञान को सुनें। 'सूरि' द्वारा

दिये जानेवाले ज्ञान का श्रवण करें।

भावार्थ—हम स्वस्थ शरीर, नम्र मन व दीप्त मस्तिष्कवाले बनकर प्रभु के ऐश्वर्य को प्राप्त करें। हमें प्रभु का स्तोत्र, पथ्यभोजन व ज्ञानियों का सम्पर्क प्राप्त हो। सब अमृत पुरुष ज्ञानियों द्वारा दिये जानेवाले ज्ञान का श्रवण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रुपः

त्रीणि॑ प॒दानि॑ रु॒पो अन्व॑रोहु॒च्चतु॑ष्पदी॒मन्वै॑तद् व्र॒तेन॑।
अ॒क्षरे॑ण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कमृ॒तस्य॒ नाभा॑व॒भि सं पु॑नाति॥ ४०॥

१. **रुपः** (रुप् to suffer violent pain)=अपने को तपस्या की अग्नि में तपानेवाला ब्रह्मचारी **त्रीणि पदानि अनु अरोहत्**=क्रमशः तीनों पदों का आरोहण करता है, सबसे पूर्व तैजस बनता है—तेजस्वी शरीरवाला, द्वितीय स्थान में 'वैश्वानर', सबके प्रति मन में हितार्थ भावनावाला बनता है तथा तृतीय स्थान में 'प्राज्ञ' अच्छी तरह ज्ञान का सम्पादन करनेवाला होता है। **व्रतेन**=इन तीन पदों पर आरोहण करनेरूप व्रत के द्वारा **चतुष्पदीम् अनु ऐतत्** (**ऐत्**)=चार पदोंवाली इस 'ऋक्, यजुः साम, अथर्व' रूप वेदवाणी को प्राप्त करता है। २. इस वेदवाणी का अध्ययन करता हुआ यह 'रुप' **अक्षरेण**='ओंकार' इस अक्षर के द्वारा (ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत्) **अर्कम्**=अर्चनीय प्रभु को **प्रतिमिमीते**=जानने का प्रयत्न करता है और **ऋतस्य नाभौ**=(ऋत्=यज्ञ) यज्ञ के बन्धन में **अभिसंपुनाति**=अपने को अन्दर व बाहिर से सम्यक् पवित्र करता है। यज्ञों में यह सतत प्रवृत्त रहता है। ये यज्ञ इसे स्वस्थ शरीरवाला व पवित्र मनवाला बनाते हैं। यही अन्दर व बाहिर से पवित्रीकरण है।

भावार्थ—तपस्या की अग्नि में अपने को तपाते हुए हम 'तैजस, वैश्वानर व प्राज्ञ' बनें। इस व्रत के द्वारा 'ऋक्, यजुः साम, अथर्व' रूप वेदवाणी को प्राप्त करें। वेदों के सारभूत 'ओम्' इस अक्षर के जप से प्रभु को जानने का यत्न करें। यज्ञों में बद्ध होते हुए स्वस्थ शरीर व पवित्र मनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

देवों का भी पतन, प्रजाओं का उत्थान

दे॒वेभ्यः॒ कम॑वृणीत मृ॒त्युं प्र॒जायै॒ किम॒मृतं॒ नावृ॑णीत।
बृह॒स्पति॑र्य॒ज्ञमतनुत॒ ऋषिः॒ प्रि॒यां य॒मस्त॒न्व॑१मा रि॑रेच॥ ४१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यज्ञों में अपने को बद्ध करनेवाले लोग 'देव' बनते हैं, परन्तु ये देव भी अहंकार में आकर फिर पतित हो जाते हैं। यह पतन प्रभु की ओर से न होकर उनके अपने अहंकार का ही परिणाम होता है। मन्त्र में इसी भाव को इस रूप में कहते हैं कि **देवेभ्यः**=देवों के लिए **कं मृत्युम् अवृणीत**=किस मृत्यु का प्रभु वरण करते हैं? वस्तुतः प्रभु नहीं, उन देवों का अहंकार ही उनकी मृत्यु का कारण बनता है। इसीप्रकार प्रभु **प्रजायै**=सामान्य लोगों के लिए **किम् अमृतं न अवृणीत**=किस अमृततत्त्व का वरण नहीं करते? प्रभु प्रत्येक व्यक्ति को अमृतत्त्व के लिए आवश्यक साधनों को प्राप्त कराते हैं। यदि हम उन साधनों का सदुपयोग नहीं करते, तो इसमें प्रभु का क्या दोष है? २. इस संसार में **बृहस्पतिः ऋषिः**=ज्ञान का स्वामी तत्त्वद्रष्टा पुरुष—वासनाओं का संहार करनेवाला पुरुष (ऋष् to Kill) **यज्ञम् अतनुत**=यज्ञ का विस्तार करता है—यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। वस्तुतः यह ऋषि उस

सर्वनियन्ता प्रभु का शरीर बनता है, प्रभु इसमें आत्मरूप से होते हैं और **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु अपने इस **प्रियां तन्वम्**=प्रिय शरीरभूत 'बृहस्पति ऋषि' को **आरिरेच**=सब दोषों से रिक्त कर देते हैं। प्रभु इसके जीवन को निर्दोष बना देते हैं।

भावार्थ—देव बनकर भी अहंकारवश हम पतन की ओर चले जाते हैं। सामान्य मनुष्य होते हुए भी प्रभुप्रदत्त साधनों का सदुपयोग करते हुए हम अमृतत्त्व को प्राप्त करते हैं, अतः हम ज्ञानी व वासनाशून्य बनकर प्रभु का निवासस्थान बनें। प्रभु हमारे जीवनों को निर्दोष बनाये रक्खेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एक देव की दिनचर्या

त्वम॑ग्न ईडि॒तो जा॑तवे॒दोऽवा॑ड्ढ॒व्यानि॑ सु॒र॒भीणि॑ कृ॒त्वा।
प्रादाः॑ पि॒तृभ्यः॑ स्व॒धया॑ ते अ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वींषि॑॥ ४२॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वम्**=तू **ईडितः** (ईडा संजाता अस्य)=प्रभुपूजन की वृत्तिवाला बना हुआ है। तू अपने प्रत्येक दिन को प्रभुपूजन से ही प्रारम्भ करता है। उपासना के बाद तू मौलिक स्वाध्याय के द्वारा **जातवेदाः**=(जातः वेदो यस्य) विकसित ज्ञानवाला बनता है। अब तू **सुरभीणि हव्यानि**=सुगन्धित हव्य पदार्थों को **कृत्वा**=सम्यक् सज्जित करके **अवाट्**=अग्नि के लिए प्राप्त कराता है। इन हव्य पदार्थों के द्वारा तू नित्य अग्निहोत्र करता है। २. अग्निहोत्र के बाद **पितृभ्यः प्रादाः**=अपने वृद्ध माता-पिता के लिए भोजन देता है। **ते**=वे **स्वधया**=आत्म-धारण के हेतु से **अक्षन्**=उस भोजन को खाते हैं, अर्थात् शरीरधारण के लिए आवश्यक भोजन की मात्रा को ही ग्रहण करते हैं। अब हे देववृत्तिवाले पुरुष! **त्वम्**=तू भी **प्रयता हवींषि**=पवित्र यज्ञशेष हव्य पदार्थों को ही **अद्धि**=खा। वह यज्ञशेष का सेवन ही अमृतसेवन है।

भावार्थ—हमारी दिनचर्या का क्रम यह हो—'उपासना, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, स्वयं यज्ञशेष का सेवन'। यही 'देव' बनने का मार्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों के सम्पर्कों से घर में 'श्री व शक्ति' का निवास

आसी॑नासो अरु॒णीना॑मु॒पस्थे॑ र॒यिं ध॑त्त दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य।
पु॒त्रेभ्यः॑ पितर॒स्तस्य॒ वस्वः॒ प्र य॑च्छत॒ त इ॒होर्जं॑ दधात॥ ४३॥

१. वनस्थ पितर (पिता, पितामह, प्रपितामह) **अरुणीनाम्** (अरुण्या गाव उषसाम्)=उषाकालों की अरुणकिरणों का प्रकाश होने पर **उपस्थे आसीनासः**=प्रभु की उपासना में आसीन होते हैं। हे पितरो! आप **दाशुषे मर्त्याय**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिए **रयिं धत्त**=ऐश्वर्य को धारण कीजिए। ये पितर अपने प्रति अपना अर्पण कर देनेवाले सन्तानों के पारस्परिक संघर्ष को समाप्त करके उनके ऐश्वर्य को विनाश से बचाते हैं। २. सन्तानों के पितरों के प्रति अर्पण करने पर हे **पितरः**=पितरो! आप **तस्य वस्वः प्रयच्छत**=उस धन को दीजिए, जो पारस्परिक विवादों में ही समाप्त न हो। हे पितरो! **ते**=वे आप **इह**=इस घर में **ऊर्जम् दधात**=बल व प्राणशक्ति को धारण कीजिए। भाइयों को परस्पर एक करके उनकी शक्ति को बढ़ानेवाले होओ।

भावार्थ—पितर समय-समय पर घरों में आते हैं। ये प्रातः ही प्रभु के उपासन में आसीन होते हैं। ये सन्तानों के पारस्परिक कलहों को समाप्त करके उनमें 'वसु व ऊर्ज्' का स्थापन

करते हैं, घर को 'श्री व शक्ति' से सम्पन्न बना देते हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

अग्निष्वात्त पितर

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात॥ ४४॥

१. **अग्निषु आत्ताः**=अग्नियों के चरणों में जिन्होंने अत्याधिक ज्ञान प्राप्त किया है—'माता, पिता व आचार्यों' से 'चरित्र, शिष्टाचार व ज्ञान'-सम्पन्न बने हैं, ऐसे **पितरः**=पितरो! आप **इह आगच्छत**=यहाँ हमारे जीवन में आइए। आप **सदःसदः सदत**=प्रत्येक सभा में आकर बैठिए। **सुप्रणीतयः**=आप हमें उत्कृष्ट मार्ग से ले-चलनेवाले हैं। २. आप **बर्हिषि**=इन यज्ञों में **प्रयतानि**=पवित्र **हवींषि अत्त उ**=हवियों को ही निश्चय से खानेवाले होओ। आप सदा पवित्र भोजन को ही यज्ञशेष के रूप में ग्रहण करते हैं **च**=और आप **नः**=हमारे सब सन्तानों को **सर्ववीरम्**=सबल बनानेवाले **दधात**=होओ। वस्तुतः पितर सन्तानों को मेल का पाठ पढ़ाते हुए उन्हें सशक्त व सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ—जिन्होंने 'माता, पिता व आचार्यों' से स्वयं अत्यधिक ज्ञान प्राप्त किया है, उन पितरों से हमें भी उसीप्रकार ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा मिले। घरों में आसीन होकर ये पितर सन्तानों का सुप्रणयन करें। पितरों से प्रेरणा प्राप्त करके हम पवित्र यज्ञशेष का ग्रहण करनेवाले बनें। 'वीरता व धन' से युक्त हों।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

यज्ञरूप प्रिय निधियों के निमित्त पितरों को पुकारना

उपहूता नः पितरः सोम्यासो बर्हिष्ये ऽषु निधिषु प्रियेषु।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु ते ऽवन्त्वस्मान्॥ ४५॥

१. हमसे **सोम्यासः**=अत्यन्त विनीत स्वभाववाले, निरभिमान **पितरः**=पितर **उपहूताः**=पुकारे गये हैं। इन्हें हमने **बर्हिषि**=यज्ञों के निमित्त पुकारा है। सब यज्ञशील होते हुए ये हमें भी यज्ञमय जीवनवाला बनाते हैं। **एषु प्रियेषु**=इन प्रिय निधिरूप यज्ञों के निमित्त हम इन पितरों को पुकारते हैं। यज्ञों में अग्नि अन्नाद है तो वह वृष्टि द्वारा उत्तम खाद्य अन्नों को भी प्राप्त कराता है। 'अग्निहोत्रं स्वयं वर्षकः', 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्न संभवः' अग्निहोत्र से वृष्टि होती है। इन यज्ञों से पर्जन्य का उद्भव होकर अन्न का सम्भव होता है, एवं हमारी सब इष्ट-कामनाओं को पूर्ण करनेवाले ये यज्ञ हमारे लिए इष्टकामधुक् होते हुए हमारे प्रिय निधि हैं ही। सौम्य पितर आते हैं और वे हमें इन यज्ञों का उपदेश करते हैं। २. **ते**=वे 'पिता, पितामह व प्रपितामह' आदि पितर **आगमन्तु**=आएँ। **ते**=वे **इह**=यहाँ **श्रुवन्तु**=हमारी प्रार्थनाओं को व समस्याओं को सुनें और **अधिब्रुवन्तु**=हमें उन समस्याओं को सुलझाने के लिए सदुपायों का उपदेश दें और इसप्रकार **ते**=वे **अस्मान् अवन्तु**=हमें रक्षित करें।

भावार्थ—विनीत, यज्ञशील पितरों को हम पुकारते हैं। वे हमें इन प्रिय निधिरूप यज्ञों में स्थापित करते हैं। आकर हमारी समस्याओं को सुनते हैं और उनके सुलझाने के लिए सदुपदेश करते हैं। इसप्रकार वे हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

रमणात्मक पठन, यज्ञशेष का अदन

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ ४६॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **पितुः पितरः**=पिताजी के भी पितर हैं, **ये**=जो **पितामहः**=हमारे पितामह हैं, वे **वसिष्ठाः**=काम-क्रोध को वशीभूत करके अत्यन्त उत्तम निवासवाले बने हैं। **सोमपीथम् अनूजहिरे**=ये सोम पान को अनुक्रमेण आत्मसात् करते हैं। सोम का पान ही उन्हें उत्तम निवासवाला बनाता है। २. **तेभिः**=उन पितरों के साथ **यमः**=संयत जीवनवाला विद्यार्थी **संरराणः**=सम्यक् क्रीड़ा करता हुआ—क्रीड़ा में ही सब-कुछ सीखता हुआ, **हवींषि उशन्**=हवियों को चाहता हुआ **उशद्भिः**=हित चाहनेवाले आचार्यों के साथ **प्रतिकामम् अत्तु**=जब-जब शरीर को इच्छा हो, अर्थात् आवश्यकता अनुभव हो, तब-तब इस हवीरूप भोजन को खाये। ३. यहाँ दो बातें स्पष्ट हैं—पहली तो यह कि पढ़ाने का प्रकार इतना रुचिकर हो कि विद्यार्थियों को पढ़ाई खेल ही प्रतीत हो। दूसरी बात यह कि हम भोजन तभी करें जब शरीर को आवश्यकता हो। वह भी त्यागपूर्वक यज्ञ करके यज्ञशेष का ही ग्रहण करें।

भावार्थ—हमें पितर रोचकता से ज्ञान देनेवाले हों। हम यज्ञों के प्रति कामनावाले हों। भोजन को आवश्यकता होने पर यज्ञशेष के रूप में ही ग्रहण करें।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥

किन पितरों के सम्पर्क में

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः॥ ४७॥

१. पितर वे हैं **ये**=जो **तातृषुः**=प्राणिमात्र के हित के लिए अत्यन्त पिपासित होते हैं। **देवत्रा जेहमानाः**=देवों में क्रमशः जानेवाले होते हैं, अर्थात् निरन्तर दैवी सम्पत्ति के अर्जन में लगते हैं। **होत्राविदः**=अग्निहोत्र को अच्छी प्रकार समझनेवाले हैं—यज्ञों के महत्त्व को जानते हैं। **अर्कैः**=मन्त्रों के द्वारा **स्तोमतष्टासः**=प्रभु-स्तोत्रों को करनेवाले हैं। २. प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **देववन्दैः**=देव की वन्दना करनेवाले—प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त, **सत्यैः**=सत्य जीवनवाले, **कविभिः**=क्रान्तदर्शी, **ऋषिभिः**=(ऋष् to kill) वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **घर्मसद्भिः**= सोमयागों में आसीन होनेवाले—यज्ञशील पितरों के साथ **सहस्त्रम् आयाहि**=(सहस्) आनन्दपूर्वक गतिवाला हो। अथवा इनके सम्पर्क में अपरिमित ज्ञानधन को प्राप्त होनेवाला हो।

भावार्थ—पितर वे ही हैं जो लोकहित के लिए प्रबल कामनावाले, यज्ञशील, प्रभु-स्तवन परायण, ज्ञानी, सत्यवादी व वासनाशून्य हैं। इनके सम्पर्क में आकर हम भी ज्ञानी बनें और प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलें।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'सत्यवादी-सुविदत्र' पितरों के सम्पर्क में

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः॥ ४८॥

१. **ये**=जो **सत्यासः**=सदा सत्य बोलनेवाले हैं। **हविरदः**=हवि को ही खानेवाले हैं और **हविष्पाः**=हवि का ही पान करनेवाले हैं, अर्थात् जिनका खानपान हविरूप है—जो यज्ञशेष को

ही खानेवाले हैं। **तुरेणः**=शत्रुओं का संहार करनेवाले **इन्द्रेण**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के साथ तथा **देवैः**=दिव्यगुणों के साथ **सरथम्**=समान रथ में गति करते हैं। यह शरीर ही रथ है। इसे वे प्रभु के दिव्यगुणों का अधिष्ठान बनाते हैं। २. प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू इन **सुविदत्रेभिः**=उत्तम ज्ञान के द्वारा त्राण करनेवाले, **परैः**=उत्कृष्ट जीवनवाले, **पूर्वैः**=अपना पूरण करनेवाले—न्यूनताओं को दूर करनेवाले, **ऋषिभिः**=(ऋष् to kill) वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **घर्मसद्भिः**=यज्ञों में आसीन होनेवाले पितरों के सम्पर्क में रहता हुआ **अर्वाङ् आयाहि**=अपने हृदयदेश में हमारी ओर आनेवाला हो।

भावार्थ—हम सत्यवादी, यज्ञशेष का सेवन करनेवाले, प्रभु के साथ विचरनेवाले, ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले, उत्कृष्ट; न्यूनताशून्य जीवनवाले, वासनाओं का संहार करनेवाले, यज्ञशील पितरों के सम्पर्क में अपने जीवनों को भी इसी प्रकार का बनाते हुए प्रभु की ओर चलनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

ऊर्णम्रदाः पृथिवी

उप॑ सर्प मा॒तरं॒ भूमि॑मे॒तामु॑रु॒व्यच॑सं पृथि॒वीं सु॒शेवा॑म्।
ऊर्ण॑म्रदाः पृथि॒वी दक्षि॑णावत ए॒षा त्वा॑ पातु प्रप॑थे पु॒रस्ता॑त्॥ ४९॥

१. तू **एताम्**=इस **मातरम्**=माता की तरह सबका पोषण करनेवाली, **उरुव्यचसम्**=अत्यन्त व्याप्तिवाली **पृथिवीम्**=विस्तृत **सुशेवाम्**=उत्तम कल्याण करनेवाली **भूमिम्**=भूमि को **उपसर्प**=समीपता से प्राप्त हो, अर्थात् इस भूमि पर गति करनेवाला हो। तू उदास होकर विषण्ण व गतिशून्य न हो जाए। २. **दक्षिणावते**=दानशील पुरुष के लिए—उदार व्यक्ति के लिए यह **पृथिवी**=विस्तारवाली भूमि **ऊर्णम्रदाः**=आच्छादन करनेवाली व मृदुस्वभाव है। दानशील पुरुष के लिए यह पृथिवी कठोर नहीं होती। **एषा**=यह भूमि **त्वा**=तुझे **पुरस्तात्**=आगे और आगे **प्रपथे**=प्रकृष्ट मार्ग में **पातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—हम इस पृथिवी को माता के समान जानते हुए उदासी से ऊपर उठकर कर्त्तव्यकर्मों में प्रेरित हों। यह पृथिवी दानशील व्यक्ति का रक्षण करनेवाली है—उसके लिए मृदु है, उसे आगे ले-चलनेवाली है, अर्थात् यहाँ दानशील व्यक्ति का ही कल्याण है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, भूमिः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

सूपायना—सूपसर्पणा

उच्छ्व॑ञ्चस्व पृथिवि॒ मा नि बा॑धथाः सूपाय॒नास्मै॑ भव सूपसर्प॒णा।
मा॒ता पु॒त्रं यथा॑ सि॒चाभ्ये॑[नं भूम ऊर्णु॑हि॥ ५०॥

१. हे **पृथिवि**=अपनी सन्तानों की शक्तियों का विस्तार करनेवाली मातः! तू उदासी को छोड़कर **उत्सु अञ्चस्व**=उत्तमता से गति करनेवाली हो। **मा निबाधथाः**=व्यर्थ के शोक से अपने को पीड़ित मत कर। **अस्मै**=अपनी इस सन्तान के लिए **सूपायना भव**=सुगमता से समीप प्राप्त होनेवाली हो। **सु उपसर्पणा**=बच्चे तेरे समीप सुगता से प्राप्त हो सकें। २. हे **भूमे**=भूमिमातः! तू भी **एनम्**=साथी के चले जाने से दुःखित इस जन को **अभि ऊर्णुहि**=अभितः आच्छादित करनेवाली हो, अर्थात् इसे न तो खानपान की कमी हो, न ही इसके मानस उत्साह में कमी आये। इसको तू इसप्रकार सुरक्षित कर **यथा**=जैसे **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **सिचा**=वस्त्र प्रान्त से ढककर सुरक्षित कर लेती है।

भावार्थ—माता शोक से अपने को पीड़ित न करती हुई बच्चों के पालन में आनन्द का अनुभव करे। वह बच्चों के लिए 'सूपायना व सूपसर्पणा' हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घृतश्चुतो गृहासः

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्त्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र॥ ५१॥

१. **उत् सु अञ्चमाना**=उत्साहयुक्त हुई-हुई—उत्तमता से गति करती हुई **पृथिवी**=शक्तियों का विस्तार करनेवाली माता **सुतिष्ठतु**=उत्तमता से स्थित हो। यह उदास होकर खाट पकड़कर न बैठे जाए। **इह**=निश्चय से इस घर में **सहस्त्रं मितः**=सहस्र संख्याक धन **उपश्रयन्ताम्**=आश्रय करें। २. **ते**=वे **गृहासः**=घर **घृतश्चुतः**=घृत का क्षरण करनेवाले हों। इन घरों में घृत की धाराएँ बहें। ये घर **विश्वाहा**=सदा **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **अस्मै**=इस अकेले रह गये जन के लिए **स्योनाः**=सुख देनेवाले तथा **शरणाः**=रक्षिता **सन्तुः**=हों। बच्चों के पिता चले भी गये हैं तो भी अन्य मामा, चाचा आदि लोग सहायक बने रहें। वे अपनी ज़िम्मेवारी को पहले से अधिक समझते हुए अपने कर्त्तव्य को उत्तमता से निभाएँ।

भावार्थ—माता के पुरुषार्थ व बुद्धिपूर्वक व्यवहार से घर में धनों की कमी न हो। घर पूर्ववत् घृत के बाहुल्यवाले बने रहें और अन्य बान्धवजन सहारा दिये रक्खें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

घर

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु॥ ५२॥

१. हे गृह! **ते पृथिवीम्**=तेरी भूमि को **उत् स्तभ्नामि**=ऊपर थामता हूँ। घर के पाये (Pedestal) को कुछ ऊँचा रखता हूँ। इससे सील का ख़तरा न रहकर स्वास्थ्य के लिए यह घर उपयुक्त रहता है। **त्वत् परि**=तेरे चारों ओर **इमम्**=इस **लोगम्**=पार्थिव ढेर को—मुँडेर को—**निदधन्**=रखता हुआ **अहम्**=मैं **मा उ रिषम्**=मत ही हिंसित होऊँ। घर के चारों ओर चारदीवारी हो ताकि पशुओं आदि का अवाञ्छनीय प्रवेश न होता रहे। २. **एतां स्थूणाम्**=घर के इस स्तम्भ को **ते पितरः**=तेरे पितर **धारयन्तु**=धारण करनेवाले हों। बच्चों के पिता के चले जाने पर मामा, चाचा, ताया आदि बड़ों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे घर के बोझ को अपने कन्धों पर लें। **तत्र**=वहाँ—उस घर में **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **ते**=तेरे लिए **सादना कृणोतु**=बैठने के स्थानों को करे। तू यहाँ घर में कर्त्तव्यपालन करती हुई ठहरनेवाली बन। प्रभु-स्मरण तुझे शक्ति व उत्साह दे।

भावार्थ—घर का पाया ऊँचा हो, नीरोगता के लिए यह आवश्यक है। चारदीवारी ठीक हो ताकि अवाञ्छनीय पशु आदि का प्रवेश न हो। बच्चों के पिता के चले जाने पर रिश्तेदार घर के बोझ को अपने कन्धों पर लें। घर में प्रभु-स्मरण विलुप्त न हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शरीररूप चमस्

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्।
अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन्देवा अमृता मादयन्ताम्॥ ५३॥

१. प्रगतिशील जीव को 'अग्नि' कहते हैं। यह प्रगतिशील जीव अपने इस शरीर को **चमस्**=सोमपात्र बनाता है। इस शरीररूप चमस् में वह सोम (वीर्य) को सुरक्षित रखता है। जैसे घृतपूर्ण चम्मच कुछ ढेड़ा हो जाए तो घृत के गिरने की आशंका हो जाती है, उसीप्रकार इस शरीररूप चमस् के भी टेढ़ा होने से—इसमें कुटिलता के आने से—सोम का नाश हो जाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव। **इमं चमसम्**=इस सोम के पात्रभूत शरीर को **मा विजिह्वरः**=तू कुटिल मत होने दे। यदि यहाँ कुटिल वृत्तियाँ पनप उठीं तो सोम का रक्षण सम्भव न रहेगा। सोम के रक्षण से ही तो यह शरीर **देवानाम्**=देवों का होता है, **उत**=और यह शरीर **सोम्यानाम्**=सौम्य—शान्त पुरुषों का होता है, अर्थात् सोम के सुरक्षित होने पर हम देववृत्तिवाले व सौम्य स्वभाव के होते हैं। यह चमस् देवों व सौम्य पुरुषों का **प्रियः**=अत्यन्त प्रिय होता है, कान्तिसम्पन्न होता है। २. **अयम्**=यह जो **चमसः**=सोमपात्र बना हुआ शरीर **देवपानः**=देवों के सोमपान का स्थान बनता है। (पिबन्ति अस्मिन् इति) **तस्मिन्**=उस शरीर में **देवाः**=देव लोग **अमृताः**=रोगरूप मृत्युओं से आक्रान्त न होते हुए तथा विषय वासनाओं के पीछे न मरते हुए **मादयन्ताम्**=हर्ष का अनुभव करें। इस सोमपात्रभूत शरीर में देव नीरोगता व निर्मलता के आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—कुटिलवृत्तियों से ऊपर उठकर हम शरीर में सोमरक्षण के द्वारा इस शरीर को देवों व सौम्य पुरुषों का प्रिय शरीर बनाएँ और नीरोग व निर्मलवृत्ति के बनकर आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः, इन्दुः ॥ छन्दः—पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप् ॥

शरीर का मुख्य लक्ष्य 'प्रभु-प्राप्ति'

अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते।
तस्मिन्कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम्॥ ५४॥

१. **अथर्वा**=(अर्वाङ्) आत्मनिरीक्षण करनेवाला (अ-थर्व्) न डाँवाडोल वृत्तिवाला पुरुष **यम्**=जिस **पूर्णं चमसम्**=सुरक्षित सोम से पूर्ण चमस् (शरीर-पात्र) को **वाजिनीवते**=(वाजिनी food) सब भोजनों को देनेवाले **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **अबिभः**=धारण करता है, **तस्मिन्**=उस इन्द्र की प्राप्ति के लिए धारण किये गये शरीर में **सुकृतस्य भक्षं कृणोति**=पुण्य का भोजन करता है। इस शरीर को प्रभु-प्राप्ति का साधन समझता हुआ वह पाप में प्रवृत्त नहीं होता। वह प्रभु को ही सब शक्तियों का स्रोत जानकर प्रभु की ओर ही झुकता है। यह प्रभु-प्रवणता उसे पुण्य-प्रवृत्त बनाती है। २. **तस्मिन्**=उस पुण्य का भोजन किये जानेवाले शरीर में **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान्, सर्वैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वदानीम्**=सदा **पवते**=पवित्रता करनेवाले होते हैं। यह अथर्वा प्रभु को 'वाजिनीवान्' प्रशस्त अन्नोंवाले के रूप में जानता है। प्रभु से दिये गये 'व्रीहिमत्तं यवमत्तं माषमत्तमथो तिलम्' व्रीहि, यव, माष, तिल आदि भोजनों को ही करनेवाला बनता है। इन सात्त्विक भोजनों का सेवन उसे सात्त्विक वृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—आत्मनिरीक्षण करनेवाला व स्थिर वृत्तिवाला मनुष्य शरीर को प्रभु-प्राप्ति का साधन समझता है। इसी उद्देश्य से वह शरीर में सोम का रक्षण करता है। इस शरीर में वह पवित्र भोजनों को करता हुआ पवित्रवृत्तिवाला बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अग्नि व सोम द्वारा विष-प्रतीकार

यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः।
अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश॥ ५५॥

१. यहाँ—नगरों में रहते हुए हम अनुभव करते हैं कि कुत्ते के काटने से कितने ही व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार वानप्रस्थ में, जहाँ कि मकानों का स्थान कुटिया ले-लेती है और पलंगों का स्थान भूमि, वहाँ कृमि-कीट के दंश की अधिक सम्भावना हो सकती है, अतः कहते हैं कि **यत्**=जब **कृष्णाः शकुनः**=यह काला पक्षी—कौआ अथवा द्रोणकान्द (काकोल) **ते**=तुझे **आतुतोद**=पीड़ित करता है, **पिपीलः**=कीड़ा-मकौड़ा तुझे काट खाता है, **सर्पः**=साँप डस लेता है, **उत वा**=अथवा **श्वापदः**=कोई हिंस्र पशु तुझे घायल कर देता है, **तत्**=तो **विश्वात् अग्निः**=सब विष आदि को भस्म कर देनेवाली अग्नि **अगदं कृणोतु**=तुझे नीरोग करनेवाली हो। सर्पादिक के दंश के होने पर उस विषाक्त स्थल को अग्नि के प्रयोग से जलाकर विषप्रभाव को समाप्त किया जाता है। विद्युत्‌चिकित्सा में यही प्रक्रिया काम करती है। २. यह अग्निप्रयोग तभी सफल होता है, यदि शरीर में रोग से संघर्ष करनेवाली वर्चःशक्ति (Vitality) ठीक रूप में हो। इस वर्चस्‌शक्ति के न होने पर बाह्य उपचार असफल ही रहते हैं, इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **सोमः च**=यह सोम—वीर्यशक्ति भी तुझे नीरोग करे। वह सोम **यः**=जो **ब्राह्मणान् आविवेश**=ज्ञानी पुरुषों में प्रवेश करता है। ज्ञानी लोग सोम के महत्त्व को समझकर उसे सुरक्षित रखने के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हैं। सोम ही वस्तुतः रोगों व विकारों को दूर करता है—औषधोपचार तो उसके सहायकमात्र होते हैं।

भावार्थ—पक्षी, कृमि, कीट, सर्प व हिंस्र पशुओं से उत्पन्न किये गये विकारों को अग्नि प्रयोग से तथा शरीर में सोम के रक्षण से हम दूर करनेवाले हों। सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर ही औषधोपचार उपयोगी होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः, आपः ॥ छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप् ॥

सात्त्विक भोजन व सोमरक्षण

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं पयः।
अपां पयसो यत्पयस्तेन मा सह शुम्भतु॥ ५६॥

१. **ओषधयः**=ओषधियाँ—सब वानस्पतिक भोजन **पयस्वतीः**=आप्यायन करनेवाली हैं। सौम्य वानस्पतिक भोजनों से ही शरीर में सोम का रक्षण सम्भव होता है। सुरक्षित सोम सब अंग-प्रत्यंगों के आप्यायन का साधन बनता है। इन ओषधियों के सेवन से **मामकं पयः पयस्वत्**=मेरा आप्यायन भी आप्यायनवाला हो, मेरी वृद्धि सदा ही होती रहे। अथवा (पयः= food) मेरा ओषधि-भोजन वस्तुतः आप्यायनवाला हो। २. **अपाम्**=(आपः रेतो भूत्वा) शरीरस्थ रेतःकणों को **पयसः**=आप्यायन का **यत्**=जो **पयः**=आप्यायन है, अर्थात् रेतःकणों की वृद्धि की जो वृद्धि है—खूब ही रेतःकणों का वर्धन है, **तेन सह**=उस रेतःकणों की वृद्धि के साथ **मा शुम्भतु**=प्रभु मेरे जीवन को अलंकृत करें।

भावार्थ—मैं शरीर का आप्यायन करनेवाली ओषधियों का ही सेवन करूँ। मेरा आप्यायन भी आप्यायनवाला हो—मेरी वृद्धि अधिकाधिक होती चले। रेतःकणों के रक्षण से मेरा जीवन अलंकृत हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घरों में स्त्री का सर्वप्रमुख स्थान

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम्।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥ ५७॥

१. गृह को उत्तम बनाने का सर्वाधिक उत्तरदायित्व स्त्री का है, अतः उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **इमाः नारीः**=ये गृह की उन्नति का कारणभूत (नृ नये) स्त्रियाँ **अविधवाः**=अविधवा हों। दीर्घजीवी पतियों को प्राप्त करके ये सदा अपने सौभाग्य को स्थिर रखनेवाली हों। साथ ही **सुपत्नीः**=(शोभनः पतिः यस्याः) उत्तम पतियोंवाली हों। जहाँ ये स्वयं पातिव्रत्य धर्म का पालन करनेवाली हों, वहाँ इनके पति भी एकपत्नीव्रत का सुन्दरता से निर्वहण करनेवाले हों। ये पत्नियाँ **आञ्जनेन**=शरीर को सर्वतः अलंकृत करनेवाले **सर्पिषा**=घृत के साथ **स्पृशन्ताम्**=सम्यक् स्पर्शवाली हों। इनके घरों में उस गोघृत की कमी न हो जो शरीर, मन व मस्तिष्क सभी को दीप्त बनानेवाला है। २. **अनश्रवः**=ये अश्रुवाली न हों—इन्हें दरिद्रता व कटुता आदि के कारण कभी रोना न पड़े। **अनमीवाः**=व्यवस्थित व संयत जीवन के कारण ये सदा नीरोग हों। **सुरत्नाः**=उत्तम रमणीय पदार्थोंवाली व उत्तम आभूषणोंवाली हों। ये **जनयः**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली गृहस्त्रियाँ **योनिम् अग्रे आरोहन्तु**=घर में सर्वमुख्य स्थान में स्थित हों। घर में इनका उचित आदर हो।

भावार्थ—घरों में स्त्रियों का स्थान प्रमुख हो। इन्हें घर के निर्माण के लिए आवश्यक सब वस्तुएँ सुलभ हों। इनका अपना शरीर पूर्ण स्वस्थ हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥

आदर्श पति

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्यो॑मन्।
हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा॑ सुवर्चाः॥ ५८॥

१. **पितृभिः संगच्छस्व**=पालनात्मक कर्मों में लगे हुए पुरुषों के साथ तू संगति करनेवाला हो। इनके संग में तू भी निर्माणात्मक कार्यों की प्रवृत्तिवाला बन। **यमेन सं (गच्छस्व)**=संयमी पुरुषों के साथ तेरा मेल हो। उनके सम्पर्क में तू भी संयमी बन। **परमे व्योमन्**=इस उत्कृष्ट हृदयान्तरिक्ष में तू **इष्टापूर्तेन**=इष्ट व आपूर्त की भावना से युक्त हो। तेरी प्रवृत्ति यज्ञात्मक कर्मों की हो तथा तू वापी, कूप, तड़ाग आदि लोकहित की वस्तुओं के निर्माण की वृत्तिवाला हो। २. **अवद्यं हित्वा**=सब अशुभ कर्मों को छोड़कर पुनः **अस्तम् एहि**=फिर अपने वास्तविक गृह—ब्रह्मलोक—की ओर आनेवाला बन। यहाँ—संसार में **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस्—प्राणशक्तिवाला होता हुआ **तन्वा संगच्छताम्**=विस्तृत शक्तिओंवाले शरीर से संगत हो। इस शरीर को स्वस्थ रखता हुआ तू मोक्षमार्ग की ओर बढ़।

भावार्थ—हमारा सम्पर्क संयमी व निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों के साथ हो। हमारे हृदयों में यज्ञादि उत्तम कर्म करने का संकल्प हो। अशुभ से दूर होकर हम ब्रह्मलोक की ओर चलें। यात्रा की पूर्ति के लिए स्वस्थ शरीरवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

स्वराट् असुनीतिः पिता

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम्।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति॥ ५९॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **पितुः पितरः**=पिता के भी पिता हैं, ये **पितामहाः**=जो हमारे पितामह हैं अथवा जो हमारे पिता के पितामह, अर्थात् हमारे प्रपितामह हैं, **ये**=जो गृहस्थ से ऊपर उठकर **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्ष में—वसुधारूप विस्तृत परिवार में **आविविशुः**=प्रविष्ट हुए हैं, २. **तेभ्यः**=उन पितरों से शिक्षित होकर **नः**=हमारे पिता भी **अद्य**=आज **स्वराट्**=आत्मशासन करनेवाले तथा **असुनीतिः**=प्राणों का ठीक प्रणयन करनेवाले—प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना सम्पन्न—बने हैं। ये हमारे पिता **यथावशम्**=अपनी इच्छा के अनुसार **तन्वः**=हमारे शरीरों को **कल्पयाति**=निर्मित करते हैं। पिता जैसा संकल्प करते हैं, वैसे ही उनके सन्तान होते हैं।

भावार्थ—हम अपने पितरों से उत्तम शिक्षा प्राप्त करके आत्मशासन की वृत्तिवाले व प्राण-साधना सम्पन्न बनें। ऐसा होने पर हम संकल्प के अनुसार उत्तम सन्तानों को जन्म दे सकेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—षट्पदाजगती॥

मण्डूकपर्णी

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम्।
शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति।
मण्डूक्य१प्सु शं भुव इमं स्व१ग्निं शमय॥ ६०॥

१. हे पुरुष! **ते**=तेरे लिए **नीहारः शं भवतु**=कोहरा शान्ति देनेवाला हो। **प्रुष्वा**=जल-बिन्दुओं के फुहार भी **ते**=तेरे लिए **शं**=शान्तिकर होकर **अवशीयताम्**=भूमि पर गिरें। हे **शीतिके**=शीतवीर्य ओषधे! **शीतिकावति**=तू शीतवीर्यवाली होती हुई शरीर से उत्तेजना को दूर करके शान्ति को जन्म देती है। हे **ह्लादिकावति**=शरीर में उत्तम धातुओं को जन्म देकर अह्लाद को बढ़ानेवाली **ह्लादिके**=ह्लादिका नामवाली ओषधे! तू **मण्डूकी**=मण्डूकी है—शरीर को उत्तम धातुओं से मण्डित करनेवाली है। २. तू **अप्सु**=रेतःकणों के निमित्त **शं भुवः**=शान्ति को पैदा करनेवाली हो। सब प्रकार की उत्तेजना को समाप्त करके तू रेतःकणों के रक्षण का साधन बन। **इमम् अग्निं सुशमय**=तू इस कामाग्नि को शान्त करनेवाली हो। कामाग्नि की शान्ति के द्वारा ही तू रेतःकणों में उबाल को समाप्त करेगी और इसप्रकार रेतःकणों का रक्षण करने में सहायक बनेगी। सुरक्षित रेतःकण शरीर को 'स्वास्थ्य-नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति' से अलंकृत करेंगे।

भावार्थ—हमारे लिए नीहार व जलबिन्दुप्रपात शान्तिकर हों। 'मण्डूकी' नामक ओषधि उत्तेजना को दूर करके हमें शान्त बनाए। उत्तम धातुओं को जन्म देकर हमें आनन्दयुक्त करे। हमें रेतःकणों के रक्षण के द्वारा 'स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति' से मण्डित करनेवाली यह 'मण्डूकी' इस अन्वर्थ नामवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'गोमत् अश्ववत्' पुष्टम्

विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम्॥ ६१॥

१. **विवस्वान्**=ज्ञान की किरणोंवाले सूर्यसम ज्योतिरूप ब्रह्म **नः**=हमारे लिए **अभयं कृणोतु**=मरणजनितभीतिराहित्य को करे। वह विवस्वान्, **यः**=जोकि **सुत्रामा**=सम्यक् रक्षण करनेवाला है—हमें वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता। इसप्रकार जो **जीरदानुः**=हमारे जीवन का कर्त्ता है और **सुदानुः**=सब उत्तमताओं को प्राप्त करनेवाला है। हम प्रभु की उपासना करनेवाले बनें। प्रभु हमारे कवच होंगे और हमें न तो मृत्यु का भय होगा न वासनाओं के आक्रमण का। २. **इह**=यहाँ—हमारे घर में **इमे**=ये **वीराः**=वीर सन्तान **बहवः भवन्तु**=(बृहि वृद्धौ-बृंहते) वृद्धिशील हों—हमारे सन्तान वीर व वृद्धिशील हों और **मयि**=मुझमें **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला, **अश्ववत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला **पुष्टम्**=अंग-प्रत्यंग का पोषण **अस्तु**=हो। मेरे सब अंग सुपुष्ट हों और मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्रशस्त हों।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें निर्भय बनाए। प्रभु हमारे रक्षक हों। हमारे सन्तान वृद्धिशील व वीर हों। हमारे अंग-प्रत्यंग पुष्ट हों, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्रशस्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अमृतत्व

विवस्वान्नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु।
इमान्रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वे्षामसवो यमं गुः॥ ६२॥

१.**विवस्वान्**=ज्ञान की किरणोंवाले प्रभु ज्ञान देकर **नः**=हमें **अमृतत्वे दधातु**=अमृतत्व में स्थापित करें—हमें दीर्घ प्रशस्त जीवनवाला बनाएँ। अज्ञान ही हमें पापों व वासनाओं की ओर ले-जाता है। ज्ञानाग्नि में ये पाप व वासनाएँ दग्ध हो जाती हैं। **मृत्युः परा ऐतु**=मृत्यु हमसे दूर हो और **नः**=हमें **अमृतम्**=अमृतत्व **आ ऐतु**=सर्वथा प्राप्त हो। २. विवस्वान् प्रभु **आजरिम्णः**=जरावस्थापर्यन्त **इमान् पुरुषान् रक्षतु**=हमारे इन पुरुषों का रक्षण करें। **एषाम् असवः**=इनके प्राण **यमं मा सु गुः**=मृत्यु के देवता को नहीं प्राप्त हों, अर्थात् असमय में इनका जीवन न समाप्त हो जाए।

भावार्थ—विवस्वान् प्रभु हमें अमृतत्व में स्थापित करें। जरावस्थापर्यन्त प्रभु हमारा रक्षण करें। असमय में ही हमारे प्राण न चले जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'मतीनां प्रमतिः' प्रभुः

यो दध्रे अन्तरिक्षे न मह्ना पितृणां कविः प्रमतिर्मतीनाम्।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात्॥ ६३॥

१. **यः**=जो **पितृणां कविः**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोगों को उनके कर्त्तव्यों का उपदेश देनेवाले हैं (कौति, उ कु शब्दे) तथा **मतीनाम् प्रमतिः**=ज्ञानियों को प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं, वे प्रभु **न**=अब (न संप्रत्यर्थे) **मह्ना**=अपनी महिमा से **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **दध्रे**=सब लोक-लोकान्तरों का धारण कर रहे हैं। हे **विश्वामित्राः**=सब प्राणियों के प्रति स्नेहवाले लोगो! **तम्**=उस प्रभु को **हविर्भिः**=दानपूर्वक अदन से—यज्ञशेष के सेवन से **अर्चत**=पूजो। २. ऐसा करने पर **सः**=वे **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **नः**=हमें **प्रतरं जीवसे**=प्रकृष्टतर जीवन के लिए **धात्**=धारण करें।

भावार्थ—प्रभु ही हमें कर्त्तव्यों का उपदेश देनेवाले हैं—सब ज्ञान के दाता हैं। वे अपनी महिमा से सब लोकों को अन्तरिक्ष में धारण कर रहे हैं। हम त्यागपूर्वक अदन करते हुए प्रभु

का अर्चन करें। वे नियन्ता प्रभु हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्पथ्यापङ्क्तिः**॥

उत्तम ज्योति को पाना

आ रौहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन।
सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ६४॥

१. हे **ऋषयः**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले (ऋष् to kill) ज्ञानियो! **उत्तमां दिवम् आरोहत**=सर्वोत्कृष्ट प्रकाशमय लोक में आरोहण करो। पृथिवी से अन्तरिक्ष में तथा अन्तरिक्ष से द्युलोक में तुम्हारा आरोहण हो। **मा बिभीतन**=मत डरो—भयभीत न होओ। दैवी सम्पत्ति में 'अभय' का ही प्रथम स्थान है। ज्ञानाग्नि में पाप के भस्म हो जाने पर भय का तो प्रश्न ही नहीं रहता। २. आप **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले हो। **सोमपायिनः**=औरों को भी सोमपान की प्रेरणा देनेवाले हों। हमसे भी हे सोमपायी ऋषियो! **वः**=आपकी **इदम्**=यह **हविः**=दानपूर्विका अदन क्रिया—यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति **क्रियते**=की जाती है। हम भी आपकी भाँति हवि का सेवन करनेवाले बनते हैं और **उत्तमं ज्योतिः अगन्म**=सर्वोत्तम ज्योति परमात्मा को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम पृथिवी से अन्तरिक्ष में व अन्तरिक्षक से द्युलोक में ऊपर और ऊपर उठनेवाले हों, निर्भीक बनें। सोम का शरीर में रक्षण करें, औरों को भी इसी बात के लिए प्रेरित करें। 'हवि' का—दानपूर्वक अदन को स्वीकार करते हुए उत्तम ज्योति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान-शक्ति-कर्म-उपासना

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध॥ ६५॥

१. **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **बृहता**=वृद्धि के कारणभूत **केतुना**=ज्ञान से **प्रभाति**=प्रकर्षेण दीप्त होता है। खूब ही ज्ञान प्राप्त करता है। **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक में—मस्तिष्क व शरीर में **वृषभः**=शक्तिशाली बना हुआ यह अग्नि **आरोरवीति**=नित्य प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है। मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त तथा शरीर को दृढ़ बनाकर प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होता है। २. **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश के **अन्तात्**=परले सिरों को **चित्**=भी और **उपमान्**=समीप प्रदेशों को यह **उदानट्**=प्रकृष्टरूप में व्याप्त करता है। ज्ञान का परला सिरा आत्मविद्या है और समीप का सिरा प्रकृतिविद्या। यह इन दोनों को प्राप्त करने का खूब ही प्रयत्न करता है। यह **अपाम् उपस्थे**=रेतःकणों की उपस्थिति में—शरीर में रेतःकणों के रक्षण के द्वारा **महिषः**=प्रभु का पूजन करनेवाला **ववर्ध**=वृद्धि को प्राप्त होता है। 'अपाम् उपस्थे' का भाव यह भी है कि कर्मों की गोद में, अर्थात् निरन्तर यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ यह उपासक वृद्धि को प्राप्त करता है। वस्तुतः कर्मों में लगे रहने के द्वारा ही प्रभुपूजन होता है।

भावार्थ—हम अधिकाधिक ज्ञानप्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। शरीर व मस्तिष्क को शक्ति व दीप्ति से सम्पन्न करके, प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। आत्मविद्या व प्रकृतिविद्या को व्याप्त करते हुए कर्त्तव्यकर्मों को करने के द्वारा प्रभुपूजन करते हुए वृद्धि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-दर्शन

नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥ ६६॥

१. **नाके** (न अकम्) आनन्दमयस्वरूप में अथवा मोक्षधाम में **उपपतन्तम्**=समीपता से प्राप्त होते हुए **सुपर्णम्**=उत्तमता से पालन करनेवाले **त्वा**=आपको, हे प्रभो! **यत्**=जब **हृदा वेनन्तः**=हृदय से आपकी प्राप्ति की कामना करते हुए लोग **अभ्यचक्षत**=देखते हैं, तब वे अनुभव करते हैं कि **हिरण्यपक्षम्**=(पक्ष परिग्रहे) आप ज्ञान का परिग्रह करनेवाले हैं—ज्ञानस्वरूप हैं। **वरुणस्य दूतम्**=द्वेषनिवारण के दूत हैं, निर्द्वेषता का उपदेश देते हैं। **यमस्य योनौ शकुनम्**=संयत जीवनवाले पुरुष के शरीरगृह में शक्ति का संचार करनेवाले हैं। **भुरण्युम्**=सबका भरण करनेवाले हैं।

भावार्थ—जीव को मोक्षधाम में प्रभु की समीपता प्राप्त होती है। जब जीव हृदय से प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है तब प्रभु-दर्शन कर पाता है। वह देखता है कि प्रभु ज्ञानस्वरूप हैं, निर्द्वेषता का सन्देश दे रहे हैं, संयमी को शक्तिशाली बनाते हैं और सबका भरण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

जीवनशक्ति और ज्योति

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥ ६७॥

१. **इन्द्र**=हे सर्वशक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए **क्रतुम्**=शक्ति व प्रज्ञान को इसप्रकार **आभर**=प्राप्त कराइए, **यथा**=जैसे **पिता पुत्रेभ्यः**=पिता पुत्रों के लिए प्राप्त कराता है। इस शक्ति व प्रज्ञान से ही तो हम जीवन-यात्रा को पूर्ण कर सकेंगे। २. हे **पुरुहूत**=(पुरु हूतं यस्य) पालन व पूरण करनेवाली है पुकार जिसकी, ऐसे प्रभो! आप **अस्मिन् यामनि**=इस संसार-यात्रा के मार्ग में **जीवाः**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण हुए-हुए हम **ज्योतिः अशीमहि**=ज्योति को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराएँ। हम प्रभु का आराधन करते हुए जीवनशक्ति से परिपूर्ण हों और ज्योति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वधा, मधु, घृत

अपूपापिहितान्कुम्भान्यांस्ते देवा अधारयन्।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ ६८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवनीशक्ति व ज्योति को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हमारा भोजन उत्तम हो। भोजन ही शक्ति व तीव्र बुद्धि को प्राप्त कराने का साधन है, अतः भोजन के विषय में कहते हैं कि **अपूपापिहितान्**=(अपूपाः अपिहिता येषु) जिनमें अविशीर्ण सुगन्धित (पूयी विशरणे दुर्गन्धे च) भोज्य पदार्थ ढककर रखे जाते हैं। **यान् कुम्भान्**=जिन कुम्भों को **देवाः**=व्यवहारकुशल शिल्पियों ने **अधारयन्**=तेरे लिए धारण किया है। **ते**=तेरे लिए **ते**=वे सब कुम्भ **स्वधावन्तः**=आत्मधारणयोग्य अन्नोंवाले, **मधुमन्तः**=मधुवाले (शहद) **घृतश्चुतः**=और घृत स्रवण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारे भोजन-पान अपूपों से पूर्ण हों—उनमें ऐसे भोज्य-पदार्थ हों जो शीघ्र विशीर्ण व दुर्गन्धित नहीं हो जाते। शरीर के धारण के योग्य अन्नों से वे परिपूर्ण हों। उनमें शहद हों, वे घृतपूर्ण हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

धान, तिल, स्वधा

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः।
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम्॥ ६९॥

१. **याः**=जिन **धानाः**=धान्यों को, **तिलमिश्राः**=तिलों से मिलाकर **स्वधावतीः**=पौष्टिक अन्न से युक्त करके **अनुकिरामि**=क्षेत्रों में क्रमशः विकीर्ण करता हूँ—खेतों में बीज के रूप में बोता हूँ, **ताः**=वे धान **ते**=तेरे लिए **विभ्वीः**=खूब अधिक **प्रभ्वीः**=उत्कृष्ट बल को पैदा करनेवाले **सन्तु**=हों (विभुत्वगुणोपेताः)। २. **यमः राजा**=सर्वनियन्ता शासक प्रभु **ताः**=उन धानों को **ते**=तेरे लिए **अनुमन्यताम्**=खाने के लिए अनुमति दे। वस्तुतः प्रभु ने हमारे लिए तिल—पौष्टिक अन्न व धानों को ही भोजन के रूप में ग्रहण करने की आज्ञा दी है। 'व्रीहिमत्तं यवमत्तं माषमत्तमथो तिलं एष वां भागो निहितः'।

भावार्थ—हम खेतों में तिल, धान व पौष्टिक अन्नों को ही पैदा करने का यत्न करें। ये हमारे लिए पर्याप्त व शक्ति देनेवाले हों। प्रभु ने हमारे लिए ये ही भोजन नियत किये हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मुक्तात्मा का ज्ञानोपदेश के लिए समय-समय पर आना

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि।
यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन्॥ ७०॥

१. हे **वनस्पते**=प्रकाश की किरणों के स्वमिन् प्रभो! **यः एषः**=जो यह मुक्त जीव **त्वयि निहितः**=शरीर को छोड़कर आपमें निहित हुआ है, इसे **पुनः देहिः**=फिर हमारे लिए प्राप्त कराइए। २. **यथा**=जिससे **यमस्य सादने**=उस सर्वनियन्ता आपके आश्रय में रहता हुआ **विदथा वदन्**=हमारे लिए ज्ञानों का उपदेश करता हुआ **आसातै**=आसीन हो।

भावार्थ—मुक्तात्मा इस संसार में पुनः आएँ और प्रभु के आश्रय में निवास करते हुए वे हमारे लिए ज्ञानोपदेश करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

तपस्याग्निदग्ध को पुण्यशील लोकसमाज का अंग बनाना

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते।
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके॥ ७१॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञानिन्—गतमन्त्र के अनुसार मुक्ति से लौटे हुए पुरुष! **आरभस्व**=तू संसार में अपने कार्य का आरम्भ कर। **ते**=तेरी **हरः**=अविद्यान्धकार को नष्ट करने की शक्ति **तेजस्वत् अस्तु**=तेजवाली हो, अर्थात् तू ज्ञान-प्रसार के कार्य में खूब समर्थ हो। २. **अस्य**=इस प्रजानन के **शरीरम्**=शरीर को **संदह**=सम्यक् दग्ध कर—तपस्या की अग्नि में परिपक्व कर और **अथ**=अब **एनम्**=इसको **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशील लोगों के **लोके**=लोक में **धेहि**=स्थापित कर। इन्हें राष्ट्र के उत्तम वर्ग का अंग बना।

भावार्थ—राष्ट्र में ज्ञानप्रसार में प्रवृत्त आचार्यों का कर्त्तव्य है कि अपने शिष्यों को तीव्र तपस्वी बनाकर—उनमें ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करके, उन्हें राष्ट्र का उत्तम अंग बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

घृतस्य कुल्या

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यै॑तु शतधारा व्युन्दती॥ ७२॥

१. **ये**=जो **ते**=वे **पूर्वे**=पहले पितर, अर्थात् प्रपितामह और पितामह, **ये च**=और जो **अपरे पितरः**=अपर पितर, अर्थात् तेरे पिता **परागताः**=गृहस्थ से ऊपर उठकर दूर वन में चले गये हैं, **तेभ्यः**=उनसे **घृतस्य**=ज्ञानजल की प्रवाहिणी **कुल्या**=नदी **एतु**=हमें प्राप्त हों। यह घृतकुल्या **शतधारा**=सैकड़ों प्रकार से हमारा धारण करनेवाली हो और **व्युन्दती**=हमारे हृदयों को भक्तिरस से आर्द्र करती हुई हो।

भावार्थ—हमें 'प्रपितामह, पितामह व पिता' रूप पितरों से वह ज्ञान प्राप्त हो जोकि सैकड़ों प्रकार से हमारा धारण करे और हमें भक्तिरस से आप्लवित करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञाननदी में जीवन का शोधन व उत्थान

एतदा रोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते।
अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र॥ ७३॥

१. हे जीव! गतमन्त्र के अनुसार पितरों से प्रवाहित होनेवाली ज्ञाननदी (सरस्वती) में **एतत् वयः**=अपने इस जीवन को **उन्मृजानः**=शुद्ध करता हुआ **आरोह**=उन्नति की दिशा में आरोहण कर—ऊपर उठ। तेरे **स्वाः**=अपने पितर (बन्धु-बान्धव) **इह**=यहाँ **उ**=निश्चय से **बृहदु**=खूब ही **दीदयन्ते**=ज्ञान से दीप्त हो रहे हैं। २. तू भी समय आने पर **मध्यतः**=इस गृहस्थ जीवन के मध्य से **अभिप्रेहि**=वानप्रस्थ की ओर चल। **पितृणां लोकं मा अपहास्थाः**=पितरों के लोक को दूर से मत छोड़। तू भी पितरों के लोक में आनेवाला बन। **यः**=जो पितृलोक **अत्र**=यहाँ जीवन में **प्रथमः**=सर्वप्रथम लोक है—मुख्य है, अथवा विस्तारवाला है (प्रथ विस्तारे)। इसमें गृहस्थ के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठकर एक व्यक्ति विशाल अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है।

भावार्थ—पितरों से प्रवाहित होनेवाले ज्ञाननदी में अपने जीवन को शुद्ध करते हुए हम भी ऊपर उठें। वह भी समय आये जब हम भी गृहस्थ से ऊपर उठकर वनस्थ हों। इस पितृलोक को हम उपेक्षित न करें। यह लोक हमें विशाल अन्तरिक्ष में ले-जाता है।

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

वेदवाणी द्वारा प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करना

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि।
अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके॥ १॥

१. **जातवेदसः**=उस सर्वव्यापक (जाते जाते विद्यते), सर्वज्ञ (जातं जातं वेत्ति) प्रभु की **जनित्रीम्**=प्रादुर्भाव करनेवाली वेदवाणी का **आरोहत**=आरोहण करो (सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति०

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः०)। वेदवाणी के अध्ययन से हम प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले बनें। प्रभु कहते हैं कि मैं **वः**=तुम्हें **पितृयाणैः**=पितृयाण मार्गों से **सं आरोहयामि**=सम्यक् आरूढ़ कराता हूँ। रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग स्वाध्याय-प्रवृत्त होकर वेदवाणी का आरोहण करते हैं। ध्वंस के मार्ग की ओर प्रवृत्ति होते ही ज्ञानरुचिता समाप्त हो जाती है। २. पितृयाणमार्गों से चलता हुआ व्यक्ति **हव्यवाहः**=हव्य का वहन करनेवाला होता है—सदा यज्ञशील बनता है। यह **इषितः**=प्रभु से प्रेरणा प्राप्त किया हुआ व्यक्ति **हव्या अवाट्**=हव्य पदार्थों का वहन करनेवाला होता है। यज्ञिय पवित्र पदार्थों का ही सेवन करता है। हे **युक्ताः**=साम्यबुद्धि से युक्त पितरो! आप **ईजानम्**=इन यज्ञशील पुरुषों को **सुकृतां लोके धत्त**=पुण्यकर्मा लोगों के लोक में धारण करो, अर्थात् आपकी प्रेरणा से ये लोग यज्ञशील बनें और सदा पुण्यकर्मों में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—हम रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हुए-हुए वेदवाणी के स्वाध्याय से प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। प्रभुप्रेरणा को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति यज्ञशील बनता है। यह सदा पुण्यकर्मा लोगों के लोक में निवास करनेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

देव यज्ञमय जीवनवाले होते हैं

देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्॥ २॥

१. (ऋतवो वै देवाः गो० २.६.६) **ऋतवः देवाः**=नियमित गतिवाले (ऋ गतौ) अथवा दानपूर्वक अदन करनेवाले (हु दानादनयोः) देववृत्ति के व्यक्ति **यज्ञं कल्पयन्ति**=यज्ञ को सिद्ध करते हैं। **हविः**=चरु-आज्य व सोमलक्षण हवि को **पुरोडाशम्**=पिष्टिमय—मोहनभोग आदि हव्य विशेषों को **स्रुचः**=जुहू आदि यज्ञोपयुक्त चमसादि को, **यज्ञायुधानि**=यज्ञ के साधनभूत सब उपकरणों को ये सिद्ध करते हैं। २. हे साधक! तू **तेभिः**=उन **देवयानैः पथिभिः**=देवों से जाने योग्य मार्गों से **याहि**=गतिशील बन। **ईजानाः**=यज्ञशील लोग **स्वर्गं लोकं यन्ति**=स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं। इनके घर स्वर्गोपम बनते हैं।

भावार्थ—देव यज्ञमय जीवनवाले होते हुए घरों को स्वर्गमय बनाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाभुरिगतिजगती**॥

तृतीये नाके (अङ्गिरसः, सुकृतः, आदित्याः)

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति। तेभिर्याहि
पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व॥ ३॥

१. हे साधक! तू **ऋतस्य पन्थाम्**=ऋत के—यज्ञ के मार्ग को **साधु अनुपश्यः**=सम्यक् अनुक्रमेण देखनेवाला बन। **अङ्गिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले—पूर्ण स्वस्थ व ज्ञानी **सुकृतः**=पुण्यशाली लोग **येन यन्ति**=जिस ऋत के मार्ग से जाते हैं। ज्ञानी पुण्यकर्मा लोग ऋत के मार्ग से ही चलते हैं—हमें भी इस ऋत (यज्ञ) के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। २. हे साधक! तू भी **तेभिः पथिभिः**=उन मार्गों से **स्वर्गं याहि**=सुखमय लोक को प्राप्त कर, **यत्र**=जिस लोक में **आदित्याः**=सदा गुणों का आदान करनेवाले लोग **मधु भक्षयन्ति**=मधुवत् प्रीतिकर सात्त्विक भोजनों को ही यज्ञशेष के रूप में खाते हैं। उस **तृतीये नाके**=तृतीय सुखमय लोक में **अधिविश्रयस्व**=तू आश्रय कर। प्राकृतिक भोगों के उपभोग का मार्ग 'पृथिवीलोक' है। राजस् प्रवृत्तिवाला 'धन और यश' की प्राप्ति का मार्ग 'अन्तरिक्षलोक' है। यज्ञशेष के रूप

में सात्त्विक भोजन का स्वीकार 'प्रभु-प्राप्ति' का मार्ग 'द्युलोक' है। यही 'तृतीय नाक' लोक हैं। तू इसमें विचरनेवाला बन।

भावार्थ—हम ऋत के मार्ग को देखें। इसी मार्ग से पुण्यशील लोग चलते हैं। इस मार्ग में गुणों का आदान करनेवाले आदित्य मधु का भक्षण करते हैं। यही तृतीय नाक लोक है। हमें इसी का आश्रय करना चाहिए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

त्रयः सुपर्णाः

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित 'अङ्गिरसः, सुकृता, आदित्याः'=पूर्णस्वस्थ, उत्तम कर्मों को करनेवाले, गुणों व ज्ञान का आदान करनेवाले **त्रयः**=तीनों **सुपर्णाः**=उत्तमता से अपना पालन व पूरण करनेवाले हैं। ये **उपरस्य मायू**=(उपरमनोऽस्मिन् भूतानि, मायू=मायवः) सब प्राणियों के निवास-स्थानभूत प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले हैं। ये **नाकस्य पृष्ठे**=आनन्दमय प्रभु के आधार में **विष्टपि अधिश्रिताः**=(त्रिविष्टप=विष्टप) स्वर्गलोक में आश्रय करते हैं, अर्थात् इनके घर स्वर्ग बन जाते हैं। २. **स्वर्गाःलोकाः**=ये स्वर्गतुल्य गृह **अमृतेन विष्ठाः**=अमृत से—नीरोगता से व्याप्त हैं (विष व्याप्तौ)। ये **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **इषम् ऊर्जम्**=अन्न और रस को—अथवा प्रभु-प्रेरणा (इष्) और बल (ऊर्ज्) को **दुह्राम्**=प्रपूरित करनेवाले हों।

भावार्थ—हम 'अङ्गिरस् (पूर्णस्वस्थ), सुकृत् (पुण्यकर्मा), आदित्या (गुणों व ज्ञानों का आदान करनेवाले)' बनकर प्रभु का उपासन करते हुए अपने घरों को स्वर्ग बनाएँ। ये घर नीरोगता के आधार हों। हमारे लिए अन्न-रस का दोहन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

जुहूः, उपभृत, ध्रुवा

जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम्।
प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम्॥ ५॥

१. यज्ञ के महत्त्व का काव्यमय वर्णन इस रूप में करते हैं कि **जुहूः द्याम् दाधार**=(हूयते अनया हविः सोमसाधनाभूतः पात्रविशेषः) जुहू नामक यज्ञपात्र द्युलोक का धारण करता है। **उपभृत् अन्तारिक्षम्**=(उप समीपे जुह्वाः भ्रियते) जुहू के समीप रखा जानेवाल पात्रविशेष अन्तरिक्ष को धारण करता है। **ध्रुवा प्रतिष्ठां पृथिवीं दाधार**=ध्रुवा संज्ञिका स्रुक् चराचरात्मक जगत् की आश्रयभूत प्रथित भूमि को धारण करती है। इसप्रकार ये यज्ञपात्र त्रिलोक का धारण करते हैं, अर्थात् सम्पूर्ण संसार का आधार यज्ञ ही है। २. **इमां प्रति**=ध्रुवा से धारित इस पृथिवी का लक्ष्य करके **लोकाः**=सब लोक **घृतपृष्ठाः**=दीप्ति के आधारभूत होते हैं, **स्वर्गाः**=स्वर्ग ही होते हैं। सब लोक इन प्राणियों की आधारभूत पृथिवी को दीप्तिमय व स्वर्गतुल्य बनाते हैं। जब इस पृथिवी पर सब मनुष्य यज्ञशील बनते हैं, तब इस पृथिवी पर सूर्य शान्तिशील होकर तपता है (शं नस्तपतु सूर्यः), अन्तरिक्ष से बादल भी ठीक वर्षा करके अन्नोत्पत्ति का साधन बनते हैं (शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः)। ये **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **कामंकामम्**=प्रत्येक काम्य—चाहने योग्य पदार्थ का **दुह्राम्**=दोहन करते हैं।

भावार्थ—'यज्ञ' त्रिलोकी का धारण करता है। यज्ञों के होने पर सब अन्तरिक्ष व द्युलोक

इस पृथिवी को दीप्तिमय स्वर्गतुल्य बनाते हैं। यज्ञशील पुरुष के लिए सब काम्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अहृणीयमानः 'यजमान'

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः प्रपीनाः सर्वाः
धुक्ष्वाहृणीयमानः॥ ६॥

१. हे **ध्रुवे**=यज्ञपात्रविशेष! तू **विश्वभोजसम् पृथिवीम् आरोह**=सबका पालन करनेवाली इस पृथिवी पर आरोहण कर—इस पृथिवी की अधिष्ठात्री देवता बन। हे **उपभृत्**=जुहू के समीप स्थापित होनेवाले पात्रविशेष। तू **अन्तरिक्षम् आक्रमस्व**=अन्तरिक्षलोक में गतिवाली हो और **जुहू**=हे जुहु! तू **यजमानेन साकम्**=इस यज्ञशील पुरुष के साथ **द्यां गच्छ**=द्युलोक में जानेवाली हो, अर्थात् तू यजमान को प्रकाशमय लोक में प्राप्त करा। २. 'ध्रुवा, उपभृत् तथा जुहू' द्वारा यज्ञ करते हुए हे यजमान! तू **स्रुवेण वत्सेन**=इस वत्स के समान स्रुव नामक पात्र से **सर्वाः प्रपीनाः दिशः धुक्ष्वः**=सब आप्यायित हुई दिशाओं का दोहन कर। बछड़ा गोस्तनों को स्तन्यपान द्वारा प्रपीन करता है, इसी प्रकार 'स्रुव' जुहू आदि पात्रों को आज्यपूरित करता है, अतः यह स्रुव वत्स-तुल्य कहा गया है। स्रुव के द्वारा यजमान सब दिशाओं से काम्य पदार्थों का दोहन करनेवाला बनता है। हे यजमान! इसप्रकार यज्ञ से सब वस्तुओं का दोहन करता हुआ तू **अहृणीयमानः**=(अरोषणः) रोषरहित है—तू बिलकुल क्रोधशून्य है। सब काम्य पदार्थों की प्राप्ति तुझे अभिमान व क्रोध आदि से परिपूर्ण न कर दे।

भावार्थ—यज्ञ हमारे जीवन को स्वर्गमय बनाए। यज्ञशील पुरुष के लिए सब दिशाएँ इष्ट काम्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। सब इष्टों से परिपूर्ण होता हुआ भी यह यजमान अभिमान व क्रोध से शून्य होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

तीर्थैः तरन्ति प्रवतः मही (इति)

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त॥ ७॥

१. **तीर्थैः**=माता, पिता, आचार्य आदि तीर्थों के द्वारा **महीः**=महान् **प्रवतः**=(Precipice, deciving) ढलानों को **तरन्ति**=तैर जाते हैं, अर्थात् अज्ञानान्धकार से तरानेवाले 'माता, पिता, आचार्य' आदि तीर्थ हैं। इनके द्वारा दिये गये ज्ञानों के द्वारा हम जीवन-यात्रा में आ जानेवाली महान् ढलानों को—कठिन मार्गों को जीवन की उलझनों को तैर जाते हैं। **इति**=इसप्रकार अज्ञानान्धकारों को तैर कर ये उस मार्ग से **यन्ति**=चलते हैं, **येन**=जिससे कि **यज्ञकृतः सुकृतः**=यज्ञशील पुण्यकृत् लोग चला करते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में अज्ञान को दूर करके गृहस्थ में यज्ञशील बनते हैं। २. इस **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **अत्र**=यहाँ—गृहस्थ जीवन में **दिशः**=सब दिशाएँ **लोकम् अदधुः**=प्रकाश को धारण करती हैं। **यत्**=जबकि ये यज्ञशील **भूतानि**=सब प्राणियों को **अकल्पयन्त**=सामर्थ्य-सम्पन्न करते हैं। यज्ञ की भावना मनुष्यों को परस्पर मेलवाला बनाती है। (यज्ञ संगतिकरणे)। यह मेल उनकी शक्ति को बढ़ाता है। इस शक्ति के होने पर उनके लिए सब ओर प्रकाश-ही-प्रकाश होता है। निर्बलता व असामर्थ्य ही

सब कष्टों का मूल बना करती है।

भावार्थ—हम 'माता, पिता, आचार्य' आदि तीर्थों से अज्ञान को तैर कर यज्ञशील बनें। इस यज्ञशीलता से हमारे लिए सब ओर प्रकाश-ही-प्रकाश होता है। इस यज्ञशीलता से हम मेलवाले बनकर शक्तिशाली बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी**॥

अङ्गिरस्-आदित्य-दक्षिण

अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः।
महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः॥ ८॥

१. **अङ्गिरसाम्**=प्राणशक्तिसम्पन्न—अथवा प्राणों की आराधना करनेवाले ब्रह्मचारियों का **अयनम्**=शरण (रक्षक) **पूर्वः अग्निः**=यह आहवनीय अग्नि है। आहवनीय अग्नि 'आचार्य' है (गुरुराहवनीयस्तु)। यह विद्यार्थी का पूरण करने से 'पूर्व अग्नि' कहा गया है। यह विद्यार्थी को संयमी बनाकर प्राणशक्तिसम्पन्न बनाता है। **आदित्यानाम्**=अदीना देवमाता के पुत्रभूत इन गृहस्थों का **अयनम्**=शरण **गार्हपत्यः**=गार्हपत्य अग्नि है। गार्हपत्य अग्नि ठीक प्रज्वलित रहे, अर्थात् गृहस्थ का खान-पान ठीक से चलता जाए तो गृहस्थ में सबके मस्तिष्क ठीक से कार्य करते हैं। गार्हपत्य अग्नि 'पिता' कहलाता है। पिता के ठीक होने पर गृहस्थ में अन्य व्यक्ति भी ठीक बने रहते हैं। सन्तानों पर पिता का बड़ा स्वस्थ प्रभाव पड़ना आवश्यक है। अब गृहस्थ से ऊपर उठकर (दक्ष् to grow) वानप्रस्थ में पहुँचनेवाले **दक्षिणानाम्**=चतुर, कुशल पुरुषों का **अयनम्**=शरण **दक्षिणाग्निः**=दक्षिणाग्नि 'माता' है। एक वानप्रस्थ अब किन्हीं को भी पत्नीभाव से न देखकर सभी को मातृभाव से देखता है। २. संन्यस्त होकर तू **ब्रह्मणा विहितस्य**=वेद द्वारा प्रतिपादित **अग्नेः महिमानम्**=उस प्रभु की महिमा को (सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति) **समङ्गः**=सब अंगों से संगत हुआ-हुआ **सर्वः**=(whole) पूर्णस्वस्थ व **शग्मः**=सुख-दुःखरहित हुआ-हुआ **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त हो। प्रभु की उपासना करता हुआ तू प्रभु की महिमा को प्राप्त करनेवाला हो।

भावार्थ—आचार्य हमें प्राणशक्तिसम्पन्न बनाएँ। गृहस्थ में पिता सबको उत्तम गुणों का आदान करनेवाला बनाए। वानप्रस्थ में हम सब नारियों में मातृभावनावाले हों और अन्ततः संन्यास में हम संहत अवयवोंवाले—स्वस्थ व सुखी होते हुए प्रभु की महिमा को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—**पञ्चपदाभुरिक्शक्वरी**॥

'पूर्व, गार्हपत्य व दक्षिण' अग्नियाँ

पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात्तपतु गार्हपत्यः।
दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो
अन्तरिक्षाद्दिशोदिशो अग्ने परि पाहि घोरात्॥ ९॥

१. **'पूर्वः अग्निः'**=तेरा पूरण करनेवाला वह आचार्यरूप अग्नि **त्वा**=तुझे **शम्**=शान्तिकर होता हुआ **पुरस्तात् तपतु**=सबसे प्रथम दीप्त जीवनवाला बनाए। **पश्चात्**=इसके बाद **गार्हपत्यः**=पितारूप गार्हपत्य अग्नि **शम्**=शान्तिकर होता हुआ **तपतु**=तेरे जीवन को दीप्त करे। तेरे पिता तुझे अपनी प्रेरणा व उदाहरण से एक सद्गृहस्थ बनानेवाले हों। अब वानप्रस्थ में यह **दक्षिणाग्निः**=मातृरूप दक्षिणाग्नि—सबके अन्दर मातृभावना **तपतु**=तुझे दीप्त जीवनवाला बनाए। **शर्म**=यह मातृभावना तुझे सुखी करे। यह भावना **वर्म**=तेरा कवच बने। इस भावना के द्वारा तू चरित्रहीनता में जाने

से बचा रहे। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **उत्तरतः**=उत्तर से, **मध्यतः**=मध्य से, **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्षदेश से, **दिशः दिशः**=प्रत्येक दिशा से **घोरात् परि पाहि**=घोर, भयंकर पाप कर्मों से बचानेवाले होइए। आपका स्मरण व उपासन हमें अशुभ कर्मों में फँसने से बचाए।

भावार्थ—आचार्य, पिता व मातृभावना मुझे क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ व वानप्रस्थ में दीप्त जीवनवाला बनाएँ। यह मातृभावना मुझे सुखी करे और मेरा कवच बने—मुझे पतन से बचानेवाली हो। प्रभुस्मरण मुझे संन्यस्त दशा में सर्वतः घोर कर्मों से बचानेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शन्तमाभिः तनूभिः

यूयमग्ने शन्तमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम्।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=('पूर्व, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि' आचार्य, पिता, माता व प्रभु)-रूप अग्नियो! **यूयम्**=आप सब **शन्तमाभिः तनूभिः**=अपने अत्यन्त शान्तिकर रूपों से (ये ते अग्ने शिवे तनुवौ विराट् च स्वराट्.....सम्राट् च अभिभूश्च......विभूश्च परिभूश्च......प्रभ्वी च प्रभूतिश्च 'ते मा विशताम्' तै० १.१७.३), अर्थात् 'ज्ञानदीप्ति, जितेन्द्रियता, सम्यग् दीप्ति, शत्रुपराजय, वैभव, व्यापकता, प्रभावशक्ति, उत्कृष्ट ऐश्वर्य' आदि से आप **ईजानम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **स्वर्गं लोकम् अभिवहाथ**=स्वर्गलोक की ओर ले-चलते हो। २. हे अग्नियो! आप इस ईजानपुरुष के लिए **अश्वः भूत्वा**=अश्वों के समान होकर इसे स्वर्ग में ले-चलते हो, जोकि **पृष्टिवाहः**=एक घोड़ा आगे और दो घोड़े जिसमें उसके पीछे जुते हैं, ऐसे रथ के वहन करनेवाले हैं। यहाँ शरीरों में भी बुद्धिरूप घोड़े के पीछे ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व जुते हैं। आप इस ईजान को वहाँ ले-चलते हो **यत्र**=जहाँ कि ये ईजानपुरुष **देवैः**=ज्ञानियों के साथ **सधमादं मदन्ति**=साथ बैठने के स्थान में ज्ञानचर्चाओं को करते हुए आनन्दित होते हैं।

भावार्थ—आचार्य, पिता व मातारूप अग्नियाँ यज्ञशील पुरुष को स्वर्ग में प्राप्त कराते हैं। यहाँ यज्ञशील पुरुष देवों के साथ ज्ञानचर्चाओं में आनन्द का अनुभव करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

एकस्त्रेधा विहितः

शमग्ने पश्चात्तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात्तपैनम्।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **एनम्**=इस गतमन्त्र के ईजान-(यज्ञशील)-पुरुष को **पश्चात्**=पश्चिम दिशा से **शं तप**=शान्तिपूर्वक दीप्त जीवनवाला बनाएँ। **उत्तरात् शम्**=उत्तर से इसे शान्ति के साथ दीप्त कीजिए। **अधरात् शं तप**=दक्षिण से भी शान्ति के साथ दीप्त बनाइए। २. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञप्रभो! आप ही **एकः**=एक होते हुए **त्रेधा विहितः**=हमारे जीवनों में तीन प्रकार से स्थापित होते हो। आचार्य, पिता व माता के रूप में आप ही हमारे जीवनों में शान्ति व दीप्ति देते हो। आप **एनम्**=इस ईजान को **उ**=निश्चय से **सुकृताम् लोके**=पुण्यशील पुरुषों के लोकों में **धेहि**=स्थापित कीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें सब ओर से शान्त व दीप्त जीवनवाला बनाएँ। हमारे जीवनों में प्रभु ही 'आचार्य, पिता व माता' के रूप में स्थापित होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**महाबृहती** ॥

प्राजापत्य यज्ञ

शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन्॥ १२॥

१. **समिद्धाः**=ज्ञान से दीप्त होते हुए **अग्नयः**=आचार्य, पिता व मातारूप अग्नियाँ **जातवेदसः**=उस सर्वज्ञ प्रभु के इस **मेध्यम्**=पवित्र **प्राजापत्यम्**=गृहस्थ में सन्तान निर्माणरूप यज्ञ को **शम् आरभन्ताम्**=शान्तिपूर्वक आरम्भ करें। वस्तुतः एक गृहस्थ में सन्तान प्रभु के ही होते हैं। उन सन्तानों का पालन प्रभु का ही उपासन है। २. सब अग्नियाँ **इह**=इस जीवन में **शृतं कृण्वन्तः**=अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करते हुए **मा अवचिक्षिपन्**=अपने को प्रभु से दूर विषय-वासनाओं में मत फेंकनेवाले हों। स्वयं पवित्र जीवनवाले होते हुए ही तो ये इस प्राजापत्य यज्ञ को सम्यक् सिद्ध कर पाएँगे।

भावार्थ—'आचार्य, पिता व माता' स्वयं ज्ञानदीप्त बनकर प्राजापत्य यज्ञ को अत्युत्तमता से कर पाते हैं। अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व बनाकर ये विषयवासनाओं में लिप्त नहीं होते।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

यज्ञ एति विततः कल्पमानः

यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम्।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन्॥ १३॥

१. **स्वर्गं लोकम् अभि ईजानम्**=स्वर्गलोक का लक्ष्य करके यज्ञ करनेवाले इस पुरुष को वह **विततः**=सर्वत्र विस्तृत (सर्वव्यापक) **कल्पमान**=(क्लृपू सामर्थ्ये) सामर्थ्यसम्पन्न होता हुआ **यज्ञः**=पूजनीय प्रभु **एति**=प्राप्त होता है। प्रभु की आज्ञा को मानता हुआ जो भी पुरुष यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है उसे प्रभु अवश्य प्राप्त होते हैं। २. **जातवेदसः**=उस सर्वज्ञ प्रभु के **तम्**=उस **सर्वहुतं**=जिसमें सब 'तन-मन-धन' का अर्पण करना पड़ता है, **प्राजापत्यम्**=प्रजाओं के रक्षणात्मक **मेध्यम्**=पवित्र यज्ञ को **अग्नयः**=आचार्य, पिता व मातारूप अग्नियाँ **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। ये अग्नियाँ **शृतं कृण्वन्तः**=अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करते हुए **इह**=इस जीवन में **मा अवचिक्षिपन्**=अपने को प्रभु से दूर विषयवासनाओं में मत फेंक डालें। स्वयं पवित्र जीवनवाले होते हुए ही ये इस प्राजापत्य यज्ञ को उत्तमता से कर पाएँगे।

भावार्थ—प्रभु की आज्ञा के अनुसार यज्ञ करने पर हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। हम प्रभु के आदेश के अनुसार ही प्राजापत्य यज्ञ करनेवाले हों। ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करके हम विषयवासनाओं से दूर रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

देवयान

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद्दिवमुत्पतिष्यन्।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः॥ १४॥

१. **ईजानः**=यज्ञशील पुरुष **चितम्**=ज्ञानस्वरूप **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **आरुक्षत्**=आरूढ़ होता है—प्रभु को प्राप्त करता है। यह **नाकस्य पृष्ठात्**=स्वर्गलोक के पृष्ठ से **दिवम् उत्पतिष्यन्**=

प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है। जब तक यज्ञों में सकामता रहती है, तब तक यह स्वर्ग को प्राप्त करता है। निष्कामता आते ही ये उसे स्वर्ग से भी ऊपर उठाकर प्रभु के समीप ले-जाते हैं। २. **तस्मै**=उस यज्ञशील पुरुष के लिए **नभसः**=आकाश से वह **ज्योतिष्मान् प्रभाति**=ज्योतिर्मय प्रभु प्रकाशित होते हैं—उसे आकाश के तारों में भी प्रभु का प्रकाश दिखता है। **सुकृते**=इस पुण्यशील पुरुष के लिए **स्वर्गः पन्थाः देवयानः**=वह (स्वर् ग) प्रकाशमय मार्ग होता है जोकि देवों का मार्ग है। देव प्रकाशमय मार्ग से गति करते हैं और अन्ततः प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम सकाम यज्ञों से स्वर्ग को प्राप्त करके उन्हें निष्कामता से करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों। यही देवयान मार्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना'

अ॒ग्निर्होता॑ध्व॒र्युष्टे॒ बृह॒स्पति॒रिन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा द॑क्षिण॒तस्ते॑ अस्तु।
हु॒तो॒ऽयं संस्थि॑तो य॒ज्ञ ए॑ति॒ यत्र॒ पूर्व॒मय॑नं हु॒ताना॑म्॥ १५॥

१. हे यज्ञशील पुरुष! **अग्निः होता**=तेरे यज्ञ का होता वह अग्रणी प्रभु ही है। **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञानियों का भी ज्ञानी प्रभु **ते अध्वर्युः**=तेरे यज्ञ का संचालक है। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवान्—सर्वशक्तिमान् प्रभु ही **ब्रह्मा**=तेरे यज्ञ के ब्रह्मा हैं। **ते दक्षिणतः अस्तु**=इन्हें तू दक्षिणभाग में स्थित कर। आदर के लिए दक्षिणभाग में बिठाना होता है। तू प्रभु का आदर व पूजन करनेवाला हो। २. इसप्रकार प्रभु के आधार में **हुतः अयम्**=आहुत हुआ-हुआ यह **यज्ञः संस्थितः**=ठीक रूप में समाप्त हुआ-हुआ तुझे वहाँ (गमयति) प्राप्त कराता है, **यत्र**=जहाँ कि **हुतानां पूर्वम् अयनम्**=यज्ञशील पुरुषों का (हुतं अस्य अस्ति इति हुतः) मुख्य शरणस्थान है। 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना'—ब्रह्म को ही यज्ञ का कर्त्ता मानता हुआ पुरुष ब्रह्म को प्राप्त करता ही है।

भावार्थ—एक यज्ञशील पुरुष अपने यज्ञ को ब्रह्म से ही 'अग्नि (होता), बृहस्पति (अध्वर्यु) व इन्द्र (ब्रह्म)' के रूप में होता हुआ अनुभव करता है। इसप्रकार इसका यज्ञ ठीक से समाप्त होता है और यह ब्रह्म को ही प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदाभुरिङ्महाबृहती**॥

यज्ञशिष्ट उत्तम भोजन

अ॒पू॒पवा॑न्क्षी॒रवां॑श्च॒रुरेह सी॑दतु।
लो॒क॒कृत॑: पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ॥ १६॥
अ॒पू॒पवा॒न्दधि॑वांश्च॒रुरेह सी॑दतु।
लो॒क॒कृत॑: पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ॥ १७॥
अ॒पू॒पवा॑न्द्र॒प्सवां॑श्च॒रुरेह सी॑दतु।
लो॒क॒कृत॑: पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ॥ १८॥
अ॒पू॒पवा॑न्घृ॒तवां॑श्च॒रुरेह सी॑दतु।
लो॒क॒कृत॑: पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ॥ १९॥

अपूपवान्मांसवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २०॥
अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २१॥
अपूपवान्मधुमांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २२॥
अपूपवान्रसवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २३॥
अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २४॥

१. यज्ञों को करनेवाला पुरुष सदा यज्ञशिष्ट उत्तम भोजन ही करता है। वह प्रभु से यही प्रार्थना करता है कि **इह**=यहाँ—हमारे घरों में **चरुः**=चरणीय—भक्षणीय-भोजन **आसीदतु**=हमें प्राप्त हो। यह भोजन **अपूपवान्**=(न पूयते न विशीर्यते) दुर्गन्धित रोटी से युक्त न हो तथा **क्षीरवान्**=दूध से युक्त हो, इसी प्रकार यह भोजन **दधिवान्**=दहीवाला हो। **द्रपस्वान्**=(diluted curd) छाछ आदिवाला हो। **घृतवान्-मांसवान्** (fleshy part of fruits)=घृत से तथा फलों के गूदे से युक्त हो। **अन्नवान्-मधुमान्**=अन्नवाला हो तथा शहदवाला हो। **रसवान्-अपवान्**=रस से युक्त हो तथा जलोंवाला हो। ये ही हमारे भोज्यद्रव्य हों। २. इन उत्तम सात्त्विक भोजनों को करते हुए हम उन सत्पुरुषों के **यजामहे**=संग को प्राप्त हों जो **लोककृतः**=प्रकाश फेलानेवाले हैं—ज्ञानमार्ग को दिखलानेवाले हैं। **पथिकृतः**=कर्त्तव्यपथ का प्रतिपादन करते हैं और **वे**=जो **इह**=यहाँ—जीवन में **देवानां हुतभागाः स्थ**=देवों के हुत का सेवन करनेवाले हैं, अर्थात् यज्ञशील हैं और यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले हैं।

भावार्थ—हमारा भोजन सात्त्विक हो और संग ज्ञानी, यज्ञशील पुरुषों के साथ हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्वधा-मधु-घृत-धान-तिल

अपूपापिहितान्कुम्भान्यांस्ते देवा अधारयन्।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ २५॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम्॥ २६॥

व्याख्या १८.३.६८-६९ पर द्रष्टव्य है। २६ वें मन्त्र में 'विभ्वी' के स्थान में 'उद्भ्वी' पाठ है। इसका अर्थ भी वही है। 'खूब अधिक पैदा होनेवाले'

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**याजुषीगायत्री**॥

अक्षिति

अक्षितिं भूयसीम्॥ २७॥

१. हे साधक! तू प्रभु के अनुग्रह से **भूयसीम्**=बहुत अधिक **अक्षितिम्**=न नष्ट होने देनेवाली अन्न-सम्पत्ति को प्राप्त कर।

भावार्थ—हमारे घरों में उन उत्तम अन्नों की कमी न हो जो हमारी नीरोगता व निर्मलता के साधक बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सात्त्विक अन्न से उत्पन्न 'सोम' का शरीर में स्थापन

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः॥ २८॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित सात्त्विक अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ **द्रप्सः**=रेतःकण (Drops of semen) **पृथिवीम् द्याम् अनु**=इस शरीररूप पृथिवी व मस्तिष्करूप द्युलोक को लक्ष्य करके **चस्कन्द**=शरीर में ही ऊर्ध्व (ascend) गतिवाला होता है। **च**=और **इमं योनिम्**=इस शरीररूप घर को **यः च पूर्वः**=और जो सर्वप्रथम स्थान में होनेवाला मस्तिष्करूप द्युलोक है, उसको **अनु**=लक्ष्य करके यह 'द्रप्स' शरीर में व्याप्त होता है। २. **समानम्**=(सम् आन) उत्तम प्राण-शक्तियुक्त **योनिम् अनु**=शरीररूप गृह का लक्ष्य करके **संचरन्तम्**=सम्यक् गति करते हुए **द्रप्सम्**=इस रेतःकण को **सप्त होत्राः अनु जुहोमि**=मैं शरीर-यज्ञ की साधक 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात (दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें, एक मुख) होतृरूप इन्द्रियों का लक्ष्य करके शरीररूप यज्ञकुण्ड में आहुत करता हूँ। इस द्रप्स ने ही इन होताओं के शरीर-यज्ञ को सिद्ध कर सकने में समर्थ करना है।

भावार्थ—शरीर में ही व्याप्त किया गया सोम (द्रप्स) शरीर को, मस्तिष्क को व इन्द्रियों को सशक्त व दीप्त बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्रभु-पूजन व त्याग

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम्।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम्॥ २९॥

१. **ते नृचक्षसः**=वे मनुष्यों का ध्यान करनेवाले—उनका रक्षण करनेवाले (सर्वभूताहिते रताः) पुरुष उस प्रभु को ही **रयिम् अभिचक्षते**=ऐश्वर्य के रूप में देखते हैं, जो प्रभु **शतधारम्**=शतवर्षपर्यन्त हमारा धारण करनेवाले हैं। **वायुम्**=गति द्वारा सब बुराइयों का खण्डन करनेवाले हैं। **अर्कम्**=पूजनीय हैं व सूर्यसम दीप्त हैं। **स्वर्विदम्**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करनेवाले हैं। २. **ये**=जो प्रभु के पुजारी **पृणन्ति**=(पृणाति protect) रक्षण का कार्य करते हैं, **च**=और सर्वदा **प्रयच्छन्ति**=सदा दान देनेवाले होते हैं, **ते**=वे **दक्षिणाम्**=दिये हुए दान को **सप्तमातरम् दुह्रते**=सात गुणा मपे हुए को दोहते हैं। दिया हुआ दान उन्हें सप्तगुणित होकर पुनः प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम भूतहित में प्रवृत्त हुए-हुए प्रभु का पूजन करनेवाले बनें—प्रभु को ही अपना ऐश्वर्य समझें। धनों का दान देनेवाले बनें। रक्षणात्मक कर्मों में इनका विनियोग करें। ये दान दिये हुए धन सप्तगुणित होकर पुनः हमें प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इडा धेनु का दोहन

कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्यो ऽमन्॥ ३०॥

१. वेदवाणी एक गौ है, जो हमारे लिए ज्ञानरूप दुग्ध का प्रपूरण करती है। इस **इडां धेनुम्**=वेदवाणीरूप गौ को जोकि **मधुमतीम्**=हमारे जीवनों को अतिशयेन मधुर बनानेवाली है, इसे **स्वस्तये**=कल्याण के लिए **दुहन्ति**=दोहते हैं। यह वेदवाणीरूप धेनु **कोशम्**=ज्ञान का कोश है। **कलशम्**=(कला शेरतेऽस्मिन्) सब कलाओं का निवासस्थान है तथा **चतुर्बिलम्**=यह वेदवाणी कलश 'ऋग्, यजुः, साम, अथर्व' रूप चार बिलोंवाला है। वेदरूप इन चारों स्तनों से ज्ञानदुग्ध का प्रस्रवण होता है। २. इस **जनेषु**=लोगों में **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति का संचार करनेवाली, **मदन्तीम्** (मादयनीम्)=जीवन को आनन्दमय बनानेवाली, **अदितिम्**=(अ-दिति) शरीर के स्वास्थ्य को नष्ट न होने देनेवाली वेदवाणीरूप गौ को, हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। हृदय में तू इसे स्थान दे। इससे नित्यप्रति ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाला बन।

भावार्थ—हमारे हृदयों में सदा वेदवाणी के लिए स्थान हो। हम सदा इसका स्वाध्याय करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वस्त्रों का उद्देश्य 'शरीरभरण'

एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं१ चर॥ ३१॥

१. **सविता देवः**=वह सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, प्रकाशमय (दिव्) प्रभु **ते**=तेरे लिए **एतत् वासः**=इस वस्त्र को **भर्तवे**=भरण-पोषण के लिए **ददाति**=देते हैं। वस्त्र का उद्देश्य शरीर का रक्षण है। यों ही चमक-दमक व सौन्दर्य के लिए इनका धारण नहीं करना होता। २. **तत्**=उस **तार्प्यम्**='तृपा' नामक तृणविशेष से बने हुए अथवा प्रीतिजनक **वसानः**=वस्त्र को धारण करता हुआ **त्वम्**=तू **यमस्य राज्ये**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के इस संसार-राज्य में **चर**=विचरनेवाला बन।

भावार्थ—वस्त्रों का उद्देश्य 'शरीर का धारण' ही है। इस संसार में इसी उद्देश्य से वस्त्रों को धारण करते हुए विचरें। तड़क-भड़क के लिए वस्त्रों का धारण न हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

धाना और तिल

धाना धेनुरभवद्वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति॥ ३२॥

१. गतमन्त्र में वस्त्रों के लिए सामान्य नियम का संकेत किया था। यहाँ भोजन का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **धानाः**=भृष्टयव (भुने जौ) तुम्हारे लिए **धेनुः अभवत्**=धेनु—पालन करनेवाली गौ हों। **तिलः**=तिल **अस्याः वत्सा अभवत्**=इस धेनु के बछंड़े के स्थानापन्न हों। २. **ताम्**=उस नानारूप गौ का **वै**=निश्चय से **अक्षिताम्**=जो नष्ट नहीं होने देनेवाली, उसका **यमस्य राज्ये**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के राज्य में **उपजीवति**=यह साधक उपभोग करता है। इस साधक के भोजन 'धान तथा तिल' आदि सात्त्विक पदार्थ ही होते हैं।

भावार्थ—हम भोजन के लिए 'धान व तिल' आदि सात्त्विक पदार्थों का ही ग्रहण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

गौवों का उपस्थान

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र॥ ३३॥

१. हे **असौ**=अमुक पुरुष! **एताः**=ये **ते धेनवः**=तेरी गौवें **कामदुघाः भवन्तु**=यथेष्ट दुग्ध देनेवाली हों। २. ये **एनीः**=शुभ्रारुणवर्णवाली, **श्येनीः**=धवलवर्णवाली, **सरूपाः**=समानरूपवाली **विरूपाः**=विविधरूपोंवाली **तिलवत्साः**=तिल के समान स्नेहयुक्त बछड़ोंवाली—स्निग्ध बछड़ोंवाली गौवें **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **त्वा उपतिष्ठन्तु**=तुझे समीपता से प्राप्त हों।

भावार्थ—हमारे लिए गौवें यथेष्ठ दुग्ध देनेवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ऊर्ज् की दोग्ध्री' गौवें

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः॥ ३४॥

१. **एनीः**=शुभ्रवरुण (उषा के वर्ण के समान वर्णवाली) **धेनवः**=गौवें **ते**=तेरे लिए **धानाः**=भरण-पोषण करनेवाली हों। **हरिणीः**=हरित या नीले से वर्णवाली, **श्येनी**=श्वेतवर्णवाली, **कृष्णाः**=कृष्ण वर्णवाली और **रोहिणीः**=लाल (कपिल) वर्णवाली गौवें **अस्य**=इस यज्ञशील पुरुष का **धानाः**=धारण करनेवाली हों। २. **तिलवत्साः**=स्निग्ध बछड़ोंवाली, **अनपस्फुरन्तीः**=(not refusing to be milked) अक्षीण व सरलता से दोहन होती हुई ये गौवें **विश्वाहा**=सदा **अस्मै**=इस साधक के लिए **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति का **दुहानाः**=प्रपूरण करती हुई **सन्तु**=हों।

भावार्थ—भिन्न-भिन्न वर्णोंवाली ये गौवें हमारा धारण करनेवाली हों। ये हमारे लिए 'ऊर्ज्' का दोहन करें—बल व प्राणशक्ति का प्रपूरण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ='शतधार साहस्र उत्स'

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्।
स बिभर्ति पितरं पितामहान्प्रपितामहान्बिभर्ति पिन्वमानः॥ ३५॥

१. मैं **वैश्वानरे**=घृत व हवि को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके सर्वत्र फैलाने के द्वारा सबका हित करनेवाले इस अग्नि में **इदम्**=इस **हविः**=घृत व हविर्द्रव्य को **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। यह हवि **साहस्रम्**=हज़ारों का हित करनेवाला **शतधारम्**=शतवर्षपर्यन्त हमारा धारण करनेवाला एक **उत्सम्**=स्रोत (चश्मा) ही है। यज्ञ एक धारणात्मक तत्त्वों के प्रवाहवाला स्रोत है। २. **सः**=वह अग्नि **पिन्वमानः**=हविर्द्रव्यों से प्रीणित किया जाता हुआ हमारे **पितरम्**=पिताओं को भी **बिभर्ति**=धारण करता है, **पितामहान्**=पितामहों का तथा **प्रपितामहान्**=प्रपिताओं का भी **बिभर्ति**=पोषण करता है। यह हमारे बड़ों के भी स्वास्थ्य का साधन बनता है।

भावार्थ—मैं यज्ञाग्नि में घृत आदि हविर्द्रव्यों की आहुति देता हूँ। यज्ञाग्नि में डाली गई यह हवि हज़ारों प्रकार से शतवर्षपर्यन्त हमारा धारण करनेवाली है। ये हमारे 'पिता, पितामह व प्रपितामह' आदि को भी धारण करनेवाली होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'ऊर्क् का दोग्धा' यज्ञ

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः॥ ३६॥

१. **सहस्रधारम्**=हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करनेवाले, **शतधारं**=शतवर्षपर्यन्त हमारे जीवन का धारण करनेवाले **उत्सम्**=यज्ञरूप स्रोत को **पितरः**=पालनात्मक कर्मों की वृत्तिवाले लोग **स्वधाभिः**=धारण करनेवाले अन्नों के उद्देश्य से **उपासते**=उपासित करते हैं। यज्ञों से वृष्टि होकर उत्तम आद्य अन्नों की प्राप्ति होती है। २. यह यज्ञरूप स्रोत **अक्षितैः**=न क्षीण होनेवाला है। **सलिलस्य पृष्ठे व्यच्यमानम्**=अन्तरिक्ष के पृष्ठ पर विस्तृत होनेवाला है। यह सारे वायुमण्डल में हविर्द्रव्यों के सूक्ष्मकणों को फैला देनेवाला है। **ऊर्जं दुहानम्**=अन्न व रस का हमारे लिए प्रपूरण करनेवाला है। **अनपस्फुरन्तम्**=सम्यक् शोभमान है। (सम्यक् शोभमानम् सा०)

भावार्थ—यज्ञ शतशः प्रकार से हमारा धारण करनेवाला है। पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोग आद्य अन्नों के हेतु से इस यज्ञ को अपनाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कसाम्बु

इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत्सजाता अव पश्यतेत।
मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान्कृणुत यावत्सबन्धु॥ ३७॥

१. इस मन्त्र में ज्ञानजल को 'कसाम्बु' कहा गया है 'कस गतिशासनयोः'। यह ज्ञानजल हमारी सब गतियों का साधक बनता है और आचार्य से अनुशासन के द्वारा हमें प्राप्त होता है। **इदं कसाम्बु**=यह ज्ञानजल **चयनेन चितम्**=आचार्य के समीप रहकर चयन के द्वारा संचित किया गया है। एक विद्यार्थी आचार्य के समीप रहकर इस ज्ञान का चयन (उपार्जन) करता है। हे **सजाताः**=(समानकुले जाताः) समान आचार्यकुल में विकसित ज्ञानवाले छात्रो! **तत् अवपश्यत**=उस ज्ञान को तुम सम्यक् देखो और उसके अनुसार **इत**=गतिवाले होओ। २. **अयं मर्त्यः**=यह ज्ञान का चयन करनेवाला मनुष्य **अमृतत्वम् एति**=अमृतत्व को प्राप्त करता है—जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठकर मुक्त हो जाता है। **तस्मै**=उस ज्ञानी मनुष्य के लिए **गृहान् कृणुत**=उत्तम गृहों का निर्माण करो **यावत् सबन्धु**=जब तक उसे प्रभु के साथ समान बन्धुत्व प्राप्त होता है। यह सबन्धुत्व प्राप्त होने पर तो घरों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

भावार्थ—हम आचार्यकुल में ज्ञानजल का चयन करें। इस ज्ञानजल के द्वारा ही मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त करता है। जब तक हम प्रभु के बन्धु नहीं हो जाते, तब तक हमें इस लोक में निवास के लिए उत्तम घरों का निर्माण करना आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रसादमय जीवन (Living in the present)

इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः।
इहैधि वीर्यऽवत्तरो वयोधा अपराहतः॥ ३८॥

१. हे मनुष्य! तू **इह एव एधि**=यहाँ ही हो—सदा परलोक का ही चिन्तन न करते हुए इस लोक को उत्तम बनाने का प्रयत्न कर। **धनसनिः**=धनों का संभजन करनेवाला बन। जीवन-

यात्रा इस धन के बिना सफलता से सम्पन्न नहीं हो सकती। **इह चित्तः**=तू यहाँ ही चित्तवाला हो—भूत, भविष्यत् का स्मरण न करते रहकर, वर्तमान काल में चलनेवाला बन। **इह क्रतुः**=यहाँ ही संकल्पवाला तू बन। इस लोक को उत्तम बनाने के संकल्प व पुरुषार्थवाला तू हो। २. **इह**=यहाँ **वीर्यवत्तरः एधि**=खूब ही शक्तिशाली तू हो। **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाला बन और **अपराहतः**=कभी भी काम-क्रोध आदि से तू आहत न हो।

भावार्थ—हम भूत व भविष्यत् में न रहकर वर्तमान में रहनेवाले बनें। वर्तमान को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। शक्तिशाली हों—दीर्घजीवनवाले हों और वासनाओं से पराभूत न हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पुरोविराडास्तारपङ्क्तिः**॥

सन्तान पालन व वृद्धपूजन

पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु॥ ३९॥

१. **पुत्रं पौत्रम् अभितर्पयन्तीः**=पुत्रों व पौत्रों को प्रीणित करती हुई—उनके लिए सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराने के द्वारा उन्हें सदा प्रसन्न रखती हुई **इमाः आपः**=ये प्रजाएँ **मधुमतीः**=अतिशयेन मधुर जीवनवाली होती हैं। सन्तानों के उत्तम होने पर माता-पिता का जीवन तो आनन्दमय होता ही है। २. **पितृभ्यः**=अपने बड़े माता-पिता के लिए **स्वधाम्**=अन्नों को व **अमृतम्**=नीरोगता को **दुहानाः**=प्रपूरित करती हुई **देवीः आपः**=प्रकाशमय जीवनवाली—स्वाध्यायशील प्रजाएँ **उभयान्**=एक ओर पुत्र-पौत्रों को तथा दूसरी ओर माता-पिता आदि बड़ों को **तर्पयन्तु**=प्रीणित करनेवाली हों।

भावार्थ—युवा गृहस्थों का कर्तव्य है कि वे सन्तानों का समुचित पालन व शिक्षण करें तथा बड़ों की भोजनादि की व्यवस्था को ठीक रखते हुए उन्हें नीरोग बनाएँ। यही जीवन को मधुर व प्रकाशमय बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आचार्यकुल में भेजना

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान्॥ ४०॥

१. हे **आपः**=प्रजाओ! (गृहस्थियो!) आप **अग्निम्**=अपने इस प्रगतिशील सन्तान को **पितॄन् उप**=पितरों के समीप—वनस्थ पितरों के कुलों में **प्रहिणुत**=भेजो। उनके समीप इनका समुचित शिक्षण हो पाएगा। **मे**=मेरे **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **पितरः जुषन्ताम्**=पितर प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों, पितरों के अनुग्रह से मेरा जीवन-यज्ञ ठीक प्रकार से चलता जाए। मैं समय-समय पर उनसे उचित प्रेरणा प्राप्त करता हुआ मार्ग पर बढ़ता चलूँ। २. **आसीनाम्**=शरीर में उपविष्ट—शरीर का स्थिर अंग बनी हुई **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्तियों को **ये**=जो **उपसचन्ते**=अपने में समवेत करते हैं, **ते**=वे पितर **नः**=हमारे लिए **सर्ववीरम्**=सब वीरों से युक्त **रयिम्**=ऐश्वर्य को **नियच्छान्**=प्राप्त कराएँ। पितरों के क्रियात्मक उपदेशों व प्रेरणा से हम सब वीर व ऐश्वर्यसम्पन्न बनें।

भावार्थ—हम अपने सन्तानों को पितरों के समीप उनके कुलों में पहुँचाएँ। यहाँ उनका समुचित शिक्षण हो। हमारे जीवन-यज्ञ में भी पितरों के आने-जाने से उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती

रहे। स्थिर शक्तिवाले पितर हमारे सामने आदर्श के रूप में आते हैं; वे हमें वीरता व ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु-समिन्धन

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम्।
स वेद निहितान्निधीन्पितॄन्परावतो गतान्॥ ४१ ॥

१. आचार्यकुलों में उचित शिक्षण प्राप्त करनेवाले लोग उस प्रभु को अपने हृदयदेश में **समिन्धते**=समिद्ध करते हैं—उस प्रभु के प्रकाश को हृदय में देखनेवाले बनते हैं जो **अमर्त्यम्**=अविनाशी है, **हव्यवाहम्**=सब हव्य (प्रार्थनीय) पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं तथा **घृतप्रियम्**=(घृतेन प्रीणाति) ज्ञानदीप्ति के द्वारा प्रीणित करनेवाले हैं। २. **सः**=वे प्रभु ही तो **निहितान् निधीन्**='अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित किये गये वेदरूप ज्ञानकोशों को **वेद**=हमारे लिए प्राप्त कराते हैं तथा **परावतः**=विषयों से ऊपर उठकर सुदूर देशों में **गतान्**=प्राप्त **पितॄन्**=पितरों को भी वे प्रभु ही हमारे लिए प्राप्त कराते हैं। प्रभुकृपा से ही हमें इन उच्च जीवनवाले पितरों का सम्पर्क प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम हृदयदेश में प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। प्रभु ही अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में वेदज्ञान को स्थापित करते हैं तथा प्रभुकृपा से ही हमें उच्च जीवनवाले पितरों का संग प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मन्थ, ओदन, मांस

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ ४२ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन को उत्तम बनाने के लिए भोजन में सात्त्विकता आवश्यक है, अतः प्रभु कहते हैं कि हे जीव! **ते**=तेरे लिए **यम्**=जिस **मन्थम्**=दधि मन्थन से उत्पन्न मठा आदि पदार्थ को **यम्**=जिस **ओदनम्**=भात को व **यत्**=जिस **मांसम्**=(fleshy part of fruits) फल के गूदे को **ते**=तेरे लिए **निपृणामि**=देता हूँ—सुरक्षित करता हूँ, **ते**=वे मन्थ, ओदन व मांसरूप पदार्थ **ते**=तेरे लिए **स्वधावन्तः**=आत्मधारण शक्तिवाले हों—तेरे शरीर का धारण करनेवाले हों। **मधुमन्तः**=तेरे जीवन को मधुर बनानेवाले हों तथा **घृतश्चुतः**=ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—हम 'मठा, भात व फल के गूदे' आदि सात्त्विक भोजनों को करते हुए शरीर का धारण करनेवाले, हृदयों में माधुर्य से पूर्ण तथा मस्तिष्क में दीप्त ज्ञानवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

धान तथा तिल

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम्॥ ४३ ॥

१. व्याख्या देखिए १८.४.२६ पर तथा १८.३.६९ पर

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पुरोगवाः अभिशाचः' पितरः

इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम्॥ ४४॥

१. **इदम्**=यह **पूर्वम्**=पहला **नियानम्**=जाने का मार्ग है, अर्थात् प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम है तथा **अपरम्**=उसके बाद दूसरा गृहस्थ का मार्ग है, **येना**=जिससे **ते**=वे **पूर्वे**=अपना ठीक प्रकार से पालन व पूरण करनेवाले **पितरः**=रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोग **परा-इताः**=पार को प्राप्त हो गये हैं। ब्रह्मचर्य व गृहस्थ को ठीक प्रकार से पूर्ण करके वे वनस्थ हुए हैं। २. **ये**=जो पितर **पुरोगवाः**=अग्रगतिवाले हैं और **अस्य अभिशाचः**=(शाच् व्यक्तायां वाचि) इस मार्ग के उत्तम उपदेश हैं, **ते**=वे **त्वा**=तुझे मार्ग के उपदेश के द्वारा **उ**=निश्चय से **सुकृतां लोकम्**=पुण्यशील लोगों के लोक को **वहन्ति**=प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—'ब्रह्मचर्याश्रम' जीवनयात्रा का पहला प्रयाण है, 'गृहस्थ' दूसरा। दोनों प्रयाणों को पार करके 'वानप्रस्थ' में प्रवेश करनेवाले पितर स्वयं अग्रगतिवाले होते हैं और हमें भी मार्ग का उपदेश देकर पुण्यकर्मा लोगों के लोक में प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सरस्वती का आराधन

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥ ४५॥
सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे॥ ४६॥
सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ ४७॥

व्याख्या देखो १८.१.४१-४३

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः।
परापरैता वसुविद्वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु॥ ४८॥

१. **पृथिवीं त्वा**=घर की आधारभूत—अथवा घर का विस्तार करनेवाली तुझको **पृथिव्यामा**=इस पृथिवी पर **आवेशयामि**=सम्यक् गृह में प्रवेश कराता हूँ—बसाता हूँ। वह **धाता**=सबका धारण करनेवाला **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **नः**=हम सबकी **आयुः प्रतिराति**=आयु को बढ़ाता है। इस घर में प्रभु हम सबको दीर्घजीवी बनाएँ। २. प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुममें से **परापरैता**=(परा परा एत) खूब दूर-दूर जानेवाला—देश-देशान्तर को जानेवाला यह गृहपति **वसुवित्**=सब वसुओं (धनों) को प्राप्त होनेवाला **अस्तु**=हो। **अध**=अब **मृताः**=जिन्होंने अपनी वासनाओं को मार लिया है, वे **पितृषु संभवन्तु**=पितरों में होनेवाले हों—वानप्रस्थ होकर स्वयं सदा स्वाध्याय में लगे हुए दूसरों के लिए ज्ञान देनेवाले हों।

भावार्थ—एक पति घर में पत्नी को सम्यक् बसाये। दोनों मिलकर घर को उत्तम बनाएँ और दीर्घजीवी बनें। पति धनों का अर्जन करनेवाला हो। गृहस्थ के बाद वासनाओं को जीतकर, वनस्थ बनें और पितरों की कोटि में प्रविष्ट हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भात्रिष्टुप्**॥

प्रगतिशील पवित्र जीवन

आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद्वामभिभा अत्रोचुः।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद्वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम॥ ४९॥

१. पति-पत्नी के लिए कहते हैं कि **आप्रच्यवेथाम्**=(च्यु गतौ) सब प्रकार से आगे बढ़नेवाले बनो। **तत्**=उसी हेतु से—आगे बढ़ने के दृष्टिकोण से **अपमृजेथाम्**=सब दोषों को दूर करके जीवन को शुद्ध कर डालो। उसी कर्म को करनेवाले बनो **यत्**=जिसको कि **वाम्**=आप दोनों के लिए **अभिभाः**=(to glitter, to shine) ज्ञानदीप्त प्रभु **ऊचुः**=कहते हैं। २. इन ज्ञानदीप्त पुरुषों के द्वारा उपदिष्ट **अस्मात्**=इस मार्ग से ही **एतम्**=तुम दोनों गतिवाले बनो। **अघ्न्यौ**=इस मार्ग से चलते हुए तुम वासनाओं से अहिंसनीय होओ। **तत् वशीयः**=यह ज्ञानदीप्त पुरुषों से उपदिष्ट मार्ग पर चलना ही इन्द्रियों को वश में करने का उत्कृष्ट साधन है। **पितृषु दातुः**=पितरों के विषय में आपको देनेवाले—पितरों के समीप प्राप्त करानेवाले **मम**=मेरे **इह अभोजनौ**=यहाँ पालनीय होओ। प्रभु कहते हैं कि मैं पितरों के समीप आपको प्राप्त कराता हूँ और इसप्रकार आपका पालन करता हूँ।

भावार्थ—पति-पत्नी धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ें। दोषों को दूर करें। ज्ञानदीप्त पुरुषों से इस विषय में ज्ञान प्राप्त करें। उनसे उपदिष्ट मार्ग पर ही चलें। वासनाओं से आहननीय हों। प्रभु इन्हें पितरों के सम्पर्क में लाने के द्वारा रक्षित करें। पितरों से उत्तम प्रेरणा लेते हुए ये पवित्र जीवनवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

दान व प्रभु-स्तवन (दक्षिणा + जरा)

एयमगन्दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उपसंपराणयादिमान्॥ ५०॥

१. **इयम्**=यह **दक्षिणा**=दानवृत्ति **नः**=हमें **भद्रतः**=कल्याण की दृष्टि से **आ अगन्**=सर्वथा प्राप्त होती है। हम देने की वृत्तिवाले बनते हैं और यह वृत्ति हमारा कल्याण ही करती है। **अनेन**=इस व्यक्ति से **दत्ता**=दी हुई यह दक्षिणा **सुदुघा**=उत्तमता से हमारा प्रपूरण करनेवाली है, और **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन का धारण करती है। गृहस्थ में दान की वृत्ति कल्याण-ही-कल्याण करती है। २. **यौवने**=यौवन में—युवावस्था में **जीवान् उपपृञ्चती**=जीवों को समीपता से प्राप्त होती हुई **जरा**=स्तुति—प्रभु-स्तवन की वृत्ति **इमान्**=इन जीवों को **पितृभ्यः उपसंपराणयात्**=पितरों को समीपता से प्राप्त कराती है। प्रभु-स्तवन की वृत्तिवालों को प्रभुकृपा से उत्तम पितरों का सम्पर्क प्राप्त होता है और ये उनसे ठीक मार्ग का ज्ञान प्राप्त करते हुए जीवन में भटकने से बचे रहते हैं।

भावार्थ—हम गृहस्थ में दानवृत्तिवाले बनें। यह हमारा प्रपूरण करेगी और उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त कराएगी। प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें। प्रभु हमें उत्तम पितरों के सम्पर्क द्वारा ठीक मार्ग का ज्ञान प्राप्त कराके भटकने से बचाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

पितृभ्यः-देवेभ्यः

इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन्प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्॥ ५१॥

१. **पितृभ्यः**='माता, पिता व आचार्य' आदि पितरों से—इनसे प्राप्त प्रेरणाओं के द्वारा **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **प्रभरामि**=प्रकर्षेण धारण करता हूँ। अपने हृदय को वासनाशून्य बनाता हूँ। ऐसा बनकर ही मैं पितरों को प्रीणित करनेवाला बनूँगा। **देवेभ्यः**=देववृत्ति के पुरुषों के सम्पर्क से **जीवं उत्तरम्**=अपने जीवन को उत्कृष्ट रूप में **स्तृणामि**=आच्छादित करता हूँ। इनका सम्पर्क मेरे जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। २. **तत्**=अतः हे पुरुष! तू **मेध्यः भवन्**=पवित्र जीवनवाला होता हुआ **आरोह**=आरोहण करनेवाला बन—उत्कृष्ट जीवनवाला हो। **पितरः**=माता, पिता, आचार्य आदि **त्वा**=तुझे **परेतम्**=विषयवासनाओं से दूर चला गया ही **प्रतिजानन्तु**=प्रतिदिन जानें। तू प्रतिदिन ऊपर और ऊपर उठता चल।

भावार्थ—पितरों से प्रेरणा प्राप्त कर हम अपने हृदयों को वासना से शून्य करें। देवों के सम्पर्क में जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ। पवित्र होते हुए ऊपर और ऊपर उठें। देव हमें विषयों से दूर गया हुआ ही देखें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मेध्य

एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्।
यथापरु तन्वं१ संभरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि॥ ५२॥

१. हे पुरुष! तू **इदं बर्हिः आ असदः**=इस वासनाशून्य हृदय में सर्वथा आसीन हो। हृदय को वासनाशून्य बना। इसप्रकार **मेध्यः अभूः**=पवित्र बन। **पितरः**=माता, पिता व आचार्य **त्वा**=तुझे **परेतम्**=विषयों से परे गया हुआ **प्रतिजानन्तु**=प्रतिदिन जानें। तू दिन-प्रतिदिन वासनाओं से दूर ही होता चल। २. विषयों से दूर होकर **यथापरु**=एक-एक पर्व का अतिक्रमण न करते हुए **तन्वं संभरस्व**=शरीर का भरण करनेवाला बन। संयम के कारण तेरे शरीर का एक-एक जोड़ बड़ा ठीक हो। प्रभु कहते हैं कि—**ते गात्राणि**=विषयों से दूर रहनेवाले तेरे अंग-प्रत्यंग को **ब्रह्मणा**=(ब्रह्म वेदः तपः तत्त्वम्) ज्ञान व तप के द्वारा **कल्पयामि**=शक्तिशाली बनाता हूँ। तेरे शरीर को मैं शक्ति व ज्ञान से सम्पन्न करता हूँ।

भावार्थ—हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ, पवित्र जीवनवाले हों। पितर हमारे जीवन से प्रीणित हों। हम शरीर के एक-एक पर्व का भरण करें। हमारे जीवन ज्ञान व तप के द्वारा शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पुरोविराट्सतःपङ्क्तिः**॥

'पर्णः राजा' प्रभु

पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन्।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद्दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ ५३॥

१. **पर्णः**=वह सबका पालन करनेवाला प्रभु ही **राजा**=इस ब्रह्माण्ड का शासक है। वही

चरूणाम् अपिधानाम्=चरणशील—क्रियाशील प्रजाओं को अपनी गोद में धारण करनेवाला है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यही तो उसका हमारे लिए उपदेश है। इस प्रभु के द्वारा धारण किये जाने से **नः**=हमें **ऊर्जः**=प्राणशक्तियाँ, **बलम्**=बल, **सहः**=शत्रुमर्षणसामर्थ्य तथा **ओजः**=कान्ति (ओजस्विता) **आगन्**=प्राप्त होती है। २. ये प्रभु ही **जीवेभ्यः**=हम जीवों के लिए **शतशारदाय**=सौ वर्षों तक चलनेवाले **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घ-जीवन के लिए **आयुः विदधत्**=आयुष्य का सम्पादन करते हैं। प्रभुस्मरण से—प्रभु की गोद में आसीन होने से हम दीर्घजीवी बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारा पालन करनेवाला व शासक है। वे ही क्रियाशील पुरुषों का धारण करते हैं। प्रभुकृपा से हमें बल व प्राणशक्ति प्राप्त होती है—परिणामतः हम दीर्घजीवन को धारण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ऊर्जः भागः' प्रभु

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात्॥ ५४॥

१. **ऊर्जः**=सब बल व प्राणशक्तियों का **भागः**=संविभाग करनेवाला—प्राप्त करानेवाला **यः**=जो **इमं जजान**=इस ब्रह्माण्ड को जन्म देता है, वह **अश्मा**=(अश् व्याप्तौ) सर्वव्यापक है। **अन्नानामाधिपत्यं जगाम**=वही सब अन्नों के आधिपत्य को प्राप्त हुआ है—वही सब अन्नों का स्वामी है। २. हे जीवो! तुम **विश्वमित्राः**=सबके प्रति स्नेहवाले होते हुए **हविर्भिः**=त्यागपूर्वक अदन के द्वारा **तम् अर्चत**=उस प्रभु का पूजन करो। इसप्रकार 'सबके प्रति स्नेह व हवि द्वारा प्रभु-पूजन होने' पर **सः यमः**=वे सर्वनियन्ता प्रभु **नः**=हमें **प्रतरं जीवसे धात्**=ख़ूब ही दीर्घ जीवन के लिए धारण करें।

भावार्थ—प्रभु ही बल व प्राणशक्ति का धारण करनेवाले हैं, सब अन्नों के स्वामी हैं। प्रभु-पूजन का प्रकार यह है कि हम सबके प्रति स्नेहवाले होते हुए त्यागपूर्वक अदन करें। वे नियन्ता प्रभु हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभुस्मरण व विश्वबन्धुत्व की भावना

यथा यमाय हर्म्यमवपन्पञ्च मानवाः।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत॥ ५५॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **पञ्च मानवाः**=पञ्च यज्ञयुक्त मनुष्य—'ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ-पितृयज्ञ-अतिथियज्ञ व बलिवैश्वदेवयज्ञ'—पाँचों यज्ञों को करनेवाले व्यक्ति **हर्म्यम्**=इस शरीररूप गृह को **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के लिए **अवपन्**=उत्पन्न करते हैं (beget), इसे प्रभु के लिए एक पवित्र निवासस्थान के रूप में बनाते हैं। **एवा**=इसी प्रकार मैं भी **हर्म्यम्**=इस शरीररूप गृह को **वपामि**=उस प्रभु के लिए बनाता हूँ—'मेरे शरीर में प्रभु का निवास हो' इसके लिए यत्नशील होता हूँ। २. इस शरीर को प्रभु का निवासस्थान मैं इसलिए बनाता हूँ, **यथा**=जिससे **मे**=मेरे लिए **भूरयः असत**=बहुत हों, अर्थात् मेरा परिवार विशाल बने। मैं पृथिवीभर को अपना कुटुम्ब जानूँ। प्रभु का उपासक सभी को प्रभु का सन्तान जानकर सभी में बन्धुत्व की भावनावाला होता है।

भावार्थ—मैं पाँचों यज्ञों को करता हुआ अपनी इस देह को प्रभु का निवासस्थान बनाऊँ। यह प्रभु का निवास मुझे विश्वबन्धुत्व की भावनावाला बनाएगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ में

इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा।
स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम्॥ ५६॥

१. **इदं हिरण्यम्**=इस ज्योति को **बिभृहि**=तू धारण करनेवाला बन, **यत्**=जिस ज्योति को **ते**=तेरे लिए **पिता**=ज्ञानदाता आचार्य ने **पुरः**=पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **अबिभः**=धारण किया है। जीवन के प्रथमाश्रम में आचार्यों द्वारा दिये जानेवाले ज्ञान को धारण करना ही हमारा कर्त्तव्य है। आचार्य इस बात का पूरा ध्यान करते हैं कि वह ज्ञान जीवन के पालन व पूरण के लिए उपयोगी हो, वस्तुतः ज्ञान है ही वही। अनुपयोगी बातें 'ज्ञान' कहलाने के योग्य ही नहीं। २. ज्ञान प्राप्त करने के बाद, अब एक युवक गृहस्थ में आता है। उसके लिए कहते हैं कि तू **स्वर्गं यतः**=प्रकाशमय लोक, अर्थात् वानप्रस्थ में जाते हुए **पितुः**=पिता के **दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि**=दाहिने हाथ को शुद्ध करनेवाला बन। उनके उत्तरदायित्वों को अपने हाथ में लेकर उन्हें अवशिष्ट गृहकृत्यों से मुक्त करनेवाला बन। वे गृहकृत्यों से निश्चिन्त होकर नित्य स्वाध्याययुक्त होते हुए अपने लोक को प्रकाशमय बना पाएँ। 'पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्यवनं गच्छेत्' इस मनु वाक्य के अनुसार सन्तान पिता को भारमुक्त कर देते हैं। वे निश्चिन्त होकर वनस्थ होते हैं, जहाँ वे निरन्तर स्वाध्याय द्वारा अपने जीवन को प्रकाशमय बना पाते हैं।

भावार्थ—हम ब्रह्मचार्याश्रम में आचार्यों से दिये जानेवाले हितरमणीय ज्ञान को प्राप्त करें। अब गृहस्थ में प्रवेश करते हुए हम अपने पिताओं के उत्तरदायित्व को अपने हाथ में लें, जिससे वे वनस्थ होकर निरन्तर स्वाध्याय में संलग्न हो सकें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'जीव-मृत-जात-यज्ञिय' पितर

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यै ॑तु मधुधारा व्युन्दती॥ ५७॥

१. **ये च**=और जो **जीवाः**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण पितर हैं, **ये च मृताः**=जिनमें वासना का अंश पूर्णरूप से मृत हो गया है (मृतं वासनाविनाशः एषु अस्ति इति), **ये जाताः**=जिन्होंने अपने में शक्तियों का प्रादुर्भाव किया है, **ये च यज्ञियाः**=और जो यज्ञशील हैं, **तेभ्यः**=उन पितरों से **घृतस्य**=ज्ञानजल की (घृ दीप्तौ) **कुल्या**=सरित्—नदी **एतु**=हमें प्राप्त हो। इन पितरों से ज्ञान प्राप्त करते हुए हम भी 'जीवनशक्ति से परिपूर्ण, विनष्ट वासनाओंवाले, विकसित शक्तियोंवाले व यज्ञिय' बनें। २. वह घृतकुल्या हमारे लिए **मधुधारा**=मधु की धारा बने—हमारे जीवनों में माधुर्य को धारण करनेवाली हो तथा **व्युन्दतीः**=हमारे हृदयों को भक्तिरस से क्लिन्न करनेवाली हो। ज्ञान हमें मधुर व प्रभुभक्त बनाए।

भावार्थ—पितरों से ज्ञान प्राप्त करके हम मधुरवाणीवाले व भक्तिरस से क्लिन्न हृदयोंवाले बनें।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

वृषा मतीनाम्

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः।
प्राणः सिन्धूनां कुलशाँ अचिक्रदुदिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया॥ ५८॥

१. **विचक्षणः**=वह सर्वद्रष्टा **सूरः**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाल 'सूर्यसम दीप्त ज्योतिवाला' ब्रह्म हमारी **मतीनां वृषा**=बुद्धियों को शक्ति से सिक्त करनेवाला है। यह प्रभु **पवते**=बुद्धि देकर हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। ये प्रभु हमारे **अह्नाम्**=दिनों के **उषसाम्**=उषाकालों के **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश के **प्रतरीता**=बढ़ानेवाले हैं। हमें दीर्घजीवन और प्रकाशमय जीवन प्राप्त कराते हैं। २. ये प्रभु हमारे जीवनों में **सिन्धूनाम्**=ज्ञानप्रवाहों के **प्राणः**=प्राण हैं। प्रभुकृपा से ही हमारे जीवनों में ये ज्ञानप्रवाह चलते हैं। **इन्द्रस्य**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के **हार्दिम्**=हृदय में **मनीषया**=बुद्धि के साथ **आविशन्**=प्रवेश करते हुए प्रभु **कलशान् अचिक्रदत्**=सोलह कलाओं के आधारभूत इन शरीरों को प्रभु के आह्वानवाला बनाते हैं। प्रभुकृपा से ही हममें प्रभु के आह्वान की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

भावार्थ—वे सर्वद्रष्टा प्रभु हमारी बुद्धियों को शक्ति से सिक्त करते हैं—हमें दीर्घ व प्रकाशमय जीवन प्राप्त कराते हैं। प्रभुकृपा से हमारे जीवन में ज्ञानप्रवाह चलते हैं और हम प्रभुकृपा से ही प्रभु-प्रवण वृत्तिवाले बनते हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

द्युता-कृपा

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षंच्छुक्र आततः।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे॥ ५९॥

१. हे प्रभो! **ते त्वेषः**=आपकी दीप्ति **धूमः**=हमारे अन्दर घुस आनेवाले वासनारूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाली है (धू कम्पने)। यह **ऊर्णोतु**=हमें आच्छादित करनेवाली हो। सब शत्रुओं के आक्रमण से बचानेवाली हो। **दिवि**=यह मस्तिष्करूप द्युलोक में **सन् (सत्)**=उत्तम हो—हमें सात्त्विक वृत्तिवाला बनाए। **शुक्रः**=यह हमें गतिमय जीवनवाला बनाए तथा **आततः**=यह सब ओर विस्तारवाली हो—यह हमें विशाल हृदय बनाए। २. जिस समय प्रभु की उस ज्ञानदीप्ति से हम 'सन्, शुक्र व आतत' बन पाएँ उस समय हमें अपने इस उत्कर्ष का गर्व न हो जाए। इसके लिए हम प्रभु का इस रूप में स्मरण करें कि—**सूरः न**=हे प्रभो! आप सूर्य के समान हो और हे **पावक**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चिय से **द्युता**=ज्ञानज्योति से तथा **कृपा**=सामर्थ्य से **रोचसे**=चमकते हो। सब ज्योति व शक्ति आपकी ही है।

भावार्थ—प्रभु की दीप्ति हमारी वासनाओं को कम्पित करके दूर करती हैं—यह हमें 'उत्तम गतिशील व विशाल हृदय' बनाती है। प्रभु ही हमारे अन्दर ज्योति व शक्ति से दीप्त होते हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—यमः, मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥

पवित्र हृदय व सोमरक्षण

प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः।
मर्यइव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा॥ ६०॥

१. **इन्द्रः**=सोम (वीर्यशक्ति) **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **निष्कृतिम्**=संस्कृत—पवित्र हृदय की ओर **वा**=निश्चय से **प्र एति**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है। हृदय के पवित्र होने पर सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती ही है। सोम का रक्षण होने पर **सखा**=प्रभु का मित्र बना हुआ वह सोमी पुरुष **सख्युः**=उस सबके सखा प्रभु के **संगिरः**=आदेशों को **न प्रमिनाति**=हिंसित नहीं करता। यह प्रभु के आदेशों का अवश्य पालन करता है। २. **इव**=जैसे **मर्यः**=एक मनुष्य **योषाः**=पत्नियों से मेलवाला होता है, उसी प्रकार यह **सोमः**=सोम भी **कलशे**=इस सोलह कलाओं के आधारभूत शरीर में **शतयामना पथा**=सौ मंजिलोंवाले (प्रयाणोंवाले) मार्ग के हेतु से, अर्थात् शतवर्षपर्यन्त चलानेवाले दीर्घजीवन के हेतु से—**समर्षसे**=प्राप्त होता है। वस्तुतः सोम एक मनुष्य का इतना प्रिय होना चाहिए जैसे पत्नी पति को प्रिय होती है।

भावार्थ—हम हृदय को पवित्र बनाते हुए अपने शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले बनें। यह सोमी पुरुष प्रभु के आदेशों का पालन करता है। शरीर में सुरक्षित सोम हमें सौ वर्ष का दीर्घ जीवन प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्वभानवः-विप्राः-यविष्ठाः

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे॥ ६१॥

१. **अक्षन्**=इन्होंने सोम का भक्षण किया है—सोम को शरीर में सुरक्षित किया है। परिणामतः **अमीमदन्त**=आनन्दित हुए हैं। सोमरक्षण से 'नीरोगता-निर्मलता व दीप्ति' की प्राप्ति होकर आनन्द का अनुभव होता है। इन्होंने **हि**=निश्चय से **प्रियान्**=प्रिय लगनेवाले संसार के भोगों को **अव अधूषत**=अपने से दूर कम्पित किया है (स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामान् अभिध्यायन्नचिकेतो इत्यस्ताक्षीः। कठो०)। २. इसी उद्देश्य से **अस्तोषत**=इन्होंने प्रभु-स्तवन किया है। **स्वभानवः**=ये आत्मदीप्तिवाले बने हैं। **विप्राः**=ये विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले हुए हैं। **यविष्ठाः**=बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को इन्होंने अपने से मिलाया है। हम इन लोगों को ही **ईमहे**=प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं। इनके सम्पर्क में हम भी इन-जैसे बन पाएँगे।

भावार्थ—हमें उन लोगों का सम्पर्क प्राप्त हो जो सोमरक्षण द्वारा अपने अन्दर आनन्द का अनुभव करते हैं। प्रिय लगनेवाले भोगों से भी ऊपर उठते हैं। प्रभु-स्तवन द्वारा आत्मदीप्तिवाले होते हैं। अपना विशेषरूप से पूरण करते हुए बुराइयों को अपने से दूर करते हैं और अच्छाइयों को अपने से मिलाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिगास्तारपङ्क्तिः**॥

उत्तम 'आयुष्य-प्रजा व धन'

आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्॥ ६२॥

१. हे **सोम्यासः**=सोमरक्षण द्वारा सोम्य (शान्त) स्वभाववाले **पितरः**=पितरो! आप **आयात**=हमारे समीप सर्वथा प्राप्त होओ। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **गम्भीरैः पितृयाणैः पथिभिः**=गम्भीर (न कि उथले) पितरों से जाने योग्य मार्गों के द्वारा **आयुः प्रजां च**=दीर्घजीवन

व उत्तम सन्तति को **दधतः**=धारण करते हुए होओ। आपकी सत्प्रेरणाओं से हम उस मार्ग पर चलें जिससे उत्तम आयुष्य व प्रजा को पानेवाले बनें २. **च**=और आप **नः**=हमें **रायः पोषैः**=धन के पोषण से **अभि सचध्वम्**=उभयतः समवेत कीजिए। हम बाह्य धन को भी प्राप्त करें और आन्तर धन को भी प्राप्त करनेवाले बनें। बाह्यधन हमारी भौतिक अवश्कताओं को पूरा करेगा और आन्तर धन से हमारी अध्यात्मशक्ति का पोषण होगा।

भावार्थ—पितरों से सत्प्रेरणाओं को प्राप्त करते हुए हम गम्भीर पितृयाण कर्मों से चलते हुए 'उत्तम आयुष्य, प्रजा व धन' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**स्वराडास्तारपङ्क्तिः** ॥

प्रतिमास (पूर्णिमा पर) पितरों का आना

परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान्हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः॥ ६३॥

१. हे **सोम्यासः**=सोम का सम्पादन करनेवाले सौम्य स्वभाव **पितरः**=पितरो! **गम्भीरैः**=गम्भीर विचार परिपूर्ण **पूर्याणैः**=ब्रह्मपुरी की ओर ले-जानेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **परा यात**=उत्कृष्ट मोक्षमार्ग की ओर गतिवाले होओ। आप नित्य स्वाध्याययुक्त होकर ब्रह्मदर्शन के लिए यत्नशील होओ। इसी उद्देश्य से आप गृहस्थ से ऊपर उठकर वनस्थ हुए हो। २. **अधा पुनः**=अब फिर भी **मासि**=महीने के बीतने पर **नः गृहान्**=हमारे इन घरों को **हविः अत्तुम्**=यज्ञशिष्ट पवित्र भोजन को ग्रहण करने के लिए **आयात**=आओ, जिससे हम आपकी प्रेरणाओं के अनुसार चलते हुए **सुप्रजसः**=उत्तम प्रजावाले व **सुवीराः**=सुवीर बन पाएँ।

भावार्थ—सौम्य पितर ब्रह्मप्राप्ति के गम्भीर मार्ग से गमनवाले हों। वे प्रतिमास हमारे घरों पर हवि ग्रहण करने का अनुग्रह करें और हमें सत्प्रेरणाओं के द्वारा उत्तम प्रजावाले व वीर बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पितरों को स्वस्थ बनाना

यद्वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः।
तद्व एतत्पुनरा प्यायामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्॥ ६४॥

१. वानप्रस्थाश्रम ही पितृलोक है। **पितृलोकं गमयन्**=पितृलोक में प्राप्त कराता हुआ यह **जातवेदाः अग्निः**=अंग-प्रत्यंग में विद्यमान अग्नितत्त्व **यत्**=यदि हे पितरो! **वः**=तुम्हारे **एकम् अंगम् अजहात्**=एक अंग को छोड़ गया है तो **वः**=तुम्हारे **तत् एतत्**=उस इस अंग को पुनः **अप्याययामि**=फिर से आप्यायित करता हूँ। आपको शक्तिशाली बनाता हूँ। यदि अकस्मात् पितरों का कोई एक अंग अग्नितत्त्व की कमी के कारण शिथिल हो गया है तो उसे उचित औषधोपचार द्वारा सशक्त करना आवश्यक है। २. अंगों के सशक्त बनने पर हे **पितरः**=पितरो! **साङ्गाः**=सब अंगों से स्वस्थ होते हुए आप **स्वर्गे**=नित्य स्वाध्याय द्वारा प्रकाशमय लोक में **मादयध्वम्**=आनन्दित होओ।

भावार्थ—यदि पितरों का कोई अंग निर्बल हो जाए तो उसे उचित औषधोपचार द्वारा स्वस्थ करके उन्हें वानप्रस्थ में आनन्दमय जीवनवाला बनाया जाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दूतः प्रहितः

अभूद्दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ ६५॥

१. वानप्रस्थाश्रम से समय-समय पर हमारे समीप प्राप्त होनेवाला यह पिता **दूतः अभूत्**=प्रभु का सन्देशवाहक होता है। **प्रहितः**=यह हमारा प्रकृष्ट हित करनेवाला व **जातवेदाः**=ज्ञानी होता है। यह पिता **सायम्**=सायं और **नि अह्ने**=प्रातः **नृभिः उपवन्द्यः**=गृहस्थ लोगों से वन्दनीय होता है। २. हे गृहस्थ! तू **पितृभ्यः प्रादाः**=पितरों के लिए स्वधा (अन्न) देता है। **स्वधया ते अक्षन्**=आत्मधारण के हेतु से वे इसे खाते हैं। हे **देवः**=दिव्यवृत्तिवाले पुरुष! **त्वम्**=तू भी **प्रयता हवींषि**=इन पवित्र यज्ञशिष्ट भोजनों को **अद्धि**=खा। पितरों को खिलाने के बाद ही खाना ठीक है।

भावार्थ—वानप्रस्थ से आये पितर प्रभु के दूत ही होते हैं—वे हमें हितकर प्रिय ज्ञान देते हैं। हम पितरों को खिलाकर यज्ञशिष्ट पवित्र भोजनों का ही ग्रहण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदास्वराड्गायत्री**॥

भूमिमाता की गोद में

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः। अभ्ये∫नं भूम ऊर्णुहि॥ ६६॥

१. **हे असौ**=गतमन्त्र में वर्णित पितरों का आदर करनेवाले हे पुरुष! **ते मनः इह**=तेरा मन यहाँ ही हो। तू परिवार के पालन का पूर्ण ध्यान कर। २. हे **भूमे**=भूमिमाता! तू **एनम्**=इस गृहस्थ पुरुष को **अभि ऊर्णुहि**=सर्वतः आच्छादित करनेवाली हो। तेरी गोद में यह इसप्रकार सुरक्षित रहे, **इव**=जिस प्रकार **जामयः**=सन्तान को जन्म देनेवाली माताएँ **ककुत्सलम्**=(क-कु-शब्द सल गतौ) आनन्दप्रद (तुतलाते से) शब्दों के साथ रींगनेवाले बालक को अपनी गोद में सुरक्षित रखती हैं।

भावार्थ—एक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि परिवार को उन्नत करने की भावना से ओतप्रोत मनवाला हो। भूमिमाता से सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। भूमिमाता की गोद में अपने को उसी प्रकार सुरक्षित अनुभव करे, जैसे एक छोटा बालक माता की गोद में अपने को सुरक्षित अनुभव करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्**॥

पितृषदन लोकों की शोभा

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि॥ ६७॥

१. जिन घरों में पितरों का आना-जाना बना रहता है, वे घर 'पितृषदन' कहलाते हैं। ये, **पितृषदनाः लोकाः**=पितरों को जहाँ आदरपूर्वक बिठाया जाना होता है, वे लोक (घर) **शुम्भन्ताम्**=शोभावाले हों। घरों में कई बार छोटी-मोटी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। यदि घरों में पितरों का आदर बना रहता है तो पितर आते हैं और समुचित प्रेरणाओं के द्वारा उन समस्याओं को सुलझा जाते हैं, इसप्रकार घरों की शोभा बनी रहती है। २. प्रभु कहते हैं कि हे गृहस्थ! मैं **त्वा**=तुझे **पितृषदने लोके**=इस पितरों के आदरपूर्वक बिठाये जानेवाले लोक में ही **आसादयामि**=बिठाता हूँ। तुम्हारा यह मौलिक कर्त्तव्य है कि तुम पितरों का आदर करनेवाले बनो। यह तुम्हारा 'पितृयज्ञ' है।

भावार्थ—घरों में पितरों (बड़ों) का आदर बना रहे। जब कभी वे वानप्रस्थाश्रम से घर पर आएँ, उन्हें आदरपूर्वक निवास कराया जाए। उनकी प्रेरणाओं को शिरोधार्य किया जाए। ऐसा होने पर घर शोभामान बने रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्**॥

घर=पितरों का बर्हि

येऽ३स्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि॥ ६८॥

१. गृहस्थ को चाहिए कि वह घर को सम्बोधन करता हुआ यही कहे कि हे गृह! **ये**=जो **अस्माकम्**=हमारे **पितरः**=पितर हैं, तू **तेषाम्**=उनका **बर्हिः असि**=आसन है। समय-समय पर जब कभी वे आएँ तब यहाँ वे आदरपूर्वक बिठाये जाएँ। २. 'बर्हिस्' का अर्थ (Light) 'प्रकाश' भी है। हमारा घर पितरों के प्रकाशवाला हो। पितरों से दी गई प्रेरणाएँ हमें प्रकाश दें—उस प्रकाश में हम ठीक मार्ग का आक्रमण करनेवाले हों।

भावार्थ—घरों में पितरों का आदर हो। उनकी सत्प्रेरणाएँ हमारे लिए प्रकाश देकर मार्गदर्शन करानेवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

महान् पिता 'वरुण' प्रभु द्वारा पाशश्रथन (Killing)

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ ६९॥

१. हे **वरुण**=सब पाशों का निवारण करनेवाले प्रभो! आप **उत्तमं पाशम्**=सतगुण के उत्कृष्ट 'सुखसंग व ज्ञानसंग' रूप पाश को **अस्मत्**=हमसे **उत् श्रथाय**=दूर कर डालिए। **अधम्**=तमोगुण के निकृष्ट 'प्रमाद, आलस्य व निन्द्रा' रूप पाश को **अव** (श्रथाय)=विनष्ट करिए। **मध्यमम्**=रजोगुण के मध्यम 'कर्मसंग व तृष्णासंग' रूप पाश को भी वि (श्रथाय) विनष्ट करनेवाले होओ। २. हे **आदित्य**=सबका अपने में आदान कर लेनेवाले प्रभो! **अधा**=अब पाशमुक्त होकर **वयम्**=हम **तव व्रते**=आपकी प्राप्ति के व्रत में—आपको प्राप्त करने को ही लक्ष्य बनाकर **अनागसः**=निष्पाप हों और **अदितये स्याम**=न विनाश के लिए हों—अमृतत्व को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभुस्मरण द्वारा सब पाशों को छिन्न करके प्रभु-प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य बनाएँ। प्रभु-प्राप्ति के व्रत में चलते हुए निष्पाप व नीरोग (अभूत) बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

समामे व्यामे (बध्यते)

प्रास्मत्पाशान्वरुण मुञ्च सर्वान्यैः समामे बध्यते यैर्व्यामे।
अधा जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन्गुपिता रक्षमाणाः॥ ७०॥

१. हे **वरुण**=पाशों का निवारण करनेवाले प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **सर्वान् पाशान् मुञ्च**=सब पाशों को मुक्त कर दीजिए। उन पाशों को हमसे छुड़ा दीजिए **यैः**=जिनसे **समामे** (सम आम=रोग) समानरूप से फैल जानेवाले रोगों में **बध्यते**=बाँधा जाता है और **यैः**=जिनसे **व्यामे**=(वि आम) विशिष्ट रोगों में जकड़ा जाता है। २. **अधा**=अब पाशों से मुक्त होने पर, हे **राजन्**=ब्रह्माण्ड के शासक प्रभो! **त्वया**=आपके द्वारा **गुपिताः**=रक्षित हुए-हुए **रक्षमाणाः**=और

शक्ति के अनुसार औरों का रक्षण करते हुए **शतानि शरदं जीवेम**=सौ वर्षपर्यन्त जीनेवाले बनें।

भावार्थ—हम पाशमुक्त हों। परिणामतः रोगमुक्त बनें। प्रभु से रक्षित हुए-हुए तथा यथाशक्ति औरों का रक्षण करते हुए हम सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**७१ आसुर्यनुष्टुप्, ७२-७४ आसुरीपङ्क्तिः**॥

कव्यवाहनं, पितृयान्, सोमवान्

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः॥ ७१॥
सोमाय पितृमते स्वधा नमः॥ ७२॥
पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः॥ ७३॥
यमाय पितृमते स्वधा नमः॥ ७४॥

१. अग्नि आदि देवताओं को अग्निहोत्र में दिया जानेवाला अन्न हव्य कहलाता है। पितरों को दिया जानेवाला अन्न—आदरपूर्वक उनके लिए परोसा जानेवाला अन्न कव्य। इस **कव्यवाहनाय**=कव्य को प्राप्त करानेवाले **अग्नये**=प्रगतिशील गृहस्थ के लिए **स्वधा**=आत्मधारण के लिए पर्याप्त अन्न हो तथा **नमः**=नमस्कार (आदर) हो। २. इस **पितृमते**=प्रशस्त पितरोंवाले—बड़ों का आदर करनेवाले **सोमाय**=सौम्य स्वभाव गृहस्थ के लिए **स्वधा नमः**=अन्न व आदर हो। ३. **सोमवद्भ्यः**=इन सौम्य सन्तानोंवाले—सोम का रक्षण करनेवाले सन्तानों से युक्त—**पितृभ्यः**=पितरों के लिए **स्वधा नमः**=अन्न व आदर हो। ४. इस **पितृमते**=प्रशस्त पितरोंवाले **यमाय**=संयत जीवनवाले गृहस्थ के लिए **स्वधा नमः**=अन्न व आदर हो।

भावार्थ—एक सद्गृहस्थ को पितरों के लिए आवश्यक अन्न प्राप्त करानेवाला बनना चाहिए। वह सौम्य स्वभाव हो। सोम का (वीर्य का) अपने अन्दर रक्षण करनेवाला हो। संयत जीवनवाला हो। इस गृहस्थ को अन्न-रस की कमी नहीं रहती तथा उचित आदर प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः**, **मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**७५ आसुरीगायत्री, ७६ आसुर्युष्णिक्, ७७ दैवीजगती**॥

परदादा, दादा व पिता

एतत्ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु॥ ७५॥
एतत्ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु॥ ७६॥
एतत्ते तत स्वधा॥ ७७॥

१. एक गृहस्थ युवक के परदादा आज से ५० वर्ष पूर्व वानप्रस्थ बने थे, इसी प्रकार इसके दादा २५ वर्ष पूर्व वनस्थ हुए थे। वहाँ वनों में कितने ही अन्य अपने समान वनस्थों के साथ उनका उठना-बैठना व परिचय हो गया था। आज वे अपने घर में आते हैं तो उनके साथियों के आने का भी सम्भव हो ही सकता है। इसके पिता तो अभी समीप भूत में ही वनस्थ हुए हैं। वे अभी इतने परिचित नहीं बना पाये। वे अभी अकेले ही आये हैं। २. इन सबके आने पर यह गृहस्थ उन्हें आदरपूर्वक कहता है कि हे **प्रततामह**=परदादाजी! **एतत्**=यह **ते**=आपके लिए **स्वधा**=अन्न है। **च**=और उनके लिए भी **स्वधा**=अन्न है, **ये**=जो **त्वाम् अनु**=आपके साथ आये हैं। ३. इसी प्रकार वह दादाजी के लिए भी कहता है कि हे **ततामह**=दादाजी! **एतत्**=यह **ते**=आपके लिए **स्वधा**=अन्न है **च**=और **ये**=जो **त्वाम् अनु**=आपके साथ आये हैं, परन्तु पिताजी

के लिए वह इतना ही कहता है कि हे **तत**=पितः! **एतत्**=यह **ते**=आपके लिए **स्वधा**=अन्न है।

भावार्थ—हम घर पर पधारे हुए वनस्थ परदादा, दादा व पिताजी के लिए उचित भोजन का परिवेषण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**७८ आसुरीत्रिष्टुप्, ७९ आसुरीपङ्क्तिः, ८० आसुरीजगती**॥

'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' स्थ पितर

स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः॥ ७८॥

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः॥ ७९॥

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः॥ ८०॥

१. **पृथिविषद्भ्यः**=पृथिवीस्थ अग्नि आदि देवों की विद्या में निपुण **पितृभ्यः**=इन ज्ञानप्रद पितरों के लिए **स्वधा**=हम आत्मधारण के लिए पर्याप्त अन्न प्राप्त कराएँ। २. इसी प्रकार **अन्तरिक्षसद्भ्यः**=अन्तरिक्षस्थ वायु आदि देवों की विद्या में निपुण **पितृभ्यः**=ज्ञानप्रद पितरों के लिए **स्वधाः**=अन्न प्राप्त कराया जाए और **दिविषद्भ्यः**=द्युलोकस्थ सूर्यादि देवों के ज्ञाता **पितृभ्यः**=पितरों के लिए **स्वधा**=अन्न हो।

भावार्थ—हम 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकस्थ' 'अग्नि, वायु व सूर्य' आदि देवों की विद्या में निपुण ज्ञानप्रदाता पितरों के लिए उचित अन्न प्राप्त कराते हुए उनका आदर करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**८१ प्राजापत्यऽनुष्टुप्, ८२ साम्नीबृहती, ८३, ८४ साम्नीत्रिष्टुप्, ८५ आसुरीबृहती**॥

पितरों के लिए 'स्वधा-व सत्कार'

नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय॥ ८१॥

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे॥ ८२॥

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत्क्रूरं तस्मै॥ ८३॥

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत्स्योनं तस्मै॥ ८४॥

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः॥ ८५॥

१. हे **पितरः**=पितरो! **वः ऊर्जे नमः**=आपके बल व प्राणशक्ति के लिए हम नमस्कार करते हैं। हे **पितरः**=पितरो! **वः रसाय नमः**=आपकी वाणी में जो रस है उसके लिए हम नमस्कार करते हैं। २. हे **पितरः**=पितरो! **वः भामाय नमः**=आपकी तेजोदीप्ति के लिए हम नमस्कार करते हैं। हे **पितरः**=पितरो! **वः मन्यवे नमः**=आपके ज्ञान (मन् अवबोधे) के लिए हम नमस्कार करते हैं। ३. हे **पितरः**=पितरो! **यत्**=जो **वः**=आपका **घोरम्**=शत्रुविनाशरूप हिंसात्मक कार्य है **तस्मै नमः**=उसके लिए नमस्कार हो। **हे पितरः**=पितरो! **यत्**=जो **वः**=आपका **क्रूरम्**=निर्भयता पूर्ण शत्रुविच्छेदरूप कार्य है **तस्मै नमः**=उसके लिए हम आदर करते हैं। ४. हे **पितरः**=पितरो! शत्रुविनाश द्वारा **यत्**=जो **वः**=आपका **शिवम्**=कल्याणकर कार्य है **तस्मै नमः**=उनके लिए हम नमस्कार करते हैं। निर्दयतापूर्वक पूर्णरूपेण शत्रुविनाश द्वारा **यत् वः स्योनम्**=जो आपका सुख प्रदानरूप कार्य है **तस्मै नमः**=उसके लिए हम आपका आदर करते हैं। ५. हे **पितरः**=पितरो! **वः नमः**=आपके लिए हम नमस्कार करते हैं। हे **पितरः**=पितरो! **वः स्वधः**=आपके शरीरधारण के लिए हम आवश्यक अन्न प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—पितर बल व प्राणशक्ति सम्पन्न हैं, उनकी वाणी में रस है। वे तेजस्विता व ज्ञान की दीप्तिवाले हैं। शत्रुओं के लिए घोर व क्रूर हैं—काम, क्रोध आदि शत्रुओं के विनाश में दया नहीं करते। कल्याण व सुख को प्राप्त करानेवाले हैं। हम इनके लिए अन्न प्राप्त कराते हैं और इनका सत्कार करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पितरः** ॥ छन्दः—**८६ चतुष्पदाककुम्मत्युष्णिक्, ८७ चतुष्पदाशङ्कुमत्युष्णिक्** ॥

पितर पितर हों, हम श्रेष्ठ बनें

येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्माँस्तेऽनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ॥ ८६॥

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म॥ ८७॥

१. **ये**=जो **अत्र**=यहाँ **पितरः**=पितर हैं, ये **यूयम्**=जो आप **अत्र**=यहाँ **पितरः स्थ**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो, जो **युष्मान् अनु**=आपका अनुसरण करनेवाले हैं। **यूयम्**=आप **तेषाम्**=उन सब पितरों में **श्रेष्ठाः भूयास्थ**=श्रेष्ठ हैं, अर्थात् पितरों में वे पितर जो साधना करके पालनात्मक कार्यों में प्रवृत्त हैं, वे श्रेष्ठ हैं। २. **ये**=जो **इह**=यहाँ **पितरः**=पितर **जीवाः**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण हैं। **इह**=यहाँ उनके समीप **वयं स्मः**=हम होते हैं। **ते**=वे सब पितर **अस्मान् अनु**=हमें अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। **वयम्**=हम **तेषाम्**=उनके ही बन जाते हैं—उनके प्रति अपना अर्पण करते हैं और इसप्रकार हम **श्रेष्ठाः भूयास्म**=श्रेष्ठ हों।

भावार्थ—पितर सचमुच पितर हों—पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों। हम उनके समीप रहकर श्रेष्ठ जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

'द्युमान् अजर' देव की दीप्ति का दर्शन

आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।

यद् घ सा ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवि। इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ८८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वा आइधीमहि**=आपको हम अपने में सर्वथा दीप्त करते हैं—आपके प्रकाश को हृदयों में देखने के लिए यत्नशील होते हैं। आप हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय हैं, **अजरम्**=अजीर्ण शक्तिवाले हैं—आप ज्योति व शक्ति के पुञ्ज हैं। २. **यत्**=जो **घा**=निश्चय से **सः**=वह **ते**=आपकी **समित्**=दीप्ति है, वह **पनीयसी**=अतिशयेन स्तुत्य है। **द्यवि दीदयति**=आपकी दीप्ति सम्पूर्ण द्युलोक में दीप्त है—हमारे मस्तिष्करूप द्युलोकों को भी वह दीप्त करती है। हे प्रभो! **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **इषं आभर**=प्रेरणा प्राप्त कराइए। आपसे प्रेरणा प्राप्त करते हुए हम उत्कृष्ट जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम हृदयों में प्रभु को समिद्ध करें। प्रभु की प्रशस्त दीप्ति हमारे मस्तिष्क को उज्ज्वल करे। हम प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करें। सच्चे स्तोता बनकर ही तो हम इसे प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः** ॥

'चन्द्रमा+सुपर्ण, नकि हिरण्यनेमि'

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।

न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ ८९॥

१. **चन्द्रमा**=गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति अंहकारशून्य

मनोवृत्तिवाला होता है, **अप्सु अन्तः**=वह सदा कर्मों में व्याप्त रहता—कर्मशील होता है। **सुपर्णः**=उत्तम पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त यह व्यक्ति **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **आधावते**=अपने को सर्वथा शुद्ध करता है। २. प्रभु कहते हैं कि **रोदसी**=सारे द्यावापृथिवी में रहनेवाले मनुष्य **मे अस्य वित्तम्**=मेरी इस बात को समझलें कि **वः**=तुममें से **हिरण्यनेमयः**=हिरण्य (सोना) ही जिनकी नेमि (परिधि) है, वे धनासक्त लोग **विद्युतः पदं न विन्दन्ति**=उस विशिष्ट दीप्तिवाले ज्योतिर्मय प्रभु को नहीं प्राप्त करते। धनासक्ति से ऊपर उठकर ही प्रभु की प्राप्ति संभव होती है।

भावार्थ—हम आह्लादमय मनोवृत्ति से कर्त्तव्य-कर्मों को करते रहें—ज्ञान में अपने को पवित्र करने का प्रयत्न करे। धनासक्ति से ऊपर उठकर प्रभु-प्राप्ति के लिए यत्नशील हों।

॥ इत्यष्टादशं काण्डम् ॥

अथैकोनविंशं काण्डम्

प्रथम सूक्त का ऋषि ब्रह्मा है। इस सूक्त का देवता (विषय) यज्ञ है। यज्ञ का सम्यक् सम्पन्न करनेवाला व यज्ञ के द्वारा अपना वर्धन करनेवाला 'ब्रह्मा' (बृहि वृद्धौ)।

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—यज्ञः ॥ छन्दः—पथ्याबृहती ॥

यज्ञकर्त्ता ब्रह्मा

सं सं स्रवन्तु नद्यः१ सं वाताः सं पतत्रिणः।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येऽण हविषा जुहोमि॥ १॥

१. यज्ञों के होने पर सारा आधिदैविक जगत् हमारे अनुकूल होता है। ऋतुओं की अनुकूलता से नदियों के प्रवाह ठीक होते हैं, वायुएँ ठीक बहती हैं, पशु-पक्षियों की भी हमारे लिए अनुकूलता होती है। इसी बात को मन्त्र में इसप्रकार कहते हैं—हे **गिरः**=ज्ञान की वाणियों द्वारा प्रभु-स्तवन करनेवाले लोगो! **इमं यज्ञं वर्धयता**=इस यज्ञ का वर्धन करो। तुम्हारे घरों में यज्ञ बड़े नियम से होते रहें। इस आहुति को तुम 'संस्राव्य' जानो। 'सं स्र' सब वस्तुओं की ठीक गति का यह साधन है। इससे 'नदियाँ, वायु, पक्षी' सभी ठीक गतिवाले होते हैं। तुम प्रतिदिन यही संकल्प करो कि **संस्राव्येण**=सब जगत् की ठीक गति की साधनभूत **हविषा जुहोमि**=हवि से मैं आहुति देता हूँ। २. इस यज्ञ को करनेवाला ही इस प्रार्थना का अधिकारी होता है कि **नद्यः**=सब नदियाँ **सम्**=ठीक और **सं स्रवन्तु**=ठीक ही बहें। **वाताः**=वायुएँ **सं (स्रवन्तु)**=ठीक से बहें। **पतत्रिणः**=पक्षी भी **सम्**=ठीक गतिवाले हों। सारे आधिदैविक व आधिभौतिक जगत् के अनुकूल होने पर हमारा आध्यात्मिक जगत् सुन्दर बनता है। हम उन्नत होते हुए 'ब्रह्मा' (=बढ़े हुए) बन पाते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो। इस यज्ञ से हमें आधिदैविक व आधिभौतिक जगत् की अनुकूलता प्राप्त हो। इस अनुकूलता से अध्यात्म उन्नति करते हुए हम 'ब्रह्मा' बन पाएँ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—यज्ञः ॥ छन्दः—पथ्याबृहती ॥

होमाः=संस्रावणाः

इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येऽण हविषा जुहोमि॥ २॥

१. हे **गिरः**=ज्ञान की वाणियों द्वारा प्रभु-स्तवन करनेवाले स्तोताओ! **इमं यज्ञं वर्धयत**=इस यज्ञ का वर्धन करो। यही निश्चय करो कि **संस्राव्येण**=सम्पूर्ण जगत् की सम्यक् गति की साधनाभूत **हविषा**=हवि से **जुहोमि**=हवन करता हूँ। यज्ञों से ही तो सम्पूर्ण आधिदैविक व आधिभौतिक जगत् हमारे अनुकूल होता है। तभी हम शान्तिपूर्वक अध्यात्म उन्नति कर पाते हैं, २. इसीलिए वेद का आदेश है कि हे **होमाः**=आहुति देनेवाले यज्ञशील पुरुषो! **इमं यज्ञं अवत**=इस यज्ञ का रक्षण करो। तुम्हारे जीवनों में से इस यज्ञ का कभी विलोप न हो जाए।

उत=और हे **संस्रावणाः**=यज्ञों द्वारा सब वस्तुओं की ठीक गति के कारणभूत लोगो! **इमम्**=इस यज्ञ को सदा जागरित रक्खो—यह कभी सुप्त व विनष्ट न हो जाए।

भावार्थ—यज्ञ को न विलुप्त होने देनेवाले ये लोग संस्रावण हैं—सब वस्तुओं की ठीक गति के ये कारण बनते हैं, अतः इस सम्बन्ध में हम हवि को लुप्त न होने दें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यज्ञः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

रूपंरूपं, वयःवयः

रूपंरूपं वयोवयः संरभ्यैनं परि ष्वजे।

यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्ये॑ण हविषा जुहोमि॥ ३॥

१. मानव-जीवन में कभी हमारा स्वरूप एक ब्रह्मचारी का, पुनः गृहस्थ का, तदनन्तर एक वानप्रस्थ का होता है। आयु के दृष्टिकोण से भी हमारा 'बाल्यकाल, यौवन व वार्धक्य' होता है। मैं **रूपंरूपम्**=उस-उस रूप को और **वयः वयः**=उस-उस आयुष्य को **संरभ्य**=ग्रहण करके **एनं परिष्वजे**=इस यज्ञ का आलिङ्गन करता हूँ। यज्ञ तो हमें सदा करना ही है, चाहे हम किसी रूप में हों या किसी भी आयुष्य की अवस्था में हों। २. **चतस्रः प्रदिशः**=चारों विस्तृत दिशाएँ—इन दिशाओं में रहनेवाले लोग **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **वर्धयन्तु**=बढ़ाएँ—स्वयं भी यज्ञशील हों। **संस्राव्येण हविषा**=सब वस्तुओं की ठीक गति की साधनभूत **हविषा**=हवि के द्वारा **जुहोमि**=मैं आहुति देता हूँ—मैं यज्ञशील बनता हूँ।

भावार्थ—हम जीवन की किसी भी स्थिति में हों, आयु की किसी भी श्रेणी में हो, यज्ञ हमारे लिए आवश्यक है। सब लोग इस यज्ञ का वर्धन करनेवाले हों।

'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' के अनुसार यज्ञों से ठीक वृष्टि होकर हमें उत्तम जलों की प्राप्ति होती है। ये जल नदियों में प्रवाहित होकर 'सिन्धु' कहलाते हैं (स्यन्दन्ते)। स्नान व पान के रूप में दो प्रकार से जलों का यह प्रयोक्ता 'सिन्धुद्वीप' है (द्विर्गताः आपो यस्मिन्)। इस 'सिन्धु-द्वीप' का ही अगला सूक्त है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'हैमवतीः—वर्ष्याः' आपः

शं त आपो हैमवती शमु ते सन्तूत्स्या॑ः।

शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्या॑ः॥ १॥

१. गत सूक्त में वर्णित **ते**=तुझ यज्ञशील पुरुष के लिए **हेमवतीः आपः**=हिमवाले पर्वतों से बहनेवाली जलधाराएँ **शम्**=शान्ति देनेवाली हों। **उ**=और **ते**=तेरे लिए **उत्स्याः**=स्रोतों से बहनेवाली जलधाराएँ भी **शं सन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। २. **सनिष्यदाः आपः**=सर्वदा स्यन्दमान—निरन्तर बहनेवाली—जलधाराएँ **ते शम्**=तेरे लिए शान्तिकर हों। **उ**=और **वर्ष्याः**=वृष्टि से प्राप्त होनेवाले ये जल **ते शम्**=तेरे लिए शान्तिकर हों।

भावार्थ—हिमवान् पर्वतों से आनेवाले, स्रोतों से बहनेवाले, निरन्तर प्रवाहित होनेवाले तथा वृष्टि के जल हमारे लिए शान्तिकर हों।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः॥ देवता—आपः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'धन्वन्याः—खनित्रिमाः' आपः

शं त आपो धन्वन्या३ः शं ते सन्त्वनूप्याः।
शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः॥ २॥

१. **धन्वन्याः**=मरुप्रदेशों में—रेगिस्तानों में होनेवाले **आपः**=जल **ते शम्**=तेरे लिए शान्तिकर हों। **अनूप्याः**=जल-समृद्ध-(कच्छ)-प्रदेशों में होनेवाले जल **ते शं सन्तु**=तेरे लिए शान्तिकर हों। २. **खनित्रिमाः आपः**=खनन से उत्पन्न कुएँ व तालाब आदि के जल **ते शम्**=तेरे लिए शान्तिकर हों और **याः**=जो **कुम्भेभिः आभृताः**=घड़ों से धारण किये गये जल हैं वे **शम्**=शान्ति देनेवाले हों।

भावार्थ—मरुस्थलों व कच्छप्रदेशों के जल हमारे लिए शान्तिकर हों। इसी प्रकार कुएँ व घड़ों के जल हमें शान्ति प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः॥ देवता—आपः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'भिषग्भ्यो भिषक्तराः' आपः

अनभ्रयः खनमाना विप्रा गम्भीरे अपसः।
भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि॥ ३॥

१. **अनभ्रयः**=अभ्रि (कुदाल) आदि खनन-साधनों के बिना ही **खनमानाः**=दोनों तटों का विदारण करते हुए ये नदी-जल, **विप्राः**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले **गम्भीरे**=अगाध स्थान में **अपसः**=व्याप्ति करने—महान् ह्रदों में विद्यमान **आपः**=जल **भिषग्भ्यो भिषक्तराः**=वैद्यों में सर्वमहान् वैद्य हैं। वैद्य को औषध लानी पड़ती है, जल तो स्वयं ही औषध हैं 'अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा'। २. इन जलों का **अच्छा**=लक्ष्य करके **वदामसि**=हम परस्पर वार्तालाप करते हैं। इन जलों के गुणों का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—नदियों के जल व अगाध ह्रदों के जल सर्वमहान् वैद्य हैं—सब औषध इनके अन्दर विद्यमान हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः॥ देवता—आपः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

जलों के द्वारा प्रणेजन (रोगशुद्धि व पोषण)

अपामह दिव्यानामपां स्रोतस्यानाम्। अपामह प्रणेजनेऽश्वा भवथ वाजिनः॥ ४॥

१. **अह**=निश्चय से **दिव्यानाम् अपाम्**=अन्तरिक्ष से वृष्ट होनेवाले जलों के, **स्रोतस्यानाम्**=स्रोतों से प्राप्त होनेवाले जलों के, **अह**=और **अपाम्**=अन्य जलों के **प्रणेजने**=शोधन व पोषण के होने पर, अर्थात् इन जलों के द्वारा रोग-निवृत्ति व पुष्टि प्राप्त होने पर तुम **वाजिनः**=शक्तिशाली **अश्वाः**=सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाले आलस्यशून्य मनुष्य **भवथ**=बनो।

भावार्थ—जलों द्वारा शरीर-शुद्धि व पोषण होने पर हम शक्तिशाली कर्मों में व्याप्त—आलस्यशून्य जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः॥ देवता—आपः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'भेषजीः' अपः

ता अपः शिवा अपोऽयक्ष्मंकरणीरपः।
यथैव तृप्यते मयस्तास्त आ दत्त भेषजीः॥ ५॥

१. **ताः**=वे **अपः**=जल **शिवाः अपः**=कल्याणकारी जल हैं। ये **अपः**=जल **अयक्ष्मंकरणीः**=यक्ष्मा आदि रोगों को दूर करनेवाले हैं। २. अतः **ते**=वे आप लोग **ताः**=उन **भेषजीः**=औषधभूत जलों को **आदत्त**=स्वीकार करो—इसप्रकार ग्रहण करो **यथा**=जिससे **मयः**=कल्याण, सुख व नीरोगता—**तृप्यते एव**=बढ़ती ही है।

भावार्थ—जल नीरोगता देनेवाले हैं। इनके ठीक प्रयोग से सुख-वृद्धि होती है।

जलों के ठीक प्रयोग से स्वस्थ बना हुआ यह पुरुष—'अथर्वा' बनता है। शरीर के स्वस्थ होने पर स्वस्थ मनवाला बनता है—डाँवाडोल नहीं होता। यह अंग-प्रत्यंग में रसवाला 'अंगिराः' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विविध अग्नियों का सदुपयोग

दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षाद्वनस्पतिभ्यो अध्योषधीभ्यः।
यत्रयत्र विभृतो जातवेदास्तत स्तुतो जुषमाणो न एहि ॥ १ ॥

१. **दिवः**=द्युलोक से **पृथिव्याः**=पृथिवीलोक से **अन्तरिक्षात् परि**=अन्तरिक्षलोक से—वायु से **वनस्पतिभ्यः**=वनस्पतियों से तथा **ओषधीभ्यः अधि**=ओषधियों में से **यत्रयत्र**=जहाँ भी **जातवेदाः**=(जाते जाते विद्यते) यह व्याप्त होकर रहनेवाला अग्नि **विभृतः**=विशेषरूप से धारण किया गया है, **ततः**=वहाँ से **स्तुतः**=स्तवन किया हुआ व **जुषमाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किया हुआ **नः एहि**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—द्युलोकस्थ सूर्यरूप अग्नि के, पृथिवीस्थ अग्नि के, अन्तरिक्षस्थ विद्युत् अग्नि के तथा वनस्पतियों व ओषधियों में अम्ल (acid) रूप में रहनेवाले अग्नि के गुणों का स्तवन करते हुए तथा इनका उचित प्रयोग करते हुए हम नीरोगता-जनित प्रीति का अनुभव करें।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'द्रविणोदा'=अग्नि

यस्ते अप्सु महिमा यो वनेषु य ओषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।
अग्ने सर्वास्तन्व१ः सं रभस्व ताभिर्न एहि द्रविणोदा अजस्त्रः ॥ २ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्निदेव! **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्वपूर्ण सामर्थ्य **अप्सु**=जलों में है, **यः**=जो तेरी महिमा **वनेषु**=वनों में वनाग्नि के रूप से है, **यः**=और जो तेरी महिमा **ओषधीषु**=ओषधियों में फलपाक का कारण बनती है, जो **पशुषु**=पशुओं में—प्राणियों में वैश्वानर रूप से तेरी महिमा है, जो **अप्सु अन्तः**=अन्तरिक्षस्थ जलों में—मेघों में विद्युत् रूप से तेरी महिमा है। हे अग्ने! तू उन **सर्वाः**=सब **तन्वः**=अपने महिमारूप शरीरों को **संरभस्व**=हममें संकलित कर। **ताभिः**=अपने उन महत्त्वों से **नः**=हमारे लिए **अजस्त्रः**=निरन्तर **द्रविणोदाः**=उस-उस अंग के लिए आवश्यक द्रविणों को देनेवाला होता हुआ **एहि**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—विविध स्थानों में रहता हुआ अग्नि हमें अपनी महिमाओं से अंग-प्रत्यंग के लिए आवश्यक द्रविणों का देनेवाला हो।

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

देवेषु-पितृषु-मनुष्येषु

यस्ते॑ दे॒वेषु॑ महि॒मा स्व॒र्गो या ते॑ त॒नूः पि॒तृष्वा॑वि॒वेश॑।
पुष्टि॒र्या ते॑ मनु॒ष्ये॑षु पप्र॒थेऽग्ने॒ तया॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि ॥ ३ ॥

१. हे **अग्ने!**=हमें उन्नत करने में सहायक होनेवाले अग्नितत्त्व! (अग्रणी) **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **देवेषु**=देवों में—ज्ञानदीप्तिवाले पुरुषों में **स्वर्गः**=आकाशमयलोक में प्राप्त करानेवाला है और **याः**=जो **ते तनूः**=तेरा शक्ति-विस्तारकस्वरूप (तन् विस्तारे) **पितृषु**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोगों में **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहा है। **या**=जो **ते**=तेरा **पुष्टिः**=पोषक तत्त्व **मनुष्येषु**= विचारशील पुरुषों में **पप्रथे**=विस्तृत हो रहा है **तया**=अपनी उस महिमा से **अस्मासु**=हममें **रयिं धेहि**=उस-उस ऐश्वर्य को धारण कर। २. शरीर में अग्नितत्त्व का सम्यक् पोषण करते हुए हम 'पुष्ट' बनें। हृदय में अग्नितत्त्व के सम्यक् पोषण से हम पालनात्मक कर्मों की वृत्तिवाले 'पितर्' बनें। मस्तिष्क में अग्नितत्व का उचित पोषण हमें प्रकाशमय जीवनवाला 'देव' बनाये।

भावार्थ—अग्नितत्व का उचित पोषण हमें मस्तिष्क में प्रकाशमय, हृदय में पालनात्मक कर्मों की वृत्तिवाला तथा शरीर में पुष्ट अंगोंवाला बनाता है।

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'महान् अग्नि' प्रभु से प्रार्थना

श्रु॒त्कर्णा॑य क॒वये॒ वेद्या॑य॒ वचो॑भिर्वा॒कैरुप॑ यामि रा॒तिम्।
यतो॑ भ॒यमभ॑यं॒ तन्नो॑ अ॒स्त्वव॑ दे॒वानां॑ यज॒ हेडो॑ अग्ने ॥ ४ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **श्रुत्कर्णाय**=जिसके कान हमारी प्रार्थना को सदा सुनते हैं, अथवा (श्रुत् ज्ञान से कर्ण कृ विक्षेपे) ज्ञान के द्वारा वासनाओं को विकीर्ण करनेवाले, **कवये**=सर्वज्ञ, **वेद्याय**=अन्तिम जानने योग्य **तत्**=उन आप (प्रभु) के लिए **वाकैः**=सम्यक् उच्चरित **वचोभिः**= वचनों से **रातिम् उपयामि**=अभिलक्षित फलदान की याचना करता हूँ। २. यही याचना करता हूँ कि हे अग्ने! **यतः भयम्**=जहाँ से भी भय है, **तत्**=वह सब भय का कारण **नः**=हमारे लिए **अभयम् अस्तु**=भय का कारण न रहे। हे प्रभो! आप सब **देवानाम्**=सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि देवों के तथा विद्वानों के **हेडः**=हमारे प्रति क्रोध को **अवयज**=दूर कीजिए। इनका क्रोध हमें प्राप्त न हो। इनकी अनुकूलता होकर हमें स्वास्थ्य की शक्ति व ज्ञान प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु से हमारी यही याचना है कि वे सब देवों के क्रोध को हमसे दूर करके हमें निर्भय करें। देवानुग्रह हमें शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराए।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पञ्चपदाविराडतिजगती ॥

(वेद का प्रादुर्भाव) प्रथमा आहुति

यामाहु॑तिं प्रथ॒मामथ॑र्वा॒ या जा॒ता या ह॒व्यमकृ॑णोज्जा॒तवे॑दाः।
तां त॑ ए॒तां प्र॑थ॒मो जो॑हवीमि॒ ताभि॑ष्टु॒प्तो व॑हतु ह॒व्यम॒ग्निर॒ग्नये॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

१. **याम्**=जिस **आहुतिम्**=(हु दाने) दान को **प्रथमाम्**=सर्वप्रथम **अथर्वा**=उस न डोलनेवाले 'अच्युत' **जातवेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु ने **अकृणोत्**=किया, **या**=जो वेदज्ञान की देन **जाता**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में प्रादुर्भूत हुई, **या**=जो वेदज्ञान की देन हमारे लिए **हव्यम् अकृणोत्**=हव्य

पदार्थों को करती है। इस वेदज्ञान से हमें चाहने योग्य 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, द्रविण, कीर्ति व ब्रह्मवर्चस्' आदि सब उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। प्रभु ने इस वेदज्ञान को सर्वप्रथम दिया। यह वेदज्ञान 'अग्नि' आदि ऋषियों के हृदयों में प्रादुर्भूत हुआ। यह प्रभु की सर्वप्रथम देन है। २. **ताम्**=उस **एताम्**=इस वेदज्ञान की आहुति को **ते**=आपसे **प्रथमः**=सबसे पहिले **जोहवीमि**=पुकारता हूँ—माँगता हूँ। **ताभिः**=उन वेदवाणियों से **स्तुप्तः**=(स्तुभ् to praise) स्तुत हुआ-हुआ **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **हव्यं वहतु**=हमारे लिए सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराए। इस **अग्नये**=अग्रणी प्रभु के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। अर्पण करनेवाले हम लोगों का वे प्रभु वेदज्ञान प्राप्त कराने के द्वारा कल्याण क्यों न करेंगे?

भावार्थ—प्रभु की सर्वप्रथम देन वेदज्ञान है। प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में इसका अग्नि आदि के हृदयों में प्रकाश करते हैं। हम भी इस वेदज्ञान की याचना करते हैं। वेदवाणियों द्वारा स्तुत प्रभु हमारे लिए सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

आकूति

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्॥ २॥

१. संसार में सब कार्य संकल्पशक्ति से ही सिद्ध होते हैं। वेदज्ञान भी संकल्पशक्ति से ही प्राप्त होता है 'काम्यो हि वेदाधिगमः' कामना होने पर ही वेदज्ञान होता है, अतः मैं **आकूतिम्**=इस संकल्पशक्ति को **पुरःदधे**=अपने जीवन में प्रथम स्थान में स्थापित करता हूँ—इसे सर्वाधिक महत्त्व देता हूँ। यह **देवीम्**=(व्यवहार) सब व्यवहारों की साधिका है, **सुभगाम्**=उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाली है। यह **चित्तस्य माता**=चित्त का निर्माण करनेवाली है। संकल्प होने पर मनुष्य उस-उस कार्य को पूरे मन (चित्त) से करता है। यह आकूति **नः**=हमारे लिए **सुहवा अस्तु**=शोभन तथा पुकारने योग्य हो। हम इसके लिए ही प्रभु से आराधना करें। प्रभु हमें शिवसंकल्पवाला बनाए। २. **याम् आशाम् एमि**=जिस भी अभिलाषा को मैं प्राप्त होऊँ, **सः**=वह **मे**=मेरी **केवली**=अकेली शुद्ध—अन्य इच्छाओं से अमिश्रित **अस्तु**=हो। संकल्प में मन एक ही वस्तु की ओर एकाग्र होता है। वस्तुतः यह संकल्प इस एकाग्रता के कारण ही हमें सफल बनाता है। इस संकल्प के द्वारा **मनसि प्रविष्टाम्**=मन में प्रविष्ट हुई-हुई **एनाम्**=इस आशा को **विदेयम्**=मैं प्राप्त करूँ। यह संकल्प मुझे इस आशा को कार्यान्वित करने में (मूर्त्तरूप देने में) समर्थ करे।

भावार्थ—संकल्पशक्ति हमें अपनी सब आशाओं को सफल करने में समर्थ करती है। यह हमारे सब व्यवहारों को सिद्ध करती है (देवी)। हमें सौभाग्यसम्पन्न बनाती है (सुभगा)।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अभ्युदय व निःश्रेयस' का साधक संकल्प

आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपा गहि।
अथो भगस्य नो धेह्यथो नः सुहवो भव॥ ३॥

१. हे **बृहस्पते**=वेदज्ञान के स्वामिन् प्रभो! (ब्रह्मणस्पते) आप **आकूत्या**=संकल्पशक्ति के साथ **नः**=हमें **उप आगहि**=समीपता से प्राप्त होइए। अवश्य ही इस **आकूत्या नः**=संकल्पशक्ति

के साथ हमें प्राप्त होइए। आप हमें संकल्पशक्ति को अवश्य ही प्राप्त कराइए। २. **अथ**=अब संकल्पशक्ति को प्राप्त कराने के द्वारा अवश्य ही **नः भगस्य धेहि**=हमारे लिए ऐश्वर्य को (सौभाग्य को) धारण कीजिए। हम संकल्प के द्वारा ऐश्वर्यसम्पन्न बनें। **अथ उ**=और निश्चय से आप **नः**=हमारे लिए **सुहवः**=सुगमता से आराधन के योग्य **भव**=होइए। इस संकल्प के द्वारा हम आपको प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें संकल्पशक्ति दें। इस संकल्पशक्ति से हम ऐश्वर्य-सिद्ध करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। ऐश्वर्य ही 'अभ्युदय' है, प्रभु-प्राप्ति व निःश्रेयस—इन दोनों को प्राप्त करानेवाला यह संकल्प है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

संकल्प से ज्ञान व दिव्यशक्तियों की प्राप्ति

बृहस्पतिर्म आकूतिमाङ्गिरसः प्रति जानातु वाचमेताम्।
यस्य देवा देवताः संबभूवुः स सुप्रणीताः कामो अन्वेत्वस्मान्॥ ४॥

१. **आङ्गिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाला **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे**=मेरे लिए **आकूतिम्**=इस संकल्पशक्ति को **प्रतिजानातु**=प्रतिज्ञात (Introduce) करे। इस संकल्पशक्ति को हममें प्रविष्ट करे। इस संकल्पशक्ति के द्वारा **एताम् वाचम्**=इस वाणी को—वेदवाणी को मुझमें प्रविष्ट करे। २. **यस्य**=जिस काम (संकल्प) के होने पर **सुप्रणीताः**=उत्तम मार्ग से अपने जीवन का प्रणयन क़रनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **देवताः**=सब दिव्यशक्तियों को **संबभूवुः**=(to meet, be united with) अपने साथ मिलाते हैं। **सः कामः**=यह प्रबल कामना (संकल्प) **अस्मान्**=हमें **अन्वेतु**=अनुकूलता से प्राप्त हो। इस संकल्प से हम अपने जीवनों को दिव्यशक्ति-सम्पन्न बनाएँ।

भावार्थ—शक्तिशालीज्ञान के स्वामी वे प्रभु हमें संकल्पशक्ति प्राप्त कराएँ। इसके द्वारा हमें वेदवाणी को प्राप्त कराएँ और यह संकल्प हमें दिव्यशक्तियों से युक्त करनेवाला हो।

अगले सूक्त में भी ऋषि 'अथर्वाङ्गिराः' ही है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

राजा के नियन्त्रण में

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतश्चिदर्वाक्॥ १॥

१. **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान्, ऐश्वर्यशाली प्रभु **जगतः**=इस ब्रह्माण्ड का, **चर्षणीनाम्**=सब प्रजाओं का और **अधिक्षमि**=इस पृथिवी पर **यत्**=जो कुछ भी **विषुरूपम्**=विविध उत्तम रूपोंवाला पदार्थमात्र **अस्ति**=है, उस सबका **राजा**=नियमित करनेवाला स्वामी है। २. हे प्रभु **ततः**=अपने उस अनन्त ऐश्वर्य में से **दाशुषे**=दाश्वान्—दानशील पुरुष के लिए **वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक धनों को **ददाति**=देते हैं। वे प्रभु **चित्**=ही **उपस्तुतः**=उपस्तुत हुए-हुए **राधः**=कार्यसाधक धनों को **अर्वाक्**=हमारे अभिमुख **चोदत्**=प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब ब्रह्माण्ड के नियन्ता राजा हैं। प्रभु ही दानशील पुरुष के निवास के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं। स्तुत हुए-हुए प्रभु ही कार्यसाधक धनों को देते हैं।

गतमन्त्र का अथर्वा प्रभु-स्तवन करता हुआ प्रभु-जैसा ही बनने के लिए यत्नशील होता है। 'नारायण' ही बन जाता है। यह प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'सहस्रबाहु' पुरुष

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १॥

१. **पुरुषः**=इस ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले प्रभु **सहस्रबाहुः**=अनन्त भुजाओंवाले हैं—अपनी अनन्त भुजाओं से हम सबका रक्षण कर रहे हैं। **सहस्राक्षः**=अनन्त आँखोंवाले हैं—अपनी अनन्त आँखों से वे सभी को देख रहे हैं—प्रभु से कुछ छिपा नहीं है। **सहस्रपात्**=वे अनन्त पाँवोंवाले हैं। सर्वत्र गतिवाले हैं। २. **सः**=वे **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) प्राणियों के निवास-स्थानभूत लोकों को **विश्वतः**=सब ओर से **वृत्वा**=आवृत्त—आच्छादित करके **दशाङ्गुलम्**=इस दश अंगुलमात्र परिमाणवाले—प्रभु के एकदेश में होनेवाले—ब्रह्माण्ड को **अत्यतिष्ठत्**=लांघकर ठहरे हुए हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की अनन्तता में दशांगुलमात्र ही है—यह प्रभु के एक देश में है।

भावार्थ—वे प्रभु अनन्त भुजाओं, आँखों व पाँवोंवाले हैं। उनमें सर्वत्र सब इन्द्रियों की शक्ति है। वे इस सारे ब्रह्माण्ड को आवृत्त करके इसे लाँघकर सर्वत्र विद्यमान है।

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

प्रभु के एक देश में

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्पादस्येहाभवत्पुनः।
तथा व्य क्रामद्विष्वङ्ङशनानशने अनु॥ २॥

१. वह सहस्रबाहू पुरुष **त्रिभिः पद्भिः**=तीन पादों से (अंशों से) **द्याम् अरोहत्**=अपने प्रकाशमय स्वरूप में प्रकट हुआ है। प्रभु के तीन अंशों में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय का चक्र नहीं है। पुनः फिर **अस्य**=इस प्रभु का **पात्**=एक अंश ही **इह अभवत्**=इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहा है। यह सारा ब्रह्माण्ड का खेल प्रभु के एक देश में ही होता है। २. **तथा**=उस प्रकार **विष्वङ्**=(विसु अञ्च) सर्वत्र गति व व्याप्तिवाला वह प्रभु **अशनानशने**=खानेवाले चेतन जगत् में व न खानेवाले जड़ जगत् में **अनु**=अनुकूलता से **वि अक्रामत्**=विविध गतियाँ कर रहा है। सर्वत्र गति देनेवाला वह प्रभु ही है।

भावार्थ—प्रभु के एक देश में इस सारे जड़-चेतनरूप जगत् का खेल चल रहा है। प्रभु के तीन अंश तो अपने प्रकाशमय रूप में प्रकट हो रहे हैं। प्रभु की अनन्तता में यह ब्रह्माण्ड अत्यन्त तुच्छ-से परिमाणवाला है।

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

लोक-लोकान्तर में प्रभु की महिमा की अभिव्यक्ति

तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ३॥

१. **तावन्तः**=उतने, अर्थात् ये जितने भी लोक-लोकान्तर हैं, वे **अस्य**=इस प्रभु के

महिमानः=महिमामात्र हैं। इन सबमें प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है **च**=और वे **पूरुषः**=इस ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले प्रभु तो **ततः**=उस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से **ज्यायान्**=बहुत बड़े हैं। २. **विश्वा भूतानि**=सब प्राणी व सब पृथिव्यादि लोक **अस्य पादः**=इस प्रभु के चतुर्थांशमात्र हैं। **अस्य त्रिपात्**=इसके तीन अंश तो **दिवि अमृतम्**=प्रकाशमयरूप में अ-मृत हैं, अर्थात् उन तीन अंशों में यह उत्पत्ति व विनाश का क्रम नहीं चल रहा। यह सब जन्म-मरण का क्रम प्रभु के एक देश में ही हो रहा है।

भावार्थ—ये सब लोक-लोकान्तर प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। प्रभु इनसे महान् हैं। ये सब तो प्रभु के एकदेश में ही हैं। प्रभु के तीन अंश तो इस सब जन्म-मरण के स्थल न बनकर प्रकाशमय ही हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वह महान् शासक

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत्सह॥ ४॥

१. **पुरुषः एव**=वह ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाला प्रभु ही **यत्**=जो **इदं सर्वम्**=यह सब वर्तमान काल में है, **यत् भूतम्**=जो हो चुका है, **च भाव्यम्**=और भविष्य में होना है, उस सबका **ईश्वरः**=ईश्वर है—शासक है। प्रभु के शासन में ही सदा सम्पूर्ण संसार संसरण किया करता है। २. वे प्रभु इस संसार के ही नहीं, **उत**=अपितु **अमृतत्वस्य**=मोक्षलोक के भी (ईश्वरः) शासक हैं। **यत्**=जो यह मुक्तात्मा भी मुक्ति का काल समाप्त होने पर **अन्येन सह**=प्रभु से भिन्न इस प्रधान (प्रकृति) के साथ **अभवत्**=होता है। मुक्ति काल में तो यह मुक्त पुरुष प्रभु के साथ विचरता था, परन्तु इस काल के समाप्त होने पर प्रभु की व्यवस्था में उसे फिर से शरीर लेना होता है और इसप्रकार फिर प्रकृति के साथ होना पड़ता है, अर्थात् उसे फिर से शरीरलेना पड़ता है।

भावार्थ—वे परमपुरुष प्रभु वर्तमान, भूत व भविष्य में होनेवाले सब ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं। मुक्तात्मा भी प्रभु के शासन में होते हैं और मुक्तिकाल की समाप्ति पर पुनः प्रभु की व्यवस्था से शरीर धारण करते हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु का धारण

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥ ५॥

१. **यत्**=जब साधनामय जीवनवाले पुरुष **पुरुषम्**=उस परमपुरुष प्रभु को **व्यदधुः**=अपने में विशेष रूप से धारण करते हैं तब वे **कतिधा**=कितने प्रकार से **व्यकल्पयन्**=अपने को विशिष्ट सामर्थ्यवाला बनाते हैं। प्रभु का धारण करनेवाला प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर असामान्य शक्तिवाला हो जाता है। २. **अस्य**=इस प्रभु के धारण करनेवाले का **मुखं किम्**=मुख क्या बन जाता है? सामान्य व्यक्ति व इस साधक के मुख में क्या अन्तर होता है? **किं बाहू**=इसकी बाहुएँ **किम् उच्येते**=क्या कही जाती हैं? **उरू किम्**=जाँघें क्या कही जाती हैं? और इसीप्रकार **पादाः**=इसके पाँव (किम् उच्येते) क्या कहे जाते हैं, अर्थात् इस साधक के मुख, भुजाओं, जाँघों व पाँवों की क्रियाओं में क्या अन्तर आ जाता है? प्रभु के धारण से इसके अंगों में क्या विशेषता

उत्पन्न होती है?

भावार्थ—जिज्ञासु प्रश्न करता है कि साधक के अंगों में प्रभु के धारण से किस अद्भुत् शक्ति का प्रादुर्भाव होता है? प्रश्न का उत्तर अगले मन्त्र में देते हैं—

ऋषिः—**नारायणः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्राह्मण से शूद्र तक

ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यो ऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ६॥

१. **अस्य**=इस प्रभु का धारण करनेवाले साधक का **मुखम्**=मुख **ब्राह्मणः आसीत्**=ब्राह्मण हो जाता है। इसका मुख सदा ब्राह्मण का कार्य करनेवाला होता है। यह मुख से ज्ञानोपदेश में प्रवृत्त होता है। **बाहूः**=इसकी भुजाएँ **राजन्यः**=प्रकृति का रञ्जन करनेवाली **अभवत्**=होती हैं। बाहुओं से यह क्षत्रिय बन जाता है—प्रजा का रक्षण करनेवाला होता है। २. **यत्**=जो **अस्य मध्यम्**=इसका मध्यभाग (उदर व जाँघें) है, **तत्**=वह **वैश्यः**=वैश्य होता है। राष्ट्र में वैश्य कृषि आदि के द्वारा सब आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न करता है। ये साधक भी निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं। **पदभ्याम्**=पाँवों से यह साधक **शूद्रः** (शु द्रवति)=शीघ्र गतिवाले **अजायत**=होते हैं। ये कभी अकर्मण्य नहीं होते '**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**'=ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ यह सदा प्रशस्त क्रियाओं में व्यापृत जीवनवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष मुख से ज्ञानोपदेश करता है, भुजाओं से रक्षणात्मक कार्य करता है। वैश्य की भाँति सदा निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है और पाँवों से शीघ्र गतिवाला होता हुआ लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहता है।

ऋषिः—**नारायणः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चन्द्र-सूर्य-इन्द्र-अग्नि व वायु

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥ ७॥

१. ब्रह्मज्ञानी पुरुष **मनसः**=मन से **चन्द्रमाः जातः**=चन्द्र हो जाता है। 'चन्द्रमा' आह्लाद का प्रतीक है। यह सदा प्रसन्न मनवाला होता है। **चक्षोः**=चक्षु से यह **सूर्यः अजायत**=सूर्य हो जाता है। सूर्य जैसे प्रकाश के द्वारा अन्धकार को नष्ट करता है, उसीप्रकार यह व्यक्ति अपनी चक्षु से अज्ञानान्धकार को विनष्ट करनेवाला 'विचक्षण' बनता है—प्रत्येक वस्तु को बारीकी से देखता हुआ यह तत्त्वद्रष्टा होता है। २. यह **मुखात्**=मुख से **इन्द्रः च अग्निः च**=जितेन्द्रिय व आगे और आगे ले-चलनेवाला होता है। मुख से जितेन्द्रिय बनने का भाव यह है कि 'स्वाद के लिए खाता नहीं और निन्दात्मक शब्द बोलता नहीं'। मुख से अग्नि बनने का भाव यह है कि इसके मुख से उच्चारित शब्द लोगों में परस्पर प्रेम के भाव को पैदा करते हैं और वैर-विरोध का छेदन करते हैं। इसप्रकार ही यह प्रेरणा देता हुआ लोगों को आगे ले-चलता है। यह **प्राणात्**=प्राणों से **वायुः अजायत**=वायु हो जाता है—निरन्तर क्रियाशील होता हुआ सब बुराइयों का संहार करता है।

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष 'सदा प्रसन्न, विक्षण, जितेन्द्रिय, अग्रगतिक, प्रेरक व क्रियाशील' होता है।

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

मध्यमार्ग व लोक-कल्पन

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥ ८॥

१. ब्रह्मज्ञानी पुरुष **नाभ्याः**=शरीर के केन्द्रभूत नाभि के दृष्टिकोण से—इसे ठीक रखने के लिए **अन्तरिक्षम् आसीत्**=(अन्तरा क्षि) सदा मध्यमार्ग में निवास करनेवाला होता है। युक्ताहार-विहार होता हुआ यह अतियोग व अयोग से बचकर यथायोग के द्वारा शरीर के केन्द्र को ठीक रखता है। **शीर्ष्णाः**=मस्तिष्क से यह **द्यौः समवर्तत**=द्युलोक के समान हो जाता है। इसका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान-सूर्य से देदीप्यमान हो उठता है। २. यह ब्रह्मज्ञानी **पद्भ्यां भूमिः**=पाँवों से भूमि होता है। इसकी सब गतियाँ प्राणियों के उत्तम निवास का साधन बनती हैं (भवन्ति भूतानि यस्याम् इति भूमिः)। यह **श्रोत्रात्**=श्रोत्र से **दिशः**=दिशाएँ बन जाता है, कानों से ज्ञानोपदेशों को सुननेवाला होता है। उन उपदेशों के अनुसार ही अपने जीवन की दिशाओं का निश्चय करता है **तथा**=उपर्युक्त प्रकार से ये ब्रह्मज्ञानी **लोकान्**=अपने शरीर के प्रत्येक लोक को—अंग-प्रत्यंग को **अकल्पयन्**=शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—साधक पुरुष मध्यमार्ग से चलता हुआ मस्तिष्क को ज्योतिर्मय बनाता है। उत्तम गतियों के द्वारा प्राणियों के हित को सिद्ध करता है और सदा ज्ञानोपदेशों को ग्रहण करने की वृत्तिवाला बनता है। इसप्रकार यह सब अंगों को शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'विराट्' की उत्पत्ति

विराडग्रे समभवद्विराजो अधि पूरुषः।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ ९॥

१. **अग्रे**=सृष्टि के आरम्भ में प्रभु ने 'सत्त्व, रजस् व तमस्' की साम्यावस्थारूप प्रकृति में जब गति दी तब सर्वप्रथम **विराट्**=एक विशिष्ट दीप्तिवाला महान् पिण्ड **समभवत्**=हुआ। यही सांख्य में 'महत्' कहा गया है। मनु ने इसे ही 'हेमपिण्ड' कहा है। **विराजः**=इस विराट् पिण्ड का **अधिपूरुषः**=अधिष्ठातृरूपेण वह परमपुरुष 'प्रभु' था। उसकी अध्यक्षता में ही तो यह प्रकृति चराचर को जन्म देती है। 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'। २. **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ **सः**=वह विराट् पिण्ड **अत्यरिच्यत**=सर्वाधिक देदीप्यमान हुआ 'तदण्डमभवद्धेमं सहस्रांशुसमप्रभम्'। **पश्चात्**=इस विराट् की उत्पत्ति के बाद प्रभु ने इस विराट् से **भूमिम्**=प्राणियों के निवासस्थानभूत लोकों को उत्पन्न किया। **अथ उ**=और अब **पुरः**=प्राणियों की शरीररूप पुरियों का निर्माण किया।

भावार्थ—प्रभु की अध्यक्षता में प्रकृति से एक विराट् पिण्ड उत्पन्न हुआ। इस देदीप्यमान पिण्ड से ही पीछे भिन्न-भिन्न लोक व प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति हुई।

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

वसन्त-ग्रीष्म-शरत्

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ १०॥

१. इन मानव-शरीरों में निवास करते हुए **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यत्**=जब उस **हविषा**=(हु

दाने) त्याग के पुञ्ज हविरूप **पुरुषेण**=परमपुरुष प्रभु से **यज्ञम् अतन्वत**=सम्बन्ध को विस्तृत करते हैं, अर्थात् उस प्रभु से अपना सम्बन्ध बढ़ाते हैं तब **वसन्तः**=वसन्त ऋतु **अस्य**=इस पुरुष की **आज्यम् आसीत्**=(अञ्जू व्यक्ति) महिमा को व्याप्त करनेवाली होती है। वे देव वसन्त ऋतु में विकसित वनस्पतियों में प्रभु की महिमा को देखते हैं। २. **ग्रीष्मः**=ग्रीष्म ऋतु **इध्मः**=दीप्ति का साधनभूत ईंधन हो जाती है। ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की दीप्ति में वे प्रभु की ज्ञानदीप्ति का दर्शन करते हैं और **शरत्**=सब पत्तों को शीर्ण करती हुई शरत् ऋतु **हविः**=हवि बन जाती है। शरद् ऋतु में वृक्ष सब पत्तों को त्याग-सा देते हैं। इसी प्रकार प्रभु भी जीव के लिए सब-कुछ दे डालते हैं।

भावार्थ—प्रभु से अपना सम्पर्क बढ़ानेवाले देव वसन्त ऋतु में चारों ओर प्रभु की महिमा को देखते हैं। ग्रीष्म के दीप्त सूर्य में प्रभु की ज्ञानदीप्ति को देखते हैं और सब पत्तों को शीर्ण करती हुई शरद् में प्रभु के त्याग को देखते हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'देव-साध्य-वसु'

तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रशः।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये॥ ११॥

१. **तं यज्ञम्**=उस पूज्य—संगतिकरणीय—समर्पणीय **पुरुषम्**=ब्रह्माण्डरूपी पुरी में निवास करनेवाले **अग्रशः जातम्**=सृष्टि से पहले विद्यमान प्रभु को **प्रावृषा**=(प्र वृष्) शरीर में शक्ति के सेचन के द्वारा—शरीर में उत्पन्न सोम को शरीर में ही सिक्त करने के द्वारा **प्रौक्षन्**=अपने हृदयक्षेत्र में सिक्त करते हैं। सोम के रक्षण के द्वारा हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। २. **तेन**=उस परमपुरुष प्रभु से **देवः**=देववृत्ति के पुरुष **अयजन्त**=अपना सम्पर्क बनाते हैं। **साध्याः**=साधनामय जीवनवाले पुरुष **च**=और **ये**=जो **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले व्यक्ति हैं, वे उस प्रभु से अपना मेल कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए शरीर में सोम का रक्षण आवश्यक है। इस रक्षण को करते हुए हम देव बनें, साधनामय जीवनवाले हों तथा अपने निवास को उत्तम बनाएँ। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मानव-जीवन के साथ सम्बद्ध पशु

तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ १२॥

१. **तस्मात्**=उस प्रभु के द्वारा **अश्वा अजायन्त**=घोड़ों को जन्म दिया गया **च**=तथा **ये के**=जो कोई **उभयादतः**=दोनों ओर दाँतोंवाले खच्चर आदि पशु हैं, उनका प्रभु द्वारा प्रादुर्भाव किया गया। २. **गावः ह**=गौवें निश्चय से **तस्मात् जज्ञिरे**=उसी प्रभु से उत्पन्न की गईं और **तस्मात्**=उससे **अजा अवयः**=बकरियाँ व भेड़ें **जाताः**=उत्पन्न हुईं। ३. गौ हमारे जीवनों में सात्त्विक दुग्धरूप भोजन को देती हुई ज्ञानवृद्धि का कारण बनती है। घोड़ा व्यायामादि का साधन बनता हुआ 'क्षत्र' वृद्धि का साधन होता है। बकरी का दूध 'सब रोगों को दूर करनेवाला' (सर्वरोगापह) बनता है और भेड़ ऊन के वस्त्रों को प्राप्त कराके हमें शीत से बचाती है। संक्षेप में 'गौ व घोड़ा' मनुष्य के दायें हाथ हैं तो 'अजा और अवि' उसके बायें हाथ हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवनों में सहायक होनेवाले 'गौ, घोड़ा, बकरी व भेड़' आदि पशुओं को उत्पन्न किया है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदों का प्रादुर्भाव

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दौ ह जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ १३॥

१. **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=पूजनीय **सर्वहुतः**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले प्रभु से **ऋचः**=ऋचाएँ व **सामानि**=साममन्त्र **जज्ञिरे**=प्रादुर्भूत हुए। **तस्मात्**=उसी से **ह**=निश्चय से **छन्दः**=रोगों व युद्धों से हमारा छादन (बचाव) करनेवाले, अथर्वमन्त्र उत्पन्न हुए। **तस्मात्**=उसी से **यजुः**=यजुर्मन्त्रों का **अजायत**=प्रादुर्भाव हुआ।

भावार्थ—प्रभु ने ऋग्वेद द्वारा हमें प्रकृति के सब पदार्थों के गुणधर्मों का ज्ञान दिया। यजुर्मन्त्रों द्वारा हमारे पारस्परिक कर्त्तव्यों का उपदेश दिया। साममन्त्रों द्वारा हमें प्रभु की उपासना के योग्य बनाया और अथर्वमन्त्रों द्वारा रोगों व युद्धों से सुरक्षा का मार्ग दर्शाया।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पृषदाज्य-संभरण

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्य म्।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्या नारण्या ग्राम्याश्च ये॥ १४॥

१. **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=पूजनीय **सर्वहुतः**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले प्रभु से **पृषदाज्यम्**=('अन्नं वै पृषदाज्यम्, पयः पृषदाज्यम्, पशवो वै पृषदाज्यम्' श०) अन्न, पशु व दूध का **संभृतम्**=हमारे लिए संभरण किया गया है। २. प्रभु ने **तान्**=उन सब **पशून्**=(पश्यन्ति एव) 'जो केवल देखते हैं, समझते नहीं' उन पशु-पक्षियों का **चक्रे**=निर्माण किया। **वायव्यान्**=वायु में गति करनेवाले—उड़नेवाले—पक्षियों को बनाया तथा **ये**=जो **आरण्याः**=वन के शेर आदि पशु हैं **च**=तथा **ग्राम्याः**=ग्राम के गौ-घोड़ा आदि पशु हैं उन सबका निर्माण किया। कोई भी पशु अनुपयोगी नहीं। शेरों के अभाव में मृगों की ही इतनी अधिकता हो जाती कि सब खेतियाँ नष्ट हो जातीं। मक्खी का मल भी वमन-निरोध की अचूक ओषधि है, एवं सब पशु-पक्षियों की उपयोगिता द्रष्टव्य है।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवन के लिए उपयोगी अन्न व दूध को प्राप्त कराने के लिए वायव्य, ग्राम्य व आरण्य पशु-पक्षियों को जन्म दिया है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सात परिधियाँ, इक्कीस समिधाएँ

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥ १५॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यत्**=जब **यज्ञं तन्वानाः**=प्रभु से सम्बन्ध को विस्तृत करते हुए **पुरुषम्**=अतिशयित पौरुषवाले **पशुम्**=(कामः पशुः क्रोध पशुः) काम-क्रोधरूप पशु को **अबध्नन्**=बाँध लेते हैं—अपने वशीभूत कर लेते हैं तब **अस्य**=इस काम-क्रोधरूप पशु का बन्धन करनेवाले साधक की **सप्त**=सात **परिधयः**=परिधियाँ **आसन्**=होती हैं। इस साधक के 'दो

कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' ये सब मर्यादा में चलनेवाले होते हैं। इसकी सब क्रियाएँ मर्यादा का रेखामात्र भी उल्लँघन नहीं करती। २. इसी का यह परिणाम होता है कि **त्रिःसप्त**=इक्कीस **समिधः**=शक्तियों की दीप्तियाँ **कृताः**=की जाती हैं। काम-क्रोध आदि के नियमन से शक्तियों का दीपन स्वभावतः होता ही है। काम-क्रोध ही तो शक्तियों को क्षीण करते हैं। इनके नियमन से शक्तियों का दीपन होता है।

भावार्थ—प्रभु के सम्पर्क से हम काम-क्रोध का नियमन कर पाते हैं। उस समय मर्यादित जीवनवाले बनकर हम दीप्तशक्तियोंवाले होते हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवस्य, बृहतः, राज्ञः, सोमस्य

मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः।
राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि॥ १६ ॥

१. गतमन्त्र में 'पुरुषपशु' के बन्धन का उल्लेख है। उस **पुरुषात्**=पौरुषयुक्त 'काम' से **अधिजातस्य**=ऊपर उठे हुए इस साधक के **मूर्ध्नः**=मस्तिष्क से **सप्ततीः**=(सप् समवाये)=सब विद्याओं को अपने में समवेत करनेवाली **सप्त**=सात गायत्र्यादि छन्दों में बद्ध होने से सात संख्यावाली **अंशवः**=ज्ञान की किरणें **अजायन्त**=प्रादुर्भूत होती हैं। इसके मस्तिष्क में इन सात छन्दों में बद्ध इन वेदवाणियों का प्रकाश होता है। यह उन वेदवाणियों के रहस्य को समझ पाता है। २. उस साधक के मस्तिष्क में इन वेदवाणियों का प्रादुर्भाव होता है जो **देवस्य**=दिव्य गुणयुक्त होता है, **बृहतः**=सब शक्तियों का वर्धन करनेवाला होता है तथा **राज्ञः**=अपनी इन्द्रियों का राजा होता है, अथवा बड़ी व्यवस्थित (regulated) क्रियाओंवाला होता है तथा **सोमस्य**=सौम्य स्वभाव का—शान्त प्रवृत्ति का होता है।

भावार्थ—हम अत्यन्त प्रबल 'काम' के नियमन के द्वारा ऊपर उठें। देव, बृहन्, राजा व सोम बनें—'दिव्यगुणोंवाले, प्रवृद्ध शक्तियोंवाले, व्यवस्थित जीवनवाले व सौम्य'। ऐसा बनने पर हमारे मस्तिष्क में सात छन्दों में बद्ध इन वेदवाणियों का प्रकाश होगा।

गतमन्त्र के अनुसार वेदवाणियों का प्रकाश होने पर यह प्रभु-स्तोत्रों का उच्चारण करता है और अज्ञानान्धकार को निगल जाता है—सो 'गर्ग' कहलाता है (गिरति)। इसी पर बल देने के लिए कहते हैं कि यह गर्ग का पुत्र 'गार्ग्य' बन गया है। यह गार्ग्य ही अगले शूक्त का ऋषि है। इस ज्ञानी गार्ग्य का सब नक्षत्र (लोक-लोकान्तर) कल्याण ही करनेवाले होते हैं—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**नक्षत्राणि** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

नक्षत्रों में प्रभु-महिमा का दर्शन

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम्॥ १ ॥

१. **दिवि**=आकाश में **साकम्**=साथ-साथ **रोचनानि**=चमकनेवाले ये नक्षत्र **चित्राणि**=अद्भुत ही हैं। ये सब नक्षत्र उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। ये सब नक्षत्र **सरीपृपाणि**=अपने अण्डाकृति—वक्र से प्रतीत होनेवाले मार्गों पर चल रहे हैं। **भुवने जवानि**=इस ब्रह्माण्ड में ये सब नक्षत्र अतिशयेन वेगवान् हैं। २. मैं इन नक्षत्रों में उस आनन्दमय प्रभु की महिमा को देखता हुआ, **तुर्मिशम्** (तुर त्वरणे मिश् समाधौ) त्वरा से समाधि को (एकाग्रता को) तथा **सुमतिम्**=

कल्याणी मति को **इच्छमानः**=चाहता हुआ **अहानि**=सब दिनों में **गीर्भिः**=इन वेदवाणियों के द्वारा **नाकं सपर्यामि**=क्लेशों से असम्भिन्न आनन्दमय प्रभु का उपासन करता हूँ।

भावार्थ—हम द्युलोक में दीप्त नक्षत्रों में प्रभु की महिमा को देखें। एकाग्रता व सुमति की कामना करते हुए प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—गार्ग्यः॥ देवता—नक्षत्राणि॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'कृतिका से मघा' तक

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे॥ २॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **कृतिका रोहिणी च**=कृतिका और रोहिणी नक्षत्र **सुहवम् अस्तु**=उत्तमता से प्रार्थनीय हों। 'कृतिका' से मैं शत्रुओं के—काम-क्रोध के छेदन की प्रेरणा लूँ और शत्रुओं का छेदन करता हुआ 'रोहिणी' से उन्नतिपथ पर आरोहण का पाठ पढ़ूँ। **मृगशिरः भद्रम्**=मृगशिरस् नक्षत्र मेरे लिए कल्याणकर हो। उन्नत होने के लिए मैं आत्मान्वेषण करनेवालों का मूर्धन्य बनूँ (मृग अन्वेषणे)। अब 'आर्द्रा' नक्षत्र **शम्**=मुझे शान्ति देनेवाला हो। मैं सबके प्रति स्नेहार्द्रहृदय बनकर शान्त जीवनवाला होऊँ। २. **पुनर्वसू**='पुनर्वसू' नामक नक्षत्र **सूनृता**=मुझे प्रिय सत्यवाणी को प्राप्त कराएँ। 'पुनर्वसू' द्विवचन में है। ये मुझे 'भौतिक व अध्यात्म' दोनों जीवनों को नये सिरे से प्रारम्भ करने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रेरणा को प्राप्त करके मैं प्रिय सत्य बोलनेवाला बनता हूँ। **पुष्यः**=पुष्यनक्षत्र **चारु**=मेरे जीवन का सुन्दर पोषण करे। वस्तुतः प्रिय, सत्यवाणी को अपनाता हुआ ही मैं अपना उत्तम पोषण कर पाता हूँ। अब **आश्लेषा**='आश्लेषा' नक्षत्र **भानुः**=मेरे जीवन को दीप्त करता है। जीवन का ठीक पोषण करनेवाला व्यक्ति प्रभु से आश्लेषण (आलिंगन) करनेवाला होता है। इस आश्लेषण से इसका जीवन दीप्त हो उठता है और अब **मघा मे अयनम्**=मघा-नक्षत्र मेरा अन्तिम लक्ष्य स्थान हो। (मघ=ऐश्वर्य) में वास्तविक ऐश्वर्य को ही अपना लक्ष्य बनाऊँ। इन प्राकृतिक ऐश्वर्यों के आकर्षण से ऊपर उठ जाऊँ।

भावार्थ—शत्रुओं का छेदन करता हुआ (कृत्तिका) मैं उन्नति-पथ पर आरोहण करूँ (रोहिणी)। आत्मान्वेषण करनेवालों का मूर्धन्य बनकर (मृगशिरस्) सबके प्रति आर्द्रहृदय (आर्द्रा) बनूँ। भौतिक व अध्यात्म दोनों जीवनों को उत्तम बनाकर (पुनर्वसू) अपना सम्यक् पोषण करूँ (पुष्य)। अब प्रभु से आलिंगन करता हुआ (आश्लेषा) वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करूँ (मघा)।

ऋषिः—गार्ग्यः॥ देवता—नक्षत्राणि॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'पूर्वाफल्गुनी से मूल' तक

पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम्॥ ३॥

१. अब **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **पूर्वाफल्गुन्यौ**=पूर्वाफल्गुनी के दो नक्षत्र **पुण्यम्**=मुझे शुभ कर्मों में प्रवृत्त करनेवाले हों। इस जीवन में 'धन व यश' की असारता को समझता हुआ (फल्गु=Unsubstantial) इनके कारण पुण्यमार्ग से विचिलत न होऊँ। **हस्तः चित्रा**=हस्त और चित्रा नक्षत्र मुझे हाथों से यज्ञ आदि कर्मों के करने तथा ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति में (चित्-र) लगे रहने की प्रेरणा देते हुए **शिवा**=मेरे लिए कल्याणकर हों। अब **स्वाति**='स्वाति' नक्षत्र

(स्वनैव अतति) मुझे किसी पर आश्रित न होते हुए गतिशील बनने की प्रेरणा देता हुआ **मे सुखः अस्तु**= मेरे लिए सुखकर हो। २. इस गतिशीलता (पुरुषार्थ) के होने पर **राधे विशाखे**=हे राधा और विशाखा नक्षत्र! तुम दोनों मुझे कार्यसिद्धि (राधा) व संसार-वृक्ष की विशिष्ट शाखा (उत्तम सात्त्विक ज्ञानप्रधान संन्यासी) बनने की प्रेरणा देते हुए **सुहवा**=उत्तम प्रार्थना करने योग्य होओ। मैं प्रभु से 'राधा व विशाखा' बन सकने की ही प्रार्थना करूँ। **अनुराधा ज्येष्ठा**='अनुराधा' नक्षत्र मुझे (लक्ष्य) के अनुकूल सफलता की प्रेरणा दे। 'ज्येष्ठा' नक्षत्र से मैं ज्येष्ठ (प्रशस्यतम जीवनवाला) बनने की प्रेरणा लूँ और तब **सुनक्षत्रम् मूलम्**=यह 'मूल' नामक उत्तम नक्षत्र मुझे उस ब्रह्माण्ड के मूल (सर्वाधार) प्रभु को स्मरण कराता हुआ **अ-रिष्ट**=अहिंसित करनेवाला हो।

भावार्थ—मैं इस संसार में धन व यश की एषणा में फँसकर मार्ग-विचलित न हो जाऊँ। यज्ञादि कर्मों व ज्ञानप्राप्ति में लगा रहूँ। अपराधीन होते हुए गतिशील बना रहूँ। 'सफलता व संसार में सर्वोत्तम स्थिति में पहुँचना' मेरा लक्ष्य हो। धर्मानुकूल सफलता मेरे जीवन को प्रकाशमय बनाए। मैं ब्रह्माण्ड के मूल प्रभु को कभी न भूलूँ।

ऋषिः—गार्ग्यः॥ देवता—नक्षत्राणि॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥

'पूर्वा अषाढा से श्रविष्ठा' तक

अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम्॥ ४॥

१. **पूर्वा अषाढा**='पूर्वा अषाढा' नक्षत्र **मे**=मुझे **अन्नं रासताम्**=अन्न प्रदान करे तथा **देवी**=प्रकाशमय **उत्तराः**=उत्तरा अषाढाएँ **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ। 'अ-षाढा' (अ षह् मर्षण) नक्षत्र से काम-क्रोध आदि से अपराभूत होने की प्रेरणा लेता हुआ मैं अन्न का सेवन करूँ। यह अन्न 'बल व प्राणशक्ति' के दृष्टिकोण से ही सेवित हो—स्वाद के दृष्टिकोण से नहीं। २. अब **अभिजित्**='अभिजित्' नक्षत्र मुझे 'अभ्युदय व निःश्रेयस के विजय' की प्रेरणा देता हुआ **मे पुण्यं रासताम्**=मुझे पुण्य प्राप्त कराए। **'श्रवणः श्रविष्ठाः'**= श्रवण व श्रविष्ठा नक्षत्र मेरे लिए सदा ज्ञान की बातों के श्रवण की प्रेरणा देते हुए **सुपुष्टिं कुर्वताम्**=उत्तम पुष्टि करें।

भावार्थ—मैं उसी अन्न का सेवन करूँ जो मुझे काम-क्रोध की ओर न प्रवण करे (न झुकाये) और मेरे लिए बल व प्राणशक्ति को देनेवाला हो। मैं अभ्युदय व निःश्रेयस का विजय करता हुआ सदा ज्ञान की चर्चाओं का ही श्रवण करूँ।

ऋषिः—गार्ग्यः॥ देवता—नक्षत्राणि॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'शतभिषक् से भरणी' तक

आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु॥ ५॥

१. यह महत् **शतभिषक्**=महान् 'शतभिषक्' नामक नक्षत्र शतवर्षपर्यन्त नीरोग रहने की प्रेरणा देता हुआ **मे**=मेरे लिए **वरीयः**=(उरुतर) दीर्घजीवन को **आ** (वहतु)=प्राप्त कराए। इस नीरोग दीर्घजीवन में **द्वया प्रोष्ठपदा**=दोनों प्रोष्ठपदा नक्षत्र—पूर्वाभाद्रपदा और उत्तरा भाद्रपदा—मुझे कल्याण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हुए **मे**=मेरे लिए **सुशर्म**=उत्तम सुख को **आ** (वहताम्)=प्राप्त कराएँ। २. अब **रेवती आश्वयुजौ च**=रेवती और आश्वयुज् नक्षत्र मुझे ज्ञानैश्वर्य

प्राप्त करने की तथा कर्मेन्द्रियों को यज्ञ आदि कर्मों में लगाये रखने की प्रेरणा देते हुए **मे**=मेरे लिए **भगम्**=ऐश्वर्य को **आ** (वहन्तु)=प्राप्त कराएँ और अन्ततः **भरण्यः**=भरणी नक्षत्र मुझे आत्मम्भरि न बनकर सबके भरण की प्रेरणा देते हुए **रयिम्**=धन को **आहवन्तु**=प्राप्त कराएँ। जब मैं सबके भरण के कार्यों में प्रवृत्त होता हूँ तब उसके लिए आवश्यक साधनभूत धन को प्रभु प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—मैं शतवर्षपर्यन्त नीरोग जीवन बिताने का ध्यान करूँ। उसके लिए सदा कल्याण के मार्ग का आक्रमण करूँ। ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाला व कर्मेन्द्रियों को यज्ञों में व्याप्त रखनेवाला बनूँ। अन्ततः आत्मम्भरि न बनकर सबका भरण करनेवाला बनूँ।

अगले सूक्त के ऋषि देवता भी 'गार्ग्य' और 'नक्षत्राणि' ही हैं—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**नक्षत्राणि** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

सर्वलोकानुकूलता

यानि नक्षत्राणि दिव्य१न्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥ १॥

१. **यानि**=जो **नक्षत्राणि**=(नक्ष् गतौ) गतिमय लोक **दिवि**=द्युलोक में, **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **अप्सु**=जलों में या **भूमौ**=इस पृथिवी पर हैं, **यानि**=जो **नगेषु**=पर्वतों पर या **दिक्षु**=दिशाओं में हैं, **यानि**=जिन लोकों को **चन्द्रमाः**=चाँद **प्रकल्पयन्**=ओषधियों में रस-सञ्चार के द्वारा शक्तिशाली बनाता हुआ **एति**=गति करता है, **एतानि सर्वाणि**=ये सब लोक **मम**=मेरे लिए **शिवानि सन्तु**=कल्याणकर हों।

भावार्थ—सब लोक हमारे लिए सुखकर हों। द्युलोक में, अन्तरिक्ष में, भूमि पर, जलों, पर्वतों वा दिशाओं में जो भी लोक-लोकान्तर है, इन सबमें चन्द्रमा ओषधियों में रस-सञ्चार करता हुआ इन्हें शक्तिशाली बनाता है। ये लोक मेरे लिए शिव हों।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**नक्षत्राणि** ॥ छन्दः—**महाबृहतीत्रिष्टुप्** ॥

शिव+शग्म

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥ २॥

१. **अष्टाविंशानि**=गत सूक्त में वर्णित अठाईस नक्षत्र **शिवानि**=हमारे लिए कल्याणकर हों। **शग्मानि**=हमारे लिए सुख देनेवाले हों। इनकी अनुकूलता हमें मानस व शारीर-शान्ति देनेवाली हो। ये नक्षत्र **मे सह योगं भजन्तु**=मेरे साथ मेल को प्राप्त हों। मैं इनसे उचित प्रेरणाओं को लेनेवाला बनूँ। २. इन नक्षत्रों से उचित प्रेरणाओं को लेता हुआ मैं **योगं प्रपद्ये क्षेमं च**=योग और क्षेम को प्राप्त करूँ। **क्षेमं प्रपद्ये योगं च**=क्षेम और योग को प्राप्त करूँ। अप्राप्त की प्राप्ति ही 'योग' है, प्राप्त का रक्षण 'क्षेम' है। मैं जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को जुटा पाऊँ और उनका रक्षण कर पाऊँ। 'योग व क्षेम' दोनों को मैं समानरूप से महत्त्व दूँ। इसप्रकार जीवन बिताता हुआ मैं यह ध्यान रखूँ कि **अहोरात्राभ्याम्**=दिन व रात से **नमः अस्तु**=मेरा उस प्रभु के प्रति नमन हो। मैं दिन व रात को प्रभु-नमन से ही प्रारम्भ करूँ।

भावार्थ—मुझे सब नक्षत्रों की अनुकूलता प्राप्त हो। मैं उनसे उचित प्रेरणाओं को ग्रहण

करूँ। योगक्षेम को सिद्ध करता हुआ प्रातः-सायं प्रभु के प्रति नमन की वृत्तिवाला बनूँ।

ऋषिः—गार्ग्यः ॥ देवता—नक्षत्राणि ॥ छन्दः—विराट्स्थानात्रिष्टुप् ॥

सुमृगं-सुशकुनम्

स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु।
सुहवमग्ने स्वस्त्यमर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन् ॥ ३ ॥

१. हे **अग्ने**=प्रभो! **मे**=मेरे लिए **सु-अस्तितम्**=सूर्य का अस्तकाल कल्याणप्रद हो। **सु-प्रातः**=प्रभातवेला सुखमय हो। **सुसायम्**=सायंकाल सुखकारी हो। **सुदिनम्**=दिन सुखकर हो। **सुमृगं सुशकुनम् मे अस्तु**=मेरे लिए पशुओं व पक्षियों का व्यवहार उत्तम हो, अर्थात् किसी प्रकार का आधिभौतिक कष्ट हमें न प्राप्त हो। २. **सुहवम् स्वस्ति**=उत्तम प्रार्थना हमारा कल्याण करनेवाली हो। **अमर्त्यं गत्वा**=अमरता को—मोक्ष को प्राप्त करके **पुनः**=फिर **अभिनन्दन्**=लोगों को आनन्दित व समृद्ध करता हुआ तू **आ अय**=लोगों में समन्तात् गतिवाला हो। लोकहित के लिए यह मुक्तात्मा पुनः जन्म लेनेवाला हो।

भावार्थ—हम इसप्रकार का उत्तम जीवन बनाएँ कि हम आधिदैविक व आधिभौतिक कष्टों से ऊपर उठें। मुक्त होकर लोकहित के लिए पुनः जन्म लें।

ऋषिः—गार्ग्यः ॥ देवता—नक्षत्राणि ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

रिक्तकुम्भान् परासुव

अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम्।
सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान्परा तान्सवितः सुव ॥ ४ ॥

१. हे **सवितः**=सर्वप्रेरक प्रभो! आप **अनुहवम्**=स्पर्धा को, **परिहवम्**=वर्जनीय संघर्ष को, **परिवादम्**=निन्दा को **परिक्षवम्**=क्रोधजनित नासिका की फुरफुराहट को, इन **सर्वैः**=सब दोषों के साथ **मे**=मेरी **तान् रिक्तकुम्भान्**=उन खाली घड़ों के समान निःसार बातों को **परासुव**=दूर कीजिए।

भावार्थ—मैं स्पर्धा आदि से बचूँ और व्यर्थ की बातों से सदा दूर रहूँ।

ऋषिः—गार्ग्यः ॥ देवता—नक्षत्राणि ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पुण्य क्षव भक्षण

अपपापं परिक्षवं पुण्यं भक्षीमहि क्षवम्।
शिवा ते पाप नासिकां पुण्यगश्चाभि मेहताम् ॥ ५ ॥

१. **पापम्**=पाप से कमाये गये **परिक्षवम्**=वर्जनीय अन्न को (क्षु अन्ननाम नि०) हे प्रभो! **अप**=हमसे दूर कीजिए। २. हे **पाप**=पाप की ओर झुकाववाले पुरुष! **ते नासिकाम्**=तेरी नासिका को **शिवा**=कल्याणकारिणी प्राणायाम की क्रिया **अभिमेहताम्**=सब ओर से सिक्त करे। यह प्राणायाम की क्रिया तेरी पापवृत्ति को दूर करनेवाली हो। **च**=और **पुण्य-गः**=पुण्य की ओर ले-जानेवाला वह प्रभु तुझे सब ओर से सिक्त करे। प्रभु की भावना से सिक्त हुआ-हुआ तू पवित्र जीवनवाला बन जाए।

भावार्थ—'हम पवित्र अन्न का सेवन करें', प्राणसाधना को अपनाएँ तथा प्रभु का स्मरण करें', यही मार्ग है जिससे हमारा जीवन निष्पाप बन सकेगा।

ऋषिः—गार्ग्यः॥ देवता—नक्षत्राणि॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

विपरीत वात में न बह जाना

इमा या ब्रह्मणस्पते विषूचीर्वात ईरते।
सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतमास्कृधि॥ ६॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **इमाः याः**=इन जिन **विषूचीः**=विविध विपरीत दिशाओं को **वातः**=वायु **ईरते**=चलता है, ये जो उल्टी-उल्टी आवञ्छनीय हवाएँ चल पड़ती हैं हे **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **ताः**=उन सबको **सध्रीचीः कृत्वा**=(सह अञ्चन्ति) यथायोग्य मिलकर चलनेवाला करके **मह्यम्**=मेरे लिए **शिवतमाः**=कल्याणकर **कृधि**=कीजिए।

भावार्थ—'ब्रह्मणस्पति व इन्द्र' नाम से प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी ज्ञान के स्वामी व जितेन्द्रिय बनें। इसप्रकार हम उल्टी हवाओं में न बहकर सत्क्रियाओं में ही प्रवृत्त रहेंगे। ज्ञान व जितेन्द्रियता हमारे रक्षक हैं।

ऋषिः—गार्ग्यः॥ देवता—नक्षत्राणि॥ छन्दः—द्विपदानिचृत्त्रिष्टुप्॥

स्वस्ति+अभय

स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उल्टी हवाओं में न बह जाने पर **नः स्वस्ति अस्तु**=हमारा कल्याण हो तथा **नः अभयम् अस्तु**=हमें निर्भयता प्राप्त हो। २. **अहोरात्राभ्याम्**=दिन व रात्रि से **नमः अस्तु**=हमारा प्रभु के प्रति नमन हो। हम प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में नमस्कार करनेवाले बनें। यह नमन ही हमें उल्टी हवाओं में बह जाने से बचाएगा। अन्यथा संसार का आकर्षण अति प्रबल है, इससे बचना सरल नहीं।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में नतमस्तक होते हुए कल्याण व निर्भयता प्राप्त करें।

प्रभु के प्रति नमन के द्वारा प्रभु के गुणों का धारण करनेवाला यह 'वसिष्ठ व ब्रह्मा' ही ९ से १२ तक सूक्तों का ऋषि है। यह शान्ति की कामना करता हुआ प्रार्थना करता है कि—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—विराडुरोबृहती॥

शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्व१न्तरिक्षम्।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः॥ १॥

१. **द्यौः शान्ता**=द्युलोक हमारे लिए शान्ति देनेवाला हो। **पृथिवी शान्ता**=यह पृथिवीलोक भी शान्तिकर हो। **इदम् उरु अन्तरिक्षम्**=यह विशाल अन्तरिक्षलोक **शान्तम्**=शान्ति देनेवाला हो। २. **उदन्वतीः आपः**=समुद्रों के जल (समुद्र से वाष्पीभूत होकर आकाश में पर्जन्यरूप होकर बरसनेवाले जल) **शान्ता**=हमें शान्ति देनेवाले हों तथा **ओषधीः**=ओषधियाँ **नः शान्ता सन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों।

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक, समुद्र, जल व ओषधियाँ हमारे लिए शान्ति देनेवाली हों।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'भूत व भव्य' की अनुकूलता

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥ २ ॥

१. **पूर्वरूपाणि**=पहले-पहले प्रादुर्भूत हुए रोगों के पूर्वरूप हमारे लिए **शान्तानि**=शान्त हों—कष्टजनक न हों। रोग प्रारम्भ में ही समाप्त हो जाए, वह बढ़कर हमारे कष्ट का कारण न बने। **कृताकृतम्**=(कृतं च अकृतं च) कुछ किया गया और कुछ न किया गया, अर्थात् अधूरा काम **नः**=हमारे लिए **शान्तम् अस्तु**=शान्त हो जाए, अर्थात् हम कार्यों को अधूरेपन से न करें। २. इसप्रकार **भूतं च भव्यम् च**=विगत काल व आनेवाला काल—दोनों ही हमारे लिए **शान्तम्**=शान्ति देनेवाले हों। वस्तुतः **सर्वम् एव**=सब-कुछ ही **नः शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो।

भावार्थ—हम रोगों को प्रारम्भ में ही शान्त करनेवाले बनें। सब-कुछ—सारा वातावरण और पदार्थ हमें शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शान्ति, न कि घोर

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥ ३ ॥

१. **इयम्**=यह **या**=जो **परमेष्ठिनी**=प्रभु में स्थित अथवा प्रभु से दी गई **देवी**=दिव्यशक्तिसम्पन्न **वाक्**=वाणी है, यह **ब्रह्मसंशिता**=ज्ञान के द्वारा तीव्र की गई है। ज्ञानवृद्धि से वाणी की शक्ति बढ़ती चलती है। अन्ततः इससे जो कुछ उच्चारित होता है, वैसा ही हो जाता है 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुवर्तते'=सज्जन पुरुषों की वाणी अर्थ का अनुवर्तन करती है—यथार्थ होती है, परन्तु ऋषियों की वाणी का तो अर्थ अनुवर्तन करता है। वह जैसा कहते हैं, वैसा हो जाता है। इसी को 'वर व शाप देने का सामर्थ्य' कहते हैं। २. इसप्रकार ब्रह्मसंशित **यया**=जिस वाणी से **एव**=ही **घोरं ससृजे**=अति भयंकर कार्य किये जा सकते हैं, **तया**=उससे **नः**=हमारे लिए **शान्तिः एव अस्तु**=शान्ति ही हो। हम वाणी से कभी शाप देनेवाले न बनें।

भावार्थ—हम प्रभु-प्रदत्त वाणी को ज्ञानप्राप्ति द्वारा अति तीव्रशक्तिवाली बनाएँ, परन्तु इससे कभी शाप न देकर, वर ही देनेवाले बनें।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शुभकामना व ब्रह्म-प्राप्ति

इदं यत्परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥ ४ ॥

१. **इदम्**=यह **यत्**=जो **परमेष्ठिनम्**=परम स्थानों में स्थित होनेवाला अथवा प्रभु का—प्रभु से दिया गया **मनः**=मन है, **वाम्**=हे स्त्री-पुरुषो! आप दोनों का यह मन **ब्रह्मसंशितम्**=ज्ञान के द्वारा तीव्र किया गया है। ज्ञानी पुरुष का मन अत्यन्त प्रबल शक्तिवाला हो जाता है—वह चाहता है और वैसा हो जाता है। २. **येन**=जिस ब्रह्मसंशित मन के द्वारा **एव**=निश्चय से **घोरं ससृजे**=बड़ा भयंकर कार्य भी किया जा सकता है, **तेन**=उस मन से **नः**=हमारे लिए तो **शान्तिः एव**

अस्तु=शान्ति ही हो। हम मन में किसी के लिए अशुभ कामना करें ही न। हमारा मन सदा सबके लिए शुभ कामनावाला हो।

भावार्थ—हम ब्रह्मसंशित मन के द्वारा सदा सबके लिए शुभ कामना करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः** ॥

शान्तिकर इन्द्रियाँ

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ ५ ॥

१. **इमानि**=ये **यानि**=जो **पञ्च इन्द्रियाणि**=पाँच इन्द्रियाँ हैं, **मनःषष्ठानि**=मन इनके साथ छठा है। ये सब **मे**=मेरे **हृदि**=हृदय में प्रादुर्भूत **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **संशितानि**=तीव्र की जाती हैं। जितना-जितना ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है, उतना-उतना ही ये इन्द्रियाँ व मन तीव्र शक्तिवाले होते जाते हैं। २. उस समय **यैः एव**=जिन ब्रह्मसंशित इन्द्रियों के द्वारा निश्चय से **घोरं ससृजे**=बड़ा भयंकर कार्य भी किया जा सकता है, **तैः**=उन इन्द्रियों से **नः**=हमारे लिए तो **शान्तिः एव अस्तु**=शान्ति ही हो।

भावार्थ—हम ज्ञान से तीव्र शक्तिवाली इन ज्ञानेन्द्रियों से संसार में सुख व शान्ति को ही बढ़ानेवाले हों। युद्धों व संहारों को बढ़ावा न दें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शान्ति-प्राप्ति के उपाय

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो भवत्वर्यमा ॥ ६ ॥

१. **मित्रः**=सबके प्रति स्नेहवाला प्रभु—जो मित्र-ही-मित्र है, **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति प्राप्त करानेवाला हो। **वरुणः**=सब पापों का निवारण करनेवाला—श्रेष्ठ प्रभु **शम्**=हमें शान्ति देनेवाला हो। **अर्यमा**=सब शत्रुओं का—काम-क्रोध-लोभ आदि का नियमन करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे लिए **शं भवतु**=शान्ति देनेवाला हो। २. **विष्णुः**=(विष् व्याप्तौ) सर्वव्यापक प्रभु **शम्**=हमें शान्ति दें और **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभु **शम्**=हमें शान्ति देनेवाले हों। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवान् व सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति दें और **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञान के स्वामी प्रभु हमें शान्ति प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम प्रभु को 'मित्र-वरुण-विष्णु-प्रजापति-इन्द्र-बृहस्पति व अर्यमा' नामों से स्मरण करते हुए स्वयं 'स्नेह, निष्पापता, उदारता, प्रजारक्षण, जितेन्द्रियता (शक्तिमत्ता) ज्ञान व काम-क्रोध आदि शत्रुओं के नियमन' को धारण करते हुए शान्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'मित्र व अन्तक' हमें शान्ति दें

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वाञ्छमन्तकः।
उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः ॥ ७ ॥

१. **मित्रः**=सबके प्रति स्नेहवाले प्रभु **नः शम्**=हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। **वरुणः**=पापों का निवारण करनेवाले प्रभु **शम्**=हमें शान्ति दें। **विवस्वान्**=सब अन्धकारों का विवासन करनेवाले

सूर्यसम ब्रह्म हमें **शम्**=शान्ति दें। ज्ञान के द्वारा **अन्तकः**=सब बुराइयों का अन्त करनेवाले प्रभु हमें **शम्**=शान्ति दें। २. **पार्थिवा अन्तरिक्षा उत्पाताः**='पृथिवी व अन्तरिक्ष' में उत्पन्न होनेवाले उत्पात (भूकम्प व उल्कापात आदि) **शम्**=हमारे लिए शान्त हों। ये **दिविचराः ग्रहाः**=द्युलोक में गतिवाले ग्रह **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति दें।

भावार्थ—हम 'सबके प्रति स्नेहवाले—पाप को दूर करनेवाले—अज्ञानान्धकार को स्वाध्याय द्वारा मिटानेवाले तथा काम-क्रोध आदि का अन्त करनेवाले' बनकर शान्ति प्राप्त करें। हमारे लिए पार्थिव व आन्तरिक्ष उत्पात शान्त हों। सब ग्रह शान्तिकर हों।

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

भूकम्प आदि से बचाव

शं नो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत्।
शं गावो लोहितक्षीराः शं भूमिरव तीर्यतीः॥ ८॥

१. **वेप्यमाना**=किन्हीं भी प्राकृतिक उद्वेगों से कँपायी गई **भूमिः नः शम्**=भूमि हमारे लिए शान्तिकर हो। हमें भूकम्प कष्टमग्न न करे **च**=और **उल्का निर्हतम्**=आकाश से भूमि पर गिरनेवाले पिण्डों का **यत्**=जो आघात है, वह भी **शम्**=शान्त हो। २. रोग के कारण **लोहितक्षीराः**=रुधिर के समान दूध देनेवाली **गावः**=गौएँ **शम्**=शान्ति दें। **अवतीर्यतीः**=नीचे समुद्र में धँसती हुई **भूमिः**=भूमि **शम्**=हमारे लिए कष्टकर न हो।

भावार्थ—'भूकम्प, उल्का निर्घात, भूमि का समुद्र में धंस जाना' आदि आधिदैविक कष्ट हमें पीड़ित न करें। हमारी गौओं के दूध में किसी प्रकार का विकार न आ जाए।

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—पञ्चपदाककुम्मतीत्रिष्टुप्॥

अभिचार व कृत्या आदि की शान्ति

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः।
शं नो निखाता वल्गाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु॥ ९॥

१. **उल्का अभिहतं नक्षत्रम्**=उल्काओं से अभिहत नक्षत्र **नः शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। **अभिचाराः**=शत्रुकृत गुप्त आक्रमण **नः शम्**=हमारे लिए शान्त हों **उ**=और **कृत्याः**=हिंसा की क्रियाएँ **शं सन्तु**=शान्त हों। हमारे प्रति शत्रुकृत अभिचार व कृत्या हो ही न। २. **निखाताः**=विस्फोटक द्रव्य भरकर उड़ा देने के लिए खोदी गई सुरंगें **नः शम्**=हमारे लिए शान्त हों, **वल्गाः**=(बल संवरणे) अन्य कपटपूर्वक हिंसन के कार्य (संवृत गर्त आदि) शान्त हों। **उल्काः**=आकाशस्थ लघु पिण्डों के पतन **शम्**=शान्त हों **उ**=और **नः**=हमारे लिए देश में उत्पन्न होनेवाले संहारक उपद्रव **शं भवन्तु**=शान्त हों।

भावार्थ—'उल्कापात, अभिचार, कृत्या, निखात, वल्गा व देशोपसर्ग' ये सब शान्त हों।

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

चान्द्रमस ग्रह शान्तिकर हों

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः॥ १०॥

१. **चान्द्रमसाः**=चन्द्रमा से सम्बद्ध **ग्रहाः**=सब ग्रह **नः शम्**=हमारे लिए शान्त हों **च**=और **राहुणा**=प्रकाश को आवृत करनेवाले (विच्छिन्न करनेवाले) 'राहु' के साथ **आदित्यः**=सूर्य **शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हो। २. **मृत्युः**=लोगों की मृत्यु का कारण बननेवाला **धूमकेतुः**=धूमकेतु

ग्रह नः शम्=हमारे लिए शान्तिकर हो तथा **तिग्मतेजसः**=तीव्र तेज-(ताप व प्रकाश)-वाले **रुद्राः**='मृग-व्याध' आदि नक्षत्र **शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हों।

भावार्थ—सब चान्द्रमस ग्रहों की, राहु के साथ सूर्य की, धूमकेतु तथा मृग-व्याध आदि नक्षत्रों की हमारे लिए अनुकूलता हो। (मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः। अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परन्तप॥ दहनोऽथेश्वरश्चैव कपली च महाद्युतिः। स्थणुर्भगश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः)॥

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

वसु-रुद्र-आदित्यों से शान्ति लाभ

शं रुद्राः शं वसवः शमादित्याः शमग्नयः।
शं नो महर्षयो देवाः शं देवाः शं बृहस्पतिः॥ ११॥

१. **रुद्रा शम्**=चवालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का धारण करनेवाले रुद्र ब्रह्मचारी हमारे लिए शान्ति प्राप्त कराएँ। **वसवः शम्**=२४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य के धारक वसु ब्रह्मचारी हमें शान्ति दें। **आदित्याः**=४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का धारण करनेवाले विद्वान् आदित्य हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ हमें **शम्**=शान्ति दें। ('पिता वै गार्हपत्योऽग्निः मातागिनर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥')। २. **नः**=हमारे लिए **महर्षयः देवाः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी **शम्**=शान्ति दें तथा **देवाः**=सब दिव्यवृत्ति के पुरुष **शम्**=शान्ति प्राप्त कराएँ और **बृहस्पतिः**=ज्ञानियों का ज्ञानी बृहस्पति **शम्**=हमें शान्ति दे।

भावार्थ—सब विद्वान्, ऋषि व देव हमें शान्ति प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—शन्तातिः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—सप्तपदाऽष्टिः॥

स्वस्त्ययन+शर्म

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्तऋषयोऽग्नयः।
तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु।
विश्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु सर्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु॥ १२॥

१. **ब्रह्म**=ज्ञान, **प्रजापतिः**=राजा, **धाता**=सब लोकों का धारक प्रभु, **लोकाः**=सब लोक, **वेदाः**=प्रभु से दिये गये 'ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद', **सप्त ऋषयः**=दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख, **अग्नयः**='मातृरूप दक्षिणाग्नि, पितृरूप गार्हपत्य अग्नि तथा आचार्यरूप आहवनीयाग्नि' **तैः**=उन सबके द्वारा **मे स्वस्त्ययनं कृतम्**=मेरे कल्याण का मार्ग किया गया है। इन सबकी प्रेरणा, अनुग्रह व व्यवस्था से मैं कल्याण के मार्ग पर चला हूँ। २. **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **मे शर्म यच्छतु**=मेरे लिए सुख दें। **ब्रह्मा**=वे सर्वज्ञ प्रभु **मे शर्म यच्छतु**=मुझे सुख दें। शक्ति व ज्ञान का (क्षत्र व ब्रह्म का) सम्पादन करता हुआ मैं कल्याण प्राप्त करूँ। **विश्वेदेवाः**=सभी प्राकृतिक शक्तियाँ—सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु आदि देव **मे शर्म यच्छन्तु**=मुझे सुख दें। ये मुझे शारीरिक आरोग्य प्राप्त कराके सुखी करें। **सर्वे देवाः**=सब विद्वान् व माता-पिता-आचार्य व अतिथिरूप देव **मे शर्म यच्छन्तु**=मुझे सुखी करें। ये मुझे मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराके आनन्दयुक्त जीवनवाला बनाएँ।

भावार्थ—ज्ञान, राजा, प्रभु, सब लोक, वेद, ऋषि व अग्नियाँ मुझे कल्याण के मार्ग पर ले-चलें। मैं शक्ति व ज्ञान का सम्पादन करता हुआ सुख प्राप्त करूँ। प्राकृतिक देव मुझे नीरोग बनाएँ, विद्वान् मुझे स्वस्थ मनवाला करें और इसप्रकार मुझे सुख प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शम्+अभय

यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः।
सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु॥ १३॥

१. **लोके**=लोक में **यानि कानिचित्**=जो कोई भी **शान्तानि**=शान्तिदायक कर्म हैं, **सप्तऋषयः**=मेरे सप्त ऋषि—'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख'—उनको **विदुः**=जानते हैं। मेरे ये सात ऋषि उन्हीं को अपनाने का प्रयत्न करते हैं। २. इस प्रकार ये **सर्वाणि**=सब **मे शं भवन्तु**=मेरे लिए शान्ति देनेवाले हों। **मे शम् अस्तु**=मेरे लिए शान्ति हो। **मे अभयम् अस्तु**=मेरे लिए निर्भयता हो।

भावार्थ—मैं इन कान आदि सप्त ऋषियों से शान्त कर्मों को करता हुआ शान्ति व निर्भयता प्राप्त करूँ।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—चतुष्पदासंकृतिः ॥

'मोहं, घोर, क्रूर व पाप' का दूरीकरण

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः। ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः॥ १४॥

१. **पृथिवी शान्तिः**=यह पृथिवीलोक हमारे लिए शान्ति देनेवाला हो। **अन्तरिक्षं शान्तिः**=अन्तरिक्षलोक शान्ति देनेवाला हो। **द्यौः शान्तिः**=द्युलोक शान्ति देनेवाला हो। **आपः शान्तिः**=जल शान्तिकर हों। **ओषधयः शान्तिः**=ओषधियाँ शान्तिकर हों। **वनस्पतयः**=वनस्पतियाँ **शान्तिः**=शान्तिकर हों। **विश्वेदेवाः**=सब प्राकृतिक देव **मे शान्तिः**=मुझे नीरोगता के द्वारा शान्ति देनेवाले हों। **सर्वे देवाः**=सब विद्वान् **मे शान्तिः**=मुझे मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराके शान्ति देनेवाले हों। **शान्तिभिः शान्तिः शान्तिः**=इन सब शान्तियों के द्वारा मुझे शारीर शान्ति व मानस शान्ति प्राप्त हो। २. **ताभिः शान्तिभिः**=उन शान्तियों के द्वारा **सर्वशान्तिभिः**=सब शान्तियों के द्वारा **मोहं शमया**=हमारे वैचित्य को शान्त कीजिए। हम **शम् अयामः**=शान्ति को प्राप्त होते हैं। २. हम स्वस्थचित्त बन पाएँ। **यत् इह पापम्**=जो भी यहाँ पाप है, **तत् शान्तम्**=वह शान्त हो, **तत् शिवम्**=वह शिव हो जाए। असत् के स्थान में सब-कुछ सत् हो जाए। इसप्रकार **सर्वम् एव**=सब-कुछ ही **नः**=हमारे लिए **शम् अस्तु**=शान्त हो जाए।

भावार्थ—तीनों लोकों, जलों, ओषधि, वनस्पतियों, सब प्राकृतिक शक्तियों व विद्वानों की अनुकूलता से हमें शान्ति प्राप्त हो। हमारे जीवनों में से मोह, घोर, क्रूर व पाप का निराकरण होकर शान्ति-ही-शान्ति प्राप्त हो।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'अग्नि, वरुण, सोम व पूषा'

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ॥ १॥

१. **नः**=हमारे लिए **इन्द्राग्नी**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा और ज्ञान देकर आगे ले-चलनेवाला ब्राह्मण ये दोनों **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **शम्**=शान्ति प्राप्त कराएँ। **नः**=हमारे लिए **इन्द्रावरुणा**=शत्रुविद्रायक राजा तथा अव्यवस्थाओं का निवारण करनेवाला क्षत्रियवर्ग **रातहव्या**=(रातं हव्यं याभ्याम्) जिनके लिए उचित कर (Tax) दिया गया है, ऐसे होते हुए **शम्**=शान्ति प्राप्त कराएँ। २. **इन्द्रासोमा**=शत्रुविद्रावक राजा तथा सौम्य स्वभाव का श्रमिक वर्ग (Labour) **शम्**=शान्ति प्राप्त कराए तथा **सुविताय**=सब कार्यों के सम्यक् प्रचलन के लिए—ये इन्द्र और सोम **शं योः**=रोगों का शमन व भयों का यावन (पृथक्करण) करनेवाले हों। **इन्द्रापूषणा**=शत्रुविद्रावक राजा तथा 'कृषि, गोरक्षा व वाणिज्य' के द्वारा सबका पोषण करनेवाले वैश्य **वाजसातौ**=अन्न की प्राप्ति कराके **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति देनेवाले हों।

भावार्थ—राजा तथा राजशक्ति से सहायता-प्राप्त 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' सब अपने कार्यों को समुचित रूप से करते हुए हमारे लिए शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भगः-अर्यमा

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु॥ २॥

१. **नः**=हमारे लिए **भगः**=ऐश्वर्य **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। **उ**=और **नः**=हमारे लिए **शंसः**=विज्ञान (Science) **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो। **नः**=हमारे लिए **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धि **शम्**=शान्ति प्राप्त कराए **उ**=और **रायः**=सब धन **शं सन्तु**=शान्ति करनेवाले हों। २. **नः**=हमारे लिए **सत्यस्य**=सत्य का तथा **सुयमस्य**=उत्तम नियम का **शंसः**=उपदेश **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। **नः**=हमारे लिए **पुरुजातः**=महान् विकासवाला **अर्यमा**=सब-कुछ देनेवाला (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) अथवा न्यायकारी प्रभु **शं अस्तु**=शान्ति प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—भौतिक ऐश्वर्य, ज्ञान, बुद्धि व धन हमारे लिए शान्ति देनेवाले हों। सत्य व संयम का उपदेश हमें शान्ति दे। सब-कुछ देनेवाले वे प्रभु आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराके हमें शान्ति दें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धाता-धर्ता

शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु॥ ३॥

१. **नः**=हमारे लिए **धाता**=सब लोक-लोकान्तरों का धारण करनेवाला प्रभु **शम्**=शान्ति दे **उ**=और **धर्ता**=सब प्राणियों का धारण करनेवाला (आश्रयदाता) प्रभु **शं अस्तु**=शान्ति देनेवाला हो। **नः**=हमारे लिए यह **उरूची**=(उरु अञ्चति) सुदूर प्रदेश तक फैली हुई पृथिवी **स्वधाभिः**=अन्नों के द्वारा **शम्**=शान्ति करनेवाली **भवतु**=हो। २. **बृहती**=विशाल **रोदसी**=द्यावापृथिवी **शम्**=शान्तिकर हों। **नः**=हमारे लिए **अद्रिः**=पर्वत व मेघ **शम्**=शान्ति दें। **नः**=हमारे लिए **देवानाम्**=दिव्यवृत्तिवाले ज्ञानी पुरुषों के **सुहवानि**=उत्तम आह्वान **शं सन्तु**=शान्तिकर हों। हम घरों में समय-समय पर ज्ञानी विद्वानों को आमन्त्रित करें और उनसे ज्ञानोपदेश सुनकर उत्तम मार्ग पर चलनेवाले बनें।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड व सब प्राणियों का धारण करनेवाले प्रभु हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। यह पृथिवी उत्तम अन्नों को देकर हमें सुखी व शान्त करे। द्युलोक व पृथिवीलोक हमें शान्ति देनेवाले

हों, पर्वत व मेघ हमारे लिए सुखकर हों। हम सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में ज्ञानोपदेश प्राप्त करके जीवन में उत्तम मार्ग पर चलते हुए शान्त जीवनवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ज्योतिरनीक' अग्नि

शं नो॑ अ॒ग्निर्ज्योति॑रनीको अस्तु॒ शं नो॑ मि॒त्रावरु॑णाव॒श्विना॑ शम्।
शं नः॑ सु॒कृतां॑ सुकृ॒तानि॑ सन्तु॒ शं न॑ इषि॒रो अ॒भि वा॑तु॒ वातः॑ ॥ ४ ॥

१. **ज्योतिरनीकः**=(अनीकम् face)=ज्योतिर्मय मुखवाला—जिसके मुख से ज्ञान की ही वाणियों का उच्चारण होता है—यह ब्राह्मण **नः शं अस्तु**=हमारे लिए शान्ति करनेवाला हो। **मित्रावरुणौ**=स्नेह व द्वेष-निवारण (निर्द्वेषता) की भावनाएँ **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हों। **अश्विना**=प्राणापान शक्ति **शम्**=हमें शान्ति दे। २. **सुकृताम्**=पुण्यशालियों के **सुकृतानि**=पुण्यकर्म **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्तिकर **सन्तु**=हों और यह **इषिरः**=गतिशील **वातः**=वायु **नः**=हमारे लिए भी गति की प्रेरणा देता हुआ **शम् अभिवातु**=शान्तिकर होकर चारों ओर बहे।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मण ज्ञान देते हुए हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। स्नेह व निर्द्वेषता का भाव तथा प्राणापानशक्ति हमें शान्ति दे। पुण्यकर्मा लोगों के पुण्यकर्म हमें शान्ति प्राप्त कराएँ और यह निरन्तर गतिशील वायु गति की प्रेरणा देता हुआ हमें शान्ति प्राप्त कराए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

द्यावापृथिवी

शं नो॒ द्यावा॑पृथि॒वी पू॒र्वहू॑तौ॒ शम॒न्तरि॑क्षं दृ॒शये॑ नो अस्तु।
शं न॒ ओष॑धीर्व॒निनो॑ भवन्तु॒ शं नो॒ रज॑स॒स्पति॑रस्तु जि॒ष्णुः ॥ ५ ॥

१. **पूर्वहूतौ**=सबसे प्रथम पुकार में **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हों। हम प्रातः प्रभु से सर्वप्रथम यही आराधना करते हैं कि ये द्युलोक और पृथिवीलोक हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। **अन्तरिक्षम्**=यह अन्तरिक्ष भी **दृशये**=विशाल दृष्टि के लिए **नः शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। हम अन्तरिक्ष से मध्यमार्ग में चलने की प्रेरणा लेते हुए विशाल दृष्टिकोणवाले बनें। २. ये **वनिनः**=वन में उत्पन्न होनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर **भवन्तु**=हों। वह **रजसस्पतिः**=सब लोकों का स्वामी **जिष्णुः**=विजयशील प्रभु **नः शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। हम भी शरीरस्थ अंगों के स्वामी बनते हुए विजयशील बनें। यही सच्ची शान्ति की प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष व ओषधियाँ—ये सब हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। 'रजसस्पति जिष्णु' प्रभु से हम भी शरीरस्थ अंगों के स्वामी बनने तथा विजयशील बनने की प्रेरणा लें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वसु, आदित्य, रुद्र

शं न॒ इन्द्रो॒ वसु॑भिर्दे॒वो अ॑स्तु॒ शमा॑दि॒त्येभि॒र्वरु॑णः सु॒शंसः॑।
शं नो॑ रु॒द्रो रु॒द्रेभि॒र्जला॑षः॒ शं न॒स्त्वष्टा॒ ग्नाभि॑रि॒ह शृ॑णोतु ॥ ६ ॥

१. **इन्द्रः देवः**=वह परमैश्वर्यशाली दिव्यगुणों का पुञ्ज प्रभु **वसुभिः**=हमारे निवासों को उत्तम बनानेवाले वसु विद्वानों के द्वारा **नः**=हमारे लिए **शम् अस्तु**=शान्ति प्राप्त करानेवाले हों। **सुशंसः**=उत्तम ज्ञान देनेवाले **वरुणः**=पापों के निवारक प्रभु **आदित्येभिः**=सूर्यसम ज्ञानज्योतिर्मय विद्वानों के द्वारा **शम्**=शान्ति प्राप्त ,कराएँ। २. (जलाषम्=Happiness) **जलाषः**=आनन्दमय

रुद्रः=सब रोगों का विद्रावण करनेवाले प्रभु **रुद्रेभिः**=ज्ञानोपदेश द्वारा हमें नीरोगता के मार्ग पर ले-चलनेवाले विद्वानों के द्वारा **नः शम्**=हमें शान्ति दें। **त्वष्टा**=(त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः। नि०) ज्ञानदीप्त प्रभु **ग्नाभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **नः शम्**=हमें शान्ति प्राप्त कराएँ, ये प्रभु **इह**=यहाँ **शृणोतु**=हमारी इस प्रार्थना को सुनें।

भावार्थ—प्रभु वसु, रुद्र व आदित्य विद्वानों के द्वारा ज्ञान प्राप्त कराके हमें 'जितेन्द्रिय, निर्दोष, आनन्दमय य ज्ञानदीप्त' बनाकर शान्त जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सोम-रक्षण+ज्ञान+यज्ञ

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः॥ ७॥

१. **सोमः**=शरीर में सुरक्षित सोम (वीर्य) **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हो। **ब्रह्म**=ज्ञान **नः**=हमारे लिए **शम् भवतु**=शान्तिकर हो। सोम-रक्षण से ही तो ज्ञानाग्नि दीप्त होगी। **नः**=हमारे लिए **ग्रावाणः**=(विद्वांसो हि ग्रावाणः श० ३.४.३.९) विद्वान् लोग ज्ञानोपदेश के द्वारा **नः शम्**=हमें शान्ति दें। **उ**=और ज्ञान प्राप्त करके **यज्ञाः**=हमसे किये जाते हुए यज्ञ **शं सन्तु**=शान्तिकर हों। २. **नः**=हमारे लिए **स्वरूणां मितयः**=यज्ञ-स्तम्भों के निर्माण **शम्**=कल्याणकर हों। **प्रस्वः नः शम्**=यज्ञभूमि में होनेवाली घास हमारे लिए शान्तिकर हो **उ**=और **वेदिः**=यज्ञवेदि **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो।

भावार्थ—सोम का रक्षण करके हम ज्ञानाग्नि को दीप्त करें। ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करके यज्ञशील हों। हम यज्ञों के लिए यज्ञवेदि को तैयार करें। इसप्रकार हमारे जीवन शान्तिमय हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सूर्य से आपः तक

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥ ८॥

१. **उरुचक्षाः**=विशाल दृष्टि-(प्रकाश)-वाला **सूर्यः नः शम् उदेतु**=सूर्य हमारे लिए शान्तिकर होकर उदित हो। **चतस्रः प्रदिश**=चारों विशाल दिशाएँ **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों। २. ये **ध्रुवयः**=अपने स्थानों से न डिगनेवाले **पर्वताः नः शं भवन्तु**=पर्वत हमारे लिए शान्तिकर हों। **नः**=हमारे लिए इन पर्वतों से बहनेवाली **सिन्धवः**=नदियाँ **शम्**=शान्ति दें, **उ**=और उन नदियों के **आपः**=जल **शं सन्तु**=शान्तिकर हों।

भावार्थ—सूर्य से हम विशाल दृष्टि का पाठ पढ़ें, दिशाओं से विशालहृदयता को सीखें। पर्वतों से ध्रुवता का पाठ पढ़ें। नदियों से निरन्तर गति की शिक्षा लें और जलों से शान्ति का पाठ पढ़ें। इसीप्रकार जीवन शान्त बनेगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अदिति व्रतों के साथ

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः॥ ९॥

१. **व्रतेभिः**=व्रतों के साथ **अदितिः**=(दिति दो अवखण्डने) अखण्डन—स्वास्थ्य की देवता

नः=हमारे लिए **शं भवतु**=शान्ति देनेवाली हो। हम स्वस्थ व व्रतमय जीवनवाले बनकर शान्ति प्राप्त करें। **स्वर्काः**=(सु अर्काः) उत्तमता से प्रभु-पूजन करनेवाले **मरुतः**=प्राण **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों। हम प्राणसाधना करते हुए प्रभु-पूजन में प्रवृत्त हों। २. **नः**=हमारे लिए **विष्णुः** (यज्ञो वै विष्णुः) यज्ञ **शम्**=शान्ति दें, **उ**=और **पूषा**=पोषण की देवता **नः**=हमारे लिए **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो। हम यज्ञों को करते हुए उचित पोषण प्राप्त करें। **नः**=हमारे लिए **भवित्रम्**=(भवन्ति भूतानि अत्र) यह अन्तरिक्षलोक अथवा गृह **शम्**=शान्ति दे, **उ**=और **वायुः**=वायु **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो। हमारे घरों में वायु का सम्यक् प्रवेश हो और इसप्रकार वे घर हमारे लिए सुखद हों।

भावार्थ—हम व्रतमय स्वस्थ जीवनवाले हों। प्राणसाधना करते हुए प्रभु-पूजन करें। यज्ञों को करते हुए उचित पोषण प्राप्त करें। हमारे घरों में वायु का सम्यक् प्रवेश हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रायमाणः सविता

शं नो॑ दे॒वः स॑वि॒ता त्राय॑माणः शं नो॑ भवन्तू॒षसो॑ विभा॒तीः।
शं नः॑ प॒र्जन्यो॑ भवतु प्र॒जाभ्यः॒ शं नः॒ क्षेत्र॑स्य॒ पति॑रस्तु श॒ंभुः॥ १०॥

१. यह **त्रायमाणः**=हम सबका रक्षण करता हुआ **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=सूर्य **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हो। ये **विभातीः**=विशेषरूप से दीप्त होती हुई **उषसः**=उषाएँ **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों। २. **नः प्रजाभ्यः**=हमारी सन्तानों के लिए **पर्जन्यः शं भवतु**=मेघ शान्ति देनेवाला हो। **नः**=हमारे लिए **क्षेत्रस्य पतिः**=इस ब्रह्माण्डरूप क्षेत्र का स्वामी प्रभु **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो।

भावार्थ—सूर्य, उषा, पर्जन्य व ब्रह्माण्डरूप क्षेत्र का स्वामी प्रभु हमें शान्ति प्राप्त कराए।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सत्यस्य पतयः

शं नः॑ स॒त्यस्य॒ पत॑यो भवन्तु॒ शं नो॒ अर्व॑न्तः॒ शमु॑ सन्तु॒ गावः॑।
शं न॑ ऋ॒भवः॑ सु॒कृतः॑ सु॒हस्ताः॒ शं नो॑ भवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु॥ १॥

१. **सत्यस्य पतयः**=अपने में सत्य वेदज्ञान का रक्षण करनेवाले ब्राह्मण **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों। **नः**=हमारे लिए **अर्वन्तः**=घोड़े **शम्**=शान्ति दें, **उ**=और **गावः**=गौएँ **शं सन्तु**=शान्तिकर हों। २. ये **ऋभवः**=(उरुभान्ति) उस-उस कला से दीप्त होनेवाली **सुकृतः**=उत्तमता से वस्तुओं का निर्माण करनेवाले **सुहस्ताः**=उत्तम हस्तकौशलवाले शिल्पी **नः शम्**=हमें शान्ति प्राप्त कराएँ, **पितरः**=सब रक्षक लोग **हुवेषु**=संग्रामों में **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्ति देनेवाले हों।

भावार्थ—ब्राह्मण, घोड़े, गौएँ, शिल्पी व रक्षक लोग हमें शान्ति प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

· दिव्य, पार्थिव, अप्य

शं नो॑ दे॒वा वि॒श्वदे॑वा भवन्तु॒ शं सर॑स्वती स॒ह धी॒भिर॑स्तु।
शम॑भि॒षाचः॒ शमु॑ राति॒षाचः॒ शं नो॑ दि॒व्याः पार्थि॑वाः॒ शं नो॒ अप्याः॑॥ २॥

१. **नः**=हमारे लिए **विश्वदेवाः**=सब दिव्यगुणों से युक्त **देवाः**=विद्वान् पुरुष **शं भवन्तु**=शान्ति

प्राप्त कराएँ। **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **धीभिः**=बुद्धियों के साथ **शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। २. **अभिषाचः**=उस प्रभु की ओर (अभि) अपना मेल करनेवाले **शम्**=शान्ति दें, **उ**=और **रातिषाचः**=दान के साथ मेलवाले त्यागी पुरुष **शम्**=शान्ति प्राप्त कराएँ। २. **नः**=हमारे लिए **दिव्याः**=द्युलोक के पदार्थ **शम्**=शान्तिकर हों। **पार्थिवाः**=पृथिवी के पदार्थ शान्तिकर हों तथा **नः**=हमारे लिए **अप्याः**=अन्तरिक्षलोक में होनेवाले पदार्थ **शम्**=शान्ति दें।

भावार्थ—हमारे लिए दिव्यवृत्तिवाले ज्ञानी पुरुष शान्ति दें। हमें विद्या व बुद्धि शान्ति दे, प्रभु के साथ मेलवाले त्यागी पुरुष शान्ति दें। दिव्य, पार्थिव व अन्तरिक्ष के पदार्थ हमारे लिए शान्तिकर हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अजः एकपाद् देवः

शं नो॑ अ॒ज एक॑पाद्दे॒वो अ॑स्तु॒ शमहि॑र्बु॒ध्न्य१॒ः शं स॑मु॒द्रः।
शं नो॑ अ॒पां नपा॑त्पे॒रुर॑स्तु॒ शं न॒ः पृश्नि॑र्भवतु दे॒वगो॑पा ॥ ३ ॥

१. **नः**=हमारे लिए **अजः**=गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाला **एकपात्**=अद्वितीय गतिवाला **देवः**=प्रकाशमय सूर्य **शम्**=शान्ति दे। **अहिर्बुध्न्यः**=अहीन बुध्नवाला—जिसका मूल नष्ट नहीं होता—ऐसा यह वायु **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो। **समुद्रः शम्**=यह अन्तरिक्ष का समुद्र 'मेघ' शान्ति दे। २. **अपां नपात्**=प्रजाओं को न नष्ट होने देनेवाला यह **पेरुः**=पालक अग्नि (fire) **नः शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। **देवगोपा**=देवों का रक्षण करनेवाली **पृश्निः**=सब रसों का स्पर्श करनेवाली यह पृथिवी **नः शं भवतु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। इस पृथ्वी पर जो भी व्यक्ति देववृत्ति के बनकर चलते हैं, यह पृथिवी उनका रक्षण करती ही है।

भावार्थ—'सूर्य, वायु, मेघ, अग्नि व पृथिवी' ये सब हमारे लिए शान्तिकर हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेदज्ञान का श्रवण व सेवन

आ॒दि॒त्या रु॒द्रा वस॑वो जुषन्तामि॒दं ब्रह्म॑ क्रि॒यमा॑णं॒ नवी॑यः।
शृ॒ण्वन्तु॑ नो दि॒व्याः पार्थि॑वासो॒ गोजा॑ता उ॒त ये य॒ज्ञिया॑सः ॥ ४ ॥

१. **आदित्याः**=४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक अध्ययन करनेवाले 'आदित्य' विद्वान्, **रुद्राः**=४४ वर्ष तक अध्ययन करनेवाले ये 'रुद्र' तथा **वसवः**=२४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का धारण करनेवाले ये 'वसु' **इदम्**=इस **क्रियमाणम्**=प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले **नवीयः**=स्तुत्य **ब्रह्म**=वेदज्ञान को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। २. **नः**=हममें से **दिव्याः**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले, **पार्थिवासः**=शरीररूप पृथिवी के स्वामी, **गोजाताः**=ज्ञान की वाणियों के अनुभव के लिए ही मानो जिनका जन्म हुआ है **उत**=और **ये**=जो **यज्ञियासः**=यज्ञियवृत्ति के हैं, वे सब इस वेदज्ञान को **शृण्वन्तु**=सुनें। वेदज्ञान ही पवित्रता व शान्ति देनेवाला है।

भावार्थ—हम सब वेदज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करें—इसी का प्रीतिपूर्वक सेवन करें। इसी को सुनने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उरुगायम्

ये दे॒वाना॑मृ॒त्विजो॑ य॒ज्ञिया॑सो॒ मनो॒र्यज॑त्रा अ॒मृता॑ ऋत॒ज्ञाः।
ते नो॑ रासन्तामुरुगा॒यम॒द्य यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ॥ ५ ॥

१. **ये**=जो **देवानाम्**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **ऋत्विजः**=समय-समय पर प्रभु का पूजन करनेवाले हैं, **यज्ञियासः**=यज्ञशील हैं, **मनोः**=उस ज्ञानस्वरूप प्रभु का **यजत्राः**=संगतिकरण करनेवाले हैं, **अमृताः**=विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले हैं, **ऋतज्ञाः**=सत्यवेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले हैं, **ते**=वे **नः**=हमारे लिए **अद्य**=आज **उरुगायम्**=इस विशाल गाने योग्य वेदज्ञान को **रासन्ताम्**=दें। इस ज्ञान के द्वारा वे हमें भी 'ऋत्विज्, यज्ञिय, मनोर्यजत्र, अमृत व ऋतज्ञ' बनाएँ। २. हे विद्वानो! **यूयम्**=आप **स्वस्तिभिः**=उत्तम कल्याण के मार्गों के द्वारा **नः**=हमें **सदा**=सदा **पात**=रक्षित करो।

भावार्थ—हमें 'देववृत्तिवाले, प्रभु के पूजक, यज्ञशील, नीरोग' ज्ञानी पुरुषों का संग प्राप्त हो। वे हमें भी ज्ञान देते हुए कल्याण के मार्ग से ले-चलें। इसप्रकार हमारा सदा कल्याण व रक्षण हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गाधम्, प्रतिष्ठाम्

तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम्।
अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय॥ ६॥

१. हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **तत्**=गतमन्त्र में वर्णित वह 'उरुगाय' (विशाल वेदज्ञान) **अस्तु**=हमें प्राप्त हो। **अग्ने**=हे अग्रणी—आगे बढ़ने की भावने! **तत्** (अस्तु)=हमें वेदज्ञान प्राप्त हो। इस वेदज्ञान ने ही वस्तुतः हमें 'मित्र-वरुण-व अग्नि' बनाना है। **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **इदम्**=यह ज्ञान **शम्**=शान्ति देनेवाला व **योः**=भयों को दूर करनेवाला **अस्तु**=हो। यह हमारे लिए **शस्तम्**=प्रशस्त हो—यह हमारे जीवनों को उत्तम बनाए। २. इस वेदज्ञान से ही हम **गाधम्**=इष्ट ऐश्वर्य को (गाध्=लिप्सा) **उत्**=और **प्रतिष्ठाम्**=प्रतिष्ठा को **अशीमहि**=प्राप्त करें। हम उस-उस **दिवे**=प्रकाशमय **बृहते**=विशाल **सादनाय**=सबके आश्रयभूत प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार करें।

भावार्थ—स्नेह, निर्द्वेषता व प्रगति की भावना को अपनाकर हम अपने ज्ञान को बढ़ाएँ। यह ज्ञान हमें इष्ट ऐश्वर्य व प्रतिष्ठा प्राप्त कराए। हम प्रातः-सायं उस महान् आश्रय प्रभु के प्रति नतमस्तक हों।

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मार्गदर्शिका उषा

उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमा सुवीराः॥ १॥

१. **उषाः**=उषा **स्वसुः**=अपनी बहिन के समान इस रात्रि के **तमः**=अन्धकार को **अप** (वर्तयति)=दूर कर देती है और **सुजातता**=अपने उत्तम प्रादुर्भाव से **वर्तनिम्**=मार्ग को **संवर्तयति**=सम्यक् प्रवृत्त करती है—यह मार्ग दिखलाती है। २. मार्गों को दिखलाती हुई **अया**=(अनया) इस उषा से **देवहितम्**=देवों के अन्दर स्थापित किये गये **वाजम्**=बल को **सनेम**=प्राप्त करें। हमें शक्ति प्राप्त हो और यह देवों की शक्ति हो, न कि असुरों की (शक्तिः परेषां परिरक्षणाय, न तु परिपीडनाय)। इसप्रकार शक्ति को प्राप्त करके **सुवीराः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले होते हुए **शतहिमाः**=शतवर्षपर्यन्त **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—उषा से मार्ग का ज्ञान प्राप्त करते हुए हम उस मार्ग का आक्रमण करें। इसप्रकार शान्ति प्राप्त करके, उत्तम वीर सन्तानोंवाले हम शतवर्षपर्यन्त आनन्दयुक्त जीवनवाले हों।

यह शक्तिशाली व्यक्ति युद्ध में पराजित न होनेवाला 'अप्रतिरथ' (a match-less warrior) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्र की भुजाएँ

इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू।
तौ योक्षे प्रथमो योग आगते याभ्यां जितमसुराणां स्व१र्यत्॥ १॥

१. **इन्द्रस्य**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले इस सेनापति की **बाहू**=भुजाएँ **स्थविरौ**=स्थिर बलवाली हैं, **वृषाणौ**=शक्तिशाली हैं, **चित्रा**=अद्भुत हैं, **इमा वृषभौ**=ये प्रजाओं पर सुखों का वर्षण करनेवाली हैं, **पारयिष्णू**=शत्रुओं से पार प्राप्त करानेवाली हैं। २. **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला मैं **योगे आगते**=अवसर के आने पर **तौ योक्षे**=जन भुजाओं का प्रयोग करता हूँ, **याभ्याम्**=जिन भुजाओं से **असुराणां यत् स्वः**=असुरों का जो सुख है, वह **जितम्**=जीत लिया जाता है। मेरी इन भुजाओं के व्यापृत होने पर असुर सुख से नहीं रह पाते।

भावार्थ—हमारा सेनापति शक्तिशाली हो। अवसर आने पर उसकी भुजाएँ शत्रु-सैन्य के सुख को समाप्त करनेवाली हों।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

एकवीरः

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः॥ २॥

१. अद्वितीय वीर वह है जोकि शत्रुओं का पराजय करता है। यह **आशुः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला—स्फूर्तिमय जीवनवाला होता है। **शिशानः**=अपनी बुद्धि को बड़ा तीव्र बनाता है। **वृषभः**=वृषभ के समान शक्तिशाली होता है, परन्तु **न भीमः**=भयंकर नहीं होता। इसमें शक्ति होती है, परन्तु उसके साथ सौम्यता भी होती है। **घनाघनः**=यह काम आदि शत्रुओं का अच्छी प्रकार संहार करनेवाला होता है। **चर्षणीनां क्षोभणः**=यह मनुष्यों के जीवन में भी प्रेरणा देकर हलचल मचा देता है। २. **संक्रन्दनः**=सदा प्रभु के नाम का सम्यक् आह्वान करनेवाला होता है, **अनिमिषः**=सदा सावधान होता है—प्रमाद में नहीं चला जाता। यह **एकवीरः**=अद्वितीयवीर **इन्द्रः**=अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है। यह **शतं सेनाः साकम् अजयत्**=वासनाओं की शतशः सेनाओं को साथ-साथ जीत लेता है।

भावार्थ—हम सदा कर्मों में व्याप्त रहकर प्रभु का स्मरण करते हुए, कभी प्रमाद न करते हुए काम-क्रोध आदि शतशः शत्रु-सैन्यों का पराजय करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अनिमिष

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुनाऽयोध्येन दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥ ३॥

१. हे **युधः**=काम-क्रोध आदि से युद्ध करनेवाले **नरः**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले मनुष्यो! **इन्द्रेण**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाली आत्मा से **तत्**=इस शत्रु-सैन्य को **जयत**=जीतनेवाले बनो। **तत्**=उस शत्रुसैन्य को **सहध्वम्**=कुचल डालो। २. कैसे इन्द्र से? **संक्रन्दनेन**=प्रभु का आह्वान करनेवाले, **अनिमिषेण**=कभी पलक न मारनेवाले—सदा जागरित, अप्रमत्त आत्मा से, **जिष्णुना**=सदा विजयशील से, **अयोध्येन**=जिससे युद्ध करना कठिन है—उस आत्मा से **दुश्च्यवनेन**=युद्ध से पराङ्मुख न किये जानेवाले से, **धृष्णुना**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले से, **इषुहस्तेन**=(इष् प्रेरणे) प्रभु-प्रेरणा को जिसने हाथों में लिया हुआ है—प्रभु-प्रेरणा के अनुसार जो कार्य कर रहा है, उससे, **वृष्णा**=शक्तिशाली से, ऐसी आत्मा के द्वारा तुम शत्रु-सैन्य का विजय करो।

भावार्थ—हम प्रभु का आह्वान करते हुए प्रभु-प्रेरणा के अनुसार कार्य करते हुए शक्तिशाली बनें और वासना-संग्राम में विजयी बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

असंग शस्त्रेण दृढेन छित्वा

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्यु१ग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ४ ॥

१. **सः**=वह उपासक **इषुहस्तैः**=प्रेरणारूप हाथों से (इष् प्रेरणे) **निषङ्गिभिः**=(निश्चय संग=आसक्ति) अनासक्ति के भावों से युक्त हुआ-हुआ **वशी**=इन्द्रियों को वश में करनेवाला, **गणेन संस्रष्टा**=समाज के साथ मेल करनेवाला—अपना अकेला जीवन न बितानेवाला **सः**=वह **युधः**=वासनाओं के साथ युद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता **संस्रष्टजित्**=सब संसर्गों को—विषयसम्पर्कों को जीतनेवाला होता है। २. विषयसम्पर्कों को जीतकर यह **सोमपाः**=अपने अन्दर सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाल होता है। **बाहुशर्धी**=यह सोमपा बनकर प्रजाओं के साथ पराक्रम करनेवाला होता है। **उग्रधन्वा**=यह 'प्रणव' रूप उग्र धनुष्वाला होता है। प्रणव का जप करता है और **प्रतिहिताभिः** (प्रत्याहृताभिः) इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने की क्रियाओं के द्वारा यह **अस्ता**=शत्रुओं को परे फेंकनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अनासक्ति के द्वारा विषय-संगों को जीतने का प्रयत्न करें। इन्द्रियों को विषय-व्यावृत्त करते हुए काम-क्रोध आदि शत्रुओं को दूर भगानेवाले हों।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

जैत्ररथ का आरोहण

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोविदन् ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र का उपासक **बलविज्ञायः**=बल के कारण प्रसिद्ध होता है (Known for his vigour) **गोविदन्**=वेदवाणियों का ज्ञाता बनकर **जैत्रं रथम् आतिष्ठ**=विजयशील शरीर-रथ पर आसीन हो। तुझमें बल व ज्ञान का समन्वय हो—यह समन्वय तुझे विजयी बनाए। **अभिवीरः अभिषत्वा (सत्वा)**=तू वीरता की ओर चलनेवाला हो और सत्त्वगुण की ओर चलनेवाला हो—ज्ञान की ओर। तूने वीरता व ज्ञान दोनों को अपनाना है। २. **स्थविरः**=स्थिरमति का बनना है और **प्रवीरः**=खूब वीर बनना है। **सहस्वान्**=ज्ञानी बनकर सहनशक्तिवाला (Toleration) बनना है और **वाजी**=शक्तिशाली होना है। **सहमानः**=ज्ञान के द्वारा सहनशक्तिवाला व **उग्रः**=तेजस्वी

बनना है। संक्षेप में **सहोजित्**=तूने सहस् के द्वारा शत्रुओं का विजेता होना है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में बल व ज्ञान का समन्वय करते हुए सदा विजयी बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'इन्द्रम्' अनु हर्षध्वम्, अनुसंरभध्वम्

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा॥ ६॥

१. हे **सखायः**=मित्रो! **इमं वीरम्**=इस वीर **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु की **अनुहर्षध्वम्**=अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करो और **अनुसंरभध्वम्**=इस प्रभु की अनुकूलता में ही सम्यक् उद्योगवाले बनो। २. ये प्रभु ही तुम्हारे लिए **ग्रामजितम्**=इन्द्रिय-समूह का विजय करनेवाले हैं। ये ही **गोजितम्**=ज्ञान की वाणियों का विजय करनेवाले हैं और **वज्रबाहुम्**=शत्रुओं के पराभव के लिए हाथों में वज्र लिये हुए हैं। ये तुम्हारे लिए **अज्म जयन्तम्**=संग्राम को जीतनेवाले व **ओजसा प्रमृणन्तम्**=ओजस्विता से शत्रुओं को कुचल देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की अनुकूलता में हम हर्ष का अनुभव करें—वीरतापूर्ण कर्मों को करें। प्रभु हमारे लिए इन्द्रियों का विजय करेंगे, हमें ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराएँगे। प्रभु ही हमें संग्रामों में विजयी बनाएँगे।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गाहमानः अदायः

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोदाय उग्रः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्यो३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु॥ ७॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **गोत्राणि**=धनों को **सहसा**=अपने बल से—पुरुषार्थ से **अभिगाहमानः**=सर्वतः अवगाहन करता हुआ, उन्हें सब सुपथों से प्राप्त करता हुआ **अदायः** (देङ् रक्षणे)=अपने पास उन धनों को सुरक्षित नहीं किये रहता। यह इन्द्र धनों को कमाता है, उनमें अवगाहन करता है (rolls in wealth), परन्तु उन्हें जोड़कर अपने पास नहीं रक्खे रहता। इसी से यह **उग्रः**=तेजस्वी बनता है और **शतमन्युः**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाला होता है। धन के प्रति आसक्ति शक्ति व प्रज्ञान को विनष्ट करती है। २. **दुश्च्यवनः**=धर्म-मार्ग से आसानी से न हटाया जा सकनेवाला यह इन्द्र **पृतनाषाट्**=शत्रुसैन्यों का पराभव करता है। **अयोध्यः**=काम-क्रोध आदि इसे कभी युद्ध में जीत नहीं पाते। प्रभु कहते हैं कि यह इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष) **प्रयुत्सु**=इन अध्यात्म-संग्रामों में **अस्माकं सेनाः अवतु**=हमारी दिव्यगुणों की सेनाओं को सुरक्षित करे। धनासक्ति के अभाव में ही दिव्यगुणों का रक्षण सम्भव है।

भावार्थ—हम कमाएँ, परन्तु उन धनों को जोड़े नहीं। इनका यज्ञादि उत्तम कर्मों में विनियोग करते हुए अपने में दिव्यगुणों का वर्धन करें।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऊपर और ऊपर

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जञ्छत्रून्प्रमृणन्नमित्रानस्माकमेध्यविता तनूनाम्॥ ८॥

१. प्रभु जीव को प्रेरणा देते हैं कि **बृहस्पते**=हे ज्ञान के स्वामिन्! तू **रथेन**=इस शरीररूप

रथ के द्वारा **परिदीया** (दी=to shine)=चमकनेवाला बन और आकाश में उड़नेवाला (दी=to sour) बन—उन्नतिपथ पर आगे बढ़। तूने उन्नत होते-होते ऊर्ध्वादिक् का अधिपति बनना है। **रक्षोहा**=राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाला बन। **अमित्रान् अपबाधमानः**=न स्नेह—विद्वेष की भावनाओं को दूर करता हुआ तू चल। २. **शत्रून्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **प्रभञ्जन्**=दूर भगाता हुआ **अमित्रान् प्रमृणन्**=विद्वेष की भावनाओं को कुचलता हुआ **अस्माकम्**=हमसे दिये गये इन **तनूनाम्**=शरीर-रथों का **अविता एधि**=रक्षक बन। द्वेष आदि की भावनाएँ इस शरीर-रथ को असमय में ही जीर्ण-शीर्ण न कर दें।

भावार्थ—हम द्वेष आदि से दूर रहते हुए शरीर-रथ का रक्षण करें। इसके द्वारा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते हुए उन्नति के शिखर पर पहुँचें। ऊर्ध्वादिक् के अधिपति बृहस्पति बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवसेनाएँ

इन्द्र॑ एषां॒ ने॒ता बृह॒स्पति॒र्दक्षि॑णा य॒ज्ञः पु॒र ए॑तु॒ सोम॑ः।
दे॒व॒से॒नाना॑मभिभञ्जती॒नां जय॑न्तीनां म॒रुतो॑ यन्तु॒ मध्ये॑॥ ९॥

१. **देवसेनानाम्**=दैवी सम्पत्ति में गिने जानेवाले दिव्यगुणों की सेनाओं के, **अभिभञ्जतीनाम्**=जो चारों ओर आसुरभावनाओं का भंग कर रही हैं और **जयन्तीनाम्**=आसुरवृत्तियों पर विजय पा रही हैं, उनके **मध्ये**=मध्य में **मरुतः**=प्राणों की साधना करनेवाले मनुष्य चलें। ये देवसेनाएँ सदा प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यों के पीछे चला करती हैं। प्राणायामैर्दहेद् दोषान्—प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष क्षीण हो ही जाते हैं। मानसमलों के नष्ट होने से आसुरप्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। क्रोध का स्थान करुणा ले-लेती है, काम प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। लोभ का स्थान सन्तोष व त्याग को मिल जाता है। यही देवसेनाओं की आसुरसेनाओं पर विजय है। २. **इन्द्रः एषां नेता**=इन दिव्यगुणों का सेनापति (नेता) इन्द्र है। यह इन्द्रियों का अधिष्ठाता, इन्द्रियों को वश में करके आसुरप्रवृत्तियों को दूर भाग देता है। सब इन्द्रियों से भोगों को भोगनेवाला दशानन तो राक्षससेनाओं का मुखिया है। ३. इन देवसेनाओं के **पुरः**=आगे ये **एतु**=चलें ३. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी। ज्ञानाग्नि ही तो कामादि को भस्म करती है। ४. **दक्षिणा**=दान की वृत्ति। यह लोभ को समाप्त करके पापों को ही नष्ट कर देती है, इसीलिए देव सदा दानशील हैं 'देवो दानात्'। ५. **यज्ञः**=यज्ञ की मौलिक भावना निःस्वार्थ कर्म हैं, इसीलिए यज्ञ में अपवित्रता का स्थान नहीं। ६. **सोमः**=सौम्यता। यह सौम्यता—नातिमनिता—देवी सम्पत्ति का चरमोत्कर्ष है। सोम का अर्थ वीर्य भी है। दिव्यगुणों के वर्धन के लिए सोम-रक्षण आवश्यक ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना सब दिव्यगुणों का केन्द्र है। दिव्यगुणों के वर्धन के लिए इन्द्र=जितेन्द्रिय बनना आवश्यक है। इसके साथ 'ज्ञान-दान-यज्ञ-सौम्यता व सोम (वीर्य) रक्षण' दिव्यगुणों के वर्धन के लिए आवश्यक हैं।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवों के तीन महारथी

इन्द्र॑स्य॒ वृष्णो॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ आदि॒त्यानां॑ म॒रुतां॒ शर्ध॑ उ॒ग्रम्।
म॒हाम॑नसां भुवनच्य॒वानां॒ घोषो॑ दे॒वानां॒ जय॑ता॒मुद॑स्थात्॥ १०॥

१. **वृष्णः इन्द्रस्य**=शक्तिशाली जितेन्द्रिय पुरुष का, **राज्ञः वरुणस्य**=अति नियमित जीवनवाले वरुण का, जिसने सब बुराइयों का वारण किया है, उस वरुण का **आदित्यानां मरुताम्**=(आदानात्

आदित्यः, मरुतः प्राणम्) अपने अन्दर उत्तमता का निरन्तर ग्रहण करनेवाले प्राणसाधक मरुतों का **शर्धः**=बल **उग्रम्**=बड़ा उदात्त व तीव्र होता है। २. ये 'इन्द्र व मरुत्' देवसेनाओं के मुखिया हैं। इस **महामनसाम्**=विशाल मनवाले, **भुवनच्यवानाम्**=भुवनों का भी त्याग करनेवाले, लोकहित के लिए अधिक-से-अधिक त्याग करने के लिए उद्यत **जयताम्**=आसुरभावनाओं को पराजित करनेवाले **देवानाम्**=देवों का **घोषा**=विजयघोष **उदस्थात्**=मेरे जीवन में सदा उठे। मेरे जीवन में सदा देवों का विजय हो और असुरों का पराजय।

भावार्थ—मैं 'इन्द्र बनूँ, वरुण बनूँ, मरुत् बनूँ'। हृदय को विशाल बनाऊँ, सदा त्याग के लिए उद्यत रहूँ।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

चार बातें

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मान्देवासोऽवता हवेषु॥ ११॥

१. **ध्वजेषु समृतेषु**=ध्वजाओं को ठीक प्रकार से प्राप्त कर लेने पर **अस्माकम्**=हम आस्तिक बुद्धिवालों का **इन्द्रः**=परमात्मा हो। हम उस प्रभु को ही अपना आश्रय मानकर चलें। 'ध्वजा' एक लक्ष्य का प्रतीक है और जब हम इस लक्ष्य को बना लें तब उस समय प्रभु को अपना आश्रय बनाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाएँ। यह प्रभु का आश्रय हमें निरुत्साहित न होने देगा। २. **अस्माकम्**=हम आस्तिक वृत्तिवालों की **याः**=जो **इषवः**=प्रेरणाएँ हैं, **ताः**=वे प्रभु की प्रेरणाएँ—अन्तःस्थित प्रभु से दिये जा रहे निर्देश **जयन्तु**=सदा विजयी हों। हम सदा इनके अनुसार ही काम करें। ३. **अस्माकम्**=हम आस्तिकवृत्तिवालों की **वीराः**=वीरत्व की भावनाएँ—न कि कायरता की प्रवृत्तियाँ **उत्तरे भवन्तु**=उत्कृष्ट हों—प्रबल हों। हमारे सब कार्य वीरता का परिचय दें। ४. हे **देवासः**=देवो! **अस्माकम्**=हम आस्तिकों को **हवेषु**=संग्रामों में **अवता**=रक्षित करो।

भावार्थ—जीवन में लक्ष्य को ओझल न होने देते हुए हम प्रभु को अपना आश्रय समझें। प्रभु-प्रेरणाओं के अनुसार हमारा जीवन चले। हम वीरत्व की भावनावाले हों। अध्यात्मसंग्रामों में देवों की रक्षा के पात्र हों।

प्रभु-प्रेरणा के अनुसार जीवन को चलाता हुआ—लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ यह व्यक्ति 'अथर्वा' है—न डाँवाडोल होनेवाला। यह अथर्वा १४ से २० सूक्त तक के मन्त्रों का ऋषि है—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अद्वेष व अभय

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥ १॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-स्मरणपूर्वक निरन्तर आगे बढ़ने पर मैं **इदम्**=इस **उत् श्रेयः अवसानम्**=उत्कृष्ट कल्याण की अन्तिम स्थिति—मोक्षलोक को **आगाम्**=प्राप्त हुआ हूँ। जीवन्मुक्त की स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ। **मे**=मेरे लिए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **शिवे अभूताम्**=कल्याणकर हुए हैं। २. **मे**=मेरे लिए **प्रदिशः**=ये प्रकृष्ट विशाल दिशाएँ **असपत्नाः**=शत्रुरहित **भवन्तु**=हों। हे प्रभो! हम **त्वा**=आपका **वै**=निश्चय से **न द्विष्मः**=द्वेष नहीं करते। किसी

भी व्यक्ति से द्वेष वस्तुतः अन्तःस्थित आपसे ही द्वेष होता है। हम किसी भी प्राणी से द्वेष नहीं करते। हे प्रभो! इसप्रकार 'अद्वेष' की भावना को अपनाने पर **नः**=हमारे लिए **अभयम् अस्तु**=निर्भयता हो। द्वेष में ही भय है। अद्वेष के होने पर अभय होता ही है।

भावार्थ—हम जीवन्मुक्त की स्थिति को प्राप्त करें। द्यावापृथिवी हमारे लिए कल्याणकर हों। हम निर्द्वेष बनें और परिणामतः निर्भय हों।

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥

द्वेषी व शत्रुओं का विनाश

यत॑ इन्द्र भया॑महे॒ ततो॑ नो॒ अभ॑यं कृधि।
मघ॑वञ्छ॒ग्धि तव॒ त्वं न॑ ऊ॒तिभि॒र्वि द्वि॒षो॒ वि मृधो॑ जहि॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हम **यतः भयामहे**=जहाँ से भी भय का अनुभव करते हैं, **ततः**=वहाँ से **नः**=हमें **अभयं कृधि**=निर्भय कीजिए। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **शग्धि**=आप ही शक्तिशाली हैं, आप ही हमें अभय कर सकते हैं। **त्वम्**=आप **तव ऊतिभिः**=आपके रक्षणों के द्वारा **नः**=हमारे **विद्विषः**=विद्वेष करनेवालों को तथा **मृधः**=(murder) हत्या करनेवाले शत्रुओं को **विजहि**=सुदूर विनष्ट कीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें अभय करें। हमारे द्वेषी शत्रुओं को सुदूर विनष्ट करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अनूराध इन्द्र का आह्वान

इन्द्रं॑ व॒यम॑नूरा॒धं ह॑वाम॒हेऽनु॑ राध्यास्म द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा।
मा न॒ः सेना॒ अर॑रुषी॒रुप॑ गु॒र्विषू॑चीरिन्द्र द्रु॒हो वि ना॑शय॥ २॥

१. **वयम्**=हम **अनूराधम्**=अनुकूलता से सिद्धियों को प्राप्त करानेवाले **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं। हम इस जीवन में **द्विपदा**=दो पाँववाली अपनी वीरसन्तानों से तथा **चतुष्पदा**=चार पाँववाले गवादि पशुओं से **अनुराध्यास्म**=एक के बाद दूसरी—निरन्तर सिद्धियों को प्राप्त करें। हमारे सब कार्य अनुकूलता से सिद्ध होनेवाले हों। २. **नः**=हमें **अररुषीः**=अदान की वृत्तिवाली लोभ आदि आसुरभावों की **सेनाः**=सेनाएँ **मा उपगुः**=मत समीपता से प्राप्त हों। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **विषूचीः**=विविध दिशाओं में गतिवाली—नानारूपों में प्रकट होनेवाली **द्रुहः**=द्रोह की भावनाओं को **विनाशय**=आप नष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—हम द्वेष से—द्रोह की भावना से दूर रहते हुए, अदान की वृत्ति से ऊपर उठकर 'अनूराध' इन्द्र का आराधन करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पथ्यापङ्क्तिः**॥

त्राता-वृत्रहा

इन्द्र॑स्त्रा॒तोत वृ॑त्र॒हा प॑र॒स्फानो॒ वरे॑ण्यः।
स र॑क्षि॒ता च॑र॒म॒तः स म॑ध्य॒तः स प॒श्चात्स पु॒रस्ता॑न्नो अस्तु॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=वह शत्रुविद्रावक, सर्वशक्तिमान् प्रभु **त्राता**=हम सबका रक्षक है—प्रभु ही हमें रोगों के आक्रमण से बचाते हैं **उत**=और प्रभु ही **वृत्रहा**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली वासनाओं को नष्ट करते हैं। इसप्रकार वे प्रभु **परस्फानः**=अत्यन्त उत्कृष्ट (पर) वृद्धि को

करनेवाले हैं (स्फायी वृद्धौ), **वरेण्यः**=अतएव वरण के योग्य हैं। २. **सः**=वे प्रभु **चरमतः**=अन्त से **रक्षिता**=हमारा रक्षण करनेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु ही **मध्यतः**=मध्य से रक्षण करनेवाले हैं और **सः**=वे प्रभु **पश्चात्**=पीछे से व **सः**=वे प्रभु ही **पुरस्तात्**=आगे से **नः**=हमारे (रक्षिता) **अस्तु**=रक्षक हों।

भावार्थ—प्रभु अपने आराधकों को रोगों से बचाते हैं, उनकी वासनाओं का विनाश करते हैं। इसप्रकार उनका वर्धन करते हैं, अतएव वे प्रभु 'वरेण्य' हैं। वे प्रभु हमारे सर्वतः रक्षक हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सुख, प्रकाश, निर्भयता व कल्याण' वाला लोक

उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्व१र्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।
उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप क्षयेम शरणा बृहन्ता॥ ४॥

१. **विद्वान्**=ज्ञानमय प्रभु! **नः**=हमें **उरुं लोकम् अनुनेषि**=क्रमशः विशाललोक में ले-चलते हैं। हमें उत्तम प्रेरणा देते हुए विशाललोक को प्राप्त कराते हैं। **यत्**=जो लोक **स्वः**= सुखवाला है, **ज्योतिः**=प्रकाशमय है, **अभयम्**=भयरहित है तथा **स्वस्तिः**=उत्तम कल्याणमयी स्थितिवाला है। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **स्थविरस्य**=सनातन पुरुष **ते**=तेरी **बाहु**=भुजाएँ **उग्रा**=अतिशयेन तेजस्विनी हैं। हम इन **बृहन्ता**=विशाल व हमारी वृद्धि की कारणभूत **शरणा**= हमारा आश्रय बननेवाली भुजाओं की छत्रछाया में ही **उपक्षयेम**=निवास करें।

भावार्थ—प्रभु हमें सतत प्रेरणा देते हुए 'विशाल सुख, प्रकाश, निर्भयता व कल्याण' वाले लोक में ले-चलते हैं। हम प्रभु की भुजाओं की छाया में ही निवास करें। ये भुआएँ ही हमारी सर्वमहान् शरण हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'त्रिलोकी व चारों दिशाओं' से अभय

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥ ५॥

१. **नः**=हमारे लिए **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **अभयं करति**=निर्भयता करता है। **इमे**=ये **उभे**=दोनों **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **अभयम्**=निर्भयता करते हैं। २. **नः**=हमारे लिए **पश्चात्**=पीछे से **अभयम्**=निर्भयता हो। **पुरस्तात्**=आगे से **अभयम्**=अभय हो तथा **उत्तरात्**=ऊपर से व **अधरात्**=नीचे से **अभयम् अस्तु**=निभर्यता हो। पश्चिम व पूर्व तथा उत्तर व दक्षिण सर्व दिशाओं से हमें अभय हो।

भावार्थ—हमें त्रिलोकी व दिक्चतुष्टय सभी निर्भयता प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'मित्र व अमित्र' सभी से अभय

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं नो परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ ६॥

१. **मित्रात् अभयम्**=मित्र से हमें अभय हो। **अमित्रात् अभयम्**=शत्रु से अभय प्राप्त हो। **ज्ञातात्**=ज्ञात—परिचित से **अभयम्**=अभय हो और **परोक्षात्**=जो परोक्ष है, उससे भी **नः**=हमें

अभयम्=अभय हो। २. **नक्तम् अभयम्**=रात्रि में अभय हो। **नः**=हमारे लिए **दिवा**=दिन में **अभयम्**=अभय हो। **सर्वाः आशाः**=सब दिशाएँ **मम**=मेरी **मित्रं भवन्तु**=मित्र हों।

भावार्थ—मित्र-अमित्र, परिचित व अपरिचित सभी से हमें अभय हो। रात व दिन में हमें सदा अभय हो। सब दिशाओं में सर्वत्र हमें स्नेह प्राप्त हो।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

असपत्नम्—अभयम्

असपत्नं पुरस्तात्पश्चान्नो अभयं कृतम्।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥ १ ॥

१. **नः**=हमारे लिए **पुरस्तात्**=सामने से **असपत्नम्**=शत्रुराहित्य **कृतम्**=किया जाए और **पश्चात्**=पीछे से (नः) हमारे लिए **अभयं कृतम्**=निर्भयता प्राप्त कराई जाए। २. **सविता**= वह सर्वप्रेरक प्रभु **मा**=मुझे **दक्षिणतः**=दक्षिण से रक्षित करे तथा **शचीपतिः**=सब शक्तियों व प्रज्ञानों का स्वामी प्रभु मुझे **उत्तरात्**=उत्तर से बचाये।

भावार्थ—हमें पूर्व से शत्रुराहित्य प्राप्त हो तो पश्चिम से निर्भयता मिले। दक्षिण से सविता मेरा रक्षक हो तो उत्तर से शचीपति मेरा रक्षण करे।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—सप्तपदाबृहतीगर्भातिशक्वरी ॥

स्वाध्याय द्वारा सरल जीवन

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म ॥ २ ॥

१. **दिवः**=इस द्युलोक के **आदित्याः**=रश्मिभेद से उदय होने से बारह नामोंवाले ये आदित्य **मा रक्षन्तु**=मुझे रक्षित करे तथा **भूम्याः**=इस पृथिवी की **अग्नयः**='गार्हपत्य, दक्षिनाग्नि, आहवनीय' आदि अग्नियाँ **रक्षन्तु**=रक्षित करें। २. **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के देव **मा**=मुझे **पुरस्तात्**=आगे से **रक्षताम्**=रक्षित करें। **अश्विनौ**=प्राणापान **अभितः**=दोनों ओर से—शरीर व मन दोनों के दृष्टिकोण से **शर्म**=कल्याण **यच्छताम्**=दें। शरीर को ये नीरोग बनाएँ और मन को पवित्र। ३. **जातवेदाः**=जिससे ज्ञान की उत्पत्ति होती है वह **अघ्न्या**=अहन्तव्य—सदा स्वाध्याय के योग्य वेदवाणी **तिरश्चीन् रक्षतु**=(तिरः अञ्च्) टेढ़ी चालों को हमसे दूर रक्खे। हम स्वाध्याय के द्वारा कुटिलता से दूर होकर आर्जव के मार्ग को अपनाएँ। **भूतकृतः**=यथार्थ कर्मों के करनेवाले माता-पिता, आचार्य **सर्वतः**=सब ओर से **मे**=मेरे **वर्म सन्तु**=कवच हों। इनकी शरण में सुरक्षित हुआ-हुआ मैं बाल्य, यौवन में अपना ठीक परिपाक कर पाऊँ।

भावार्थ—द्युलोक के आदित्य व पृथिवी की अग्नियाँ मेरा रक्षण करें। बल व प्रकाश हमारे रक्षक हों। प्राणसाधना हमें स्वस्थ शरीर व निर्मल मनवाला बनाए। स्वाध्याय हमें सरलवृत्ति प्राप्त कराए तथा उत्तम माता-पिता व आचार्य कवच के समान हमारे रक्षक हों।

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

'अग्नि' वसुओं के साथ पूर्व में

अ॒ग्निर्मा॑ पातु॒ वसु॑भिः पु॒रस्ता॒त्तस्मि॒न्क्रमे॒ तस्मि॒ञ्छ्र॑ये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥ १॥

१. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु—हमें निरन्तर आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभु **मा**=मुझे **वसुभिः**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों के साथ **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा की ओर से **पातु**=रक्षित करें। मैं उस प्रभु को सामने स्थित अनुभव करूँ जोकि मुझे प्रेरणा देते हुए आगे ले-चले रहे हैं और निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों को प्राप्त करा रहे हैं। २. **तस्मिन् क्रमे**=उस प्रभु में स्थित होता हुआ मैं गतिशील होता हूँ। **तस्मिन् श्रये**=उसी में आश्रय करता हूँ और इसप्रकार **तां पुरं प्रैमि**=उस ब्रह्मनगरी की ओर (प्र) निरन्तर बढ़ता हूँ। **सः**=वह प्रभु **मा रक्षतु**=मुझे रोगों से बचाए। **सः**=वे प्रभु **मा**=मुझे **गोपायतु**=मन में वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित करे। **तस्मा**=उस प्रभु के लिए **आत्मानं परिददे**=अपने को दे डालता हूँ। **स्वाहा**=(स्व आ हा) अपने को सर्वथा उस प्रभु में त्याग देता हूँ। प्रभु में अपने को समर्पित कर देता हूँ।

भावार्थ—मैं पूर्व दिशा में उस अग्रणी प्रभु को स्थित अनुभव करूँ, जोकि मुझे निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करा रहे हैं। इस प्रभु की ओर ही, कर्त्तव्यकर्मों के करने के द्वारा बढ़ चलूँ। ब्रह्मपुरी में पहुँचने को अपना लक्ष्य बनाऊँ। प्रभु के प्रति अपने को दे डालूँ। प्रभु में प्रवेश कर जाऊँ, उनकी गोद में पहुँच जाऊँ।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

'वायु' अन्तरिक्ष के साथ पूर्व-दक्षिण के बीच की दिशा में

वा॒युर्मा॒न्तरि॑क्षेणै॒तस्या॑ दि॒शः पा॑तु॒ तस्मि॒न्क्रमे॒ तस्मि॒ञ्छ्र॑ये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥ २॥

१. **वायुः**=(वा गतिगन्धनयोः) निरन्तर गति के द्वारा बुराइयों का संहार करनेवाले वे प्रभु **अन्तरिक्षेण**=हृदयान्तरिक्ष के साथ तथा (अन्तरा क्षि) सदा मध्यमार्ग में चलने की प्रेरणा के साथ **मा**=मुझे **एतस्याः**=इस पूर्व-दक्षिण के बीच की दिशा से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=उस प्रभु में ही मैं गति करूँ। शेष पूर्ववत्०

भावार्थ—मैं पूर्व-दक्षिण के बीच की दिशा में गति के द्वारा बुराइयों का निरन्तर संहार करते हुए 'वायु' नामक प्रभु को अनुभव करूँ। उन्हीं में स्थित हुआ-हुआ गति करूँ।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

'सोम' रुद्र के साथ दक्षिण में

सोमो॑ मा रु॒द्रैर्दक्षि॑णाया दि॒शः पा॑तु॒ तस्मि॒न्क्रमे॒ तस्मि॒ञ्छ्र॑ये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ ददे॒ स्वाहा॑॥ ३॥

१. **सोमः**=ये सौम्य, शान्त प्रभु **रुद्रैः**=रोगों को दूर भगानेवाले (रुत् द्र) सब आवश्यक तत्त्वों के साथ **मा**=मुझे **दक्षिणायाः दिशः**=दक्षिण दिशा से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=उस परमात्मा में स्थित होता हुआ मैं गतिवाला होता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—मैं दक्षिण दिशा में 'सोम' (शान्त) प्रभु की उपस्थिति को देखूँ। ये प्रभु सब

रोगनाशक तत्त्वों को प्राप्त कराके मुझे भी शान्त बनाते हैं। इन्हीं में स्थित हुआ-हुआ मैं गति करूँ।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—जगती॥

आदित्यों के साथ 'वरुण' दक्षिण-पश्चिम के मध्य में

वरु॑णो मादि॒त्यैरे॒तस्या॑ दि॒शः पा॑तु तस्मि॒न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ दद्रे॒ स्वाहा॑॥ ४॥

१. **वरुणः**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले श्रेष्ठ प्रभु **आदित्यैः** (आदानात्)=अच्छाइयों को ग्रहण करने की वृत्तियों के साथ **मा**=मुझे **एतस्याः दिशा**=इस दक्षिण-पश्चिम के बीच की दिशा से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=आदित्यों के साथ होनेवाले वरुण का मैं दक्षिण-पश्चिम के मध्य में ध्यान करूँ और उसमें स्थित हुआ-हुआ कर्त्तव्यकर्मों को करूँ। शेष पूर्ववत्०

भावार्थ—मैं दक्षिण-पश्चिम के मध्य में बुराइयों का निवारण करनेवाले श्रेष्ठ प्रभु का ध्यान करूँ। वे मुझे सब अच्छाइयाँ को प्राप्त करानेवाले हैं। उन्हीं में स्थित होकर मैं गति करूँ।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अतिजगती॥

द्यावापृथिवी के साथ 'सूर्य' पश्चिम में

सूर्यो॑ मा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्यां॑ प्र॒तीच्या॑ दि॒शः पा॑तु तस्मि॒न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ दद्रे॒ स्वाहा॑॥ ५॥

१. (सरति इति) **सूर्यः**=निरन्तर गतिवाले दीप्त प्रभु (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः) **द्यावापृथिवीभ्याम्**=द्युलोक व पृथिवीलोक के साथ—दीप्त मस्तिष्क (द्युलोक) व दृढ़ शरीर (पृथिवी) के साथ **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से **मा**=मुझे **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=उन्हीं में मैं गति करूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—पश्चिम में मैं सूर्यरूप प्रभु को उपस्थित देखूँ। वे मुझे दीप्त मस्तिष्क व दृढ़ शरीर प्राप्त कराते हैं। उन्हीं में मैं गति करूँ।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—भुरिग्जगती॥

ओषधियोंवाले सर्वव्यापक 'अपः' प्रभु पश्चिम-उत्तर के बीच में

आपो॒ मौषधीमतीरे॒तस्या॑ दि॒शः पा॑न्तु॒ तासु॒ क्रमे॒ तासु॒ श्रये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑।
ता मा॑ रक्षन्तु॒ ता मा॑ गोपायन्तु॒ ताभ्य॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ दद्रे॒ स्वाहा॑॥ ६॥

१. **ओषधीमतीः**=विविध ओषधि-वनस्पतियोंवाले **आपः**=सर्वव्यापक 'आपः' नामवाले प्रभु **मा**=मुझे **एतस्याः**=इस पश्चिम-उत्तर के बीच की दिशा से **पान्तु**=रक्षित करें। २. **तासु**=उन 'आपः' नामवाले प्रभु में ही मैं गति करता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक होने से 'आपः' हैं। ये मुझे जीवनधारण के लिए विविध ओषधि व वनस्पतियों को प्राप्त कराते हैं। मैं इन्हें इस पश्चिम-उत्तर के बीच की दिशा में अनुभव करूँ। इन्हीं में गति करूँ।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अतिजगती॥

सप्तऋषियों के साथ 'विश्वकर्मा' उत्तरदिशा में

वि॒श्वक॑र्मा मा सप्तऋ॒षिभि॒रुदी॑च्या दि॒शः पा॑तु तस्मि॒न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्रये॒
तां पुरं॒ प्रैमि॑। स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ दद्रे॒ स्वाहा॑॥ ७॥

१. **विश्वकर्मा**=इस ब्रह्माण्ड के निर्माता प्रभु—सब कर्मों के करनेवाले प्रभु **सप्तऋषिभिः**=सात ऋषियों के साथ **मा**=मुझे **उदीच्याः दिशः**=उत्तरदिशा से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=इन विश्वकर्मा प्रभु में ही मैं गति करता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—मैं उत्तर दिशा में विश्वकर्मा प्रभु का अनुभव करूँ, जोकि दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सात ऋषियों के साथ मेरा रक्षण कर रहे हैं। इन प्रभु में ही मेरी सम्पूर्ण गति हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्राणों के साथ 'इन्द्र' इसी उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा में

इन्द्रो॑ मा म॒रुत्वा॑ने॒तस्या॑ दि॒शः पा॑तु त॒स्मि॑न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्र॒ये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ दद्दे॒ स्वाहा॑॥ ८॥

१. **मरुत्वान्**=प्राणोंवाले **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **मा**=मुझे **एतस्याः दिशः**=इस उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा से **पातु**=रक्षित करें। २. इस सर्वशक्तिमान्—सब प्राणशक्ति को देनेवाले प्रभु में ही मैं गति करता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—मैं इस उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा में सर्वशक्तिमान् प्रभु को अपने लिए सर्वप्राणशक्ति को लिये हुए अनुभव करूँ। इनमें ही गति करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी**॥

प्रजनन शक्तिवाले 'प्रजापति' ध्रुवादिक् में

प्र॒जाप॑तिर्मा प्र॒जन॑नवान्त्स॒ह प्र॒तिष्ठा॑या ध्रु॒वाया॑ दि॒शः पा॑तु त॒स्मि॑न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्र॒ये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑। स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ दद्दे॒ स्वाहा॑॥ ९॥

१. **प्रजननवान्**=सब उत्पादन-शक्तिवाले **प्रजापतिः**=प्रजापालक प्रभु **प्रतिष्ठायाः सह**=प्रतिष्ठा—गौरव के साथ **मा**=मुझे **ध्रुवायाः दिशः**=ध्रुवा दिक् से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=इन प्रजापालक प्रभु में ही मैं गति करूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—मैं ध्रुवा दिक् में प्रजनन सामर्थ्यवाले प्रजापति प्रभु का अनुभव करूँ। ये प्रभु ही मुझे सब गौरव प्राप्त कराते हैं। इन्हीं में मैं गति करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अतिजगती**॥

सब देवों के साथ 'बृहस्पति' प्रभु ऊर्ध्वा दिक् में

बृह॒स्पति॑र्मा॒ विश्वै॑र्दे॒वैरू॒र्ध्वाया॑ दि॒शः पा॑तु त॒स्मि॑न्क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्र॒ये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑।
स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ दद्दे॒ स्वाहा॑॥ १०॥

१. **बृहस्पतिः** (ब्रह्मणस्पतिः)=सब ज्ञानों के स्वामी **विश्वैर्देवैः**=सब दिव्य गुणों के साथ **मा**=मुझे **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=इन बृहस्पति प्रभु में ही मैं गति करुँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—मैं ऊर्ध्वादिक् में मेरे रक्षण के लिए सब दिव्यगुणों के साथ स्थित 'बृहस्पति' प्रभु को अनुभव करूँ। इन्हीं में मेरी सम्पूर्ण गति हो।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥

'आगे बढ़ने की भावना' व पापवृत्तियों का निराकरण

अग्निं ते वसुवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायवः प्राच्या दिशोऽभिदासात्॥ १ ॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=(malicious, harmful) अशुभ को चाहनेवाले हानिकर भाव **प्राच्यः दिशः**=पूर्व दिशा की ओर से **मा**=मुझे **अभिदासात्**=(दसु उपक्षये) उपक्षीण (हिंसित) करना चाहें, **ते**=वे **वसुवन्तम्**=सब वसुओंवाले—निवास के लिए आवश्यक तत्त्वोंवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **ऋच्छन्तु**=(ऋच्छ्=reach, fail in faculties) प्राप्त होकर क्षीणशक्ति हो जाएँ। २. इस पूर्वदिशा में 'अग्नि' प्रभु वसुओं के साथ मेरा रक्षण कर रहे हैं। जो भी दास्यवभाव इधर से मुझपर आक्रमण करता है, वह इस प्रभु को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। प्रभु रक्षक हैं तो ये मुझ तक पहुँच ही कैसे सकते हैं?

भावार्थ—पूर्वदिशा से कोई पाप मुझपर आक्रमण नहीं कर सकता। इधर तो 'अग्नि' नामक प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं न? आगे बढ़ने की प्रवृत्ति 'अग्नि' मुझे अशुभ भावनाओं से बचाती है

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

'मध्यमार्ग में चलना' व पापवृत्तियों का निराकरण

वायुं तेऽन्तरिक्षवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायव एतस्या दिशोऽभिदासात्॥ २ ॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले हानिकर भाव **एतस्याः दिशः**=इस पूर्व-पश्चिम के बीच की दिशा से **मा**=मुझे **अभिदासात्**=उपक्षीण करना चाहें, **ते**=वे **अन्तरिक्षवन्तम्**=उत्तम हृदयान्तरिक्ष को प्राप्त करानेवाले **वायुम्**=निरन्तर गतिवाले प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट सामर्थ्य हो जाएँ। २. इस पूर्व-दक्षिण के मध्य दिग्भाग में 'वायु' नामक प्रभु, उत्तम हृदयान्तरिक्ष को लिये हुए मेरा रक्षण कर रहे हैं, जो भी अशुभ वृत्ति इधर से मुझपर आक्रमण करेगी, वह इन 'वायु' नामक प्रभु को प्राप्त होकर विनष्ट होगी। प्रभु के रक्षक होने पर यह मुझ तक पहुँचेगी ही कैसे?

भावार्थ—पूर्व-दक्षिण के मध्यवर्ती दिग्भाग से कोई अशुभवृत्ति मुझपर आक्रमण नहीं कर सकती। इधर से तो 'वायु' नामक प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। यह निरन्तर गतिशीलता (वायु) मुझे अशुभवृत्तियों का शिकार नहीं होने देगी।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

·सौम्यता व पापविनाश

सोमं ते रुद्रवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायवो दक्षिणाया दिशोऽभिदासात्॥ ३ ॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले **मा**=मुझे **दक्षिणायाः दिशः**=दक्षिणा दिक् से **अभिदासात्**=उपक्षीण करना चाहें **ते**=वे **रुद्रवन्तम्**=(रुत् द्र) रोगों को दूर भगाने की शक्तिवाले **सोमम्**=सौम्य (शान्त) प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर विनष्ट हो जाएँ। २. इस दक्षिण दिशा में रुद्रोंवाले 'सोम' प्रभु मेरे रक्षक हैं। सब अशुभभाव इन प्रभु को प्राप्त होकर भस्म हो जाते हैं, मुझ तक पहुँचने से पूर्व ही विनष्ट हो जाते हैं। सौम्यता मुझे पापों से बचाती है।

भावार्थ—दक्षिण दिशा से कोई अशुभवृत्ति मुझपर आक्रमण नहीं कर पाती। इधर से 'सोम' प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। सौम्यता (नम्रता) से सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

निर्द्वेषता व निष्पापता

वरुणं त आदित्यवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायव एतस्या दिशो ऽभिदासात्॥ ४॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले पापभाव **मा**=मुझे **एतस्याः दिशः**=इस दक्षिण-पश्चिम के मध्यादि भाग से **अभिदासात्**=नष्ट करते हैं तो वे **आदित्यवन्तम्**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाली शुभ प्रवृत्तियों के साथ **वरुणम्**=पाप-निवारक प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. इस दक्षिण-पश्चिम के मध्यदिग्भाग से 'वरुण' प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। इधर से ये पापभाव मुझपर कैसे आक्रमण कर सकते हैं?

भावार्थ—दक्षिण-पश्चिम के मध्यदिग्भाग से कोई अशुभवृत्ति मुझपर आक्रमण नहीं कर सकती। इधर से 'वरुण' प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। वरुण—द्वेष-निवारण से सब बुराइयाँ दूर हो जाती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**स्वराडार्च्यनुष्टुप्** ॥

सूर्यसम ज्ञानज्योति में पापान्धकारविलय

सूर्यं ते द्यावापृथिवीवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायवः प्रतीच्या दिशो ऽभिदासात्॥ ५॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले पापभाव **मा**=मुझे **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से **अभिदासात्**=उपक्षीण करना चाहते हैं, **ते**=वे **द्यावापृथिवीवन्तम्**=उत्तम मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा दृढ़ शरीररूप पृथिवीलोक को प्राप्त करानेवाले **सूर्यम्**=सूर्यसम ज्योतिवाले ब्रह्म को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. इस पश्चिम दिशा से 'सूर्य' नामक प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। इधर से आनेवाले पापभाव सूर्य तक पहुँचते ही उस सूर्यसम दीप्त ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाते हैं। मुझंतक नहीं पहुँच पाते।

भावार्थ—पश्चिम दिशा से कोई पापभाव मुझपर आक्रमण नहीं कर सकता। इधर से 'सूर्य' नामक प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। सूर्य के समान ज्ञानज्योति को दीप्त करने से सब पाप उसमें भस्म हो जाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

वानस्पतिक भोजन व पापवृत्तिक्षय

अपस्त ओषधीमतीर्ऋच्छन्तु। ये माऽघायव एतस्या दिशो ऽभिदासात्॥ ६॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले पापभाव **मा**=मुझे **एतस्याः दिशः**=इस पश्चिम व उत्तर के बीच की दिशा से **अभिदासात्**=क्षीण करना चाहते हैं, **ते**=वे पापभाव **ओषधीमतीः**=प्रशस्त ओषधियोंवाले **अपः**=सर्वव्यापक प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. प्रभु-प्रदत्त ओषधि-वनस्पतिरूप सात्त्विक भोजन करते हुए हम पापवृत्तियों से दूर रहें। इन भोजनों के होने पर पापवृत्तियों का उद्भव ही नहीं होता।

भावार्थ—पश्चिमोत्तरमध्यदिग्भाग से कोई पापभाव मुझपर आक्रमण नहीं कर सकता, इधर से प्रशस्त ओषधि-वनस्पतियों को लिये हुए व्यापक प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यात्रिष्टुप् (सर्वाद्विपदाः)** ॥

सप्त ऋषियों का प्राशस्त्य व पाप का अभाव

विश्वकर्माणं ते सप्तऋषिवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायव उदीच्या दिशो ऽभिदासात्॥ ७॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले पापभाव **मा**=मुझे **उदीच्याः दिशः**=उत्तर दिशा

से **अभिदासात्**=उपक्षीण करते हैं, **ते**=वे **सप्तऋषिवन्तम्**=प्रशस्त सात ऋषियोंवाले—उत्तम कर्णों, नासिका-छिद्रों, आँखों व मुखवाले **विश्वकर्माणम्**=ब्रह्माण्ड के कर्त्ता प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. इस उत्तरदिशा से प्रशस्त कर्ण आदि इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले विश्वकर्मा प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं, इधर से पापभाव मुझतक पहुँच ही कैसे सकते हैं?

भावार्थ—मैं उत्तर दिशा में उस विश्वकर्मा प्रभु का ध्यान करता हुआ क्रियाशील बनूँ। प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनकर पापों से आक्रान्त न होऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्**॥

प्राणाग्नि में पापदहन

इन्द्रं ते मरुत्वन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायव एतस्या दिशोऽभिदासात्॥ ८॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=मेरे अशुभ की कामनावाले पापभाव **मा**=मुझे **एतस्याः दिशः**=इस उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा से **अभिदासात्**=क्षीण करते हैं, **ते**=वे **मरुत्वन्तम्**=प्रशस्त प्राणोंवाले **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक शक्तिशाली प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. इस दिशा से 'इन्द्र' मेरा रक्षण कर रहे हैं। वे मुझे शत्रु-विनाश के लिए इन प्रशस्त प्राणों को प्राप्त कराते हैं। इस प्राणसाधना के होने पर इन सब पापमय भावनाओं का दहन हो जाता है। 'प्राणायामैर्दहेद्दोषान्'।

भावार्थ—मैं प्रभु-प्रदत्त प्राणों की साधना करता हुआ पापों को दग्ध करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**प्राजापत्यात्रिष्टुप् (सर्वाद्विपदाः)**॥

प्रशस्त प्रजनन व पाप-निराकरण

प्रजापतिं ते प्रजननवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायवो ध्रुवाया दिशोऽभिदासात्॥ ९॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=पाप की कामनावाले अशुभ विचार **मा**=मुझे **ध्रुवायाः**=इस ध्रुवादिक् से (अधः प्रदेश से) **अभिदासात्**=क्षीण करना चाहते हैं, **ते**=वे **प्रजननवन्तम्**=प्रशस्त प्रजननवाले **प्रजापतिम्**=प्रजापति को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. ध्रुवादिक् से मैं प्रजापति प्रभु को अपना रक्षण करता हुआ जानूँ। ये प्रभु मुझे गृहस्थ में पवित्र सन्तान के निर्माण की प्रेरणा देते हुए पापों से बचाएँ।

भावार्थ—ध्रुवादिक् से प्रजापति प्रभु मेरा रक्षण करते हैं। ये प्रभु मुझे उत्कृष्ट प्रजनन की प्रेरणा कराते हुए आसक्ति में नहीं फँसने देते और इसप्रकार मुझे पापों से दूर रखते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**प्राजापत्यात्रिष्टुप् (सर्वाद्विपदाः)**॥

ज्ञान व निष्पापता

बृहस्पतिं ते विश्वदेववन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायव ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासात्॥ १०॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ चाहनेवाली पापवृत्तियाँ **मा**=मुझे **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् से **अभिदासात्**=उपक्षीण करती हैं, **ते**=वे **विश्वदेववन्तम्**=सब प्रशस्त दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाले **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. इस ऊर्ध्वादिक् की ओर से 'बृहस्पति' प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं—वे मुझे सब दिव्यगुणों को प्राप्त कराते हैं। ऐसी स्थिति में वे पापप्रवृत्तियाँ मेरे समीप फटक ही नहीं पातीं।

भावार्थ—मैं ज्ञान की रुचिवाला बनूँ और इसप्रकार सब व्यसनों से अपने को बचा पाऊँ।

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

स्नेह व स्वास्थ्य

मित्रः पृथिव्योदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।

तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ १॥

१. **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला **पृथिव्या**=इस शरीररूप पृथिवी के दृष्टिकोण से **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। २. प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हें, स्नेह की वृत्ति को अपनाकर स्वस्थ शरीर बननेवालों को **तां पुरम्**=उस सुदूर ब्रह्मपुरी में **प्रणयामि**=ले-चलता हूँ। **ताम् आविशत**=उस ब्रह्मपुरी में प्रवेश करो, **तां प्रविशत**=उसमें सम्यक् प्रवेश करो **च**=और **सा**=वह ब्रह्मपुरी **वः**=तुम्हारे लिए **शर्म**=सुख को **वर्म च**=और वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले कवच को **यच्छतु**=दे।

भावार्थ—स्नेह की वृत्ति को अपनाकर हम स्वस्थ बनें। तभी हम ब्रह्मपुरी की ओर चलने के अधिकारी होंगे। यह ब्रह्मपुरी की ओर चलना हमें आनन्दित करे और वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाला कवच बने।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गार्भापङ्क्तिः** ॥

क्रियाशीलता व हृदय की पवित्रता

वायुरन्तरिक्षेणोदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।

तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ २॥

१. **वायुः**=(वा गतौ गन्धने च) गति के द्वारा सब बुराइयों का संहार करनेवाला **अन्तरिक्षेण**=हृदयान्तरिक्ष के दृष्टिकोण से **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। हृदय में कर्मसंकल्प होने पर हृदय पवित्र बना रहता है। २. **वः**=क्रियाशीलता के द्वारा हृदय को पवित्र रखनेवाले तुम्हें **तां पुरम्**=उस ब्रह्मपुरी की ओर **प्रणयामि**=ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता के द्वारा पवित्र हृदय बनें। ये ही ब्रह्मपुरी के यात्री बन पाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

निरन्तर गतिशीलता व प्रकाश

सूर्यो दिवोदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।

तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ३॥

१. **सूर्यः**=(सरति) निरन्तर अपने मार्ग पर आगे बढ़नेवाला पुरुष **दिव**=ज्ञान के प्रकाश से **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। २. निरन्तर श्रम द्वारा ज्ञान को प्राप्त करनेवाले तुम्हें (वः) मैं ब्रह्मपुरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—हम निरन्तर श्रम द्वारा अत्यधिक ज्ञान प्राप्त करें। यही मार्ग है ब्रह्म को प्राप्त करने का।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

प्रसन्नचित्तता तथा विज्ञान-नक्षत्रोदय

चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ४॥

१. **चन्द्रमाः**=(चदि आह्लादे) आह्लादमय मनोवृत्तिवाला साधक **नक्षत्रैः**=विज्ञान के नक्षत्रों के साथ **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। २. हम प्रसन्नचित्त होकर जब विज्ञान के अध्ययन से एक-एक पिण्ड में प्रभु की महिमा को देखते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हें उस ब्रह्मपुरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—हम आह्लादमय मनोवृत्तिवाले बनकर विज्ञान के नक्षत्रों को अपने मस्तिष्क गगन में उदित करें, तभी हम ब्रह्मपुरी की ओर चलने के अधिकारी होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

वानस्पतिक भोजन व सौम्यता

सोम ओषधीभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ५॥

१. एक **सोमः**=सौम्य स्वभाव का शान्त पुरुष **ओषधीभिः**=ओषधियों से **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। वानस्पतिक भोजन इसकी वृत्ति को सौम्य व अक्रूर बनाता है। २. इन वानस्पतिक भोजनों से सौम्य वृत्तिवाले तुम लोगों को उस ब्रह्मनगरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—हम ओषधि-वनस्पतियों को ही अपना भोजन बनाकर सौम्य स्वभाव के बनें। यह सौम्यता ही हमें ब्रह्म की ओर ले-चलती है। मांस-भोजन हमें क्रूर बनाता है और प्रभु से दूर करनेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

यज्ञ व दानवृत्ति

यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ६॥

१. **यज्ञः**=यह 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' की वृत्तिवाला पुरुष **दक्षिणाभिः**=दानों के द्वारा **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। २. इस यज्ञशील, दान की वृत्तिवाले पुरुष को उस ब्रह्मपुरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—यज्ञमय जीवनवाले बनकर धन को लोकहित के कार्यों के लिए दान करते हुए हम ब्रह्मपुरी को प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

नदियों के साथ समुद्र

समुद्रो नदीभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ७॥

१. **स-मुद्रः**=सदा आनन्दमयी मनोवृत्तिवाला यह पुरुष **नदीभिः**=ज्ञानजल की नदियों के साथ **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। जैसे नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती हैं, इसीप्रकार हम भी वह समुद्र बनें, जिसमें कि ज्ञानजलपूर्ण नदियों का प्रवेश हो। इसप्रकार ज्ञान की रुचिवाले सतत

स्वाध्यायशील पुरुष को मैं उस ब्रह्मपुरी में ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञान-जल की नदियों का प्रवेशस्थान समुद्र बने, तभी हम ब्रह्मपुरी में प्रवेश के अधिकारी बन पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः**॥

ब्रह्मचारियों के साथ ज्ञानी आचार्य (ब्रह्म)

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत्तां पुरं णयामि वः।

तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ८॥

१. **ब्रह्मचारिभिः**=ब्रह्मचारियों के साथ **ब्रह्म**=ज्ञानमय जीवनवाला आचार्य **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। ज्ञान का पुञ्ज बना हुआ आचार्य स्वयं ब्रह्मचर्य को धारण करता हुआ ब्रह्मचारियों के साथ उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है। २. इन आचार्यों को मैं ब्रह्मपुरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—एक ज्ञानी आचार्य ब्रह्मचारियों को उन्नति-पथ पर ले-चलता हुआ स्वयं उन्नत होता है और ब्रह्मपुरी की प्राप्ति का पात्र बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः**॥

वीर्यशक्ति-सम्पन्न जितेन्द्रिय पुरुष (जितेन्द्रियता, वीर्यरक्षा)

इन्द्रो वीर्ये३णोदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।

तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ९॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष, जितेन्द्रियता के द्वारा वीर्यरक्षण करता हुआ, **वीर्येण**=इस सुरक्षित वीर्य से **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। २. इन वीर्यरक्षक, जितेन्द्रिय पुरुषों को मैं ब्रह्मनगरी में प्राप्त कराता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—एक जितेन्द्रिय पुरुष वीर्यरक्षण के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का पात्र बनता है। सुरक्षित वीर्य से इसकी बुद्धि दीप्त होती है। इस दीप्त बुद्धि से यह प्रभु-दर्शन करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**॥

देवों का अमृतभक्षण

देवा अमृतेनोदक्रामंस्तां पुरं प्र णयामि वः।

तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ १०॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अमृतेन**=(यज्ञशेषं तथामृतम्-कोश) यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **उदक्रामत्**=उन्नत होते हैं। २. इन यज्ञशेष का सेवन करनेवाले देववृत्ति के पुरुषों को मैं बह्मपुरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०

भावार्थ—हम जीवन में देववृत्ति के बनें और सदा यज्ञशेष का सेवन करें। यही ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः**॥

प्रजाओं के साथ प्रजापति

प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।

तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ११॥

१. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक राजा अथवा सन्तानों का पालक एक सद्गृहस्थ **प्रजाभिः**=

प्रजाओं के साथ **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। राजा का कर्त्तव्य यही है कि प्रजा का रक्षण करे। एक सद्गृहस्थ सन्तानों को उत्तम बनाने के लिए यत्नशील हो। २. ऐसा होने पर ही तुम्हें मैं ब्रह्मपुरी को प्राप्त कराता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—हम राजा हों तो प्रजाओं का रक्षण करें। एक सद्गृहस्थ बनकर सन्तानों का उत्तमतया पालन करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पौरुषेय वध से परित्राण

अप न्यधुः पौरुषेयं वधं समिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः।
सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान्परि पातु मृत्योः॥ १॥

१. **यम्**=जिस **पौरुषेयम्**=पुरुष-सम्बन्धी **वधम्**=घातक अस्त्र को **अपन्यधुः**=शत्रुगण छिपाकर रखते हैं। शरीर में रोगकृमिरूप हमारे सपत्न हमारे शरीरों में घातक तत्त्वों को विविध अंग-प्रत्यंगों में छिपाकर स्थापित करनेवाले होते हैं। इन्हीं के कारण हमारी असमय में मृत्यु हो जाती है। **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के तत्त्व उस **मृत्योः**=मृत्यु से **अस्मान्**=हमें **परिपातु**=बचाएँ। इन्द्र व अग्नितत्त्व का (बल व प्रकाश) का समन्वय होने पर हम रोगरूप वधों से मारे नहीं जाते। २. **धाता**=धारण करनेवाला, **सविता**=उत्पादक, **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी, **सोमः**=सौम्य व सोमशक्ति का पुञ्ज, **राजा**=शासक—व्यावस्थापक, **वरुणः**=सब पापों का निवारण करनेवाला, **अश्विना**=प्राणापानशक्ति का अधिष्ठाता, **यमः**=सर्वनियन्ता **पूषा**=पोषक प्रभु हमें मृत्यु से बचाए। प्रभु के ये सब नाम हमें प्रेरणा देते हैं कि हम भी धारणात्मक कार्यों में प्रवृत्त हों, निर्माण में लगें, ज्ञानी बनें, सौम्य हों, जीवन को व्यवस्थित रक्खें, निर्द्वेष बनें, प्राणापान की साधनावाले हों, मन का नियमन करें और शक्तियों का उचित पोषण करें। यही मृत्यु से बचने का मार्ग है।

भावार्थ—मृत्यु से बचने का मार्ग यही है कि हम अपने जीवन में शक्ति व प्रकाश का समन्वय करें। 'धाता' इत्यादि नामों से प्रेरणा लेकर जीवनों को वैसा ही बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्रभु-प्रदत्त कवच

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापतिर्मातरिश्वा प्रजाभ्यः।
प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु॥ २॥

१. **यानि**=जिन रक्षासाधनों को **प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **प्रजापतिः चकार**=प्रजारक्षक प्रभु ने बनाया है, उस प्रभु ने **यः**=जोकि **भुवनस्य पतिः**=सारे ब्रह्माण्ड का स्वामी है तथा **मातरिश्वा**=मातृरूप प्रकृति में गति देनेवाला है (श्वि गतौ) २. जिन रक्षासाधनों को **दिशः प्रदिशः च**=दिशाएँ और फैली हुई अवान्तर दिशाएँ **वसते**=धारण करती हैं, **तानि**=वे सब **बहुलानि**=बहुत-से रक्षासाधन मेरे लिए **वर्माणि**=कवच के रूप में **सन्तु**=हों।

भावार्थ—प्रभु ने प्रकृति के सब देवों को हमारे रक्षण के लिए ही उस-उस स्थान में स्थापित किया है। ये सब रक्षा के साधन मेरे लिए कवच का काम दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'देही देवों' से दत्त कवच

यत्ते तनूष्वनह्यन्त देवा द्युराजयो देहिनः।

इन्द्रो यच्चक्रे वर्म तदस्मान्पातु विश्वतः॥ ३॥

१. प्रभु महादेव हैं। उत्तम 'माता, पिता व आचार्य' देहधारी देव हैं। माता बालक को 'चरित्र' का कवच धारण कराती है, पिता 'शिष्टाचार' का तथा आचार्य 'ज्ञान' का। **यत्**=जिस **वर्म**= कवच को **ते**=तेरे **तनूषु**=शरीरों पर (स्थूल, सूक्ष्म, कारणनामक शरीरों पर) **द्युराजयः**=ज्ञान से दीप्त होनेवाले **देहिनः**=शरीरधारी **देवाः**=देव—माता, पिता तथा आचार्य **अनह्यन्त**=बाँधते हैं। **तत्**=वह 'चरित्र, शिष्टाचार व ज्ञान' का कवच **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **पातु**= रक्षित करे। २. इन कवचों के अतिरिक्त **यत् वर्म**=जिस कवच को **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु ने **चक्रे**=बनाया है। प्रभु ने शरीर में सोमशक्ति को स्थापित किया है। यह 'सोम' रोगों को रोकने के लिए सर्वोत्तम कवच है। यह सोम का कवच ही हमें सब ओर से सुरक्षित करे।

भावार्थ—सुशिक्षित माता 'चरित्र' के कवच को धारण कराती है, कुशल पिता 'शिष्टाचार' के कवच को धारण कराता है, आचार्य 'ज्ञान' के कवच को। प्रभु ने हमें 'सोमशक्ति' का कवच पहनाया है। ये कवच हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मा मा प्रापत् प्रतीचिका

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः।

वर्म मे विश्वेदेवाः क्रन्मा मा प्रापत्प्रतीचिका॥ ४॥

१. **मे**=मेरे लिए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **वर्म**=कवच का काम करें। **अहः**= दिन मेरे लिए **वर्म**=कवच हो। **सूर्यः**=सूर्य **वर्म**=कवच बने। २. **विश्वेदेवाः**='माता, पिता, आचार्य' आदि सब देव **मे**=मेरे लिए **वर्म क्रन्**=कवच बनें, जिससे **मा**=मुझे **प्रतीचिका**=मेरे विरुद्ध आनेवाली आसुरसेना—आसुरी वृत्तियों की सेना **मा प्रापत्**=मत प्राप्त हो। 'द्युलोक, पृथिवीलोक, दिन व सूर्य' आदि की अनुकूलता (रक्षण) मुझे रोगों से बचाएँ। माता आदि का उत्तम शिक्षण वासनाओं से।

भावार्थ—सारा संसार (सब प्राकृतिक देव) मेरा रक्षण करें, जिससे मैं स्वस्थ शरीर रहूँ। माता, पिता व आचार्य आदि सबका रक्षण मुझे वासनामय जीवनवाला न बनने दे।

यह नीरोग व निर्वासन पुरुष उन्नत होता हुआ अन्ततः 'ब्रह्मा' बनता है। 'ब्रह्मा' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**छन्दाँसि** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती (एकावसाना)** ॥

सप्त छन्दोमय जीवन

गायत्र्यु१ष्णिगनुष्टुब्बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यै॥ १॥

१. हम अपने प्रथमाश्रम में '**गायत्री**' छन्द को अपना आच्छादन बनाएँ। 'गयाः प्राणाः तान् तत्रे' प्राणों का रक्षण करनेवाली यह गायत्री है। प्रथमाश्रम का ध्येय 'प्राणशक्ति का रक्षण' ही है। ब्रह्मचारी वीर्यरक्षण द्वारा प्राणशक्ति में कमी नहीं आने देता। २. गृहस्थ में ध्येय '**उष्णिक्**'

छन्द है। 'उत् स्निह्यति'—यह गृहस्थ उत्कृष्ट स्नेहवाला होता है। इसका स्नेह वासनामय होकर राग में परिवर्तित नहीं हो जाता। वही गृहस्थ श्रेष्ठ है जोकि आसक्ति से बचा रहता है। इसी उद्देश्य से यह **'अनुष्टुप्'** एक दिन के बाद दूसरे दिन, अर्थात् सदा (स्तोभ worship) प्रभु का स्तवन करता है। ३. अब वानप्रस्थ बनने पर यह गृहस्थ की संकुचित हृदयता से ऊपर उठने के लिए 'बृहती' छन्द का ध्यान करता है और हृदय को बृहत् (विशाल) बनाता है। **पङ्क्तिः**=पाँचों यज्ञों का विस्तार करता हुआ (पचि विस्तारे) यह 'पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों प्राणों तथा 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय' इस अन्तःकरण पंचक' का विकास करता है और **त्रिष्टुप्**=(स्तोभते to stop) 'काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों का निरोध करता है। ४. काम, क्रोध, लोभ के निरोध के साथ विजयपूर्ण हो जाती है। अब इस विजेता का जीवन अपने लिए न रहकर **जगत्यै**=जगती के लिए हो जाता है। इसे अपने लिए अब कुछ नहीं करना। यह 'प्राजापत्य यज्ञ' में अपनी आहुति दे देता है। आज इस उन्नति के चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर यह 'ब्रह्मा' हो गया है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में 'गायत्री' हमारा आच्छादन हो। गृहस्थ में 'उष्णिक् और अनुष्टुप्'। वानप्रस्थ में हमारे आच्छादन 'बृहती, पङ्क्ति व त्रिष्टुप्' हों तथा संन्यास में हम 'जगती' के लिए हो जाएँ। हम अपने लिए न जी रहें हों।

यह व्यक्ति अंग-प्रत्यंग में रसवाला बना रहने से 'अंगिराः' है (अंग-रस)। अगले सूक्त का ऋषि 'अङ्गिराः' ही है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—१ साम्नुष्णिक्, २ दैवीपङ्क्तिः,
३ प्राजापत्यागायत्री ॥

योगाङ्गों का अभ्यास

आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ॥ १ ॥

षष्ठाय स्वाहा ॥ २ ॥ सप्तमाष्टमाभ्यां स्वाहा ॥ ३ ॥

१. 'अङ्गिरस' वे व्यक्ति हैं जो गतिशील जीवनवाले होते हुए, ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हुए (अगि गतौ) अंग-प्रत्यंग को रसमय बनाये रखते हैं—इनकी लोच-लाचक में कमी नहीं आने देते। इन **आङ्गिरसानाम्**=आंगिरसों के **आद्यैः**=प्रथम—प्रारम्भ में होनेवाले **पञ्च अनुवाकैः**=पाँच बातों के साथ सम्बद्ध जपों के हेतु से—'मैं 'यम-नियम' का पालन करूँगा, मैं 'आसन, प्राणायाम' को अपनाऊँगा और इसप्रकार 'प्रत्याहार'-वाला—इन्द्रियों को विषयों से वापस लानेवाला बनूँगा' इन प्रतिदिन दुहराये जानेवाले विचारों के हेतु से **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। प्रभु ही मुझे इन विचारों को स्थूल रूप देने में समर्थ करेंगे। प्रभु-कृपा से ही ये विचार मेरे जीवन में आचार के रूप में परिवर्तित होंगे। २. अब मैं **षष्ठाय**=प्रत्याहार के बाद धारणारूप योग के छठे अंग के लिए प्रभु के प्रति **स्वाहा**=अपना अर्पण करता हूँ। इन्द्रियों को अन्दर ही बाँधने का प्रयत्न करता हूँ। ३. धारणा के बाद **सप्तम् अष्टमाभ्याम्**=सातवें व आठवें—ध्यान व समाधिरूप—योगांगों के लिए **स्वाहा**=आपके प्रति अपने को अर्पित करता हूँ। आपने ही मुझे इन योगांगों में गतिवाला करना है।

भावार्थ—हम योग के प्रथम पाँच अंगों को क्रियान्वित करने के लिए उन्हीं का जप व विचार करें—हमें उनका विस्मरण न हो। अब प्रत्याहार के बाद 'धारणा' के लिए यत्नशील

हों। धारणा के बाद 'ध्यान व समाधि' को अपना पाएँ। इन सबके लिए मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—४, ७ दैवीजगती, ५ दैवीत्रिष्टुप्, ६ दैवीपङ्क्तिः ॥

योगी का जीवन

नीलनखेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ हरितेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥
क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥ पर्यायिकेभ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥

१. योगांगों का अभ्यास करनेवाले ये व्यक्ति **नील**=कृष्णा=निर्लेप (नीरंग—जिनपर दुनिया का रंग नहीं चढ़ गया) बनते हैं तथा उन्नति के शिखर पर पहुँचते हैं, इनके जीवन में **न-ख**=छिद्र (दोष) नहीं रहते। इन **नीलनखेभ्यः**=निर्लेप, निश्छिद्र जीवनवाले पुरुषों के लिए हम (सु आह) **स्वाहा**=शुभ शब्दों का उच्चारण करते हैं। अपने जीवनों को भी उन-जैसा बनाने का प्रयत्न करते हैं। ३. इन **हरितेभ्यः**=इन्द्रियों का विषयों से प्रत्याहार करनेवालों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और इन-जैसा बनने के लिए यत्नशील होते हैं। ३. **क्षुद्रेभ्यः** (क्षुदिर् संपेषणे)=शत्रुओं का संपेषण कर डालनेवाले इन व्यक्तियों के लिए हम **स्वाहा**=(स्व हा) अपना अर्पण करते हैं। उनके शिष्य बनकर उन-जैसा बनने के लिए यत्न करते हैं। ४. **पर्यायिकेभ्यः**= (पर्याय=regular order) इन व्यवस्थित जीवनवालों के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हुए हम भी उनके जीवनों को अपना जीवन बनाते हैं। उनकी भाँति ही जीवन की प्रत्येक क्रिया को व्यवस्थित करते हैं।

भावार्थ—योगांगों के अभ्यास से हम निर्लेप व निश्छिद्र जीवनवाले हों। इन्द्रियों का विषयों से प्रत्याहार करें। काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं का संपेषण कर डालें। हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया व्यवस्थित (regular order में) हो।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—८-१० आसुरीजगती ॥

शं-ख=शान्तेन्द्रिय पुरुष

प्रथमेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥ द्वितीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ ९ ॥
तृतीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥

१. योगांगों के अभ्यास से इन्द्रियों की विषयों के प्रति रुचि कम और कम होती जाती है। इन्द्रियों के प्रति अरुचि ही 'संवेग' है। यह संवेग 'मृदु-मध्य-व तीव्र' इन तीन श्रेणियों में विभक्त है। इनमें मृदु संवेगवाले यहाँ 'प्रथम शंख' कहे गये हैं—वे व्यक्ति जो इन्द्रियों को शान्त करनेवालों की प्रथम श्रेणी में हैं। मध्य संवेगवाले द्वितीय श्रेणी में तथा तीव्र संवेगवाले तृतीय श्रेणी में। २. इन **प्रथमेभ्यः शंखेभ्यः**=प्रथम श्रेणीवाले शान्तेन्द्रिय पुरुषों के लिए हमं **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं, **द्वितीयेभ्यः शंखेभ्यः**=मध्य संवेगवाले द्वितीय श्रेणी के शान्तेन्द्रिय पुरुषों के लिए **स्वाहा**=शुभ शब्द कहते हैं और **तृतीयेभ्यः शंखेभ्यः**=इन तीव्र संवेगवाले शान्तेन्द्रिय पुरुषों के लिए **स्वाहा**=अपने को सौंपते हैं (स्व हा) और उन-जैसा बनने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—योगांगानुष्ठान से विषयों से ऊपर उठकर हम क्रमशः अधिकाधिक शान्तेन्द्रिय बनें। ऐसे पुरुषों के साथ ही हमारा उठना-बैठना हो—हम भी उन-जैसा बनने के लिए यत्न करें।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—११ दैवीजगती, १२-१३ दैवीत्रिष्टुप् ॥

उपोत्तम-उत्तम-उत्तर

उपोत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥ उत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ १२ ॥
उत्तरेभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥

१. गतमन्त्र के शान्तेन्द्रिय, अतएव **उपोत्तमेभ्यः**=उस उत्तमपुरुष प्रभु के समीप वास करनेवालों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। २. **उत्तमेभ्यः**=(ब्रह्मभूतेभ्यः) इन उत्तम—ब्रह्मप्राप्त पुरुषों के लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्द बोलते हैं। ३. **उत्तरेभ्यः**=संसार-सागर को उत्तीर्ण कर गये इन पुरुषों के लिए हम **स्वाहा**=अपने को अर्पित करते हैं (स्व हा) और उनकी भाँति हम भी भवसागर को तैरने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें। प्रभु को प्राप्त करें और भवसागर से उत्तीर्ण हो जाएँ।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—१४-१६ दैवीपङ्क्तिः, १७ दैवीजगती ॥

तत्त्वदर्शन

ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥ शिखिभ्यः स्वाहा ॥ १५ ॥
गणेभ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥ महागणेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥

१. संसार के विषयों को तैर जानेवाले ये व्यक्ति ऋषि बनते हैं—तत्त्वद्रष्टा। **ऋषिभ्यः स्वाहा**=इन तत्त्वद्रष्टाओं के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। २. **शिखिभ्यः स्वाहा**=तत्त्वदर्शन के द्वारा उन्नति की शिखा (चोटी) पर पहुँचनेवाले इन शिखियों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ३. (गण संख्याने) **गणेभ्यः स्वाहा**=संख्यान करनेवाले—प्रत्येक बात के उपाय को सोचनेवाले, इसप्रकार कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक करनेवाले इन ज्ञानियों के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं ४. **महाणेभ्यः स्वाहा**=महान् ज्ञानियों की हम प्रशंसा करते हैं। इनकी प्रशंसा करते हुए इन-जैसा ही बनने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम तत्त्वद्रष्टा ऋषियों, तत्त्वदर्शन से उन्नति के शिखर पर पहुँचे हुए व्यक्तियों, उपाय व अपाय को सोचकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक करनेवाले ज्ञानियों व महान् ज्ञानियों का शंसन करते हुए उन-जैसा बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—१८ आसुर्यनुष्टुप्,
१९ प्राजापत्यागायत्री, २० दैवीपङ्क्तिः ॥

ब्रह्मा

सर्वेभ्योऽङ्गिरोभ्यो विदगणेभ्यः स्वाहा ॥ १८ ॥
पृथक्सहस्राभ्यां स्वाहा ॥ १९ ॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २० ॥

१. **अङ्गिरोभ्यः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले **सर्वेभ्यः**=सब **विदगणेभ्यः**=ज्ञानी—विवेकी पुरुषों के लिए हम **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। २. तत्त्वज्ञान के कारण **पृथक् सहस्राभ्याम्**=विषयों की आसक्ति से पृथक् हुए-हुए और अतएव (स+हस्) आनन्दमय जीवनवाले इन जीवन्मुक्त पुरुषों के लिए हम **स्वाहा**=शुभ शब्द कहते हैं। ३. **ब्रह्मणे**=उत्तम सात्त्विक गति में भी सर्वप्रथम स्थान में स्थित इस 'ब्रह्मा' (वेदज्ञ) पुरुष के लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्द कहते हैं।

भावार्थ—हम तत्त्वज्ञानी, विषयों की आसक्ति से पृथक्, आनन्दमय (मनःप्रसादयुक्त) देवाग्रणी ब्रह्मा के लिए प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। वैसा ही बनने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—चतुष्पदात्रिष्टुप् ॥

अस्पर्धनीय (ब्रह्मा)

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्या ऽणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥ २१ ॥

१. पिछले मन्त्र में 'ब्रह्मा' का उल्लेख हुआ था। उस ब्रह्मा के लिए कहते हैं कि इस ब्रह्मा में **ब्रह्मज्येष्ठा**=ज्ञान की जिनमें सर्वप्रशस्त है, वे **वीर्याणि**=शक्तियाँ **संभृता**=सम्यक् भृत (पोषित) हुई हैं। इसने शारीर व मानस शक्तियों के साथ इस सर्वोपरि ज्ञानशक्ति का अपने में संभरण किया है। **अग्रे**=इस सृष्टि के प्रारम्भ में **ब्रह्मा**=इस सर्वोत्तम सात्त्विकाग्रणी पुरुष ने **ज्येष्ठं दिवम्**=सर्वश्रेष्ठ वेदमय ज्योति को 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' से प्राप्त करके **आततान**=चारों ओर फैलाया है। २. **उत**=और **भूतानाम्**=इन प्राणियों में यह **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवेत्ता पुरुष **प्रथम जज्ञे**= सर्वप्रथम हुआ है। उन्नति के सोपान में यह सबसे ऊपर है। **तेन ब्रह्मणा**=उस ब्रह्मा से **कः**=कौन **स्पर्धितुम् अर्हति**=स्पर्धा के योग्य है? इस ब्रह्मा का मुक़ाबला कोई नहीं कर सकता। इसका जीवन पवित्रतम है।

भावार्थ—सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होनेवाला (प्रभु का मानस पुत्र) यह ब्रह्मज्ञान प्रधान सब शक्तियों का अपने में संभरण करता है। इस ज्ञान को यह चारों ओर फैलाता है। इसका जीवन अद्वितीय है।

यह 'ब्रह्मा' अथर्वा बनता है—न डाँवाडोल होनेवाला। अथर्वा ही अगले सूक्त का ऋषि है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—१ आसुरीबृहती, २-४ दैवीत्रिष्टुप् ॥

चार पुरुषार्थ, पञ्चभूत, छह ऋतुएँ, सात ऋषि

आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥ **पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥**
षडृचेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥ **सप्तर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥**

१. 'अथर्वा' से जिन मन्त्रों का अर्थ देखा जाता है वे मन्त्र 'आथर्वण' कहलाते हैं। 'अथर्वा' वे व्यक्ति हैं जोकि 'अथ अर्वाङ्'—विषयों में न भटक (न थर्व्) अब अन्दर—आत्मनिरीक्षण करते हैं। **आथर्वणानाम्**=इन अथर्वाओं से देखे गये मन्त्रों में **चतुर्ऋचेभ्यः**=(ऋच् स्तुतौ) जिनमें 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' इन चारों पुरुषार्थों का स्तवन व प्रतिपादन है, उन मन्त्रों के लिए **स्वाहा**= हम (सु आह) प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। हम भी उन मन्त्रों का अध्ययन करते हुए 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' इन चारों ही पुरुषार्थों को सिद्ध करते हैं। २. **पञ्चर्चेभ्यः**='पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' इन पाँचों भूतों का स्तवन व प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से पाँचों भूतों का ज्ञान प्राप्त करके उनकी अनुकूलता के सम्पादन से हम पूर्ण स्वस्थ होने का प्रयत्न करते हैं। ३. **षडृचेभ्यः**='वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त व शिशिर' इन छह ऋतुओं का स्तवन करनेवाले मन्त्रों का हम **स्वाहा**= शंसन करते हैं। इनका अध्ययन करते हुए सब ऋतुओं के गुण-धर्मों को समझकर अपनी ऋतुचर्या को ठीक बनाते हैं। २. **सप्तर्चेभ्यः स्वाहा**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात ऋषियों का स्तवन व प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से कान आदि ऋषियों के महत्त्व को समझते हैं और उनको ज्ञान-प्राप्ति में लगाकर

सचमुच ही उन्हें ऋषि बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—हम आथर्वण मन्त्रों में 'चतुर्ऋच' मन्त्रों से 'धर्मार्थ, काम व मोक्ष' इन चार पुरुषार्थों का ज्ञान प्राप्त करें। 'पञ्चर्चों' से पञ्चभूतों का, 'षड्र्चों' से छह ऋतुओं का तथा 'सप्तर्चों' सें कान आदि सात ऋषियों का ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**५-७ दैवीत्रिष्टुप्, ८ प्राजापत्यागायत्री** ॥

आठ योगांग व वसु, नवद्वार, दस धर्मलक्षण, एकादश रुद्र

अष्टर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ **नवर्चेभ्यः स्वाहा** ॥ ६ ॥
दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥ **एकादशर्चेभ्यः स्वाहा** ॥ ८ ॥

१. **अष्टर्चेभ्यः**=योग के आठ अंगों अथवा शरीरस्थ आठ चक्रों का स्तवन करनेवाले व आठ वसुओं का प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहें। इनके अध्ययन से आठों योगाङ्गों व आठों वसुओं को समझें। २. **नवर्चेभ्यः स्वाहा**=(अष्टाचक्रा नवद्वारा) इस शरीररूप देवपुरी के नव द्वारों का स्तवन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से इनको उत्तम बनाने की प्रेरणा लेते हैं। ३. **दशर्चेभ्यः स्वाहा**= धर्म के दश लक्षणों (धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधः) के प्रतिपादक मन्त्रों के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से इन दश लक्षणों को समझकर इन्हें अपनाने के लिए यत्नशील होते हैं। ४. **एकादशर्चेभ्यः स्वाहा**=११ रुद्रों (दश प्राण+जीवात्मा) के प्रतिपादक मन्त्रों के लिए प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से इन रुद्रों की शक्ति के वर्धन के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—योग के आठ अंगों, शरीर के नवद्वारों, धर्म के दश लक्षणों व एकादश रुद्रों को समझकर इनको अपनाने व शक्तिशाली बनाने का यत्न करते हुए हम अपने जीवनों को प्रशस्त बनाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**९ दैवीजगती, १०-१२ दैवीपङ्क्तिः** ॥

'द्वादश आदित्य, दश यम-नियम+शरीर, मन, बुद्धि, चौदह विद्याएँ, १५ गन्ध

द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ९ ॥ **त्रयोदशर्चेभ्यः स्वाहा** ॥ १० ॥
चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥ **पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा** ॥ १२ ॥

१. **द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा**=बारह आदित्यों (चैत्र आदि १२ मासों) का स्तवन व प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से इन बारह मासों के अनुरूप आहार-विहार को अपनाते हुए आदित्यसम दीप्त-जीवनवाले बनते हैं। २. **त्रयोदशर्चेभ्यः स्वाहा**=पाँच यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) तथा पाँच नियमों (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) और उनके पालन से स्वस्थ होनेवाले 'शरीर, मन व बुद्धि' का स्तवन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और यम-नियमों का पालन करते हुए हम त्रिविध स्वस्थ्य को प्राप्त करते हैं। ३. **चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा**=चतुर्दश विद्याओं का (षडङ्गमिश्रिता वेदा धर्मशास्त्रां पुराणकम्। मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याश्चतुर्दश) शंसन करनेवाले मन्त्रों का शंसन करते हुए हम इन चौदह विद्याओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ४. **पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा**=द्विविधगन्ध (सुरभि-असुरभि) षड् रस (कषाय, मधुर, लवण, कटु, तिक्त, अम्ल), सप्तवर्ण (सूर्य की सात रंग की किरणें)—इन पन्द्रह का वर्णन

करनेवाली ऋचाओं के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और इनका यथायोग करते हुए स्वस्थ बनते हैं।

भावार्थ—हम बारह आदित्यों को समझें। दश यम-नियमों व उनसे स्वस्थ बननेवाले शरीर, मन व बुद्धि को समझें। चौदह विद्याओं को जानने के लिए यत्नशील हों और 'द्विविध गन्ध, षड् रसों व सप्त वर्णों को समझकर' उनका ठीक प्रयोग करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**१३ दैवीजगती, १४-१६ प्राजापत्यागायत्री, १७ दैवीपङ्क्तिः** ॥

षोडश कलाएँ, १७ तत्त्वों का सूक्ष्मशरीर, अष्टादश ऋत्विज्

षोडशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥ सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥
अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ १५ ॥ एकोनविंशतिः स्वाहा ॥ १६ ॥
विंशतिः स्वाहा ॥ १७ ॥

१. **षोडशर्चेभ्यः स्वाहा**=सोलह कलाओंवाले षोडशी पुरुष की सोलह कलाओं का शंसन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और इनके अध्ययन से इन सोलह कलाओं को समझने का प्रयत्न करते हैं। (प्राण, श्रद्धा, पञ्चभूतात्मक शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम)। ३. **सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा**='दश इन्द्रियाँ—पाँच प्राण, मन व बुद्धि' से बने हुए सत्रह तत्त्वोंवाले सूक्ष्मशरीर का वर्णन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम शंसन करते हैं। इनके अध्ययन से इस सूक्ष्मशरीर के महत्त्व को समझकर इसकी उन्नति के लिए यत्नशील होते हैं। ३. **अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा**='सोलह ऋत्विजों तथा यजमान व यजमान-पत्नी' इन अठारह से चलनेवाले यज्ञों का शंसन करनेवाले मन्त्रों का हम शंसन करते हैं। इनके अध्ययन से इन यज्ञों को जानकर इन्हें अपनाते हैं। ४. **एकोनविंशतिः**=जागरित व स्वप्नस्थान में १९ मुखोंवाला (एकोनविंशतिमुखः=दश इन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) मैं 'एकोनविंशति' **स्वाहा**=इन मन्त्रों के प्रति अपने को अर्पित करता हूँ। इन सब मुखों से इन्हीं के अध्ययन के लिए यत्नशील होता हूँ। ५. **विंशतिः**=पञ्चस्थूलभूत+पञ्चसूक्ष्मभूत+पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ+पञ्च कर्मेन्द्रियोंवाला—बीस तत्त्वों का पुतला मैं **स्वाहा**=इन मन्त्रों के प्रति अपने को अर्पित करता हूँ।

भावार्थ—मैं षोडशी पुरुष की सोलह कलाओं को, सूक्ष्मशरीर के १७ तत्त्वों को तथा १८ व्यक्तियों से साध्य यज्ञों का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। मैं अपने १९ मुखों से इन ऋचाओं का अध्ययन करता हूँ। बीस तत्त्वोंवाला मैं इन मन्त्रों के प्रति अपने को अर्पित करता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**१८, २२ दैवीजगती, १९, २१ दैवीपङ्क्तिः, २० दैवीत्रिष्टुप्** ॥

अज्ञान विध्वंस व प्रभु-दर्शन

महत्काण्डाय स्वाहा ॥ १८ ॥ तृचेभ्यः स्वाहा ॥ १९ ॥
एकर्चेभ्यः स्वाहा ॥ २० ॥ क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥ २१ ॥
एकानृचेभ्यः स्वाहा ॥ २२ ॥

१. (कडि भेदने संरक्षणे च) **महत्काण्डाय**=महान् अविद्या का भेदन करनेवाले व हमारा संरक्षण करनेवाले वेदज्ञान के लिए **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। २. **तृचेभ्यः**='जीव, प्रकृति, परमात्मा' अथवा 'ज्ञान, कर्म, उपासना' तीनों का प्रतिपादन करनेवाले इन मन्त्रों के लिए

स्वाहा=अपना अर्पण करता हूँ। ३. **एकर्चेभ्यः**=उस एक अद्वितीय प्रभु की महिमा का स्तवन करनेवाले मन्त्रों के लिए **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। उनके पढ़ने के लिए यत्नशील होता हूँ। (क्षुदिर् संपेषणे) **क्षुद्रेभ्यः**=अविद्यान्धकार का संपेषण करनेवाले इन वेदमन्त्रों के लिए **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। ५. **एकानृचेभ्यः स्वाहा**=(नास्ति ऋक्—स्तुत्याविद्याः—यस्य सकाशात् सः 'अनृच') उस ब्रह्मविद्या का वर्णन करनेवाली अनुत्तम (सर्वोत्तम) ऋचाओं के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ।

भावार्थ—अज्ञान के विध्वंसक वेदमन्त्रों का अध्ययन करते हुए हम उस अद्वितीय प्रभु को जानने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**२३ दैवीत्रिष्टुप्, २४-२५ दैवीपङ्क्तिः, २६ दैवीजगती**॥

सूर्य-व्रात्य-प्राजापत्य

रोहितेभ्यः स्वाहा॥ २३॥ **सूर्याभ्यां स्वाहा॥ २४॥**
व्रात्याभ्यां स्वाहा॥ २५॥ **प्राजापत्याभ्यां स्वाहा॥ २६॥**

१. (रोहयति इति) **रोहितेभ्यः**=हमारा उत्थान करनेवाले इन वेदमन्त्रों के लिए **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। २. **सूर्याभ्यां स्वाहा**=वेद से प्रेरणा प्राप्त करके सूर्य की भाँति निरन्तर गतिशील (सरति) पति-पत्नी के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। उनका प्रशंसन करते हैं। हम भी उनसे अपना जीवन उन-जैसा बनाने की प्रेरणा लेते हैं। ३. **व्रात्याभ्याम्**=व्रतमय जीवनवाले पति-पत्नी के लिए हम **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। हम भी उनकी भाँति व्रती जीवनवाले होते हैं। ४. **प्राजापत्याभ्याम्**=सन्तानों का उत्तम रक्षण करनेवाले इन पति-पत्नी के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और उनसे स्वयं भी सन्तानों के सम्यक् रक्षण की प्रेरणा लेते हैं।

भावार्थ—उन्नति के साधनभूत वेद-मन्त्रों का अध्ययन करते हुए हम निरन्तर गतिशील (सूर्य) व्रतमय जीवनवाले (व्रात्य) व सन्तानों का सम्यक् रक्षण करनेवाले (प्राजापत्य) बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**२७ दैवीत्रिष्टुप्, २८दैवीजगती, २९ दैवीपङ्क्तिः**॥

विषासहि-मंगलिक-ब्रह्मा

विषासह्यै स्वाहा॥ २७॥
मङ्गलिकेभ्यः स्वाहा॥ २८॥ **ब्रह्मणे स्वाहा॥ २९॥**

१. **विषासह्यै**=वेदज्ञान द्वारा सब शत्रुओं का पराभव करनेवाली इस गृहिणी के लिए हम **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इससे सब गृहिणियों को 'विषासहि' बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। २. **मंगलिकेभ्यः स्वाहा**=वेदज्ञान द्वारा सदा यज्ञ आदि मंगल कार्यों को करनेवाले पुरुषों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इससे सभी को इन मंगल कार्यों को करने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। ३. अन्ततः हम **ब्रह्मणे**=इन चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त करनेवाले सर्वोत्तम सात्त्विक पुरुष के लिए शुभ शब्द कहते हैं और स्वयं ऐसा बनने का ही अपना लक्ष्य बनाते हैं।

भावार्थ—वेदज्ञान से हम शत्रुओं का मर्षण करनेवाले, मंगल कार्यों को करनेवाले व सर्वोत्तम सात्त्विक स्थिति की ओर बढ़नेवाले बनते हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—चतुष्पदात्रिष्टुप्॥

ब्रह्मा

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्या॑णि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥ ३०॥

१. व्याख्या १९.२२.२१ पर द्रष्टव्य है।

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

देव—देव का धारण—आत्मशासन

येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन्।
तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन॥ १॥

१. इस सूक्त का देवता 'ब्रह्मणस्पति' है—ज्ञान का रक्षक। यह ज्ञान हमें अपने पर शासन करने के योग्य बनाता है। इसप्रकार इस ज्ञान को यहाँ 'वासः' कहा गया है, चूँकि यह हमें आच्छादित करता हुआ पापों से बचाता है। इसी से अन्ततः देवपुरुष प्रभु को अपने हृदयों में धारण करते हैं। **येन**=जिस ज्ञान से **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति उस **सवितारम्**=सर्वोत्पादक—सर्वप्रेरक **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को **परि अधारयन्**=समन्तात् धारण करते हैं। ज्ञान ही वस्तुतः उन्हें देव बनाता है। देव बनकर वे महादेव के समीप होते चलते हैं। अन्ततः वे हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। २. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वमिन् प्रभो! **तेन**=उस ज्ञान से **इमम्**=इस अपने उपासक को भी आप **राष्ट्राय**=इस शरीररूप राष्ट्र की उत्तमता के लिए—अपने पर शासन कर सकने के लिए—**परिधत्तन**=धारण कीजिए।

भावार्थ—ज्ञानरूप वस्त्र हमें पाप आदि से सुरक्षित करता हुआ देव बनाता है और अन्ततः प्रभु-दर्शन कराता है। इसको धारण करते हुए हम आत्मशासन के योग्य बनें।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

प्रभु-धारण व बल-प्राप्ति

परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन। यथैनं जरसे नयां ज्योक्क्षत्रेऽधि जागरत्॥ २॥

१. **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए तथा **महे क्षत्राय**=क्षतों से त्राण करनेवाले महान् बल के लिए **इमम्**=इस **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **परिधत्तन**=अपने हृदयों में धारण करो। २. **यथा**=जिस प्रकार **एनम्**=इस पुरुष को—परमपुरुष प्रभु को—**जरसे**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाली स्तुति के लिए **नयाम्**=प्राप्त करूँ, जिससे यह स्तोता **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **क्षत्रे**=बल के विषय में **अधि जागरत्**=जागरित रहे—अप्रमत्त बना रहे।

भावार्थ—हम जितना-जितना प्रभु को धारण कर पाते हैं, उतना-उतना ही वासनाओं के विनाश के द्वारा बल को धारण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

प्रभु-धारण व ज्ञान-प्राप्ति

परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय धत्तन। यथैनं जरसे नयां ज्योक्श्रोत्रेऽधि जागरत्॥ ३॥

१. **इमं सोमम्**=इस सौम्य (शान्त) प्रभु को **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए तथा **महे श्रोत्राय**=महान् श्रवणीय ज्ञान के लिए **परिधत्तन**=अपने हृदयों में धारण करो। २. **यथा**=जिस प्रकार **एनम्**=इस

प्रभु को **जरसे**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाली स्तुति के लिए **नयाम्**=प्राप्त करूँ, जिससे **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **श्रोत्रे**=श्रवणीय ज्ञान के विषय में यह स्तोता **अधिजागरत्**=खूब जागरित रहे—अप्रमत्त रहे।

भावार्थ—हम जितना-जितना प्रभु का धारण करेंगे उतना-उतना ही वासना-विनाश द्वारा ज्ञान का धारण कर पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञानवस्त्रों का धारण

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ॥ ४॥

१. हे देवो! आप **नः**=हमारे **इयम्**=इस व्यक्ति को **परिधत्तन**=ज्ञानरूप वस्त्र धारण कराओ और इसप्रकार इसे वासनाओं से ऊपर उठाकर **वर्चसा धत्त**=शक्ति के साथ धारण करो। इसके जीवन को आप शक्तिशाली बनाओ। इसे शक्ति-सम्पन्न बनाकर इसके लिए **जरामृत्युम्**=अत्यन्त वृद्धावस्था में मृत्युवाले **दीर्घमायुः**=दीर्घजीवन को **कृणुत**=करो। २. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी सबका आचार्य प्रभु **एतत् वासः**=इस ज्ञान-वस्त्र को **परिधातवा उ**=निश्चय से धारण करने के लिए **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले—विनीत **राज्ञे**=जितेन्द्रिय—इन्द्रियों के राजा—व्यवस्थित जीवनवाले विद्यार्थी के लिए **प्रायच्छत्**=देता है।

भावार्थ—देव हमें ज्ञान-वस्त्र को धारण कराके दीर्घजीवनवाला बनाएँ। ज्ञान का स्वामी आचार्य सौम्य व जितेन्द्रिय विद्यार्थी को ज्ञान देता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गृष्टी-रक्षण

जरां सु गच्छ परि धत्स्व वासो भवा गृष्टीनामभिशस्तिपा उ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व॥ ५॥

१. हे मनुष्य! तू **जरां सुगच्छ**=जरावस्था तक सम्यक् चल—युवावस्था में ही तेरा अन्त न हो जाए। **वासः परिधत्स्व**=ज्ञान-वस्त्र को तू धारण कर और इसप्रकार **गृष्टीनाम्**=इन इन्द्रियरूप गौओं का तू **उ**=निश्चय से **अभिशस्तिपा भव**=हिंसन से रक्षण करनेवाला हो। ये इन्द्रिरूप गौएँ विषयरूप व्याघ्रों से हिंसित न हो जाएँ। ज्ञान की तलवार से तू इन व्याघ्रों का हिंसन कर २. **च**=और **पुरूचीः**=(पुरु अञ्च्) पूरण व पालक खूब ही गतिवाली **शतं शरदः**=सौ शरद् ऋतुओं तक तू **जीव**=जीनेवाला हो **च**=तथा **रायः पोषम्**=ज्ञान के पोषण को **उपसंव्ययस्व**=अपने जीवन में सीनेवाला बन (व्ये-to sew), तुझे पोषक धन की कभी कमी न हो।

भावार्थ—ज्ञान-वस्त्र को धारण करके हम दीर्घजीवनवाले बनें, इन्द्रियरूप गौओं को विषय-व्याघ्रों का शिकार न होने दें। गतिशील १०० शरद ऋतुओं तक जीएँ। पोषक धन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वापी-रक्षण

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्वापीनामभिशस्तिपा उ।
शतं च जीव शरदः पुरूचीर्वसूनि चारुर्वि भजासि जीवन्॥ ६॥

१. हे मनुष्य! तू **इदं वासः**=इस ज्ञानवस्त्र को **परि अधिथाः**=सम्यक् धारण करनेवाला

बन—इससे तू चारों ओर से अपने को ढक ले। इसके धारण से तू **स्वस्तये अभूः**=कल्याण के लिए हो **उ**=और निश्चय से **वापीनाम्**=उत्तम गुणों के बीजों का वपन करनेवाली इन ज्ञानवाणियों का **अभिशस्तिपाः**=हिंसन से रक्षण करनेवाला हो। तू स्वाध्याय में कभी विच्छेद करनेवाला न बन २. **च**=और **पुरूचीः**=खूब ही गतिवाली **शतं शरदः**=सौ शरद् ऋतुओं तक तू **जीव**=जी और **जीवन्**=जीवन को धारण करता हुआ तू **चारुः**=चरणशील होता है—भक्षण की क्रियावाला होता है। तू जीने के लिए ही खाता है। विलास में धन का व्यय कभी नहीं करता। तू इन **वसूनि**=धनों को **विभजासि**=सबके प्रति विभक्त करनेवाला होता है—यज्ञों के द्वारा तू इसे सभी के प्रति विभक्त करता है। स्वयं यज्ञशेष का ही सेवन करता है।

भावार्थ—ज्ञानवस्त्र को धारण करके हम अपना रक्षण करते हुए कल्याण प्राप्त करें। ज्ञान-वाणियों का सदा रक्षण करते हुए उत्तम गुणों के बीजों को अपने में बोएँ। दीर्घकाल तक जीएँ। केवल शरीर-रक्षण के लिए भोजन करता हुआ तू धन को विभक्त कर।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री**॥

योगे-योगे तवस्तरम्

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥ ७॥

१. हम **सखायः**=उस प्रभु के सखा बनते हुए **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली सर्वशक्तिमान् प्रभु को **ऊतये**=रक्षण के लिए **वाजेवाजे**=प्रत्येक संग्राम में **हवामहे**=पुकारते हैं। २. उस प्रभु को हम पुकारते हैं जोकि **योगे-योगे**=प्रत्येक मेल के अवसर पर **तवस्तरम्**=हमारे बलों को बढ़ानेवाले हैं। जितना-जितना प्रभु से हमारा सम्पर्क बढ़ता है, उतना-उतना हमारा बल बढ़ता है और संग्रामों में हम वियजी बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हैं। प्रभु-सम्पर्क से शक्ति का वर्धन होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'हिरण्यवर्ण-अजर-सुवीर'

हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व।
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः॥ ८॥

१. 'प्रभु जीव को क्या कहते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **हिरण्यवर्णः**=ज्योतिर्मय वर्णवाला—तेजस्वी—स्वर्ण के समान चमकता हुआ (तप्तकाञ्चनवर्णाभम्), **अजरः**=जिसकी शक्तियाँ जीर्ण नहीं हो गईं, **सुवीरः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाला, **जरामृत्युः**=पूर्ण जरावस्था में मृत्यु को प्राप्त होनेवाला—युवावस्था में ही न चला जानेवाला तू **प्रजया संविशस्व**=प्रजा के साथ घर में निवास करनेवाला हो। २. **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तत् आह**=उस बात को ही कहते हैं **उ**=और **सोमः**=सौम्य (शान्त) प्रभु **तत् आह**=उस बात को कहते हैं। **बृहस्पतिः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु, **सविता**=सर्वोत्पादक—सर्वप्रेरक प्रभु, **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान्, परमैश्वर्यशाली प्रभु **तत्**=उस बात को ही कहते हैं। अग्नि आदि नामों से प्रभु का स्मरण कराना इसलिए ही है कि हमें यह समझ में आ जाए कि 'हिरण्यवर्ण, अजर, सुवीरः' बनने का प्रकार यही है कि हम भी आगे बढ़ने की भावनावाले बनें (अग्नि), सौम्य (शान्त) स्वभाव हों, ज्ञान की रुचिवाले हों (बृहस्पति), निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त हों (सविता) और जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र)।

भावार्थ—हमारा आदर्श यही हो कि हम 'हिरण्यवर्ण, अजर व सुवीर' बनें। प्रभु के अग्नि आदि नामों से उस-उस प्रेरणा के लेनेवाले बनें।

अग्नि आदि नामों से प्रेरणा लेकर ठीक मार्ग पर चलनेवाला यह व्यक्ति 'गोपथ' कहलाता है। गौएँ—वेदवाणी के मार्ग पर चलनेवाला। यह गोपथ ही अगले सूक्त का ऋषि है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—गोपथः॥ देवता—वाजी॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

वाजी

अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनज्मि प्रथमस्य च।
उत्कूलमुद्वहो भवोदुह्य प्रति धावतात्॥ १॥

१. मार्ग पर बढ़ता हुआ व्यक्ति लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता ही है, अतः प्रभु कहते हैं कि हे जीव! **त्वा**=तुझे उस पुरुष के **मनसा**=मन से **युनज्मि**=युक्त करता हूँ जोकि **अश्रान्तस्य**=कभी थकता नहीं—ऊब नहीं जाता—मार्ग पर बढ़ता ही चलता है, **च**=और अतएव **प्रथमस्य**=प्रथम स्थान में स्थित होता है। प्रथम स्थान में स्थित होने के संकल्पवाले पुरुष के मन से मैं तुझे जोड़ता हूँ। तू अश्रान्तभाव से आगे बढ़ता ही चल। २. **उत्कूलम् उद्वहः**=जैसे नदी किनारों को भी लाँघकर उमड़ पड़ती है, उसी प्रकार तू सब विघ्नों को—रुकावटों को लाँघकर ऊपर उठनेवाला **भव**=हो। **उदुह्य**=अपने को सब विघ्न-बाधाओं से ऊपर उठाकर **प्रति धावतात्**=तू लक्ष्य स्थान की ओर वेग से बढ़नेवाला हो।

भावार्थ—हम अश्रान्त मन से प्रथम स्थान पर पहुँचने के लिए आगे बढ़ते चलें। सब विघ्नों को पार करके लक्ष्य स्थान की ओर बढ़ें।

किसी भी विघ्न-बाधा से न रुकनेवाला 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अग्निः, हिरण्यम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

हिरण्य-धारण व दीर्घजीवन

अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं दध्रे अधि मर्त्येषु।
य एनद्वेद स इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति॥ १॥

१. शरीर में वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) भोजन के परिपाक के द्वारा रस, रुधिर आदि धातुओं का निर्माण करती है। इस निर्माण में अन्तिम धातु 'वीर्य' है। यही 'हिरण्य' है—हित-रमणीय है। यही 'अमृत' है। रोगों से आक्रान्त न होने देनेवाला है। प्रभु ने **अग्नेः प्रजातम्**=वैश्वानर अग्नि से उत्पन्न हुआ-हुआ **यत्**=जो **हिरण्यम्**=हित-रमणीय **अमृतम्**=रोगों से आक्रान्त न होने देनेवाला वीर्य है, उसको **अधिमर्त्येषु**=इन मानव-शरीरों में **परिदध्रे**=समन्तात् स्थापित किया है। २. **यः**=जो पुरुष **एनत् वेद**=इस बात को समझ लेता है, **सः**=वह **इत्**=निश्चय से **एनम् अर्हति**=इस हिरण्य को धारण करने के योग्य होता है। वह इस हिरण्य को धारण करनेवाला बनता है और **यः बिभर्ति**=जो भी इसे धारण करता है, वह **जरामृत्युः भवति**=पूर्ण जरावस्था तक पहुँचकर शरीर को छोड़नेवाला होता है। दीर्घजीवनवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु ने ऐसी व्यवस्था की है कि शरीर में 'वैश्वानर अग्नि' द्वारा रस-रुधिर आदि के क्रम से हिरण्य (वीर्य) की उत्पत्ति होती है। यही अमृत है। जो इसका धारण करता है वह नीरोग होकर दीर्घजीवन प्राप्त करता है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अग्निः, हिरण्यम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

प्रजावन्तः मनवः पूर्वे

यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्व ईषिरे।
तत्त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजत्यायुष्मान्भवति यो बिभर्ति॥ २॥

१. **यत्**=जो **हिरण्यम्**=हित-रमणीय वीर्य है, वह **सूर्येण सुवर्णम्**=सूर्य से उत्तम वर्णवाला है। शरीर में सूर्य की भाँति चमकता है। अथवा सूर्य के सम्पर्क में जीवन बिताने से उत्तम वर्णवाला होता है। जो भी इस हिरण्य को **ईषिरे**=प्राप्त होते हैं (ईष गतौ) वे **प्रजावन्तः**=उत्तम सन्तानोंवाले, **मनवः**=विचारशील—ज्ञानी व **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले होते हैं। २. हे हिरण्य! **तत् चन्द्रम्**=उस आह्लाद के कारणभूत **त्वा**=तुझको **यः बिभर्ति**=जो धारण करता है, वह **वर्चसा संसृजति**=वर्चस् (Vitality) के साथ अपना संसर्ग करता है और **आयुष्मान् भवति**=प्रशस्त दीर्घ जीवनवाला होता है।

भावार्थ—वीर्य-रक्षण द्वारा हम उत्तम सन्तानवाले—विचारशील व अपना पालन व पूरण करनेवाले बनते हैं। यह सुरक्षित वीर्य हमें प्राणशक्ति-सम्पन्न व प्रशस्त दीर्घ जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अग्निः, हिरण्यम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

आयु-वर्चस्-ओजस्-बल

आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च।
यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु॥ ३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित हिरण्य (वीर्य) **त्वा**=तुझे **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए प्राप्त कराए **च**=और **वर्चसे**=वर्चस् के लिए प्राप्त कराए। इस वर्चस् द्वारा ही नीरोग व दीर्घजीवन प्राप्त होगा। यह हिरण्य **त्वा**=तुझे **ओजसे**=ओज के लिए **च**=तथा **बलाय**=बल के लिए प्राप्त कराए। ओज मन की वह शक्ति हैं जोकि अच्छाइयों का वर्धन करती है और बल बुराइयों का विनाश करनेवाली शक्ति है। २. तू **यथा हिरण्यतेजसा**=इस हिरण्य के तेज के अनुपात में—जितना-जितना वीर्य का रक्षण करता है उतना-उतना, **जनान् अनु विभासासि**=जनों का लक्ष्य करके तू दीप्तिवाला होता है—मनुष्यों में तू चमक उठता है। सुरक्षित वीर्य सब शक्तियों को बढ़ाता है और हमारी श्री की वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा हम 'आयु, वर्चस्, ओज व बल' को प्राप्त करें। यह हमें समाज में दीप्त जीवनवाला बनाए।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अग्निः, हिरण्यम्॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः॥

आयुष्यं-वर्चस्यम्

यद्वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पतिः।
इन्द्रो यद् वृत्रहा वेद तत्त आयुष्यं भुवत्तत्ते वर्चस्यं भुवत्॥ ४॥

१. **यत्**=जिस हिरण्य को—वीर्य को **राजा**=व्यवस्थित (regulated) जीवनवाला **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष **वेद**=जानता है, जिस हिरण्य को **देवः**=दिव्यगुणसम्पन्न **बृहस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष **वेद**=जानता है। २. **यत्**=जिस हिरण्य को **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वेद**=जानता है **तत्**=वह हिरण्य **ते**=तेरे लिए **आयुष्यम्**=प्रशस्त आयु को देनेवाला **भुवत्**=हो। **तत्**=वह हिरण्य **ते**=तेरे लिए **वर्चस्यं भुवत्**=उत्तम वर्चस् को—

रोगनिवारकशक्ति को देनेवाला **भुवत्**=हो।

भावार्थ—हम 'निर्द्वेष, ज्ञानी व जितेन्द्रिय' बनकर वीर्य का रक्षण करें। यह सुरक्षित वीर्य हमारे लिए 'आयुष्य व वर्चस्य' हो—हमें दीर्घजीवन व रोगप्रतिबन्धकशक्ति प्राप्त कराए।

वीर्य का रक्षण करता हुआ यह अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व 'भृगु' (भ्रस्ज् पाके) बनाता है और शरीर में रस-(लोच-लचक)-वाला 'अंगिराः' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—त्रिवृत्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

ऋषभ, वृषा, वायु, इन्द्र

गोभिष्ट्वा पात्वृषभो वृषा त्वा पातु वाजिभिः।
वायुष्ट्वा ब्रह्मणा पात्विन्द्रस्त्वा पात्विन्द्रियैः॥ १॥

१. (ऋष दर्शने) **ऋषभः**=वह सर्वद्रष्टा प्रभु **त्वा**=तुझे **गोभिः**=उत्तम गौवों के द्वारा **पातु**=रक्षित करे। इन गौओं का दूध हमारी बुद्धियों का वर्धन करके हमारे ज्ञान को भी बढ़ाता है। **वृषा**=वह शक्तिशाली प्रभु **त्वा**=तुझे **वाजिभिः**=उत्तम घोड़ों के द्वारा **पातु**=रक्षित करे। ये घोड़े उचित व्यायामादि का साधन बनते हुए हमारी बल-वृद्धि का हेतु होते हैं। २. **वायुः**=(वा गति=ज्ञान) ज्ञान के द्वारा सब बुराइयों का विध्वंस करनेवाला वह प्रभु **त्वा**=तुझे **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **पातु**=रक्षित करे। **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु **त्वा**=तुझे **इन्द्रियैः**=उत्तम इन्द्रियों के द्वारा **पातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम गौवें व घोड़े, ज्ञान तथा इन्द्रियों को प्राप्त कराके सुरक्षित करें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—त्रिवृत्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

सोम-सूर्य-चन्द्र-वात

सोमस्त्वा पात्वोषधीभिर्नक्षत्रैः पातु सूर्यः।
माद्भ्यस्त्वा चन्द्रो वृत्रहा वातः प्राणेन रक्षतु॥ २॥

१. **सोमः**=वह सौम्य प्रभु **त्वा**=तुझे **ओषधीभिः**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधियों के द्वारा **पातु**=रक्षित करे। हम सौम्य वानस्पतिक भोजनों द्वारा दीर्घजीवन प्राप्त करें। 'आग्नेय' पदार्थ रोगों के भेषज हैं, नकि भोजन। **सूर्यः**=सूर्यसम देदीप्यमान प्रभु **नक्षत्रैः**=नक्षत्रों के द्वारा हमारा **पातु**=रक्षण करें। सब नक्षत्रों की हमारे साथ अनुकूलता हो 'सर्वं शान्तिः'। २. वह **वृत्रहा**=सब वासनाओं का विनाश करनेवाला **चन्द्रः**=आह्लादमय प्रभु **माद्भ्यः**=मासों के द्वारा—(मस्=to measure) प्रमाणों के द्वारा—तत्त्वज्ञान को प्राप्त कराने के द्वारा **त्वा**=तेरी **रक्षतु**=रक्षा करें तथा **वातः**=निरन्तर गतिशील प्रभु **प्राणेन**=प्राणशक्ति के द्वारा हमारा रक्षण करें।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम ओषधियों, नक्षत्रों, तत्त्वज्ञान तथा प्राणशक्ति के द्वारा रक्षित करें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—त्रिवृत्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

त्रिवृता त्रिवृद्भिः (रक्षन्तु)

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान्।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः॥ ३॥

१. **दिवः**=द्युलोकों को **तिस्रः**=उत्तम, अधम व मध्यम भेद से तीन प्रकार का **आहुः**=कहते

हैं। **पृथिवीः**=पृथिवियों को भी **तिस्रः**=उत्तम, मध्यम व अधमभेद से **तिस्रः**=तीन प्रकार का कहते हैं। इसी प्रकार **अन्तरिक्षाणि**=अन्तरिक्षों को भी **त्रीणि**=तीन प्रकार का कहते हैं। २. **समुद्रान्** (रायः समुद्राँश्चतुरः०)=ज्ञान के समुद्रभूत इन वेदों को **चतुरः**=चार कहते हैं (ऋग्, यजुः, साम, अथर्व)। **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **त्रिवृतम्**=तीन में होनेवाला कहते हैं। प्रकृति के पदार्थों का गुणवर्णन ही प्रकृतिस्तवन है। जीव के कर्त्तव्यों का उपदेश जीवस्तवन है। प्रभु की उपासना का प्रतिपादन प्रभु-स्तवन है। **आपः**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः) मानव-सन्तानों को भी **त्रिवृतः**='ज्ञान, कर्म व उपासना' इन तीन में चलनेवाला कहते हैं। कई मनुष्य ज्ञानप्रधान होते हैं, कई कर्मप्रधान और कई भक्तिप्रधान। **ताः**=वे सब **त्रिवृता**=तीन-तीन रूपों में होते हुए **त्रिवृद्भिः**=(**त्रिषु वर्तन्ते**) शरीर, मन व बुद्धि पर प्रभाव डालनेवाले कर्म, भक्ति व ज्ञान के द्वारा **रक्षन्तु**=रक्षित करें। 'कर्म' शरीर को, 'भक्ति' मन को तथा 'ज्ञान' मस्तिष्क को सुन्दर बनाए।

भावार्थ—हम 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों का अपने में समन्वय करते हुए 'कर्म' से पृथिवीलोक का, 'भक्ति' से अन्तरिक्षलोक का तथा 'ज्ञान' से द्युलोक का विजय करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**त्रिवृत्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गोप्ता

त्रीन्नाकांस्त्रीन्त्समुद्रांस्त्रीन्ब्रध्नांस्त्रीन्वैष्टपान्।
त्रीन्मातरिश्वनस्त्रीन्त्सूर्यान्गोप्तृन्कल्पयामि ते॥ ४॥

१. **त्रीन् नाकान्**=तीन मोक्षलोकों को (सूचना—मोक्ष में ब्रह्म के साथ विचरते हुए जीवों में भी 'जिसका ज्ञान जितना अधिक होता है उसे उतना ही आनन्द अधिक होता है' इस आचार्यवाक्य के अनुसार मोक्ष भी उत्तम, मध्यम, अधम स्थिति के अनुसार तीन भागों में विभक्त है), **त्रीन् समुद्रान्**=तीन 'ऋक्, यजुः, साम' मन्त्ररूप ज्ञान समुद्रों को, **त्रीन् ब्रध्नान्**=(ब्रध्न=महान्) 'मन, बुद्धि, अहंकार' रूप तीन महान् तत्त्वों को, **त्रीन् वैष्टपान्**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक-रूप तीन लोकों को **ते**=तेरा **गोप्तृन्**=रक्षक **कल्पयामि**=बनाता हूँ। मोक्षलोकों का ध्यान भी मुझे वासना में फँसने से बचाता है। २. **त्रीन् मातरिश्वनः**='प्राण, अपान, व्यान'-(भूः, भुवः, स्वः) रूप तीन वायुओं को तथा **त्रीन् सूर्यान्**=प्रातः, मध्याह्न व सायंकाल के भेदरूप सूर्यों को तेरा रक्षक बनाता हूँ। प्राणसाधना व सूर्य का सेवन मानस व शारीर स्वास्थ्य को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—'मोक्ष-प्राप्ति का ध्यान, वेद का अध्ययन 'मन, बुद्धि व अहंकार' के महत्त्व को समझना, त्रिलोकी के स्वरूप का चिन्तन, प्राणसाधना व सूर्य-सेवन' ये सब हमारे मानस व शारीर स्वास्थ्य के रक्षक बनते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**त्रिवृत्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'अग्नि, चन्द्र, सूर्य'

घृतेन त्वा समुक्षाम्यग्न आज्येन वर्धयन्।
अग्नेश्चन्द्रस्य सूर्यस्य मा प्राणं मायिनो दभन्॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **आज्येन** (अञ्ज् कान्तौ) आपकी प्राप्ति की प्रबल कामना से आपको अपने हृदयदेश में **वर्धयन्**=बढ़ाता हुआ मैं **त्वा**=आपको **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति से **समुक्षामि**=अपने हृदय में सम्यक् सिक्त करता हूँ। मेरा हृदय आपकी भावना से ओतप्रोत हो जाता है। २. ऐसा होने पर मैं शरीर में शक्ति की अग्निवाला, मन में आह्लादवाला (चन्द्र) तथा मस्तिष्क में दीप्त ज्ञान के सूर्यवाला बनता हूँ। इस **अग्नेः चन्द्रस्य सूर्यस्य**=शरीर

में अग्नि, मन में चन्द्र तथा मस्तिष्क में सूर्य के **प्राणम्**=प्राण को **मायिनः**=मायाविनी वृत्तियाँ—राक्षसीभाव **मा दभन्**=मत हिंसित करें। जब हम अग्नि, चन्द्र व सूर्य बनते हैं तब आसुरभावों से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना, मल-क्षरण व ज्ञानदीप्ति से प्रभु को हृदयों में आसीन करें। तब हम शरीर में 'अग्नि', मन में 'चन्द्र' तथा मस्तिष्क में 'सूर्य' बनेंगे। ऐसा होने पर हम आसुरभावों से आक्रान्त नहीं होंगे।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिवृत् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवः

मा वः प्राणं मा वोऽपानं मा हरो मायिनो दभन्।
भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवा दैव्येन धावत ॥ ६ ॥

१. **वः**=तुम्हारी **प्राणम्**=प्राणशक्ति को **मायिनः**=आसुर-(मायावी)-भाव **मा दभन्**=मत हिंसित करें। **वः**=तुम्हारी **अपानम्**=अपानशक्ति को **मा**=ये आसुरभाव मत हिंसित करें तथा **हरः**=तुम्हारे शत्रुबलापहारक तेज को **मा**=ये आसुरभाव मत हिंसित करें। आसुरी वृत्तियों से प्राणापान व तेज का विनाश होता है। २. आसुरी वृत्तियों में न फँसकर प्राणापान की शक्ति व तेजस्विता से **भ्राजन्तः**=चमकते हुए **विश्ववेदसः**=सब ज्ञानों व धनों को प्राप्त करनेवाले (विद् ज्ञाने, विद् लाभे) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! तुम **दैव्येन धावत**=उस देव (प्रभु) के प्राप्त करनेवाले यज्ञादि उत्तम कर्मों से **धावत**=गतिशील बनते हुए अपने जीवनों को शुद्ध बना डालो (धावु गतिशुद्ध्योः)।

भावार्थ—हम आसुरभावों से ऊपर उठकर प्राणापान की शक्ति व तेज का अपने में रक्षण करें। तेजस्विता से दीप्त, ज्ञानी व देव बनकर हम देवोचित कार्यों को करते हुए अपने जीवनों को शुद्ध बना डालें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिवृत् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्राण से 'अग्नि, वात, सूर्य'

प्राणेनाग्निं सं सृजति वातः प्राणेन संहितः।
प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवा अजनयन् ॥ ७ ॥

१. प्रभु **प्राणेन**=इस प्राणशक्ति के द्वारा **अग्निम्**=शरीरस्थ वैश्वानर अग्नि को **संसृजति**=सम्यक् सृष्ट करते हैं। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'। प्राण से युक्त यह अग्नि भोजन का समुचित पाचन करता है। **प्राणेन**=प्राण से **वातः**=(वा गतौ) निरन्तर क्रियाशीलता का भाव हृदय में **संहितः**=सम्यक् धारण किया जाता है। प्राणशक्ति हमें क्रियाशील बनाती है। २. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **प्राणेन**=प्राण से ही **विश्वतोमुखम्**=सब ओर मुखोंवाले **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **अजनयन्**=प्रादुर्भूत करते हैं। प्राणसाधना से ही ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। यह ज्ञानदीप्ति सब पदार्थों का सम्यक् प्रकाश करने के कारण 'विश्वतोमुख' कही गई है।

भावार्थ—प्राणशक्ति के ठीक होने पर शरीररूप पृथिवी में 'अग्नि' देव, मनरूप अन्तरिक्ष में 'वायु' देव तथा मस्तिष्करूप द्युलोक में 'सूर्य' देव की स्थापना होती है। शरीर में शक्ति, हृदय में कर्मसंकल्प व मस्तिष्क में ज्ञान का निवास होता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिवृत् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आयुः कृत, आयुष्मान्, आत्मन्वान्

आयुषायुष्कृतां जीवायुष्माञ्जीव मा मृथाः ।
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम् ॥ ८ ॥

१. साधना के द्वारा **आयुः कृताम्**=आयुष्य का सम्पादन करनेवाले पुरुषों की **आयुषा**=आयु से **जीव**=तू जीनेवाला बन। **आयुष्मान्**=प्रशस्त आयुष्यवाला होकर **जीव**=जी। **मा मृथाः**=मर मत। हम साधना के द्वारा दीर्घजीवन का सम्पादन करें और प्रशस्त आयुष्यवाले बनें। २. **आत्मन्वताम्**=प्रशस्त मनवाले पुरुषों के **प्राणेन**=प्राण से **जीव**=तू जीवनवाला बन अथवा प्राणसाधना द्वारा प्रशस्त मनवाला होकर जीवन बिता। तुझमें प्रशस्त मन व प्राणशक्ति का समन्वय हो। तू **मृत्योः**=मृत्यु के **वशम्**=वश में **मा अगाः**=मत जा। मृत्यु तुझे अपने वशीभूत न कर ले।

भावार्थ—हम साधना के द्वारा दीर्घजीवी बनें। प्रशस्त जीवनवाले हों। प्राणसाधना द्वारा मन को निर्मल करके 'आत्मन्वान्' बनें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिवृत् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

देवनिधि 'हिरण्य'

देवानां निहितं निधिं यमिन्द्रोऽन्वविन्दत्पथिभिर्देवयानैः ।
आपो हिरण्यं जुगुपुस्त्रिवृद्भिस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥ ९ ॥

१. **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों के द्वारा **निहितम्**=अपने शरीर में स्थापित **निधिम्**=निधि को—कोश को **यम्**=जिस निधि को **इन्द्रः**=देवताओं का मुखिया जितेन्द्रिय पुरुष **देवयानैः पथिभिः**=देवयान मार्गों से—देवोचित कर्मों को ही करते रहने से **अन्वविन्दत्**=प्राप्त करता है। उस **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्य को **आपः**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाली प्रजाएँ **त्रिवृद्भिः**='ज्ञान, कर्म व उपासना' में लगे रहने से **जुगुपुः**=रक्षित करती हैं। २. हे हिरण्य! **ताः**=वे प्रजाएँ **त्वा**=तुझे **त्रिवृता**='शक्ति, भक्ति व ज्ञान' में वर्तन के हेतु से **त्रिवृद्भिः**=सदा 'ज्ञान, कर्म व उपासना' में लगे रहने के द्वारा रक्षन्तु रक्षित करें। सुरक्षित वीर्य 'शक्ति, भक्ति व ज्ञान' को बढ़ाता है। इसप्रकार हमें शारीरिक, मानस व बौद्धिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—देवयान मार्गों से चलने पर जितेन्द्रिय बनते हुए हम 'हिरण्य' का रक्षण करते हैं। यह हमारे अन्दर शक्ति, पवित्रता व ज्ञान का संचार करता है। हमारा जीवन 'ज्ञान, कर्म व उपासना' मय बनता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिवृत् ॥ छन्दः—आर्च्युष्णिक् ॥

प्रियायमाणाः

त्रयस्त्रिंशद्देवतास्त्रीणि च वीर्या ॑णि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्व॑न्तः ।
अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्याणि ॥ १० ॥

१. **त्रयस्त्रिशद् देवताः**=तेतीस देव हैं। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति **च**=और **त्रीणि वीर्याणि**=कायिक, वाचिक व मानसभेद से तीन वीर्य हैं। **अप्सु**=प्रजाओं में (आपो नारा इति प्रोक्ताः) **प्रियायमाणाः**=प्रभु को प्रीणित करनेवाले लोग **अन्तः**=अपने अन्दर इन देवों व वीर्यों का **जुगुपुः**=रक्षण करते हैं। (सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते। 'सूर्यः चक्षुर्भूत्वा०, वायुः प्राणो भूत्वा० अग्निर्वाग् भूत्वा०') जब हम यज्ञादि कर्मों से प्रभु-प्रीणन में प्रवृत्त होंगे तब अपने अन्दर देवों व वीर्यों का रक्षण कर पाएँगे। २. **अस्मिन्**=इस प्रभु-प्रीणन

में प्रवृत्त **चन्द्रे**=आह्लादमय मनोवृत्तिवाले पुरुष में **यत्**=जो **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्यशक्ति है, **तेन**=उस हिरण्य से ही **अयम्**=यह चन्द्र=मनःप्रसादयुक्त पुरुष **वीर्याणि कृणवत्**=कायिक, वाचिक व मानस शक्तिशाली कर्मों को करता है।

भावार्थ—हम यज्ञादि कर्मों के द्वारा प्रभु-प्रणीन में प्रवृत्त रहें। इससे वासनाओं से आक्रान्त न होकर हम अपने अन्दर हिरण्य (वीर्य) का रक्षण कर पाएँगे। इस सुरक्षित वीर्य द्वारा हम शरीर, मन व बुद्धि से पराक्रम के कार्य करते हुए दिव्य-गुण-सम्पन्न जीवनवाले बनेंगे।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—त्रिवृत्॥ छन्दः—११ आर्च्युष्णिक्, १२ आर्च्यनुष्टुप्, १३ साम्नीत्रिष्टुप्॥

(एकादश-एकादश-एकादश), यज्ञशेष का सेवन

ये देवा दिव्येकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥ ११॥

ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥ १२॥

ये देवाः पृथिव्यामेकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥ १३॥

१. **ये**=जो **देवाः**=देव **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **एकादश स्थ**=ग्यारह हो, **ते देवासः**=वे देव इस त्यागपूर्वक अदन को (हु दानादनयोः)—यज्ञशेष के सेवन को **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। मेरे द्युलोकस्थ देव सदा यज्ञशेष का सेवन करें। यज्ञशेष का सेवन ही देवों के देवत्व को स्थिर रखता है। इसी से 'दशप्राण व जीवात्मा' ठीक बने रहेंगे। २. **ये देवाः**=जो देव **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **एकादश स्थ**=ग्यारह हैं, **ते देवासः**=वे देव **इदं हविः जुषध्वम्**=इस यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों। अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देव 'दश इन्द्रियाँ व मन' हैं, यज्ञशेष का सेवन इन्हें स्वस्थ रखता है। इससे इनका देवत्व बना रहता है। ३. **ये देवाः**=जो देव **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में **एकादश स्थ**=दश इन्द्रियगोलक और अन्नमयकोश हैं, **ते देवासः**=वे सब देव **इदं हविः**=इस हवि का **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। यज्ञशेष के सेवन से ये सब ठीक बने रहते हैं।

भावार्थ—यज्ञशेष के सेवन से शरीरस्थ तेतीस देव ठीक बने रहें। इनका देवत्व नष्ट न हो, यही पूर्ण स्वास्थ्य है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—त्रिवृत्॥ छन्दः—१४ अनुष्टुप्, १५ षट्पदाऽतिशक्वरी॥

असपत्नम्-अभयम्, अघ्न्या, जातवेदाः

असपत्नं पुरस्तात्पश्चान्नो अभयं कृतम्।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः॥ १४॥
दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म॥ १५॥

१. व्याख्या १९.१६.१-२ पर द्रष्टव्य है।

यह अघ्न्या (अहन्तव्या) वेदवाणी का स्वाध्याय करनेवाला व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है। इसी के अगले तीन सूक्त हैं—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—दर्भमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दीर्घायुत्वाय, तेजसे

इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे।
दर्भं सपत्नदम्भनं द्विषतस्तपनं हृदः ॥ १ ॥

१. 'आपो दर्भाः श० २.२.३.११' इस वाक्य के अनुसार 'आपः' ही 'दर्भः' कहलाते हैं। 'आपः' शरीरस्थ रेतःकणों का नाम है, अतः रेतःकण ही 'दर्भ' कहे गये हैं। रेतःकण 'मणि' व 'रत्न' हैं—शरीर में रमणीयतम वस्तु हैं, अतः 'दर्भमणि' शब्द का प्रयोग इन रेतःकणों के लिए हुआ है। **इमम्**=इस **मणिम्**=मणि को **ते बध्नामि**=तेरे लिए बाँधता हूँ। शरीर में इसे सुबद्ध करता हूँ, ताकि **दीर्घायुत्वाय**=तुझे दीर्घजीवन प्राप्त हो तथा **तेजसे**=तू तेजस्वी बने। २. इस **दर्भम्**=दर्भ को मैं तेरे लिए बाँधता हूँ, क्योंकि (दृभ to fear, to be afraid of) इससे सब रोग भयभीत होते हैं। **सपत्नदम्भनम्**=यह तो रोगरूप शत्रुओं को हिंसित करनेवाला है। **द्विषतः हृदः तपनम्**=ये दर्भ हमसे प्रीति न करनेवाले शत्रु के हृदय को संतप्त करनेवाले हैं। शरीर में दर्भ का बन्धन होने पर शरीर में रोगरूप शत्रुओं का वास नहीं हो पाता।

भावार्थ—शरीर में वीर्यकणों के रूप में रहनेवाले 'आपः' ही 'दर्भ' हैं। इनका शरीर में बँधन होने पर वहाँ रोगरूप शत्रु नहीं आ सकते। यह रोगों से अनाक्रान्त व्यक्ति दीर्घजीवी व तेजस्वी बनता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—दर्भमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

द्विषन्-शत्रु-दुर्हार्दः

द्विषतस्तापयन्हृदः शत्रूणां तापयन्मनः।
दुर्हार्दः सर्वांस्त्वं दर्भ घर्मइवाभीन्त्सन्तापयन् ॥ २ ॥

१. **द्विषतः**=हमसे प्रीति न करनेवाले विरोधियों के **हृदः**=हृदयों को **तापयन्**=सन्तप्त करता हुआ यह 'दर्भ' है। **शत्रूणाम्**=हमारा शातन करनेवाले शत्रुओं के **मनः**=मन को **तापयन्**=तपाता हुआ यह दर्भ है। २. हे **दर्भ**=शत्रुओं को भयभीत करनेवाले दर्भमणे! **त्वम्**=तू **सर्वान्**=सब **अभीन्**=न डरनेवाले—अति प्रबल **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवालों को **घर्मः इव**=आदित्य की भाँति **तापयन्**=संतप्त करता हुआ हो।

भावार्थ—दर्भमणि के धारण से—वीर्य-रक्षण से द्वेषभाव दूर हो जाते हैं, 'काम, क्रोध, लोभ' आदि शत्रु विनष्ट हो जाते हैं, हृदय से सब दुर्भाव दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—दर्भमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सपत्न-हृदय-भेदन

घर्मइवाभितपन्दर्भ द्विषतो नितपन्मणे।
हृदः सपत्नानां भिन्द्धीन्द्रइव विरुजं बलम् ॥ ३ ॥

१. **घर्मः इव**=सूर्य के समान **अभितपन्**=दीप्त होते हुए **दर्भ मणे**=शत्रु-हिंसक वीर्यमणे! तू **द्विषतः नितपन्**=हमारे साथ प्रीति न करनेवाले रोगरूप शत्रुओं को नितरां संतप्त करते हुए **सपत्नानाम्**=इन शत्रुओं के **हृदः भिन्धि**=हृदयों को विदीर्ण कर दे। २. **इन्द्रः इव**=इन्द्र की भाँति—शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष की भाँति **बलम्**=शत्रु-सैन्य को **विरुजम्**

(रुजो भंगे) भग्न करनेवाली हो।

भावार्थ—वीर्य ही दर्भमणि है—रोगरूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाली है। यह सूर्य की भाँति दीप्त होती हुई रोग-सैन्य को संतप्त करके नष्ट कर डाले।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रु-शिरो-विपातन

भिन्द्धि दर्भ सपत्नानां हृदयं द्विषतां मणे।
उद्यन्त्वचमिव भूम्याः शिर एषां वि पातय॥ ४॥

१. हे **दर्भ**=दर्भमणे—रोगरूप शत्रुओं की हिंसक वीर्यमणे! तू **सपत्नानाम्**=रोगरूप शत्रुओं के **हृदयम्**=हृदय को **भिन्धि**=विदीर्ण कर दे। रोगों के प्राबल्य को समाप्त कर दे। २. **उद्यन्**=शरीर में ऊर्ध्व गतिवाली होती हुई तू **भूम्याः त्वचम् इव**=जैसे कोई कुदाल आदि से भूमि की उपरली त्वचा को खोद डालता है, उसी प्रकार तू **एषां द्विषताम्**=इन, हमारे साथ प्रीति न करनेवाले रोगरूप शत्रुओं के **शिरः विपातय**=सिर को काटकर गिरा दे।

भावार्थ—शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर रोगरूप शत्रुओं का सिर कट जाता है, अर्थात् रोग विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगों का विदारण

भिन्द्धि दर्भ सपत्नान्मे भिन्द्धि मे पृतनायतः।
भिन्द्धि मे सर्वान्दुर्हार्दो भिन्द्धि मे द्विषतो मणे॥ ५॥

१. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! **मे**=मेरे **सपत्नान्**=शत्रुभूत रोगों को **भिन्धि**=विदीर्ण कर डाल। ये **पृतनायतः**=मुझपर सेना से चढ़ाई करनेवाले—नाना प्रकार के उपद्रवों के साथ आक्रमण करनेवाले इन रोगों को **भिन्धि**=नष्ट कर। २. मेरे प्रति **सर्वान्**=सब **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवाले—मेरा अशुभ चाहनेवाले शत्रुओं को **भिन्धि**=विदीर्ण कर। हे **मणे**=वीर्य! तू **मे द्विषतः**=मेरे साथ अप्रीतिवाले इन रोगरूप शत्रुओं को **भिन्धि**=विदीर्ण कर।

भावार्थ—रोग हमारे सपत्न हैं—हमारे शरीर पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं। ये रोग विविध उपद्रवोंरूप सैन्य के साथ हमपर आक्रमण करते हैं। ये हमारे प्रति दुष्टभाववाले हैं—ये कभी हमारा भला नहीं करते। इनकी हमारे साथ कोई प्रीति नहीं। वीर्य शरीर में सुरक्षित होने पर इनका विदारण कर देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोग-छेदन

छिन्द्धि दर्भ सपत्नान्मे छिन्द्धि मे पृतनायतः।
छिन्द्धि मे सर्वान्दुर्हार्दान् छिन्द्धि मे द्विषतो मणे॥ ६॥

१. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! **मे**=मेरे **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को **छिन्धि**=(छिदिर् द्वैधीकरणे) दो टुकड़ों में काट डाल। **मे**=मुझपर **पृतनायतः**=उपद्रवसैन्य से आक्रमण करनेवाले इन रोगरूप शत्रुओं को **छिन्धि**=छिन्न कर दे। २. **मे**=मेरे प्रति **सर्वान्**=सब **दुर्हार्दान्**=दुष्ट हृदयवाले इन रोगों को **छिन्धि**=काट डाल। हे **मणे**=वीर्य! **मे द्विषतः**=मेरे प्रति अप्रीतिवाले इन रोगों को **छिन्धि**=समाप्त कर डाल।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित होने पर वीर्य रोगों का छेदन कर डालता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग-वृश्चन

वृश्च दर्भ सपत्नान्मे वृश्च मे पृतनायतः।
वृश्च मे सर्वान्दुर्हार्दो वृश्च मे द्विषतो मणे॥ ७॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों का वृश्चन (छेदन) कर डालता है। रोगवृक्ष के लिए वीर्य कुल्हाड़े के समान है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग-कर्तन

कृन्त दर्भ सपत्नान्मे कृन्त मे पृतनायतः।
कृन्त मे सर्वान्दुर्हार्दः कृन्त मे द्विषतो मणे॥ ८॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों का कर्तन कर देता है। रोग की बेलों के लिए यह वीर्य कर्तरिका=कैंची के समान है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोगों को पीस डालना

पिंश दर्भ सपत्नान्मे पिंश मे पृतनायतः।
पिंश मे सर्वान्दुर्हार्दः पिंश मे द्विषतो मणे॥ ९॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों को पीस डालता है (पिश अवयवे)

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग वेधन

विध्य दर्भ सपत्नान्मे विध्य मे पृतनायतः।
विध्य मे सर्वान्दुर्हार्दो विध्य मे द्विषतो मणे॥ १०॥

भावार्थ—'सुरक्षित वीर्य' रूप सेनापति रोगरूप शत्रुओं का सिर विद्ध करता हुआ उन्हें धराशायी कर देता है।

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोगों को छेद डालना

निक्ष दर्भ सपत्नान्मे निक्ष मे पृतनायतः।
निक्ष मे सर्वान्दुर्हार्दो निक्ष मे द्विषतो मणे॥ १॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों को छेद डालता है (निक्ष् to pierce)।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोगहिंसन

तृन्द्धि दर्भ सपत्नान्मे तृन्द्धि मे पृतनायतः।
तृन्द्धि मे सर्वान्दुर्हार्दस्तृन्द्धि मे द्विषतो मणे॥ २॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगरूप शत्रुओं को कुचल डालता है (तृद्-हिंसने)।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग-निरोध

रुन्धि दर्भ सपत्नान्मे रुन्धि मे पृतनायतः।
रुन्धि मे सर्वान्दुर्हार्दो रुन्धि मे द्विषतो मणे॥ ३॥

भावार्थ—शरीर में वीर्य के सुरक्षित होने पर रोगों का स्वभावतः निरोध हो जाता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोगों को मसल (to Slay) डालना

मृण दर्भ सपत्नान्मे मृण मे पृतनायतः।
मृण मे सर्वान्दुर्हार्दो मृण मे द्विषतो मणे॥ ४॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों का संहार कर डालता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग मन्थन (Humiliate, crush down)

मन्थ दर्भ सपत्नान्मे मन्थ मे पृतनायतः।
मन्थ मे सर्वान्दुर्हार्दो मन्थ मे द्विषतो मणे॥ ५॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों का सर्वथा विनाश कर डालता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग-संचूर्णन

पिण्ढि दर्भ सपत्नान्मे पिण्ढि मे पृतनायतः।
पिण्ढि मे सर्वान्दुर्हार्दः पिण्ढि मे द्विषतो मणे॥ ६॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों का चूरा-चूरा कर डालता है (पिष् संचूर्णने)।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग-दहन

ओष दर्भ सपत्नान्मे ओष मे पृतनायतः।
ओष मे सर्वान्दुर्हार्द ओष मे द्विषतो मणे॥ ७॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों को संदग्ध कर देता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोगों को भस्मीभूत कर देना

दह दर्भ सपत्नान्मे दह मे पृतनायतः।
दह मे सर्वान्दुर्हार्दो दह मे द्विषतो मणे॥ ८॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों को भस्मीभूत कर देता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग-हनन

जहि दर्भ सपत्नान्मे जहि मे पृतनायतः।
जहि मे सर्वान्दुर्हार्दो जहि मे द्विषतो मणे॥ ९॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों को सुदूर विनष्ट करनेवाला होता है।

सूचना—प्रस्तुत प्रसंग में साहित्य की 'अभ्यास' शैली का सुन्दर चित्रण हो गया है। एक ही बात को क्रमशः 'भिन्द्धि, छिन्द्धि, वृश्च, कृन्त, पिंश, विध्य, निक्ष, तृन्द्धि, रुन्द्धि, मृण, मन्थ, पिण्ड्ढि, ओष, दह व जहि' क्रियाओं से कहा गया है।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अद्वितीय कवच

यत्ते दर्भ जरामृत्युः शतं वर्मसु वर्म ते।
तेनेमं वर्मिणं कृत्वा सपत्नां जहि वीर्यैः॥ १॥

१. वीर्यकण ही वस्तुतः रोगों से रक्षित करनेवाला महान् कवच है, अतः कहते हैं कि हे **दर्भ**=रेतःकण! **यत्**=जो **ते**=तेरा **वर्म**=कवच है, वह **ते**=तेरा कवच **शतं वर्मसु**=सैकड़ों कवचों में एक अद्वितीय ही कवच है। यह कवच **जरामृत्युः**=पूर्ण वृद्धावस्था के बाद ही मृत्यु को प्राप्त करानेवाला है। इस कवच से रक्षित होकर मनुष्य युवावस्था में ही समाप्त नहीं हो जाता। २. **तेन**=उस कवच से **इमम्**=इस इन्द्र को **वर्मिणं कृत्वा**=कवचवाला करके **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को **वीर्यैः**=पराक्रमों द्वारा **जहि**=सुदूर विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य एक अद्वितीय कवच है। यह हमें रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता। यह हमें पूर्ण आयुष्य प्राप्त कराता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

जरसे-भर्तवे

शतं ते दर्भ वर्माणि सहस्रं वीर्याणि ते।
तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः॥ २॥

१. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! **ते**=तेरे **वर्माणि**=कवच **शतम्**=सैकड़ों हैं। यह वीर्यमणि हमें शतवर्षपर्यन्त कवच धारण कराती हुई रोगों से आक्रान्त नहीं होने देती। हे दर्भ! **ते वीर्याणि**=तेरे पराक्रम **सहस्रम्**=हज़ारों हैं। यह वीर्यमणि हज़ारों प्रकार से रोगरूप शत्रुओं को आक्रान्त करती है। २. **तं त्वाम्**=उस तुझको **विश्वेदेवाः**=सब प्राकृतिक देव **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **अदुः**=देते हैं, जिससे **जरसे**=यह पूर्ण जरावस्था तक आयुष्यों को भोगनेवाला हो तथा **भर्तवे**=ठीक से अपना भरण-पोषण कर सके।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य शरीर को विविध कवचों को धारण कराता है—पराक्रमवाला बनाता है। सब प्राकृतिक शक्तियाँ इस कवच को हमें दीर्घजीवन व भरण के लिए प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

देववर्म—इन्द्रवर्म

त्वामाहुर्देववर्म त्वां दर्भ ब्रह्मणस्पतिम्।
त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि॥ ३॥

१. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! **त्वाम्**=तुझे **देव-वर्म आहुः**=उस महान् देव प्रभु से दिया हुआ कवच कहते हैं। इस कवच को देववृत्ति के व्यक्ति ही धारण कर पाते हैं, इसलिए भी यह 'देववर्म' कहलाया है। **त्वाम्**=तुझे **ब्रह्मणस्पतिम् आहुः**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञान का रक्षक कहते हैं। सुरक्षित

वीर्य ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। २. हे दर्भ! **त्वाम्**=तुझे **इन्द्रस्य वर्म आहुः**=जितेन्द्रिय पुरुष का कवच कहते हैं। एक जितेन्द्रिय पुरुष ही वीर्य का रक्षण कर पाता है। यह सुरक्षित वीर्य उसका कवच बनता है और उसे रोगाक्रान्त नहीं होने देता। यह जितेन्द्रिय पुरुष ही राष्ट्र का सम्यक् शासन कर पाता है। 'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः', अतः कहते हैं कि हे वीर्य! **त्वम्**=तू ही **राष्ट्राणि रक्षसि**=राष्ट्रों का रक्षण करता है।

भावार्थ—हम देववृत्ति के व जितेन्द्रिय बनकर वीर्य का रक्षण कर पाते हैं। सुरक्षित वीर्य हमारी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और हमें रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता। यही एक राजा को राष्ट्ररक्षण की योग्यता प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सपत्नक्षयणं-द्विषतस्तपनम्

सपत्नक्षयणं दर्भ द्विषतस्तपनं हृदः।
मणिं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं कृणोमि ते॥ ४॥

१. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! तू **सपत्नक्षयणम्**=रोगरूप सपत्नों का क्षय करनेवाला है। **द्विषतः**=हमसे प्रीति न करनेवाले राग-द्वेष आदि के **हृदः**=हृदयों को तू **तपनम्**=सन्तप्त करनेवाला है, अर्थात् इनको समाप्त करनेवाला है। २. तू **क्षत्रस्य वर्धनम्**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल का बढ़ानेवाला है। **मणिम्**=तू मणि के तुल्य है। **ते**=तेरे द्वारा ही मैं **तनूपानम्**=शरीर का रक्षण **कृणोमि**=करता हूँ। अथवा शरीर में तेरा पान करता हूँ। शरीर में तुझे सुरक्षित करता हुआ मैं अपने को रक्षित करता हूँ।

भावार्थ—रोगरूप सपत्नों का नाश करनेवाली इस दर्भमणि (वीर्य) को मैं शरीर में सुरक्षित करता हुआ, इसके द्वारा अपना रक्षण करता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समुद्रः-पर्जन्यः

यत्समुद्रो अभ्यक्रन्दत्पर्जन्यो विद्युता सह।
ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत॥ ५॥

१. **यत्**=जब **समुद्रः**=(स-मुद्) मनःप्रसाद से युक्त यह **पर्जन्यः**=(परां तृप्तिं जनयति) अपने अन्दर परापृप्ति को अनुभव करनेवाला आत्मतृप्त पुरुष **विद्युता सह**=विशिष्ट द्युति के साथ होता है और **अभ्यक्रन्दत्**=प्रभु का लक्ष्य करके आह्वान करता है—प्रभु का आराधन करता है, **ततः**=तभी यह **बिन्दुः**=रेतःकण **हिरण्ययः**=इसके लिए हितरमणीय व ज्योतिर्मय होता है। २. शरीर में वीर्यरक्षण के लिए साधन हैं (१) मन को प्रसन्न रखना (समुद्रः), (२) प्रभु का आराधन (अभ्यक्रन्दत्), (३) अपने अन्दर तृप्ति अनुभव करना—विषयों की ओर न जाना (पर्जन्यः), (४) ज्ञानप्रधान बनना (विद्युता सह)। **ततः**=ऐसा होने पर यह वीर्य **दर्भः अजायत**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाला हो जाता है। इससे रोग भयभीत हो उठते हैं (दृभ=to be afraid of)

भावार्थ—मनःप्रसाद से युक्त होकर हम प्रभु का आह्वान करें। यह प्रभु-स्मरण हमारे वीर्य का रक्षण करेगा और सुरक्षित वीर्य हमारे शत्रुओं को भयभीत करनेवाला होगा।

प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने जीवन में वीर्य का सम्पादन करनेवाला 'सविता' अगले सूक्त का ऋषि है। यह वीर्यशक्ति को 'औदुम्बरमणि' के रूप में स्मरण करता है 'सोऽब्रवीत् अयं वाव

स मा सर्वस्मात् पाप्मन् उद् अभार्जीत् तस्मात् उदुम्भरः। उदुम्बर इति आचक्षते परोक्षम् शत० ७.४.१.२२' शरीर में सुरक्षित वीर्य सब पापों व रोगों से बचाता है—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

औदुम्बरमणि

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा।
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत्॥ १॥

१. **वेधसा**=(वेधस् creator, Name of सोम) शरीर में सब शक्तियों को उत्पन्न करनेवाली **औदुम्बरेण मणिना**=सब पापों व रोगों से ऊपर उठानेवाली 'औदुम्बर' नामवाली वीर्यरूप मणि से **सविता**=शक्ति का सम्पादक प्रभु **पुष्टिकामाय मे**=पुष्टि की कामनावाले मेरे लिए **गोष्ठे**=इस शरीररूप गोष्ठ में **सर्वेषां पशूनाम्**=सब इन्द्रियरूप पशुओं की **स्फातिम्**=वृद्धि **करत्**=करें। २. शरीर गोष्ठ है। इसमें सब देव भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के रूप में इसप्रकार रह रहे हैं, जैसेकि गोष्ठ में गौएँ रहती है 'सर्वाह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते'। वीर्यशक्ति के रक्षण से इन सब इन्द्रियरूप गौओं की शक्ति बढ़ती है।

भावार्थ—प्रभु मेरे अन्दर वीर्यरूप 'औदुम्बरमणि' का रक्षण करें। यह मणि ही सब शक्तियों को उत्पन्न करती है। इसी से शरीररूप गोष्ठ में इन्द्रियरूप गौओं का वर्धन होता है।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निः-गार्हपत्यः

यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत्।
औदुम्बरो वृषा मणिः सं मा सृजतु पुष्ट्या॥ २॥

१. **यः**=जो **औदुम्बरमणिः**=हमें सब पापों व रोगों से ऊपर उठानेवाली यह औदुम्बर—वीर्यरूप मणि है, वह **नः**=हमें **अग्निः**=आगे ले-चलनेवाली है, **गार्हपत्यः**=यही वस्तुतः हमारे इस शरीरगृह का रक्षण करनेवाली है। यह **पशूनाम्**=इन्द्रियरूप गौओं की **अधिपाः**=आधिक्येन रक्षण करनेवाली **असत्**=है। २. यह मणि **वृषा**=हमें शक्तिशाली बनाती है। यह **मा**=मुझे **पुष्ट्या**=पुष्टि से **संसृजतु**=संसृष्ट करे।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य ही उन्नति का कारण है। यही शरीर का रक्षक है। इन्द्रियों को यही रक्षित करता है व शक्तिशाली बनाता है। यह हमें पुष्ट करे।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गौ और औदुम्बर मणि

करीषिणीं फलवतीं स्वधामिरां च नो गृहे।
औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे॥ ३॥

१. **करीषिणीम्**=प्रशस्त करीष (गोमय) को प्राप्त करानेवाली, **फलवतीम्**=(ञिफला विशरणे) रोगों को विशीर्ण करने की क्रियावाली **च**=और **स्वधाम्**=हमारे अन्दर आत्मतत्त्व को धारण करानेवाली (सात्त्विक दुग्ध से बुद्धि को सात्त्विक करके यह हमें आत्मदर्शन के योग्य बनाती है) **इराम्**=(इडा=गौ) गौ को **नः**=हमारे **गृहे**=घर में **धाता**=वे धारक प्रभु **दधातु**=धारण करें। इन गौओं के होने पर प्रशस्त गोमय प्राप्त होता है—यह भूमि को उपजाऊ बनाता है तथा लेपन

आदि के होने पर क्रिमिनाशन का कार्य करता है। गौ का दूध प्रशस्त बुद्धि देता है और नीरोगता प्राप्त कराता है। २. गोदुग्ध के प्रयोग से 'धाता'—वह धारक प्रभु **औदुम्बरस्य=** इस औदुम्बरमणि को **तेजसा**=तेज से **मे**=मेरे लिए **पुष्टिम्**=अंग-प्रत्यंग के पोषण को (दधातु) धारण करे।

भावार्थ—हम गोदुग्ध के प्रयोग से नीरोग व तीव्र-बुद्धि बनें। प्रभु गोदुग्ध से अंग-प्रत्यंग को पुष्ट कर हमें दीर्घजीवी बनाते हैं।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वीर्यरक्षण व ऐश्वर्य (भूमा)

यद् द्विपाच्च चतुष्पाच्च यान्यन्नानि ये रसाः।
गृह्णे३हं त्वेषां भूमानं बिभ्रदौदुम्बरं मणिम्॥ ४॥

१. **यत्** जो **द्विपात्**=दो पाँववाले मनुष्य आदि हैं **च**=और **चतुष्पात्**=गौ आदि पशु हैं **च**=और **यानि अन्नानि**=जो जौ-चावल आदि अन्न हैं तथा **ये रसाः**=दूध-दही, इक्षु आदि रसवाले पदार्थ हैं, **अहम्**=मैं **तु**=तो **औदुम्बरं मणिं बिभ्रत्**=सब पापों व रोगों से ऊपर उठानेवाली इस वीर्यमणि को धारण करता हुआ **एषाम्**=इन सबके **भूमानम्**=बाहुल्य को **गृह्णे**=ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—वीर्यरक्षणवाला पुरुष सब प्रकार से समृद्ध बनाता है—अभ्युदयशाली होता है।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पयः पशूनां, रसमोषधीनाम्

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्य१म्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात्॥ ५॥

१. **अहम्**=मैं वीर्यरक्षण करनेवाला होता हुआ **पशूनां पुष्टिम्**=गवादि पशुओं की पुष्टि को **परिजग्रभ**=सर्वथा प्राप्त होता हूँ। **चतुष्पदाम्**=गवादि चार पाँववाले पशुओं की **द्विपदाम्**=दो पाँववाले मनुष्यों की पुष्टि को प्राप्त करता हूँ, **च**=और **यत्**=जो **धान्यम्**=व्रीहि-यव आदि धान्य हैं, उनकी पुष्टि को प्राप्त करता हूँ। मेरा घर सब प्रकार से फूला-फला होता है। २. वह **बृहस्पतिः**=आकाशादि बड़े-बड़े सब लोकों का स्वामी अथवा ज्ञान का स्वामी **सविता**=प्रेरणा देनेवाला प्रभु **मे**=मेरे लिए **पशूनां पयः**=गवादि पशुओं के दूध को तथा **ओषधीनां रसम्**=व्रीहि-यवादि ओषधियों के रस को **नियच्छात्**=देते हैं। मेरे लिए वे यही नियम बनाते हैं कि मैं पशुओं से तो दूध को ही भोजन के रूप में लूँ तथा ओषधियों के सार को ग्रहण करनेवाला बनूँ। इसप्रकार शुद्ध वानस्पतिक भोजन में चलूँ।

भावार्थ—वीर्यरक्षण करते हुए हम सब प्रकार से समृद्ध हों। पशुओं से दूध व ओषधियों से रस को लेनेवाले बनें।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

पशु+द्रविण

अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु।
मह्यमौदुम्बरो मणिर्द्रविणानि नि यच्छतु॥ ६॥

१. **अहम्**=मैं **पशूनाम्**=शरीरस्थ इन्द्रियरूप पशुओं का **अधिपाः**=अधिष्ठातृरूपेण रक्षक **असानि**=होऊँ, जितेन्द्रिय बनूँ। **पुष्टपतिः**=सब पोषणों का स्वामी प्रभु **मयि**=मुझमें **पुष्टं दधातु**= सब शक्तियों का पोषण धारण करे। मैं सब अंगों के दृष्टिकोण से पुष्ट बनूँ। २. यह **औदुम्बरः**

मणिः=मुझे सब पापों व रोगों से उभारनेवाली वीर्यमणि **मह्यम्**=मेरे लिए **द्रविणानि**=सब धनों को **नियच्छतु**=दे।

भावार्थ—मैं सब इन्द्रियों को विषय-वासनाओं से बचाता हुआ सब अंगों का पोषण प्राप्त करूँ। वीर्यरक्षण द्वारा सब जीवन-धनों को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रजा, धन, वर्चस्

उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च।

इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्त्सह वर्चसा॥ ७॥

१. यह **औदुम्बरः मणिः**=सब पापों व रोगों से उभारनेवाली वीर्यमणि **मा**=मुझे **प्रजया च**=उत्तम प्रजा के साथ, **च**=और **धनेन**=धन के साथ **उप**=समीपता से प्राप्त हो। वीर्यरक्षण से मैं उत्तम सन्तान व धन प्राप्त करूँ। २. **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली—सर्वशक्तिसम्पन्न—प्रभु से **जिन्वितः**=हमारे शरीर में प्रेरित की हुई यह **मणिः**=वीर्यमणि **मा**=मुझे **वर्चसा सह**=वर्चस् के साथ—Vitality=प्राणशक्ति के साथ **आगन्**=प्राप्त हो। सुरक्षित वीर्य मुझे वर्चस्वी बनाए—मैं सब रोगों का पराजय करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य हमें उत्तम प्रजा, धन व वर्चस् प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सपत्नहा-धनसाः

देवो मणिः सपत्नहा धनसा धनसातये।

पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु॥ ८॥

१. यह औदुम्बरमणि **देवः मणिः**=सब रोगों को जीतने की कामनावाली मणि है (दिव् विजिगीषायाम्), यह **सपत्नाहा**=रोगरूप शत्रुओं का हनन करती है। **धनसाः**=सब जीवन-धनों को प्राप्त कराती है। यह **धनसातये**=इन जीवनधनों की प्राप्ति के लिए हो। २. यह मुझे **पशोः**=गवादि पशुओं, **अन्नस्य**=व्रीहि-यवादि अन्नों तथा विशेषकर **गवां स्फातिम्**=गौओं की समृद्धि को **नियच्छतु**=प्राप्त कराए। घर गौ से ही तो समृद्ध होता है, स्वर्ग बनता है।

भावार्थ—यह वीर्यमणि देव है—सब रोगों का पराजय करती है, जीवन-धनों को प्राप्त कराती है, वीर्यरक्षक का घर पशुओं व अन्नों से समृद्ध बनाता है।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वीर्यरक्षण व सरस्वती आराधन

यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे।

एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती॥ ९॥

१. हे **वनस्पते**=वनस्पतियों के सेवन से उत्पन्न औदुम्बरमणे! (वीर्यमणे!) **यथा**=जैसे **त्वम्**=तू **अग्रे**=सर्वप्रथम **पुष्ट्या सह**=सब शक्तियों के पोषण के साथ **जज्ञिषे**=प्रादुर्भूत होती है, **एवा**=इसीप्रकार यह **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **मे**=मेरे लिए **धनस्य स्फातिम्**=ज्ञान-धन की वृद्धि को **आदधातु**=धारण करे। २. वीर्यरक्षण के अनुपात में ही ज्ञानाग्नि की दीप्ति होती है और ज्ञानधन प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षण करते हुए सरस्वती के प्रिय बनें।

ऋषिः—सविता (पुष्टिकामः)॥ देवता—औदुम्बरमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

धन-दूध-धान्य

आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम्।
सिनीवाल्युपा वहादयं चौदुम्बरो मणिः॥ १०॥

यह सिनीवाली=(सिनम्=अन्नम्) अन्नोंवाली सरस्वती=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता मे=मेरे लिए धनम्=धन को पयस्फातिम्=दूध की वृद्धि को च=तथा धान्यम्=धान्य को उपावहात्= सर्वथा समीपता से प्राप्त कराए, अर्थात् मेरा ज्ञान उस विज्ञानवाला हो जो मुझे 'धन, दूध व धान्य' के प्राचुर्य को देनेवाला हो। २. च=और अयम्=यह औदुम्बरः मणिः=सब रोगों व पापों से ऊपर उठानेवाली वीर्यमणि मुझे धन, दूध व धान्य को देनेवाली हो। वीर्यरक्षण मेरी समृद्धि का कारण बने।

भावार्थ—ज्ञान की आरधना तथा वीर्यरक्षण मुझे 'धन, दूध व धान्य' का प्राचुर्य दें।

ऋषिः—सविता (पुष्टिकामः)॥ देवता—औदुम्बरमणिः ॥ छन्दः—पञ्चपदाशक्वरी॥

'अराति-अमति-क्षुधा' का निराकरण

त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान। त्वयीमे वाजा
द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत्सहस्वारादरातिममतिं क्षुधं च॥ ११॥

१. हे औदुम्बरमणे! त्वम्=तू मणीनाम्=सब रत्नों की अधिपाः=रक्षक है। वीर्यरक्षण से ही शरीर में सब रमणीय तत्त्व उत्पन्न होते हैं। वृषा असि=तू सब शक्तियों व सुखों का वर्धन करनेवाला है। पुष्टपतिः=सब पोषक तत्त्वों के स्वामी प्रभु ने त्वयि=तुझमें पुष्टं जजान=सब पोषक तत्त्वों का प्रादुर्भूत किया है। २. त्वयि=तुझमें ही इमे=ये वाजाः=शक्तियाँ तथा सर्वा द्रविणानि=सब धन स्थापित हुए हैं। औदुम्बरः=तू सब रोगों व पापों से हमें उभारनेवाला है। सः त्वम्=वह तू अस्मत्=हमसे अरातिम्=अदानवृत्ति को, अमतिम्=बुद्धि के दारिद्र्य को मत्यभाव को च=तथा क्षुधम्=भूख को आरात् सहस्व=सुदूर कुचलनेवाला हो।

भावार्थ—वीर्यरक्षण हमें अदानवृत्ति, कमसमझी व दारिद्र्य से दूर रखता है।

ऋषिः—सविता (पुष्टिकामः)॥ देवता—औदुम्बरमणिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

ग्रामणीः

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोऽभि मा सिञ्च वर्चसा।
तेजोऽसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि॥ १२॥

१. हे औदुम्बर मणे! तू ग्रामणीः असि=इन्द्रियासमूह का नेतृत्व करनेवाली है—सब इन्द्रियों को अपने कार्य में प्रवृत्त करने के लिए तू उन्हें शक्तिशाली बनाती है। तू सचमुच ग्रामणीः उत्थाय=शरीर में ऊर्ध्वः=गतिवाली होकर अभिषिक्ता=शरीर में चारों ओर सिक्त हुई-हुई ग्रामणीः=इस इन्द्रिय-समूह का प्रणयन करती है। तू मा=मुझे वर्चसा=वर्चस् से—प्राणशक्ति से अभिसिञ्च=सर्वतः सिक्त कर। २. तू तो तेजः असि=तेज-ही-तेज है। मयि=मुझमें तेजः=तेजस्विता को धारय=धारण कर। रयिः असि=तू ही वास्तविक धन है। मे=मुझमें रयिम्=इस ऐश्वर्य को अधि धेहि=आधिक्येन स्थापित कर।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य इन्द्रियसमूह का अपने-अपने कार्य में प्रवर्तक है। यह हमारे अन्दर तेजस्विता का धारण करता है—हमें रयीश (रयि+ईश) बनाता है।

ऋषिः—सविता (पुष्टिकामः)॥ देवता—औदुम्बरमणिः॥ छन्दः—पञ्चपदाशक्वरी॥

गृहमेधी

पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु।
औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं
नि यच्छ रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम्॥ १३॥

१. हे औदुम्बर मणे! तू **पुष्टिः असि**=हमारा पोषण करनेवाली है। तू **मा**=मुझे **पुष्ट्या समङ्ग्धि**=पुष्टि से युक्त कर। तू **गृहमेधी**=इस शरीररूप गृह के साथ मेलवाली है। **मा**=मुझे **गृहपतिं कृणु**=इस शरीररूप गृह का रक्षक बना। सुरक्षित वीर्य ही तो इस शरीर का रक्षण करता है। २. **औदुम्बरः**=तू सब पापों व रोगों से हमें ऊपर उभारनेवाला है। **सः**=वह **त्वम्**=तू **अस्मासु**=हममें **रयिं धेहि**=रयि का धारण कर **च**=और **नः**=हमारे लिए **सर्ववीरम्**=सब वीर सन्तानोंवाली रयि को **नियच्छ**=दे। सुरक्षित वीर्य हमें वीर सन्तानों को प्राप्त कराता है और हमें रयि का ईश बनाता है। हे औदुम्बर! **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए **प्रतिमुञ्चे**=धारण करता हूँ। वीर्य का संयम करने पर शक्तिशाली इन्द्रियोंवाला होकर मैं धन का सर्जन करनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य मुझे पुष्ट करता है—मेरे शरीरगृह का रक्षण करता है—हमें रयि का ईश बनाता है।

ऋषिः—सविता (पुष्टिकामः)॥ देवता—औदुम्बरमणिः॥ छन्दः—विराडास्तारपङ्क्तिः॥

मधुमती सनि

अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।
स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात्॥ १४॥

१. **अयम्**=यह **औदुम्बरः मणिः**=रेतःकणरूप मणि पापों व रोगों से उभारनेवाली है। **वीरः**=यह रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाली है (वि ईर)। **वीराय बध्यते**=यह वीर पुरुष के लिए शरीर में बद्ध की जाती है। २. **सः**=वह मणि **नः**=हमारी **सनिम्**=उपासना (संभजन) को **मधुमतीम्**=अत्यन्त माधुर्यवाला **कृणोतु**=करे। वीर्य के सुरक्षित होने पर यह वीर मनःप्रसाद के साथ प्रभुभजन करनेवाला होता है। यह मणि **नः**=हमारे लिए **सर्ववीरम्**=सन्तानोंवाले **रयिम्**=ऐश्वर्य को **नियच्छात्**=दे।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य रोगों को कम्पित करके दूर भगाता है। हमारी उपासना को मधुर बनाता है और वीर सन्तानों से युक्त धन प्राप्त कराता है।

वीर्यरक्षण द्वारा नीरोग व दीर्घजीवन की कामनावाला 'आयुष्यकामः' अगले दो सूक्तों का ऋषि है। यह 'भृगु' है—वीर्यरक्षण के लिए अपने को तपस्या व ज्ञान की अग्नि में पकाने से यह 'भृगु' है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः (आयुष्कामः)॥ देवता—दर्भः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

शतकाण्ड (दर्भ)

शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः। दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे॥ १॥

१. **दर्भः**=शत्रुसंहारक वीर्यरूप मणि **शतकाण्डः**=(काण्ड=arrow) सैकड़ों तीरोंवाली है—

इन तीरों से यह रोगरूप शत्रुओं को विद्ध करती है। **दुश्च्यवनः**=यह शत्रुओं से च्युत नहीं की जाती, **सहस्रपर्णः**=हजारों प्रकार से यह हमारा पालन व पूरण करती है। **उत्तिरः**=यह रोगरूप शत्रुओं को उखाड़ देती है। **दर्भः**=यह वीर्यमणि **यः**=जोकि **उग्रः**=बड़ी तेजस्वी है **ओषधिः**=सब दोषों का दहन करनेवाली है, **ते**=उस ओषधिभूत वीर्य को **ते बध्नामि**=तुझमें बाँधता हूँ। इसे तेरे शरीर में ही सुरक्षित करता हूँ। यह तेरे **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए होती है।

भावार्थ—यह वीर्यमणि सैकड़ों बाणों से रोगरूप शत्रुओं पर प्रहार करती है। रोगों को जला देती है। शरीर में धारण किये जाने पर यह दीर्घजीवन का कारण बनती है।

ऋषिः—भृगुः (आयुष्कामः)॥ देवता—दर्भः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

न शिरो रोग—न हृद् रोग

नास्य केशान्प्र वपन्ति नोरसि ताडमा घ्नते।
यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म यच्छति॥ २॥

१. **यस्मा**=जिसके लिए **अच्छिन्नपर्णेन**=न विनष्ट पालन शक्तिवाली **दर्भेण**=वीर्यमणि से **शर्म**=सुख को **यच्छति**=वे प्रभु देते हैं। रोग **अस्य**=इस पुरुष के **केशान् न प्रवपन्ति**=केशों को छिन्न करनेवाले नहीं होते तथा **न**=न ही **उरसि ताडम्**=छाती पर प्रहार करके **आघ्नते**=इसे आहत करते हैं। २. वीर्य के रक्षित होने पर न ही कोई शिरो-रोग होता है, न ही छाती में किसी प्रकार का विकार होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य न किसी शिरो-रोग को होने देता है, न हृद् रोग को।

ऋषिः—भृगुः (आयुष्कामः)॥ देवता—दर्भः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

ज्ञानाग्नि की दीप्ति, शरीर की दृढ़ता

दिवि ते तूलमोषधे पृथिव्यामसि निष्ठितः।
त्वया सहस्रकाण्डेनायुः प्र वर्धयामहे॥ ३॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली वीर्यमणे! **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **ते**=तेरा **तूलम्**=(तूल पूरणे to fill) पूरण हुआ है। वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर यह वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बना है। हे वीर्य! तू **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में **निष्ठितः असि**=निश्चय से स्थित हुआ है। वीर्य ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है, तो शरीररूप पृथिवी को दृढ़ बनाता है। २. **सहस्रकाण्डेन**=शत्रुओं के संहार के लिए हज़ारों बाणोंवाले **त्वया**=तुझसे हम **आयुः**=अपने जीवन को **प्रवर्धयामहे**=दीर्घ बनाते हैं।

भावार्थ—वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। यह शरीररूप पृथिवी को दृढ़ बनाता है। शत्रुओं को नष्ट करने के लिए सहस्रों बाण तुझे धारण करके अपने जीवन को दीर्घ बनाते हैं।

ऋषिः—भृगुः (आयुष्कामः)॥ देवता—दर्भः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

दुर्हार्द् का सुहार्द् बन जाना

तिस्रो दिवो अत्यतृणत्तिस्र इमाः पृथिवीरुत।
त्वयाहं दुर्हार्दो जिह्वां नि तृणद्मि वचांसि॥ ४॥

१. हे वीर्यमणे! तू **तिस्रः दिवः**=तीनों प्रकाशों को (द्युलोकों को) **अत्यतृणत्** (तृद् to set free) अन्धकार से मुक्त करती है। **उत**=और **इमाः**=इन **तिस्रः**=तीनों **पृथिवीः**=शरीररूप पृथिवियों

को भी रोगों से मुक्त करती है। 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' भेद से तीन शरीर ही तीन पृथिवियाँ है। वीर्यरक्षण से ये तीनों नीरोग व निर्दोष बनते हैं। इसीप्रकार 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान ही त्रिविध द्युलोक है, वीर्यरक्षण ही इस द्युलोक को अज्ञानान्धकार शून्य करता है। २. हे वीर्य! **त्वया**=तेरे रक्षण के द्वारा **अहम्**=मैं **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवाले की **जिह्वाम्**=जिह्वा को तथा **वचांसि**=वचनों को **नितृणद्मि**=समाप्त करता हूँ। वीर्यरक्षक पुरुष व्यवहार में इतना मधुर होता है कि इसके मधुर वचनों से दुष्ट पुरुष भी शान्त हो जाता है। इसका सूत्र होता है 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधं, आक्रुष्टः कुशलं वदेत्'। सो दुर्हार्द् पुरुष भी इसके व्यवहार से सुहार्द् बन जाता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त होता है। 'स्थूल, सूक्ष्म, कारण' शरीरों का स्वास्थ्य प्राप्त होता है तथा वह हमें इतना मधुर बनाता है कि इसके सामने दुष्ट अपनी दुष्टता छोड़ देते हैं।

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सहमान-सहस्वान्

त्वमसि सहमानोऽहमस्मि सहस्वान्।
उभौ सहस्वन्तौ भूत्वा सपत्नान्त्सहीषीमहि॥ ५॥

१. हे शतकाण्ड (शत्रुओं के संहार के लिए सैकड़ों शरोंवाले) वीर्य! **त्वम्**=तू **सहमानः असि**=रोगरूप शत्रुओं का मर्षण करनेवाला है। **अहम्**=मैं भी **सहस्वान् अस्मि**=वासनारूप शत्रु-मर्षण की वृत्तिवाला हूँ। २. इसप्रकार **उभौ**=हम दोनों **सहस्वन्तौ**=शत्रुओं को कुचलनेवाले **भूत्वा**=होकर **सपत्नान्**=इन रोग व वासनारूप शत्रुओं को **सहिषीमहि**=कुचल डालें।

भावार्थ—हम वासनारूप शत्रुओं को कुचलने की वृत्तिवाले बनें। सुरक्षित वीर्य भी शतकाण्ड है—यह रोगों का संहार करता है, अतः मैं वीर्यरक्षण करता हुआ शत्रुओं का पराभव करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अभिमाति-सहन

सहस्व नो अभिमातिं सहस्व पृतनायतः।
सहस्व सर्वान्दुर्हार्दः सुहार्दो मे बहून्कृधि॥ ६॥

१. हे शतकाण्ड! तू **नः**=हमारे **अभिमातिम्**=(पाप्मा वै अभिमातिः तै० २.१.३.५) पापभावों को **सहस्व**=पराभूत कर। **पृतनायतः**=उपद्रव-सैन्य से हमपर आक्रमण करनेवाले रोगों को **सहस्व**=पराभूत कर। २. **सर्वान्**=सब **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवालों को **सहस्व**=पराभूत कर तथा **मे**=मेरे **बहून्**=बहुत-से व्यक्तियों को **सुहार्दः**=शुभ हृदयवाला **कृधि**=कर। हमारे घर व समाज के सभी व्यक्ति शुभ हृदयवाले हों।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा हम पापों, रोगों व दुष्ट-हृदयता को दूर करें।

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'दिविष्टम्भ' दर्भमणि

दर्भेण देवजातेन दिवि ष्टम्भेन शश्वदित्।
तेनाहं शश्वतो जनाँ असनं सनवानि च॥ ७॥

१. **देवजातेन**=उस महान् देव प्रभु से उत्पन्न किये गये—प्रभु ने ही तो शरीर में रस-रुधिर आदि के क्रम से इसके उत्पादन की व्यवस्था की है **दिवि ष्टम्भेन**=प्राणायाम द्वारा जिस वीर्य की ऊर्ध्वगति करके मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थिरता हुई है **तेन**=उस दिविष्टम्भ (स्तम्भ्) वीर्य से **शश्वत् इत्**=सदा ही निश्चय से **अहम्**=मैं **शश्वतः**=प्लुतगतिवाले (शश् प्लुतगतौ) **जनान्**=लोगों को **असनम्**=प्राप्त करता आया हूँ **सनवानि च**=और भविष्य में भी ऐसे ही लोगों को प्राप्त करूँ। २. जब एक घर में पति-पत्नी प्रभु-स्मरणपूर्वक प्राणायामादि साधनों से शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं तब उनके घरों में सदा स्फूर्तिमय जीवनवाले सन्तानों की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—हम वीर्य को प्रभु-प्रदत्त सर्वोत्तम वस्तु जानें। प्राणायाम द्वारा शरीर में इसकी ऊर्ध्वगति करें। यह हमें स्फूर्तिमय जीवनवाले सन्तानों को प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—भृगुः (आयुष्कामः)॥ देवता—दर्भः॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती**॥

वीर्यरक्षण व सर्वप्रियता

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते॥ ८॥

१. हे **दर्भ**=रोगों का हिंसन करनेवाले वीर्य! तू **मा**=मुझे **ब्रह्मराजन्याभ्याम्**=ब्राह्मणों व क्षत्रियों के लिए, **शूद्राय च अर्याय च**=शूद्रों के लिए और वैश्यों के लिए, अर्थात् सारे समाज के लिए **प्रियं कृणु**=प्रियकर। वीर्यरक्षण द्वारा मधुर स्वभाव बनता हुआ मैं सर्वप्रिय बनूँ। २. **च**=और **यस्मै**=जिसके लिए हम **कामयामहे**=चाहते हैं, अर्थात् जो हमारे निकट सम्बन्धी हैं उनका भी तू मुझे प्रिय बना **च**=तथा **सर्वस्मै विपश्यते**=बारीकी से सब दोषों को देखनेवालों के लिए भी तू मुझे प्रिय बना। दोषदर्शी—विरोधी वृत्तिवाले मनुष्य भी मेरे प्रति प्रेमवाले बन जाएँ।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से स्वभाव में माधुर्य का सञ्चार करता हुआ मैं सम्पूर्ण समाज का, अपने बन्धुओं का व विरोधियों का भी प्रिय बन पाऊँ।

ऋषिः—भृगुः (आयुष्कामः)॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दर्भः 'वरुणः' त्रिलोकी धारकः

यो जायमानः पृथिवीमदृंहद्यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च।
यं बिभ्रतं ननु पाप्मा विवेद स नोऽयं दर्भो वरुणो दिवा कः॥ ९॥

१. **यः**=जो **जायमानः**=शरीर में प्रादुर्भूत होता हुआ **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **अदृंहत्**=दृढ़ बनाता है। **यः**=जो **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **दिवं च**=और मस्तिष्करूप द्युलोक को **अस्तभ्नात्**=थामता है, ऐसा यह दर्भ है। शरीर में सुरक्षित वीर्य शरीर को दृढ़ बनाता है, हृदय को निर्मल तथा मस्तिष्क को दीप्त करता है। २. **यम्**=जिस दर्भ (वीर्यमणि) को **बिभ्रतम्**=धारण करते हुए को **पाप्मा**=पाप व रोग **ननु विवेद**=प्राप्त नहीं करता है, **सः**=वह **अयं दर्भः**=यह दर्भ **वरुणः**=सब पापों व रोगों का वारण करनेवाला है। यह **नः**=हमारे जीवन को **दिवा कः**=प्रकाशमय करता है। यह हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य शरीर को दृढ़, मन को निर्मल व मस्तिष्क को दीप्त बनाता है। यह अपने धारण करनेवाले को निष्पाप बनाता है। पापों व रोगों का निवारण करता हुआ यह जीवन को प्रकाशमय बनाता है।

ऋषिः—भृगुः (आयुष्कामः)॥ देवता—दर्भः ॥ छन्दः—जगती ॥

सर्वोत्तम औषध

सपत्नहा शतकाण्डः सहस्वानोषधीनां प्रथमः सं बभूव।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतस्तेन साक्षीय पृतनाः पृतन्यतः ॥ १० ॥

१. यह दर्भ **सपत्नहा**=रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **शतकाण्डः**=सैकड़ों बाणोंवाला है—इनके द्वारा ही यह रोगरूप शत्रुओं का वेधन करता है। **सहस्वान्**=शत्रुओं को कुचलनेवाले बल से सम्पन्न है। यह **ओषधीनां प्रथमः संबभूव**=ओषधियों में सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुतः वीर्य के समान कोई भी औषध नहीं, इसके सुरक्षित होने पर रोगों का आक्रमण होता ही नहीं। आचार्य के शब्दों में यही 'मन्त्र, तन्त्र व यन्त्र' है। २. **सः**=वह **अयं दर्भः**=यह दर्भ **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिपातु**=सम्यक् रक्षित करे। **तेन**=उस वीर्यमणि के द्वारा **पृतन्यतः**=उपद्रव-सैन्य से हमपर आक्रमण करनेवाले रोगों की **पृतनाः**=सैन्यों का **साक्षीय**=मैं पराभव करूँ।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य सर्वोत्तम औषध है। यह हमारा सर्वतः रक्षण करता है। रोगों के सब उपद्रव-सैन्य का यह संहार कर देता है।

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—दर्भः ॥ छन्दः—जगती ॥

'सहस्रार्घः' दर्भमणि

सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम्।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतो देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः ॥ १ ॥

१. **अयं दर्भः**=यह वीर्यरूप मणि **सहस्रार्घः**=हज़ारों मूल्योंवाली है—अत्यन्त क़ीमती है। **शतकाण्डः**=रोगरूप शत्रुओं के वेधन के लिए सैकड़ों बाणोंवाली है। **पयस्वान्**=हमारा प्रशस्त आप्यायन (वर्धन) करनेवाली है। **अपाम्**=प्रजाओं को यह **अग्निः**=आगे ले-चलनेवाला है। **वीरुधाम्**=विशेषरूप से रोगों का निरोध करनेवाली औषधों का यह **राजसूयम्**=राजसूय यज्ञ है। राजसूययज्ञ करनेवाला राजा सर्वोत्तम राजा माना जाता है। इसीप्रकार यह वीर्य रोगनिरोधकों में सर्वश्रेष्ठ है। २. **सः**=वह यह दर्भ **नः**=हमें **विश्वतः परिपातु**=सब ओर से रक्षित करे। यह **देवः मणिः**=प्रकाशमय व रोगों को जीतने की कामना करनेवाली है। यह **नः**=हमें **आयुषा**=दीर्घ आयुष्य से **संसृजाति**=संसृष्ट करती है।

भावार्थ—यह वीर्यमणि देवमणि है। बहुमूल्य है। रोगों को रोकनेवालों की मुखिया है। यह हमें नीरोग बनाकर दीर्घजीवन प्राप्त कराती है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—दर्भः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मधुमान्-पयस्वान्

घृतादुल्लुप्तो मधुमान्पयस्वान्भूमिदृंहोऽच्युतश्च्यावयिष्णुः ।
नुदन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वन्दर्भा रोह महतामिन्द्रियेण ॥ २ ॥

१. शरीर में रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होकर जब ये ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं—सारे रुधिर में व्याप्त हो जाते हैं तब ये अदृष्ट हो जाते हैं। यही इनका 'उल्लोपन' है। **घृतात्**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति के हेतु से **उल्लुप्तः**=शरीर में ऊर्ध्वगति द्वारा अदृष्ट किया हुआ यह दर्भ **मधुमान्**=जीवन को माधुर्यवाला बनाता है। **पयस्वान्**=यह जीवन में प्रशस्त आप्यायन का कारण बनता है।

भूमिदृंहः=यह शरीररूप भूमि को दृढ़ बनाता है। **अच्युतः**=शत्रुओं से च्युत न किया जाता हुआ **च्यावयिष्णुः**=रोगरूप शत्रुओं को च्युत करनेवाला है। २. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को परे धकेलता हुआ **च**=और **अधरान् कृण्वन्**=उनको पाँवों तले रोंदता हुआ—पराजित करता हुआ तू **महताम्**=(मह पूजायाम्) इन प्रभु-पूजन करनेवालों के **इन्द्रियेण**=बल के हेतु से **आरोह**=शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला हो। शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला होता हुआ यह वीर्य सब इन्द्रियों को सबल बनाता है।

भावार्थ—जब शरीर में इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है और यह रुधिर में व्याप्त होकर अदृष्ट-सा हो जाता है, तब यह जीवन को मधुर बनाता है, शरीर को दृढ़ करता है, रोगों को विनष्ट करता है, एक-एक इन्द्रिय को सशक्त करता है।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—दर्भः॥ छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः॥

'पवित्र' दर्भमणि

त्वं भूमिमत्येष्योजसा त्वं वेद्यां सीदसि चारुरध्वरे।
त्वां पवित्रमृषयोऽभरन्त त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत्॥ ३॥

१. हे दर्भ (वीर्यमणे)! **त्वम्**=तू **भूमिम्**=इस शरीररूप भूमि को **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अति एषि**=अतिशयेन प्राप्त होता है। शरीर में प्राप्त होकर तू इसे खूब ओजस्वी बनाता है। **त्वम्**=तू **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में **चारुः**=विचरण करनेवाला होकर **वेद्यां सीदसि**=यज्ञवेदि में आसीन होता है, अर्थात् सुरक्षित वीर्य हमें यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रेरित करता है। २. **पवित्रम्**=जीवन को पवित्र बनानेवाले **त्वाम्**=तुझको **ऋषयः अभरन्त**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी पुरुष अपने में धारण करते हैं। वस्तुतः धारण किया हुआ यह वीर्य ही उन्हें 'ऋषि' बनाता है। **त्वम्**=तू **दुरितानि**=सब दुरितों को **अस्मत्**=हमसे **पुनीहि**=दूर करके हमें पवित्र बना। दुरितों का तू सफ़ाया कर डाल। इन दुरितों को नष्ट करके हमारे जीवनों को पवित्र कर दे।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य शरीर को ओजस्वी बनाता है, हमें यज्ञात्मक पवित्र कर्मों में प्रेरित करता है। दुरितों को दूर करके हमारे जीवनों को ऋषियों का-सा पवित्र जीवन बना देता है।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—दर्भः॥ छन्दः—आस्तारपङ्क्तिः॥

देवानाम् ओजः, अग्रे बलम्

तीक्ष्णो राजा विषासही रक्षोहा विश्वचर्षणिः।
ओजो देवानां बलमुग्रमेतत्तं ते बध्नामि जरसे स्वस्तये॥ ४॥

१. यह दर्भमणि **तीक्ष्णः**=बड़ी तीव्र है—रोगरूप शत्रुओं को बुरी तरह से नष्ट करनेवाली है। **राजा**=यह अपने रक्षक के जीवन को दीप्त बनाती है। **विषासहिः**=रोगों का विशेषरूप से पराभव करनेवाली है। **रक्षोहा**=रोगकृमियों व राक्षसीभावों का विनाश करनेवाली है। **विश्वचर्षणिः**=शरीर में सुरक्षित होने पर सब अंग-प्रत्यंगों को देखनेवाली—उनका यह ध्यान करनेवाली है। २. यह **देवानाम् ओजः**=देववृत्ति के पुरुषों का ओज है। **एतत् उग्रं बलम्**=यह बड़ा तेजस्वी बल है। **तम्**=उस दर्भ-(वीर्य)-मणि को **ते**=तुझे **बध्नामि**=बाँधता हूँ—इसे तेरे शरीर में सुरक्षित करता हूँ, जिससे तू **जरसे**=जराकाल तक दीर्घजीवन को प्राप्त करे तथा **स्वस्तये**=कल्याण का भागी हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य शत्रुओं के लिए भयंकर है। रोगकृमियों का यह नाश करता है। यही देवों को ओजस्वी बनाता है। इसे धारण करने से कल्याणमय शतवर्ष का जीवन प्राप्त

होता है।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—दर्भः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

सूर्यः इव

दुर्भेण त्वं कृणवद् वीर्याऽणि दुर्भं बिभ्रदात्मना मा व्यथिष्ठाः।
अतिष्ठाया वर्चसाधान्यान्त्सूर्यइवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः॥ ५॥

१. **दर्भेण**=शरीर में सुरक्षित इस वीर्यमणि से **त्वम् वीर्याणि कृणवत्**=तू शक्तिशाली कर्मों को करनेवाला हो। **दर्भम्**=दर्भ को **आत्मना बिभ्रत्**=अपने में धारण करता हुआ तू **मा व्यथिष्ठाः**=मत व्यथित हो। सुरक्षित वीर्य हमें रोगों से व्यथित नहीं होने देता। २. **अध**=अब **वर्चसा**=वर्चस् के द्वारा **अन्यान् अतिष्ठाय**=औरों से उन्नत स्थिति में होकर तू **चतस्रः प्रदिशा**=चारों दिशाओं को **सूर्यः इव**=सूर्य की भाँति **आभाहि**=आभासित कर डाल। तू सर्वत्र प्रकाश फैलानेवाला हो।

भावार्थ—शरीर में वीर्य को सुरक्षित करके हम शक्तिशाली कर्मों को कर पाते हैं—रोगों से व्यथित नहीं होते। जीवन संघर्ष में आगे बढ़ते हुए सूर्य की भाँति प्रकाश फैलानेवाले होते हैं।

शरीर में सुरक्षित वीर्य से अंग-प्रत्यंग में रसवाला यह 'अङ्गिराः' बनता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि 'अङ्गिरा' ही है। यह वीर्य को 'जङ्गिड' नाम से स्मरण करता है 'जङ्गम्यते शत्रून् बाधितुम्'—रोगरूप शत्रुओं को बाधित करने के लिए शरीर में खूब गतिवाला होता है अथवा 'जंगिरति' उत्पन्न हुए-हुए रोगों को निगल जाता है। यह कहता है कि—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

जङ्गिड

जुङ्गिडो ऽसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिडः।
द्विपाच्चतुष्पादुस्माकं सर्वं रक्षतु जङ्गिडः॥ १॥

१. हे वीर्य! तू **जङ्गिडः**=(जंगिरति) उत्पन्न हुए-हुए रोगों को निगल जानेवाला **असि**=है। **रक्षिता असि**=तू रक्षक है। सचमुच **जङ्गिडः**=(जयति गिरति) जीतनेवाला व शत्रुओं को निगल जानेवाला है। २. यह **जङ्गिडः**=जङ्गिड नामक वीर्यमणि **अस्माकम्**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात् चतुष्पात्**=मनुष्यों व पशुओं को **रक्षतु**=रक्षित करे।

भावार्थ—वीर्य शरीर में गति करता हुआ रोगरूप शत्रुओं का बाधन करता है, उत्पन्न रोगों को नष्ट करता है। इसप्रकार यह हमारा रक्षक है। इसी से इसे 'जङ्गिड' नाम से स्मरण किया गया है।

ऋषिः—अङ्गिराः॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'रोग-शक्ति' क्षय

या गृत्स्यस्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये।
सर्वान्विनक्तु तेजसोऽरसां जङ्गिडस्करत्॥ २॥

१. **याः**=जो **त्रिपञ्चाशीः**='त्रि' तीनों—शरीर, मन और बुद्धि तथा 'पञ्च'—पाँचों कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों व पाँचों प्राणों की शक्ति को '**आशीः**'=खा जानेवाली **गृत्स्यः**=(गृध् अभिकांक्षायाम्)

खाने या पीने की प्रबल कामनावाली पीड़ाएँ हैं, (जैसे भस्मक रोग में) **च**=तथा **ये**=जो **शतम्**=सैकड़ों **कृत्याकृतः**=छेदन-भेदन करनेवाली व्याधियाँ हैं, उन **सर्वान्**=सबको **जङ्गिडः**=यह शरीर में शत्रुबाधन के लिए गतिवाली वीर्यशक्ति **तेजसः विनक्तु**=तेज से पृथक् करे। उनके प्रभाव को हीन कर दे। २. यह जंगिडमणि उनको **अरसान् करत्**=रसरहित—निर्बलकर दे। इस वीर्यशक्ति के कारण उन बिमारियों का प्रभाव जाता रहे, वे निष्प्रभाव हो जाएँ।

भावार्थ—शरीर में विविध व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन सबको यह वीर्यशक्ति निष्प्रभाव कर डालती है।

ऋषिः—अङ्गिराः॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

कृत्रिम नाद की अरसता

अ॒र॒सं कृ॒त्रिमं॒ ना॒दम॑र॒साः स॒प्त विस्र॑सः।
अपे॒तो ज॑ङ्गि॒डाम॑ति॒मिषु॒मस्ते॑व शातय॥ ३॥

१. कई रोगों में हर समय कान में 'शूं शूं'-सी ध्वनि होती रहती है। उसे यहाँ 'कृत्रिम नाद' कहा गया है। वीर्यशक्ति के द्वारा **कृत्रिमं नादं अरसम्**=यह कृत्रिम नाद क्षीण हो जाता है तथा शरीर में होनेवाले **सप्त**='दो कानों, दो आँखें, दो नासिका-छिद्र तथा मुख' इन सात से होनेवाले **विस्रसः**=निष्यन्द—रसों का टपकना **अरसाः**=क्षीण हो जाए। २. **जङ्गिड**=हे वीर्यमणे! तू **इतः**=हमारे शरीर से **अमतिम्**=दुर्बुद्धि को व बुद्धि की कमी को इसप्रकार **अपशातय**=सुदूर विनष्ट कर **इव**=जैसेकि **अस्ता**=बाणों को फेंकनेवाला **इषुम्**=बाण को दूर फेंकता है।

भावार्थ—वीर्यशक्ति के सुरक्षित होने पर कानों में यों ही होनेवाली 'शूं शूं' समाप्त हो जाती है, कान आदि से प्रवाहित होनेवाले निष्यन्द रुक जाते हैं, निर्बुद्धिता दूर भाग जाती है।

ऋषिः—अङ्गिराः॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

कृत्यादूषण-अरातिदूषण

कृ॒त्या॒दूष॑ण ए॒वाय॒मथो॒ अरा॒ति॒दूष॑णः।
अथो॒ सह॑स्वाञ्जङ्गि॒डः प्र ण॒ आयूं॑षि तारिषत्॥ ४॥

१. **अयम्**=यह जङ्गिडमणि **एव**=निश्चय से **कृत्यादूषणः**=छेदन-भेदन की क्रियाओं को दूषित करनेवाला है। शरीर में रोगजनित छेदन-भेदन को यह समाप्त कर देता है। **अथ उ**=और निश्चय से **अरातिदूषणः**= मन में उत्पन्न होनेवाली अदानवृत्तियों को भी दूषित करता है, अर्थात् वीर्यरक्षण से मनुष्य उदारवृत्ति का बनता है। २. **अथ उ**=अब निश्चय से यह **सहस्वान्**=शत्रुओं को कुचलने के बलवाला **जङ्गिडः**=वीर्यमणि **नः**=हमारे **आयूंषि**=जीवनों को **प्रतारिषत्**=बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य शरीर के रोगों को दूर करता है और मन से राक्षसीभावों को—अदानवृत्तियों को विनष्ट करता है। इसप्रकार यह आधि-व्याधियों को कुचलता हुआ हमारे जीवनों को दीर्घ बनाता है।

ऋषिः—अङ्गिराः॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'विष्कन्ध व संस्कन्ध' दूषण

स ज॑ङ्गि॒डस्य॑ महि॒मा परि॑ णः पातु वि॒श्वतः॑।
विष्क॑न्धं॒ येन॑ सा॒सह॑ सं॒स्कन्ध॒मोज॑ ओज॑सा॥ ५॥

१. **जङ्गिडस्य**=रोगरूप शत्रुओं के बाधन के लिए शरीर में गति करनेवाले जंगिड (वीर्य) की **सः**=वह **महिमा**=महिमा **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिपातु**=रक्षित करे, २. **येन**=जिस महिमा से यह **ओजः**=शक्तिरूप जंगिडमणि **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **विष्कन्धं संस्कन्धम्**=विष्कन्ध व संस्कन्ध नामक वात रोगों को **सासह**=पराभूत करता है। 'विष्कन्ध' में स्कन्ध फटते-से प्रतीत होते हैं, 'संस्कन्ध' में कन्धे जुड़-से गये प्रतीत होते हैं। वीर्यशक्ति ठीक होने पर ये रोग भाग जाते हैं।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य 'विष्कन्ध व संस्कन्ध' नामक भयंकर वातरोगों को उन्मूलित कर देता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अङ्गिराः' जङ्गिडः

त्रिष्ट्वा देवा अजनयन्निष्ठितं भूम्यामधि।
तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥ ६ ॥

१. **भूम्याम् अधि**=इस पृथिवीरूप शरीर में **निष्ठितम्**=निश्चय से स्थित **त्वा**=तुझको, हे जंगिड! **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **त्रिः**=(त्रिषु लोकेषु अवस्थानाय सा०) शरीर, मन व बुद्धि-रूप पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक, इन तीनों लोकों में स्थित होने के लिए **अजनयन्**=उत्पन्न किया है। जब यह वीर्य (जंगिड) शरीर में सुरक्षित होता है तब यह मन को भी शुद्ध बनाता है और बुद्धि को भी सूक्ष्म करता है। २. हे जंगिड! **तम् उ त्वा**=उस तुझको ही निश्चय से **पूर्व्याः ब्राह्मणाः**=अपना पालन व पूरन करनेवाले ज्ञानी लोग **अङ्गिराः इति**=अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले के रूप में **विदुः**=जानते हैं। शरीर में सुरक्षित वीर्य सब अंगों को रसमय बनाता है। इससे शरीर में जरावस्था का शीघ्र आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का व्यापन करता है। यह अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परिपाणः सुमंगलः

न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः।
विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ ७ ॥

१. **न**=न तो **त्वा**=तुझे **पूर्वाः ओषधयः**=पुरानी ओषधियाँ और **न त्वा**=न ही तुझे **याः**=जो **नवाः**=नई ओषधियाँ हैं वे **तरन्ति**=तैर पाती है। कई वस्तुएँ पुरानी होकर औषध के दृष्टिकोण से अधिक महत्त्ववाली हो जाती हैं और कईयों में ताज़ेपन में ही अधिक गुण होता है। वे ही यहाँ 'पूर्वाः तथा नवाः' शब्दों से कही गई हैं। इनमें से कोई भी जंगिड (वीर्य) की तुलना नहीं कर पाती। जंगिड इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। २. यह **विबाधः**=विशेषरूप से रोगरूप शत्रुओं का बाधन करता है। **उग्रः**=अति तेजस्वी है। **जंगिडः**=शत्रु-बाधन के लिए शरीर में खूब ही गति करता है। **परिपाणः**=यह सब ओर से रक्षित करनेवाला है और **सुमंगलः**=उत्तम मंगल का साधन है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य सर्वोत्तम औषध है। यह शत्रुओं का बाधन करता है और हमारा सर्वतः रक्षण करता है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

उपदान

अथोपदान भगवो जङ्गिडामितवीर्य।
पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ॥ ८॥

१. **अथ**=अब हे **उपदान**=(दाप् लवने) रोगरूप शत्रुओं का छेदन करनेवाले, **भगवः**=अतिशयित ऐश्वर्यवाले! **अमितवीर्य**=अनन्तशक्तिवाले **जङ्गिड**=वीर्यमणे! **ते**=वे **उग्राः**=अतिप्रबल रोग **ग्रसते**=ग्रस लें, उससे **पुरा**=पहले ही **ते**=तुझे **इन्द्रः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु ने **वीर्यम् उपददौ**=वीर्य के रूप में दिया है। २. वीर्य की शरीर में स्थापना इसी उद्देश्य से हुई है कि यह रोगों का शिकार न हो जाए।

भावार्थ—वीर्य 'उपदान' है—रोगों का लवन (छेदन) करनेवाला है। इसके सामर्थ्य से प्रबल रोग भी विनष्ट हो जाते हैं। वे रोग मनुष्य को निगल नहीं पाते।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अमीवाः-रक्षांसि

उग्र इत्ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ।
अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे॥ ९॥

१. हे जंगिड! तू **इत्**=निश्चय से **उग्रः**=तेजस्वी है। **इन्द्रः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु ने, हे **वनस्पते**=वनस्पति-विकार वीर्य! **ते**=तुझमें **ओज्मानम्**=ओज को—शक्ति को **आदधौ**=स्थापित किया है। २. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाले वीर्य! तू **सर्वाः**=सब **अमीवाः**=रोगों को **चातयन्**=नष्ट करता हुआ **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले इन रोगकृमियों को **जहि**=नष्ट कर डाल।

भावार्थ—प्रभु ने वीर्य में अद्भुत शक्ति रक्खी है। यह सब रोगों व रोगकृमियों को विनष्ट कर डालता है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'बलास पृष्ट्यामय' विनाश

आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम्।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत्॥ १०॥

१. **आशरीकम्**=शरीर को सर्वतः हिंसित करनेवाले, **विशरीकम्**=विशेषरूप से शरीर को तोड़नेवाले, **बलासम्**=बल को दूर फेंकनेवाले कफ़ आदि रोग को, **पृष्ट्यामयम्**=पसली व छाती की पीड़ा को, **तक्मानम्**=शरीर को कष्टमय बनानेवाले ज्वर को तथा **विश्वशारदम्**=सब शरीर में चकत्ते-ही-चकत्ते कर देनेवाले रोग को **जङ्गिडः**=यह वीर्यमणि **अरसान्**=निष्प्रभाव **करत्**=कर दे।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य 'वात-पित-कफ़' जनित सब विकारों को दूर करता है।

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

विष्कन्ध दूषण

इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः।
देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम्॥ १॥

१. **इन्द्रस्य नाम गृह्णन्तः**=शत्रु-विद्रावक प्रभु के नाम का ग्रहण करते हुए—नाम का उच्चारण करते हुए **ऋषयः**=तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों ने **जङ्गिडम्**=रोगबाधन के लिए शरीर में भृशंगति करनेवाली वीर्यमणि को **ददुः**=(to restore, to return) शरीर में ही फिर स्थापित किया है। विषय-विलास में इसे नष्ट नहीं होने दिया। २. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **यम्**=जिस जंगिडमणि को **अग्रे**=सर्वप्रथम **विष्कन्धदूषणम्**=अंगों को तोड़नेवाले वातरोग को नष्ट करनेवाला **भेषजं चक्रुः**=औषध बनाया है।

भावार्थ—तत्त्वदर्शी ज्ञानी प्रभु-स्मरणपूर्वक वीर्यरक्षण के लिए यत्नशील होते हैं। देववृत्ति के पुरुष इस वीर्यरक्षण को ही विष्कन्ध आदि रोगों का शामक बताते हैं।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परिपाण-अरातिहा

स नो रक्षतु जङ्गिडो धनपालो धनेव।
देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः परिपाणमरातिहम्॥ २॥

१. **सः**=वह **जङ्गिडः**=वीर्यमणि **नः**=हमें **रक्षतु**=इसप्रकार रक्षित करे, **इव**=जैसेकि **धनपालः**=एक धनपाल (धनाध्यक्ष) **धना**=धनों का रक्षण करता है। २. यह जङ्गिडमणि वह है **यम्**=जिसको **देवाः ब्राह्मणाः**=देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **परिपाणम्**=अपना सर्वतः रक्षक तथा **अरातिहम्**=शत्रुओं का नाशक **चक्रुः**=बनाते हैं। वीर्यरक्षण का उपाय यही है कि हम देववृत्ति के बनें—यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें तथा ज्ञान की रुचिवाले हों। अतिभोजन अथवा सांसारिक व्यसन वीर्य का विनाश ही करते हैं।

भावार्थ—वीर्य सर्वमहान् धन है। हम यज्ञशेष का सेवन करते हुए व ज्ञान की रुचिवाला बनते हुए इसका रक्षण करें। यह हमारा रक्षण करेगा और हमारे शत्रुओं का विनाश करेगा।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सुहार्द, नकि दुर्हार्द

दुर्हार्दः संघोरं चक्षुः पापकृत्वानमागमम्।
तांस्त्वं सहस्रचक्षो प्रतीबोधेन नाशय परिपाणोऽसि जङ्गिडः ॥ ३॥

१. **दुर्हार्दः**=दुष्टहृदयवाले पुरुष की **घोरं चक्षुः**=क्रूरतापूर्ण आँख को तथा **पापकृत्वानम्**=पाप को—हिंसादि कर्मों को करनेवाले को **सम् आगमम्**=मैं प्राप्त हुआ हूँ, अर्थात् मेरी वृत्ति क्रूरता व पापवाली बन गई है। २. हे **सहस्रचक्षो**=हज़ारों प्रकार से मेरा ध्यान करनेवाले (to look after) वीर्यमणे! **त्वम्**=तू **तान्**=उन अशुभवृत्तियोंवालों को **प्रतीबोधेन**=जगाने के द्वारा—ज्ञान प्राप्त कराने के द्वारा—नाशय—नष्ट कर दे। तू उन्हें ज्ञान के द्वारा 'सुहार्द् व पुण्यकृत्' बना दे। तू **परिपाणः असि**=सब ओर से रक्षित करनेवाला हैं। **जङ्गिडः**=(जयति गिरति) पापवृत्तियों को पराजित करनेवाला व इन अशुभ वृत्तियों को खा जानेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य हमें नीरोग बनाने के साथ शुभवृत्तियोंवाला भी बनाता है। हम दुर्हार्द् से सुहार्द् बन जाते हैं, पापकृत्वा से पुण्यकृत्।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥

सब ओर से रक्षण

परि मा दिवः परि मा पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्परि मा वीरुद्भ्यः।
परि मा भूतात्परि मोत भव्याद्दिशोदिशो जङ्गिडः पात्वस्मान्॥ ४॥

१. **मा**=मुझे **जङ्गिडः**=यह उपद्रवों को बाधित करनेवाला वीर्य **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक में होनेवाले उपद्रव से **परिपातु**=बचाए। इसीप्रकार **पृथिव्याः**=शरीररूप पृथिवी में होनेवाले विकार से मुझे **परि** (पातु)=बचाए। **अन्तरिक्षात्**=हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न हो जानेवाले वासना-विकारों से **परि**=रक्षित करे। यह **मा**=मुझे **वीरुद्भ्यः**=भोजन के रूप में ग्रहण किये गये वनस्पतियों से हो जानेवाले विकारों से **परि** (पातु)=बचाए। २. यह **मा**=मुझे **भूतात्**= उत्पन्न हो चुके विकारों से **परिपातु**=बचाए **उत**=और **मा**=मुझे **भव्यात्**=उत्पन्न हो जाने की आशंकावाले उपद्रवों से **परि**=बचाए। यह जंगिडमणि **अस्मान्**=हमें **दिशःदिशः**=सब दिशाओं से **पातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य हमें 'मस्तिष्क, हृदय व शरीर' में सर्वत्र उत्पन्न हो जानेवाले उपद्रवों से रक्षित करता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वभेषजः

य ऋष्णवो देवकृता य उतो ववृतेऽन्यः।
सर्वांस्तान्विश्वभेषजोऽरसां जङ्गिडस्करत्॥ ५॥

१. **ये**=जो **देवकृताः**=प्राकृतिक शक्तियों (देव—सूर्य, चन्द्र, वायु आदि) से उत्पन्न **ऋष्णवः**= (ऋष् to kill) उपद्रव हमारे शरीरों में हो जाते हैं, **उत**=और **यः**=जो **अन्यः**=अन्य भी कोई उपद्रव **उ**=निश्चय से **ववृते**=प्रवृत्त हो जाता है—अधिक खा लेने आदि गलतियों से उपद्रव हो जाते हैं। **तान् सर्वान्**=उन सब उपद्रवों को यह **जङ्गिडः**=वीर्यमणि **अरसान् करत्**=निष्प्रभाव कर दे। यह वीर्यमणि तो **विश्वभेषजः**=सब उपद्रवों का औषध है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य सब आधिदैविक व आध्यात्मिक कष्टों से हमें बचाता है।

शरीर, मन व मस्तिष्क के दोषों को दूर करके यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है। यह इस वीर्यमणि को 'शतवार' मणि के रूप में स्मरण करता है—शतवर्षपर्यन्त, अर्थात् आजीवन जो वरणीय है और रोगों का निवारण करनेवाली है—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शतवारः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुर्णामचातनः

शतवारो अनीनशद्यक्ष्मान्रक्षांसि तेजसा।
आरोहन्वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः ॥ १ ॥

१. यह **शतवारः**=शतसंख्याक रोगों का निवारण करनेवाली 'शतवार' नाम वीर्यमणि **यक्ष्मान्**=रोगों को **अनीनशत्**=नष्ट करती है। **तेजसा**=अपने तेज से **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमियों को नष्ट करती है। २. **आरोहन्**=शरीर में ऊर्ध्वगतिवाली होती हुई यह **मणिः**=वीर्यमणि **वर्चसा सह**=वर्चस् के साथ **दुर्णामचातनः**=अर्शस् आदि पाप रोगों को नष्ट करनेवाली है।

भावार्थ—शतसंख्याक रोगों का निवारण करने से वीर्य 'शतवार' है। यह रोगों, रोगकृमियों को नष्ट करती है। शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होता हुआ यह 'शतवार' बवासीर आदि पाप-रोगों को नष्ट करता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—शतवारः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

रक्षः, यातुधान्यः, यक्ष्मम्

शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्यः।
मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्माति तत्रति ॥ २ ॥

१. यह 'शतवार' वीर्यमणि **शृङ्गाभ्याम्**=अपने सींगों से—अग्रभागों से **रक्षः नुदते**=रोग-कृमियों व राक्षसीभावों को परे धकेलती है। **मूलेन**=मूल से **यातुधान्यः**=पीड़ा का अधान करनेवाली बिमारियों को दूर करती है और **मध्येन**=अपने मध्यभाग से **यक्ष्मम्**=क्षयरोग को **बाधते**=बाधित करती है। २. शतवार मणि को यदि एक वृक्ष के रूप में चित्रित करें तो वह अपने अग्रभाग से मानो रोगकृमियों को, मूल से पीड़ाकर रोगों को तथा मध्य से राजरोग को दूर करती है। **एनम्**=इसको **पाप्मा**=कोई भी रोग **न अति तत्रति**=आक्रान्त नहीं कर पाता।

भावार्थ—वीर्य 'शतवार' मणि है। यह रोगकृमियों, रोगों व राजरोगों को विनष्ट करती है। रोग इसे आक्रान्त नहीं कर पाते।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—शतवारः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अर्भक-महान्-शब्दी

ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः।
सर्वान्दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत् ॥ ३ ॥

१. **ये**=जो **यक्ष्मासः**=रोग **अर्भकाः**=छोटे-छोटे हैं—उत्पन्नमात्र हैं, **महान्तः**=जो बड़े हैं या बढ़ गये हैं, **च**=और **ये**=जो **शब्दिनः**=पीड़ाजनित शब्दों को उत्पन्न कराते हैं, **सर्वान्**=उन सबको यह **शतवारः**=शतसंख्याक रोगों का निवारण करनेवाली मणि **अनीनशत्**=नष्ट करती है। २. यह **मणिः**=वीर्यमणि **दुर्णामहा**=अर्शस् आदि पाप रोगों को विनष्ट करनेवाली है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य छोटे-बड़े व पीड़ाकारी सब रोगों को दूर करता है। यह अर्शस् आदि पापरोगों का भी निवारक है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—शतवारः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वीरान् अजनयत्, यक्ष्मान् अपावपत्

शतं वीरानजनयच्छतं यक्ष्मानपावपत्।
दुर्णाम्नः सर्वान्हत्वाव रक्षांसि धूनुते ॥ ४ ॥

१. यह शतवार मणि हमें **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त—आजीवन **वीरान् अजनयत्**=वीर बनाती है। इसके रक्षण से हम सदा वीर बने रहते हैं। यह **शतं यक्ष्मान्**=सैकड़ों रोगों को **अपावपत्**=सुदूर विनष्ट करनेवाली होती है। २. **सर्वान्**=सब **दुर्णाम्नः**=श्वित्र, दद्रु, पामा आदि दुष्ट रोगों को **हत्वा**=विनष्ट करके **रक्षांसि अवधूनुते**=सब रोगकृमियों को कम्पित करके दूर करती है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य हमें वीर बनाता है और रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—शतवारः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

हिरण्यशृङ्गः ऋषभः

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शतवारो अयं मणिः।
दुर्णाम्नः सर्वांस्तृड्ढ्वाव रक्षांस्यक्रमीत् ॥ ५ ॥

१. **अयम्**=यह **शतवारः मणिः**=सैकड़ों रोगों का निवारण करनेवाली मणि **हिरण्यशृंगः**=

हितरमणीय व स्वर्णवत् देदीप्यमान अग्रभागवाली है। इन्हीं शृंगों से तो यह सब राक्षसों को दूर भगाती है। वीर्य के सुरक्षित होने पर राक्षसीभाव स्वतः नष्ट हो जाते हैं। यह **ऋषभः**=सब राक्षसीभावों का संहार करनेवाली है (ऋष् to kill)। २. **सर्वान् दुर्णाम्नः**=सब दुष्ट नामवाले अर्शस् आदि रोगों को **तृड्ढ्वा**=हिंसित करके यह **रक्षांसि अवक्रमीत्**=रोगकृमियों को दूर भगा देती है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य 'दीप्त शृंगोंवाले ऋषभ' के समान है—ये इन शृंगों से सब रोगों को दूर भगा देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शतवारः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गान्धर्वाप्सरसां शतम्

शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम्।
शतं शश्वन्वतीनां शतवारेण वारये॥ ६॥

१. **अहम्**=मैं **दुर्णाम्नीनाम्**=कुष्ठ, दद्रू, पामा, अर्शस् आदि दुष्ट नामवाली बिमारियों के **शतम्**=सौ को **शतवारेण**=इस वीर्यरूप शतवार मणि से **वारये**=दूर करता हूँ। **गन्धर्वाप्सरसाम्**=(गां शरीरभूमिं धारयन्ति, अप्सु रेतः छणेषु सरन्ति) शरीरभूमि को पकड़ लेनेवाली—जड़ जमा लेनेवाली तथा सप्तमधातु (वीर्य) तक पहुँच जानेवाली बिमारियों के **शतम्**=सैकड़ें को इस शतवार मणि से दूर करता हूँ। २. तथा **शश्वन्वतीनाम्**=बारम्बार पीड़ा के लिए प्राप्त होनेवाली ग्रह, अपस्मार आदि व्याधियों के **शतम्**=सैकड़ों को इस मणि के द्वारा दूर करता हूँ।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य अर्शस् आदि रोगों को, शरीर में जड़ पकड़ लेनेवाले रोगों को, वीर्य तक पहुँच जानेवाले रोगों को तथा अपस्मार आदि रोगों को दूर कर देता है।

नीरोग बनकर यह वीर्यरक्षक पुरुष 'अथर्वा' बनता है—न डाँवाडोल होनेवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वर्चः, भर्गो, यशः, सह, ओजो, वयो, बलम्

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन्भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम्।
त्रयस्त्रिंशद्यानि च वीर्या॑णि तान्यग्निः प्र ददातु मे॥ १॥

१. **अग्निना**=उस अग्रणी प्रभु से **दत्तम्**=दिया हुआ **इदं वर्चः**=यह दीप्त तेज **आगन्**=मुझे प्राप्त हो। **भर्गः**=शत्रुओं को भून डालनेवाला तेज, **यशः**=यश, **सहः**=दूसरों को अभिभूत करनेवाला तेज **ओजः**=ओजस्विता—कार्यों को करने का उत्साह **वयः**=नित्ययौवन या गतिशीलजीवन, तथा **बलम्**=दूसरों से अभिभूत न किये जानेवाला सामर्थ्य मुझे प्राप्त हुआ है। २. **च**=और **यानि**=जो **त्रयस्त्रिंशत्**=शरीरस्थ तेतीस देवताओं में प्रत्येक में स्थित होने से तेतीस **वीर्यमणि**=बल हैं, **तानि**=उनको **मे**=मेरे लिए **अग्निः प्रददातु**=ये अग्रणी प्रभु दें।

भावार्थ—प्रभु मुझे 'वर्चस्, भर्ग, यश, सह, ओज, वय और बल' प्राप्त कराएँ। मेरे शरीरस्थ तेतीस-के-तेतीस देव वीर्यवान हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

इन्द्रियाय, शतशारदाय

वर्च आ धेहि मे तन्वां३ सह ओजो वयो बलम्।
इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्या॑य प्रति गृह्णामि शतशारदाय॥ २॥

१. हे परमात्मन्! **मे तन्वाम्**=मेरे शरीर में **वर्चः आधेहि**=शत्रुओं के आवर्जक प्रताप को स्थापित कीजिए। **सहः**=शत्रुमर्षक बल को, **ओजः**=ओजस्विता को, **वयः**=नित्य यौवन व पौरुष को तथा **बलम्**=बल को धारण कीजिए। २. हे प्रभो! **त्वा**=आपको मैं **प्रतिगृह्णामि**=हृदयदेश में ग्रहण करने के लिए यत्नशील होता हूँ, जिससे **इन्द्रियाय**=मेरी सब इन्द्रियाँ ठीक से कार्य करनेवाली हों। **कर्मणे**=मैं यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। **वीर्याय**=शक्तिशाली बना रहूँ और **शतशारदाय**=पूरे सौ वर्षों के जीवनवाला होऊँ।

भावार्थ—प्रभु मुझे शक्ति प्राप्त कराएँ। प्रभु-स्मरण से मेरी इन्द्रियाँ सशक्त व पवित्र बनी रहें। मैं यज्ञ आदि कर्मों को करनेवाला बनूँ, वीर्यवान् होऊँ और दीर्घजीवन प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिपदामहाबृहती** ॥

अभिभूयाय-राष्ट्रभृत्याय

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा।
अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय॥ ३॥

१. हे प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **ऊर्जे**=बल व प्राणशक्ति के लिए **पर्यूहामि**=(परिवहामि) ग्रहण करता हूँ। **बलाय**=बल के लिए **त्वा**=आपको ग्रहण करता हूँ, **ओजसे**=ओजस्विता के लिए तथा **सहसे**=शत्रुमर्षण सामर्थ्य के लिए **त्वा**=आपका ग्रहण करता हूँ। २. **अभिभूयाय**=शत्रुओं का अभिभव करने के लिए **त्वा**=आपका ग्रहण करता हूँ, तथा **राष्ट्रभृत्याय**=अपने राष्ट्र के भरण के लिए और **शतशारदाय**=सौ वर्ष के दीर्घजीवन के लिए आपका धारण करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से 'ऊर्ज्, बल, ओज, सहस्' प्राप्त होता है। हम शत्रुओं का अभिभव करते हुए और राष्ट्र का धारण करते हुए सौ वर्ष का दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

'धात्रे-विधात्रे, समृधे, भूतस्य पतये' यजे

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे॥ ४॥

१. हे प्रभो! **ऋतुभ्यः**=ऋतुओं के लिए **त्वा यजे**=मैं आपका पूजन करता हूँ। आपके पूजन से मुझे ऋतुओं की अनुकूलता हो। **आर्तवेभ्यः**=ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले फूल-फलों के लिए मैं आपका उपासन करता हूँ। मुझे उनकी अनुकूलता प्राप्त हो। **माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः**=महीनों व वर्षों के लिए मैं आपका पूजन करता हूँ। आपका पूजन मेरे मासों व वर्षों को उत्तम व सफल बनाए। २. मैं **धात्रे**=सृष्टि का धारण करनेवाले, **विधात्रे**=सृष्टि का निर्माण करनेवाले, **समृधे**=सब प्रकार के ऐश्वर्योंवाले **भूतस्य पतये**=सब प्राणियों के स्वामी आपके लिए **यजे**=अपना अर्पण करता हूँ। आपने ही मेरे जीवन-रथ का सारथि बनकर इसे लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाना है।

भावार्थ—प्रभु-पूजन से हमारे लिए ऋतुओं, मासों व वर्षों की अनुकूलता प्राप्त हो। हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें जोकि 'धाता, विधाता, समृद्ध व भूतपति' है।

सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' गुग्गुल आदि पदार्थों का यथायोग करता हुआ स्वस्थ बनता है—

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**गुल्गुलुः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गुग्गुलु

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥ १॥

१. **तम्**=उस साधक को **यक्ष्माः**=राजरोग न **अरुन्धते**=नहीं घेरते तथा **एनम्**=इसको **शपथः**=शाप व क्रोध-वचन न **अश्नुते**=नहीं व्यापता, **यम्**=जिसको **भेषजस्य**=औषधभूत (भेषं रोगभयं जयति) रोगभय को जीतनेवाले **गुल्गुलोः**=गुग्गुल का (गुज् स्तेये, गुड रक्षणे) रोगों के अपहरण द्वारा रक्षण करनेवाले इस पदार्थ का **सुरभिः गन्धः**=उत्तम गन्ध **अश्नुते**=व्यापता है (सुष्ठु रभते) यह गन्ध रोगों पर सम्यक् आक्रमण करनेवाला होता है।

भावार्थ—अग्निहोत्र में गुग्गुल की हवि सम्पूर्ण घर को उस गन्ध से व्याप्त कर देती है जोकि रोगों को आक्रान्त करके होताओं को नीरोग व शान्तचित्त बना देती है। यह तो है ही रोगापहारी (गुज स्तेये) तथा रक्षक (गुड रक्षणे)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**गुल्गुलुः**॥ छन्दः—**२ चतुष्पदोष्णिक्, ३ प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

यक्ष्मा-विनाश

विष्वञ्चस्तस्माद्यक्ष्मा मृगा अश्वाइवेरते।
यद् गुल्गुलु सैन्धवं यद्वाप्यासि समुद्रियम्॥ २॥
उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये॥ ३॥

१. **यत्**=जो **गुल्गुलु**=गुग्गुल **सैन्धवम्**=नदी के तट पर उत्पन्न होनेवाला है, **यद् वा**=अथवा जो **समुद्रियम्**=समुद्र के किनारे **अपि असि**=भी उत्पन्न होनेवाला है। **तस्मात्**=उसके प्रयोग से **यक्ष्माः**=रोग **विष्वञ्चः**=विविध दिशाओं में गतिवाले होते हुए **अश्वाः**=मार्गों का शीघ्रता से व्यापन करनेवाले **मृगाः इव**=मृगों के समान **ईरते**=भाग खड़े होते हैं। २. **अस्मै**=इस रोगी के लिए **आरिष्टतातये**=कल्याण के विस्तार के लिए **उभयोः**=सैन्धव व समुद्रिय दोनों ही गुग्गुलों के **नाम अग्रभम्**=स्वरूप (form) को प्रतिपादित करता हूँ।

भावार्थ—गुग्गुल चाहे नदी तट पर उद्भूत हो, चाहे समुद्र तट पर, दोनों ही गुग्गुल यक्ष्मा रोग को भागने में समर्थ हैं।

अगले सूक्त में ऋषि 'भृगु अंगिराः' है—तपस्याग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाला—अंग-प्रत्यंग में रस के संचारवाला! यह 'कुष्ठ' औषध के प्रयोग से रोगनाश का प्रतिपादन करता है—

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**कुष्ठः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कुष्ठ

एतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥ १॥

१. यह **देवः**=रोगों को जीतने की कामनावाला **त्रायमाणः**=हमारा रक्षण करता हुआ

कुष्ठः=(कुष्णाति रोगान्) रोग को **वाहिं**=निकाल फेंकनेवाला 'कुष्ठ' **हिमवतःपरि**=हिम-(बर्फ)-वाले प्रदेश से **आ एतु**=हमें प्राप्त हो। २. हे कुष्ठ! तू **तक्मानम्**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले **सर्वम्**=सब रोगों को, **च**=और **सर्वाः**=सब **यातुधान्यः**=पीड़ा का आधान करनेवाली बीमारियों को **नाशय**=नष्ट कर दे।

भावार्थ—हिमवाले प्रदेशों से प्राप्त होनेवाला यह कुष्ठ सब ज्वरों व पीड़ाओं को दूर करनेवाला है। संस्कृत में इसके नाम ही 'व्याधिः पारिभाव्यम्' है (विगतः आधिः अनेन, परिभावे साधुः) रोग इससे दूर होता है। यह रोगों को पराजित करने में उत्तम है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—कुष्ठः ॥ छन्दः—पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः ॥

'कुष्ठ, नद्यमारः, नद्यारिषः'

त्रीणि॑ ते कुष्ठ॒ नामा॑नि न॒द्यमारो॑ न॒द्यारि॑षः।

न॒द्यायं पुरु॑षो रि॒षत्। यस्मै॑ परि॒ब्रवी॑मि त्वा सा॒यंप्रा॒त॒रथो॒ दिवा॑॥ २॥

१. हे **कुष्ठ**=रोगों को बाहर निकाल फेंकनेवाले कुष्ठ! **ते**=तेरे **त्रीणि नामानि**=तीन नाम हैं। पहला नाम तो कुष्ठ है ही। दूसरा **नद्यमारः**=नदी के जलों के कारण उत्पन्न होनेवाले मलेरिया आदि रोगों को मारनेवाला तथा तीसरा **नद्यारिषः**=इन नदी-जलों के कारण उत्पन्न होनेवाले रोगों को हिंसित करनेवाला। २. हे **नद्य**=(नद्यानां मारको इति नद्यः सा०) उदकदोषोद्भव रोगों को नष्ट करनेवाले कुष्ठ! **अयं पुरुषः**=यह पुरुष तेरे प्रयोग द्वारा **रिषतः**=रोगों को हिंसित करनेवाला हो। **यस्मै**=जिस पुरुष के लिए मैं **सायंप्रातः अथ उ दिवा**=सायं-प्रातः और दिन में तीन बार **त्वा परिब्रवीमि**=तेरे प्रयोग के लिए कहता हूँ, अर्थात् जो दिन में तीन बार तेरा प्रयोग करता है वह रोगों से हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—कुष्ठ औषध विशेषकर जल के दोषों से उत्पन्न रोगों को दूर करनेवाला है। प्रातः-सायं व दिन में इसके प्रयोग से पुरुष रोगों का हिंसन करनेवाला होता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—कुष्ठः ॥ छन्दः—पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः ॥

जीवला-जीवन्तः

जी॒व॒ला नाम॑ ते मा॒ता जीव॒न्तो नाम॑ ते पि॒ता।

न॒द्यायं पुरु॑षो रिषत्। यस्मै॑ परि॒ब्रवी॑मि त्वा सा॒यंप्रा॒त॒रथो॒ दिवा॑॥ ३॥

१. हे कुष्ठ! **ते माता**=तुझे जन्म देनेवाली यह पृथिवी माता **जीवला नाम**=जीवन देनेवाली होने से 'जीवला' नामवाली है। **ते पिता**=तेरा पालनेवाला यह सूर्य या मेघ भी **जीवन्तः नाम**=जिलानेवाला होने से 'जीवन्त' नामवाला है। २. हे **नद्य**=उदकदोषोद्भव रोगों को नष्ट करनेवाले कुष्ठ! **यस्मै**=जिस पुरुष के लिए **त्वा**=तुझे **सायंप्रातः अथ उ दिवा**=सायं-प्रातः और निश्चय से दिन में तीन बार प्रयोग के लिए **परिब्रवीमि**=कहता हूँ, **अयं पुरुषः**=यह पुरुष **रिषत्**=रोग का हिंसन करनेवाला होता है।

भावार्थ—कुष्ठ औषध की माता पृथिवी 'जीवला' है। इसका पिता मेघ व सूर्य 'जीवन्त' है। इसका तीन बार प्रयोग करनेवाला पुरुष रोगों को हिंसित करनेवाला होता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—कुष्ठः ॥ छन्दः—षट्पदाजगती ॥

अनड्वान्-व्याघ्रः

उ॒त्त॒मो अ॒स्योष॑धीनामन॒ड्वाञ्जग॑तामिव व्या॒घ्रः श्वप॑दामिव।

न॒द्यायं पुरु॑षो रिषत्। यस्मै॑ परि॒ब्रवी॑मि त्वा सा॒यंप्रा॒त॒रथो॒ दिवा॑॥ ४॥

१. हे कुष्ठ! तू **ओषधीनाम् उत्तमः असि**=ओषधियों में उसी प्रकार उत्तम है, **इव**=जैसेकि **जगताम् अनड्वान्**=गतिशील गवादि पशुओं में बैल। अन्न आदि का उत्पादन करता हुआ बैल जैसे उपकारक है उसी प्रकार यह कुष्ठ भी हमारा उपकारक है। **इव**=जैसे **श्वपदाम्**=हिंसक पशुओं में **व्याघ्रः**=व्याघ्र उत्तम है, इसी प्रकार ओषधियों में कुष्ठ है। रोगों के प्रति वह भी व्याघ्र के समान क्रूर है। २. हे **नद्य**=उदकदोषोद्भव रोगों को नष्ट करनेवाले कुष्ठ! **यस्मै**=जिस पुरुष के लिए **त्वा**=तुझे **सायंप्रातः अथ उ दिवा**=सायं-प्रातः और निश्चय से दिन में तीन बार प्रयोग के लिए **परिब्रवीमि**=कहता हूँ, **अयं पुरुषः**=यह पुरुष **रिषत्**=तेरे प्रयोग से रोगों को हिंसित करता है।

भावार्थ—कुष्ठ औषध उसी प्रकार उपकारक है जैसे गवादि पशुओं में बैल। यह रोगों के प्रति उसी प्रकार क्रूर है, जैसेकि व्याघ्र। इसका प्रयोक्ता रोगों को हिंसित करनेवाला होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाशक्वरी** ॥

शाम्बु, आदित्य, विश्वदेव

त्रिः शाम्बुभ्यो अङ्गिरेभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि।
त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्यः।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ५॥

१. **त्रिः**=तीन बार प्रयोग किया हुआ कुष्ठ नामक औषध **शाम्बुभ्यः**=(शम्ब् to go) गतिशील **अंगिरेभ्यः**=यज्ञादि में प्रवृत्त कर्मकाण्डियों के लिए **परिजातः**=सर्वथा होता है। यह औषध उन्हें नीरोग बनाकर उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करता है। **त्रिः**=तीन बर प्रयोग किया हुआ **यः आदित्येभ्यः**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान का आदान करनेवाले आदित्यों के लिए होता है। उन्हें नीरोग बनाकर उत्कृष्ट ज्ञानी बनाता है यह **त्रिः**=तीन बार प्रयुक्त हुआ-हुआ **विश्वदेवेभ्यः**= सर्वदेवों के लिए **जातः**=हो जाता है। यह उन्हें नीरोग बनाकर देव बनाता है। कुष्ठ औषध का प्रयोग नीरोगता के द्वारा हमें 'क्रियाशील, ज्ञानी व देववृत्ति का' बनाता है। २. **सः कुष्ठः विश्वभेषजः**=वह कुष्ठ औषध सब रोगों की चिकित्सा है। यह **सोमेन साकं तिष्ठति**=गुणों के दृष्टिकोण से सोम के साथ स्थित होता है। जैसे शरीरस्थ सोम (वीर्य) सर्वौषध है, उसी प्रकार यह कुष्ठ भी सर्वौषध है। हे कुष्ठ! तू **सर्वतक्मानम्**=सब ज्वरों को **नाशय**=नष्ट कर **च**=और **सर्वाः यातुधान्यः**=सब पीड़ा का आधान करनेवाली बीमारियों को नष्ट कर।

भावार्थ—दिन में तीन बार प्रयुक्त हुआ 'कुष्ठ' हमें 'गतिशील, ज्ञानी व देव' बनाता है। यह हमारे 'शरीर, मस्तिष्क व मन' तीनों को नीरोग बनाता है। यह वीर्य के समान ही महिमावाला है। सब रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठः** ॥ छन्दः—**अष्टिः** ॥

कुष्ठ में अमृत स्थापन

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ६॥

१. **इतः**=यहाँ से—पृथिवीलोक से **तृतीयस्याम्**=तीसरे स्थान में स्थित (पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्युलोक) **दिविः**=द्युलोक में **अश्वत्थः**=आदित्य (सूर्य) की स्थिति है। **अश्वत्थ**=अग्नि का महान् आश्रय, अर्थात् सूर्य। यह आदित्य **देवसदनः**=देवों का निवासस्थान है। (पृथिवीलोक में मर्त्य, चन्द्रलोक में पितर, सूर्यलोक में देव)। **तत्र**=यहाँ सूर्य में **अमृतस्य चक्षणम्**=अमृत का दर्शन होता है। सूर्य में ही सम्पूर्ण प्राणशक्ति प्रतिष्ठित है। **ततः**=उस सूर्य से ही—सूर्य–किरणों के सम्पर्क से ही **कुष्ठः**=यह कुष्ठ नामक ओषधि **अजायत**=हुई है। २. **सः कुष्ठः विश्वभेषजः०**

भावार्थ—द्युलोकस्थ सूर्य की किरणों के द्वारा कुष्ठ में अमृत का स्थापन होता है। इसी से कुष्ठ विश्वभेषज बन जाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**कुष्ठः**॥ छन्दः—**अष्टिः**॥

हिरण्यबन्धना नौः

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ७॥

१. **दिवि**=द्युलोक में यह सूर्य **हिरण्ययी**=ज्योतिर्मयी **नौ**=नाव ही **अचरत्**=गति कर रही है। द्युलोक समुद्र है तो सूर्य उसमें एक चमकीली नाव है। यह नाव **हिरण्यबन्धना**=हितरमणीय वीर्य (हिरण्यं वै वीर्यम्) के बन्धनवाली है। सभी प्राणशक्ति इस सूर्य में ही है। **तत्र**=वहाँ उस सूर्य में **अमृतस्य चक्षणम्**=अमृत का दर्शन होता है—सारी जीवनीशक्ति यहाँ सूर्य में ही स्थापित है। **ततः**=उस सूर्य से ही **कुष्ठः**=यह कुष्ठ नामक औषध **अजायत**=उत्पन्न हुई है। **सः**=वह कुष्ठ भी विश्वभेषज है०

भावार्थ—द्युलोकस्थरूपी समुद्र में स्थित ज्योतिर्मय नाव के समान इस सूर्य में ही सारी प्राणशक्ति रक्खी है। कुष्ठ में यहीं से यह शक्ति आयी है, अतः कुष्ठ सर्वभेषज है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**कुष्ठः**॥ छन्दः—**अष्टिः**॥

पर्वत शिखरों पर

यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ८॥

१. **यत्र**=जहाँ **न अवप्रभ्रंशनम्**=नहीं होता नीचे गिरना, अर्थात् जहाँ पर्वतों की बहुत ऊँचाई पर बर्फ पिघलती नहीं, जमी रहती है, **यत्र**=जहाँ **हिमवतः**=इस हिमाच्छादित पर्वत का शिखर है **तत्र**=वहाँ खूब ऊँचाई पर **अमृतस्य**=किरणों में अमृत को लिए हुए सूर्य का जब **चक्षणम्**=प्रकाश होता है, अर्थात् जब उस हिमाच्छादित प्रदेश पर सूर्यकिरणें पड़ती हैं, **ततः**=तब यह **कुष्ठः**=कुष्ठ नामक ओषधि **अजायत**=उत्पन्न होती है। **सः कुष्ठः**=वह कुष्ठ सब रोगों का औषध है०

भावार्थ—कुष्ठ नामक औषध हिमाच्छादित पर्वतों के अत्युच्च शिखरों पर सूर्य प्रकाश के चमकने पर उत्पन्न होती है। यह सर्वौषध है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—कुष्ठः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'ज्ञानी-ध्यानी-कर्मी'

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः ।
यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः ॥ ९ ॥

१. हे **कुष्ठ**=कुष्ठ नामक औषध! तू वह है **यम्**=जिस **त्वा**=तुझको **पूर्वः**=अपना पालन व पूरण करनेवाला **इक्ष्वाकः**=(इक्षुं ज्ञानं अकति) ज्ञान की ओर गतिवाला—ज्ञानरुचि पुरुष **वेद**=जानता है या प्राप्त करता है। हे कुष्ठ! **वा**=अथवा **यं त्वा**=जिस तुझको **काम्यः**=प्रभु-प्राप्ति की कामनावाला उत्तम पुरुष प्राप्त करता है। २. **वा**=अथवा **यम्**=जिस तुझको **वसः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाला पुरुष प्राप्त करता है, **यम्**=जिसको **आत्स्यः**=(अत् गमने, षोऽन्तकर्मणि) निरन्तर गति द्वारा बुराइयों का विध्वंस करनेवाला पुरुष प्राप्त करता है। **तेन**=उससे तू **विश्वभेषजः असि**=सब रोगों का औषध है।

भावार्थ—हे कुष्ठ! तेरे प्रयोग से ज्ञानी, प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले, अपने निवास को उत्तम बनानेवाले व निरन्तर गति द्वारा पवित्रता का सम्पादन करनेवाले सभी लाभान्वित होते हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—कुष्ठः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'शीर्षलोक, तृतीयक, सदन्दि, हायन'

शीर्षलोकं तृतीयकं सदन्दिर्यश्च हायनः ।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥ १० ॥

१. हे **विश्वधावीर्य**=सब प्रकार के पराक्रमवाले—सब रोगों को आक्रान्त करनेवाले कुष्ठ! तू उस **तक्मानम्**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले रोग को **अधराञ्चं परासुव**=नीचे गतिवाला करके दूर भगा दे। मलशोधन के साथ उस रोग का भी सफ़ाया कर दे। २. उस रोग को दूर करदे जोकि **शीर्षलोकम्**=सिर को अपना लोक बनाता है। **तृतीयकम्**=जो ज्वर हर तीसरे दिन आने लगता है। **सदन्दिः**=(सदं दो अवखण्डने) जिसके कारण देह सदा टूटती-सी रहती है। **यः च**=और जो **हायनः**=प्रतिवर्ष नियम से आने लगता है। इन सब रोगों को तू दूर भगा दे।

भावार्थ—कुष्ठ-प्रयोग शिरोवेदना को, तृतीयक ज्वर को, सदा देहभेदक ज्वर को और वार्षिक ज्वर को दूर कर देता है।

जीवन को सर्वथा नीरोग व उत्तम बनानेवाला यह 'ब्रह्मा' है। यही अगले चार सूक्तों का ऋषि है—

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः ॥ छन्दः—परानुष्टुप्त्रिष्टुप् ॥

सरस्वती मन्युमन्तं जगाम

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम ।
विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः ॥ १ ॥

१. **यत्**=जो **मे**=मेरा **मनसः**=मन का **छिद्रम्**=दोष है—मन में विद्याप्राप्ति के लिए उत्साह का न होना ही मन का सर्वमहान् दोष है **च**=और **यत्**=जो **वाचः**=वाणी का दोष है—वेदवाणी का स्वाध्याय न करना ही वाणी का सर्वमहान् दोष है। **तत्**=उस दोष को **विश्वैः देवैः सह**='माता, पिता, आचार्य' आदि सब देवों के साथ **संविदानः**=ऐकमत्य को प्राप्त हुआ-हुआ

बृहस्पतिः=ज्ञान का स्वामी प्रभु **संदधातु**=ठीक करदे। प्रभु उत्तम माता-पिता आदि को प्राप्त कराके हमारे इस दोष को दूर कर दें—छिद्र को भर दें। २. इसप्रकार निर्दोष जीवनवाले बनते हुए हम इस बात का सदा स्मरण रखें कि **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **मन्युमन्तम्** (मन्यु=Sacrifice, Ardour, zeal)=त्याग व तीव्र उत्साहवाले को ही **जगाम**=प्राप्त होती है। मन्युमान् बनते हुए हम इस सरस्वती की आराधना करें। वस्तुतः यही निर्दोष बनने का मार्ग है।

भावार्थ—हमारे मन व वाणी के दोष प्रभु-कृपा से व उत्तम माता-पिता-आचार्य आदि के प्रशिक्षण से दूर हों। हम त्याग व उत्साह की वृत्तिवाले बनकर सरस्वती की आराधना करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**पुरःककुम्मत्युपरिष्टाद्बृहती**॥

सुमेधा वर्चस्वी

मा न आपो मेधां मा ब्रह्म प्र मथिष्टन।
शुष्यदा यूयं स्यन्दध्वमुपहूतोऽहं सुमेधा वर्चस्वी॥ २॥

१. **आपः**=शरीरस्थ रेतःकणो! तुम **नः**=हमारी **मेधाम्**=बुद्धि को **मा**=मत **प्रमथिष्टन**=हिंसित होने दो और इसप्रकार **ब्रह्म**=हमारे ज्ञान को **मा**=मत नष्ट होने दो। ये रेतःकण ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर बुद्धि व ज्ञान का वर्धन करते हैं। २. **यूयम्**=हे रेतःकणो! तुम हमारे शरीरों में **शुष्यदा**=उत्तम प्रवाहोंवाले होकर **स्यन्दध्वम्**=प्रवाहित होओ। इन रेतःकणों की सदा ऊर्ध्वगति हो और इसप्रकार दीप्त बुद्धि बनकर **उपहूतः**=आचार्यों से उनके समीप बुलाया गया **अहम्**=मैं **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला **वर्चस्वी**=रोगापहारक प्राणशक्तिवाला बनूँ। सुरक्षित वीर्यकण हमें मस्तिष्क में 'सुमेधाः' तथा शरीर में 'वर्चस्वी' बनाते हैं।

भावार्थ—रेतःकणों के शरीर में ही ऊर्ध्वगतिवाला होने से हमारी बुद्धि व ज्ञान हिंसित नहीं होते। हम सुमेधा व वर्चस्वी बनते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्**॥

मेधा, दीक्षा, तप

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः।
शिवा नः शं सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः॥ ३॥

१. **नः**=हमारी **मेधाम्**=मेधा बुद्धि को **मा हिंसिष्टम्**=मत हिंसित करो। **नः**=हमारी **दीक्षाम्**=व्रत-संग्रह को **मा**=मत नष्ट करो और **नः**=हमारा **यत्**=जो **तपः**=तप है उसे **मा**=(हिंसिष्टम्) मत समाप्त करो। हम प्राणायाम करते हुए प्राणसाधना द्वारा 'मेधा, दीक्षा व तप' का रक्षण करें। २. ये 'मेधा, दीक्षा व तप' **नः शिवाः**=हमारे लिए कल्याणकर हों। ये **शं सन्तु**=शान्ति दें, तथा **आयुषे**=प्रशस्त जीवन के लिए हों। ये 'मेधा, दीक्षा व तप' **शिवाः भवन्तु**=कल्याणकर हों। **मातरः**=ये हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा 'मेधा, दीक्षा व तप' को अपनाएँ। ये हमारे कल्याण, शान्ति, दीर्घ व प्रशस्त जीवन के लिए हों।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में प्राणसाधना की भावना अगले मन्त्र में आनेवाले 'अश्विना' शब्द से ली गई है। 'हिंसिष्टं' यह द्विवचनात्मक क्रिया 'अश्विना' के 'उद्धृत' करने का संकेत कर रही है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः॥ छन्दः—त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री॥

वह प्रेरणा

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासतामिषम्॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अस्मे**=हमारे लिए **ताम्**=उस **इषम्**=हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को **रासताम्**=प्राप्त कराओ, **या**=जो प्रेरणा **नः**=हमें **पीपरत्**=पार प्राप्त कराए, जिस प्रेरणा को सुनते हुए हम भवसागर से पार हो सकें। २. उस प्रेरणा को हम इस प्राणसाधना द्वारा प्राप्त करें जोकि **ज्योतिष्मती**=प्रकाशमयी है और **तमः तिरः**=अन्धकार को हमसे तिरोहित कर देती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से अशुद्धि का क्षय होने पर हृदय परिशुद्ध होता है। इस परिशुद्ध हृदय में हम प्रभु-प्रेरणा को सुन पाते हैं। यह प्रभुप्रेरणा प्रकाशमयी होती हुई, अन्धकार को दूर करती हुई, हमें भवसागर से पार प्राप्त कराए।

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—तपः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

तप और दीक्षा से 'राष्ट्र, बल व ओज' की उत्पत्ति

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥ १॥

१. **भद्रम् इच्छन्तः**=कल्याण चाहते हुए **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों ने **स्वर्विदः**=प्रकाश को प्राप्त करते हुए **अग्रे**=सर्वप्रथम **तपः दीक्षाम् उपनिषेदुः**=तप और दीक्षा को प्राप्त किया। २. **ततः**=उस तप और दीक्षा से ही **राष्ट्रम्**=उत्तम राष्ट्र **बलम्**=बल **च**=और **ओजः**=ओजस्विता **जातम्**=उत्पन्न हुई। २. **देवाः**='माता, पिता, आचार्य' आदि देव **अस्मै**=इस युवक सन्तान के लिए भी **ततः**=उस तप और दीक्षा को तथा तप और दीक्षा के द्वारा 'राष्ट्र बल व ओज' को **उपसंनमन्तु**=प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—जीवन में तप व दीक्षा के धारण से ही उत्तम राष्ट्र, बल व ओज की उत्पत्ति होती है। जिस राष्ट्र में युवक तप व दीक्षावाले होंगे, वही राष्ट्र उत्तम बनता है।

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ब्रह्म॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

सर्वयज्ञसाधक ब्रह्म

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः॥ १॥

१. सब पदार्थों में ब्रह्म की शक्ति ही काम करती है। सूर्यादि देवों में उस-उस देवत्व को ब्रह्म ही स्थापित करनेवाले हैं। यज्ञ के सब अंगों को ब्रह्म ही निर्मित करते हैं। ब्रह्म की शक्ति से ही होता आदि ऋत्विज् उस-उस कार्य को कर पाते हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **ब्रह्म होता**=ब्रह्म ही होतृकार्य को करनेवाले हैं। **ब्रह्म यज्ञाः**=प्रभु ही सब यज्ञ हैं। **ब्रह्मणा**=प्रभु ने ही **स्वरवः**=यज्ञस्तम्भ **मिताः**=मापपूर्वक बनाये हैं। २. **अध्वर्युः**=यह यज्ञ का प्रेणता अध्वर्यु भी **ब्रह्मणः जातः**=ब्रह्म से ही प्रादुर्भूत किया गया है। **हविः ब्रह्मणः अन्तः हितम्**=सब हवि ब्रह्म के अन्दर ही निहित है।

भावार्थ—यज्ञ के सब उपकरणों व कर्त्ताओं में प्रभु की ही शक्ति काम कर रही है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्म ॥ छन्दः—ककुम्मतीपथ्यापङ्क्तिः ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता।

ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा ॥ २ ॥

१. **घृतवती**=होमार्थ घृत से पूर्ण **स्रुचः**=जुहू, उपभृत् आदि **ब्रह्म**=ब्रह्म ही हैं—इनमें ब्रह्म की ही शक्ति कार्य कर रही है। **ब्रह्मणा**=ब्रह्म ने ही **वेदिः उद्धिता**=वेदि को ऊपर स्थापित किया है २. **च**=और **ब्रह्म**=ब्रह्म ही **यज्ञस्य तत्त्वम्**=यज्ञ का परमार्थिक रूप है। **ये हविकृतः ऋत्विजः**=जो हवि को करनेवाले ऋत्विज् हैं, वे सब ब्रह्म ही हैं—ब्रह्म की ही शक्ति से कार्य करते हैं। **शमिताय**=शान्ति प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। सब कर्मों का प्रभु में आधान ही प्रभु के प्रति अर्पण है, इसी में शान्ति है। न अभिमान, न अशान्ति। अभिमान होने पर ही फल की इच्छा होती है और अशान्ति उत्पन्न होती है।

भावार्थ—सब उपकरणों व अपने में भी ब्रह्म की शक्ति को कार्य करते हुए अनुभव करके हम कर्तृत्व के अभिमान से ऊपर उठें और इसप्रकार शान्ति प्राप्त करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्म ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अंहोमुच्-सुत्रावा

अंहोमुचे प्र भरे मनीषामा सुत्राम्णे सुमतिमावृणानः।

इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ॥ ३ ॥

१. मैं **सुमतिम्**=कल्याणी मति का **आवृणानः**=वरण करता हुआ उस **अंहोमुचे**=पापों से छुड़ानेवाले **सुत्राम्णे**=उत्तम रक्षक प्रभु के लिए **मनीषाम्**=मन का ईश बनानेवाली स्तुति को **आप्रभरे**=समन्तात् सम्पादित करता हूँ। शुभ बुद्धिवाला पुरुष सदा प्रभु-स्तवन करता है। यह प्रभु-स्तवन उसके मन का शासक बन जाता है। उसे प्रभु-स्तवन में ही आनन्द का अनुभव होता है। इस स्तोता को प्रभु पापों से मुक्त करते हैं और उसका सम्यक् त्राण (रक्षण) करते हैं। २. **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **इमं हव्यं प्रतिगृभाय**=इन हव्यों को स्वीकार कीजिए। हमसे किये जानेवाले व आप में आहित किये जानेवाले ये यज्ञ हमें आपका प्रिय बनाएँ। (ब्रह्मण्याधाय कर्माणि०)। **यजमानस्य**=इस यज्ञशील पुरुष की **कामाः**=कामनाएँ **सत्यः सन्तु**=सदा सत्य हों। यह यजमान कभी असत्य कामनाओं को करनेवाला न हो।

भावार्थ—हम सुमतिवाले बनकर प्रभु-स्तवन करें। प्रभु हमें पापों से मुक्त करेंगे और हमारा रक्षण करेंगे। हम यज्ञशील बनें और सदा सत्य कामनाओंवाले हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्म ॥ छन्दः—जगती ॥

धियः+ओजः

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।

अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्तमोजः ॥ ४ ॥

१. मैं उस प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ जोकि **अंहोमुचम्**=पाप से छुड़ानेवाले हैं, **यज्ञियानां वृषभम्**=पूजनीयों में श्रेष्ठ हैं अथवा यज्ञशील पुरुषों पर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं, **अध्वराणां प्रथमं विराजन्तम्**=यज्ञों में सबसे प्रथम (मुख्यरूप से) देदीप्यमान होनेवाले हैं और **अपां नपातम्**=हमारे शरीरों में रेतःकणों को नष्ट न होने देनेवाले हैं। २. मैं प्रभु का उपासन करता हुआ **अश्विना हुवे**=इन प्राणापान को भी पुकारता हूँ—प्राणसाधना करता हूँ। हे प्राणापानो! आप

ते इन्द्रियेण=अपने वीर्य के साथ **धियः**=बुद्धियों को तथा **ओजः**=ओजस्विता को **दत्तम्**=दीजिए। प्राणसाधना से ही शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है, अतः वीर्य को 'प्राणापान का' कहा गया है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें और प्राणसाधना को अपनाएँ। इससे हमें वीर्य, बुद्धि व ओज प्राप्त होगा।

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः ॥

अग्नि-मेधा

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह।
अ॒ग्निर्मा॒ तत्र॑ नयत्व॒ग्निर्मे॒धां द॑धातु मे। अ॒ग्नये॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, अर्थात् जिस लोक को ये ब्रह्मज्ञानी प्राप्त करते हैं, **अग्नि**=वह अग्रणी प्रभु **मा**=मुझे **तत्र**=वहाँ **नयतु**=प्राप्त कराए। २. इसी दृष्टिकोण से यह अग्नि प्रभु **मे**=मेरे लिए **मेधाम् दधातु**=बुद्धियों को धारण करे। **अग्नये स्वाहा**=इस अग्नि के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—अग्रणी प्रभु मुझे मेधा प्राप्त कराएँ। मैं दीक्षा व तप को अपनाता हुआ ब्रह्मज्ञानी बनूँ और उत्कृष्ट लोक को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः ॥

वायु-प्राण

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह।
वा॒युर्मा॒ तत्र॑ नयतु वा॒युः प्रा॒णान्द॑धातु मे। वा॒यवे॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के द्वारा **यान्ति**=जाते हैं, **वायुः**=निरन्तर गति के द्वारा बुराइयों का संहार करनेवाला प्रभु (वा गतिगन्धनयोः) **मा**=मुझे तत्र **नयतु**=वहाँ प्राप्त कराए। २. इसी दृष्टिकोण से **वायुः**=यह वायुनामक प्रभु **मे**=मेरे लिए **प्राणान् दधातु**=प्राणों का धारण करें। प्राणशक्ति के बिना उत्तम लोकों ने क्या प्राप्त होना? **वायवे स्वाहा**=इस वायु नामक प्रभु के लिए हम अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—वायु के समान निरन्तर गतिवाले प्रभु प्राणशक्ति दें। इस प्राणशक्ति के होने पर व्रती व तपस्वी बनकर मैं प्रभु को जानूँ और उत्तम लोक को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः ॥

सूर्य-चक्षु

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह।
सूर्यो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ चक्षुः॒ सूर्यो॑ दधातु मे। सूर्या॑य॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, **सूर्यः**=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्योति वह ब्रह्म **मा तत्र नयतु**=मुझे वहाँ प्राप्त कराए। २. इसी दृष्टिकोण से **सूर्यः**=यह सूर्यसम दीप्त प्रभु **मे**=मेरे लिए **चक्षुः दधातु**=दर्शनशक्ति को धारण करें। 'चक्षु' से मार्ग को देखता हुआ, मैं मार्ग पर ही चलूँ और उत्तम लोक को प्राप्त करूँ। **सूर्याय**=इस सूर्य नामक प्रभु के लिए हम **स्वाहा**=अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—सूर्यसम दीप्त प्रभु मुझे दर्शनशक्ति दें। इससे ठीक मार्ग पर चलता हुआ मैं व्रती व तपस्वी बनूँ और ब्रह्मज्ञ बनकर उत्तम लोक को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः** ॥

चन्द्र-मन

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।

चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे। चन्द्राय स्वाहा ॥ ४ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, **चन्द्रः**=वह आह्लादमय प्रभु **मा**=मुझे **तत्र नयतु**=वहाँ प्राप्त कराएँ। २. इसी दृष्टिकोण से **चन्द्रः**=वे आनन्दमय प्रभु **मे**=मेरे लिए **मनः**=प्रसादयुक्त मन को **दधातु**=धारण करें। प्रसन्न (निर्मल) मन में प्रभु-प्रेरणा को सुनता हुआ, उसपर चलता हुआ, उत्तम लोक को प्राप्त करूँ। **चन्द्राय स्वाहा**=इस आनन्दमय प्रभु के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—आनन्दमय प्रभु मुझे प्रसन्न मन को प्राप्त कराएँ। इस निर्मल मन में प्रभु-प्रेरणा को सुनता हुआ मैं उत्तम मार्ग का आक्रमण करूँ। व्रती व तपस्वी बनकर उत्तम लोक को प्राप्त करूँ। इस आनन्दमय प्रभु के प्रति मैं अपना अर्पण करता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः** ॥

सोम-पय

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।

सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे। सोमाय स्वाहा ॥ ५ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, **सोमः**=वे शान्त प्रभु **मा**=मुझे **तत्र नयतु**=यहाँ प्राप्त कराएँ। २. इसी दृष्टिकोण से **सोमः**=वे शान्त प्रभु **मे**=मेरे लिए **पयः**=आप्यायन (वृद्धि) को **दधातु**=धारण करें। वस्तुतः 'सोम' शरीर में वीर्य का नाम है। इस वीर्य के रक्षण से ही सब प्रकार की वृद्धि होती है। प्रभु वीर्य के पुञ्ज हैं—सोम हैं। इस **सोमाय**=वीर्यस्वरूप प्रभु के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—वे सोम प्रभु मेरा आप्यायन करें। प्रबुद्ध शक्तियोंवाला मैं व्रत व तप को अपनाता हुआ उत्तम लोक को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः** ॥

इन्द्र-बल

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।

इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे। इन्द्राय स्वाहा ॥ ६ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=प्राप्त होते हैं, **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **मा**=मुझे **तत्र नयतु**=वहाँ प्राप्त कराए। २. इसी दृष्टिकोण से **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **मे**=मेरे लिए **बलम्**=बल को **दधातु**=धारण करें। इस **इन्द्राय**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् प्रभु मुझे बल दें। मैं सबल होता हुआ व्रती व तपस्वी बनकर उत्तम लोक को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः ॥

आपः-अमृतम्

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु। अद्भ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, **आपः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **मा**=मुझे **तत्र नयन्तु**=वहाँ ले-चले। २. उस सर्वव्यापक प्रभु की व्यापकता के स्मरण से **अमृतम्**=अमृतत्व—विषयों के पीछे मरते न फिरना **मा उपतिष्ठतु**=मुझे प्राप्त हो। मैं **अद्भ्यः स्वाहा**=उस सर्वव्यापक प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण मुझे 'विषय-विलास के पीछे मरते रहने' की वृत्ति से ऊपर उठाए। मुझे दीक्षित व तपस्वी बनाए।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः ॥

ब्रह्मा-ब्रह्म (ज्ञान)

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ८ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, **ब्रह्मा**=वह ज्ञानस्वरूप प्रभु **मा**=मुझे **तत्र नयतु**=वहाँ ले-चले। २. इसी दृष्टिकोण से **ब्रह्मा**=वे सर्वज्ञ प्रभु **मे**=मेरे लिए **ब्रह्म दधातु**=ज्ञान को धारण करें। **ब्रह्मणे स्वाहा**=उस सर्वज्ञ प्रभु के प्रति मैं अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—मैं सर्वज्ञ प्रभु के स्मरण से ज्ञानरुचि बनकर स्वाध्यायपूर्वक ज्ञान प्राप्त करूँ और दीक्षित व तपस्वी बनकर उत्तम लोक का भागी बनूँ।

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—आञ्जनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शम्+अभयम्

आयुषोऽसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे।
तदाञ्जन त्वं शन्ताते शमापो अभयं कृतम् ॥ १ ॥

१. गत सूक्त के मन्त्रों के अनुसार 'दीक्षा व तप' में चलनेवाले व्यक्ति शरीर में शक्ति का रक्षण कर पाते हैं। यह वीर्यशक्ति ही यहाँ 'आञ्जन' शब्द से कही गई है। (आ अंज्=to go, to shine, to decorate) यह शरीर में चारों ओर गतिवाला होता है, शरीर में यही सर्वाधिक शोभावाली धातु है, शरीर में सुरक्षित होकर यह शरीर को 'शक्ति, पवित्रता व दीप्ति' से अलंकृत करती है। हे **आञ्जन**=वीर्यमणे! तू **आयुषः प्रतरणम् असि**=आयु का बढ़ानेवाला है। **विप्रम्**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाला है। **भेषजम् उच्यसे**=सब रोगों को दूर करने से तू औषध कहलाता है। २. **तत्**=अतः हे **शंताते**=शरीर में रोगविनाश द्वारा शान्ति का विस्तार करनेवाले (आप् व्याप्तौ) वीर्यकणों (आपःरेतो भूत्वा०) आपके द्वारा **अभयम्**=निर्भयता **कृतम्**=की गई है। शरीर में वीर्यकणों के व्याप्त होने पर रोगों का भय नहीं रहता।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य आयु को बढ़ाता है, कमियों को दूर करता है, सब रोगों

का औषध है। शान्ति और अभय को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—आञ्जनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

हरिमा, जायान्य, अङ्गभेद, विसल्पक

यो ह॒रि॒मा जा॒याऽन्योऽङ्गभे॒दो वि॒सल्प॑कः।
सर्वं॑ ते॒ यक्ष्म॒मङ्गे॑भ्यो ब॒हिर्निर्ह॑न्त्वाञ्ज॑नम् ॥ २ ॥

१. **यः**=जो **हरिमा**=हरिद् (पीले-से) वर्ण का पाण्डु नामक रोग है। **जायान्यः**=(जै क्षये) क्षीणता की ओर ले-जानेवाला क्षयरोग है। **अङ्गभेदः**=वातविकार से अंगों का टूटना है। **विसल्पकः**=विविध रूप से सरणशील व्रणविशेष (ऐग्ज़िमा) है। **आञ्जनम्**=यह वीर्यमणि **सर्वं यक्ष्मम्**=सब रोगों को **ते अङ्गेभ्यः**=तेरे अंगों से **बहिः निर्हन्तु**=बाहर निकाल दे।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य पीलिया, क्षय, अंगभेद व त्वग्रोगों को विनष्ट करनेवाला है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—आञ्जनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

नीरोगता, स्फूर्ति व निष्पापता

आ॒ञ्ज॑नं पृथि॒व्यां जा॒तं भ॒द्रं पु॑रुष॒जीव॑नम्।
कृ॒णो॒त्वप्र॑मायुकं॒ रथ॑जूति॒मना॑गसम् ॥ ३ ॥

१. **आञ्जनम्**=शरीर को 'शक्ति, पवित्रता व दीप्ति' से अलंकृत करनेवाली यह वीर्यमणि **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में **जातम्**=उत्पन्न होती है। **भद्रम्**=यह हमारा कल्याण करनेवाली है। **पुरुषजीवनम्**=यह हमारे जीवन को पौरुषयुक्त करती है। २. यह हमारे लिए **अप्रमायुकं कृणोतु**=अमरणशीलता करे—हम सदा रोगी न बने रहें। यह **रथजूतिम्** (कृणोतु)=शरीररूप रथ के वेग को करे, अर्थात् हमारे शरीर-रथ को स्फूर्तिसम्पन्न बनाए, **अनागसम्**=निष्पापता को करे।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य 'नीरोगता-स्फूर्ति व निष्पापता' का साधक होता है। यह हमारे जीवन को पौरुष-सम्पन्न करता हुआ सुखमय बनाता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—आञ्जनम् ॥ छन्दः—चतुष्पदाशङ्कुमत्युष्णिक् ॥

प्राण-असु-निर्ऋति

प्राण॑ प्रा॒णं त्रा॑य॒स्वासो॒ अस॑वे मृड। निर्ऋ॑ते॒ निर्ऋ॑त्या न॒: पाशे॑भ्यो मुञ्च ॥ ४ ॥

१. यह आञ्जन (वीर्य) प्राणशक्ति का रक्षक होने से यहाँ 'प्राण' कहलाया है। बुद्धि को दीप्त करने के कारण 'असु' (प्रज्ञा नि० १०.३४) कहा गया है तथा नितरां रमण करनेवाला होने से 'निर्ऋति' नामवाला हुआ है (ऋ गतौ)। हे **प्राण**=प्राणशक्ति के रक्षक वीर्य! **प्राणं त्रायस्व**=तू हमारे प्राण का रक्षण कर। **असो**=हे प्रज्ञा के सम्पादक वीर्य! तू **असवे मृड**=हमारी बुद्धि के लिए सुख देनेवाला हो। २. **निर्ऋते**=शरीर में नितरां रमण करनेवाले वीर्य! तू **नः**= हमें **निर्ऋत्याः** (नृ हिंसायाम्)=दुर्गति के **पाशेभ्यः**=पाशों से **मुञ्च**=मुक्त कर। सुरक्षित वीर्य सब दुर्गतियों को दूर करता है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य प्राणशक्ति का रक्षण करता है, बुद्धि को तीव्र करता है और दुर्गतियों को दूर करता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—आञ्जनम् ॥ छन्दः—त्रिपदानिचृद्विषमागायत्री ॥

'सिन्धुगर्भ, विद्युत्-पुष्प'

सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम्। वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुर्दिवस्पयः ॥ ५ ॥

१. **सिन्धोः गर्भः असि**=हे आञ्जन (वीर्यमणे)! तू सिन्धु—ज्ञानसमुद्र का अपने में धारण करनेवाला है। सुरक्षित वीर्य ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। **विद्युताम्**=विशिष्ट दीप्तियों का तू **पुष्पम्**=विकासक है। वीर्य के सुरक्षित होने पर तेजस्विता टपकती है, अंग-प्रत्यंग पुष्ट हो जाता है। २. यह सुरक्षित वीर्य **वातः**=(वा गतौ) हमें गतिशील बनाता है। **प्राणः**=यह हमारा प्राण है। **सूर्यः**=यह जीवन-गगन में ज्ञान-सूर्य का उदय करता है। **चक्षुः**=मार्गदर्शक बनता है अथवा चक्षु की शक्ति को बढ़ाता है। यह **दिवः पयः**=ज्ञान का आप्यायन करनेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य ज्ञान का गर्भ है। तेजस्विता का पोषक है। यह रक्षक को गतिशील बनाता है, उसकी प्राणशक्ति को बढ़ाता है, उसमें ज्ञान-सूर्य को उदित करता है, चक्षुशक्ति को बढ़ाता है। ज्ञान का आप्यायन करनेवाला है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—आञ्जनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'त्रै-ककुदम्'

देवाञ्जन त्रैककुदं परि मा पाहि विश्वतः।
न त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत ॥ ६ ॥

१. हे **देवाञ्जन**=दिव्य गुण-सम्पन्न वीर्यमणे! अथवा प्रभु को हृदयदेश में प्रकाशित करनेवाले आञ्जन! तू **त्रै-ककुदम्**=तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ मणि है। मुझे तीनों लोकों के शिखर पर पहुँचानेवाला है। पृथिवीरूप शरीर में मुझे स्वस्थ, अन्तरिक्षरूप हृदय में मुझे पवित्र तथा द्युलोकरूप मस्तिष्क में मुझे दीप्त बनाता है। तू **मा**=मुझे **विश्वतः परिपाहि**=सब ओर से रक्षित कर। २. **त्वा**=तुझे यह **बाह्याः**=बाहर की ओषधियाँ **उत**=और **पर्वतीयाः**=पर्वतों पर होनेवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ भी **न तरन्ति**=नहीं लाँघ सकतीं, अर्थात् तू ही सर्वोत्तम औषध है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य हृदय में प्रभु को प्रकाशित करनेवाला है। यह त्रिलोकी में सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। यही सर्वोत्तम औषध है। कोई भी बाह्य औषध इसकी तुलना नहीं कर सकती।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—आञ्जनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'अमीवाः-अभिभाः' (नाशयत्)

वीदं मध्यमवासृपद्रक्षोहामीवचातनः।
अमीवाः सर्वाश्चातयन्नाशयदभिभा इतः ॥ ७ ॥

१. **इदम्**=यह शरीर को तेजस्विता से दीप्त करनेवाली 'आञ्जन-(वीर्य)-मणि' **मध्यं वि अवसृपत्**=शरीर के मध्यभाग में विशेषरूप से गतिवाली होती है। यह **रक्षोहा**=रोगकृमियों का हनन करती है, **अमीवचातनः**=रोगों को विनष्ट करती है। २. यह **सर्वाः अमीवाः चातयन्**=सब रोगों का विनाश करती हुई **इतः**=यहाँ से **अभिभाः**=हमें अभिभूत करनेवाले विषय-विकारों को **नाशयत्**=नष्ट करे। शरीर से रोगों को दूर करे, मन से वासनाओं को।

भावार्थ—शरीर में ही गतिवाला होता हुआ वीर्य शरीर के रोगों की भाँति मानस विकारों को भी नष्ट करता है।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—आञ्जनम्, वरुणः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अनृत-परिमुक्ति

बह्वी३दं राजन्वरुणानृतमाह पूरुषः।
तस्मात्सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः॥ ८॥

१. हे **राजन्**=जीवन को दीप्त करनेवाले तथा **वरुण**=आधि-व्याधियों का निवारण करनेवाले आञ्जन (वीर्यमणे)! **पूरुषः**=मनुष्य **इदं बहु अनृतम् आह**=प्रातः से सायं तक बहुत ही झूठों को बोल जाता है। मनुष्य का जीवन विषय-प्रलोभनों से अनृतमय हो जाता है। २. हे **सहस्रवीर्य**=अनन्त पराक्रमयुक्त आञ्जनमणे! शरीर में सुरक्षित हुई-हुई तू **नः**=हमें **तस्मात् अंहसः**=उस सब पाप से **परिमुञ्च**=सर्वथा मुक्त कर।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य जीवन को दीप्त करता है। वासनाओं का निवारण करता है। यह हमें पापों से मुक्त करे।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—आञ्जनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'आपः, अघ्न्या, वरुण'

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति तदूचिम।
तस्मात्सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः॥ ९॥

१. हे आञ्जन मणे (वीर्य)! तू **आपः**=शरीर में सर्वत्र व्याप्त होनेवाला है। **अघ्न्याः इति**=हे वीर्यकणो! तुम अहन्तव्य हो—न नष्ट करने योग्य हो अतः 'अघ्न्या' **इति**=इस नामवाले हो। **'वरुण इति'**=सब 'आधि-व्याधियों का निवारण करनेवाले' होने से तुम्हें वरुण नाम से **ऊचिम**=कहते हैं। २. **तस्मात्**=उस कारण से—'वरुण' होने से हे **सहस्रवीर्य**=अनन्त शक्तिवाली वीर्यमणे! तू **नः**=हमें **अंहसः**=पापों से **परिमुञ्च**=सर्वथा मुक्तकर।

भावार्थ—शरीर में व्याप्त होने से वीर्य 'आपः' कहलाता है। न नष्ट करने योग्य होने से यह 'अघ्न्या' है। पापों व कष्टों का निवारण करने से यह 'वरुण' है।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—आञ्जनम्, वरुणः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

मित्र और वरुण

मित्रश्च त्वा वरुणश्चानुप्रेयतुराञ्जन। तौ त्वानुगत्य दूरं भोगाय पुनरोहतुः॥ १०॥

१. हे **आञ्जन**=शरीर को नीरोगता व निष्पापता से अलंकृत करनेवाले वीर्य! **मित्रः च वरुणः च**=मित्र और वरुण—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **त्वा अनुप्रेयतुः**=तेरे पीछे गतिवाले होते हैं। वीर्य का रक्षण होने पर स्नेह व निर्द्वेषता का हमारे जीवनों में विकास होता है। २. **तौ**=वे स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **त्वा अनुगत्य**=तेरा अनुगमन करके **दूरं भोगाय**=बहुत दूर तक वास्तविक आनन्द की प्राप्ति के लिए **पुनः आ ऊहतुः**=फिर से शरीर में समन्तात् प्राप्त कराते हैं। ये स्नेह व निर्द्वेषता के भाव वीर्यरक्षण में सहायक होते हैं। वीर्यरक्षण से ये उत्पन्न होते हैं, फिर उत्पन्न होकर ये वीर्यरक्षण के साधक बनते हैं।

भावार्थ—वीर्य का रक्षण होने पर हममें स्नेह व निर्द्वेषता के भावों का वर्धन होता है। फिर ये भाव वीर्यरक्षण में सहायक बनते हैं।

४५. [पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—आञ्जनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'वासना व क्रोध' का विनाश

ऋणादृणमिव संनयन्कृत्यां कृत्याकृतो गृहम्।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥ १ ॥

१. **ऋणात्**=ऋण में से **ऋणम्**=ऋण के अंश को **इव**=जैसे **संनयन्**=कोई व्यक्ति उत्तमर्ण के घर में पहुँचाता है, उसी प्रकार **कृत्याम्**=हिंसा को **कृत्याकृतः**=हिंसा करनेवाले के घर में पहुँचाते हुए हे **आञ्जन**=हमें गतिशील बनानेवाले और सद्गुणों से हमारे जीवन को अलंकृत करनेवाले वीर्य! तू **चक्षुर्मन्त्रस्य**=आँख से—आँख के इशारों (Sidelook of glances) से मन्त्रणा करनेवाली **दुर्हार्दः**=दुष्टहृदयवाली वासना की **पृष्टीः अपि**=पसलियों को भी **शृण**=शीर्ण कर डाल। २. यह सुरक्षित वीर्य हमारे जीवन में से वासना को विनष्ट कर दे। यह हमें हिंसा को अहिंसा से जीतनेवाला बनाए। हिंसक की भी हिंसा न करते हुए हम हिंसा को उसके प्रति वापस भेज दें। हम ऐसा समझें कि हमने पूर्वजन्म में इसका कुछ हिंसन किया होगा, अतः वह ऋण ही अब चुकाया जा रहा है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्यवाला व्यक्ति वासना को विशीर्ण कर डालता है। क्रोध व हिंसा से दूर रहता है। हिंसक की हिंसा में भी ऋण के उतरने की भावना रखता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—आञ्जनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'दुःष्वप्न्य' से दूर

यदुस्मासु दुःष्वप्न्यं यद्गोषु यच्च नो गृहे।
अनामगुस्तं च दुर्हार्दः प्रियः प्रति मुञ्चताम् ॥ २ ॥

१. **यत्**=जो **अस्मासु**=हमारे विषय में **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवाले पुरुष का **दुःष्वप्न्यम्**=दुष्ट स्वप्न है **यत् गोषु**=जो हमारी गौओं के विषय में **च**=और **यत् नः गृहे**=जो हमारे घर के विषय में दुष्ट स्वप्न है, उस दुष्ट स्वप्न को भी **अनामगः**=(आयो रोगः) नीरोगता की ओर गतिवाला, **प्रियः**=प्रीति का जनक यह आञ्जन (वीर्य) **तं प्रति च**=उसके ही प्रति **मुञ्चताम्**=छोड़नेवाला हो। २. यदि कोई दुष्ट हृदयवाला पुरुष हमारा अशुभ करने का स्वप्न भी लेता है तो हम वीर्यवान् बनते हुए, उसके बुरा करने का स्वप्न न लें। इस स्वप्न को उसी दुष्ट हृदयवाले के लिए छोड़ दें।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्यवाला पुरुष कभी किसी का बुरा करने का स्वप्न नहीं लेता।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—आञ्जनम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'बल प्राण व ओज' का वर्धन

अपामूर्ज ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः।
चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते ॥ ३ ॥

१. **अपाम्**=प्रजाओं के **ऊर्जः**=बल व प्राणशक्ति का तथा **ओजसः**=ओज का **वावृधानम्**=निरन्तर बढ़ानेवाला **यत् आञ्जनम्**=जो यह जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करनेवाला वीर्य है वह **ते**=तेरी **दिशः प्रदिशः**=दिशाओं व प्रदिशाओं को **शिवाः करत्**=कल्याणकर करे। सुरक्षित वीर्य हमें बलवान्, प्राणशक्तिसम्पन्न व ओजस्वी बनाता हुआ **चतुर्वीरम्**=हमारे चारों अंगों को

(मुख, बाहू, ऊरू, पाद) वीर बनाता है। **पर्वतीयम्**=हमारा पूरण करनेवाले तत्त्वों के लिए हितकर है। शरीर का पूरण करनेवाले सब तत्त्वों को हममें सम्यक् उत्पन्न करता हुआ यह हमारे लिए हित-तम है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य हमें 'बल, प्राण व ओज' प्राप्त कराता है। यह हमारे अंगों को सबल बनाता है। शरीर का पूरण करनेवाले सब तत्त्वों को सम्यक् उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह हमारा सर्वतः कल्याण करनेवाला है।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—आञ्जनम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'चतुर्वीर' आञ्जन

चतुर्वीरं वध्यत आञ्जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु।
ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चार्य इमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम्॥ ४॥

१. **चतुर्वीरम्**=तेरे चारों अंगों को (मुख, बाहू, ऊरू, पाद) वीर बनानेवाला **आञ्जनम्**=तुझे सद्गुणों से अलंकृत करनेवाला यह वीर्य **ते बध्यते**=तेरे अन्दर बाँधा जाता है। **सर्वाः दिशः**=सब दिशाएँ **ते अभयाः भवन्तु**=तेरे लिए निर्भयता देनेवाली हों। २. **सविता इव**=सूर्य की भाँति तू **ध्रुवः तिष्ठासि**=मर्यादा में ध्रुवता से स्थिर होता है। वीर्यवान् पुरुष सूर्य के समान मार्ग का मर्यादित रूप में आक्रमण करता है **च**=और **आर्यः**=तू श्रेष्ठ बनता है अथवा **अर्यः**=अपना स्वामी बनता है। **इमाः विशः**=ये सब प्रजाएँ **ते बलिम् अभिहरन्तु**=तेरे लिए कर प्राप्त कराएँ। यह वीर्यवान् संयमी सूर्यवत् मर्यादित जीवनवाला पुरुष प्रजाओं का शासक बनता है। सब प्रजाएँ इसे राजपद पर प्रतिष्ठित करती हैं।

भावार्थ—वीर्यरक्षक पुरुष 'मुख, बाहू, ऊरू, पाद' इन चारों को सबल बनाता है। यह निर्भय जीवनवाला होता है। स्वयं मर्यादित जीवनवाला होता हुआ प्रजाओं का शासक बनता है। (जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः)।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—आञ्जनम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

आक्ष्व-मणिं कृष्णुष्व-स्नाहि-पिब

आक्ष्वैकं मणिमेकं कृष्णुष्व स्नाह्येकेना पिबैकमेषाम्।
चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान्॥ ५॥

१. **एषाम्**=इन रेताःकणों के **एकम्**=इस अद्वितीय तत्त्व को **आ अक्ष्व**=(अक्ष् व्याप्तौ) शरीर में चारों ओर व्याप्त कर। **एकम्**=इस अद्वितीय तत्त्व को **मणिं कृष्णुष्व**=तू अपनी मणि बना ले—यही तुझे अलंकृत करेगा। **एकेन**=इस अद्वितीय तत्त्व से **स्नाहि**=तू अपने को पवित्र करले। **एकम्**=इस अद्वितीय तत्त्व का **पिब**=तू अपने अन्दर पान कर। २. **चतुर्वीरम्**=हमारे चारों अंगों को वीर बनानेवाला (मुख, बाहू, ऊरू, पाद) यह वीर्य **चतुर्भ्यः नैर्ऋतेभ्यः**=चारों अंगों में होनेवाली दुर्गतियों को तथा **ग्राह्याः**=वात-विकार-जनित गठिया रोग के **बन्धेभ्यः**=बन्धनों से **अस्मान्**=हमें **परिपातु**=सुरक्षित करे।

भावार्थ—वीर्य को हम शरीर में व्याप्त करें। इसे अपने को सुभूषित करनेवाली मणि बनाएँ—इससे अपने को परिशुद्ध करें—इसे अपने अन्दर पीनेवाले बनें। यह चारों अंगों को वीर बनानेवाला वीर्य हमें चारों अंगों की पीड़ा के जनक ग्राही के बन्धनों से मुक्त रक्खेगा।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—विराण्महाबृहती ॥

अग्निः अग्निना

अग्निर्माग्निनावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस
ओजसे तेजसे स्वस्तयै सुभूतये स्वाहा ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार वीर्य को शरीर में धारण करने पर **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **मा**=मुझे **अग्निना**=अग्नितत्त्व के द्वारा—आगे बढ़ने की भावना के द्वारा **अवतु**=रक्षित करे। २. प्रभु से अग्नितत्त्व इसलिए प्राप्त कराया जाए जिससे **प्राणाय अपानाय**=हमारी प्राणापान शक्ति ठीक बनी रहे। **आयुषे**=दीर्घजीवन प्राप्त हो। **वर्चसे**=श्रुताध्ययन से होनेवाला तेज प्राप्त हो। **ओजसे**=ओजस्विता प्राप्त हो तथा **तेजसे**=शरीर की कान्ति प्राप्त हो। **स्वस्तये**=उत्तम सत्ता के लिए तथा **सुभूतये**=उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=मैं अग्नि के प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—अग्नि नामक प्रभु मुझे अग्नितत्त्व के द्वारा—आगे बढ़ने की भावना के द्वारा रक्षित करें। मुझे प्राणापानशक्ति–दीर्घजीवन–ज्ञान का बल–ओजस्विता व शरीरकान्ति प्राप्त हो। मैं उत्तम सत्ता व उत्तम ऐश्वर्यवाला होने के लिए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—निचृन्महाबृहती ॥

इन्द्रः-इन्द्रियेण

इन्द्रो मेन्द्रियेणावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस
ओजसे तेजसे स्वस्तयै सुभूतये स्वाहा ॥ ७ ॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यवाला प्रभु **मा**=मुझे **इन्द्रियेण**=प्रत्येक अंग के ऐश्वर्य के द्वारा **अवतु**=रक्षित करे। २. इन्द्र मुझे इन्द्रियों के ऐश्वर्य को इसलिए प्राप्त कराएँ, जिससे **प्राणाय अपानाय**। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—'इन्द्र' नामक प्रभु मुझे प्रत्येक अंग के ऐश्वर्य को प्राप्त कराएँ। मुझे प्राणापान शक्ति। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—निचृन्महाबृहती ॥

सोम, सौम्येन

सोमो मा सौम्येनावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस
ओजसे तेजसे स्वस्तयै सुभूतये स्वाहा ॥ ८ ॥

१. **सोमः**=शान्त प्रभु **मा**=मुझे **सौम्येन**=शान्तस्वभाव के द्वारा **अवतु**=रक्षित करें। २. सोम प्रभु मुझे सौम्यता को इसलिए प्राप्त कराएँ जिससे **प्राणाय**। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—सोम नामक प्रभु मुझे सौम्यता प्राप्त कराके प्राणापानशक्तिसम्पन्न दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—निचृन्महाबृहती ॥

भगः भगेन

भगो मा भगेनावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस
ओजसे तेजसे स्वस्तयै सुभूतये स्वाहा ॥ ९ ॥

१. **भगः**=ऐश्वर्य के पुञ्ज प्रभु **मा**=मुझे **भगेन**=सेवनीय ऐश्वर्य के द्वारा **अवतु**=रक्षित करें। २. प्रभु इसलिए मुझे इस भग को प्राप्त कराएँ जिससे **प्राणायापानाय**। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—ऐश्वर्य-पुञ्ज प्रभु से ऐश्वर्य को प्राप्त करके प्राणापानशक्ति का वर्धन करता हुआ मैं दीर्घजीवी बनूँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृन्महाबृहती** ॥

मरुतः गणैः

मरुतो मा गणैरवन्तु प्राणायापानायायुषे वर्चस
ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ १० ॥

१. **मरुतः**=प्राण **गणैः**=ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, अन्तः-करण पञ्चक (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार हृदय) आदि गणों के साथ **मा अवन्तु**=मेरा रक्षण करें। २. प्राणसाधना द्वारा प्राणशक्ति का वर्धन होकर मुझे दीर्घजीवन प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणसाधना होने पर मेरी इन्द्रियों के गण उत्तम होकर मुझे प्राणापानशक्तिसम्पन्न दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

अपने जीवन में 'आयु-वर्चस्-ओज व तेज' को प्राप्त करके यह प्रजाओं का रक्षण करनेवाला 'प्रजापति' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाज्योतिष्मतीत्रिष्टुप्** ॥

अस्तृत मणि

प्रजापतिष्ट्वा बध्नात्प्रथममस्तृतं वीर्या ∫ य कम्।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ १ ॥

१. **प्रजापतिः**=प्रभु ने **प्रथमम्**=सर्वप्रथम **अस्तृतम् त्वा**='अस्तृत' भागवाले तुझे **बध्नात्**=शरीर में बद्ध किया। **वीर्याय**=पराक्रम के सम्पादन के लिए तथा **कम्**=सुख के लिए। शरीर में यह वीर्य ही अस्तृतमणि है—'अस्तृत' अर्थात् अहिंसित (स्तृ to kill)। वीर्य के सुरक्षित होने पर रोगों व असद् भावनाओं का आक्रमण नहीं होता। २. **तत्**=उस **ते**=तेरी अस्तृतमणि को ही मैं **बध्नामि**=अपने अन्दर बाँधता हूँ, **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए **वर्चस**=श्रुताध्ययन से उत्पन्न तेज के लिए **च**=और **ओजसे**=ओजस्विता के लिए **बलाय च**=तथा बल के लिए। प्रभु कहते हैं कि **अस्तृतः**=यह अस्तृतमणि **त्वा अभिरक्षतु**=तेरा 'शरीर व मन' दोनों क्षेत्रों में रक्षण करे—यह तुझे आधि-व्याधियों से बचाए।

भावार्थ—शरीर में बद्ध अस्तृत-(वीर्य)-मणि हमें 'दीर्घजीवन, वर्चस्, ओजस्विता व बल' प्रदान करती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाभुरिक्शक्वरी** ॥

अस्तृतमणि की ऊर्ध्वगति

ऊर्ध्वस्तिष्ठतु रक्षन्नप्रमादमस्तृतेमं मा त्वा दभन्पणयो यातुधानाः।
इन्द्रइव दस्यूनव धूनुष्व पृतन्यतः सर्वां छत्रून्वि षहस्वास्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ २ ॥

१. हे **अस्तृत**=अहिंसित वीर्यमणे! आप **इमम्**=इस—आपको अपने में बाँधनेवाले पुरुष को **प्रमादं रक्षन्**=प्रमादरहित होकर रक्षित करते हुए **ऊर्ध्वः तिष्ठतु**=ऊपर स्थित हों। शरीर में इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर ही सब प्रकार का रक्षण प्राप्त होता है। हे वीर्य! **यातुधानाः**=पीड़ा का आधान करनेवाले **पणयः**=(An impious man) अपवित्र वृत्तिवाले पुरुष **त्वा मा दभन्**=

तुझे हिंसित करनेवाले न हों। वस्तुतः सदा औरों को पीड़ित करनेवाले, अपवित्र आचरणवाले लोग वीर्यरक्षण नहीं कर पाते। २. **इन्द्रः इव दस्यून्**=एक जितेन्द्रिय पुरुष जैसे दास्यव वृत्तियों को दूर करता है, इसी प्रकार तू **पृतन्यतः**=उपद्रव-सैन्य से हमपर आक्रमण करनेवाले इन रोगों को **अवधूनुष्व**=सुदूर कम्पित कर। **सर्वान् शत्रून्**=सब शत्रुओं को **विषहस्व**=पराभूत कर। हे पुरुष! तू जितेन्द्रिय बन। **त्वा**=तुझ इन्द्र को यह **अस्तृतः**=अहिंसित वीर्यमणि **रक्षतु**=रक्षित करे।

भावार्थ—शरीर में वीर्यरक्षा करने पर हम सब रक्षित वीर्य के द्वारा रक्षित होते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः** ॥

'चक्षु, प्राण व बल'

शतं च न प्रहरन्तो निघ्नन्तो न तस्तिरे।
तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो बलमस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ ३॥

१. **शतं च**=सैकड़ों भी शत्रु **प्रहरन्तः**=नानाप्रकार से प्रहार करते हुए, हे अस्तृतमणे! तुझे **न तस्तिरे**=आच्छादित नहीं कर सके (स्तृञ् आच्छादने)—हिंसित नहीं कर सके (स्तृ to kill)। **निघ्नन्तः**=प्राणों से वियुक्त करते हुए भयंकर रोगरूप शत्रु भी तुझे हिंसित करने में समर्थ नहीं हुए। इसी से तो तेरा 'अस्तृत' यह नाम हुआ है। २. हे जीव! **इन्द्रः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु ने **तस्मिन्**= उस अस्तृतमणि में **चक्षुः पर्यदत्त**=चक्षु को—दृष्टिशक्ति को दिया है। **प्राणम् अथ उ बलम्**= प्राणशक्ति और बल को भी इस अस्तृतमणि में स्थापित किया है। यह **अस्तृतः**=अस्तृतमणि **त्वा अभिरक्षतु**=तेरा रक्षण करे। वीर्यरक्षण करते हुए हम चक्षु, प्राण व बल को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—वीर्य को अस्तृतमणि कहा गया है, क्योंकि यह हमपर रोगरूप शत्रुओं का प्रहार नहीं होने देती और हमें वासनारूप शत्रुओं से हिंसित नहीं होने देती। सुरक्षित वीर्य हमारे लिए 'चक्षु, प्राण व बल' देता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदात्रिष्टुप्**॥

इन्द्र का वर्म

इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परि धापयामो यो देवानामधिराजो बभूव।
पुनस्त्वा देवाः प्र णयन्तु सर्वेऽस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ ४॥

१. यह अस्तृतमणि (वीर्य) शरीर में स्थापित प्रभु का कवच है। **इन्द्रस्य**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु के **वर्मणा**=कवच से **त्वा परिधापयामः**=तुझे आच्छादित करते है। **यः**=जो इन्द्र **देवानाम्**= सब देवों का **अधिराजः बभूव**=अधिराज है। प्रभु ही सब देवों में देवत्व को स्थापित करते हैं। ये प्रभु हमें भी इस वीर्यरूप कवच को धारण कराके, रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचाकर, देव बनाते हैं। २. प्रभु ने तो हमें यह कवच प्राप्त कराया ही है। अब इस जीवन में **पुनः**=फिर **सर्वे देवाः**='माता-पिता व आचार्य' आदि सब देव **त्वा प्रणयन्तु**=तुझे इस कवच को प्राप्त करानेवाले हों। उनका शिक्षण इसप्रकार का हो कि तुझे इस कवच-धारण के महत्त्व को सम्यक् समझा दें। यह **अस्तृतः**=शरीर में धारण किया हुआ अस्तृतमणिरूप कवच **त्वा अभिरक्षतु**=तुझे रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचाए।

भावार्थ—अस्तृतमणि (वीर्य) प्रभु से दिया गया कवच है। माता-पिता-आचार्य आदि सब देव इसके महत्त्व को हमें समझाते हैं। धारित हुआ-हुआ यह कवच हमें रोगों व वासनाओं से बचाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदातिशक्वरी** ॥

एकशतं वीर्याणि

अस्मिन्मणावेकशतं वीर्या ∫णि सहस्रं प्राणा अस्मिन्नस्तृते।
व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान्यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ ५॥

१. **अस्मिन् मणौ**=इस अस्तृतमणि (वीर्य) में **एकशतं वीर्याणि**=एक सौ एक वीर्य हैं। ये वीर्य-कण ही (एकशतं मृत्यवः) एक सौ एक रोगों से बचाते हैं। **अस्मिन् अस्तृते**=इस अहिंसित वीर्यमणि में **सहस्रं प्राणाः**=हज़ारों प्राणशक्तियाँ हैं। २. हे अस्तृत! **व्याघ्रः**=जैसे व्याघ्र खरगोश आदि को समाप्त कर देता है, इसीप्रकार तू **सर्वान् शत्रून् अभितिष्ठ**=सब शत्रुओं को आक्रान्त करनेवाला हो। **यः**=जो रोगरूप शत्रु **त्वा**=तुझपर **पृतन्यात्**=उपद्रव-सैन्य से आक्रमण करे, **सः**= वह **अधरः अस्तु**=पाँव तले रौंदा जाए—कुचला जाए। हे जीव! **अस्तृतः**=यह अहिंसित वीर्यमणि **त्वा अभिरक्षतु**=तेरा सब ओर से रक्षण करे।

भावार्थ—अस्तृत-(वीर्य)-मणि एक सौ एक रोगों को अपने एक सौ एक वीर्यों से कम्पित करके दूर भगाती है। इसमें अनन्त प्राणशक्ति है। यह रोगों को ऐसे कुचल देती है, जैसे शेर खरगोश को। रोगों को कुचलकर यह हमारा रक्षण करती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदोष्णिग्गर्भाविराड्जगती** ॥

शंभू-मयोभू

घृतादुल्लुप्तो मधुमान्पयस्वान्त्सहस्रप्राणः शतयोनिर्वयोधाः।
शंभूश्च मयोभूश्चोर्जस्वांश्च पयस्वांश्चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ ६॥

१. **घृतात्**=मलक्षरण व दीप्ति के हेतु से **उल्लुप्तः**=शरीर में ऊर्ध्वगति के द्वारा (उल्) लुप्तः= अदृष्ट किया हुआ—रुधिर में व्याप्त किया हुआ यह **अस्तृतः**=वीर्यमणि **मधुमान्**=जीवन को मधुर बनानेवाला है। **पयस्वान्**=यह शरीर की शक्तियों का आप्यायन करनेवाला है। **सहस्रप्राणः**= अनन्त प्राणशक्तिवाला है। **शतयोनिः**=शतसंवत्सरपर्यन्त चलनेवाले जीवन का उत्पत्तिस्थान है। **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाला है। २. **शम्भूः च**=सब अनिष्टों व उपद्रवों को शान्त करनेवाला है **च**=और **मयोभूः**=कल्याण का भावयिता (उत्पादक) है। यह **ऊर्जस्वान्**=बल व प्राणशक्ति को देनेवाला **च**=और **पयस्वान्**=प्रशस्त आप्यायनवाला अस्तृत (वीर्य) **त्वा अभिरक्षतु**=तुझे अभिरक्षित करे।

भावार्थ—शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर यह हमारे लिए 'शंभू, मयोभू, ऊर्जस्वान्, पयस्वान् व मधुमान्' होता है। यह 'सहस्रप्राण, शतयोनि व वयोधा' है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः** ॥

असपत्नः-सपत्नहा

यथा त्वमुत्तरोऽसो असपत्नः सपत्नहा।
सजातानामसद्वशी तथा त्वा सविता करदस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ ७॥

१. हे वीर्य का रक्षण करनेवाले पुरुष! **सविता**=वह प्रेरक प्रभु **त्वा**=तुझे तथा **करत्**=वैसा बनाए, प्रेरणा द्वारा तेरे जीवन को इसप्रकार संयमवाला बनाए कि **यथा**=जिससे **त्वम्**=तू **उत्तरः असः**=शत्रुओं के साथ संग्राम में उत्कृष्ट बने। **असपत्नः**=शत्रुरहित बने। **सपत्नहा**=सब शत्रुओं को समाप्त करनेवाला हो तथा **सजातानाम्**=समान कुल में उत्पन्न हुए-हुए अथवा समान

आयुष्यवालों का वशी **असत्**=वश में करनेवाला हो। २. शरीर में सुरक्षित **अस्तृतः**=यह हिंसित न होनेवाले वीर्यमणि **त्वा अभिरक्षतु**=तेरा रक्षण करे। इसने ही तो तुझे सब रोगों के आक्रमण से बचाना है।

भावार्थ—प्रभु अपनी प्रेरणा द्वारा हमारे जीवन को इसप्रकार संयमवाला बनाएँ कि हम उत्कृष्टतम जीवनवाले बनें। सुरक्षित वीर्य हमें नीरोग व निर्मल बनाए।

सुरक्षित वीर्य से अपने जीवन को नीरोग व निर्मल बनाकर यह ज्ञान की वाणियों के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति 'गो-पथ' कहलाता है। यही अगले चार रात्रि-सूक्तों का ऋषि है—

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

रात्रि अन्धकारमयी

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः।
दिवः सदांसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥ १ ॥

१. **रात्रि**=हे रात्रि! तुझसे यह **पार्थिवं रजः**=पृथिवी में होनेवाले गिरि, नदी, समुद्रादि प्रदेश, **पितुः**=अन्तरिक्षलोक के **धामभिः**=सब स्थानों के साथ **आ अप्रायि**=समन्तात् अन्धकार से भर दिया गया है, अर्थात् सब ओर अन्धकार-ही-अन्धकार है। २. **बृहती**=महती सर्वत्र व्यापी तू **दिवः सदांसि**=द्युलोक के स्थान में भी **वितिष्ठसे**=विशेषकर स्थित होती है। उस द्युलोक में भी **आ**=चारों ओर **त्वेषम्**=तारों की दीप्तिवाला **तमः**=अन्धकार **वर्तते**=है। रात्रि के समय चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार हो जाता है। द्युलोक तारों से दीप्त है, परन्तु फिर भी है अन्धकार ही।

भावार्थ—रात्रि आती है और सब पार्थिव लोक अन्तरिक्ष के प्रदेशों के साथ अन्धकार से परिपूर्ण हो जाते है। तारों से चमकते हुए होने पर भी द्युलोक के प्रदेश अन्धकारमय ही होते हैं।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽनुष्टुब्गर्भापरातिजगती** ॥

कल्याणकारिणी रात्रि

न यस्याः पारं ददृशे न योयुवद्विश्वमस्यां नि विशते यदेजति।
अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि ॥ २ ॥

१. **यस्याः**=जिस रात्रि का **पारम्**=पर-तीर, अर्थात् अन्त **न ददृशे**=नहीं दिखता, **अस्याम्**=इस रात्रि में **विश्वम्**=यह चराचरात्मक जगत् **योयुवत् न**=विभजमान (विभक्त) न था—सारा विश्व एकाकार-सा हो गया था। **यत् एजति**=जो कुछ गति करता है, वह इसमें **निविशते**=इधर-उधर जाने में असमर्थ हुआ-हुआ उस-उस स्थान पर निद्राण हो जाता है। २. हे **उर्वि**=अतिविशाल **तमस्वति**=बहुल अन्धकारवाली **रात्रि**=रात्रिदेवि! हम **अरिष्टासः**=अहिंसित होते हुए **ते**=तेरे **पारम्**=पार को **अशीमहि**=प्राप्त करें। **भद्रे**=हे कल्याण करनेवाली रात्रि! हम **पारम् अशीमहि**=तेरे पार को प्राप्त करें।

भावार्थ—यह अनन्त फैलाववाली, जिसमें सम्पूर्ण जगत् एकाकार स्थिर-सा हो जाता है, यह अन्धकारमयी रात्रि हमारे लिए कल्याणकर हो। हम अहिंसित होते हुए रात्रि के पार को प्राप्त करें।

ऋषिः—गोपथः ॥ देवता—रात्रिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

निन्यानवे, अट्ठासी सतत्तर

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥ ३ ॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवि! **ये**=जो **ते**=तेरे **नृचक्षसः**=मनुष्यों को देखनेवाले, अर्थात् मनुष्यों का ध्यान करनेवाले **नवतिः नव**=नव्वे और नौ, अर्थात् निन्यानवे **द्रष्टारः**=द्रष्टा—रक्षक हैं अथवा **अष्टा अशीतिः**=अट्ठासी रक्षक हैं **उतो**=अथवा **ते**=तेरे जो **सप्त सप्ततिः**=सतत्तर रक्षक हैं। (तेभिः पायुभिः नु अद्य नः पाहि=) उन रक्षकों के द्वारा तू हमारा रक्षण कर। २. राजा राष्ट्र में रात्रि के समय राष्ट्र के विस्तार के अनुसार, निन्यानवे, अट्ठासी व सतत्तर रक्षकों को नियुक्त करता है। इनसे रक्षित प्रजा सुख की नींद सो पाती है (सुम्नयि) उनका धन सुरक्षित रहता है (रेवति) उनके अन्नों को नष्ट होने का किसी प्रकार का खतरा नहीं होता (वाजिनि)।

भावार्थ—राजा रात्रि के समय राष्ट्र के विस्तार के अनुसार निन्यानवे, अट्ठासी व सतत्तर रक्षकों की नियुक्ति करे।

ऋषिः—गोपथः ॥ देवता—रात्रिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

छियासठ, पचपन, चवालीस व तेतीस

षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत्पञ्च सुम्नयि।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥ ४ ॥

१. हे **रेवति**=लोगों के उत्तम सुरक्षित धनोंवाली रात्रि! जो तेरे **षष्टिः च षट् च**=साठ और छह, अर्थात् छियासठ रक्षक हैं। हे **सुम्नयि**=सुखवाली, निश्चन्तता के कारण सुख को प्राप्त करानेवाली रात्रि! जो तेरे **पञ्चाशत् पञ्च**=पचास और पाँच (पचपन) रक्षक हैं, अथवा हे **वाजिनि**=अन्नों की सुरक्षावाली रात्रि! जो तेरे **चत्वारः च चत्वारिंशत् च**=चार और चालीस, अर्थात् चवालीस रक्षक हैं **च**=अथवा **त्रयस्त्रिंशत्**=तेतीस रक्षक हैं, उन सबके द्वारा तू हमारा रक्षण कर। तू हमें सुरक्षित धनोंवाला, सुखवाला व उत्तम अन्नोंवाला बना।

भावार्थ—राजा रात्रि में आवश्यकतानुसार छियासठ, पचपन, चवालीस व तेतीस रक्षकों को नियुक्त करता हुआ प्रजा को सुरक्षित धनों व अन्नोंवाला बनाकर सुखी करे।

ऋषिः—गोपथः ॥ देवता—रात्रिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

बाईस व ग्यारह

द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः।
तेभिर्नो अद्य पायुभिर्नु पाहि दुहितर्दिवः ॥ ५ ॥

१. हे **रात्रि**=विभावरि! **ते**=तेरे **द्वौ च विंशतिः च**=दो और बीस, अर्थात् बाईस रक्षक हैं और **अवमाः**=(संख्यातः निकृष्टाः) कम-से-कम संख्यावाले **ते**=तेरे **एकदश**=ग्यारह रक्षक हैं। **तेभिः**=उन **पायुभिः**=रक्षकों के द्वारा **नु**=निश्चय से **नः**=हमें **अद्यः**=आज **पाहि**=सुरक्षित कर। २. हे **दिवः दुहितः**=द्युलोक की पुत्रीरूप रात्रि! तू हमारा रक्षण करनेवाली हो। आलोक के अभाव में रात्रि आकाश से गिरती-सी दिखती है, अतः रात्रि द्युलोक की पुत्री कही गई है। इस रात्रि में राजा प्रजा के रक्षण के लिए, राष्ट्र विस्तार के अनुपात में अधिक-से-अधिक निन्यानवे व कम-से-कम ग्यारह रक्षकों को नियुक्त करता है, जिससे सुरक्षा की भावना प्रजा को सुख की नींद सुलानेवाली हो। इस सुरक्षित राष्ट्र में ही रात्रि वस्तुतः रमयित्री बन सकती है।

भावार्थ—राजा-राष्ट्र रक्षा के लिए आवश्यक रक्षकों को नियुक्त करता हुआ प्रजा की सुख-समृद्धि का कारण बने।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

'अघशंस व दुःशंस' से बचाव

रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत मा नो दुःशंस ईशत।
मा नो अद्य गवां स्तेनो मावीनां वृक ईशत॥ ६॥

१. हे रात्रि! **रक्ष**=तू हमारा रक्षण कर। **नः**=हमें **किः**=कोई भी **अघशंसः**=(अघेन पापेन क्रूरेण शस्त्रेण शंसति हिनस्ति) क्रूर शस्त्रों से हिंसा करनेवाला **मा ईशत**=मत शासित करनेवाला हो। **नः**=हमें **दुःशंसः**=दुवर्चन का कहनेवाला व बुरी तरह से हिंसित करनेवाला **मा ईशत**= अपने अधीन न करले। २. **अद्य**=आज कोई **गवां स्तेनः**=गौओं का अपहर्त्ता **नः**=हमें **मा ईशत**= अपने अधीन न करले। **वृकः**=आरण्य पशु भेड़िय आदि **मा अवीनाम् ईशत**=हमारी भेड़ों पर शासक न हो जाए।

भावार्थ—रात्रि में रक्षा की उत्तम व्यवस्था हो, जिससे कोई अघशंस व दुःशंस हमारा हिंसन न कर पाये। हमारी गौवों व भेड़ों का अपहरण न हो।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

उत्तम रक्षण-व्यवस्था

माश्वानां भद्रे तस्करो मा नृणां यातुधान्यः।
परमेभिः पथिभिः स्तेनो धावतु तस्करः।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु॥ ७॥

१. हे **भद्रे**=सुरक्षा की व्यवस्था से सुख देनेवाली रात्रि! **तस्करः**=प्रसिद्ध अनर्थों को करनेवाला चोर **अश्वानाम्**=हमारे घोड़ों का **मा** (ईशत)=मत स्वामी बने। **यातुधान्यः**=पीड़ा का आधान करनेवाले लोग **नृणां मा**=हमारे मनुष्यों पर प्रबल न हो जाएँ। वे उन्हें पीड़ित न कर सकें। २. **तस्करः**=अनर्थ करनेवाला **स्तेनः**=धन चुरानेवाला चोर **परमेभिः पथिभिः**=अति दूर मार्गों से **धावतु**=भाग जाए। रक्षकों की व्यवस्था के कारण चोरों का भय ही न रहे। **दत्वती रज्जुः**=यह दाँतवाली रस्सी—रस्सी की भाँति लम्बे सर्प आदि डसनेवाले प्राणी **परेण**=अति दूर मार्ग से गतिवाले हों। **अघायुः**=दूसरे की हिंसा की कामनावाला दुष्ट पुरुष **परेण अर्षतु**=सुदूर मार्ग से जानेवाला हो।

भावार्थ—उत्तम रक्षण-व्यवस्था से हमारे पशुओं व वसुओं को हिंसा का भय न हो। चोर, सर्प व अघायु पुरुष समीप भी न फटकने पाएँ।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

साँप, भेड़िया व चोर

अध रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु।
हनू वृकस्य जम्भयास्तेन तं द्रुपदे जहि॥ ८॥

१. **अध**=(अद्य) अब हे **रात्रि**=रात्रिदेवि! तू **तृष्टाधूमम्**=(पिपासार्थेन तृषिणा तज्जन्या आर्तिर्विक्ष्यते) आर्तिकारी है विषज्वाला का धूम जिसका अथवा निश्वास धूम जिसका, उस परोपद्रव कारिणे विषज्वाला से परिवृत **अहिम्**=साँप को **अशीर्षाणं कृणु**=अशिरस्क कर दे—

इसके सिर को काट डाल। २. **वृकस्य**=अज आदि के अपहर्ता आरण्यश्वा (भेड़िये) के **हनू**=मुख के अन्दर स्थूलदन्तयुक्त पार्श्वों को **जम्भयाः**=हिंसित कर दे—इसके जबड़ों को तोड़ डाल। जो **स्तेन** (स्तेनः) चोर है, **तम्**=उसको **द्रुपदे**=(द्रुः सर्वतोऽभिद्रवणम्) चारों ओर गतिवाले पाँव में **जहि**=हिंसित कर। इसके पाँव काट डाल अथवा पाँव में बेड़ी डाल दे, ताकि यह इधर-उधर जा ही न सके।

भावार्थ—राजा रात्रि में इसप्रकार रक्षण-व्यवस्था रक्खे कि साँप, भेड़िये व चोर प्रजाओं में उपद्रव न कर सकें।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुख की नींद

त्वयि रात्रि वसामसि स्वपिष्यामसि जागृहि।
गोभ्यो नः शर्म यच्छाश्वेभ्यः पुरुषेभ्यः ॥ ९ ॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवि! **त्वयि**=रक्षण की व्यवस्था होने पर तुझमें **वसामसि**=निवास करते हैं। तुझमें ही हम **स्वपिष्यामसि**=निद्रा करेंगे। **जागृहि**=तू हमारे रक्षण के लिए जागरित हो। तुझमें नियुक्त सब रक्षक पुरुष जागरित रहें। २. तू **नः**=हमारी **गोभ्यः**=गौओं के लिए **अश्वेभ्यः**=अश्वों के लिए **पुरुषेभ्यः**=पुरुषों के लिए **शर्म यच्छ**=सुख दे।

भावार्थ—रक्षा की व्यवस्था के उत्तम होने से हम रात्रि में आराम से सो सकें। हमारी गौवें घोड़े व सब पुरुष सुरक्षित हों।

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री** ॥

बाहर व अन्दर

अथो यानि च यस्मा ह यानि चान्तः परीणहि।
तानि ते परि दद्मसि ॥ १ ॥

१. **अथ उ**=अब निश्चय से **यस्मा ह यानि च**=जिस मेरे लिए, अर्थात् मेरी जो वस्तुएँ बहिःस्थ हैं—गोचर प्रदेश में वर्तमान हैं **यानि च**=और जो **परीणहि**=परितो नद्ध—चारों ओर चारदीवारीवाले घर के **अन्तः**=अन्दर है। **तानि**=उन प्रकट व अप्रकट वस्तुओं को **ते परिदद्मसि**=हे रात्रि! तेरे लिए देते हैं। २. हम उन सब वस्तुओं को रक्षा के लिए रात्रि में नियत रक्षकों को सौंपकर निश्चिन्त होकर सोते हैं।

भावार्थ—रात्रि में नियत रक्षक गोचर प्रदेशों में व घरों में चोरों से वस्तुओं का रक्षण करें।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराडनुष्टुप्** ॥

'रात्रिः-उषा-दिन' और फिर रात्रि

रात्रि मातरुषसे नः परि देहि।
उषा नो अह्ने परि ददात्वहस्तुभ्यं विभावरि ॥ २ ॥

१. हे **मातः रात्रि**=मातृवत् परिपालन करनेवाली रात्रिदेवते! तू **नः**=हमें **उषसे**=अपने अनन्तर आनेवाले उषाकाल के लिए **परि देहि**=दे। रात्रि हमारा रक्षण करती हुई अपनी समाप्ति पर हमें उषाकाल के लिए सौंपे। **उषा**=उषाकाल **अह्ने**=सूर्य के प्रकाशवाले 'प्रातः संगव, मध्याह्न, अपराह्ण, सायाह्न' रूप दिन के लिए **परिददातु**=दे, अर्थात् दिवस के प्रारम्भ होने तक उषा हमारा रक्षण

करे और अपनी समाप्ति पर हमारे रक्षण का भार दिन को सौंप जाए। २. हे **विभावरि**=तारों की दीप्तिवाली रात्रि! यह **अहः**=दिन अपनी समाप्ति पर **तुभ्यम्**=हमें तुम्हारे लिए सौंपकर आये। इसप्रकार आवृत्त होते हुए दिन-रात हमारा रक्षण करें।

भावार्थ—रात्रि हमें उषा के लिए, उषा दिन के लिए और दिन पुनः रात्रि के लिए सौंपे। इसप्रकार आवर्तमान यह कालचक्र हमारा रक्षण करनेवाला हो।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

'बाज़-साँप व व्याघ्र' से रक्षण

यत्किं चेदं पतयति यत्किं चेदं सरीसृपम्।
यत्किं च पर्वतायासत्वं तस्मात्त्वं रात्रि पाहि नः ॥ ३ ॥

१. **यत् किञ्च**=जो कुछ **इदम्**=यह परिदृश्मान बाज़ आदि **पतयति**=आकाश में गति करता है और **यत् किञ्च**=जो कुछ **इदम्**=यह **सरीसृपम्**=भूमि पर सरकनेवाला साँप आदि प्राणिजात है और **यत् किञ्च**=जो कुछ **पर्वताया**=पर्वत-सम्बन्धी **अ-सत्वम्**=(अ-अप्रशस्त) दुष्ट व्याघ्र, सिंह आदि प्राणी हैं, हे **रात्रि**=रात्रिदेवते! **तस्मात्**=उससे **त्वम्**=तू **नः पाहि**=हमें रक्षित कर।

भावार्थ—रात्रि हमें उड़नेवाले उल्लू, बाज़ आदि पक्षियों से, रेंगनेवाले सर्प आदि से तथा दुष्ट व्याघ्रादि से रक्षित करे।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्वतः रक्षण व्यवस्था

सा पश्चात्पाहि सा पुरः सोत्तरादधरादुत।
गोपाय नो विभावरि स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ४ ॥

१. हे **विभावरि**=तारों की दीप्तिवाली रात्रि! **सा**=वह तू **नः**=हमें **पश्चात् पाहि**=पीछे से रक्षित कर, **सा पुरः**=वह तू आगे से रक्षित कर। **सा उत्तरात्**=वह तू ऊपर से, **उत**=और **अधरात्**=नीचे से हमें **गोपाय**=रक्षित कर। २. हम **ते**=तेरे **इह**=इस रात्रि के प्रारम्भकाल में **स्तोतारः स्मसि**=स्तोता हैं।

भावार्थ—रात्रि के समय सब ओर से हमारे रक्षण की व्यवस्था हो। हम रात्रि प्रारम्भ में प्रभु-स्तवन करते हुए निद्रा की गोद में जाएँ।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सावधान रक्षक

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति।
पशून्ये सर्वान्रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति ॥ ५ ॥

१. **ये**=जो **रात्रिम्**=सारी रात **अनुतिष्ठन्ति**=अर्चना व जपोपासनारूप कर्म करते हुए रक्षण का कार्य करते हैं **ये च**=और जो **भूतेषु जाग्रति**=प्राणियों के विषय में रक्षणार्थ सावधान होते हैं। **ये**=जो **सर्वान् पशून् रक्षन्ति**=सब पशुओं का रक्षण करते हैं, **ते**=वे रक्षक **नः**=हमारे **आत्मसु**=शरीरों के विषय में भी **जाग्रति**=जागते हैं—रक्षणार्थ सावधान होते हैं, **ते**=वे **नः**=हमारे **पशुषु**=पशुओं के विषय में भी **जाग्रति**=जागते हैं। हमारे पशुओं के रक्षण में भी अप्रमत्त होते हैं।

भावार्थ—रक्षापुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि अप्रमत्त होकर रात्रि में प्रभु का स्मरण करते हुए रक्षणकार्य में जागरित रहें।

ऋषिः—गोपथः ॥ देवता—रात्रिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

घृताची (रात्रि)

वेद वै रात्रि ते नाम घृताची नाम वा असि।
तां त्वा भरद्वाजो वेद सा नो वित्तेऽधि जाग्रति॥ ६॥

१. हे रात्रि=रात्रिदेवि! हम **वै**=निश्चय से **ते नाम वेद**=तेरे नाम को जानते हैं। तू **वा**=निश्चय से **'घृताची' नाम**=घृताची नामवाली **असि**=है। 'घृतम् अञ्चति' (घृ क्षरणदीप्त्योः) मलक्षरण व दीप्ति को प्राप्त करानेवाली है। रात्रि में शरीर में मलों का क्षरण होकर शरीर सबल बनाता है तथा मन क्रोध आदि के हेतुओं को भूलकर दीप्त हो उठता है, अतः रात्रि 'घृताची' कही गई है। २. **ताम्**=उस **त्वा**=तुझको **भरद्वाज**=भरद्वाज **वेद**=जानता है। रात्रि में मनुष्य के अन्दर फिर से शक्ति का भरण-सा होता है। एवं रात्रि हमें 'भरद्वाज' बनाती है। **सा**=वह रात्रि **नः**=हमारे **वित्ते**=तेजस्विता-निर्मलता व ज्ञानरूप धन में **अधिजाग्रति**=अधिक अप्रमत्ता करती है। यह हमारे वित्तों का रक्षण करती है।

भावार्थ—रात्रि घृताची है। यह हमारे मलों का क्षरण करती हुई तेजस्विता की दीप्ति प्राप्त कराती है। यह हममें शक्ति का भरण करती हुई हमें भरद्वाज बनाती है। हमारे शक्ति आदि धनों का रक्षण करती है।

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—गोपथः ॥ देवता—रात्रिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'संभृतश्रीः' रात्री

इषिरा योषा युवतिर्दमूना रात्री देवस्य सवितुर्भगस्य।
अश्वक्षभा सुहवा संभृतश्रीरा पप्रौ द्यावापृथिवी महित्वा॥ १॥

१. रात्रि में सूर्य तो अस्त हो चुका होता है। सूर्य की किरणों से प्रकाशित हुआ-हुआ चन्द्रमा रात्रि को विभा-(प्रकाश)-वाला करता है। यह 'विभा' हमारे लिए सन्तापशून्य प्रकाश को प्राप्त कराती है, अतः कहते हैं कि **सवितुः देवस्य**=सबके प्रेरक—सबको उठकर कार्य-प्रवृत्त होने की प्रेरणा देनेवाले सूर्य—प्रकाशमय सूर्य के **भगस्य**=ऐश्वर्य का **योषा**=अपने में मेल करनेवाली **रात्री**=यह रात्रिदेवता **महित्वा**=अपनी महिमा (फैलाव) से **द्यावापृथिवी**=सारे द्युलोक व पृथिवीलोक को **आपप्रौ**=भर लेती है—सर्वत्र द्यावापृथिवी में अन्धकार का राज्य हो जाता है। २. यह रात्रि **इषिरा**=एष्टव्या है—सबसे प्रार्थनीय है—चाहने योग्य है। यही थके हुए प्राणी की थकावट को दूर करके उसे पुनः तरोताज़ा करती है। अथवा अपनी गति से सर्वत्र व्याप्त हो रही है। **युवतिः**=सदा यौवनवाली है—सृष्टि के प्रारम्भ से अन्त तक एक-सी ही आती-जाती रहती है। **दमूनाः**=सबका दमन करनेवाली है—सबको अभिभूत करनेवाली है। **अश्वक्षभा**=(अश्वान् क्षायति भा दीप्तिर्यस्याः) इन्द्रियों को अभिभूत करनेवाली दीप्तिवाली है। रात्रि के समय सब इन्द्रियाँ कार्य से उपरत हो जाती हैं। यह रात्रि **सुहवा**=सुष्ठु ह्वातव्य—सबसे पुकारने योग्य है। सबसे चाहने योग्य है, **संभृतश्रीः**=यह फिर से हमारे अन्दर श्री का संभरण करने आती है। सब इन्द्रियों को पुनः सशक्त बना देती है।

भावार्थ—रात्रि सारे आकाश को अन्धकार से आपूरित कर देती है। इसमें सब इन्द्रियाँ थककर सो जाती हैं। यह उनमें पुनः शक्ति भरनेवाली होती है। इसी से यह सबसे चाहने योग्य है।

ऋषिः—गोपथः ॥ देवता—रात्रिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

गम्भीर-श्रविष्ठ

अति विश्वान्यरुहद्गम्भीरो वर्षिष्ठमरुहन्त श्रविष्ठाः ।
उशती रात्र्यनु सा भद्राभि तिष्ठते मित्रइव स्वधाभिः ॥ २ ॥

१. **गम्भीरः**=एक गम्भीर वृत्तिवाला पुरुष **विश्वानि**=सब विघ्नों को **अति अरुहत्**=लाँघकर ऊपर चढ़ता है—उन्नत होता है। इसीप्रकार **श्रविष्ठाः**=ज्ञानी पुरुष **वर्षिष्ठम्**=विशालतम लोक, अर्थात् ब्रह्मलोक को **अरुहन्त**=आरूढ़ होते हैं—ये ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाले होते हैं। २. **उशती**=इन गम्भीर श्रविष्ठ पुरुषों के हित की कामना करती हुई, **सा रात्री**=वह रात्रि **अनु-भद्रा**=इन गम्भीर श्रविष्ठ पुरुषों के लिए अनुकूलता से कल्याण करती हुई उस प्रकार **अभितिष्ठते**=स्थित होती है, **इव**=जैसेकि **मित्रः**=सूर्य **स्वधाभिः**=अपनी धारणशक्तियों के साथ स्थित होता है। जैसे दिन में इन गम्भीर श्रविष्ठ पुरुषों का सूर्य कल्याण करता है—इनके अन्दर प्राणशक्ति का संचार करता है, इसी प्रकार रात्रि मलक्षरण व दीप्ति के द्वारा इनके लिए कल्याणकर होती है।

भावार्थ—हम मनों में गम्भीर व मस्तिष्क में श्रविष्ठ बनें। तब रात्रि व दिन का सूर्य दोनों ही हमारे लिए कल्याणकर होंगे।

ऋषिः—गोपथः ॥ देवता—रात्रिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'वर्या वन्दा सुभगा सुजाता'

वर्ये वन्दे सुभगे सुजात आजगन्रात्रि सुमना इह स्याम् ।
अस्मांस्त्रायस्व नर्याणि जाता अथो यानि गव्यानि पुष्ट्या ॥ ३ ॥

१. हे **वर्ये**=वरणीय—अनिरुद्ध प्रभाववाली, **वन्दे**=स्तुत्य, **सुभगे**=उत्तम भग को प्राप्त करानेवाली **सुजाते**=उत्तम शक्ति के प्रादुर्भाववाली **रात्रि**=रात्रिदेवि! **आजगन्**=तू आयी है। मैं **इह**=यहाँ तुममें **सुमनाः स्याम्**=उत्तम मनवाला होऊँ। रात्रि में सो जाने पर सब क्रोध आदि के भाव समाप्त हो जाते हैं। २. **अस्मान् त्रायस्व**=तू हमारा रक्षण कर तथा **जाता**=उत्पन्न हुई **नर्याणि**=नर- हितकारी वस्तुओं को भी रक्षित कर। **अथ उ**=और निश्चय से **यानि**=जो **गव्यानि**=गौओं के लिए हितकारी वस्तुएँ हैं, उन्हें भी **पुष्ट्या**=हमारी पुष्टि के हेतु रक्षित कर।

भावार्थ—रात्रि वस्तुतः वरणीय है। इसमें सुखमयी नींद को प्राप्त करने से हमारे क्रोध आदि दुर्भाव नष्ट हो जाते हैं और हम 'सुमना' बनते हैं। यह रात्रि हमारे लिए हितकर सब वस्तुओं का रक्षण करे। गौवों के लिए हितकर वस्तुओं का भी रक्षण करे, जिससे हमें उनसे उचित पोषण प्राप्त हो।

ऋषिः—गोपथः ॥ देवता—रात्रिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सिंह आदि के तेज का अपहरण

सिंहस्य रात्र्युशती पींषस्य व्याघ्रस्य द्वीपिनो वर्च आ ददे ।
अश्वस्य ब्रध्नं पुरुषस्य मायुं पुरु रूपाणि कृणुषे विभाती ॥ ४ ॥

१. **उशती**=सबके हित की कामना करती हुई, रक्षा की उत्तम व्यवस्थावाली **रात्री**=रात्रिदेवता **सिंहस्य**=शेर के **पींषस्य**=पीस डालनेवाले गजयूथ के **व्याघ्रस्य**=व्याघ्र के और **द्वीपिनः**=चीते के **वर्चः**=तेज को **आददे**=अपहृत कर लेती है। रक्षा की उत्तम व्यवस्था होने पर ये हिंस्र प्राणी प्रजाओं व गवादि पशुओं को हानि नहीं पहुँचा सकते। २. यह रात्री **अश्वस्य**=घोड़े के **ब्रध्नम्**=

मूल को, अर्थात् वेग को (वेग ही घोड़े का मौलिक गुण है) अपहृत कर लेती है, अर्थात् अन्धकार के कारण घोड़ों का आवागमन रुक जाता है। **पुरुषस्य मायुम्**=पुरुष के शब्द को भी अपहृत कर लेती है। सब पुरुषों के निद्रावशीभूत हो जाने पर वाग्-व्यवहार रुक ही जाता है। इसप्रकार हे रात्रि! **विभाती**=तारों से चमकती हुई तू **पुरु रूपाणि**=नानाविध रूपों को **कृणुषे**=करती है।

भावार्थ—रात्रि में रक्षा की उत्तम व्यवस्था होने पर सिंहादि के तेज का अपहरण-सा हो जाता है, वे हानि नहीं कर पाते। अश्वों की गति रुक जाती है। पुरुषों का वाग्-व्यापार थम जाता है, एवं रात्रि के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रात्रि के प्रारम्भ व अन्त में प्रभु-वन्दन

शिवां रात्रिमनुसूर्यँ च हिमस्य माता सुहवा नो अस्तु।
अस्य स्तोमस्य सुभगे नि बोध येन त्वा वन्दे विश्वासु दिक्षु॥ ५॥

१. मैं **शिवां रात्रिम्**=इस कल्याणकारिणी रात्रि को **च**=और **अनु सूर्यम्**=रात्रि की समाप्ति पर उदित होनेवाले सूर्य को **वन्दे**=नमस्कार करता हूँ—इनका स्तवन करता हूँ—इनके गुणों का स्मरण करता हूँ। यह **हिमस्य माता**=तुहिन (अवश्याय-ओस) का निर्माण करनेवाली रात्रि **नः**=हमारे लिए **सुहवा अस्तु**=सुगमता से पुकारने योग्य हो। २. हे **सुभगे**=उत्तम शक्तिरूप ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाली रात्रि! तू हमारे **अस्य स्तोमस्य**=इस स्तोम को **निबोध**=जाननेवाली हो, **येन**=जिस स्तोम से **विश्वासु दिक्षु**=सब दिशाओं में व्याप्त **त्वा**=तुमको **वन्दे**=मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—हम रात्रि के गुणों का स्तवन करते हुए और उचित व्यवहार करते हुए रात्रि से पूर्ण लाभ उठानेवाले हों। रात्रि के प्रारम्भ में हम प्रभु-वन्दन करके सोएँ। रात्रि समाप्ति पर सूर्योदय के समय पुनः प्रभु-वन्दन करनेवाले हों।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

बल व ज्ञान

स्तोमस्य नो विभावरि रात्रि राजेव जोषसे।
असाम सर्ववीरा भवाम सर्ववेदसो व्युच्छन्तीरनूषसः॥ ६॥

१. हे **विभावरि**=तारों के प्रकाशवाली **रात्रि**=रात्रिदेवते! तू **नः**=हमारे **स्तोमस्य**=स्तोत्र का इसप्रकार **जोषसे**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर, **इव**=जैसेकि **राजा**=एक राजा किसी विद्वान् से किये गये स्तोत्र का सेवन करता है। २. हम रात्रि के महत्त्व को समझें और उसमें ठीक प्रकार से निद्रा का अनुभव करके **व्युच्छन्तीः**=अन्धकार को दूर करती हुई **उषसः अनु**=उषाकालों के साथ, अर्थात् इन उषाकालों में प्रबुद्ध होकर **सर्ववीराः**=वीरतापूर्ण सब अंगोंवाले **भवाम**=हों तथा **सर्ववेदसः**=सब वस्तुओं के ज्ञानवाले **भवाम**=हों। अथवा सब आवश्यक धनों के कमानेवाले बनें। रात्रि में निद्रा शरीर व मन की थकावट को दूर कर देती है। मनुष्य अपने को तरोताज़ा अनुभव करता है। शरीर के अंग सबल बन जाते हैं और बुद्धि ठीक से विषयों का ग्रहण करने लगती हैं।

भावार्थ—रात्रि के महत्त्व को ठीक प्रकार समझकर यदि हम निद्रा में उसका ठीक प्रयोग करेंगे तो प्रातः अपने को सबल व स्फूर्तियुक्त बुद्धिवाला अनुभव करेंगे।

ऋषिः—गोपथः ॥ देवता—रात्रिः ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

शम्या

शम्या ह नाम दधिषे मम दिप्सन्ति ये धना।

रात्रीहि तानसुतपा य स्तेनो न विद्यते यत्पुनर्न विद्यते ॥ ७ ॥

१. हे **रात्रि**=रात्रि! तू **ह**=निश्चय से **शम्या** (शत्रुशमनसमर्था)=शत्रुओं के शमन में समर्थ होने से 'शम्या' इस नाम को **दधिषे**=धारण करती है। हे रात्रि! **ये**=जो **मम धना**=मेरे धनों को **दिप्सन्ति**=(दम्भितुमिच्छन्ति) हिंसित करना चाहते हैं, **तान् असु तपा**=उनके प्राणों को सन्तप्त करनेवाली तू **इहि**=प्राप्त हो। रात्रि में रक्षण की उत्तम व्यवस्था होने से कोई भी चोर आदि हमारे धनों का उपहरण नहीं कर पाते। २. **यः स्तेनः**=जो चोर है **न विद्यते**=हमारे राष्ट्र में वह नहीं रह पाता। ये रक्षक पुरुष चोरों को इसप्रकार दण्डित करें **यत्**=कि **पुनः न विद्यते**=फिर यह चोर रह ही नहीं जाए। राष्ट्र में रक्षण-व्यवस्था व दण्ड-व्यवस्था इसप्रकार की हो कि चोरी आदि अपराध समाप्त ही हो जाएँ।

भावार्थ—राज्य में दण्ड-व्यवस्था व रक्षण-व्यवस्था इसप्रकार उत्तम हो कि चोरी इत्यादि का भय समाप्त ही हो जाए।

ऋषिः—गोपथः ॥ देवता—रात्रिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

भद्रा

भद्रासि रात्रि चमसो न विष्टो विष्वङ्गोरूपं युवतिर्बिभर्षि।

चक्षुष्मती मे उशती वपूंषि प्रति त्वं दिव्या न क्षाममुक्थाः ॥ ८ ॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवते! तू **विष्टः चमसः न**=परोसे हुए पात्र की भाँति **भद्रा असि**=कल्याण करनेवाली है। **युवतिः**=बुराइयों को हमसे पृथक् करती हुई तथा अच्छाइयों को हमसे मिलाती हुई तू **विष्वङ्**=चारों ओर गति करनेवाले **गोरूपं बिभर्षि**=गोरूप को धारण करती है। गवादि पशुओं का तू धारण करनेवाली होती है। इन्द्रियों को पुनः रूपवाला, शरीर को सौन्दर्यवाला कर देती है। २. **मे उशती**=मेरे हित की कामना करती हुई **चक्षुष्मती**=हमारे रक्षण के लिए अनुग्रहबुद्धि से हमें देखती हुई **त्वम्**=तू **वपूंसि**= हमारे शरीरों को, **दिव्या**=मस्तिष्करूप द्युलोक की शक्तियों को तथा **क्षाम्**=इस निवासस्थानभूत अन्नमयकोश को—स्थूलशरीर को **न प्रति अमुक्थाः**=न छोड़नेवाली हो। तू हमारे शरीरों—मस्तिष्कों व अन्नमयकोश को भी ठीक बनानेवाली हो।

भावार्थ—रात्रि में रक्षण की व्यवस्था ठीक होने पर गवादि पशु सुरक्षित रहते हैं। निद्रा के ठीक आने पर हमारे शरीर, मस्तिष्क व अन्नमयकोश ठीक रहते हैं।

ऋषिः—गोपथः ॥ देवता—रात्रिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

स्तेन व अघायु को वधदण्ड

यो अद्य स्तेन आयत्यघायुर्मर्त्यो रिपुः।

रात्री तस्य प्रतीत्य प्र ग्रीवाः प्र शिरो हनत् ॥ ९ ॥

१. **अद्य**=अब—रक्षा की सुव्यवस्था होने पर **यः स्तेनः आयति**=जो चोर आता है अथवा **अघायुः**=पाप की कामनावाला **मर्त्यः रिपुः**=मनुष्य के रूप में शत्रु आता है, **रात्रि**=यह रात्रि-देवता **तस्य प्रतीत्य**=उसके परोपद्रवकारीभाव को जानकर **ग्रीवाः**=उसकी गर्दनों को **प्रहनत्**=छिन्न

कर देती है तथा **शिरः**=उसके सिर को भी **प्र** (हनत्) छिन्न कर डालती है।

भावार्थ—रात्रि के समय रक्षण की व्यवस्था उत्तम हो। चोरियों व अन्य पापों के होने का सम्भव कम-से-कम कर दिया जाए। इन चोरों व अघायु पुरुषों को समाप्त कर देना ही ठीक है।

ऋषिः—**गोपथो भरद्वाजश्च**॥ देवता—**रात्रिः**॥ छन्दः—**षट्पदाजगती**॥

चोर के शव को वृक्ष पर बाँधना

प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथाशिषत्।
यो मलिम्लुरुपायति स संपिष्टो अपायति।
अपायति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति॥ १०॥

१. **पादौ प्र** (हनत्)=गतमन्त्र में वर्णित स्तेन व अघायु के पाँवों को छिन्न कर दिया जाए **यथा**=जिससे **न आयति**=यह गति ही न कर सके। **हस्तौ प्र** (हनत्)=इसके हाथों को काट दिया जाए **यथा**=जिससे **न अशिषत्**=(शिष् to heart, to kill) यह किसी को मार न सके। २. **यः**=जो **मलिम्लुः**=चोर **उपायति**=हमारे समीप प्राप्त होता है, **सः**=वह **संपिष्टः**=पिसा हुआ **अपायति**=दूर विनष्ट हो जाता है। **अपायति**=दूर विनष्ट होता है और **सु अपायति**=अच्छी प्रकार सुदूर विनष्ट हो जाता है। यह **शुष्के स्थाणौ अपायति**=सूखे ठूँठरूप वृक्ष पर **अपायति**=विनष्ट होता है। इसे वधदण्ड देकर इसके शव को स्थाणु पर बाँधा जाए, ताकि सब लोग उसके इसप्रकार अन्त को देखकर इन अशुभ कर्मों को न करने का निश्चय करें।

भावार्थ—चोरों को पादच्छेद व हस्तछेद का दण्ड दिया जाए। इनका वध करके इनके शव को शुष्क स्थाणु पर लटका दिया जाए, जिससे औरों को चोरी न करने की प्रेरणा मिले।

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोपथः**॥ देवता—**रात्रिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'तृष्टधूम अहि व वृक' विनाश

अध रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु।
अक्षौ वृकस्य निर्जह्यास्तेन तं द्रुपदे जहि॥ १॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवते! **अध**=अब **तृष्टधूमम्**=आर्तिजनक व बड़ी प्यास लगानेवाली विष-ज्वाला के धूमवाले **अहिम्**=इस सर्प को **अशीर्षाणम्**=छिन्न शिरवाला **कृणु**=कर दे। इस **वृकस्य**=भेड़िये की आँखों को भी **निर्जह्याः**=निर्युक्त कर दे—निकाल दे और जो **स्तेन** (स्तेनः)=चोर है **तम्**=उसको **द्रुपदे जहि**=गति के साधनभूत पाँव में हिंसित कर, अर्थात् इसके पाँवों को छिन्न कर डाल।

भावार्थ—रात्रि में उचित रक्षणव्यवस्था द्वारा 'सर्प, वृक व चोर' सभी के भयों से प्रजा को मुक्त किया जाए।

ऋषिः—**गोपथः**॥ देवता—**रात्रिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्तम-वृषभ

ये ते रात्र्यनड्वाहस्तीक्ष्णशृङ्गाः स्वाशवः।
तेभिर्नो अद्य पारयाति दुर्गाणि विश्वहा॥ २॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवते! **ये**=जो **ते**=तेरे **स्वाशवः**=उत्तम तीव्र गतिवाले **तीक्ष्णशृङ्गाः**=तेज

सींगोंवाले **अनड्वाहः**=बैल हैं, **तेभिः**=उनके द्वारा **नः**=हमें **अद्य**=आज और **विश्वहा**=सदा (विश्वेषु अहःसु) **दुर्गाणि**=कष्टमय स्थितियों से दुस्तर नदी आदि से **अति पारय**=पार करा। २. जैसे बैल दुस्तर नदी आदि को पार कराने में हमारे सहायक होते हैं, इसीप्रकार राजा हमें शत्रुकृत अरिष्टों से पार कराए।

भावार्थ—नदी आदि को पार कराने के लिए शीघ्रगतिवाले तीक्ष्णशृंग बैलों की उत्तम व्यवस्था की जाए।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विघ्न-संतरण

रात्रिंरात्रिमरिष्यन्तस्तरेम तन्वा॒ व॒यम्।
गम्भी॒रमप्ल॑वाइव॒ न त॑रेयुररा॑तयः ॥ ३ ॥

१. **वयम्**=हम **रात्रिंरात्रिम्**=प्रत्येक रात्रि में **तन्वा**=शरीर से **अरिष्यन्तः**=हिंसित न होते हुए **तरेम**=सब विघ्नों व रोगों को तैर जाएँ। प्रत्येक रात्रि हमें फिर से सशक्त बनानेवाली हो। २. **अरातयः**=अदान की वृत्तिवाले कृपण लोग रोगों व विघ्नों को इसप्रकार **न तरेयुः**=तैरनेवाले न हों, **इव**=जैसेकि **अप्लवाः**=बेड़े (raft) से रहित पुरुष **गम्भीरम्**=गहरे जल को पार नहीं कर पाते। कृपणता हमारे जीवन को अयज्ञिय बना देती है और इसप्रकार दीर्घजीवन सम्भव नहीं रहता।

भावार्थ—हम कृपणता आदि शत्रुभूत वृत्तियों से ऊपर उठकर प्रति रात्रि शक्ति-सम्पन्न बनते हुए रोगों व विघ्नों को तैर जाएँ।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपवान् शाम्याक की भाँति

यथा॑ शा॒म्याकः॑ प्र॒पत॑न्नप॒वान्नानु॑वि॒द्यते॑।
ए॒वा रा॑त्रि॒ प्र पा॑तय॒ यो अ॒स्माँ अ॑भ्यघा॒यति॑ ॥ ४ ॥

१. **यथा**=जैसे **शाम्याकः**=धान्यविशेष **प्रपतन्**=पक कर गिरता हुआ **अपवान्**=अपकर्षवाला दुर्बल, निःसार हुआ-हुआ **न अनु विद्यते**=अवस्थिति को प्राप्त नहीं करता—नहीं उपलब्ध होता—नष्ट हो जाता है, २. **एवा**=इसीप्रकार हे **रात्रि**=रात्रिदेवते! तू **प्रपातय**=उसे नष्ट कर दे **यः**=जो शत्रु **अस्मान्**=हमें **अभि अघायति**=लक्ष्य करके हिंसारूप पापकर्म करना चाहता है।

भावार्थ—रात्रि हमारे प्रति हिंसावाले को इसप्रकार नष्ट कर दे जैसेकि पका हुआ शाम्याक धान्य साररहित होने पर उड़-उड़ा जाता है।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्तेनों व तस्करों का अपसारण

अप॑ स्ते॒नं वासो॑ गोअ॒जमु॒त तस्क॑रम्। अथो॒ यो अर्व॑तः॒ शिरो॑ऽभि॒धाय॒ निनी॑षति ॥ ५ ॥

१. **वासः**=वस्त्रों को, **गो अजम्**=गौओं व बकरियों को जो **निनीषति**=उठाकर ले-जाना चाहता है, उस **स्तेनम्**=चोर को **अप** (सारय)=दूर कर। २. उस **तस्करम्**=उस-उस दुष्टकार्य को करनेवाले तस्कर को भी **अथ उ**=अब निश्चय से दूर कर **यः**=जो **अर्वतः**=घोड़ों को **शिरः अभिधाय**=सिर को बाँधकर—सिर पर, न पहचाने जाने के लिए कपड़ा आदि बाँधकर, **निनीषति**=ले-जाना चाहता है।

भावार्थ—राजा रात्रि में इसप्रकार रक्षण-व्यवस्था करे कि 'वस्त्रों, गौवों, बकरियों व घोड़े' आदि का अपहरण न होता रहे।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अयः वसु

यद्द्या रात्रि सुभगे विभजन्त्यो वसु। यदेतदस्मान्भोजय यथेदन्यानुपायसि ॥ ६ ॥

१. हे **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्योंवाली—ऐश्वर्यों की रक्षक **रात्रि**=रात्रिदेवते! **यत्**=जिसकी लोहा आदि धातुओं से बनी वस्तुओं तथा **वसु**=सुवर्णादि धन को **अद्य**=इस समय **विभजन्ति**=(विश्लेषयन्ति) हमसे पृथक् करते हैं, अर्थात् चुरा ले-जाते हैं। **यत् एतत्**=जो यह धन है उसे **अस्मान् भोजय**=हमें ही भोगनेवाला बनाइए। इस धन को हमसे कोई पृथक् न कर पाए। २. हे राजन्! आप रात्रि में इसप्रकार रक्षण-व्यवस्था करें कि **यथा**=जिससे **इत्**=निश्चयपूर्वक **अन्यान्**=वस्त्र, गौ, अज व अश्व आदि अन्य शत्रुओं से अपहृत पदार्थों को भी **उपावसि**=हमें पुनः प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—रात्रि में रक्षण-व्यवस्था इस प्रकार उत्तम हो कि लोहे आदि धातुओं से बनी वस्तुओं का तथा सुवर्ण आदि का अपहरण न हो सके। अपहृत वस्तुओं को भी ढूँढकर पुनः उनके स्वामी को प्राप्त कराया जाए।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कालचक्र में आगे और आगे

उषसे नः परि देहि सर्वान्रात्र्यनागसः। उषा नो अह्ने आ भजादहस्तुभ्यं विभावरि ॥ ७ ॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवते! तू **नः सर्वान्**=हम सब **अनागसः**=निष्पापों को ही **उषसे परिदेहि**=उषाकाल के लिए दे, अर्थात् हम रात्रि में किन्हीं भी चोरों आदि के उपद्रवों से आक्रान्त न हों। २. **उषाः**=उषा **नः**=हमें **अह्ने आभजात्**=दिन के लिए देनेवाली हो और **विभावरि**=तारों की दीप्तिवाली रात्रिदेवते! **अहः**=दिन हमें फिर **तुभ्यम्**=तेरे लिए प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम सुरक्षितरूप से ही रात्रि से उषा में, उषा से दिन में तथा दिन से पुनः रात्रि में पग रखनेवाले हों। 'रात्रि-उषा-दिन-रात्रि' इसप्रकार क्रम से कालचक्रों में चलते हुए हम दीर्घजीवनवाले हों।

यह निष्पाप (अनागाः) जीवनवाला व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है और कहता है कि—

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**एकपदाब्राह्म्यनुष्टुप्** ॥

अनिन्दित जीवनवाला 'ब्रह्मा'

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो
मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥

१. (यु निन्दायाम्) **अयुतः अहम्**=अनिन्दित जीवनवाला मैं होऊँ। **मे आत्मा अयुतः**=मेरा मन अनिन्दित हो। **मे चक्षुः अयुतम्**=मेरी आँख अनिन्दित हो—इससे मैं भद्र को ही देखूँ। **मे श्रोत्रं अयुतम्**=मेरा कान अनिन्दित हो—इससे मैं भद्र को ही सुनूँ। २. **मे प्राणः अयुतः**=मेरा प्राण अनिन्दित हो। **मे अपानः अयुतः**=मेरा अपान भी अनिन्दित हो। **मे व्यानः अयुतः**=प्राणापान सन्धिरूप मेरा व्यानवायु भी अनिन्दित हो। **अहं सर्वः अयुत्**=मैं सारे-का-सारा अनिन्दित होऊँ।

भावार्थ—हम निष्पाप जीवनवाले बनकर अनिन्दित जीवनवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिपदायवमध्योष्णिक्** ॥

प्रभु की अनुज्ञा में

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आ रभे॥ २॥

१. यह ब्रह्मा जब किसी भी कार्य को प्रारम्भ करता है या किसी भी वस्तु का उपयोग करता है तब कहता है कि मैं **सवितुः देवस्य**=प्रेरक, प्रकाशमय प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में—प्रेरणा में **त्वा आरभे**=तुझे प्रारम्भ करता हूँ (Undertake) अथवा ग्रहण करता हूँ (grasp)। **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्नों से मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन का ही उपयोग करना चाहिए। २. **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पोषक के हाथों से, **प्रसूतः**=उस प्रभु से अनुज्ञा दिया हुआ मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। हमें भौतिक वस्तुओं का प्रयोग पोषण के दृष्टिकोण से ही करना है, नकि स्वाद व सौन्दर्य के दृष्टिकोण से।

भावार्थ—संसार में हम प्रभु की अनुज्ञा में, प्राणापान के प्रयत्न से, पोषण के दृष्टिकोण से ही प्रत्येक वस्तु का ग्रहण करें। यही 'ब्रह्मा' बनने का मार्ग है।

अगले सूक्त का ऋषि भी ब्रह्मा ही है—

५२. [द्विपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कामः=मनसाः प्रथमं रेतः

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ १॥

१. **तत् अग्रे**=इस सृष्टि के प्रारम्भ में (प्रलय की समाप्ति पर) **कामः समवर्तत**=काम-सिसृक्षा हुआ। प्रभु ने सृष्टि को उत्पन्न करने की कामना की (सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय) **यत्**=जो काम **मनसः**=मन का **प्रथमं रेतः**=सर्वमुख्य तेज **आसीत्**=था। काम से ही सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है, मानो यह काम ही सृष्टि का बीज (रेतः) हो। २. हे **काम**=काम! तू **बृहता कामेन**=उस महान् काम—कान्त प्रभु के साथ **सयोनिः**=समान निवासवाला होता हुआ **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **रायस्पोषं धेहि**=धन की पुष्टि को स्थापित कर। हृदय में प्रभु के साथ निवासवाला काम पवित्र ही होता है (धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि भूतेषु भरतर्षभ) यह धर्माविरुद्ध काम हम यज्ञशीलों को धन का पोषण प्राप्त कराए।

भावार्थ—'काम' मन की सर्वमुख्य शक्ति है। 'धर्माविरुद्ध काम' प्रभु का ही रूप है। यह हम यज्ञशील पुरुषों को आवश्यक समृद्धि से युक्त करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सहः ओजः

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते।
त्वमुग्रः पृतनासु सासहिः सह ओजो यजमानाय धेहि॥ २॥

१. हे **काम**=मानसशक्ते! **त्वम्**=तू **सहसा**=शत्रुधर्षण सामर्थ्य के साथ **प्रतिष्ठितः असि**=हममें प्रतिष्ठित हुआ है। **विभुः**=समर्थ और **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाला तू है। **सखे**=हे सखि-(मित्र)-वत् हितकारिन् काम! **आ सखीयते**=सखिवत् आचरण करनेवाले के लिए—प्रभु-मित्र बनने की

प्रबल कामनावाले के लिए तू शक्ति देनेवाला (विभु) व दीप्ति प्राप्त करानेवाला होता है (विभावा) २. **त्वम् उग्रः**=तू उद्गूर्ण—प्रबल है। **पृतनासु सासहिः**=शत्रु-संग्रामों में शत्रुओं का मर्षण करनेवाला है। तू **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **सहः ओजः**=शत्रु-धर्षण समर्थ बल **धेहि**=धारण कर।

भावार्थ—काम ही सामर्थ्य व दीप्ति देनेवाला है। प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले के लिए यह सच्चा मित्र होता है। उसे शत्रु-धर्षण समर्थ धन व बल प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**चतुष्पदोष्णिक्**॥

'स्वः' जय

दूराच्चकमानाय प्रतिपाणायाक्षये।
आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्त्स्वः॥ ३॥

१. **दूरात् चकमानाय**=दूरविषयक—अत्यन्त दुर्लभ फल को चाहनेवाले **अस्मै**=इस मेरे लिए **प्रतिपाणाय**=सर्वतः रक्षण के लिए और **अक्षये**=क्षयराहित्य के निमित्त **आशाः**=सब दिशाओं में **आशृण्वन्**=फल देने के लिए स्वीकार किया है। केवल स्वीकार ही नहीं किया अपितु **कामेन**=अभिमत फल-विषयक कामना के द्वारा **स्वः अजनयन्**=सुख को उत्पन्न किया है।

भावार्थ—प्रबल संकल्प होने पर दुर्लभ वस्तुएँ भी सुलभ हो जाती हैं और सुख की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रेम की पारस्परिकता

कामेन मा काम आगन्हृदयाद्धृदयं परि।
यदमीषामदो मनस्तदैतूप मामिह॥ ४॥

१. **कामेन**=इच्छा से **कामः**=इच्छा **मा**=मुझे **आगन्**=प्राप्त हुई है। वह इच्छा जोकि **हृदयात्**=एक हृदय से **हृदयं परि**=दूसरे हृदय के प्रति हुआ करती है। दूसरा व्यक्ति मुझे चाहता है तो मैं भी उसे चाहनेवाला बनता हूँ। उसकी कामना ने मुझमें भी कामना को पैदा किया है। वस्तुतः प्रेम पारस्परिक ही हुआ करता है। २. **यत्**=जो **अमीषाम्**=उनका—मुझसे दूर स्थित ज्ञानियों का **अदः मनः**=मुझ से दूर गया हुआ मन है **तत् माम् इह उप आ एतु**=वह मुझे यहाँ समीपता से प्राप्त हो। मैं ज्ञानियों का प्रिय बनूँ।

भावार्थ—प्रेम पारस्परिक हुआ करता है। मैं ज्ञानियों का प्रिय बनूँ—मुझे ज्ञानी प्रिय हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

यज्ञ=इष्टकामधुक्

यत्काम कामयमाना इदं कृण्मसि ते हविः।
तन्नः सर्वं समृध्यतामथैतस्य हविषो वीहि स्वाहा॥ ५॥

१. हे **काम**='काम' (आशे) **यत्**=जिस फल को **कामयमानाः**=चाहते हुए हम **ते**=तेरे **इदं हविः कृण्मसि**=इस हवि को करते हैं, अर्थात् जिस फल की कामना से हम यज्ञ करते हैं—हमारी **तत् सर्वम्**=वह सब इच्छा **समृध्यताम्**=समृद्ध हो—फूले-फले। २. **अथ**=अब हे काम! **एतस्य**=इस दी हुई **हविषः**=हवि का तू **वीहि**=भक्षण कर। यह हवि **स्वाहा**=तेरे लिए सुहुत हो। हम जब किसी कामना से यज्ञ करें तब उसे सम्यक् करनेवाले बनें।

भावार्थ—मन से प्रेरित होकर ही मनुष्य यज्ञादि उत्तम कर्मों को किया करता है। सदा किया जाता हुआ हमारा यह यज्ञ फल से समृद्ध हो। (काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः)

अगले तीन सूक्तों में 'भृगु' ऋषि हैं—ये ज्ञानाग्नि में आपने को परिपक्व करके प्रभु को 'काल' नाम से स्मरण करते हैं—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—कालः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'सर्वजगत् कारणभूतः कालरूपः' परमात्मा

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥ १॥

१. **कालः**=सबका संख्यान करनेवाला (मृत्यु) **अश्वः**=भूत, भविष्यत्, वर्तमानकाल की सब वस्तुओं का व्यापन करनेवाला, **सप्तरश्मिः**=सात छन्दोमयी वेदवाणीरूप सात रश्मियोंवाला यह प्रभु **वहति**=अपने पर आरोहण करनेवालों को अभिमत स्थान में प्राप्त कराता है। यह प्रभु **सहस्राक्षः**=अनन्त आँखोंवाला है—सर्वत्र दृष्टिशक्तिवाला है। **अजरः**=कभी जीर्ण न होनेवाले वे प्रभु **भूरिरेताः**=प्रभूत जगत् सर्जनसमर्थशक्ति-सम्पन्न है। २. **विपश्चितः कवयः**=अधिगत परमार्थ ज्ञानी लोग **तम् अरोहन्ति**=उस प्रभु का आरोहण करते हैं। **तस्य**=उस प्रभु के **चक्रा**=(चङ्क्रमणात् चक्रम् नि० ४.२१) गन्तव्य स्थान **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन हैं—वे प्रभु सब लोक-लोकान्तरों में व्याप्त हैं।

भावार्थ—प्रभु 'काल, अश्व, सप्तरश्मि, सहस्राक्ष, अजर, व भूरिरेताः' हैं। तत्त्वद्रष्टा पुरुष ही इन प्रभु को प्राप्त करते हैं। प्रभु सब लोक-लोकान्तरों में गये हुए—व्याप्त हैं।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—कालः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

कर्ता-संहर्ता

सप्त चक्रान्वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत्कालः स ईयते प्रथमो नु देवः॥ २॥

१. **एषः कालः**=यह सबका संकलन करनेवाला प्रभु **सप्त चक्रान्**=सात चक्राकार में गति करनेवाले लोकों को **वहति**=धारण करता है। 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्'—इन व्याहृति शब्दों में इन सात लोकों का प्रतिपादन हुआ है। **सप्त**=सात ही **अस्य**=इस प्रभु के **नाभिः**=(नह् बन्धने) बन्धन के साधन हैं। सात छन्दोमयी वेदवाणियाँ हमें उस प्रभु को प्राप्त करानेवाली होती हैं। इन वेदवाणियों का **अक्षः**=अध्यक्ष प्रभु **नु**=निश्चय से **अमृतम्**=अमृत है। २. **सः**=वह अमृत प्रभु ही **इमा विश्वा भुवनानि**=इन सब लोकों को **अञ्जत्**=व्यक्त करता हुआ—इनकी सृष्टि करता हुआ **सः** (षोऽन्तकर्मणि स्यति इति) अन्त करनेंवाला है। **कालः**=वह इन सबका फिर से संकलन कर लेता है। **नु**=निश्चय वह **प्रथमः देवः**=सर्वप्रथम देव प्रभु **ईयते**=तत्त्वज्ञों से जाना जाता है। तत्त्वज्ञ पुरुष उसे सृष्टिकर्त्ता व संहर्त्ता के रूप में देखते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु ही सातों लोकों का धारण करते हैं। वे ही इनको प्रकट करते हैं और अन्ततः इन्हें प्रलीन करनेवाले होते हैं। तत्त्वज्ञ लोग ही प्रभु को इस रूप में देखते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

नानारूपों में—परमानन्दरूप में

पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्यो॒मन् ॥ ३ ॥

१. **पूर्णः कुम्भः**=यह सम्पूर्ण संसारघट—ब्रह्माण्डरूपी घट **काले अधि आहितः**=उस सब जगत् के कारणभूत, नित्य, अनवच्छिन्न परमात्मा में स्थापित है। ब्रह्माण्डरूपी घट का आधार वह प्रभु ही है। **तम्**=उस जन्यकाल के आधारभूत परमात्मा को **वै**=निश्चय से **बहुधा सन्तः**=नाना रूपों में प्रकट होते हुए को (बुद्धिमानों में बुद्धि के रूप में, बलवानों में बल के रूप में) **पश्यामः**=हम देखते हैं। **सः**=वह 'काल' नाम प्रभु ही **इमा विश्वा भुवनानि**=इन सब दृश्यमान भूतजातों को **प्रत्यङ्**=चारों ओर से व्याप्त करनेवाले हैं। **तं कालम्**=उस काल प्रभु को **परमे**=उत्कृष्ट **व्योमन्**=आकाशवत् निर्लेप, सर्वगत, विविध रूप से रक्षक (वि अव् रक्षणे) परमानन्दप्रदायक स्व-स्वरूप में वर्तमान **आहुः**=कहते हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आधार वे प्रभु हैं। वे सारे ब्रह्माण्ड में नानारूपों में रह रहे हैं। सब भुवनों में व्याप्त हैं। अपने आकाशवत् निर्लेप परमानन्दस्वरूप में स्थित हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पिता सन्नभवत्पुत्रः एषाम्

स एव सं भुवनान्याभरत्स एव सं भुवनानि पर्यैत्।
पिता सन्नभवत्पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत्परमस्ति तेजः ॥ ४ ॥

१. **सः एव**=वे काल नामक प्रभु ही **भुवनानि**=सब भुवनों का **सम् आभरत्**=सम्यक् भरण (पानल) कर रहे हैं। **सः एव**=वे ही **भुवनानि संपर्यैत्**=सब भुवनों को सम्यक् व्याप्त कर रहे हैं। २. **पिता सन्**=वे प्रभु पिता—उत्पादक होते हुए **एषां पुत्रः अभवत्**=इन लोकों के पुत्र—(पुनाति त्रायते) सबके पवित्र करनेवाले व रक्षण करनेवाले हैं। **तस्मात्**=उस काल नामक प्रभु से **परम्**=उत्कृष्ट **अन्यत् तेजः**=और तेज **वै न अस्ति**=निश्चय से नहीं है। उस प्रभु के तेज से ही तो ये सब लोक-लोकान्तर तेजस्वी हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब भुवनों का पोषण करते हैं। वे इन सबमें व्याप्त हैं। इनके वे उत्पादक हैं, पवित्र करनेवाले और रक्षण करनेवाले हैं। उससे अधिक और कोई तेज नहीं है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—निचृत्पुरस्ताद्बृहती ॥

जनिता—धाता

कालोऽमूं दिवमजनयत्काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥ ५ ॥

१. **कालः**=वह काल नामक प्रभु ही **अमूं दिवम्**=उस विप्रकृष्ट द्युलोक को **अजनयत्**=उत्पन्न करते **उत**=और **कालः**=वे काल नामक प्रभु ही **इमाः पृथिवीः**=इन 'अवमा, मध्यम, व परमा' पृथिवियों को पैदा करते हैं। २. **काले**=उस काल नामक प्रभु में **ह**=ही **भूतम्**=भूतकालावच्छिन्न, भव्यम् भविष्यत्कालावच्छिन, **च**=और **इषितम्**=इष्ट—इष्यमाण यह वर्तमानकालावच्छिन्न जगत् निश्चय से **वितिष्ठते**=विशेषेण आश्रित है।

भावार्थ—प्रभु ही द्युलोक व पृथिवी को पैदा करते हैं। वे ही भूत, भविष्य व वर्तमान लोकों

के आधार हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'सब विभूतियों के स्रोत' प्रभु

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति ॥ ६ ॥

१. **कालः**=वे काल नामक प्रभु ही **भूतिम्**=इस संसार की विविध विभूतियों को—ऐश्वर्यों को **असृजत**=उत्पन्न करते हैं। **काले**=उस काल नामक प्रभु के आधार में ही **सूर्यः तपति**=सूर्य दीप्त हो रहा है (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) २. **काले ह**=निश्चय से उस काल में—प्रभु के आधार में ही **विश्वा भूतानि**=सब भूत स्थित हैं—रह रहे हैं। **काले**=उस प्रभु के आधार में ही **चक्षुः विपश्यति**=आँख आदि इन्द्रियाँ दर्शनादि कर्मों को करती हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण विभूति को जन्म देनेवाले वे प्रभु ही हैं। प्रभु की दीप्ति से ही सूर्य आदि दीप्त हो रहे हैं। सब भूतों के आधार वे प्रभु हैं। प्रभु ही आँख आदि में दर्शनादि शक्तियों को रखते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'मन-प्राण-नाम-समृद्धि'

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ७ ॥

१. उस काल नामक प्रभु में **मनः**=सब प्राणियों के मन **समाहितम्**=आश्रित हैं। **काले**='काल' प्रभु में ही **प्राणः**=पञ्चवृत्तिक प्राण समाहित हैं। **काले**=उस काल प्रभु में ही **नाम**=सब संज्ञाएँ **समाहितम्**=समाहित हैं। सब वस्तुओं के रूपों का निर्माण करके उनके नामों को भी प्रभु ही व्यवहृत करते हैं। २. **आगतेन**=आये हुए—'वसन्त' आदि के रूप में प्राप्त हुए-हुए काल से ही **इमाः सर्वाः प्रजाः**=ये सब प्रजाएँ **नन्दन्ति**=अपने-अपने कार्य की सिद्धि के द्वारा समृद्ध होती हैं—आनन्द का अनुभव करती है।

भावार्थ—उस काल नामक प्रभु से हमें 'मन-प्राण-नाम तथा सब समृद्धियाँ' प्राप्त होती हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'तप-ज्येष्ठ-ब्रह्म'

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः ॥ ८ ॥

१. **काले**=उस काल नामक प्रभु में **तपः**=जगत् सर्जन-विषयक पर्यालोचन (तप् पर्यालोचने) **समाहितम्**=समाहित है। **काले**=उस काल में ही **ज्येष्ठम्**=सबसे प्रथम उत्पन्न होनेवाला 'महत्' तत्त्व समाहित है। **काले**=उस काल में ही **ब्रह्म**=ज्ञान समाहित है। २. यह काल ही **सर्वस्य ईश्वरः**= सबका स्वामी है। वह काल **यः**=जोकि **प्रजापतेः**=ब्रह्मा का भी **पिता आसीत्**=पिता है। सात्त्विक सृष्टि के प्रमुख इस ब्रह्मा को भी प्रभु ही जन्म देते हैं।

भावार्थ—काल नाम प्रभु में ही 'तप-ज्येष्ठ-ब्रह्म' की स्थिति है। ये ही सबके स्वामी हैं। ये ही ब्रह्मा को जन्म देते हैं।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—कालः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'ब्रह्म' द्वारा 'ब्रह्मा' का धारण

तेनैषितं तेन जातं तदु तस्मिन्प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्॥ ९॥

१. **तेन**=उस काल से ही **इषितम्**=सम्पूर्ण स्रष्टव्य संसार चाहा जाता है (इष्टं=कामितम्) (सो अकामयत०)। **तेन जातम्**=उस काल नामक प्रभु से ही यह उत्पन्न किया गया है **उ**=और **तत्**=वह उत्पन्न जगत् **तस्मिन् प्रतिष्ठितम्**=उस काल में ही प्रतिष्ठित है। २. **कालः**=काल ही **ब्रह्म भूत्वा**=सच्चित सुखरूप अबाध्य परमार्थ तत्त्व होकर **परमेष्ठिनम्**=सर्वोच्च स्थिति में स्थित ब्रह्मा को **बिभर्ति**=धारण करता है। कर्मानुसार सर्वोच्च उत्तम सात्त्विक स्थितिवाला जीव ही ब्रह्मा है। यह उस काल नामक प्रभु से ही धारण किया जाता है।

भावार्थ—प्रभु ही सृष्टि की कल्पना करते हैं, इसको उत्पन्न करके इसका धारण करते हैं। 'ब्रह्म' होते हुए ये प्रभु 'ब्रह्मा' (सर्वोच्च सात्त्विक गतिवाले जीव) का धारण करते हैं।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—कालः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'प्रजा-प्रजापति-कश्यप व तप' का निर्माता प्रभु

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयंभूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत॥ १०॥

१. **कालः**=वह 'काल' प्रभु ही **प्रजाः असृजत**=सब प्रजाओं को उत्पन्न करता है। **कालः**=काल ही **अग्रे**=सृष्टि के आदि में **प्रजापतिम्**=ब्रह्मा को जन्म देता है। २. सात लोकों के सात सूर्य 'आरोगो, भ्राजः, पटरः, पतंगः, स्वर्णरो, ज्योतिषीमान्, विभासः' (तै० आ० १.७.१) हैं। अष्टम ये कश्यप है (कश्यपोऽष्टमो स महामेरुं न जहाते—तै० आ० १.७.१) यह (कश्यपः पश्यको भवति, यत् सर्वं परिपश्यति इति सौक्ष्म्यात्—तै०आ० १.८.८) सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशमय करता है। यही स्वयंभूः स्वयं होनेवाला है। इस सूर्य को किसी अन्य सूर्य से दीप्ति नहीं प्राप्त होती, परन्तु यह **स्वयम्भूः कश्यपः**=स्वयं होनेवाला सर्वद्रष्टा सूर्य भी **कालात्**=उस काल नामक प्रभु से ही होता है। **तपः**=इस सूर्य का सन्तापक तेज भी **कालात् अजायत**=उस काल नामक प्रभु से ही हुआ है।

भावार्थ—प्रभु ही प्रजाओं को व प्रजापति को उत्पन्न करते हैं। प्रभु ने ही अष्टम सूर्य (कश्यप) को व उसके सन्तापक तेज को उत्पन्न किया है। इस कश्यप का तेज अन्य सातों सूर्यों को दीप्त करता है।

५४. [चतुष्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—कालः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'आपः, ब्रह्म, तपो, दिशः'

कालादापः समभवन्कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः॥ १॥

१. **कालात्**=उस काल नामक प्रभु से **आपः** (आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः) सब प्रजाएँ **समभवन्**=उद्भूत हुई। **कालात्**=उस काल से ही **ब्रह्म**=ज्ञान उद्भुत हुआ। उससे ही **तपः दिशः**=सब तप व अन्य कर्मों के निर्देश दिये गये। प्रभु ने प्रजाओं को रचकर मनुष्यों

को वेदज्ञान दिया और वेदज्ञान द्वारा तप व अन्य कर्मों के निर्देश दिये। २. इन कर्मों के करने के लिए उस काल नामक प्रभु ने ही दिन-रात की व्यवस्था की। इस व्यवस्था के लिए **कालेन**=इस काल से ही **सूर्यः उदेति**=सूर्य उदय को प्राप्त होता है और पुनः फिर **काले**=उस काल में ही **निविशते**=विलीन हो जाता है—अस्त हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु प्रजाओं को जन्म देकर वेदज्ञान द्वारा तप व अन्य कर्मों का निर्देश देते हैं। उन कर्मों को कर सकने के लिए वे सूर्योदय व सूर्यास्त से दिन-रात की व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री** ॥

'वात, पृथिवी, द्यौः'

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता॥ २॥

१ उस **कालेन**=काल नामक प्रभु की व्यवस्था से **वातःपवते**=वायु बहती है (भीषाऽस्माद् वातः पवते। तै०आ० ८.८.१)। **कालेन**=इस काल से ही **मही पृथिवी**=यह महत्त्वपूर्ण पृथिवी-लोक **आहिता**=दृढ़ता से स्थापित हुआ है। २. यह **मही द्यौः**=महत्त्वपूर्ण द्युलोक भी **काले**=उस काल नामक प्रभु में ही (आहिता) स्थापित है।

भावार्थ—'वायु (अन्तरिक्ष), पृथिवी व द्युलोक' इनका धारण करनेवाला वह काल नामक प्रभु ही है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋचः+यजुः

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्पुरा।
कालादृचः समभवन्यजुः कालादजायत॥ ३॥

१. **कालः ह**=वह काल नामक प्रभ ही **भूतम्**=भूतकालाविच्छन्न जगत् को, **अजनयत्**=जन्म देता है। वह काल ही **पुरा**=सृष्टि के प्रारम्भिक काल में **पुत्रः** (पुनाति त्रायते) इन प्रजाओं को पवित्र करता है और रक्षित करता है। उस समय अभी माता-पिता का क्रम नहीं चला होता, अतः उन प्रारम्भिक प्रजाओं का प्रभु ही ध्यान करते हैं। **कालात्**=उस काल से ही **ऋचः**=पादबद्ध मन्त्र **समभवन्**=उत्पन्न हुए और **यजुः**=प्रश्लिष्ट पाठरूप मन्त्र भी **कालात्**=उस काल नामक प्रभु से ही **अजायत**=प्रादुर्भूत हुए।

भावार्थ—प्रभु ही भूत, भव्य व वर्तमान जगतों के निर्माता हैं। प्रभु ही प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में पादबद्ध (पद्य) व प्रश्लिष्टपाठ-(गद्य)-रूप मन्त्रों को प्रादुर्भूत करते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञ—देवों के लिए अक्षित भाग

कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम्।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः॥ ४॥

१. **कालः**=उस काल प्रभु ने ही **यज्ञम्**=यज्ञ को **सम् ऐरयत्**=सम्यक् प्रेरित किया है जोकि **देवभ्यः**=देवों के लिए **अक्षितम् भागम्**=क्षयरहित—क्षीण न होने देनेवाला भाग है—भजनीय कर्म है। देव यज्ञ करते हैं, अतः क्षीणशक्तिवाले नहीं होते। यज्ञशेष का सेवन करते हुए ये देव अमृत का ही सेवन कर रहे होते हैं। २. **काले**=उस काल नामक प्रभु में ही **गन्धर्वाप्सरसः**=

(गां वेदवाचं धारयन्ति, अप्सु कर्मसु सरन्ति) ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले ज्ञानी पुरुष तथा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त कर्मकाण्डी लोग **प्रतिष्ठिताः**=प्रतिष्ठित होते हैं। वस्तुतः **काले**=उस प्रभु में ही **लोकाः** (प्रतिष्ठिताः) सब लोक प्रतिष्ठित (आधारित) हैं।

भावार्थ—काल नामक प्रभु देवों के लिए यज्ञ का विधान करते हैं। इस यज्ञ के द्वारा ही ये देव अक्षीणशक्ति बने रहते हैं। सब ज्ञानी व कर्मकण्डी तथा अन्य भी सब लोक इस काल नामक प्रभु में ही प्रतिष्ठित हैं।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—कालः॥ छन्दः—षट्पदाविराडष्टिः॥

अथर्वा तथा अङ्गिरा का अधिष्ठान वह 'काल'

कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान्विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः॥ ५॥

१. **अयम्**=यह **अङ्गिराः देवः**=अंग-अंग में उद्भूत रसवाला—पूर्ण स्वस्थ, देववृत्ति का पुरुष **च**=तथा **अथर्वा**=(अथ अर्वाङ् एनम् एतास्वेतासु अन्विच्छ। गो० ब्रा० १.१.४) ऊर्ध्वरेता बनकर प्रभु को अपने अन्दर ही देखनेवाला पुरुष **काले**=उस प्रभु में ही **अधितिष्ठतः**=अधिष्ठित होते हैं। २. **इमं च लोकम्**=इस कर्मों के अर्जनस्थानभूत भूमिलोक को, **परमं च लोकम्**=उस फलभोग स्थानभूत उत्कृष्ट स्वर्गलोक को, **पुण्यान् च लोकान्**=और अन्य भी पुण्यकर्मार्जित लोकों को, **पुण्याः च विधृतीः**=दुःखलेश से असंस्पृष्ट पवित्र लोकों के धारक **सर्वान् लोकान्**=सभी लोकों को **ब्रह्मणा अभिजित्य**=ज्ञान से जीतकर—ज्ञान द्वारा इन लोकों का विजय कर लेने पर **सः कालः**=वह काल नामक प्रभु **ईयते**=जाना जाता है—पाया जाता है। **नु**=निश्चय से **परमः देवः**=वह प्रभु ही सर्वोत्कृष्ट देव है।

भावार्थ—हम अंगिरा व अथर्वा बनकर प्रभु में स्थित हों। ज्ञान द्वारा सब लोकों का विजय कर लेने पर ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

अथ सप्तमोऽनुवाकः।

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

रायस्पोषेण-इषा

रात्रिंरात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ १॥

१. **रात्रिंरात्रिम्**=सदा—सब कालों में—प्रत्येक रात, अर्थात् प्रतिदिन **अप्रयातम्**=विना विच्छेद के (प्रयात=dead) **अस्मै**=इस अग्नि के लिए **भरन्तः**=हवि देते हुए, **इव**=जैसेकि **तिष्ठते अश्वाय**=घर में ठहरनेवाले घोड़े के लिए **घासम्**=घास को देते हैं, उसी प्रकार अग्नि के लिए हवि देते हुए हम **मा रिषाम**=मत हिंसित हों। २. हे यज्ञ-अग्ने! हम **रायः पोषेण**=धन के पोषण से तथा **इषा**=उत्तम अन्नों से **मदन्तः**=आनन्दित होते हुए **ते प्रतिवेशाः**=तेरे पड़ोसी होते हुए हिंसित न हो। यह यज्ञाग्नि का सान्निध्य हमें हिंसा से बचाए।

भावार्थ—हम प्रतिदिन बिना विच्छेद के अग्निहोत्र करें। यह अग्निहोत्र हमें उचित धनों का पोषण व उत्तम अन्न प्राप्त करोनवाला हो।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—आस्तारपङ्क्तिः ॥

अग्नि की भेदक शक्ति

या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तया नो मृड।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम्॥ २॥

१. हे अग्ने! **वसोः ते**=हमारे निवासों को उत्तम बनानेवाले तेरी **या**=जो **वाते इषुः**=वायु में प्रेरणा है, अर्थात् जो तू वायु में गति प्राप्त कराती है, **सा एषा**=वह यह गति **ते**=तेरी ही है, अर्थात् तू ही वायु में इस गति को पैदा करके उसे शुद्ध कर डालती है। **तया नो मृड**=वायु में पैदा की गई गति के द्वारा तू हमें सुखी कर। वायुशुद्धि के द्वारा तू हमें नीरोगता देनेवाली हो। २. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! हम **रायः पोषेण**=धन के पोषण से तथा **इषा**=उत्तम अन्नों से **मदन्तः**=आनन्दित होते हुए **ते प्रतिवेशाः**=तेरे पड़ोसी होते हुए **मा रिषाम**=मत हिंसित हों। न हम यज्ञाग्नि से दूर हों और ना ही हिंसित हों।

भावार्थ—यज्ञाग्नि वायु में अपनी भेदक शक्ति से स्वच्छता उत्पन्न करती है। यह हमारे उत्तम निवास का कारण बनती है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'सायं' अग्निहोत्र से शरीर-पुष्टि

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥ ३॥

१. **सायंसायम्**=प्रत्येक सायंकाल **नः गृहपतिः**=हमारे घरों का रक्षक यह **अग्निः**=यज्ञ का अग्नि **प्रातःप्रातः**=प्रत्येक प्रातःकाल में भी **सौमनसस्य दाता**=प्रसन्नमनस्कता (सुख) देनेवाला हो। प्रातः-सायं अग्निहोत्र करते हुए आरोग्यतापूर्ण जीवनवाले हम आनन्द का अनुभव करें। २. हे अग्ने! तू **वसोः**=निवास के साधनभूत सब वसुओं (धनों) का **वसुदानः एधि**=धनदाता हो। **वयम्**=हम **त्वा इन्धानाः**=तुझे प्रातः-सायं दीप्त करते हुए **तन्वं पुषेम**=अपने शरीरों का पोषण करें। यह यज्ञाग्नि हमारे शरीरों की शक्तियों का विस्तार करनेवाली हो।

भावार्थ—सायं-प्रातः हवियों से दीप्त किया गया यज्ञाग्नि हमें प्रसन्नमनस्कता प्राप्त कराता है। सब वसुओं को देता हुआ यह हमारे शरीरों का पोषण करता है। सायंकाल का अग्निहोत्र प्रातःकाल तक सौमनस्य का देनेवाला है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'सायं-प्रातः' अग्निहोत्र से दीर्घजीवन

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता॥
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम॥ ४॥

१. **प्रातःप्रातः**=प्रत्येक प्रातःकाल में **गृहपतिः**=हमारे घरों का रक्षक यह **अग्निः**=यज्ञाग्नि **सायंसायम्**=प्रत्येक सायंकाल में भी **सौमनसस्य दाता**=प्रसन्नमनस्कता को देनेवाला हो। २. **वसोःवसोः वसुदानः एधि**=निवास के लिए आवश्यक प्रत्येक वसु का देनेवाला हो। हे अग्ने! **त्वा**=तुझे **इन्धानाः**=हवियों से दीप्त करते हुए **शतंहिमाः ऋधेम**=सौ वर्ष तक हम समृद्ध हों। यह अग्निहोत्र हमें नीरोगता, शक्तियों का पोषण व सौमनस को देता हुआ शतवर्ष की आयुष्य को प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं अग्निहोत्र करते हुए सौमनस व वसुओं को प्राप्त करके शतवर्ष

के आयुष्य को प्राप्त करें। प्रात:काल का अग्निहोत्र सायं तक सौमनस्य देता है

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्पुरउष्णिक् ॥

अपश्चा दग्धान्नस्य

अपश्चा दुग्धान्नस्य भूयासम्।
अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये।
सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥ ५ ॥

१. अग्निहोत्र में एक व्यक्ति घृत व अन्न को अग्नि में आहुत करता है। वह अन्न दग्ध होता प्रतीत होता है। मैं **दग्धान्नस्य**=इस अग्निहोत्र में दग्ध अन्न के **अपश्चा**=पीछे न रहनेवाला **भूयासम्**=बनूँ, अर्थात् खूब ही अग्निहोत्र करूँ। **अन्नादाय**=इस अन्न का अदन करनेवाले **अन्नपतये**=अन्नों के स्वामी (पर्जन्यादन्नसंभवः, यज्ञाद्भवति पर्जन्यः) **रुद्राय**=रोगों का द्रावण करनेवाले **अग्नेय**=अग्नि के लिए **नमः**=मैं आदरपूर्वक अन्न अर्पित करता हूँ (नमः=अन्न, आदर)। २. यह **सभ्यः**=हमारी सभा में—हमारे गृहों में होनेवाला अग्नि हो, अर्थात् हम सदा घरों में अग्निहोत्र करनेवाले हों। हे अग्ने! **मे सभां पाहि**=मेरे घर का रक्षण कर, **च**=और **ये**=जो **सभासदः**=गृह में आसीन होनेवाले सभासद् हैं, उनका भी रक्षण कर।

भावार्थ—हम खूब ही अग्निहोत्र करनेवाले हों। अग्नि हमें अन्न देता हुआ व हमारे रोगों का द्रावण करता हुआ हमारा रक्षण करे।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥

यज्ञों द्वारा प्रभु-पूजन व पूर्णजीवन की प्राप्ति

त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्य॑श्नवम्।
अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ॥ ६ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **पुरुहूत**=पालक व पूरक है आह्वान (प्रार्थना) जिसकी, ऐसे प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वम्**=सम्पूर्ण **आयुः**=जीवन को **व्यश्नवत्**=(प्रापय। पुरुषव्यत्ययः लेटि रूपम्) प्राप्त कराइए। २. हे **अग्ने!**=यज्ञाग्ने! **तिष्ठते अश्वाय घासम् इव**=गृह में स्थित घोड़े के लिए जैसे प्रेम से घास प्राप्त कराते हैं, इसी प्रकार हम **ते**=तेरे लिए **अहरहः**=प्रतिदिन **इत्**=निश्चय से **बलिम्**=बलि को—अन्नभाग को **हरन्तः**=प्राप्त कराते हुए हों।

भावार्थ—हम यज्ञों के द्वारा प्रभु-पूजन करें। प्रभु हमें शतवर्ष के पूर्णजीवन को प्राप्त कराएँगे।

यज्ञों में प्रवृत्त व्यक्ति अपने जीवन को नियमित बनाता है, अतः 'यम' होता है। यह यम ही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'धीर' स्वप्न

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान्प्र युनक्षि धीरः।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥ १ ॥

१. हे स्वप्न! तू **यमस्य लोकात् अधि**=यम के लोक से **आबभूविथ**=प्रकट हुआ है, अर्थात्

स्वप्न की उत्पत्ति ही मानो मृत्युलोक से होती है—यह शीघ्रमृत्यु का कारण बनता है। हे दुःष्वप्न! तू आकर **धीरः**=(धियम् ईरयति) बुद्धि को कम्पित कर देनेवाला होता हुआ, अर्थात् किसी से भी भयभीत न होता हुआ **प्रमदाः**=स्त्रियों को **मर्त्यान्**=और पुरुषों को **प्रयुनक्षि**=अपने से जोड़ता है। २. अब **विद्वान्**=नानाप्रकार की बातों को जानता हुआ तू (स्वप्न में न जाने कब के संस्कार जाग उठते हैं) **एकाकिना**=अकेले उस स्वप्नद्रष्टा पुरुष के साथ **सरथं यासि**=इस समान शरीररूप रथ में गति करता है। हे दुःस्वप्नाभिमानिन् देव! तू **असुरस्य**=(असुः प्राणः, तद्वान् असुरः) प्राणवान् आत्मा के **योनौ**=उपलब्धि स्थान हृदय में **स्वप्नम्**=कष्टमय, अनिष्टफलप्रद स्वप्न को **मिमानः**=निर्मित करता हुआ है। यह दुःस्वप्न की देवता इस स्वप्नद्रष्टा को यमलोक में ले-जाती है।

भावार्थ—स्वप्न हमारी बुद्धियों को कम्पित कर देता है। हृदय में भय पैदा करता हुआ यह शीघ्र मृत्यु का कारण बनता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बन्धः+विश्वचयाः

बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत्पुरा रात्र्या जनितोरेके अह्नि।
ततः स्वप्नेदमध्या बभूविथ भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः ॥ २ ॥

१. हे **स्वप्न**=स्वप्न! **बन्धः**=शरीर में मल के बन्धवाला **विश्वचयाः**=नानाप्रकार की अवाञ्छनीय बातों का अपने में चयन करनेवाला व्यक्ति **त्वाम् अग्रे**=तुझे नींद के प्रारम्भ में, गाढ़ी नींद आने से पूर्व, **अपश्यत्**=देखता है। **पुरा रात्र्याः जनितोः**=रात्रि के प्रादुर्भाव से पहिले ही कई बार स्वप्न आने लगते हैं। **एके अह्नि**=कई तो दिन में ही स्वप्न देखने लगते हैं। वस्तुतः स्वप्न के मुख्यकारण दो ही हैं। एक तो शरीर में मलसञ्चय, दूसरा मन में व्यर्थ की बातों (भावों) का सञ्चय। २. **ततः**=तभी हे स्वप्न! तू **इदम्**=इस शरीर को **अधि आबभूविथ**=व्याप्त कर लेता है। तेरा इस शरीर पर राज्य-सा हो जाता है, और तू इसमें नाना रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है। **भिषग्भ्यः**=वैद्यों से तू **रूपम् अपगूहमानः**=अपने रूप को छिपाये रहता है, अर्थात् वैद्य तेरी चिकित्सा नहीं कर पाते। यह स्वप्नरूप रोग वैद्यों के क्षेत्र से बाहर का है।

भावार्थ—स्वप्न का कारण शरीर में मलबन्ध व हृदय में व्यर्थ की बातों का समावेश है। तभी स्वप्न हमें आ घेरते हैं। ये नानाप्रकार के रोगों का कारण बनते हैं। ये रोग वैद्यों की चिकित्सा के विषय नहीं बनते।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'असुर व दिव्य' विविध स्वप्न

बृहद्गावासुरेभ्योऽधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन्।
तस्मै स्वप्नाय दधुराधिपत्यं त्रयस्त्रिंशासः स्व१रानशानाः ॥ ३ ॥

१. **बृहद्गावा** (बृहतः=दुष्प्रधर्षान् अपि गाते)=बड़े शक्तिशाली पुरुषों को भी प्राप्त होनेवाला यह स्वप्न **असुरेभ्यः**=अपने ही प्राणों में रमण करनेवाले विलासी पुरुषों से **देवान् उपावर्तत**=देववृत्ति के पुरुषों को प्राप्त हुआ। मानो, यह स्वप्न भी **महिमानम् इच्छन्**=महत्त्व की कामनावाला हो, स्वप्न यह नहीं चाहता कि यह कहा जाए कि 'स्वप्न असुरों को ही आते हैं, सुरों को नहीं'। २. **त्रयस्त्रिंशासः**=तेतीस के तेतीस **स्वः आनशानाः**=स्वर्ग को व प्रकाश को व्याप्त करते हुए

देव **तस्मै स्वप्नाय**=उस स्वप्न के लिए **आधिपत्यं दधुः**=आधिपत्य को स्थापित करते हैं। स्वप्न को ये देव सभी का अधिपति बनाते हैं। अन्तर इतना ही है कि असुरों को आसुर (बुरे) स्वप्न आते हैं और देवों को दिव्य (उत्तम) स्वप्न आया करते हैं। 'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा' इस योगसूत्र के अनुसार वे देव प्रभु का भी स्वप्न में ही तो दर्शन करते हैं। ये स्वप्न सचमुच महिमावाले होते हैं।

भावार्थ—स्वप्न असुरों व देवों दोनों को ही प्राप्त होते हैं। असुरों के स्वप्न आसुरपन को लिये हुए होते हैं तो देवों को स्वप्न दिव्यतावाले हुआ करते हैं। ये दिव्यस्वप्न भी महिमाशाली होते हैं।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स्वप्नों का न आना, या उत्कृष्ट स्वप्नों का आना

नैतां विदुः पितरो नोत देवा येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम्।
त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः॥ ४॥

१. **एताम्**=इस स्वप्नवृत्ति को **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए लोग **न विदुः**=नहीं जानते। इन पितरों को अशुभ स्वप्न नहीं आते **उत**=और **वे देवाः**=देव भी इस स्वप्नवृत्ति को नहीं जानते, **येषाम्**=जिन देवों की **इदम् अन्तरा**=इस हृदयाकाश में **जल्पिः**=प्रभु से वार्त्तालाप **चरति**=होता है। २. ये **वरुणेन अनुशिष्टाः**=पापों के निवारक प्रभु से अनुशिष्ट हुए-हुए **आदित्यासः**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोग पहले तो स्वप्नों को देखते ही नहीं, देखते भी हैं तो **आप्त्ये**=प्रभु को प्राप्त करनेवालों में उत्तम **त्रिते**=काम, क्रोध, लोभ को तैर जानेवाले चित्त के विषय में **स्वप्नम् अदधुः**=स्वप्न को धारण करते हैं। इन्हें स्वप्न में 'त्रित आप्त्य' का ही दर्शन होता है। ये उस-जैसा बनने का ही स्वप्न लेते हैं।

भावार्थ—हृदयाकाश में प्रभु से बात करनेवाले पितर व देव अशुभ स्वप्नों को नहीं देखते। इन्हें 'त्रित आप्त्यों' के विषय में ही स्वप्न आते हैं और ये वैसा ही बनने का स्वप्न लेते हैं।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दुष्कृत को क्रूर स्वप्न, सुकृत को पुण्यस्वप्न

यस्य क्रूरमभजन्त दुष्कृतोऽस्वप्नेन सुकृतः पुण्यमायुः।
स्व ऽर्मदसि परमेण बन्धुना तप्यमानस्य मनसोऽधि जज्ञिषे॥ ५॥

१. **दुष्कृतः**=दुष्कर्म (पापकर्म) करनेवाले लोग **यस्य**=जिस दुःस्वप्न के **क्रूरम् अभजन्त**=भयंकर अनिष्ट फल को प्राप्त करते हैं, इसके विपरीत **सुकृतः**=पुण्यकर्मा लोग **अस्वप्नेन**=स्वप्नों के अभाव के कारण **पुण्यम् आयुः**=पुण्य जीवन को प्राप्त करते हैं। २. हे स्वप्न! **तप्यमानस्य**=खूब तपस्या में प्रवृत्त मनुष्य के **मनसः अधिजज्ञिषे**=मन से जब तू प्रकट होता है, तब **परमेण बन्धुना**=उस परम बन्धु परमात्मा के साथ बातचीत में **स्वःमदसि**=ज्ञान के प्रकाश से आनन्द का अनुभव करता है, अर्थात् तपस्वी स्वप्न में प्रभु के साथ बात करता है और ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता हुआ आनन्दित होता है।

भावार्थ—दुष्कृत् को अशुभ स्वप्न पीड़ा पहुँचाता है और तपस्वी सुकृत् को प्रभु-दर्शन का स्वप्न प्रकाशमय जीवनवाला करता है।

ऋषिः—यमः॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

द्वेष आदि के स्वप्नों से दूर

विद्म ते सर्वाः परिजाः पुरस्ताद्विद्म स्वप्न यो अधिपा इहा ते।

यशस्विनो नो यशसेह पाह्याराद् द्विषेभिरप याहि दूरम्॥ ६॥

१. हे **स्वप्न**=स्वप्न! हम **ते**=तेरे **पुरस्तात् सर्वाः परिजाः**=पुरस्ताद्गामी सब परिजनों को (काम, क्रोध, लोभ को) **विद्म**=जानते हैं। तू इन काम-क्रोध आदि के कारण ही उत्पन्न होता है। हे स्वप्न! **इह**=यहाँ **यः**=जो **ते**=तेरा **अधिपाः**=स्वामी है—जिसके कारण तू अभिभूत रहता है—दबा रहता है, किसी प्रकार का अशुभ नहीं कर पाता, उसे भी **विद्म**=जानते हैं। प्रभु ही वे अधिपा हैं। प्रभु-स्मरण करने पर अनिष्टकर स्वप्न आते ही नहीं। २. **यशस्विनः**=यशस्वी कर्मों के कारण यश को प्राप्त करनेवाले **नः**=हम लोगों को **इह**=इस जीवन में **यशसा**=यश से **आरात्**=प्रभु के समीप में **पाहि**=सुरक्षित कर। हम कभी अशुभ स्वप्न न देखें। हे स्वप्न! **द्विषेभिः**=सब द्वेष की वृत्तियों के साथ तू हमसे **दूरम् अपयाहि**=सुदूर देश में चला जा। हमें द्वेष आदि के स्वप्न न आते रहें।

भावार्थ—काम-क्रोध आदि से दूर होकर हम अशुभ स्वप्नों से बचें। यशस्वी कर्मों को करते हुए यशवाले स्वप्नों को ही देखें। हम कभी स्वप्न में द्वेष आदि दुर्भावों से पीड़ित न हों।

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—यमः॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

दुःष्वप्न्य का अप्रिय पुरुषों में संनयन

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति।

एवा दुःष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि॥ १॥

१. **यथा कलाम्**=जैसे एक-एक कला—सोलहवाँ भाग करके, अथवा **यथा शफम्**=(गवादि पशुओं के चार पाँव, प्रत्येक पाँव के दो भाग) जैसे एक-एक शफ—आठवाँ भाग—करके **ऋणम्**=सारे ऋण को यथा **संनयन्ति**=जैसे उत्तमर्ण के लिए लौटा देते हैं, **एव**=इसी प्रकार **सर्वं दुःष्वप्न्यम्**=सब अशुभ स्वप्नों के कारणभूत वसुओं को (शरीर में मलबन्ध व मन में व्यर्थ की बातों के समावेश को) **अप्रिये**=प्रीतिरहित शत्रुभूत लोगों में **संनयामसि**=प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम सतत प्रयत्न करके—निरन्तर थोड़ा-थोड़ा करते हुए सब अशुभ स्वप्नों के कारणभूत तत्त्वों को अपने से दूर करें। ये तत्त्व अप्रिय लोगों को प्राप्त हों।

ऋषिः—यमः॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम्॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

संगृहीत दुःष्वप्न्य को द्विषत् में प्रसूत करना

सं राजानो अगुः समृणान्यगुः सं कुष्ठा अगु सं कला अगुः।

समस्मासु यद्दुःष्वप्न्यं निर्द्विषते दुःष्वप्न्यं सुवाम॥ २॥

१. जैसे **राजानः**=राजा लोग **सम् अगुः**=युद्ध-काल में एक-एक करके बहुत-से एकत्र हो जाते हैं। **ऋणानि सम् अगुः**=ऋण भी जुड़ते-जुड़ते बहुत-से एकत्र हो जाते हैं। **कुष्ठाः**=कुत्सित त्वचा के रोग भी **समगुः**=अचिकित्सित होने पर बढ़ते जाते हैं। **कलाः सम् अगुः**=कलाएँ जुड़ती-जुड़ती चन्द्रमा में पूर्णतया संगत हो जाती हैं। इसीप्रकार **अस्मासु**=हममें **यत्**=जो **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों का कारणभूत तत्त्व **सम्** (अगात्)=संगत हो गया है, उस सब

दुःष्वप्न्यम्=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत तत्त्व को **द्विषते**=द्वेष करनेवाले पुरुष के निमित्त **निःसुवाम**=अपने से बाहर प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—थोड़ा-थोड़ा करके वे तत्त्व हममें संगृहीत हो जाते हैं, जोकि अशुभ स्वप्नों के कारण बना करते हैं। हम उन्हें अपने से पृथक् करके द्वेष करनेवाले पुरुषों के लिए प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुप्** ॥

'भद्र व अभद्र' स्वप्न

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न।
स मम यः पापस्तद् द्विषते प्र हिण्मः।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम्॥ ३॥

१. हे **देवानां पत्नीनां गर्भ**=देवशक्तियों को अपने में धारण करनेवाले! अथवा **यमस्य कर**=यम के हस्तभूत **स्वप्न**=स्वप्न! **यः**=जो तो **भद्र!**=कल्याणकर स्वप्न है **सः मम**=वह मेरा हो। **यः पापः**=जो पाप (अशुभ) स्वप्न है **तत्**=उसको **द्विषते**=हमसे अप्रीति करनेवाले के लिए **प्रहिण्मः**=भेजते हैं। २. स्वप्न दो प्रकार के होते हैं—एक शुभ और दूसरे अशु। शुभ स्वप्न मानो अपने अन्दर दिव्यशक्तियों को धारण किये हुए हैं—ये हमें प्रभु का दर्शन करानेवाले होते हैं—ज्ञान का प्रकाश देनेवाले होते हैं। अशुभ स्वप्न हमें मृत्यु की ओर ले-जाते हैं। हम स्वप्नों में पाप कर बैठते हैं। हे स्वप्न! तू हमारे लिए **तृष्टानाम्**=वैषयिक तृष्णाओं का तथा **कृष्णशकुनेः**=काले शक्तिशाली घोर पाप का **मुखम्**=प्रवर्तक **मा असि**=मत हो। हम स्वप्न में लोभ-प्रवृत्त होकर घोर अशुभ कार्यों को करनेवाले न बन जाएँ। स्वप्न में इसप्रकार के पाप हमसे न हो जाएँ।

भावार्थ—स्वप्न शुभ व अशुभ दो प्रकार के हैं। हमें शुभ स्वप्न ही प्राप्त हों अशुभ नहीं। हम स्वप्न में भी प्रभु का दर्शन करें। स्वप्न में लोभवश अशुभ कर्म न कर रहे हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**षट्पदोष्णिग्बृहतीगर्भाविराट्शक्वरी** ॥

'देवपीयु-पियारु' अशुभस्वप्न

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स त्वं स्वप्नाश्वइव कायमश्वइव नीनाहम्।
अनास्माकं देवपीयुं पियारुं वप यदस्मासु दुःष्वप्न्यं यद्गोषु यच्च नो गृहे॥ ४॥

१. हे **स्वप्नः**=स्वप्न! **तं त्वा**=उस तुझको हम **तथा संविद्म**=उस प्रकार सम्यक् समझ लें, जिससे कि **सः त्वम्**=वह तू, हे स्वप्न! **इव**=जैसे **अश्वः**=एक घोड़ा **कायम्**=अपने रजोधूसर शरीर को कम्पित करता है, अथवा **इव**=जैसे **अश्वः**=घोड़ा **नीनाहम्**=पल्याणकवच (काठी), आदि को दूर फेंक देता है। इसी प्रकार हे स्वप्न! तू भी **अनास्माकम्**=हमारा हित न करनेवाले, **देवपीयुम्**=दिव्यगुणों का हिंसन करनेवाले **पियारुम्**=शारीरिक शक्तियों के विघातक **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत मल को **वप**=हमसे छिन्न करके दूर कर। २. **यत्**=जो भी **अस्मासु**=हममें **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों का कारणभूत मल है, **यत् गोषु**=जो भी हमारी इन्द्रियों में दोष है, **यत् च**=और जो **नः**=हमारे **गृहे**=घर में—शरीररूप गृह में—दुःष्वप्न्य है, उस सबको दूर कर।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि हमें अशुभ स्वप्न न आएँ। ये हमारे लिए हितकर न होकर हमारी उत्तम प्रवृत्तियों व शरीर की शक्तियों के विध्वंस का कारण बनते हैं।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम् ॥ छन्दः—पञ्चपदापरशाक्वराऽतिजगती ॥

'अनास्माकं' दुःष्वप्न्य

अनास्माकस्तद्देवपीयुः पियारुर्निष्कमिव प्रति मुञ्चयताम्।
नवारत्नीनपमया अस्माकं ततः परि।
दुःष्वप्न्यं सर्वं द्विषते निर्दयामसि॥ ५॥

१. दुष्ट स्वप्नों का कारणभूत मल **अनास्माकः**=हमारा अहितकर है। **तत्**=यह **देवपीयुः**=दिव्यगुणों का हिंसक है। **पियारुः**=शारीरिक शक्तियों का विनाशक है। यह दुःष्वप्न्य हमें इसप्रकार **प्रतिमुञ्चयताम्**=छोड़ दे (quit, leave, abandon) **इव**=जैसेकि **निष्कम्**=एक स्नानार्थी को गले का हार छोड़ देता है। वह जैसे हार को उतार कर अलग रख देता है, इसीप्रकार यह दुःष्वप्न्य हमसे पृथक् हो जाए। हे स्वप्न! इस दुःष्वप्न्य को **अस्माकम्**=हमारे **ततः परि**=उन इन्द्रियों व शरीरगृहों से पृथक् करके अब **नव अरत्नीन्**=नौ हाथ **अपमयाः**=दूर ले-जा (मय गतौ) न दुःष्वप्न्य होगा, न अशुभ स्वप्न आएँगे। २. **सर्वं दुःष्वप्न्यम्**=सब दुःष्वप्नों के कारणभूत मलों को **द्विषते**=शत्रु के लिए **निर्दयामसि**=अपने से बाहर भेजते हैं। यह दुःष्वप्न्य हमें छोड़कर द्विषत् पुरुषों को प्राप्त हो।

भावार्थ—दुःष्वप्न्य हमसे दूर हो, यह द्विषन् पुरुषों को प्राप्त हो।

सब दुःष्वप्न्यों को दूर करके और परिणामतः अपने से 'देवपीयुत्व व पियारु' को भी दूर करता हुआ अपने देवत्त्व का वर्धन करता हुआ यह 'ब्रह्मा' बनता है। यही अब इस काण्ड में अन्त तक सूक्तों का ऋषि है—

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'घृतस्य जूतिः समना सदेवा'

घृतस्य जूतिः समनाः सदेवाः संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः॥ १॥

१. **घृतस्य**=(घृ दीप्तौ) उस दीप्त सर्वोत्कृष्ट तेज परमात्मा का **जूतिः**=ज्ञान (**मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति** ऐ० आ० २.६.१) **समना**=(सम् अना) हमें सम्यक् प्राणित करनेवाला है। **सदेवाः**=यह ज्ञान दिव्यगुणों से युक्त है—हमें दिव्यगुणसम्पन्न बनानेवाला है। यह ज्ञान **संवत्सरम्**=हमारे जीवनकाल को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से व यज्ञों से **वर्धयन्ती**=बढ़ाता है। प्रभु का ज्ञान हमें यज्ञमय जीवनवाला बनाता है। २. इस ज्ञान के द्वारा **नः**=हमारा **श्रोत्रं चक्षुः प्राणः**=श्रोत्र, चक्षु व प्राण **अच्छिन्नः अस्तु**=अच्छिन्न हो। **वयम्**=हम **आयुषः**=आयु से **वर्चसः**=वर्चस् से **अच्छिन्नाः**=अच्छिन्न हों, अर्थात् दीर्घजीवनवाले व वर्चस्वी बनें।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञान हमें उत्तम प्राणशक्तिवाला व दिव्यगुणोंवाला बनाता है। यह हमें यज्ञशील बनाता हुआ दीर्घजीवी करता है। इससे हमें इन्द्रियों की शक्ति, प्राणशक्ति, दीर्घजीवन व वर्चस् प्राप्त हो।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—पुरोऽनुष्टुप् ॥

प्राण+वर्चस्

उपास्मान्प्राणो ह्वयतामुप वयं प्राणं हवामहे।
वर्चो जग्राह पृथिव्यन्तरिक्षं वर्चः सोमो बृहस्पतिर्विधर्त्ता ॥ २ ॥

१. **अस्मान्**=मानसयज्ञ (प्रभु-ध्यान) के प्रवर्तक हम लोगों को **प्राणः उपह्वयताम्**=शरीरधारक पञ्चवृत्तिक वायु चिरकाल के जीवन के लिए अनुज्ञा दे। **वयम्**=हम **प्राणम्**=प्राण को **उपहवामहे**=चिरकाल तक हमारे शरीरों में रहने के लिए प्रार्थित करते हैं। २. **पृथिवी**=यह हमारा शरीररूप पृथिवीलोक तथा **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष **वर्चःजग्राह**=तेजस्विता को स्वीकार करता है। **सोमः**=सौम्यता, **बृहस्पतिः**=ज्ञान, **विधर्त्ता**=विशेषरूप से धारण करनेवाला अग्नितत्त्व—ये सब **वर्चः**=तेज को धारण करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें। हमारा शरीर व हृदय वर्चस्वाला हो। 'सौम्यता, ज्ञान व अग्नितत्त्व' हमें वर्चस्वी बनाएँ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदात्रिष्टुप् ॥

यशस्वी जीवन

वर्चसो द्यावापृथिवी संग्रहणी बभूवथुर्वर्चो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम।
यशसा गावो गोपतिमुप तिष्ठन्त्यायतीर्यशो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम ॥ ३ ॥

१. **द्यावापृथिवी**=मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक दोनों **वर्चसः**=वर्चस् के **संग्रहणी बभूवथुः**=ग्रहण करनेवाले हों। मस्तिष्क व शरीर दोनों ही वर्चस्वी हों। हम **वर्चःगृहीत्वा**=वर्चस् को ग्रहण करके **पृथिवीम् अनुसंचरेम**=इस पृथिवी पर विचरण करें। हमारी प्रत्येक क्रिया-शक्ति को लिये हुए हो। २. ये **आयतीः**=चारों ओर गति करती हुई—इधर-उधर विषयों में भटकती हुई **गावः**=इन्द्रियाँ **यशसं गोपतिम्**=यशस्वी, इन्द्रियों के स्वामी के **उपतिष्ठन्ति**=समीप उपस्थित होती हैं। वस्तुतः जितेन्द्रियता के कारण ही एक व्यक्ति यशस्वी बनता है। हम **यशः**=यश को **गृहीत्वा**=ग्रहण करके ही **पृथिवीम् अनुसंचरेम**=इस पृथिवी पर विचरण करें।

भावार्थ—मेरा मस्तिष्क व शरीर दोनों वर्चस्वी हों। हम वर्चस्वी बनकर ही इस पृथिवी पर विचरें। जितेन्द्रिय बनकर हम यशस्वी हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदोष्णिग्बृहतीगर्भाविराट्शक्वरी ॥

व्रजं कृणुध्वम्, वर्म सीव्यध्वम्

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ॥ ४ ॥

१. हे इन्द्रियो! **व्रजं कृणुध्वम्**=मानसयज्ञ (प्रभु-ध्यान) के अधिष्ठानभूत इस शरीर में संघात को करो—तुम यहाँ ही संघीभूत होकर स्थित होओ। **सः हि**=वह देह ही **वः नृपाणः**=अपने-अपने विषय में प्रवर्तमान (नेतृभूत) तुम्हारा रक्षक है। **बहुला**=बहुत तथा **पृथूनि**=विस्तृत **वर्मा सीव्यध्वम्**=कवचों को सीओ। ज्ञानरूप कवचों को सीकर तुम अपना रक्षण करो। यह ज्ञानकवच ही वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित करता है। २. **पुरः**=इन शरीर-नगरियों को **आयसीः**=लोहे की बनी हुइयों को **अधृष्टाः कृणुध्वम्**=रोगरूप शत्रुओं से अधर्षणीय बना डालो। **वः**=तुम्हारा

यह **चमसः**=शरीररूप पात्र **मा सुस्त्रोत्**=स्त्रवित न हो। इसमें वीर्यरूप जल स्थिर होकर रहे। **दृंहता तम्**=उस शरीररूप पात्र को दृढ़ बनाओ।

भावार्थ—हम मानस यज्ञ में प्रवृत्त हों, जिससे इन्द्रियाँ इधर-उधर न भटककर अन्दर ही स्थित हों। हम ज्ञानकवच को धारण करके वासनारूप शत्रुओं का शिकार न हो पाएँ। हमारे शरीर मानो लोहे के बने हों। शक्ति शरीर में ही सुरक्षित रहे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

वाचा श्रोत्रेण मनसा

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः॥ ५॥

१. वे प्रभु **यज्ञस्य चक्षुः**=यज्ञ के चक्षु हैं—प्रदर्शक हैं। **प्रभृतिः**=वे ही इसके धारण करनेवाले हैं **च**=और **मुखम्**=प्रतिपादक हैं। वेदों के द्वारा प्रभु ने इन यज्ञों का उपदेश किया है। **कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि**। मैं इस यज्ञ को **वाचा**=वाणी से **श्रोत्रेण**=कानों से व **मनसाः**=मन से **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। २. **विश्वकर्मणा**=सब कर्मों को करनेवाले प्रभु से **विततम्**=विस्तृत किये गये **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यन्तु**=प्राप्त हों और **सुमनस्यमानाः**=सौमनस्य को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु ही यज्ञों के प्रदर्शक, धारक व प्रतिपादक हैं। इन यज्ञों को हम वाणी से मन्त्र बोलते हुए, कानों से प्रभु-महिमा को सुनते हुए, हृदय में प्रभु-स्मरण करते हुए करते हैं। वस्तुतः प्रभु द्वारा ही इन यज्ञों का विस्तार हुआ है। हम देव व सौमनस्यवाले बनकर इन यज्ञों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**॥

यज्ञशीलता व आनन्द

ये देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया येभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम्।
इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम्॥ ६॥

१. **ये**=जो **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों में **ऋत्विजः**=समय-समय पर यज्ञ करनेवाले हैं, **ये च**=और जो **यज्ञियाः**=यज्ञशीलों में उत्तम हैं, **येभ्यः**=जिनके लिए **हव्यम्**=हव्य ही **भागधेयम् क्रियते**=भाग नियत किया जाता है, अर्थात् जो यज्ञों को ही अपने जीवन में प्रमुख स्थान देते हैं, वे **मादयन्ताम्**=आनन्द का अनुभव करें। २. अतः **यावन्तः देवाः**=जितने भी तुम देव हो वे सब **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **पत्नीभिः सह एत्य**=अपने जीवन की संगिनियों के साथ प्राप्त होकर **तविषाः**=शक्तिशाली होते हुए (मादयन्ताम्) आनन्दित होओ।

भावार्थ—हम देववृत्ति के बनकर यज्ञशील हों, यज्ञशीलों में उत्तम बनें, यज्ञ ही हमारा भाग हो—सेव्य वस्तु हो। गृहों में हम सपत्नीक यज्ञों को करते हुए शक्ति को बढ़ाएँ और आनन्दित हों।

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

व्रतपाः-ईड्यः

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप ही **व्रतपाः असि**=व्रतों का रक्षण करनेवाले हैं। आपके अनुग्रह से ही हम अपने यज्ञ आदि उत्तम कर्मों व व्रतों का रक्षण कर पाएँगे। आप ही **मर्त्येषु**=इन मरणधर्मा प्राणियों में **आ**=समन्तात् **देवः**=जाठराग्निरूपेण व ज्ञानाग्निरूपेण दीप्त होनेवाले हैं। जाठराग्नि रूपेण दीप्त होकर आप ही 'बल' प्राप्त कराते हैं और ज्ञानाग्निरूपेण दीप्त होने पर आप ही हमारे जीवनों को ज्ञानोज्ज्वल करते हैं। २. आप ही **यज्ञेषु**=सब यज्ञों में, उत्तम कर्मों में, **ईड्यः**=उपासनीय हैं। आपकी कृपा से ही ये सब यज्ञपूर्ण होते हैं और इन यज्ञों के द्वारा ही आपकी वास्तविक अर्चना होती है।

भावार्थ—प्रभु 'व्रतपाः' हैं, 'देव' हैं, 'ईड्य' हैं। प्रभु-कृपा से ही हमारे व्रत पूर्ण होते हैं, प्रभु ही हमारे जीवनों को शक्ति व ज्ञान से द्योतित करते हैं, प्रभु ही यज्ञों के द्वारा उपासनीय हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु के अनुग्रह से व्रपालनसामर्थ्य की प्राप्ति

यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः।
अग्निष्टद्विश्वादा पृणातु विद्वान्त्सोमस्य यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ २ ॥

१. हे **देवाः**=विद्वानो! **विदुषां वः**=ज्ञानवाले आपके **व्रतानि**=कर्मों को **अविदुष्टरासः**=कर्ममार्ग को अतिशयेन न जानते हुए **वयम्**=हम **यत् प्रमिनाम**=जो हिंसा कर बैठते हैं। हे विद्वानो! 'माता, पिता, आचार्य व अतिथिरूप देवो!' हमें आपके प्रति कुछ कर्त्तव्यकर्म करने होते हैं। अज्ञानवश उन कर्मों में हम ग़लती कर बैठते हैं। २. हमारी प्रार्थना यह है कि **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **तत् आपृणातु**=उस लुप्तकर्म को पूर्ण करें। प्रभु-कृपा से हमें उस कर्म की अपूर्णता को दूर करने का सामर्थ्य प्राप्त हो। वे प्रभु हमारे इन कर्मों को पूर्ण करें जोकि **विश्वात्**=सम्पूर्ण संसार में गतिवाले हैं (विश्व+अत्)। **सोमस्य विद्वान्**=हमारी सौम्यता को जानते हैं—हमने जानबूझकर अभिमान से व्रतों को तोड़ा हो, ऐसी बात नहीं है। वे प्रभु हमारे इन व्रतों को पूर्ण करें **यः**=जोकि **ब्राह्मणान् आविवेश**=ज्ञानी पुरुषों के हृदयों में आविष्ट होते हैं।

भावार्थ—हम अज्ञानवश 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' आदि के विषय में कर्त्तव्यकर्मों को पूर्ण न कर सकें तो वे प्रभु हमें सामर्थ्य दें कि हम इन्हें पूर्ण कर सकें। वस्तुतः प्रभु-कृपा से ही हम इन्हें पूर्ण कर पाएँगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवों के मार्ग पर

आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्रवाम तदनुप्रवोढुम्।
अग्निर्विद्वान्त्स यजात्स इद्धोता सो ऽध्वरान्त्स ऋतून्कल्पयाति ॥ ३ ॥

१. हम **देवानाम्**=देवों के—ज्ञानियों के **पन्थाम्**=मार्ग को **अपि**=ही **आ आगन्म**=सर्वथा प्राप्त हों। **यत् शक्नवाम**=जिस कर्म को करने में समर्थ हों, **तत्**=उस कर्म को **अनु प्रवोढुम्**=अनुक्रम से वहन करने के लिए विद्वानों के मार्ग का ही अनुसरण करें। शक्ति होने पर भी, ज्ञानियों का संपर्क न होने पर, हम ग़लत कर्म कर बैठेंगे। वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **विद्वान्**=ज्ञानी हैं। **सः यजात्**=उनका हमारे साथ संगतिकरण हो। प्रभु के मेल से ही तो हमें सामर्थ्य प्राप्त होगा। **सः इत् होता**=वे प्रभु ही सब-कुछ देनेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु ही **अध्वरान्**=यज्ञों को **कल्पयाति**=करते हैं—हमारे माध्यम से प्रभु ही यज्ञों को करते हैं। **सः ऋतून्**=वे प्रभु ही यज्ञों के लिए अवसरों

को देते हैं।

भावार्थ—देवों के मार्ग पर चलते हुए हम शक्ति को यज्ञों की पूर्ति में ही लगाएँ। प्रभु के सम्पर्क में स्थित होकर शक्ति प्राप्त करें। प्रभु को ही यज्ञों का करनेवाला जानें। प्रभु ही यज्ञों के लिए अवसरों को प्राप्त कराते हैं।

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वागादिमन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

सशक्त अङ्ग

वाङ्‌ म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥ १॥

१. प्रभु-कृपा से **मे आसन्**=मेरे मुख में **वाक्**=बोलने की शक्ति हो, **नसोः प्राणः**=नासिका-छिद्रों में प्राणशक्ति हो, **अक्ष्णोः**=आँखों में **चक्षुः**=दर्शनशक्ति हो और **कर्णयोः श्रोत्रम्**=कानों में सुनने की शक्ति हो। ३. मेरे **केशाः**=केश **अ-पलिताः**=क्षोभ आदि व जीर्णता से पलित (भूरे-से) न हो जाएँ। **दन्ताः अशेणाः** (शोण गतौ)=दाँत हिल न जाएँ अथवा मलिन होकर रक्त-से वर्ण के न हो जाएँ। मेरी **बाह्वोः**=भुजाओं में **बहु बलम्**=बहुत बल हो।

भावार्थ—मैं सर्वांग व अजीर्ण-शक्ति होता हुआ यज्ञादि उत्तम कर्म करता रहूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वागादिमन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीपुरउष्णिक्** ॥

सोत्साह मन

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा। अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः॥ २॥

१. **ऊर्वो**=मेरे ऊरू प्रदेशों में (Thigh)—घुटने से ऊपर जाँघों में **ओजः**=ओज हो। **जङ्घयोः जवः**=घुटने से नीचे टाँगों में (Shanks) **जवः**=वेग हो। **पादयोः प्रतिष्ठाः**=पाँवों में जमाव (दृढ़ता) हो। २. **मे**=मेरे **सर्वा**=सब अंग **अरिष्टानि**=अहिंसित हों। **आत्मा**=मन भी **अनिभृष्टः** (भृश अधःपतने)=नीचे गिरा हुआ—उत्साहशून्य—न हो। मेरा मन सदा सोत्साह बना रहे। **भृश्यति** (to fall down) मैं कभी निरुत्साहित न हो जाऊँ।

भावार्थ—मेरे ऊरूप्रदेश ओजवाले हों, जाँघें वेगवाली हों, पाँव जमकर पड़ें। सब अंग बड़े ठीक हों और मेरा मन सदा उत्साह से युक्त हो।

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

पवमानः स्वर्गे

तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय। स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे॥ १॥

१. हे प्रभो! **मे तनूः**=मेरा शरीर **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार से युक्त हो। **दतः** (दन्ताः)=दाँत **सहे**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले हों—इन दन्तपंक्तियों में कीड़े न लग जाएँ—दाँत दृढ़ बने रहें और इसप्रकार मैं **सर्वं आयुः**=पूर्ण जीवन को **अशीय**=प्राप्त करूँ। २. हे प्रभो! **स्योनम्**=मेरे सुखसम्पन्न मानस में—प्रसादयुक्त मन में **सीद**=आप आसीन होइए। **पुरुः**=पालन व पूरण करनेवाले **पृणस्व**=हमें पूर्ण कीजिए—हमारी न्यूनताओं को दूर कीजिए। **स्वर्गे**=सुखमयलोक में **पवमानः**=आप हमें पवित्र करनेवाले हों। सुखों में आसक्त होकर हम मार्गभ्रष्ट न हो जाएँ।

भावार्थ—हमारा शरीर शक्तियों के विस्तारवाला हो, दाँत दृढ़ हों ताकि हम पूर्ण जीवन

प्राप्त करें। मेरे प्रसन्न मन में प्रभु का आसन हो, वे मेरी न्यूनताओं को दूर करें और स्वर्ग में स्थित मुझे पवित्र बनाए रखें।

६२. [द्विषष्टितं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

सर्वप्रियत्व

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ १॥

१. हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **देवेषु**=ज्ञानी ब्राह्मणों में **प्रियं कृणु**=प्रिय कीजिए। **मा**=मुझे **राजसु**=राज्य की व्यवस्था करनेवाले क्षत्रियवर्ग में **प्रियं कृणु**=प्रिय कीजिए। ज्ञान की रुचिवाला बनकर मैं ब्राह्मणों का प्रिय बनूँ और राष्ट्र के नियमों का पालन करता हुआ इन राजाओं का प्रिय बनूँ। २. मुझे आप **पश्यतः सर्वस्य**=देखनेवाले सबका **प्रियम्** (कृणु)=प्रिय बनाइए। जो मुझे देखे, वह एकदम मेरे प्रति प्रीतिवाला ही बन जाए। मेरे स्वभाव की सरलता व प्रसन्नता मुझे सबका प्रिय बनादे। **उत शूद्रे**=शूद्रों में भी मुझे प्रिय बनाइए, **उत अर्ये**=और वैश्यों में भी मुझे प्रिय बनाइए। किसी मज़दूर को कभी कम मज़दूरी देनेवाला न होऊँ।

भावार्थ—मैं ज्ञानरुचिवाला बनकर ब्राह्मणों का प्रिय बनूँ। राष्ट्र के नियमों का पालन करता हुआ क्षत्रियों का प्रिय बनूँ। शुद्ध व्यवहार द्वारा शूद्रों व वैश्यों का भी प्रिय होऊँ। सरलता व प्रसादमयता से सब देखनेवालों का प्रिय होऊँ।

६३. [त्रिषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः॥ छन्दः—विराडुपरिष्टाद्बृहती॥

ब्रह्मणस्पति का कर्त्तव्य='उद्बोधन'

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान्यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं य वर्धय॥ १॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के रक्षक ज्ञानी ब्राह्मण! **उत्तिष्ठ**=तू उठ खड़ा हो। आलस्य में न पड़ा रह अथवा केवल अपना वेदपाठ ही न करता रह। **यज्ञेन**=(संगतिकरण, दान) प्रजा के लोगों के सम्पर्क से तथा उन्हें ज्ञान देने के द्वारा—इस यज्ञ से **देवान् बोधय**=प्रजाओं में दिव्यवृत्तियों को जागरित कर। उन्हें देव बनाने का यत्न कर। 'प्रजाजनों को उत्तम आचरण की ओर प्रवृत्तिवाला करना' यह ब्राह्मण का सर्वमहान् कर्तव्य है। २. तू ज्ञान देने के द्वारा **आयुः**=आयु को, **प्राणम्**=प्राणशक्ति को, **प्रजाम्**=प्रजाओं—सन्तानों को, **पशून्**=उत्तम गवादि पशुओं को **कीर्तिम्**=यश को **च**=और **यजमानम्**=यज्ञशील पुरुष को **वर्धय**=बढ़ा। उन बातों का तू ज्ञान दे जिनसे कि आयु आदि की वृद्धि हो।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मण राष्ट्र में ज्ञान का प्रचार करता हुआ 'आयु, प्राण' आदि की वृद्धि का कारण बने।

६४. [चतुःषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यज्ञ से 'श्रद्धा व मेधा' की प्राप्ति

अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्र यच्छतु॥ १॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **बृहते**=वृद्धि की कारणभूत, **जातवेदसे**=सब धनों (वेदस्=wealth)

को उत्पन्न करनेवाले तेरे लिए मैं **समिधम् आहार्षम्**=समिन्धनसाधन काष्ठ को लाया हूँ, अर्थात् मैं इस यज्ञाग्नि की वृद्धि का कारणभूत व सब धनों का जन्मदाता समझकर यज्ञ में प्रवृत्त हुआ हूँ। २. **सः**=वह **जातवेदाः**=धनों का जन्मदाता अग्नि **मे**=मेरे लिए **श्रद्धाम्**=(श्रत्, सत्यं दधाति) सत्यज्ञान को धारण करने की शक्ति को **च**=और **मेधां च**=ज्ञान को समझनेवाली बुद्धि को भी **प्रयच्छतु**=दे। अग्निहोत्र से सब वातावरण की पवित्रता के कारण 'श्रद्धा और मेधा' की प्राप्ति होती ही है।

भावार्थ—हम वृद्धि के कारणभूत, सब धनों के दाता यज्ञाग्नि को अपने घरों में समिद्ध करें। यह मेरे लिए 'श्रद्धा और मेधा' को प्राप्त कराए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञ से 'प्रजा व धन' की प्राप्ति

इध्मेन त्वा जातवेदः समिधा वर्धयामसि।

तथा त्वमस्मान्वर्धय प्रजया च धनेन च॥ २॥

१. हे **जातवेदः**=सब धनों के जन्मदाता यज्ञाग्ने! हम **त्वा**=तुझे **इध्मेन**=ईंधन के साधनभूत **समिधा**=काष्ठ से **वर्धयामसि**=बढ़ाते हैं। २. जैसे हम तुझे समिधा से बढ़ाते हैं **तथा**=उसी प्रकार **त्वम्**=तू **अस्मान्**=हमें **प्रजया**=उत्तम सन्तानों से **च**=तथा **धनेन च**=धन से भी **वर्धय**=बढ़ा।

भावार्थ—अग्निहोत्र से उत्तम सन्तान व धन की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञाग्नि की प्रियता का सम्पादन

यदग्ने यानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि।

सर्वं तदस्तु मे शिवं तज्जुषस्व यविष्ठ्य॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **ते**=तेरे लिए **यानि कानि चित् दारूणि**=जिन किन्हीं भी (यज्ञिय व अयज्ञिय) काष्ठों को **यत्**=जब **आदध्मसि**=धारण करते हैं, **सर्वं तत्**=वह सब काष्ठ **मे शिवम्**=मेरे लिए कल्याणकर ही **अस्तु**=हो। जहाँ तक सम्भव होता है वहाँ तक हम यज्ञिय काष्ठों का ही प्रयोग करते हैं, परन्तु विवशता में दूसरे काष्ठों का प्रयोग भी हमारे लिए हानिकर न हो। अग्नि की छेदकशक्ति दोष को दूर करनेवाली हो। २. हे **यविष्ठ्य**=बुराइयों को दूर करनेवालों में सर्वाग्रणी अग्ने! तू **तत्**=उस काष्ठ को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर। विवशता में अयज्ञिय काष्ठ के प्रयोग से हम यज्ञाग्नि के अप्रिय न हो जाएँ।

भावार्थ—हम यज्ञ में यज्ञिय काष्ठों का ही प्रयोग करें। विवशता में अन्य काष्ठों का प्रयोग हमारे लिए हानिकर न हो। (कुछ कम लाभ तो होगा ही)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'आयुः अमृतत्वम्' आचार्याय

एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिद्धः समिद्भव। आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्याय॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **एताः**=ये **ते**=तेरे लिए **समिधः**=समिधाएँ हैं। **त्वम्**=तू **इद्धः**=प्रज्वलित किया हुआ **समित् भव**=सम्यक् दीप्तिवाला हो (बृहत् शोच)। २. हे समिद्ध अग्ने! **अस्मासु**=हममें **आयुः धेहि**=दीर्घजीवन को धारण कर तथा **अ-मृत त्वम्**=नीरोगता को धारण कर। यह दीर्घजीवन व नीरोगता **आचार्याय**=समन्तात् ज्ञान के चरण व सदाचार के ग्रहण के लिए हो। हम इस जीवन को ज्ञान-प्रधान बना पाएँ।

भावार्थ—हम अग्निकुण्ड में यज्ञाग्नि को समिद्ध करें। यह यज्ञाग्नि हमें नीरोगता व दीर्घजीवन दे। यह नीरोग दीर्घजीवन 'ज्ञान व सदाचार' के ग्रहण के लिए हो।

६५. [पञ्चषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यो जातवेदाः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अर्चिषा-हरसा

हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम्।
अव तां जहि हरसा जातवेदोऽबिभ्यदुग्रोऽर्चिषा दिवमा रोह सूर्य॥ १॥

१. **हरिः**=ब्रह्मचर्याश्रम में अपने अज्ञानान्धकार का स्वाध्याय द्वारा हरण करनेवाले और पुनः गृहस्थ में **सुपर्णः**=उत्तम पालनादि कर्मों में प्रवृत्त जीव! तू **अर्चिषा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **दिवम् आरुहः**=द्युलोक का आरोहण कर। पृथिवीलोक से अन्तरिक्षलोक में, अन्तरिक्षलोक से द्युलोक में तथा द्युलोक से तूने प्रकाशमय ब्रह्मलोक में पहुँचना है। २. **दिवम् उत्पतन्तम्**=इस प्रकाशमय लोक की ओर ऊपर उठते हुए **त्वा**=तुझको **ये**=जो काम, क्रोध व लोभरूप शत्रु **दिप्सन्ति**=हिंसित करना चाहते हैं, **तान्**=उनको **हरसा**=तेज के द्वारा **अवजहि**=सुदूर विनष्ट करनेवाला हो। ३. हे **जातवेदः**=वानप्रस्थ में स्वाध्याय में नित्ययुक्त होने से उत्पन्न ज्ञानवाले **सूर्य**=संन्यास में सूर्य के समान ज्ञानदीप्त पुरुष! अब तू **अबिभ्यत्**=निर्भय होकर **उग्रः**=तेजस्वी व शत्रुभयंकर होता हुआ **दिवम् आरोह**=इस प्रकाशमय पद पर आरोहण कर।

भावार्थ—हम 'हरि, सुपर्ण, जातवेदाः व सूर्य' बनते हुए ज्ञानदीप्ति व शत्रुसंहारक तेज से काम आदि का विध्वंस करके प्रकाशमय लोक का आरोहण करें।

६६. [षट्षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यो जातवेदा, वज्रः**॥ छन्दः—**अतिजगती**॥

दुष्टों का दण्डन व प्रजा-रक्षण

अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरङ्किनो ये चरन्ति।
तांस्ते रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रभृष्टिः सपत्नान्प्रमृणन्पाहि वज्रः॥ १॥

१. **अयोजालाः**=लोहे के जालवाले **असुराः**=आसुरवृत्तिवाले **मायिनः**=छली-कपटी **अयस्मयैः पाशैः**=लोहे के बने पाशों के साथ **अङ्किनः**=कुटिल गति करते हुए **ये**=जो **चरन्ति**=राष्ट्र में औरों को पीड़ित करते हुए घूमते हैं, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **तान्**=उनको **ते**=आपके **हरसा**=तेज से **रन्धयामि**=वशीभूत करता हूँ। राजा, प्रभु का स्मरण करता हुआ—प्रभु से तेज प्राप्त करके, प्रजापीड़क छली, आसुरवृत्ति के लोगों को दण्ड द्वारा वशीभूत करे। २. प्रजा राजा से यही निवेदन करती है कि **सहस्रभृष्टिः**=हज़ारों भालोंवाला **वज्रः**=(व्रजं अस्य अस्ति इति) वज्रहस्त तू **सपत्नान्**=शत्रुओं को **प्रमृणत्**=कुचलता हुआ **पाहि**=प्रजा का रक्षण कर।

भावार्थ—राजा, दुष्टों को दण्डित करता हुआ, प्रजा का रक्षण करे। सुरक्षित प्रजा न्याय्य-मार्ग पर आगे और आगे बढ़े।

६७. [सप्तषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**प्राजापत्यागायत्री**॥

दीर्घ व प्रशस्त जीवन

पश्येम शरदः शतम्॥ १॥　　**जीवेम शरदः शतम्॥ २॥**

बुध्येम शरदः शतम्॥ ३॥ रोहेम शरदः शतम्॥ ४॥
पूषेम शरदः शतम्॥ ५॥ भवेम शरदः शतम्॥ ६॥
भूयेम शरदः शतम्॥ ७॥ भूयसीः शरदः शतात्॥ ८॥

१. शतवर्षपर्यन्त हमारी देखने की शक्ति ठीक बनी रहे।

२. शतवर्षपर्यन्त हमारी जीवनशक्ति ठीक बनी रहे।

३. शतवर्षपर्यन्त हमारी बोधशक्ति ठीक (mentally alert) बनी रहे।

४. हम शतवर्षपर्यन्त उत्तरोत्तर प्ररूढ़—प्रबुद्ध होते चलें।

५. हम शतवर्षपर्यन्त उत्तरोत्तर पोषण को प्राप्त करें।

६. हम शतवर्षपर्यन्त बने रहें। हमारी सत्ता विनष्ट न हो जाए। फूलें-फलें (to be prosperous)

७. हम शतवर्षपर्यन्त शुद्ध जीवनवाले हों (to be purified)।

८. सौ वर्ष से अधिक काल तक भी इसीप्रकार हमारी शक्तियाँ स्थिर रहें।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम शतवर्षपर्यन्त व सौ से अधिक वर्षों तक शक्तियों को स्थिर रखते हुए समृद्ध व पवित्र जीवनवाले हों।

६८. [अष्टषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'हृदय गुहा' के अन्धकार को दूर करना

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे॥ १॥

१. **अव्यसः च** (अव्यचसः)=अव्याप्त, परिच्छिन्न जीवात्मा के **व्यचसः च**=और व्याप्त परमात्मा के **बिलम्**=उपलब्धिस्थान हृदय को **मायया**=अज्ञान से **विष्यामि**=विमुक्त (विरहित) करता हूँ। हृदय के अज्ञानावृत होने पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य विभाग ही नहीं होता, अतः कार्याकार्य विभाग के ज्ञान के शत्रुभूत इस मूढभाव को दूर करता हूँ। २. **ताभ्याम्**=जीवात्मा व परमात्मा के ज्ञान के हेतु से **वेदम्**=ज्ञान को **उद्धृत्य**=सम्पादित करके **अथ**=अब उस ज्ञान के अनुसार **कर्माणि कृण्महे**=हम अपने कर्त्तव्यकर्मों को करते हैं। ज्ञानपूर्वक कर्म करना ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम अपनी हृदय-गुहा को अज्ञान से मुक्त करके आत्मा व परमात्मा का दर्शन करें। इसी उद्देश्य से ज्ञानपूर्वक कर्मों में व्यापृत रहें।

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आपः॥ छन्दः—१ आसुर्यनुष्टुप्, २ साम्न्यनुष्टुप्, ३ आसुरीगायत्री, ४ साम्न्युष्णिक्॥

आपः=आप्त लोगों का जीवन

जीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्॥ १॥

१. हे **आपः**=आप्तविद्वान् जनो! आप **जीवाः स्थ**=जीवनशक्तिसम्पन्न हो। मैं भी **जीव्यासम्**=जीवनशक्तिसम्पन्न बनूँ। **सर्वम् आयुः जीव्यासम्**=पूर्ण जीवन को जीनेवाला बनूँ।

उपजीवन

उपजीवा स्थोप जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्॥ २॥

२. हे (आपः) आप्तजनो! आप **उपजीवाः स्थ**=प्रभु के सान्निध्य में जीवन बितानेवाले हो। **उपजीव्यासम्**=मैं भी प्रभु की समीपता में जीवन बिताऊँ। **सर्वम् आयुः जीव्यासम्**=और पूर्ण जीवन प्राप्त करूँ।

संजीवन

संजीवा स्थ सं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्॥ ३॥

३. हे (आपः) आप्तजनो! आप **संजीवाः स्थ**=औरों के साथ मिलकर जीनेवाले हो अथवा सम्यक् जीवनवाले हो। एक क्षण को भी आप व्यर्थ नहीं करते। परोपकार में प्रवृत्त हुए-हुए आप जीवन को सम्यक् बिताते हो। **संजीव्यासम्**=मैं भी सबके साथ मिलकर जीनेवाला बनूँ। **सर्वम् आयुः जीव्यासम्**=पूर्ण जीवन को जीनेवाला बनूँ।

जीवन

जीवला स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्॥ ४॥

४. हे (आपः) आप्तजनो! आप **जीवलाः स्थ**=जीवनशक्ति का उपादान करनेवाले हो, मैं भी **जीव्यासम्**=जीवनशक्ति का उपदान करता हुआ जीऊँ। **सर्वम् आयुः जीव्यासम्**=पूर्ण जीवन जीऊँ।

भावार्थ—हम आप्तजनों की भाँति जीवनशक्तिसम्पन्न बनें। प्रभु के सान्निध्य में जीवन को बिताएँ। सम्यक् जीवनवाले हों। जीवनशक्ति का उपादान करनेवाले हों। इसप्रकार पूर्णजीवन को प्राप्त करें।

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—गायत्री॥

इन्द्र, सूर्य, देव

इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा जीव्यासमहम्। सर्वमायुर्जीव्यासम्॥ १॥

१. **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता! **जीव**=तू जी, अर्थात् जीवन तो उसी का ठीक है जोकि जितेन्द्रिय है। **सूर्य**=सूर्य के समान ज्ञानदीप्त जीवनवाले पुरुष! **जीव**=तू जी। जीवन तो उसी का ठीक है जोकि अन्धकारशून्य है। **देवाः**=हे देववृत्ति के पुरुषो! **जीवाः**=तुम जीवनवाले हो, अर्थात् वस्तुतः जीवन तो तुम्हारा ही ठीक है। २. **अहम्**=मैं भी **जीव्यासम्**='इन्द्र' बनकर, 'सूर्य' बनकर तथा 'देव' बनकर जीऊँ। **सर्वम् आयुः जीव्यासम्**=मैं पूर्ण जीवन जीनेवाला बनूँ। पूर्णजीवन वही है जिसमें इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में ठीक प्रकार लगी हैं, मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से दीप्त है, हृदय दिव्यवृत्तियों से द्योतित है।

भावार्थ—हम 'इन्द्र, सूर्य व देव' बनकर पूर्णजीवन प्राप्त करें। इन्द्रियाँ हमारे वश में हों। हमारा मस्तिष्क ज्ञान-सूर्य से चमके। हमारा मन दिव्यवृत्तिवाला हो।

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—पञ्चपदाऽतिजगती॥

वरदा वदेमाता

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ १॥

१. प्रभु कहते हैं कि **मया**=मैंने यह **वरदा**=सब उत्तम पदार्थों को देनेवाली **वेदमाता**=वेदरूप माता तुम्हारे लिए **प्रस्तुता**=प्रस्तुत की है। यह **चोदयन्ताम्**=तुम्हें प्रेरणा देनेवाली हो। यह **द्विजानाम् पावमानी**=द्विजों—अध्ययनशील पुरुषों को पवित्र करनेवाली है। २. यह तुम्हारे लिए **आयुः**=दीर्घजीवन देगी। **प्राणम्**=प्राणशक्ति देगी। **प्रजाम्**=उत्तम सन्तति को प्राप्त कराएगी। **पशुम्**=यह उत्तम गवादि पशुओं को देनेवाली होगी। **कीर्तिम्**=यह तुम्हारे जीवन को यशस्वी करेगी। **द्रविणम्**=यह तुम्हें धन प्राप्त कराएगी और **ब्रह्मवर्चसम्**=ब्रह्मतेज प्राप्त कराएगी। २. साथ ही यदि तुम इन वस्तुओं का गर्व न करके इन्हें मुझसे दिया हुआ जानोगे और इन्हें मेरे प्रति ही अर्पण करनेवाले होओगे तो इन सब वस्तुओं को **मह्यं दत्त्वा**=मेरे अर्पण करके **ब्रह्मलोकं व्रजत**=तुम ब्रह्मलोक को प्राप्त करो।

भावार्थ—हम वेदमाता की प्रेरणा को सुनकर 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' को प्राप्त करें। इन सब वस्तुओं का गर्व न करते हुए इन्हें प्रभु-अर्पण करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**परमात्मा देवाश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वह ज्ञान का महान् कोश

यस्मा॒त्कोशा॑दु॒दभ॑राम॒ वेदं॒ तस्मि॑न्न॒न्तरव॑ दध्म एनम्।
कृ॒तमि॒ष्टं ब्रह्म॑णो वी॒र्ये॑ण॒ तेन॑ मा देवा॒स्तप॑सावते॒ह॥ १॥

१. **यस्मात् कोशात्**=जिस महान् कोश—ज्ञान के भण्डार से **वेदं उद् अभराम**=हमने वेद का उद्भरण किया था, **तस्मिन् अन्तः**=उसी प्रभु में **एनम् अवदध्म**=इसे स्थापित करते हैं। प्रतिदिन हम प्रभु-स्मरण के साथ वेदाध्ययन करें और समाप्ति पर पुनः प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें। २. हमने वस्तुतः **ब्रह्मणः**=उस ब्रह्म के **वीर्येण**=पराक्रम से ही **कृतम्**=सर्व कर्म किया है, **इष्टम्**=उसी के वीर्य से सब यज्ञों का सम्पादन हुआ है। हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **तेन तपसा**=उस ज्ञानमय तप से **मा**=मुझे **इह**=इस जीवन में **अवत**=रक्षित करो। वेदाध्ययन ही मेरा तप हो। यह तप मेरा रक्षण करे।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रभु-स्मरण के साथ वेदाध्ययन का आरम्भ करें। समाप्ति पर भी प्रभु-स्मरण करें। वेदज्ञान के अनुसार यज्ञादि कर्मों को करें। यह वेदाध्ययन ही हमारा तप हो। इसके द्वारा हम अपना रक्षण कर पाएँ।

इति पञ्चत्रिंशः प्रपाठकः॥

॥ इत्येकोनविंशं काण्डम्॥

अथ विंशं काण्डम्

अथ षट्त्रिंशः प्रपाठकः

अथर्ववेद के १९वें काण्ड की समाप्ति पर वेद की समाप्ति स्पष्ट झलकती है। प्रभु ने वहाँ कहा कि **'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्'**=मैंने यह वरदा वेदमाता तुम्हारे सामने प्रस्तुत कर दी है। यह तुम्हें प्रेरणा दे। द्विजों को यह पवित्र करनेवाली हो। **'आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्'** यह तुम्हें आयुष्य आदि सातों रत्नों को प्राप्त कराएगी और **'मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्'** इन सातों रत्नों को मेरे प्रति अर्पण करने पर तुम्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी। इसप्रकार फलश्रुति वेद के अन्त को स्पष्ट कर रही है। स्वयं वेद ही कहता है कि **'यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्। कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह'**=जिस कोश से हमने वेद को निकाला था, अध्ययन की समाप्ति पर इसे उसी में धर देते हैं। वेदज्ञान की शक्ति से हमने इष्ट कर्मों को किया। उस तप के द्वारा सब देव यहाँ मेरा रक्षण करें।

इन शब्दों में वेद की समाप्ति स्पष्ट है। फिर यह २० वाँ काण्ड क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इसप्रकार दिया जा सकता है कि जैसे एक पिता विदेश-यात्रा पर जानेवाले सन्तान को बहुत कुछ बातें समझाता है। समझाने में आवश्यक बातों पर फिर बल देता है और अन्त में यही कहता है कि पूरा ध्यान करना—मैंने जो आवश्यक था, समझा ही दिया है। इसका ध्यान करने में ही तुम्हारा भला है। अब युवक चल पड़ता है—कदम आगे बढ़ा देता है। उस समय पिता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात की ओर एक बार फिर ध्यान करा देता है। इसी प्रकार ऋग्वेद द्वारा प्रकृति का ज्ञान दे दिया गया, यजुर्वेद द्वारा कर्त्तव्यों का उपदेश हो गया, जीव का सारा ज्ञान प्राप्त करा दिया गया। साम से प्रभु की उपासना भी हो गई। 'रोगों व युद्धों के आ जाने पर इन विघ्नों का क्या प्रतिकार करना', यह अथर्व द्वारा बतला दिया गया। अब हम जीवन-यात्रा पर चल ही पड़े तो प्रभु ने चलते-चलते एक बार फिर ध्यान कराया कि 'सोम का रक्षण सर्वमहान् कर्त्तव्य है', इसे न भूल जाना। बस यही बीसवाँ काण्ड है। प्रारम्भ करते हैं—

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

विश्वामित्र

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे। स पाहि मध्वो अन्धसः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **वृषभं त्वा**=सब सुखों का सेचन करनेवाले आपको **सोमे सुते**=सोम के सम्पादन के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। आपका आराधन ही सोम-रक्षण का प्रमुख साधन है। २. **सः**=वे आप **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **अन्धसः**= इस आध्यातव्य (to be taken care of) सोम का **पाहि**=रक्षण कीजिए। आपकी उपासना करते हुए हम जीवन में वासनाओं का शिकार होने से बचें और सोम का रक्षण कर पाएँ। यह सोमरक्षक पुरुष किसी के प्रति राग-द्वेषवाला नहीं होता—'विश्वामित्र' होता है। यही इस मन्त्र

१. प्रभु कहते हैं कि **मया**=मैंने यह **वरदा**=सब उत्तम पदार्थों को देनेवाली **वेदमाता**=वेदरूप माता तुम्हारे लिए **प्रस्तुता**=प्रस्तुत की है। यह **चोदयन्ताम्**=तुम्हें प्रेरणा देनेवाली हो। यह **द्विजानाम् पावमानी**=द्विजों—अध्ययनशील पुरुषों को पवित्र करनेवाली है। २. यह तुम्हारे लिए **आयुः**=दीर्घजीवन देगी। **प्राणम्**=प्राणशक्ति देगी। **प्रजाम्**=उत्तम सन्तति को प्राप्त कराएगी। **पशुम्**=यह उत्तम गवादि पशुओं को देनेवाली होगी। **कीर्तिम्**=यह तुम्हारे जीवन को यशस्वी करेगी। **द्रविणम्**=यह तुम्हें धन प्राप्त कराएगी और **ब्रह्मवर्चसम्**=ब्रह्मतेज प्राप्त कराएगी। ३. साथ ही यदि तुम इन वस्तुओं का गर्व न करके इन्हें मुझसे दिया हुआ जानोगे और इन्हें मेरे प्रति ही अर्पण करनेवाले होओगे तो इन सब वस्तुओं को **मह्यं दत्त्वा**=मेरे अर्पण करके **ब्रह्मलोकं व्रजत**=तुम ब्रह्मलोक को प्राप्त करो।

भावार्थ—हम वेदमाता की प्रेरणा को सुनकर 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' को प्राप्त करें। इन सब वस्तुओं का गर्व न करते हुए इन्हें प्रभु-अर्पण करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**परमात्मा देवाश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वह ज्ञान का महान् कोश

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्ये ऽण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥ १ ॥

१. **यस्मात् कोशात्**=जिस महान् कोश—ज्ञान के भण्डार से **वेदं उद् अभराम**=हमने वेद का उद्भरण किया था, **तस्मिन् अन्तः**=उसी प्रभु में **एनम् अवदध्म**=इसे स्थापित करते हैं। प्रतिदिन हम प्रभु-स्मरण के साथ वेदाध्ययन करें और समाप्ति पर पुनः प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें। २. हमने वस्तुतः **ब्रह्मणः**=उस ब्रह्म के **वीर्येण**=पराक्रम से ही **कृतम्**=सर्व कर्म किया है, **इष्टम्**=उसी के वीर्य से सब यज्ञों का सम्पादन हुआ है। हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **तेन तपसा**=उस ज्ञानमय तप से **मा**=मुझे **इह**=इस जीवन में **अवत**=रक्षित करो। वेदाध्ययन ही मेरा तप हो। यह तप मेरा रक्षण करे।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रभु-स्मरण के साथ वेदाध्ययन का आरम्भ करें। समाप्ति पर भी प्रभु-स्मरण करें। वेदज्ञान के अनुसार यज्ञादि कर्मों को करें। यह वेदाध्ययन ही हमारा तप हो। इसके द्वारा हम अपना रक्षण कर पाएँ।

इति पञ्चत्रिंशः प्रपाठकः ॥

॥ इत्येकोनविंशं काण्डम् ॥

अथ विंशं काण्डम्

अथ षट्त्रिंशः प्रपाठकः

अथर्ववेद के १९वें काण्ड की समाप्ति पर वेद की समाप्ति स्पष्ट झलकती है। प्रभु ने वहाँ कहा कि **'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्'**=मैंने यह वरदा वेदमाता तुम्हारे सामने प्रस्तुत कर दी है। यह तुम्हें प्रेरणा दे। द्विजों को यह पवित्र करनेवाली हो। **'आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्'** यह तुम्हें आयुष्य आदि सातों रत्नों को प्राप्त कराएगी और **'मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्'** इन सातों रत्नों को मेरे प्रति अर्पण करने पर तुम्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी। इसप्रकार फलश्रुति वेद के अन्त को स्पष्ट कर रही है। स्वयं वेद ही कहता है कि **'यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्। कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह'**=जिस कोश से हमने वेद को निकाला था, अध्ययन की समाप्ति पर इसे उसी में धर देते हैं। वेदज्ञान की शक्ति से हमने इष्ट कर्मों को किया। उस तप के द्वारा सब देव यहाँ मेरा रक्षण करें।

इन शब्दों में वेद की समाप्ति स्पष्ट है। फिर यह २० वाँ काण्ड क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इसप्रकार दिया जा सकता है कि जैसे एक पिता विदेश-यात्रा पर जानेवाले सन्तान को बहुत कुछ बातें समझाता है। समझाने में आवश्यक बातों पर फिर बल देता है और अन्त में यही कहता है कि पूरा ध्यान करना—मैंने जो आवश्यक था, समझा ही दिया है। इसका ध्यान करने में ही तुम्हारा भला है। अब युवक चल पड़ता है—कदम आगे बढ़ा देता है। उस समय पिता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात की ओर एक बार फिर ध्यान करा देता है। इसी प्रकार ऋग्वेद द्वारा प्रकृति का ज्ञान दे दिया गया, यजुर्वेद द्वारा कर्त्तव्यों का उपदेश हो गया, जीव का सारा ज्ञान प्राप्त करा दिया गया। साम से प्रभु की उपासना भी हो गई। 'रोगों व युद्धों के आ जाने पर इन विघ्नों का क्या प्रतिकार करना', यह अथर्व द्वारा बतला दिया गया। अब हम जीवन-यात्रा पर चल ही पड़े तो प्रभु ने चलते-चलते एक बार फिर ध्यान कराया कि 'सोम का रक्षण सर्वमहान् कर्त्तव्य है', इसे न भूल जाना। बस यही बीसवाँ काण्ड है। प्रारम्भ करते हैं—

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

विश्वामित्र

इन्द्र॑ त्वा वृष॒भं व॒यं सु॒ते सोमे॑ हवामहे। स पा॑हि॒ मध्वो॒ अन्ध॑सः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **वृषभं त्वा**=सब सुखों का सेचन करनेवाले आपको **सोमे सुते**=सोम के सम्पादन के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। आपका आराधन ही सोम-रक्षण का प्रमुख साधन है। २. **सः**=वे आप **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **अन्धसः**= इस आध्यातव्य (to be taken care of) सोम का **पाहि**=रक्षण कीजिए। आपकी उपासना करते हुए हम जीवन में वासनाओं का शिकार होने से बचें और सोम का रक्षण कर पाएँ। यह सोमरक्षक पुरुष किसी के प्रति राग-द्वेषवाला नहीं होता—'विश्वामित्र' होता है। यही इस मन्त्र

का ऋषि है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण करते हुए हम वासनाओं से अनाक्रान्त जीवनवाले और सोम-रक्षण करने के द्वारा विश्वामित्र बनें।

सोम-रक्षण के उद्देश्य से ही यह प्राणसाधना करता हुआ सब इन्द्रियों को निर्दोष बनाता है 'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्' निर्दोष इन्द्रियोंवाला यह 'गोतम' कहलाता है—प्रशस्तेन्द्रिय। यह कहता है—

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सुगोपा-तमः (जनः)

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः। स सुगोपातमो जनः ॥ २ ॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! आप **हि**=निश्चय से **यस्य क्षये**=जिसके शरीररूप गृह में (क्षि निवासे) **पाथा**=सोम का रक्षण करते हो, वहाँ आप **दिवः**=प्रकाशमय होते हो—उस साधक के जीवन को प्रकाशमय बनाते हो और **विमहसः**=उसे विशिष्ट तेजवाला करते हो। २. **सः**=वह दीप्ति व तेज प्राप्त करनेवाला **जनः**=मनुष्य **सुगोपातमः**=अतिशयेन उत्तम रक्षक कहलाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम शरीर में सोम का रक्षण करें। यह साधना सोम-रक्षण द्वारा हमें दीप्ति व तेज प्राप्त कराएगी। हम 'सु-गोपा-तम' कहलाएँगे।

यह दीप्तिवाला तेजस्वी पुरुष विशिष्ट रूपवाला होने से 'विरूप' कहलाता है। यह कहता है कि—

ऋषिः—**विरूपः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥ ३ ॥

१. 'उक्षा'-(उक्ष सेचने)-शब्द वृष्टिजल से सेचन का कारण होने से द्युलोक (सूर्य) का नाम है तथा 'इयं पृथिवी वै वशा पृश्निः' श० १.८.३.१५। इस शतपथ-वाक्य से वशा पृथिवी का नाम है। हम उस **अग्नये**=अग्रणी प्रभु के लिए **स्तोमैः**=स्तुतिसमूहों से **विधेम**=पूजा करें जोकि **वेधसे**=ज्ञानी हैं। सर्वज्ञ होने से पूर्ण सृष्टि का निर्माण करनेवाले हैं। २. उस प्रभु का पूजन करें जो **उक्षान्नाय वशान्नाय**=सूर्य व पृथिवी के द्वारा हमारे लिए विविध अन्नों को उत्पन्न करते हैं और वस्तुतः हमें इन अन्नों के सेवन की ही प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु **सोमपृष्ठाय**=सोमरूप पृष्ठवाले हैं। सोम ही उनका आधार है। वस्तुतः प्रभु-दर्शन का आधार यह सोम ही बनता है। इस सोम के सुरक्षित होने पर हम उस सोम (प्रभु) को प्राप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—यदि हम सूर्य द्वारा वृष्टि-जल-सेचन से पृथिवी में उत्पन्न होनेवाले अन्नों का ही सेवन करेंगे तो शरीर में सोम का रक्षण करते हुए प्रभु को प्राप्त करने के अधिकारी होंगे।

सूचना—इस सूक्त के तीन मन्त्रों में सोम-रक्षण के तीन साधनों का संकेत है—(१) प्रभु की उपासना, (२) प्राणायाम (३) पृथिवी से उत्पन्न अन्नों का सेवन (मांस आदि भोजनों को न करना)।

अगले सूक्त का ऋषि 'गृत्समद' है, जोकि गृणाति=प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता है, इन स्तोत्रों में ही **माद्यति**=आनन्द का अनुभव करता है। यह निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला 'मेधातिथि' कहलाता है। यह कहता है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—गृत्समदो मेधातिथिर्वा॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥

मरुतः (प्राणसाधना)

मरुतः पोत्रात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु॥ १॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **पोत्रात्**=हृदय को पवित्र करने के कर्म के द्वारा **ऋतुना सोमं पिबतु**=ऋतु से सोम का पान करो। समय रहते—युवावस्था में ही सोम के रक्षण का ध्यान होना चाहिए। समय बीत जाने पर ध्यान आया तो उसका वह लाभ न हो सकेगा (प्रथमे वयसि यः शान्तः स शान्त इति कथ्यते। धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते)। २. सोम-रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। ये प्राण **सुष्टुभः**=(सु+स्तुभ, to stop) वासनाओं के सम्यक् निरोध द्वारा शरीर में सोम-रक्षण का साधन बनेंगे। **स्वर्कात्** (सु अर्क)=(अर्क=a ray of light; Hymn) उत्तम प्रकाश की किरणों के द्वारा अथवा प्रभु-स्तोत्रों के द्वारा ये प्राण सोम का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हृदय पवित्र होगा, वासनाओं का निरोध होगा, प्रकाश की किरणों का प्रादुर्भाव होगा (हम ज्ञानरुचि बनेंगे) तथा हमारा झुकाव प्रभु-स्तवन की ओर होगा। इसप्रकार शरीर में सोम का रक्षण हो जाएगा।

ऋषिः—गृत्समदो मेधातिथिर्वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥

अग्निः (आगे बढ़ने की भावना)

अग्निराग्नीध्रात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु॥ २॥

१. **अग्निः**=(अग्रणी) आगे बढ़ने की प्रवृत्तिवाला व्यक्ति **आग्नीध्रात्**=अग्नि को हृदय में धारण करने के द्वारा (आग्नीध्रं वै अन्तरिक्षम्—श०) अर्थात् हृदयान्तरिक्ष में उस प्रभु को धारण करने के द्वारा अथवा प्रगति की भावना को धारण करने के द्वारा—इस निश्चय के द्वारा कि मैं निरन्तर आगे बढ़ूँगा **ऋतुना सोमं पिबतु**=समय रहते—यौवन में ही सोम का रक्षण करे। २. इस प्रगतिशीलता की भावना के द्वारा **सुष्टुभः**=वासनाओं को सम्यक् रोकने के द्वारा तथा **स्वर्कात्**=उत्तम ज्ञानरश्मियों व प्रभु-पूजन के द्वारा हम सोम का शरीर में रक्षण करें।

भावार्थ—प्रगतिशीलता की भावना हमें हृदय में प्रभु-स्मरण की प्रवृत्तिवाला बनाएगी, अतः वासनाओं से ऊपर उठकर तथा ज्ञान व स्तवन की रुचिवाले बनकर हम सोम का शरीर में रक्षण कर पाएँगे।

ऋषिः—गृत्समदो मेधातिथिर्वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—आर्च्युष्णिक्॥

इन्द्रः ब्रह्मा (जितेन्द्रियता+ज्ञान)

इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय **ब्रह्मा**=ज्ञानी पुरुष **ब्राह्मणात्**=ज्ञान-प्राप्ति के कर्म के द्वारा **ऋतुना**=समय रहते **सोमं पिबतु**=सोम का पान करे। जितेन्द्रिय बनकर सारे खाली समय को ज्ञान-प्राप्ति में लगाना ही सोम-रक्षण का सर्वोत्तम साधन है। २. ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने के द्वारा वह इन्द्र **सुष्टुभः**=वासनाओं के सम्यक् निरोध से तथा **स्वर्कात्**=प्रभु-पूजन से सोम का रक्षण करने में समर्थ होगा।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनें। ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाएगा और प्रभु-पूजन में प्रवृत्त करेगा। यही सोम-रक्षण का मार्ग है।

ऋषिः—गृत्समदो मेधातिथिर्वा ॥ देवता—द्रविणोदाः ॥ छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप् ॥

देवः द्रविणोदा! (दानवृत्ति)

देवो द्रविणोदाः पोत्रात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥ ४ ॥

१. **देवः**=सब-कुछ देनेवाला देववृत्ति का पुरुष **द्रविणोदाः**=धनों को देनेवाला बनता है। यह धनों के दान से ही **पोत्रात्**=अपने जीवन को पवित्र बनाने के कर्म के द्वारा **ऋतुना**=समय रहते **सोमं पिबतु**=सोम का पान करे। धन का दान ही हमारे जीवन को पवित्र बनाता है, अन्यथा वह विषय-विलास में मग्न करके हमें विनष्ट कर देता है। २. यह धनों का दान करनेवाला **सुष्टुभः**=वासनाओं को रोकने के द्वारा तथा **स्वर्कात्**=उत्तम ज्ञानरश्मियों व प्रभु-पूजन के द्वारा सोम का रक्षण करे।

भावार्थ—हम देव बनें—धनों का दान करनेवाले हों। अन्यथा ये धन हमें विषयासक्त कर डालेंगे। दान से जीवन को पवित्र बनाकर, वासनाओं के निरोध व प्रभु-पूजन के द्वारा हम सोम को सुरक्षित रक्खें।

सूचना—ऋग्वेद २.३७.१ में पोत्रात् के स्थान में शब्द ही होत्रात् है, अर्थात् धन का तो होत्र=दान ही करना है। दान ही धन की गति का सात्त्विक मार्ग है। 'दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति'।

इस सूक्त में सोम-रक्षण के चार साधनों का उल्लेख है (१) प्राणसाधना (मरुतः), (२) आगे बढ़ने की भावना (अग्निः), (३) जितेन्द्रियता व ज्ञान (इन्द्रः, ब्रह्मा), (४) दानशीलता (देवः, द्रविणोदाः)।

अगले सूक्त का ऋषि 'इरिम्बिठिः' है। (इर् to go, बिठम्=अन्तरिक्षम्)—क्रियाशीलता की भावना से युक्त हृदयान्तरिक्षवाला (हृत्सु क्रतम्) सदा क्रियाशील बना रहकर यह पवित्र बना रहता है और सोम का रक्षण कर पाता है। यह प्रार्थना करता है कि—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

हृदयासन पर प्रभु को बिठाना

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **आयाहि**=आइए। **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **हि**=ही **सोमं सुषुम**=हमने सोम का सम्पादन किया है। **इमम्**=इस सोम को **पिब**=पीजिए। आपने ही इस सोम को इस शरीर में सुरक्षित करना है। २. **इदम्**=इस **मम**=मेरे **बर्हिः**=हृदयान्तरिक्ष में **आसदः**=आप आसीन होइए। जब प्रभु (महादेव) मेरे हृदय में आसीन होंगे तब वहाँ कामदेव का सम्भव ही न होगा और इसप्रकार सोम का रक्षण क्योंकर न होगा?

भावार्थ—हम हृदय में सदा प्रभु का स्मरण करें। इसप्रकार वासना के आक्रमण से बचकर सोम का रक्षण कर पाएँ।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

ब्रह्मयुजा केशिना (हरी)

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना। उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **हरी**=हमारे ये इन्द्रियाश्व **आवहताम्**=

प्राप्त कराएँ। वे इन्द्रियाश्व जोकि **ब्रह्मयुजा**=ज्ञान के साथ मेलवाले हैं और इसप्रकार **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले हैं। २. हे प्रभो! आप हमें **उप**=समीप प्राप्त होइए—हमारे हृदयासन को स्वीकार कीजिए और **नः**=हमसे की जानेवाली **ब्रह्माणि**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों को **शृणु**=सुनिए।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को यथासम्भव ज्ञानप्राप्ति में लगाएँ। हृदय में प्रभु का ध्यान करें। यही अपने को वासनाओं के आक्रमण से बचाने का मार्ग है।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

योगाभ्यास व यज्ञशीलता

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः। सुतावन्तो हवामहे॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के संहारक प्रभो! **वयम्**=हम **युजा**=योगसमाधि द्वारा—प्राणायाम द्वारा **सोमपाम्**=सोम का रक्षण करनेवाले **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। २. हम **ब्रह्माणः**=ज्ञान की वाणियोंवाले बनने के लिए यत्नशील होते हैं। **सोमिनः**=प्रशस्त सोमवाले बनते हैं—सोम को वासनाओं के आक्रमण से बचाकर पवित्र रखते हैं। **सुतावन्तः**=सोम का सम्पादन करते हैं व (सुव-सव=यज्ञ) यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम (क) ज्ञानप्रधान बनें, (ख) प्राणायाम का अभ्यास करें, (ग) यज्ञों में—श्रेष्ठतम कर्मों में प्रवृत्त रहें (ब्रह्माणः, युजा, सुतावन्तः)।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'इरिम्बिठिः' है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-स्तवन

आ नो याहि सुतावतोऽस्माकं सुष्टुतीरुप। पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः॥ १॥

१. हे प्रभो! आप **सुतावतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले व यज्ञशील **नः**=हमें **आयाहि**=प्राप्त होइए। **अस्माकम्**=हमारी **सुष्टुतीः**=उत्तम स्तुतियों को **उप**=समीपता से प्राप्त होइए। हम हृदयस्थ आपका सदा उत्तम स्तवन करनेवाले बनें। २. हे **सुशिप्रिन्**=उत्तम हनू व नासिकाओं के देनेवाले प्रभो! **अन्धसः**=सोम का **सुपिब**=शरीर में ही सम्यक् पान कीजिए। हम भोजन को सम्यक् चबाते हुए (हनू) तथा प्राणायाम (नासिका) करते हुए सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर पाएँ।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए आवश्यक है कि (१) हम प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें (२) भोजन को खूब चबाकर खाएँ (३) प्राणायाम के अभ्यासी हों।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मधुरभाषण

आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु। गृभाय जिह्वया मधु॥ २॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि मैं इस सोम को **ते कुक्ष्योः**=तेरी कोखों में **आसिञ्चामि**=सींचता हूँ। यह सोम रुधिर में व्याप्त होकर **गात्रा**=तेरे अंग-प्रत्यंग में **अनुविधावतु**=अनुक्रम से गतिवाला हो। उन अंगों में व्याप्त होकर यह शोधन करे (धावु गतिशुद्ध्योः)। २. इस सोम के सर्वत्र व्याप्त होने पर तू **जिह्वया**=जिह्वा से **मधु गृभाय**=मधु का ग्रहण कर, अर्थात् तू सदा मधुरभाषणवाला हो। सोम-रक्षण से सारी क्रियाओं में ही माधुर्य का व्यापन होता है, वाणी भी मधुर बनती है।

भावार्थ—प्रभु ने सोम को शरीर में इसलिए उत्पन्न किया है कि यह सब अंगों को शुद्ध

बनानेवाला हो। शरीर में सुरक्षित सोम सब रोगकृमियों का संहारक होता है। वाणी को भी यह मधुर बनाता है।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

आनन्द-माधुर्य-शान्ति

स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान्तन्वे३ तव। सोमः शमस्तु ते हृदे ॥ ३ ॥

१. **संसुदे**=उत्तम दानशील **ते**=तेरे लिए यह सोम **स्वादुः अस्तु**=जीवन को मधुर बनानेवाला हो। **तव तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **मधुमान्**=प्रशस्त माधुर्यवाला हो। जब व्यक्ति कर्मशील बनता है तब भोगासक्ति से ऊपर उठता है। भोगों से ऊपर उठा हुआ यह जीवन को मधुर बना पाता है—इसके शरीर के सब अंगों की क्रियाएँ माधुर्य को लिये हुए होती हैं। २. **सोमः**=शरीर में सुरक्षित यह सोम **ते हृदे शम् अस्तु**=तेरे हृदय के लिए शान्ति देनेवाला हो। सोमी पुरुष के हृदय में राग-द्वेष क्षोभ पैदा करनेवाले नहीं होते—यह राग-द्वेष से शून्य जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण द्वारा हमारा जीवन आनन्दमय हो, व्यवहार मधुर हो तथा हृदय शान्ति से युक्त हो।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'इरिम्बिठिः' ही है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

जनीः इव

अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः। प्र सोम इन्द्र सर्पतु ॥ १ ॥

१. हे **विचर्षणे**=विशेषरूप से देखनेवाले (नि० ३.११), अर्थात् सब पदार्थों को ठीक रूप में देखनेवाले, अतएव भोगों में न फँसनेवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **अयम्**=यह **सोमः**=सोम **उ**=निश्चय से **त्वा प्रसर्पतु**=तुझे प्राप्त हो। २. यह **अभिसंवृताः**=सब ओर से सुरक्षित (संवृत) सोम तुझे ऐसे प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **जनीः**=पत्नी पति को प्राप्त होती है। पत्नी पति की अर्धांगिनी बन जाती है। यह सोम भी तेरा अंग बन जाए—तुझसे पृथक् न हो। यह तेरे जीवन का आवश्यक अंश ही हो जाए। पत्नी के बिना जैसे पति का जीवन अधूरा है, उसी प्रकार सोम के बिना इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष) का जीवन अधूरा है।

भावार्थ—सोम, संसार के विषयों की वास्तविकता को जाननेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के जीवन का अंग ही बन जाए। उसी प्रकार जैसेकि पत्नी पति का अंग ही हो जाती है।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

तुविग्रीवः सुबाहुः

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे। इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥ २ ॥

१. **अन्धसः**=शरीर में सुरक्षित सोम के **मदे**=उल्लास में **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **जिघ्नते**=विनष्ट करता है। वासनाओं के विनाश के द्वारा यह अपने ज्ञान को दीप्त कर पाता है। २. इस सोम के मद में ही यह **तुविग्रीवः**=शक्तिशाली गरदनवाला बनता है—निर्बलता से इसकी गरदन झुक नहीं जाती। **वपोदरः**=यह सोम को अपने उदर में ही बोनेवाला होता है। जैसे बीज भूमि में बोया जाता है—वह भूमि में सुरक्षित होता है, इसी प्रकार सोम इसके उदर में सुरक्षित होता है। **सुबाहुः**=सुरक्षित सोम से यह उत्तम भुजाओंवाला होता है—इसकी भुजाएँ शक्तिशाली बनती हैं।

भावार्थ—सोम के सुरक्षित होने पर—वपोदर बनने पर यह शक्तिशाली गरदनवाला और सबल भुजाओंवाला होता है। यह सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला होता है।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभु-स्मरण-शक्ति—वासनाविनाश

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा। वृत्राणि वृत्रहञ्जहि ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **पुरः प्रेहि**=सदा हमारे सामने होइए। हम आपको कभी भूल न जाएँ। आप **ओजसा**=ओज के द्वारा **विश्वस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के **ईशानः**=ईशान हैं। २. हे **वृत्रहन्**=हमारे ज्ञान की आवरणाभूत वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **वृत्राणि जहि**=वासनाओं को विनष्ट कीजिए। आपका स्मरण हमें वासनाओं से बचानेवाला हो।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का स्मरण करें—प्रभु को भूले नहीं। यह प्रभु-स्मरण हमें शक्ति देगा और हमारी वासनाओं को विनष्ट करेगा।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभु का दीर्घ अंकुश

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि। यजमानाय सुन्वते ॥ ४ ॥

१. हे प्रभो! **ते अंकुशः**=आपका नियमन (restraint, check) **दीर्घः अस्तु**=विशाल हो। हम आपकी प्रेरणा से नियमित जीवनवाले होकर ही जीवन को बिताएँ। **येन**=जिस नियमन के द्वारा आप **वसु**=सब वसुओं को—निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को **प्रयच्छसि**=हमारे लिए देते हैं। २. **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए और **सुन्वते**=अपने शरीर में सोम का अभिषव करनेवाले पुरुष के लिए आप वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु के द्वारा नियमन में चलते हुए हम यज्ञशील सोम का रक्षण करनेवाले बनें। यही वसुओं की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभु-स्मरण व सोम-रक्षण

अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि। एहीमस्य द्रवा पिब ॥ ५ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **अयं सोमः**=यह सोम **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **निपूतः**=निश्चय से पवित्र किया गया है। आप **बर्हिषि अधि**=इस हृदयान्तरिक्ष में हमें **एहि**=प्राप्त होइए। सोम-रक्षण ही प्रभु-प्राप्ति का साधन है। २. **ईम्**=निश्चय से **द्रव**=आप हमारी ओर आइए—हमें प्राप्त होइए और **अस्य पिब**=इस सोम का पान कीजिए। वस्तुतः प्रभु ने ही वासना-विनाश द्वारा इस सोम का रक्षण करना है।

भावार्थ—हम हृदय में प्रभु का स्मरण करें—प्रभु हमारी वासनाओं का विनाश करेंगे और सोम का रक्षण करेंगे।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

आखण्डल

शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः। आखण्डल प्र हूयसे ॥ ६ ॥

१. **शाचिगो**=शक्तिशाली इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले! **शाचिपूजन**=शक्ति देनेवाला है पूजन

जिसका, ऐसे प्रभो! **अयं सोमः**=यह सोम **ते रणाय**=आपके रमण के लिए **सुतः**=सम्पादित हुआ है। इस सोम का रक्षण होने पर ही हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश हुआ करता है। २. हे **आखण्डल**=समन्तात् (आ) शत्रुओं के भेदन को (खण्ड) प्राप्त करानेवाले (ल) प्रभो! **प्रहूयसे**=आप हमसे पुकारे जाते हैं। वस्तुतः आपने ही वासनारूप शत्रुओं को छिन्न करके हमारे शरीरों में सोम का रक्षण करना है। इस सुरक्षित सोम से ही सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनेंगी।

भावार्थ—प्रभु-पूजन से शक्ति प्राप्त होती है—सब इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं। प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं और सोम-रक्षण होने पर हम प्रभु-दर्शन कर पाते हैं।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शृङ्गवृषः

यस्ते शृङ्गवृषो नपात्प्रणपात्कुण्डपाय्यः। न्य᳚स्मिन्दध्र आ मनः ॥ ७ ॥

१. हे प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपका—आपसे उत्पादित किया गया यह सोम है, वह **शृङ्गवृषः**=(वृष=धर्म) हमें धर्म के शिखर पर ले-जानेवाला है—सोम-रक्षण से उन्नत होते हुए हम धर्म के शिखर पर पहुँचते हैं। यह **नपात्**=हमें न गिरने देनेवाला है। इससे सब शक्तियाँ सुरक्षित रहती हैं। **प्र-णपात्**=यह हमें प्रकर्षेण न गिरने देनेवाला है—हमें उत्कृष्ट व्यवहारोंवाला बनाता है। **कुण्डपाय्यः**=(कुडि दाहे) वासनाओं के दहन (विनाश) के द्वारा शरीर में पीने के योग्य है। २. हे प्रभो! मैं **अस्मिन्**=इस सोम में ही—सोम के रक्षण में ही **मनः**=मन को **नि आदध्रे**=निश्चय से धारण करता हूँ। मन में सोम-रक्षण के लिए दृढ़ निश्चय करता हूँ। इसके रक्षण के लिए ही सब उपायों का अवलम्बन करता हूँ।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें (१) धर्म के शिखर पर ले-जाता है (२) इससे शक्तियाँ सुरक्षित रहती हैं, (३) यह हमारे व्यवहारों को मधुर बनाता है। वासनाओं के विनाश से ही यह शरीर में सुरक्षित करने के योग्य है। हम मन को इसके रक्षण में ही लगाएँ।

यह धर्म के शिखर पर पहुँचनेवाला व्यक्ति 'विश्वामित्र' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विश्वामित्र

इन्द्र त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे। स पाहि मध्वो अन्धसः ॥ १ ॥

यह मन्त्र २०.१.१ पर व्याख्यात है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

क्रतुविदं, तातृपिम्

इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत। पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥ २ ॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **क्रतुविदम्**=शक्ति व ज्ञान के प्राप्त करानेवाले (विद् लाभे) **सुतम्**='रस-रुधिर-मांस-अस्थि-मज्जा-मेदस् व वीर्य' इस क्रम से पैदा किये गये **सोमम्**=सोम (वीर्य) को **हर्य**=चाहनेवाला बन। २. हे **पुरुष्टुत**=(पुरु ष्टुतं यस्य) खूब ही स्तवन करनेवाले जीव! तू **तातृपिम्**=तृप्ति देनेवाले इस सोम को **पिब**=पीनेवाला बन और **वृषस्व**= शक्तिशाली की तरह आचरण कर—शक्तिशाली बन।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम शक्ति व ज्ञान को प्राप्त कराता है, एक अद्भुत तृप्ति का

अनुभव कराता है। हम जितेन्द्रिय व प्रभु-स्तोता बनकर इसका शरीर में ही रक्षण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'धितावानं' यज्ञम्

इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वेभिर्देवेभिः। तिर स्तवान विश्पते॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् देवसम्राट्! **विश्पते**=सब प्रजाओं के पालक! **स्तवान**=स्तुति किये जाते हुए प्रभो! आप **नः**=हमारे **यज्ञम्**=इस जीवन-यज्ञ को **विश्वेभिः देवेभिः**=सब देवों के द्वारा **प्रतिर**=बढ़ाइए, जोकि **धितावानम्**=सोम के धारणवाला है। वस्तुतः इस सोम के धारण ने ही हमारे जीवन को दिव्यगुणयुक्त व दीर्घ बनाना है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम इस जीवन-यज्ञ को दिव्यगुणसम्पन्न बनाएँ। इसे सोम-रक्षण द्वारा खूब दीर्घकाल तक चलनेवाला करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

चन्द्रः, इन्दवः

इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते। क्षयं चन्द्रास इन्दवः॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **इमे**=ये **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमाः**=सोमकण **तव क्षयम्**=तेरे शरीर-गृह को **प्रयन्ति**=प्राप्त होते हैं—शरीर में ही इनकी स्थिति होती है। २. हे **सत्पते**=सब अच्छाइयों का अपने में रक्षण करनेवाले जीव! सुरक्षित सोमकण **चन्द्रासः**=(चदि आह्लादे) जीवन को आनन्दमय बनानेवाले हैं और **इन्दवः**=ये इसे शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर सोमकणों का रक्षण करें। ये हमारे जीवन में सब अच्छाइयों का रक्षण करते हुए हमें आनन्दमय व शक्तिशाली बनाएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

द्युक्षासः, इन्दवः

दधिष्वा जठरे सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम्। तव द्युक्षास इन्दवः॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न किये गये **वरेण्यम्**=वरणीय **सोमम्**=इस सोम को **जठरे**=अपने जठर में ही—अपने ही अन्दर-**दधिष्व**=धारण कर। २. ये सोमकण **तव**=तेरी **द्युक्षासः**=ज्ञान-ज्योति में निवास का कारण बनेंगे (द्यु+क्षि) और **इन्दवः**=तुझे शक्तिशाली बनाएँगे।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम शक्ति व ज्ञान-वृद्धि का कारण बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'मधुर व यशस्वी' जीवन

गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे। इन्द्र त्वादातमिद्यशः॥ ६॥

१. हे **गिर्वणः**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों से सम्माननीय प्रभो! **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **पाहि**=आप रक्षित कीजिए। आपका स्तवन ही इस सोम के रक्षण का साधन बनता है। हे प्रभो! आप **मधोः धाराभिः**=मधु की धाराओं से—माधुर्य के धारण से **अज्यसे**=जाये जाते हैं—प्राप्त किये जाते हैं। माधुर्य को धारण करके ही हम आपको प्राप्त होते हैं। २. हे **इन्द्र**= परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यशः**=यश **इत्**=निश्चय से **त्वादातम्**=आपसे ही दिया गया है। जहाँ-जहाँ जो कुछ 'विभूति, श्री व ऊर्ज्' है वह सब आपके द्वारा ही स्थापित किया

गया है। आपका स्तवन सोम-रक्षण द्वारा मुझे भी यशस्वी बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम सोम-रक्षण द्वारा जीवन को मधुर व यशस्वी बना पाएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम-रक्षण व प्रभु-प्राप्ति

अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता। पीत्वी सोमस्य वावृधे॥ ७॥

१. **वनिनः**=सम्भजनशील उपासक **अक्षिता द्युम्नानि अभि**=न क्षीण होनेवाली ज्ञान-ज्योतियों की ओर चलते हैं। ज्ञान की ओर चलते हुए ये **इन्द्रं सचन्ते**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को प्राप्त करते हैं। २. यह उपासक **सोमस्य पीत्वी**=शरीर में उत्पन्न सोम का रक्षण करता हुआ **वावृधे**=निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके, ज्ञानवृद्धि करते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अर्वावतः, परावतः

अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन्। इमा जुषस्व नो गिरः॥ ८॥

१. हे **वृत्रहन्**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **अर्वावतः**=समीप के प्रदेश के हेतु से—इहलोक के हेतु से, अर्थात् अभ्युदय के हेतु से **नः**=हमें **आगहि**=प्राप्त होइए **च**=और **परावतः**=दूर देश के हेतु से—परलोक के हेतु से, अर्थात् निःश्रेयस के हेतु से हमें प्राप्त होइए। आपने ही हमें 'अभ्युदय व निःश्रेयस' प्राप्त कराना है। २. आप **इमाः**=इन **नः**=हमारी—हमसे की गई **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। हमारे द्वारा की गई स्तुतिवाणियाँ हमें आपका प्रिय बनाएँ। वस्तुतः इनसे ही प्रेरणा लेकर हमें जीवन में आगे बढ़ना है और आपके अनुरूप बनने का प्रयत्न करना है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें। प्रभु वासना-विनाश के द्वारा हमें 'अभ्युदय व निःश्रेयस' प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

हृदय में प्रभु का दर्शन

यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे। इन्द्रेह तत आ गहि॥ ९॥

१. 'परावत्' शब्द दूर देश के लिए आता है—यहाँ पर द्युलोक का संकेत करता है। 'अर्वावत्' समीप देश के लिए आता है—यहाँ यह पृथिवी का संकेत कर रहा है। इन दोनों के अन्तरा=बीच में अन्तरिक्षलोक है। हमारे जीवनों में (अध्यात्म में) मस्तिष्क द्युलोक है, शरीर पृथिवीलोक है। इन दोनों के बीच में हृदय अन्तरिक्षलोक है। हे प्रभो! **यत्**=जब भी **परावतम् अर्वावतं च**=द्युलोक व पृथिवीलोक के **अन्तरा**=बीच में—अन्तरिक्ष में—हृदयान्तरिक्ष में आप **हूयसे**=पुकारे जाते हैं तब हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! आप **ततः**=तब **इह आगहि**=हमें यहाँ प्राप्त होइए। २. हृदय में प्रभु का ध्यान करने पर प्रभु हमें प्राप्त होते ही हैं।

भावार्थ—हम हृदय में प्रभु का ध्यान करें। यही हमारा प्रभु के साथ मिलकर बैठने का स्थान (सध-स्थ) है।

प्रभु-प्राप्ति के दृढ़ व उत्तम निश्चयवाला यह 'सु-कक्ष' कनता है, जिसने प्रभु-प्राप्ति के

लिए दृढ़ निश्चय कर लिया है—कमर कस ली है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। अन्ततः (चतुर्थ मन्त्र में) यह 'विश्वामित्र' बनता है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—सुकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभु-प्राप्ति का मार्ग

उद्घेद॒भि श्रु॒ताम॑घं वृष॒भं नर्या॑पसम्। अस्ता॑रमेषि सूर्य॥ १ ॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य के समान देदीप्यमान प्रभो! आप **घा इत्**=निश्चय से उस व्यक्ति का **अभि**=लक्ष्य करके **उदेषि**=उदति होते हो—उसके हृदयाकाश में प्रकाशित होते हो जोकि **श्रुतामघम्**=ज्ञान के ऐश्वर्यवाला है तथा **वृषभम्**=शक्तिशाली है। प्रभु उसी को प्राप्त होते हैं जो अपने में ज्ञान और शक्ति का समन्वय करता है। २. हे प्रभो! आप उसे प्राप्त होते हो जो **नर्यापसम्**=लोकहितकारी कर्मों में प्रवृत्त होता है और **अस्तारम्**=वासनारूप शत्रुओं को अपने से दूर फेंकता है (असु क्षेपणे)।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति उसे होती है जो (क) ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त करता है, (ख) शक्तिशाली बनता है, (ग) लोकहितकर कर्मों में प्रवृत्त होता है, (घ) वासनाओं को अपने से दूर करता है।

ऋषिः—सुकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

वृत्रहा

नव॒ यो न॑व॒तिं पुरो॑ बि॒भेद॑ बा॒ह्वो॑जसा। अहिं॑ च वृत्र॒हाव॑धीत्॥ २ ॥

१. **यः**=जो **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत कामवासना को विनष्ट करनेवाला है वह **बाहु+ओजसा**=अपनी भुजाओं के बल से—सदा उत्तम कर्म से लगे रहने के द्वारा **नवनवतिं पुरः**=असुरों की निन्यानवे पुरियों का **बिभेद**=विदारण करता है। हमारे जीवन में आसुरभाव उत्पन्न होते हैं। वे दृढ़मूल होते जाते हैं। मानो वे अपने दुर्ग बना लेते हैं। सतत क्रियाशीलता के द्वारा हम सौ वर्ष के आयुष्य में निन्यानवे बार इनका विदारण करते हैं और प्रत्येक वर्ष को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं। २. **च**=और यह **वृत्रहा अहिम्** (**आहन्तारम्**)=सब प्रकार से विनष्ट करनेवाले इस वासनारूप शत्रु को **अवधीत्**=मार डालता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता के द्वारा हम वासनाओं को अपने जीवन में दृढ़मूल न होने दें।

ऋषिः—सुकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

शिवः सखा

स न॒ इन्द्रः॑ शि॒वः सखाश्वा॑व॒द्गोम॒द्यव॑मत्। उ॒रुधा॑रेव दोहते॥ ३ ॥

१. **सः**=वह **इन्द्रः**=शत्रुओं का द्रावण करनेवाला प्रभु **नः**=हमारा **शिवः सखा**=कल्याणकर मित्र है। प्रभु ही सर्वमहान् मित्र हैं। २. ये प्रभु **उरुधारा इव**=विशाल दुग्ध धाराओंवाली कामधेनु के समान हमारे लिए उस ऐश्वर्य को **दोहते**=प्रपूरण करते हैं, जोकि **अश्वावत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला है, **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है तथा **यवमत्**=बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाला है (यु मिश्रणामिश्रणयोः)।

भावार्थ—प्रभु हमारे कल्याणकर मित्र हैं। वे हमारे लिए उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराके हमारे जीवन से बुराइयों को दूर करते हैं तथा अच्छाइयों को हमारे साथ संगत करते है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'क्रतुवित्' सोम

इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत। पिबा वृषस्व तातृपिम्॥ ४॥

इस मन्त्र की व्याख्या २०.६.२ पर द्रष्टव्य है।

अपने जीवन में सोम का भरण करके यह 'भरद्वाज' बनता है—अपने में शक्ति भरनेवाला। यह बुराइयों का संहार करनेवाला 'कुत्सः' होता है तथा सबका मित्र 'विश्वामित्र' बनता है। अगले सूक्त के मन्त्रों के क्रमशः ये ही ऋषि हैं—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

ज्ञानसूर्य का आविर्भाव

एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः।
आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **प्रत्नथा एव**=सदा की भाँति ही आप **पाहि**=हमारा रक्षण कीजिए, अथवा हमारे शरीर में सोम का रक्षण कीजिए। **त्वा मन्दतु**=यह उपासक आपका स्तवन करे। आप **ब्रह्म**=उससे की जानेवाली स्तुतियों को **श्रुधि**=सुनिए, **उत**=और **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वावृधस्व**=उसके अन्दर खूब ही बढ़िए, अर्थात् वह उपासक ज्ञान-प्राप्ति में लगा हुआ, अधिकाधिक आपके प्रकाश को हृदय में देखे। २. हे प्रभो! आप **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को उसके मस्तिष्करूप गगन में **आविः कृणुहि**=प्रकट कीजिए। **इषः पीपिहि**=प्रेरणाओं को बढ़ाइए, अर्थात् यह उपासक सदा आपकी प्रेरणा के अनुसार कार्यों को करनेवाला हो। **शत्रून् पीपिहि**=इस उपासक के वासनारूप शत्रुओं को आप विनष्ट कीजिए तथा **गाः**=इन्द्रियों को **अभितृन्धि**=(to set free) वासनाओं के आवरण से मुक्त कीजिए।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें। ज्ञान-प्राप्ति में लगकर प्रभु के प्रकाश को अपने में अधिकाधिक देखने का प्रयत्न करे। प्रभु-कृपा से हमारा ज्ञान बढ़े। हम हृदयों में प्रभु-प्रेरणा को सुनें, वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करें और दीप्त इन्द्रियोंवाले बनें।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'सोम-काम' प्रभु

अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय।
उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः॥ २॥

१. हे प्रभो! आप **अर्वाङ् एहि**=हमें अन्दर हृदयों में प्राप्त होइए। **सोमकामं त्वा**=आपको सोम की कामनाओंवाला **आहुः**=कहते हैं—आपकी कामना यही है कि उपासक सोम का सम्पादन करे। **अयं सुतः**=यह सोम शरीर में उत्पन्न किया गया है। **तस्य पिब**=उसका आप शरीर में ही पान कीजिए और **मदाय**=हमारे उल्लास के लिए होइए। २. **उरुव्यचाः**=अनन्त विस्तारवाले—सर्वव्यापक आप **जठरे आवृषस्व**=हमारे जठर में ही—शरीर के मध्य में ही सोम का सेचन कीजिए। **हूयमानः**=पुकारे जाते हुए आप **पिता इव**=पिता की भाँति **नः शृणुहि**=हमारी प्रार्थना को सुनिए। हमारी पुकार व्यर्थ न जाए।

भावार्थ—प्रभु को वही व्यक्ति प्रिय है, जो शरीर में सोम का रक्षण करता है। सोम-रक्षण

भी प्रभु के अनुग्रह से ही होता है। हम सदा उस रक्षक प्रभु को ही पिता जानें, उसी की आराधना करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

कलश की आपूर्णता

आपूर्णो अस्य कुलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै।
समु प्रिया आववृत्रन्मदाय प्रदक्षिणिदुभि सोमास इन्द्रम्॥ ३॥

१. **अस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का **कलशः**=(कलाः शेरते अस्मिन्) 'प्राण' आदि १६ कलाओं से युक्त यह शरीर-कलश **आपूर्णा**=सब दृष्टिकोणों से पूर्ण होता है। **स्वाहा**=यह (सु+आह) सदा उत्तम स्तुतिशब्दों को बोलनेवाला होता है। यह **सेक्ता इव**=सेचन करनेवाले के समान **कोशं सिसिचे**=अन्नमय आदि कोशों से बने इस शरीर को सोम से सिक्त करता है। **पिबध्यै**=यह इन सोमकणों को पीने के लिए होता है—इनको शरीर में ही व्याप्त करनेवाला होता है। २. **उ**=निश्चय से **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **प्रियाः सोमासः**=प्रीति के जनक ये सोम-कण **मदायः**=जीवन में आनन्द व उल्लास के लिए **प्रदक्षिणित्**=प्रदाक्षिण्य से—ठीक प्रकार **सम्**=सम्यक् **अभि**=आभिमुख्येन **आववृत्रन्**=व्याप्त करते हैं। सोमकण इसके शरीर में ही व्याप्त होते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें। प्रभु के स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हुए सोम को शरीर में सुरक्षित करें। यह सोम ही पूर्णता व प्रसन्नता का साधन है।

सोम-रक्षण द्वारा आपूर्ण कलशवाला यह व्यक्ति 'नोधा' (नव-धा) प्रभु-स्तवन का धारण करनेवाला (नु स्तुतौ) तथा शरीर के नौ द्वारों (इन्द्रियों) को धारण करनेवाला (अष्टाचक्रा नवद्वारा०) होता है। यह मेध्य (पवित्र) प्रभु को अपना अतिथि बनाता है—उसी का पूजन करता है, अतः 'मेध्यातिथि' है। यह 'नोधा' व 'मेध्यतिथि' ही क्रमशः अगले सूक्त के ऋषि हैं—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—नोधाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)॥

दस्मम् ऋतीषहम्

तं वो दुस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे॥ १॥

१. **तम्**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=स्तुतिवाणियों से **नवामहे**=स्तुत करते हैं, जो **वः दस्मम्**=तुम्हारे दर्शनीय व दुःखों के दूर करनेवाले हैं। **ऋतीषहम्**=आर्ति (पीड़ा) के अभिभविता व नाशक हैं तथा **वसोः**=निवास के कारणभूत **अन्धसः**=सोम के द्वारा **मन्दानम्**=आनन्दित करनेवाले हैं। २. **स्वसरेषु**=(स्वः आदित्यः एनान् सारयति=अहानि) दिनों में—दिन के निकलने पर **न**=जैसे **धेनवः**=गौवें **वत्सम् अभि**=वत्स का लक्ष्य करके 'हम्मारव' करती हैं। उसी प्रकार हम प्रभु का स्तवन करते हैं। यह प्रभु-स्तवन ही हमारे सब कष्टों को दूर करेगा और हमें सोम-रक्षण द्वारा आनन्दित करेगा।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करें। यह स्मरण ही पीड़ाहर व सोम-रक्षण द्वारा प्रसन्नता का प्रापक है।

ऋषिः—नोधाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतःप्रगाथः (बृहती+सतोबृहती) ॥

'क्षुमन्तं, शतिनं, गोमन्तं' वाजम्

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम्।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ २ ॥

१. **द्युक्षम्**=दीप्त—ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले, **सुदानुम्**=सम्यक् वासनाओं का खण्डन करनेवाले (दाप् लवने), **तविषीभिः आवृतम्**=बलों से आवृत—सर्वशक्तिमान् **गिरिं न**=जो उपदेष्टा आचार्य के समान हैं (गृणाति), **पुरुभोजसम्**=खूब ही पालन व पोषण करनेवाले प्रभु से **वाजम्**=(wealth) ऐश्वर्य की **मक्षू ईमहे**=शीघ्र याचना करते हैं। २. उस ऐश्वर्य की याचना करते हैं जो **क्षुमन्तम्**=स्तुतिवाला है—जो हमें प्रभु-स्तवन से पृथक् नहीं करता, **शतिनम्**= हमें शतवर्ष के आयुष्य को प्राप्त करता है **सहस्रिणम्**=जो हज़ारों प्राणियों का पोषण करता है तथा **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है। जो ऐश्वर्य हमें वासनासक्त करके क्षीण इन्द्रियशक्तिवाला नहीं कर देता।

भावार्थ—प्रभु से हमें वह-वह ऐश्वर्य प्राप्त हो, जो हमें प्रभु-जैसा बनने में सहायक हो। हम इस धन से विषयासक्त न होकर लोकहित में प्रवृत्त हुए-हुए दीर्घजीवी व प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती) ॥

सुवीर्यं+ब्रह्म

तत्त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! मैं **त्वा**=आपसे **तत्**=उस **सुवीर्यम्**=उत्कृष्ट पराक्रम को **यामि**=माँगता हूँ तथा **तत् ब्रह्म**=उस ज्ञान को माँगता हूँ, जो **पूर्वचित्तये**=पालन व पूरण की साधनाभूत स्मृति के लिए होता है। इस बल व ज्ञान को प्राप्त करके मैं अपने स्वरूप व मानव-जीवन के लक्ष्य को भूल न जाऊँ। २. **येन**=जिस बल व ज्ञान के द्वारा **यतिभ्यः**=संयमी पुरुषों के लिए और **भृगवे**=तपः परिपक्व पुरुषों के लिए (भ्रस्ज् पाके) **हिते धने**=हितकर धन के होने पर आप **येन**=जिस धन से **प्रस्कण्वमाविथ**=मेधावी पुरुष का रक्षण करते हैं। इस बल व ज्ञान से आप संयमी व तपस्वी लोगों को हितकर धन में स्थापित करते हैं और मेधावी पुरुष का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु से बल व ज्ञान प्राप्त करके अपने स्वरूप व लक्ष्य का स्मरण करें। संयमी व तपस्वी बनकर हितकर धन को प्राप्त हों। मेधावी बनकर प्रभु से रक्षणीय हो। धन हमारे विनाश का कारण न बन जाए।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती) ॥

प्रभु की अनन्त महिमा

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे ॥ ४ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **येन**=जिस अपने महान् सामर्थ्य से आप **समुद्रम् असृजः**=समुद्र का सर्जन करते हैं, जिस सामर्थ्य से आप इन **महीः अपः**=अनन्त-से विस्तारवाले जलों का निर्माण करते हैं अथवा पृथिवियों व जलों का निर्माण करते हैं। **ते**=आपका **तत् शवः**=वह बल

वृष्णि=हमपर सुखों का सेचन व वर्षण करनेवाला है। २. **अस्य**=इस प्रभु की **सः**=वह **महिमा**=महिमा व सामर्थ्य **सद्यः**=शीघ्र **न संनशे**=औरों से व्याप्त नहीं की जा सकती। वह महिमा, **यम्**=जिसको **क्षोणीः**=पृथिवीस्थ प्राणिसमूह **अनुचक्रदे**=उद्घोषित करता है।

भावार्थ—समुद्रों में व महान् जलों में प्रभु की महिमा का प्रकाश होता है। प्रभु की महिमा का कोई भी व्यापन नहीं कर सकता। सब प्राणी प्रभु की महिमा का उद्घोष करते हैं।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतःप्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

स्तवन+ज्ञान

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथाइव॥ १॥

१. **उ**=निश्चय से **त्ये**=वे **मधुमत्तमाः**=जीवन को अतिशयेन मधुर बनानेवाली **स्तोमासः**=स्तुति-समूह **उदीरते**=उद्गत होते हैं। इसी प्रकार **गिरः**=ज्ञान की वाणियाँ उच्चरित होती हैं। ये स्तुति-वाणियाँ व ज्ञान की वाणियाँ हमारे जीवनों को अतिशयेन मधुर बनाती हैं। २. ये स्तोम **सत्राजितः**=(सह एव) एक साथ ही शत्रुओं को जीतनेवाले हैं। **धनसाः**=धनों को प्रदान करनेवाले हैं। **अक्षित+ऊतयः**=अक्षीण रक्षणोंवाले हैं। **वाजयन्तः**=ये हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं और **रथाः इव**=ये स्तोम जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए रथ के समान हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन व ज्ञान के द्वारा ज़ीवन को मधुर, विजयी, ऐश्वर्यसम्पन्न, सुरक्षित व शक्तिशाली बनाएँ। ये स्तवन व ज्ञान की वाणियाँ हमारे जीवन में रथ का काम देंगी—हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचाएँगी।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

कण्व+सूर्य=भृगु, प्रियमेध+आयु

कण्वाइव भृगवः सूर्याइव विश्वमिद्धीतमानशुः।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन्॥ २॥

१. **कण्वाः इव**=मेधावी पुरुषों के समान तथा **सूर्याः इव**=सूर्यसम तेजस्वी व सूर्य के समान निरन्तर क्रियाशील **भृगवः**=तप की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले लोग **विश्वम्**=उस सर्वव्यापक (सर्वत्र विशति) **धीतम्**=ध्यान किये गये प्रभु को **इत्**=ही **आनशुः**=स्तोत्रों से प्राप्त करते हैं। २. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **स्तोमेभिः**=स्तुति-समूहों से **महयन्तः**=पूजते हुए **आयवः**=गतिशील **प्रियमेधासः**=बुद्धि-प्रिय मनुष्य **अस्वरन्**=स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हैं। यह स्तवन ही उन्हें बुद्धिप्रिय व गतिशील बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए मेधावी व क्रियाशील बनें। यही सच्ची तपस्या है। कण्व व प्रियमेध बनें, सूर्य व आयु बनें। यही भृगु बनने का मार्ग है। भृगु ही प्रभु को प्राप्त करता है।

यह उपासक सबका हित करनेवाला 'विश्वामित्र' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'शत्रु-संहारक' इन्द्र

इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उभे॥ १॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का द्रावण करनेवाला प्रभु **पूर्भित्**=असुर पुरियों का विदारण करता है। यह **अर्कैः**=प्रकाश की रश्मियों द्वारा **दासम्**=विनाशक काम को (कामदेव) को **आतिरत्**=हमें पार कराता है (संतारयति)। **विदद्वसुः**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाला प्रभु **शत्रून्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **विदयमानः**=विशेषरूप से हिंसित करता है। २. **ब्रह्मजूतः**=स्तोत्रों के द्वारा हमारे हृदयों में अभिवृद्ध हुआ-हुआ, **तन्वावृधानः**=शक्तियों के विस्तार से हमारा वर्धन करता हुआ, **भूरिदात्रः**=पालक व पोषक धनों को देनेवाला प्रभु **उभे रादेसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **आपृणत्**=व्याप्त किये हुए है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु प्रकाश की रश्मियों द्वारा हमारे शत्रुओं का विनाश करेंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मख+तविष

मखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा॥ २॥

१. **अमृताय भूषन्**=अमृतत्व के लिए अपने को अलंकृत करने के हेतु से (हेतौ शतृ=प्रत्ययः) मैं, हे प्रभो! **मखस्य**=यज्ञरूप **तविषस्य**=अतिशयित बल-सम्पन्न **ते**=आपकी **वाचम्**=स्तुतिवाणी को **प्र इयर्मि**=प्रकर्षेण प्रेरित करता हूँ। यह स्तुतिवाणी **जूतिम्**=प्रेरयित्री है, तुझे उस-उस गुण को धारण करने के लिए प्रेरणा देनेवाली है। इस स्तुतिवाणी से मैं भी आपके समान 'मख व तविष' बनता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करता हूँ। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **मानुषीणां क्षितीनाम्**=विचारशील—पितृयाणमार्ग से जानेवाली मानव-प्रजाओं के **उत**=और **दैवीनाम् विशाम्**=देवयानमार्ग से जानेवाली प्रजाओं के **पूर्वयावा असि**=पहले जानेवाले (पुरोगन्ता) मार्गदर्शक हैं। हृदयस्थरूपेण आप ही इन्हें प्रेरणा देकर मार्गभ्रष्ट होने से बचाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें। इस स्तवन से प्रेरणा प्राप्त करके प्रभु की भाँति ही यज्ञशील व शक्तिसम्पन्न बनें। यही अमृतत्व की ओर प्रगति का मार्ग है। प्रभु हमारे पुरोगन्ता हों, प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करके मार्ग पर चलते हुए हम मार्गभ्रष्ट न हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

शर्धनीति—वर्पणीति

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः।
अहन्व्यंसमुशधग्वनेष्वाविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम्॥ ३॥

१. **शर्धनीतिः**=शत्रु-हिंसक बल को प्राप्त करानेवाला **इन्द्रः**=शत्रु-द्रावक प्रभु **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **अवृणोत्**=रोक देता है। यह **वर्पणीतिः**=तेजस्वीरूप को प्राप्त करानेवाला प्रभु **मायिनाम्**=मायावाले आसुरभावों को **प्र अमिनात्**=प्रकर्षेण हिंसित करता है। प्रभु

का उपासक माया का शिकार नहीं होता। ४. यह **उशधक्**=युद्ध की कामनावाले शत्रुओं का दाहक प्रभु **वनेषु**=उपासकों में वृत्र को **वि अंसम्**=विगत स्कन्ध करके **अहन्**=नष्ट कर डालता है। इसप्रकार वासना को विनष्ट करके **राम्याणाम्**=प्रभु में रमण करनेवाले उपासकों के हृदयों में **धेनाः**=ज्ञान की वाणियों को **आविः अकृणोत्**=प्रकट करता है।

भावार्थ—प्रभु उपासकों को शत्रुसंहारक व तेजस्वी बनानेवाला बल प्राप्त कराते हैं। इनकी वासनाओं को विनष्ट करके इनके हृदयों में ज्ञान की वाणियों को प्रकट करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

स्वर्षाः अभिष्टिः

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय॥ ४॥

१. **स्वर्षाः**=स्वर्ग को प्राप्त करानेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अभिष्टिः**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला है। यह **अहानि जनयन्**=प्रकाशमय दिनों को प्रादुर्भूत करता हुआ—अज्ञानान्धकारमयी रात्रियों को दूर करता हुआ **उशिग्भिः**=युद्ध की कामनावाले आसुरभावों से युद्ध करके **पृतनाः**=शत्रु-सैन्यों को **जिगाय**=जीतता है। २. प्रभु **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **अह्नाम्**=दिनों के **केतुम्**=प्रज्ञापक सूर्य को **प्रारोचयत्**=आकाश में दीप्त करते हैं—मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य को उदित करते हैं और **बृहते रणाय**=महान् रमणके लिए—मोक्षसुख में विचरने के लिए **ज्योतिः**=ज्ञानज्योति को **अविन्दत्**=प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही उपासकों के हृदयों में प्रकाश करते हुए वासनान्धकार को विनष्ट करते हैं। विचारशील पुरुषों के हृदयों में ज्ञानज्योति को दीप्त करके उन्हें मोक्षसुख प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वासना-विनाश व बुद्धिदीपन

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद्दधानो नर्या पुरूणि।
अचेतयद्धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम्॥ ५॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक प्रभु **बर्हणाः**=अभिवृद्ध—बढ़ी हुई **तुजः**=हिंसक शत्रुसेनाओं में **आविवेश**=ऐसे प्रविष्ट होते हैं, **नवृत्**=जैसकि एक सेनानी शत्रु-सेनाओं में युद्ध के लिए प्रवेश करता है, अर्थात् प्रभु ही हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं। ये प्रभु **पुरूणि**=बहुत **नर्या**=नरहितकारी कार्यों को **दधानः**=धारण करते हैं। २. ये प्रभु **जरित्रे**=स्तोता के लिए **इमाः धियः**=इन बुद्धियों को **अचेतयत्**=चेतनायुक्त करते हैं तथा **आसाम्**=इनके **इमं शुक्रं वर्णम्**=दीप्त रूप को **प्रातिरत्**=बढ़ाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करते हैं और हमारी बुद्धियों को चेताते हुए उन्हें दीप्तरूप बनाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वृजन से वृजिन का संपोषण

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः॥ ६॥

१. **अस्य**=इस **महः**=महान्—गुणों से प्रवृद्ध **इन्द्रस्य**=शक्तिशाली कर्मों के करनेवाले प्रभु के

महानि=महान् **सुकृता**=सुष्ठु सम्पादित **पुरुणि**=पालक व पूरक **कर्म**=कर्मों को **पनयन्ति**=स्तोता लोग स्तुत करते हैं। प्रभु के महान् कर्म सचमुच स्तुति के योग्य हैं। २. प्रभु **वृजनेन**=शत्रुओं के आवर्जक बल से (विनाशक बल से) **वृजिनान्**=पापरूप असुरों को **संपिपेष**=सम्यक् चूर्ण कर देते हैं। **अभिभूत्योजाः**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले बल से युक्त वे प्रभु **मायाभिः**=अपनी शक्तियों व प्रज्ञानों से **दस्यून्**=विनाशक शत्रुओं को (दसु उपक्षये) पीस डालते हैं।

भावार्थ—प्रभु के कर्म महान् व हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु बल से आसुर-भावों को पीस डालते हैं, प्राज्ञानों द्वारा दस्युओं का विनाश कर देते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

युधा देवेभ्यः वरिवः चकार

युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति॥ ७॥

१. **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **युधा**=युद्ध के द्वारा आसुरवृत्तियों को युद्ध में विनष्ट करने के द्वारा **मह्ना**=अपनी महिमा से **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **वरिवः**=वरणीय धन को **चकार**=सम्पादित करते हैं। प्रभु **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक हैं। **चर्षणिप्राः**=श्रमशील मनुष्यों की कामनाओं को (प्रा पूरणे) पूर्ण करनेवाले हैं। २. **विवस्वतः**=विशेषेण अग्निहोत्र आदि कर्मों के लिए निवास करते हुए यजमान के **सदने**=घर में **विप्राः**=मेधावी **कवयः**=क्रान्तप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष **अस्य**=इस इन्द्र के **तानि**=उन प्रसिद्ध वृत्रवध आदि कर्मों को **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **गृणन्ति**=उच्चरित करते हैं। ये ज्ञानी यज्ञशील पुरुषों के गृह में सम्मिलित होकर प्रभु के गुणों का गायन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु आसुरवृत्तियों को विनष्ट करके देवों के लिए वरणीय धन प्राप्त कराते हैं। यज्ञशील पुरुष के घर में एकत्र होकर ज्ञानी लोग प्रभु की महिमा का गायन करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धीरणासः इन्द्रम् अनुमदन्ति

सत्रासाहं वरेण्यं सहोदां ससवांसं स्व ऽरपश्च देवीः।
ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः॥ ८॥

१. **धीरणासः**=(धीषु रमणं येषाम्) ज्ञानपूर्वक कर्मों में रमण करनेवाले स्तोता लोग **इन्द्रम् अनुमदन्ति**=उस आनन्दमय प्रभु के अनुभव के अनुपात में आनन्द का अनुभव करते हैं। जितना-जितना उन्हें प्रभु का साक्षात् होता है, उतना-उतना आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। ये उस प्रभु को अपने हृदयों में हर्षित करते हैं जोकि **सत्रासाहम्**=एक प्रयत्न से ही सब शत्रु- सेनाओं का अभिभव करनेवाले हैं, **वरेण्यम्**=अतएव वरणीय हैं। **सहोदाम्**=हमें शत्रुमर्षक बल प्राप्त करानेवाले हैं। **स्वः**=प्रकाश को **च**=तथा **देवीः अपः**=दिव्य कर्मों को **ससवांसम्**=प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु का उपासक सदा प्रकाश व दिव्य कर्मों को प्राप्त करता है। प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके यह सदा उत्तम कर्मों को करनेवाला होता है। २. उस इन्द्र का ये अनुमदन करते हैं **यः**=जोकि **पृथिवीम्**=पृथिवी को—विस्तृत अन्तरिक्ष को **द्याम्**=द्युलोक को **उत**=और **इमाम्**= इस पृथिवी को **ससान**=मनुष्यों के लिए देता है।

भावार्थ—प्रभु हमें शत्रु-मर्षक बल प्राप्त कराते हैं, प्रकाश व दिव्य कर्मों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमारे लिए त्रिलोकी को देते हैं—मस्तिष्क, हृदय व स्थूलशरीर को प्राप्त कराते हैं। इस

प्रभु का हम बुद्धिपूर्वक कर्मों द्वारा स्तवन करते हुए आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

दस्युहनन+आर्यरक्षण

सुसानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून्प्रार्यं वर्णमावत्॥ ९॥

१. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **अत्यान्**=अतन (गति) के योग्य—गति के साधनभूत—अश्वों को (तुरग-गज-उष्ट्र आदि वाहनों को) **ससान**=प्राणियों के व्यवहार के लिए देते हैं। **उत**=और **सूर्यम्**=सबके प्रकाशक सूर्य को **ससान**=देते हैं। वे प्रभु **पुरुभोजसम्**=प्राणियों का खूब ही पालन करनेवाली—दूध-दही आदि अनेक भोगसाधनों को प्राप्त करानेवाली **गाम्**=गौ को **ससान**=देते हैं २. **उत**=और **हिरण्ययम्**=हिरण्य-विकारात्मक **भोगम्**=भोगसाधन कटक-मुकुट आदि को **ससान**=वे प्रभु देते हैं। वे प्रभु जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए सब साधनों को उपस्थित करके **दस्यून् हत्वी**=मार्ग में विघातकरूप से प्राप्त होनेवाले दस्युओं (चोर, डाकुओं) को समाप्त करके **आर्यं वर्णम्**=आर्य वर्ण को **प्रावत्**=रक्षित करते हैं—श्रेष्ठ कर्मों में निरत पुरुषों का प्रभु रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक सब साधनों को प्राप्त कराते हैं और मार्ग में विघ्नरूप से उपस्थित होनेवाले दस्युओं का विनाश करके श्रेष्ठ लोगों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'वल, विवाच् व अभिक्रतु' का निराकरण

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतीँरसनोदन्तरिक्षम्।
बिभेद वलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद्दमिताभिक्रतूनाम्॥ १०॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **ओषधीः**=व्रीहि-यव आदि ओषधियों को **असनोत्**=प्राणियों के उपभोग के लिए देते हैं तथा **अहानि**=कार्यों को कर सकने के लिए प्रकाशमय दिनों को प्राप्त कराते हैं। **वनस्पतीन् असनोत्**=आम्र-वट आदि वनस्पतियों को प्राप्त कराते हैं और **अन्तरिक्षम्**=गमनागमन की सुविधा के लिए आकाश को देते हैं। २. हमारे जीवन-मार्ग में अज्ञानान्धकार के आवरणरूप **वलम्**=वलासुर को **बिभेद**=विदीर्ण करते हैं। **विवाचः**=विरुद्ध=प्रतिकूल वाणीवाले लोगों को भी **नुनुदे**=हमसे दूर निराकृत करते हैं। **अथ**=अब **अभिक्रतूनाम्**=अभिचार यज्ञरूप शास्त्रविरुद्ध कर्मों के करनेवालों के **दमिता अभवत्**=दमन करनेवाले होते हैं। एवं, ये 'वल, विवाच् व अभिक्रतु' हमारी जीवन-यात्रा में विघ्न नहीं कर पाते। इसप्रकार प्रभु प्राणियों की इष्ट-प्राप्ति व अनिष्टपरिहार करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु सब ओषधि-वनस्पति आदि पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। अज्ञान के आवरण को दूर करते हैं। विरुद्धवाणी व विरुद्ध कर्मोंवाले लोगों को हमसे पृथक् करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

भरे नृतमम्, समत्सु वृत्राणि घ्नन्तम्

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ ११॥

१. **शुनम्**=आनन्दमय व सुखकर उस **मघवानम्**=ऐश्वर्यशाली **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अस्मिन् भरे**=इस जीवन-संग्राम में **हुवेम**=पुकारते हैं। **वाजसातौ** (वाजस्य सातिर्यस्मिन्)=शक्ति

प्राप्त करानेवाले इस संग्राम में वे प्रभु **नृतमम्**=हमारे उत्कृष्ट नेता हैं। वस्तुतः संघर्ष में ही शक्ति है। २. **शृण्वन्तम्**=हमारे आह्वान को सुननेवाले, **उग्रम्**=उद्‌गूर्ण बलवाले उस प्रभु को **समत्सु**=संग्रामों में **ऊतये**=रक्षण के लिए पुकारते हैं, जो प्रभु **वृत्राणि घ्नन्तम्**=ज्ञान के आवरक शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले हैं और **धनानां सञ्जितम्**=ज्ञानैश्वर्यों का विजय करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम संग्राम में सदा विजय प्राप्त करानेवाले प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु शत्रुओं को विनष्ट करके हमें ऐश्वर्यशाली बनाते हैं।

सब शत्रुओं को वश में करनेवाले व निवास को उत्तम बनानेवाले 'वसिष्ठ' अगले सूक्त के ऋषि हैं। सातवें मन्त्र में ये 'अत्रि' हो जाते हैं—जिसमें 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों का अभाव है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-स्तवन व ज्ञान-वृद्धि

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि॥ १॥

१. हे उपासको! तुम **श्रवस्या**=ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से **ब्रह्माणि**=स्तुतिमन्त्रों का—स्तोत्रों का **उ**=निश्चय से **उत् ऐरत**=उच्चारण करो। हे **वसिष्ठ**=अपने जीवन को उत्तम बनानेवाले यजमान! तू **समर्ये** (मर्या=मर्यादा)=मर्यादायुक्त यज्ञों में, सभाओं में (सह मर्या यत्र) **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **महय**=पूज, समाजों में व्यक्तिपूजन न होकर केवल प्रभु पूजन होगा तो मनुष्यों का परस्पर विरोध न होकर प्रेम बढ़ेगा। व्यक्तिपूजा से भेदभाव बढ़ता है। २. **यः**=जो इन्द्र **शवसा**=बल के द्वारा **विश्वानि**=सब भूतों को **आततान**=विस्तृत करते हैं, वह इन्द्र **ईवतः**=(गच्छतः) क्रियाशील—यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में लगे हुए **मे**=मेरे **वचांसि**=स्तुतिरूप वाक्यों को **उपश्रोता**=समीपता से सुननेवाले होते हैं। प्रभु अकर्मण्य की बात को तो सुनते ही नहीं। 'पूर्ण पुरुषार्थ' के उपरान्त ही तो प्रार्थना ठीक है। ये स्तुतिवचन ही वस्तुतः मुझे पवित्र और ज्ञान-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्तवन करूँ, जीवन-यज्ञ में प्रभु का पूजन करूँ। प्रभु मुझे बल देंगे और मेरे ज्ञान की वृद्धि करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवजामिः घोषः

अयामि घोष इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब **देवजामिः**=दिव्य गुण हैं बन्धु जिसके, अर्थात् जो दिव्यगुणों को जन्म देनेवाला है, वह **घोषः**=स्तोत्र—स्तुतिवचन **अयामि**=(अकारि) हमसे नियमितरूप से किया गया है तब इस **विवाचि**=विशिष्ट स्तुति-वाणीवाले यजमान में **शुरुधः**=(शुचं रुन्धन्ति) शोक-निवर्तक व स्वर्गफलक तत्त्व **इरज्यन्त**=परस्पर स्पर्धावाले होते हैं। एक-से-एक बढ़कर ये तत्त्व उसके शोक को रोकते हैं और सुख को बढ़ाते हैं। २. हे प्रभो! **जनेषु**=लोगों में **स्वमायुः**=अपनी आयु **नहि चिकिते**=नहीं जानी जाती। पता नहीं कब अन्त आ जाए, अतः आप शीघ्र ही **अस्मान्**=हमें **तानि अंहांसि**=उन आयुष्य की अल्पता के कारणभूत पापों से

इत्=निश्चयपूर्वक **अतिपर्षि**=लंघाकर पालित कीजिए।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन दिव्यगुणों का वर्धक है। हम नियम से प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें। यह स्तवन शोकरोधक तत्त्वों को बढ़ाएगा और प्रभु हमें पापों से पार ले-जाएँगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गवेषणं रथम्

युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान्॥ ३॥

१. मैं **गवेषणम्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाले **रथम्**=इस शरीर-रथ को **हरिभ्याम्**=इन्द्रियाश्वों से **युजे**=युक्त करता हूँ। इन्द्रियों को विषयों में भटकने से रोककर मैं उन्हें संयत करता हूँ। ये संयत इन्द्रियाँ ज्ञानवृद्धि का साधन बनती हैं। **जुजुषाणमस्थुः**=सबसे सेव्यमान उस प्रभु को **ब्रह्माणि**=मेरे द्वारा उच्चरित स्तोत्र **उपस्थुः**=उपस्थित होते हैं। मैं स्तोत्रों द्वारा प्रभु का उपासन करता हूँ। **स्यः इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **महित्वा**=अपनी महिमा से **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **विबाधिष्ट**=आक्रान्त करते हुए अपने-अपने स्थान में थामते (रोकते) हैं। सारे संसार को वे प्रभु नियन्त्रित करते हैं और **वृत्राणि**=ज्ञान को आवृत करनेवाले काम आदि शत्रुओं को **अप्रती जघन्वान्**=(न विद्यते पुनः प्राप्तिः प्रतिगति यस्मिन्) इसप्रकार नष्ट करते हैं कि वे फिर लौट ही न सकें। चेतन जगत् में भी उपासकों के शत्रुओं का नाश प्रभु ही करते हैं।

भावार्थ—मैं इन्द्रियों को संयत करके ज्ञान-प्राप्ति में लगाता हूँ, प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता हूँ। प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक को थामते हैं और उपासकों के वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धीभिः वाजान् (बुद्धि के साथ शक्ति)

आपश्चित्पिप्यु स्तर्यो३ न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान्॥ ४॥

१. **आपः**=रेतःकण (आपः रेतो भूत्वा०) **चित्**=निश्चय से **पिप्युः**=हमारे शरीरों में अभिवृद्ध होते हैं, परिणामतः **गावः**=इन्द्रियाँ **स्तर्यः न**=अब बन्ध्या (Sterile) नहीं हैं। इन रेतःकणों के रक्षण से वे अपना-अपना कार्य करने में समर्थ हुई हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते जरितारः**= आपके स्तोता **ऋतं नक्षन्**=ऋत को—सत्यफलवाले यज्ञ को व सत्य वेदज्ञान को—प्राप्त होते हैं। प्रभु का स्तोता यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है तथा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। २. जिस प्रकार **वायुः**=गतिशील जीव **नियुतः**=अपने इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार आप **नः अच्छा याहि**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होइए। जितना-जितना जीव इन्द्रियाश्वों को अपने समीप करता है, अर्थात् जितना-जितना उन्हें वश में करता है, उतना-उतना प्रभु के समीप हो पाता है। हे प्रभो! **त्वं हि**=आप ही **धीभिः**=बुद्धियों के साथ **वाजान्**=शक्तियों को **विदयसे**=देते है (प्रयच्छसि सा०)।

भावार्थ—सोम-रक्षण से इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं। प्रभु के स्तोता ऋत को प्राप्त करते हैं—यज्ञों को व वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं। जितना-जितना हम इन्द्रियों को वश में करते हैं, उतना-उतना ही प्रभु को प्राप्त करते हैं। प्रभु हमें बुद्धि के साथ शक्तियाँ देते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

शुष्मिणं तुविराधसम्

ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे।
एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व ॥ ५ ॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **ते मदाः**=वे उल्लासजनक सोमकण शरीर में रक्षित हुए-हुए **त्वा मादयन्तु**=आपको आनन्दित करें। जब हम सोमकणों का रक्षण करें तो आपके प्रकाश को हृदयों में अधिक-अधिक देख पाएँ। उन आपको, जोकि **जरित्रे**=स्तोता के लिए **शुष्मिणम्**=शक्ति देनेवाले हैं और **तुविराधसम्**=महान् ऐश्वर्यवाले हैं। २. हे प्रभो! **एकः**=आप अकेले **हि**=ही **देवत्रा**=सब देवों में **मर्तान्**=मनुष्यों को **दयसे**=रक्षित करते हैं। प्रभु अपने स्तोता को दिव्यगुणों में स्थापित करते हैं। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **अस्मिन् सवने**=इस जीवन-यज्ञ में **मादयस्व**=हमें आनन्दित कीजिए।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोमकणों के द्वारा ही प्रभु का प्रकाश दिखता है। प्रभु स्तोता को बल व ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। प्रभु हमें दिव्यगुणों में स्थापित करते हैं और जीवन-यज्ञ में आनन्दित करते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वृषणं वज्रबाहुम्

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्य र्चन्त्यर्कैः।
स नं स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

१. **एव**=इसप्रकार **वसिष्ठासः**=काम-क्रोध को वश में करनेवाले उपासक **इत्**=निश्चय से **अर्कैः**=स्तुतिसाधक मन्त्रों के द्वारा **वृषणम्**=शक्तिशाली **वज्रबाहुम्**=वज्रहस्त—शत्रुओं को वज्र द्वारा नष्ट करनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अभ्यर्चन्ति**=प्रातः-सायं पूजते हैं। २. **सः**=वे **स्तुतः**=स्तुति किये गये प्रभु **नः**=हमें **वीरवत्**=उत्तम वीर सन्तानों से युक्त **गोमत्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले धन को **धातु**=दें। हे देवो! आप सब **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के साथ **सदा नः पात**=सदा हमारा रक्षण करो।

भावार्थ—हम वसिष्ठ बनकर प्रभु का अर्चन करें। प्रभु हमें वीरों व प्रशस्तेन्द्रियों से युक्त धन दें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

माध्यन्दिने सवने मत्सत् इन्द्रः

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ् माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः ॥ ७ ॥

१. **ऋजीषी**=(ऋजु+ईष्) वे प्रभु हृदयस्थ होकर सदा सरलता की प्रेरणा देनेवाले हैं। **वज्री**=क्रियाशीलतारूप व्रज को हाथ में लिये हुए हैं। **वृषभः**=सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **तुराषाट्**=हिंसक शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। **शुष्मी**=शत्रुशोषक बलवाले हैं। **राजा**=दीप्तरूपवाले वे प्रभु **वृत्रहा**=वासनाओं का विनाश करनेवाले व **सोमपावा**=हमारे शरीरों में सोम का रक्षण करनेवाले हैं। २. **हरिभ्याम्**=इन्द्रियों से **युक्त्वा**=हमारे शरीर-रथों को योजित करके **अर्वाङ्**=हमारे अभिमुख प्राप्त होते हुए **उपयासत्**=हमें प्राप्त हों। ये **इन्द्रः**=परमेश्वर्यशाली प्रभु **माध्यन्दिने सवने**=जीवन के इस माध्यन्दिन सवन में **मत्सत्**=सोम-रक्षण द्वारा हमें आनन्दित करें।

प्रात:सवन में भी सोम-रक्षण आवश्यक है। उस समय आचार्यकुल में सारा वातावरण उसके अनुकूल-सा ही होता है। सायन्तन सवन में भी वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम में सोम-रक्षण सरल है। माध्यन्दिन में—गृहस्थ के समय ही इसका रक्षण सर्वाधिक कठिन होता है। उस समय प्रभु-स्मरण इसमें सहायक होता है।

भावार्थ—ऋजुता की प्रेरणा देनेवाले प्रभु हमें वासनाओं का विजय करके सोम-रक्षण के योग्य बनाएँ। प्रभु हमें प्राप्त हों और यह प्रभु-स्मरण जीवन के मध्याह्न में भी हमें सोम-रक्षण में समर्थ करे।

यह सोमी पुरुष सुन्दर दिव्यगुणों को धारण करके 'वामदेव' बनता है। प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होने से 'गोतम' है। वासनाओं का संहार करनेवाला यह 'कुत्स' होता है (कुथ हिंसायाम्) तथा सभी के साथ स्नेह से चलनेवाला 'विश्वामित्र' होता है। ये ही क्रमशः अगले सूक्त में ऋषि हैं—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्राबृहस्पती** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वामदेव

इन्द्र॑श्च॒ सोमं॑ पिबतं बृहस्पते॒ऽस्मिन्य॒ज्ञे म॑न्दसा॒ना वृ॑षण्वसू।
आ वां॑ विश॒न्त्विन्द॑वः स्वा॒भुवो॒ऽस्मे र॒यिं सर्व॑वीरं॒ नि य॑च्छतम्॥ १॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! आप **इन्द्रः च**=और इन्द्र—जितेन्द्रियता की देवता—**अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **सोमं पिबतम्**=सोम का पान करो, अर्थात् मैं ज्ञानरुचिवाला व जितेन्द्रिय बनकर सोम का रक्षण कर सकूँ। जितेन्द्रियता व ज्ञानरुचिता—ये दोनों दिव्यभाव **मन्दसाना**=हमें आनन्दित करनेवाले हैं और **वृषण्वसू**=हमारे लिए वसुओं (धनों) का वर्षण करनेवाले हैं। २. हे बृहस्पते व इन्द्र! **वाम्**=आपके ये **स्वाभुवः**=(सुष्ठु सर्वतो भवन्तः= कृत्स्नशरीरव्यापिनः) सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होनेवाले **इन्दवः**=सोमकण **आविशन्तु**=शरीर में सर्वत्र प्रवेशवाले हों। हे ज्ञानरुचिते व जितेन्द्रियते! **अस्मे**=हमारे लिए **सर्ववीरम्**=सब वीर सन्तानों से युक्त **रयिम्**=धन को **नियच्छतम्**=दो।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व ज्ञानरुचिता शरीर में सोम-रक्षण का कारण बनकर हमें हर्षित करते हैं, आवश्यक वसुओं को प्राप्त कराते हैं, वीर सन्तानों से युक्त धन को देनेवाले होते हैं। ये ही हमें इस मन्त्र का ऋषि वामदेव बनाते हैं।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

गोतम

आ वो॑ वहन्तु॒ सप्त॑यो रघु॒ष्यदो॑ रघु॒पत्वा॑नः॒ प्र जि॑गात बा॒हुभिः॑।
सीद॒ता ब॒र्हिरु॒रु व॒ः सद॑स्कृ॒तं मा॒दय॑ध्वं मरुतो॒ मध्वो॒ अन्ध॑सः॥ २॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=तुम्हें **रघुष्यदः**=शीघ्र गतिवाले—अपने-अपने कार्यों को स्फूर्ति से करनेवाले **सप्तयः**=इन्द्रियाश्व **आवहन्तु**=हमें प्राप्त कराएँ। वस्तुतः इन्द्रियों का अपने कार्यों में लगे रहना—आलस्य में न पड़ना प्राणशक्ति का वर्धन करता है। हे **रघुपत्वानः**=शीघ्र गतिवाले—जीवन को गतिमय बनानेवाले प्राणो! आप **बाहुभिः**=(बाहृ प्रयत्ने) विविध प्रयत्नों के साथ हमें **प्रजिगात**=प्राप्त होओ। प्राणशक्ति के होने पर मनुष्य सतत गतिवाला—आलस्यशून्य होता है। २. हे प्राणो! **बर्हिः सीदत**=हृदयान्तरिक्ष में आसीन होओ, हृदय को वस्तुतः तुम्हीं ने वासनाओं के उद्बर्हण से 'बर्हि' बनाना है। **वः**=तुम्हारे द्वारा **सदः**=वह हृदयासन **उरु कृतम्**=विशाल बनाया

गया है। प्राणसाधना से हृदय विशाल बनता है। हे **मरुतः**=प्राणो! **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **अन्धसः**=सोम के द्वारा—शरीर में सोम-रक्षण के द्वारा हमारे जीवन को **मादयध्वम्**=आनन्दयुक्त करो।

भावार्थ—इन्द्रियों के अपने-अपने कर्मों में लगे रहने से प्राणशक्ति बढ़ती है। प्राणशक्ति की वृद्धि हमें आलस्यशून्य बनाती है। प्राणसाधना से हृदय पवित्र व विशाल बनता है। यह प्राण-साधना सोम-रक्षण द्वारा जीवन को आनन्दमय बनाती है। इसप्रकार यह साधक 'गोतम' बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कुत्स

इमं स्तोमम॒र्हते जा॒तवे॑दसे॒ रथ॑मिव॒ सं म॑हेमा मनी॒षया॑।
भ॒द्रा हि नः॒ प्रम॑तिरस्य सं॒सद्यग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑॥ ३॥

१. **अर्हते**=पूज्य **जातवेदसे**=सर्वज्ञ उस प्रभु के लिए **इमं स्तोमम्**=इस स्तोत्र को **मनीषया**=बुद्धि से—समझदारी से—विचारपूर्वक **संमहेम**=सम्यक् पूजित—निष्पादित करें। हम ज्ञानपूर्वक प्रभु का स्तवन करें। यह स्तोम **रथम् इव**=जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए रथ के समान है। यह जीवन-यात्रा की पूर्ति का साधन बनता है। इससे हमारे सामने लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न होती है। २. **अस्य**=इस पूजनीय प्रभु की **संसदि**=उपासना में—समीप स्थिति में **नः**=हमारी **प्रमतिः**=प्रकृष्ट बुद्धि **भद्रा**=कल्याणी होती है। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=मत हिंसित होवें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु-स्तवन जीवन-यात्रा में रथ के समान होता है। प्रभु की उपासना से कल्याणी मति प्राप्त होती है। यह उपासना हमें विनष्ट नहीं होने देती।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विश्वामित्र

ऐभि॑रग्ने स॒रथं॑ याह्य॒र्वाङ् नाना॑र॒थं वा॑ वि॒भवो॒ ह्यश्वाः॑।
पत्नी॑वतस्त्रिं॒शतं॒ त्रींश्च॑ दे॒वान॑नुष्व॒धमा व॑ह मा॒दय॑स्व॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ऐभिः**=इन सब देवों के साथ आप **सरथम्**=समान शरीर-रथ में **अर्वाङ्**=आभिमुख्येन **आयाहि**=प्राप्त होइए। **नानारथम्**=विविध शक्तियों (देवों) से युक्त होने के कारण उस-उस देव के रथ के रूप में इस नानारथरूप शरीर को आप **वा**=निश्चय से प्राप्त होइए। **अश्वाः**=इस शरीर-रथ के ये इन्द्रियाश्व **हि**=निश्चय से **विभवः**=विशिष्ट शक्ति से युक्त हैं। प्रभु की उपासना इन्हें शक्तिशाली बनती ही है। २. हे प्रभो! आप **पत्नीवतः**=सपत्नीक—शक्तिरूप पत्नियों से युक्त—इन **त्रिंशतं त्रीन् च**=तीस और तीन—तेतीस **देवान्**=देवों को **अनुष्वधम्**=स्वधा का—आत्मधारण-शक्ति का लक्ष्य करके **आवह**=प्राप्त कराइए और **मादयस्व**=हमारे जीवनों को आनन्दित कीजिए। शरीर पृथिवीलोक है, हृदय अन्तरिक्षलोक है, मस्तिष्क द्युलोक है। इन लोकों में ११-११ देवों का निवास है। प्रभु की उपासना से ये सब देव हमारे शरीर में उपस्थित होते हैं 'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'। आँख में सूर्य, नासिका में वायु, मुख में अग्नि, हृदय में चन्द्रमा और इसी प्रकार अन्य सब देवों की शरीर में स्थिति है। इनके साथ चौंतीसवाँ महादेव होता है। इस शरीर को धारण करनेवाला यह उपासक 'विश्वामित्र' होता है—सबके प्रति स्नेहवाला—कटुता से शून्य।

भावार्थ—सब देवों के साथ प्रभु हमें इस शरीर में प्राप्त हों। हमारा यह शरीर देव-मन्दिर बने। इस मन्दिर के पुजारी हम 'विश्वामित्र' बनें।

गत सूक्त के अनुसार यदि मैं प्रथमाश्रम में 'वामदेव'=सुन्दर दिव्यगुणोंवाला बनने का प्रयत्न करता हूँ। द्वितीयाश्राम में इन्द्रियों को विषयों में न फँसने देकर 'गोतम' बनता हूँ, तथा तृतीय आश्रम में वासनाओं का पूर्ण संहार करके 'कुत्स' होता हूँ और चौथे आश्रम में 'विश्वामित्र' बनता हूँ तो मैं सचमुच 'सोभरि' हूँ—जिसने अपना उत्तम भरण किया है। यह 'सोभरि' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—सोभरिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—काकुभःप्रगाथः
(विषमा+ककुप्+समा-सतोबृहती)॥

अपूर्व्य-कत्+चित्

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः। वाजे चित्रं हवामहे॥ १॥

१. हे **अपूर्व्य**=(अपूर्वेण साधुः) अद्भुतों में उत्तम, अद्भुत-तम प्रभो! **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **त्वाम्**=आपको **भरन्तः**=अपने में धारण करते हुए **अवस्यवः**=रक्षा की कामनावाले होते हैं। आपने ही तो हमारा रक्षण करना है। २. **स्थूरं न**=एक शक्तिशाली के समान **चित्रम्**=ज्ञान देनेवाले (चित्+र) **कश्चित्**=(कत् चित्) आनन्दमय चिद्रूप आपको **वाजे**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। आपसे-शक्ति प्राप्त करके ही हम जीवन-संग्राम में सफल होंगे। आप शक्ति देते हैं, ज्ञान देते हैं और इसप्रकार हमारे जीवन को आनन्दमय बनाते हैं।

भावार्थ—हम अद्भुत-तम, शक्तिशाली, आनन्दमय, ज्ञानी प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु से ही शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके हम जीवन-संग्राम में सफल होते हैं।

ऋषिः—सोभरिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—काकुभःप्रगाथः
(विषमा+ककुप्+समा-सतोबृहती)॥

सानसिम्-अवितारम्

उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वाम्**=आपको **कर्मन्**=युद्ध आदि कर्मों के प्रस्तुत होने पर **ऊतये**=रक्षा के लिए **उप**=समीपता से प्राप्त होते हैं। **यः**=जो **धृषत्**=शत्रुओं का धर्षक है, **सः**=वह **युवा**=बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को हमसे मिलानेवाला, **उग्रः**=उद्गूर्ण बलवाला इन्द्र **नः**=हमें **चक्राम**=प्राप्त होता है (क्रामति)—सहायकरूप से हमारे समीप आता है। २. हे इन्द्र! परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! **सानसिम्**=(सम्भक्तारम्) सब वस्तुओं के देनेवाले **अवितारम्**=रक्षक **त्वाम् इत् हि**=आपको ही **सखायः**=मित्र बनाते हुए **ववृमहे**=वरण करते हैं।

भावार्थ—हम सम्भजनीय, रक्षक प्रभु का ही वरण करते हैं। प्रभु हमें प्राप्त होते हैं और हमारा रक्षण करते हैं। प्रभु ही हमें सब कार्यों में विजय प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—सोभरिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—काकुभःप्रगाथः
(विषमा+ककुप्+समा-सतोबृहती)॥

वस्यः प्र आनिनाय

यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे। सखाय इन्द्रमूतये॥ ३॥

१. **यः**=जो **नः**=हमारे लिए व **वः**=तुम्हारे लिए, अर्थात् सबके लिए **इदम् इदम्**=इस और इस **वस्यः**=प्रशस्त धन को **पुरा**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण के हेतु से **प्र आनिनाय**=प्रकर्षेण प्राप्त कराते हैं **तमु**=उसको ही **स्तुषे**=मैं स्तुत करता हूँ। २. **सखायः**=हे मित्रो! हम **ऊतये**=रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें पालन व पूरण के लिए उत्कृष्ट वसुओं को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**सोभरिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**काकुभःप्रगाथः**
(विषमा+ककुप्+समा-सतोबृहती) ॥

'हर्यश्व' प्रभु

हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम्॥ ४॥

१. **हर्यश्वम्**=दुःखों का हरण करनेवाले, इन्द्रियाश्वों को देनेवाले, **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक, **चर्षणीसहम्**=सब मनुष्यों के अभिभविता, अर्थात् नियन्ता उस प्रभु का हम स्तवन करते हैं। **सः**=वह प्रभु **हि**=ही **स्म**=निश्चय से स्तुत्य हैं। **यः**=जो **अमन्दत**=आनन्दमय होते हुए स्तोताओं को आनन्दित करते हैं। २. **सः मघवा**=वे ऐश्वर्यशाली प्रभु **तु**=तो **नः स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **गव्यम्**=ज्ञानेन्द्रियों के समूह को तथा **अश्व्यम्**=कर्मेन्द्रियों के समूह हो **आवयति**=प्राप्त कराते हैं (वी गत्यादिषु)।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे लिए उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं।

प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करनेवाला स्तोता 'गोतम' है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'मंहिष्ठ-सत्यशुष्म' प्रभु

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम्॥ १॥

१. **मंहिष्ठाय**=दातृतम—सर्वाधिक देनेवाले, **बृहते**=महान्, **बृहद्रये**=प्रभूत धनवाले—सर्वैश्वर्य-सम्पन्न, **सत्यशुष्माय**=सत्य (यथार्थ) बलवाले प्रभु के लिए, **तवसे**=बल की प्राप्ति के लिए, **मतिम्**=मननपूर्वक की गई स्तुति को **भरे**=करता हूँ। प्रभु-स्तवन से ही तो बल प्राप्त होता है। २. **यस्य**=जिस प्रभु का **विश्वायु**=सम्पूर्ण मनुष्यों का पालन करनेवाला **राधः**=ऐश्वर्य **प्रवणे**=अवनत प्रदेश में **अपाम् इव**=जलों के प्रवाह के समान **दुर्धरम्**=रोका नहीं जा सकता। यह प्रभु का ऐश्वर्य **शवसे**=उपासक के बल के लिए **अपावृतम्**=अपगत आवरणवाला होता है। प्रभु का यह ऐश्वर्य बल प्राप्त कराता ही है।

भावार्थ—प्रभु सर्वमहान् दाता हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु का ऐश्वर्य हमारे लिए शक्ति देनेवाला होता है।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-पूजन की सहजवृत्ति

अध ते विश्वमनु हासदिष्टय आपो निम्नेव सवना हविष्मतः।
यत्पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः॥ २॥

१. **अध**=अब, हे इन्द्र! **ते इष्टये**=आपके पूजन के लिए **विश्वम्**=सम्पूर्ण जगत् **ह**=निश्चय से **अनु असत्**=अनुकूल हो। हमारी सारी परिस्थिति इसप्रकार की हो कि हम आपका पूजन कर सकें। **हविष्मतः**=यज्ञशील पुरुष के **सवना**=जीवन के तीनों सवन—प्रातःसवन, माध्यन्दिन-सवन व सायन्तनसवन—प्रथम २४ वर्ष, अगले ४४ वर्ष व अन्तिम ४८ वर्ष—आपकी ओर इसप्रकार अग्रसर हों, **इव**=जैसेकि **आपःनिम्ना**=जल निम्नप्रदेश की ओर बहाववाले होते हैं। हम अपने जीवन में आपके प्रति सहज पूजा की वृत्तिवाले हों। २. इसलिए हम आपकी पूजावाले हों, **यत्**=जिससे कि **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का **वज्रः**=क्रियाशीलतारूप वज्र **हर्यत**=बड़ा कान्त (कमनीय) हो, **श्नथिता**=वासनारूप शत्रुओं का हिंसक हो और **पर्वते**=अविद्यापर्वत पर **न समशीत**=सक्त न हो जाए, अपितु उस अविद्यापर्वत का विदारण करनेवाला ही बने। प्रभु का पूजन हमें इसप्रकार यज्ञ आदि उत्तमकर्मों में प्रवृत्त करेगा कि हम अविद्यापर्वत का विदारण, ज्ञान-प्रकाश की प्राप्ति और वासनान्धकार को विनष्ट कर सकेंगे।

भावार्थ—हमारी सारी परिस्थिति हमें प्रभु-पूजन की ओर झुकानेवाली हो। हम सदा प्रभु-पूजन की सहज वृत्तिवाले हों। क्रियाशील बनकर अविद्या-विध्वंस करते हुए वासनाओं को दग्ध करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उषाकाल में प्रभु-पूजन

अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे।
यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे॥ ३॥

१. **अस्मै**=इस **भीमाय**=शत्रुओं के लिए भयंकर **पनीयसे**=स्तुत्य प्रभु के लिए **उषः न शुभ्रे**=उषाकाल के समान शुभ्र **अध्वरे**=यज्ञ में **नमसा**=नमन के साथ **सम् आभर**=अपने को सम्यक् प्राप्त करा। उपासक को चाहिए कि उषाकाल में नम्रता के साथ प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हो। २. उस परमात्मा की उपासना में हम प्रवृत्त हों **यस्य**=जिस प्रभु का **धाम**=तेज **श्रवसे**=हमारी यशोवृद्धि के लिए होता है। जिस प्रभु का **नाम**=नामस्मरण **इन्द्रियम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए हितकर होता है (इन्द्रहितम्)। प्रभु-नाम-स्मरण से वासना का विनाश होता है, अतः मनुष्य जितेन्द्रिय बन पाता है। जिस प्रभु का **ज्योतिः**=प्रकाश **हरितः न**=दिशाओं की भाँति **अयसे**=गति के लिए होता है, अर्थात् जहाँ तक दिशाओं का विस्तार है, वहाँ तक प्रभु का प्रकाश फैला हुआ है। उपासक इस प्रकाश में मार्ग को देख पाता है और आगे बढ़ता है।

भावार्थ—हम प्रतिदिन उषाकाल में प्रभु-पूजन में प्रवृत्त हों। हमें प्रभु का तेज प्राप्त होगा। प्रभु का नामस्मरण हमें बल देगा। प्रभु के प्रकाश में हम मार्ग पर आगे बढ़ेंगे।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इमे वयं ते (प्रभु के)

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः॥ ४॥

१. हे **पुरुष्टुत**=पालन व पूरण करनेवाली है स्तुति जिनकी, ऐसे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **इमे**=ये **ते वयम्**=वे हम सब **ते**=आपके हैं, **ये**=जो हे **प्रभूवसो**=प्रभूतधन प्रभो! **त्वा आरभ्य**=आपका आश्रय करके ही **चरामसि**=गति करते हैं। २. हे **गिर्वणः**=स्तुतिवाणियों से सम्भजनीय प्रभो! **त्वदन्यः**(त्वत् अन्यः)=आप से भिन्न और कोई **गिरः**=इन स्तुतिवाणियों को

नहि सघत्=नहीं सहता। स्तुत्य जो आप हैं, आपकी महिमा तो अनन्त है, उसकी तुलना में हमारे स्तुतिवचन अत्यल्प हैं, अतः हम आपकी ठीक स्तुति नहीं कर पाते, फिर भी **क्षोणीः इव**=आपकी प्रजाओं के समान जो हम हैं उन **नः**=हमारे **तत् वचः**=उन स्तुतिवचनों को **प्रतिहर्य**=प्रीतिपूर्वक ग्रहण कीजिए। ये हमसे उच्चरित स्तुतिवचन आपके लिए प्रिय हों।

भावार्थ—हम प्रभु के ही तो हैं, प्रभु के आश्रय से ही सब कार्यों को कर पाते हैं। यद्यपि स्तुत्य प्रभु की महिमा को हमारे स्तुतिवचन पूर्णतया माप नहीं पाते, तो भी हमारे ये स्तुतिवचन प्रभु के लिए प्रिय हों—हम इनके द्वारा प्रभु-जैसा बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'अनन्त-शक्ति' प्रभु

भूरि त इन्द्र वीर्यं तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन्काममा पृण।
अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **ते वीर्यम्**=आपका पराक्रम **भूरि**=महान् है। **तव स्मसि**=हम आपके ही तो हैं। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्य स्तोतुः कामम् आपृण**=इस स्तोता की कामना को पूरण कीजिए। २. यह **बृहती द्यौः**=विशाल द्युलोक **ते वीर्यम् अनु**=आपके पराक्रम से ही **ममे**=निर्मित हुआ है। **इयं च पृथिवी**=और यह पृथिवी **ते**=आपके **ओजसे नेमे**=ओज के लिए नतमस्तक होती है। वस्तुतः ये द्यावापृथिवी आपकी महिमा का ही प्रतिपादन कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति अनन्त है। प्रभु ही स्तोता की कामना को पूरण करते हैं। ये द्यावा-पृथिवी प्रभु की ही महिमा हैं।

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अविद्यापर्वत का विदारण

त्वं तमिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन्पर्वशश्चकर्तिथ।
अवासृजो निवृताः सर्तवा अपः सत्रा विश्वं दधिषे केवलं सहः॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **वज्रिन्**=ज्ञानव्रज को हाथ में लिये हुए प्रभो! **त्वम्**=आप **तम्**=उस **महान्**=महान् **उरुम्**=विशाल **पर्वतम्**=अविद्यापर्वत को **वज्रेण**=ज्ञान-वज्र के द्वारा **पर्वशः**=एक-एक पर्व करके **चकर्तिथ**=काट डालते हैं। हृदय में प्रभु की स्थिति होते ही सब अज्ञानान्धकार विलीन हो जाता है। २. अविद्यापर्वत के विनाश के द्वारा आप **निवृताः**=वासना के आवरण से ढके हुए **अपः**=रेतःकणों को **सर्तव**=शरीर में गति के लिए **अवासृजः**=विसृष्ट करते हैं। काम के पाश से मुक्त होने पर रेतःकण शरीर में ही गतिवाले होते हैं। इसप्रकार **सत्रा**=सचमुच **विश्वम्**=सब—अंग-प्रत्यंग में प्रविष्ट **केवलम्**=आनन्द में विचरण करानेवाले **सहः**=बल को **दधिषे**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानवज्र द्वारा अविद्यापर्वत का विदारण करते हैं। इसप्रकार वासना-विनाश के द्वारा सोमकणों की शरीर में गति कराते हुए वे प्रभु हममें आनन्दप्रद बल को स्थापित करते हैं।

वासनाओं से पीड़ित न होनेवाला यह उपासक अपने अन्दर प्राणशक्ति को धारण करता है, अतः 'अयास्य' कहलाता है—अनथक। यह अगले सूक्त का ऋषि है। यह 'बृहस्पति' नाम से प्रभु का स्तवन करता है—

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—अयास्यः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

प्रभु का उच्चैःस्तवन

उद्प्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्य१र्का अनावन्॥ १॥

१. **उदप्रुतः**=जलों में विचरण करते हुए, **रक्षमाणाः**=व्याध आदि से अपना रक्षण करते हुए **वयः न**=पक्षियों के समान ऊँचा शब्द करते हुए **अर्काः**=अर्चना करनेवाले स्तोता **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी उस महान् देव को **अभि अनावन्**=अभिष्टुत करते हैं। २. यह प्रभु का स्तवन इन स्तोताओं को भी वासनारूप शत्रुओं से बचाता है। ये उपासक काम-क्रोध आदि के शिकार नहीं हो जाते। २. **वावदतः**=खूब ही गर्जना के शब्दों को करते हुए **अभ्रियस्य**=मेघसमूह के **घोषाः**=शब्दों की **इव**=भाँति ये स्तोता उस प्रभु के स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हैं। इन स्तोताओं का यह स्तुतिपाठ मेघध्वनि के समान गम्भीरता को लिये हुए होता है। ३. **गिरिभ्रजः**=पर्वतों से निकलनेवाले **मदन्तः**=सस्य आदि को तृप्त करते हुए **ऊर्मयः न**=(current, flow) जल-प्रवाहों के समान शब्द करते हुए ये उपासक प्रभु का स्तवन करते हैं। इन उपासकों का यह स्तवन भी एक अद्भुत तृप्ति का साधन बनता है।

भावार्थ—जलचर पक्षियों के समान, गर्जना करते हुए मेघों की ध्वनि के समान, पर्वत से प्रवाहित होते हुए झरनों के समान शब्द करते हुए ये उपासक प्रभु-स्तवन करते हैं। यह स्तवन उन्हें वासनाओं के आक्रमण से बचाता है। यह उनमें गम्भीरता व हर्ष उत्पन्न करता है। एवं यह स्तोता 'अनासक्त, गम्भीर व उल्लासमय जीवनवाला होता है।'

ऋषिः—अयास्यः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

गोभिः नक्षमाणः

सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भगइवेदर्यमणं निनाय।
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ॥ २॥

१. **गोभिः**=स्तुतिवाणियों से व ज्ञानवाणियों से **नक्षमाणः**=व्याप्त होता हुआ **अङ्गिरसः**=यह रसमय अंगोंवाला उपासक **अर्यमणम्**=शत्रुओं के नियामक उस प्रभु को **इत्**=निश्चय से **भगः इव**=ऐश्वर्य के समान (भगम् इव) **संनिनाय**=अपने हृदय में प्राप्त कराता है। प्रभु का हृदय में स्मरण करता है—प्रभु को ही अपना ऐश्वर्य समझता है। यहाँ 'अंगिरसः' शब्द शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य का संकेत कर रहा है, 'गोभिः नक्षमाणः' पद ज्ञान का संकेत करते हुए मस्तिष्क की दीप्ति का उल्लेख करते हैं तथा 'अर्यमणं' शब्द शत्रुसंयम द्वारा मन की निर्मलता को कह रहे हैं। २. वह प्रभु **जने**=प्राणिसमूह में **मित्रः न**=मित्र के समान **दम्पती**=इन उपासक पति-पत्नी को **अनक्ति**=प्राप्त होता है (गच्छति)। हे **बृहस्पते**=ब्रह्मणस्पते प्रभो! **आजौ**=संग्राम में **आशून् इव**=शीघ्रगामी अश्वों के समान **वाजय**=इन पति-पत्नी को आप गमन के लिए प्रेरित कीजिए (वज गतौ)। आपके उपासक इस जीवन-संग्राम में शत्रुओं को जीतते हुए आगे बढ़ें।

भावार्थ—स्तुति करते हुए हम प्रभु को ही अपना ऐश्वर्य जानें। प्रभु को हृदय में आसीन करें। प्रभु मित्र के समान हमें प्राप्त होते हैं और हमें जीवन-संग्राम में गतिशील बनाते हैं।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पर्वतेभ्यः वितूर्य

साध्वर्या अतिथिनीरिषिरा स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥ ३ ॥

१. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञान के स्वामी प्रभु **गाः**=इन्द्रियों को **पर्वतेभ्यः**=अविद्यापर्वतों से **वितूर्य**=पृथक् करके—बाहर करके **निः ऊपे**=स्तोताओं के लिए (निर्वपति=प्रयच्छति) देते हैं। **इव**=जिस प्रकार **स्थिविभ्यः**=कुसूलों से—खत्तियों से निकालकर **यवम्**=जौ को। अथवा **स्थिविभ्यः**=स्थिर यवकाण्डों से पृथक् करके यवों को हमारे लिए देते हैं। २. ये इन्द्रियाँ **साधु अर्याः**=सदा उत्तम कार्यों की ओर गतिवाली होती हैं। **अतिथिनीः**=प्रभुरूप अतिथि की ओर निरन्तर चलनेवाली होती हैं, अतएव ये **इषिराः**=एषणीय (चाहने योग्य) व **स्पार्हाः**=सबसे स्पृहणीय, **सुवर्णाः**=उत्तम वर्ण-(रूप)-वाली व **अनवद्यरूपाः**=प्रशस्तरूपवाली होती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें। प्रभु हमें पवित्र इन्द्रियों को प्राप्त कराएँगे। हमारी इन्द्रियाँ अविद्यापर्वत से बाहर आ जाएँगी।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अर्कः-बृहस्पतिः

आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ४ ॥

१. **मधुना**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम (वीर्य) के द्वारा **आप्रुषायन्**=शरीर-भूमि को सर्वतः सिक्त करता हुआ और **ऋतस्य योनिम्**=सत्य वेदज्ञान के उत्पत्तिस्थान प्रभु को **अवक्षिपन्**=(अवाङ् मुखं प्रेरयन्) अपने अन्दर प्रेरित करता हुआ **अर्कः**=उपासक **त्वचम्**=अज्ञानान्धकार के आवरण को **विबिभेद**=विदीर्ण कर डालता है। इसप्रकार विदीर्ण कर डालता है, **इव**=जैसेकि **उद्ना**=जल से **भूम्याः**=भूमि की त्वचा को विदीर्ण कर दिया जाता है। २. यह उपासक **द्योः उल्काम् इव**=जिस प्रकार आकाश से उल्का (flame) अग्नि-ज्वाला को, इसीप्रकार ज्ञान को अपने अन्दर प्रेरित करता हुआ **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी बनता है और **अश्मनः**=अविद्यान्धकाररूप पर्वत से **गाः**=इन्द्रियरूप गौओं को **उद्धरन्**=उद्धृत करता हुआ होता है। धीमे-धीमे अविद्या के विनाश के द्वारा सब इन्द्रियों को दीप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम शरीर में सोम का सर्वतःसेचन करें। प्रभु व ज्ञान को अपने हृदयों में प्रेरित करते हुए इन्द्रियों को अविद्यान्धकार से बाहर करें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

उद्नः शीपालम् इव

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत्।
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥ ५ ॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **ज्योतिषा**=ज्ञान-ज्योति के द्वारा **अन्तरिक्षात्**=हमारे हृदयान्तरिक्ष से **तमः**=अन्धकार को **अप आजत्**=दूर फेंक देता है, **इव**=जैसेकि **वातः**=वायु **उद्नः**=पानी पर से **शीपालम्**=शैवाल—काई को दूर फेंक देता है। प्रभु ज्योति के द्वारा अज्ञानान्धकार को इसीप्रकार परे फेंक देते हैं जैसेकि तेज़ वायु पानी पर से काई को परे फेंक देती है। २. वे प्रभु **वलस्य**=ज्ञान के आवरणभूत कामरूप आसुरभाव को **अनुमृश्य**=क्रमशः दूर

करके (मृश्=to remove, rule off) गाः **आचक्रे**=चारों ओर ज्ञान-रश्मियों को फैलानेवाले होते हैं। प्रभु काम (वृत्र) को इसप्रकार दूर कर देते हैं, **इव**=जैसेकि **वातः**=वायु **अभ्रम्**=मेघ को दूर कर देता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयान्तरिक्ष से अन्धकार को ज्योति के द्वारा इसप्रकार भगा देते हैं, जैसे तेज वायु मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वल जसु-भेदन

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम्॥ ६॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यदा**=जब **पीयतः**=हिंसा करनेवाले **वलस्य**=ज्ञान के आवरणभूत काम के **जसुम्**=विनाशक प्रभाव को **अग्नितपोभिः**=अग्नि के समान दीप्त **अर्कैः**=अर्चन-साधन मन्त्रों से **भेद्**=विनष्ट कर डालता है तब **उस्रियाणाम्**=ज्ञानरश्मियों (light) के **निधीन्**=कोशों को **आविः अकृणोत्**=प्रकट करता है। २. न=जिस प्रकार **जिह्वा परिविष्टम्**=जिह्वा परोसे हुए भोजन को **दद्भिः**=दाँतों से **आदत्**=खाती है, उसीप्रकार प्रभु वल=वृत्र=काम के विनाशक प्रभाव को खा जाते हैं। हृदय में प्रभु के आसीन होने पर वहाँ से काम विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की वाणियों के द्वारा वासना-जनित अन्धकार को विनष्ट करते हैं और ज्ञान-रश्मियों के कोश को प्रकट कर देते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भम्

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्॥ ७॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु **गुहा सदने**=बुद्धिरूप गुहा के स्थान में **स्वरीणाम्**=शब्दायमान **आसाम्**=इन ज्ञान-धेनुओं के **त्यत् नाम**=उस प्रसिद्ध (नाम=form) स्वरूप को **अमत**=जब जनाते हैं तब **हि**=निश्चय से **पर्वतस्य गर्भं भित्त्वा**=अविद्यापर्वत के गर्भ को विदीर्ण करके **उस्रियाः**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली धेनुओं को **त्मना**=स्वयं ही **उदजत्**=उद्गत करते हैं। प्रभु वासना को विनष्ट करते हैं—ज्ञानरश्मियों को प्रकट करते हैं। २. प्रभु बुद्धिरूप गुहा में स्थित ज्ञान की रश्मियों को इसप्रकार प्रकट करते हैं, **इव**=जिस प्रकार **शकुनस्य**=पक्षी के **आण्डा**=अण्डों को **भित्त्वा**=विदीर्ण करके तदन्तःस्थित **गर्भम्**=गर्भ को प्रकट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु वासना-विनाश द्वारा ज्ञानरश्मियों को हमारे हृदयों में प्रकट करते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चमसं न वृक्षाद्

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य॥ ८॥

१. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति प्रभु ने जीव के **मधु**=जीवन को मधुर बनानेवाले ज्ञान को **अश्ना**=(अश्मना) अविद्यापर्वत से **अपिनद्धम्**=ढका हुआ **पर्यपश्यत्**=देखा। इसप्रकार देखा,

न=जैसेकि **दीने**=परिक्षीण **उदनि**=जल में **क्षियन्तम्**=निवास करते हुए **मत्स्यम्**=मछली को कोई देखता है। २. परमात्मा ने **तत्**=उस मधु को **विरवेण**=विशिष्ट शब्दों द्वारा **विकृत्य**=अविद्यापर्वत का विदारण करके **निर्जभार**=बाहर किया—प्रकट किया। इसप्रकार प्रकट किया **न**=जैसेकि **वृक्षात्**=वृक्ष से **विकृत्य**=काट कर—छील-छालकर **चमसम्**=पात्र को अलग किया जाता है। प्रभु का यही महान् अनुग्रह हैं।

भावार्थ—हृदयास्थ प्रभु विशिष्ट प्रेरणात्मक शब्दों द्वारा, अज्ञान को नष्ट करके, ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उषा-सूर्य-अग्नि-अर्क (मन्त्र)

सोषामविन्दत्स स्व१ः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार॥ ९ ॥

१. **सः**=वे प्रभु ही **उषाम्**=अन्धकार-विनाशिनी उषा को **अविन्दत्**=प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे ही **स्वः**=प्रकाश के साधनभूत सूर्य को प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे **अग्निम्**=यज्ञ आदि कर्मों के लिए अग्नि को प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे **अर्केण**=अर्चनसाधन मन्त्रों के द्वारा **तमांसि**=अज्ञानान्धकारों को **विबबाधे**=दूर बाधित करते हैं। २. (वपुषं=beauty) **गोवपुषः**=(गोभिः वपुषं यस्य) ज्ञान की वाणियों के सौन्दर्यवाले **बृहस्पतिः**=(ब्रह्म) ज्ञान के स्वामी प्रभु **वलस्य**=ज्ञान के आवरणभूत-वृत्र के विदारण के द्वारा **निर्जभार**=ज्ञान-धेनु को अविद्यापर्वत की गुहा से बाहर करते हैं, **न**=जिस प्रकार **पर्वणः**=अस्थिपर्व से **मज्जानम्**=मज्जा को बाहर किया जाता है।

मन्त्र ९ तथा १० में प्रभु संकेत करते हैं कि (१) हे जीव! तू उषाकाल में प्रबुद्ध हो (२) सूर्योदय तक सारे नित्यकृत्यों को समाप्त करके (स्वः) अग्निहोत्र के लिए प्रवृत्त हो (३) तत्पश्चात् अर्चनमन्त्रों से प्रभु-पूजन करता हुआ (अर्केण) स्वाध्याय द्वारा अज्ञानान्धकार को दूर कर (तमांसि विबबाधे) (४) वल (वासना) के आवरण से (गाः) वेदवाणीरूप गौओं को बाहर निकाल। तेरे जीवन में विद्या के सूर्य व विज्ञान के चन्द्र का उदय हो (सूर्यामासा)।

भावार्थ—प्रभु 'उषा-सूर्य-अग्नि व मन्त्रों' को प्राप्त कराके, वासना को विनष्ट करते हुए हमारे जीवनों को ज्ञान के सौन्दर्य से सम्पन्न करते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सूर्यामासा मिथ उच्चरातः

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः॥ १० ॥

१. **इव**=जैसे **हिमा**=बर्फ **पर्णा**=पत्तों को निःसार करके चुरा-सा लेती है, इसी प्रकार **बृहस्पतिना**=ज्ञान के स्वामी प्रभु के द्वारा **वनानि**=सम्भजनीय गोधन—ज्ञानवाणीरूप धन **मुषिता**=वृत्रासुर ने हर लिये, **वल**=ज्ञान की आवरणभूत इस वासना ने तो—वृत्र ने तो **गाः अकृपयत्**=इन ज्ञानवाणीरूप गौओं को बड़ा निर्बल कर दिया था (कृप् to be weak)। बृहस्पति ने वल (वृत्र) को विनष्ट करके इन ज्ञानधेनुओं को फिर से हमें प्राप्त कराया है। २. परमात्मा ने **अनानुकृत्यम्**=अन्यों से न अनुकरणीय, तथा **अपुनः**=पुनः करणरहित, अर्थात् दुबारा जिसे करने की आवश्यकता न हो इस प्रकार **चकार**=यह कर्म किया है। **यात्**=जब (यात्=यत्) हमारे जीवनों में **सूर्यामासा**=सूर्य और चन्द्र **मिथः**=परस्पर मिलकर **उच्चरातः**=उद्गत होते हैं। हमारे

जीवनों में ज्ञान का सूर्य व विज्ञान का चन्द्र इकट्ठे ही उदित होते हैं। भौतिक क्षेत्र में भी दाहिने नासिका छिद्र से सूर्यस्वर तथा बाएँ से चन्द्रस्वर उच्चरित होते हैं। ये ही प्राण और अपान हैं— ये मिलकर कार्य करते हैं। इनके ठीक कार्य करने पर हम स्वस्थ बुद्धि बनकर ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु वृत्र को विनष्ट कर ज्ञानधेनु को हमें प्राप्त कराते हैं। प्रभु का यह वृत्र-विनाश द्वारा ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कराना एक अद्भुत ही कार्य है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रात्र्यां तमः, अहन् ज्योतिः

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः॥ ११॥

१. **पितरः**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त पुरुष **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **नक्षत्रेभिः**=विज्ञान के नक्षत्रों से इसप्रकार **अपिंशन्**=अलंकृत करते हैं, **न**=जैसेकि **श्यावं अश्वम्**=(श्यैङ् गतौ) खूब गतिशील व कपिशवर्णवाले अश्व को **कृशनेभिः**=सुवर्णमय आभरणों से **अभि** (पिंशन्ति)=सजाया करते हैं। २. ये पितर **तमः**=सारे अज्ञानान्धकार को **रात्र्यां अदधुः**=रात में ही स्थापित कर देते हैं। **अहन्**=जीवन के दिनों में ये **ज्योतिः**=प्रकाश-ही-प्रकाश को स्थापित करते हैं। इनका दिन ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करने में ही बीतता है। **बृहस्पतिः**=वह ज्ञान का स्वामी प्रभु **अद्रिं भिनत्**=इनके अविद्यापर्वत का विदारण करता है और **गाः विदत्**=इन्हें ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को विज्ञान के नक्षत्रों से दीप्त करने का प्रयत्न करें। हमारे दिन का समय ज्ञान-प्राप्ति में ही व्यतीत हो। प्रभु भी हमारे अविद्यापर्वत का विदारण करके हमारे लिए ज्ञान-धेनुओं को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गौ-अश्व-वीर-नर

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात्॥ १२॥

१. **अभ्रियाय**=वासना के बादलों को विदीर्ण करके ज्ञान-जल को प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **इदं नमः**=इस नमस्कार को **अकर्म**=करते हैं। **यः**=जो प्रभु **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली ज्ञानवाणियों को **अनु**=अनुक्रम से **आनोनवीति**=आभिमुख्येन खूब ही उच्चरित करते हैं। प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में इस वेदज्ञान को देते हैं। २. **सः हि बृहस्पतिः**=वे ज्ञान के स्वामी प्रभु ही **गोभिः**=उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों के साथ **नः**=हमारे लिए **वयः**=जीवन को **धात्**=धारण करते हैं। **सः**=वे प्रभु **अश्वैः**=उत्कृष्ट कर्मेन्द्रियों के द्वारा, **सः वीरेभिः**=वे प्रभु वीर सन्तानों के द्वारा, **सः नृभिः**=तथा वे प्रभु उत्तम (नृ नये) पथ-प्रदर्शकों के द्वारा हमारे लिए उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु वासना के मेघों का विदारण करके हमें ज्ञानजल प्राप्त कराते हैं। उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व वीर सन्तानों तथा उत्तम पथ-प्रदर्शकों को प्राप्त कराके हमें उत्कृष्ट जीवन देते हैं।

अगले सूक्त का ऋषि 'कृष्णः' है, जो संसार के रंगों में न रंगा जाकर अपने जीवन को

पवित्र बनाए रखता है। यह अच्छाइयों को अपनी ओर आकृष्ट करता है और अन्त में (१२) 'वसिष्ठ' बनता है—उत्तम निवासवाला। यह प्रार्थना करता है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

'स्वर्विदः सध्रीचीः' मतयः

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥ १॥

१. **मे**=मेरी **मतयः**=मननपूर्वक की गई स्तुतियाँ **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अच्छ**= लक्ष्य करके **अनूषत**=स्तवन करती हैं। ये स्तुतियाँ **स्वर्विदः**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाली हैं, **सध्रीचीः**=(सह अञ्चन्ति) प्रभु के साथ गतिवाली होती हैं। **विश्वाः**=प्रभु में हमारा प्रवेश करानेवाली होती हैं। **उशतीः**=प्रभु की कामनावाली होती हैं। २. ये स्तुतियाँ **ऊतये**=रक्षण के लिए **मघवानम्**= ऐश्वर्यशाली प्रभु का **परिष्वजन्ते**=इसप्रकार आलिंगन करती हैं, **यथा**= जैसेकि **जनयः**=पत्नियाँ (जनयन्ति अपत्यानि) **पतिम्**=अपने पति को तथा **न**=जैसे **शुन्ध्युम्**=जीवन को शुद्ध बनानेवाले **मर्यम्**=दूर से आये हुए पिता आदि को पुत्र आदि बन्धुजन आलिंगन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। ये स्तुतियाँ हमें प्रभु की ओर ले-चलती हैं।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

मे मनः त्वद्रिक्

न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत्कामं पुरुहूत शिश्रय।
राजेव दस्म नि षदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते॥ २॥

१. हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक आह्वानवाले प्रभो! **त्वद्रिक्**=आपकी ओर गतिवाला **मे मनः**=मेरा मन **घ**=निश्चय से **न अपवेति**=आपसे कभी दूर नहीं होता। **त्वे इत्**=आपमें ही **कामम्**=अभिलाषा को **शिश्रय**=आश्रित करता है, अर्थात् मेरा मन सदा आपकी ओर आता है—मेरी अभिलाषा आपको ही प्राप्त करने की है। २. हे **दस्म**=शत्रुओं के विनाशक प्रभो! **राजा इव**=मेरे शासक के समान आप **बर्हिषि अधि**=इस मेरे वासनाशून्य हृदयासन पर **निषदः**=आसीन होइए। इस आसन पर बैठकर **अस्मिन् सोमे**=इस सोम के विषय में **ते**=आपका **अवपानम्**= अवपान—शरीर के अंग-प्रत्यंगों में ही रक्षण सुसम्यक्तया **अस्तु**=हो। आपके हृदयासीन होने पर यहाँ वासनाएँ न होंगी और सोम (वीर्य) शरीर में ही सुरक्षित रहेगा।

भावार्थ—हम मन को सदा प्रभु में लगाएँ, हमारी अभिलाषा प्रभु को प्राप्त करने की हो। प्रभु हमारे हृदयासन के राजा हों, जिससे शरीर में सोम का रक्षण सम्यक्तया हो।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

'दारिद्र्य व क्षुधा के निवर्तक' प्रभु

विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इद्रायो मघवा वस्व ईशते।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अमतेः**=दारिद्र्य व बुद्धिशून्यता का **विषूवृत्**=(विष्वक् वर्तयिता) चारों ओर भगा देनेवाला—नष्ट कर देनेवाला है **उत**=और **क्षुधा**=भूख को भी दूर करनेवाला है। **स इत् मघवा**=वह ऐश्वर्यशाली प्रभु ही **रायः**=दान के योग्य **वस्वः**=धन के, निवास को उत्तम

बनानेवाले ऐश्वर्य के **ईशते**=स्वामी हैं। २. **तस्य इत्**=उस प्रभु की ही **इमे**=ये **प्रवणे**=निम्न मार्ग में **सप्त**=सर्पणशील **सिन्धवः**=नदियाँ **वयः**=अन्न को **वर्धन्ति**=बढ़ाती हैं। ये नदियाँ उस **वृषभस्य**=सुखों का वर्षण करनेवाले **शुष्मिणः**=बलवान् प्रभु की हैं। प्रभु के शासन में ही ये पूर्व से पश्चिम में व उत्तर से दक्षिण में बह रही हैं। मैदानों में बहती हुई ये नदियाँ भूमि का सेचन करती हुई शक्तिवर्धक अन्न को उत्पन्न करती हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे दारिद्र्य व भूख का प्रतीकार करते हैं। वे हमें निवास के लिए आवश्यक धनों को देते हैं। उनके शासन में बहती हुई नदियाँ भूमि का सेचन करती हुई अन्न उत्पन्न करती हैं।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'स्वः आर्यं' ज्योतिः

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद्विदत्स्व१र्मनवे ज्योतिरार्यम्॥ ४॥

१. **न**=जैसे **वयः**=पक्षी **सुपलाशम्**=शोभन पर्णों (पत्तों) से युक्त **वृक्षम्**=वृक्ष पर **आसदन्**=असीन होते हैं, इसी प्रकार **मन्दिनः**=आनन्द का वर्धन करनेवाले **चमूषदः**=(चम्वो, द्यावापृथिव्योः) द्यावापृथिवी में—मस्तिष्क व शरीर में स्थित होनेवाले—इनको तेजस्वी व दीप्त बनानेवाले **सोमासः**=सोमकण **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष में आसीन होते हैं। २. **एषाम्**=इन चमूषद् सोमकणों का **अनीकम्**=बल (तेज) **शवसा**=शक्ति से **दविद्युतत्**=चमक उठता है और **मनवे**=विचारशील पुरुषों के लिए **स्वः**=सुख देनेवाली **आर्यम्**=श्रेष्ठ **ज्योतिः**=ज्ञानज्योति को प्रभु **विदत्**=प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हमारे शरीर में सोमकण सुरक्षित होते हैं। वे जीवन को आनन्दप्रद बनाते हैं। इनसे शरीर तेजस्वी होता है और मस्तिष्क उत्तम ज्ञानज्योति से परिपूर्ण हो जाता है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

संवर्ग सूर्य का विजय

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत्।
न तत्ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मघवन्नोत नूतनः॥ ५॥

१. **देवने**=जुए के खेल में **न**=जैसे **श्वघ्नी** (कितवा)=जुआरी **कृतम्**=विजय के हेतु कृत नामक अक्ष (पासे) को **विचिनोति**=बटोर लेता है (संचित कर लेता है) इसी प्रकार **यत् मघवा**=जो ऐश्वर्यशाली प्रभु हैं, वे **संवर्गम्**=अन्धकार के संवर्तक **सूर्यम्**=सूर्य को **जयत्**=विजय करते हैं। प्रभु के हृदयासीन होते ही ज्ञानसूर्य का उदय होता है और अज्ञानान्धकार का विलय हो जाता है। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **तत् ते वीर्यम्**=आपके उस पराक्रम को **अन्यः**=और कोई **न पुराणः**=न तो प्राचीन काल का व्यक्ति **उत**=और **न नूतनः**=न ही अर्वाचीन काल का व्यक्ति **अनु शकत्**=अनुकरण करने के लिए समर्थ होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए उस ज्ञानसूर्य का विजय करते हैं जो हमारे सब अन्धकार को विनष्ट कर देता है।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद् वृषा।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥ ६ ॥

१. **मघवा**=वे ऐश्वर्यशाली प्रभु **विशंविशं पर्यशायत**=प्रत्येक प्रजा में निवास करते हैं—प्रभु सर्वव्यापक हैं। **वृषा**=सबपर सुखों का सेचन करनेवाले प्रभु **जनानाम्**=लोगों की **धेनाः**=ज्ञानवाणियों को **अवचाकशत्**=प्रकाशित करते हैं। प्रभु उन्हें ज्ञान प्राप्त कराते हैं—हृदय में स्थित हुए-हुए प्रभु प्रेरणा द्वारा ज्ञान देनेवाले होते हैं। २. **शक्रः**=वह शक्तिमान् प्रभु **यस्य**=जिसके **सवनेषु**=यज्ञों में—अथवा जीवन के प्रातः, मध्याह्न व सायन्तन सवनों में **रण्यति**=रमण करते हैं, अर्थात् जो प्रभु को सदा स्मरण करता है, **सः**=वह पुरुष **तीव्रैः सोमैः**=शरीर में सुरक्षित अत्यन्त शक्तिप्रद सोमकणों के द्वारा **पृतन्यतः**=संग्राम की इच्छावाले शत्रुओं को **सहते**=पराभूत करता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों में आसीन होकर ज्ञान की वाणियों का प्रकाश करते हैं। प्रभु-स्मरण करनेवाला पुरुष सोम-रक्षण द्वारा काम-क्रोध आदि शत्रुओं व रोगों का पराभव करनेवाला होता है।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

घरों में प्रभु-स्तवन

आपो न सिन्धुमभि यत्समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्याइव हृदम्।
वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना ॥ ७ ॥

१. **यत्**=जब **सोमासः**=सोमकण **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष की **अभि समक्षरन्**=ओर गतिवाले होते हैं, उसी प्रकार **न**=जैसेकि **आपः**=जल **सिन्धुम्**=समुद्र की ओर, **इव**=जैसे **कुल्याः**=छोटी-छोटी नदियाँ **हृदम्**=झील की ओर, उस समय **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **सादने**=उपासनागृहों में—अपने घरों में **अस्य**=इस प्रभु के **महः**=माहात्म्य को **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। २. सोमरक्षक पुरुष प्रभु के माहात्म्य का अपने घरों में इसप्रकार वर्धन करते हैं, **न**=जैसेकि **वृष्टिः**=वर्षा **दिव्येन दानुना**=अन्तरिक्ष से होनेवाले उदकदान के द्वारा **यवम्**=यव (जौ) को बढ़ाती है। यहाँ स्तवन व प्रभु माहात्म्य-वर्धन की उपमा वृष्टि द्वारा यव-वर्धन से देकर यह संकेत किया गया है कि 'यव' सात्त्विक भोजन है। इसका सेवन सोम-रक्षण में भी सहायक होगा और वृत्ति को भी सात्त्विक बनाएगा—हम प्रकृति की ओर न झुककर प्रभु की ओर झुकाववाले बनेंगे।

भावार्थ—हम यव आदि सात्त्विक भोजनों का सेवन करते हुए प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें और सोम का शरीर में रक्षण कर पाएँ।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

सुन्वते-जीरदानवे-हविष्मते मनवे

वृषा न क्रुद्धः पतयद्रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः।
स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ॥ ८ ॥

१. वह **वृषा**=सुखों का सेचन करनेवाला, **न क्रुद्धः**=कभी क्रुद्ध न होनेवाला प्रभु **रजःसु**=सब लोकों में **आपतयत्**=समन्तात् गति व प्राप्तिवाले होते हैं। सदा सर्वत्र वर्तमान वे प्रभु

सुखों का वर्षण करते हैं। **यः**=जिस प्रभु ने **इमाः अपः**=इन रेतःकणरूप जलों को **अर्यपत्नीः**=जितेन्द्रिय (इन्द्रियों के स्वामी) पुरुष की पत्नी के रूप में पालन करनेवाला **अकृणोत्**=किया है। सोमकणों के रक्षण से ये उस रक्षक का रक्षण करनेवाले होते हैं। २. **सः मघवा**=वे ऐश्वर्यशाली प्रभु **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले—शरीर में सोम का सम्पादन करनेवाले **जीरदानवे**=क्षिप्रदान पुरुष के लिए, तुरन्त दान करनेवाले पुरुष के लिए **हविष्मते**=यज्ञशील व **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **ज्योतिः अविन्दत्**=ज्योति प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—सब लोकों में प्राप्त होते हुए प्रभु सुखों का वर्षण करते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष के जीवन में सोमकणरूप जलों को रक्षक के रूप में प्राप्त कराते हैं। इस सोम का सम्पादन करनेवाले, क्षिप्रदानी, यज्ञशील पुरुष के लिए ज्योति देते हैं।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

परशुः ज्योतिषा सह

उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत्।
वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्व१र्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः ॥ ९ ॥

१. हमारे जीवनों में **परशुः**=शत्रुओं को क्षीण करनेवाला (शो तनूकरणे) वज्र **ज्योतिषा सहः**=ज्ञान-ज्योति के साथ **उत् जायताम्**=उत्कर्षेण प्रादुर्भूत हो। हम स्वाध्याय द्वारा ज्ञान का वर्धन करें और क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा वासनाओं का विनाश करें। हमारे लिए यह वेद-धेनु **पुराणवत्**=सदा की भाँति **ऋतस्य**=सत्य-ज्ञान का **सुदुघा**=दोहन करनेवाली हो। २. हमारे हृदयों में **अरुषः**=वह आरोचमान, **भानुना**=अपने तेज से **शुचिः**=दीप्त होता हुआ प्रभु **विरोचताम्**=विशिष्ट शोभावाला हो। हम हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले हों। **सत्पतिः**=सज्जनों के पालक प्रभु **स्वः न**=सूर्य के समान **शुक्रं शुशुचीत**=दीप्ति के साथ अतिशयेन दीप्त हों।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करें, क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा वासनाओं का विनाश करें। हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश हो।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

गोदुग्ध से दुर्गति व दुर्मति का दूरीकरण

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥

१. **गोभिः**=गोदुग्धादि से हम **अमतिम्**=बुद्धिहीनता व **दुरेवाम्**=दुर्गति को **तरेम**=पार कर जाएँ। गोदुग्ध का सेवन हमें दुर्गति व दुर्मति से दूर करे। हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! हम **यवेन**=जौ के सेवन से **विश्वाम्**=सब **क्षुधम्**=भूख को दूर कर पाएँ। २. **वयम्**=हम **राजभिः**=जीवन को दीप्त व नियमित बनाने के द्वारा (राजृ दीप्तौ, राज्=regulate) **प्रथमाः**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले होते हुए **अस्माकेन वृजनेन**=अपने बल के द्वारा **धनानि जयेम**=जीवन-धनों का विजय करनेवाले हों।

भावार्थ—गोदुग्ध का सेवन हमें दुर्मति व दुर्गति से बचाए। जौ के द्वारा हम क्षुधा का निवारण करें। जीवन को दीप्त व नियमित बनाकर शक्तियों का विस्तार करते हुए धनों का विजय करें।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'बृहस्पति+इन्द्र' का आराधन

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ११ ॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **नः**=हमें **पश्चात्**=पीछे से **उत**=और **उत्तरस्मात्**= ऊपर से व **अधरात्**=नीचे से **अघायोः**=हमारी हिंसा (पाप) को चाहनेवाले पुरुष से **परिपातु**=सर्वथा रक्षित करें। २. **इन्द्रः**=वह शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **पुरस्तात्**=सामने से **उत**=और **मध्यतः**=बीच से **नः**=हमारा रक्षण करे। वह **सखा**=सबका मित्र प्रभु **सखिभ्यः**=मित्रभूत हम उपासकों के लिए **वरिवः**=धन को **कृणोतु**=करे।

भावार्थ—हम ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनकर 'बृहस्पति' के उपासक हों, जितेन्द्रिय बनकर 'इन्द्र' के उपासक हों। ये बृहस्पति व इन्द्र हमें अघायु पुरुषों से रक्षित करें और हमारे लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'दिव्य व पार्थिव' धन

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १२ ॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप **च**=और **इन्द्रः**=वह शत्रुविद्रावक प्रभु **युवम्**=आप दोनों **दिव्यस्य**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **वस्वः**=ज्ञानधन के, **उत**=और **पार्थिवस्य**=शरीररूप पृथिवी के शक्तिधन के **ईशाथे**=ईश हैं। ज्ञानधन के ईश होने से आप 'बृहस्पति' हैं, शक्तिधन के ईश होने से 'इन्द्र' हैं। २. आप **स्तुवते**=स्तुति करते हुए इस **कीरये चित्**=स्तोता के लिए भी **रयिं धत्तम्**=ऐश्वर्य का धारण कीजिए। **यूयम्**=आप सब देव **स्वस्तिभिः**= कल्याणों के द्वारा **सदा**=सदा **नः**=हमारा **पात**=रक्षण कीजिए।

भावार्थ—'बृहस्पति' हमें ज्ञानधन दें। 'इन्द्र' शक्तिधन प्राप्त कराएँ। इसप्रकार सब देव हमारा रक्षण करनेवाल हों।

देवों से रक्षित होकर हम 'मेधातिथि व प्रियमेध' बनते हैं। यह मेधा का प्रिय व्यक्ति ही उत्तम जीवनवाला 'वसिष्ठ' बन जाता है। अगले सूक्त में ये ही प्रथमत्रिक व द्वितीयत्रिक के ऋषि हैं—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—मेधातिथिः प्रियमेधश्च ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

तदिदर्थाः-त्वायन्तः

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः । कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **तदिदर्थाः**=(तदेव स्तोत्रं अर्थः प्रयोजनं येषाम्) आपके स्तोत्ररूप प्रयोजनवाले ही हैं। **त्वायन्त**=(त्वाम् आत्मन इच्छन्तः) आपको ही प्राप्त करने की कामनावाले हैं। **त्वा सखायः**=(तव) आपके ही मित्र हैं। २. **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **उक्थेभिः**=स्तोत्रों से **त्वा जरन्ते**=आपका ही स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हमारा प्रयोजन एकमात्र प्रभु-प्राप्ति हो। प्रभु-प्राप्ति की हम कामनावाले हों। प्रभु

के ही मित्र हों। प्रभु का ही स्तवन करें।

ऋषिः—मेधातिथिः प्रियमेधश्च॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

एकमात्र प्रभु का ही स्तवन

न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ। तवेदु स्तोमं चिकेत॥ २॥

१. हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! हम **अपसः**=यज्ञरूप कर्मों के **नविष्टौ**=(नवायां इष्टौ) नव प्रारम्भ में, अर्थात् प्रत्येक कर्म को करने के अवसर पर **घा ईम्**=निश्चय **अन्यत् न आपपन**=किसी अन्य के स्तोत्र को नहीं करते। २. मैं **इत्**=निश्चय से **तव उ**=आपके ही **स्तोत्रम्**=स्तोत्र को **चिकेत**=जानता हूँ।

भावार्थ—प्रभु को छोड़कर हम किसी अन्य का स्तवन न करें। प्रत्येक कर्म के आरम्भ में हम प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—मेधातिथिः प्रियमेधश्च॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

सुन्वन्, नकि स्वप्नक् (शयालु)

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ ३॥

१. **देवाः**=सब देव **सुन्वन्तं इच्छन्ति**=यज्ञशील पुरुष को चाहते हैं। **स्वप्नाय**=मूर्त्तिमान् स्वप्न के लिए—बड़े सोंदू पुरुष के लिए—**न स्पृहयन्ति**=स्पृहा-(प्रेम व इच्छा)-वाले नहीं होते। २. इस संसार में **अतन्द्राः**=आलस्यशून्य पुरुष ही **प्रमादं यन्ति**=प्रकृष्ट हर्ष को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशीलता ही हमें देवों का प्रिय बनाती है। आलस्य हमें उनका अप्रिय बना देता है। उद्यमी पुरुष ही उत्कृष्ट आनन्द के भागी होते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

अभि प्रणोनुमः

वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र णोनुमो वृषन्। विद्धी त्व१स्य नो वसो॥ ४॥

१. हे **वृषन्**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **इन्द्र**=प्रभो! **वयम्**=हम **त्वायवः**=आपको प्राप्त करने की कामनावाले होते हुए **अभि प्रणोनुमः**=आभिमुख्येन खूब ही स्तवन करते हैं। २. हे **वसो**=निवासक प्रभो! **नः**=हमारे **अस्य**=इस स्तोत्र को **विद्धी तु**=आप अवश्य जानिए ही। हम आपका स्तवन करें। यह स्तवन हमें आपका प्रिय बनाए। इस स्तवन से हम कुछ आपसे ही बन पाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमें पवित्र जीवनवाला बनाता हुआ प्रभु का प्रिय बनाए।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

न निन्दा, न कठोरभाषण, न कृपणता

मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे। त्वे अपि क्रतुर्मम॥ ५॥

१. हे प्रभो! **अर्यः**=स्वामी आप **नः**=हमें **निदे**=निन्दक के लिए **मा रन्धीः**=मत वशीभूत कीजिए। **च**=और **वक्तवे**=बहुत व कठोर बोलनेवाले के लिए वशीभूत मत कीजिए। **अराव्णे**=अदानशील के लिए वशीभूत मत कीजिए। हम निन्दा—कठोर-भाषण व कृपणता से दूर हों। २. हे प्रभो! **मम क्रतुः**=मेरा संकल्प व स्तुतिरूप कर्म **अपि**=भी **त्वे**=आपके विषय में ही हो। मैं आपको ही चाहूँ, आपका ही स्तवन करूँ।

भावार्थ—हम निन्दा, कटुभाषण व कृपणता से दूर रहकर प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले हों—प्रभु का ही स्तवन करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सप्रथः-पुरोयोधः

त्वं वर्मासि सुप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन्। त्वया प्रति ब्रुवे युजा ॥ ६ ॥

१. हे **वृत्रहन्**=सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **सप्रथः**=अतिशयेन शक्तियों के विस्तारवाले हो, **च**=और **पुरोयोधः**=संग्राम में आप ही आगे होकर हमारे शत्रुओं से युद्ध करते हो। आप **वर्म असि**=मेरे कवच हो। २. **त्वया युजा**=सहायभूत आपके साथ में **प्रतिब्रुवे**=सब शत्रुओं को ललकार देता व विनष्ट करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे कवच हैं। हमारे शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं।

सब वासनाओं को विनष्ट करके यह सबका मित्र 'विश्वामित्र' बनता है। यह विश्वामित्र ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वृत्रहनन, पृतना-सहन

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च। इन्द्र त्वा वर्तयामसि ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **वार्त्रहत्याय**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के निमित्तभूत **शवसे**=बल के लिए—बल की प्राप्ति के लिए हम **त्वा**=आपको **आवर्तयामसि**=अपने अभिमुख करते हैं—आपका आराधन करते हैं। आपके द्वारा ही तो हम इन काम, क्रोध का विनाश कर सकेंगे २. **च**=और **पृतनाषाह्याय**=शत्रु-सैन्यों के पराभव के निमित्तभूत बल के लिए हम आपका आवर्तन करते हैं। आपका आराधन ही हमें वह बल प्राप्त कराएगा, जिससे हम सब शत्रुओं को पराभूत कर पाएँगे।

भावार्थ—प्रभु की आराधना से हम वृत्रहनन में तथा शत्रुसैन्यों के पराभव में समर्थ हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यज्ञशीलता तथा प्रभु-कृपा-पात्रता

अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो। इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ॥ २ ॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! **वाघतः**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मों का वहन करनेवाले ऋत्विज् लोग **ते मनः**=आपके मन को **सु**=सम्यक् **अर्वाचीनम्**=अपने अभिमुख **कृण्वन्तु**=करनेवाले हों २. **उत**=और, हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **चक्षुः**=आपकी आँख को ये ऋत्विज् अपने अभिमुख करनेवाले हों।

भावार्थ—यज्ञशीलपुरुष ही प्रभु की कृपा के पात्र बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विश्वाभिः गीर्भिः

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे। इन्द्राभिमातिषाह्ये ॥ ३ ॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्तशक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! **ते नामानि**=आपके नामों को **विश्वाभिः गीर्भिः**=सब वाणियों के द्वारा **ईमहे**=चाहते हैं—संकीर्तित करते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो!

अभिमातिषाह्ये=पाप व अभिमानरूप शत्रु के पराभव के लिए हम विविध वाणियों से आपके नामों का कीर्तन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-नाम-कीर्तन हमें अभिमानरूप शत्रु का पराभव करने में समर्थ करे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शतेन धामभिः

पुरुष्टुतस्य धामभिः शतेन महयामसि। इन्द्रस्य चर्षणीधृतः॥ ४॥

१. **पुरुष्टुतस्य**=(पुरु स्तुतं यस्य) पालक व पूरक है स्तवन जिनका उन पुरुष्टुत प्रभु का हम **महयामसि**=पूजन करते हैं, जिससे **शतेन धामभिः**=शतवर्षपर्यन्त स्थिर रहनेवाले तेजों को हम प्राप्त कर सकें। इन तेजों के हेतु से ही हम प्रभु का पूजन करते हैं। २. **इन्द्रस्य**=सर्वशक्तिमान् **चर्षणीधृतः**=सब मनुष्यों का धारण करनेवाले प्रभु के पूजन से हम आजीवन तेजस्वी बने रहेंगे।

भावार्थ—प्रभु का पूजन हमें शतवर्ष के जीवन में तेजस्वी बनाए रखता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

भरेषु वाजसातये

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुप ब्रुवे। भरेषु वाजसातये॥ ५॥

१. **पुरुहूतम्**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी उस **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **वृत्राय हन्तवे**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के लिए **उपब्रुवे**=पुकारता हूँ। २. मैं उस प्रभु को **भरेषु**=संग्रामों में **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के निमित्त पुकारता हूँ। प्रभु ही शक्ति देते हैं और उपासक को संग्राम में विजयी बनाते हैं।

भावार्थ—हम 'पुरुहूत इन्द्र' की आराधना करें। ये प्रभु हमें शक्ति प्राप्त कराएँगे। इस शक्ति के द्वारा हम संग्रामों में विजय प्राप्त करेंगे और ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट कर पाएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वाजेषु सासहिः

वाजेषु सासहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो। इन्द्र वृत्राय हन्तवे॥ ६॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्तशक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! आप **वाजेषु**=संग्रामों में **सासहिः**=शत्रुओं का मर्षण (अभिभव) करनेवाले **भव**=होइए। **त्वाम् ईमहे**=हम आपसे ही याचना करते हैं। आप ही वस्तुतः इन शत्रुओं का पराभव कर सकते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **वृत्राय हन्तवे**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के लिए हम आपको पुकराते हैं—आप से ही याचना करते हैं।

भावार्थ—संग्रामों में प्रभु ही हमारे शत्रुओं का अभिभव करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अभिमातिषु साक्ष्व

द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सुतूर्षु श्रवःसु च। इन्द्र साक्ष्वाभिमातिषु॥ ७॥

१. **द्युम्नेषु**=द्योतमान धनों की प्राप्ति के समय, **पृतनाज्ये**=(पृतनासु प्रजनं तर्तव्यासु च) सेनाओं की चहल-पहलवाले रणांगणों में, **पृत्सु तूर्षु**=(पृतनासु तर्तव्यासु च) सेनाओं के पराभव के समय **च**=और **श्रवःसु**=कीर्तियों की प्राप्ति के समय, हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **साक्ष्व**=आप हमारे साथ होइए (षच समवाये)। आपने ही तो धन-विजय व कीर्ति को प्राप्त कराना है। २.

अभिमातिषु=(पापेषु हन्तव्येषु) अभिमान आदि पापों के विनाश के समय आप **साक्ष्व**=हमारे साथ होइए—आपके द्वारा ही हम पाप का विनाश कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु ही हमें धन-विजय व कीर्ति प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं।

अगले सूक्त के प्रथम चार मन्त्रों के ऋषि भी 'विश्वामित्र' ही हैं। पिछले तीन में ऋषि 'गृत्समदः' हैं—प्रभु-स्तवन करते है (गृणाति) और आनन्द का अनुभव करते हैं—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

बल-ज्ञान-चेतना

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम्। इन्द्र सोमं शतक्रतो॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नः ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए आप **सोमं पाहि**=सोम का हमारे शरीर में रक्षण कीजिए। आपने ही वासनाओं का विनाश करके सोम का रक्षण करना है। २. उस सोम का आप रक्षण कीजिए जो **शुष्मिन्तमम्**=अतिशयेन बलवाला है, **द्युम्निनम्**=ज्ञान की ज्योतिवाला है तथा **जागृविम्**=हमें सदा जगानेवाला—चेतना को न नष्ट होने देनेवाला है। सोम-रक्षण से हमें शक्ति प्राप्त होती है, ज्ञान की वृद्धि होती है तथा चेतना का विनाश नहीं होता। हमें अपना स्मरण बना रहता है कि 'हम कौन हैं और यहाँ क्यों आये हैं?'

भावार्थ—प्रभु सोम-रक्षण द्वारा हमें रक्षित करें। इससे हमारा बल व ज्ञान बढ़ेगा। यह सोम-रक्षण हमें सदा आत्मस्मृतिवाला बनाएगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

इन्द्रियाणि

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु। इन्द्र तानि त आ वृणे॥ २॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्तशक्ति व प्रज्ञानवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् परमेश्वर! **पञ्चसु जनेषु**=(पचि विस्तारे) शक्तियों का विस्तार करनेवाले लोगों में **या इन्द्रियाणि**=जो बल हैं, वे **ते**=आपके ही हैं। २. हे प्रभो! मैं भी **तानि**=उन बलों को **ते**=आपसे **आवृणे**=माँगता हूँ। आपकी कृपा से मैं उन बलों को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम सब अंगों के बलों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

दुष्टरं द्युम्नम्

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद्द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम्। उत्ते शुष्मं तिरामसि॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हमें **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत **श्रवः**=यश **अगन्**=प्राप्त हुआ है। आप **दुष्टरम्**=वासनारूप शत्रुओं से आक्रान्त न होने योग्य **द्युम्नम्**=ज्ञानज्योति को **दधिष्व**=धारण कीजिए। आपके अनुग्रह से हमें 'दुष्टर द्युम्न' प्राप्त हो। २. हम **ते**=आपसे दिये हुए **शुष्मम्**=बल को **उत्तिरामसि**=आपके स्तवन व सोम-रक्षण द्वारा बढ़ाते हैं। हमारे मन यशस्वी विचारों से परिपूर्ण हों, मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त बनें तथा शरीर शक्ति-सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभु हमें 'यश-ज्ञान व बल' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

इहलोक-परलोक-ब्रह्मलोक

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः।

उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि॥ ४॥

१. हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **अर्वावतः**=इस समीपस्थ लोक के उद्देश्य से **नः आगहि**=हमें प्राप्त होइए। आपकी कृपा से हमारा इहलोक उत्तम बने। **अथ उ**=और अब निश्चय से **परावतः**=सुदूर परलोक के उद्देश्य से भी हमें प्राप्त होइए। आपके अनुग्रह से परलोक में भी हमारा मंगल हो। २. हे **अद्रिवः**=आदरणीय (आ दृ), **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **उ**=निश्चय से यह **ते लोकः**=जो आपका अपना ब्रह्मलोक है, **ततः**=उस लोक को प्राप्त कराने के उद्देश्य से **इह**=यहाँ हमारे जीवनों में **आगहि**=प्राप्त होइए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। यह प्रभु का अविस्मरण हमारे इहलोक व परलोक दोनों के मंगल के लिए होगा तथा अन्ततः इस प्रभु-स्मरण से ही हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

भय-प्रच्यावन

इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्। स हि स्थिरो विचर्षणिः॥ ५॥

१. हे **अङ्ग**=प्रिय! **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु ही **महद्भयम्**=महान् भय को **अभि सत्**=(अभीषत्) अभिभूत करते हैं। **अप चुच्यवत्**=इस महान् भय को हमसे सुदूर विनष्ट करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **हि**=निश्चय से **स्थिरः**=किसी से भी च्याव्य नहीं हैं। कोई भी प्रभु को अभिभूत व च्युत नहीं कर सकता। **विचर्षणिः**=वे प्रभु सबके द्रष्टा हैं—सभी का ध्यान करते हैं (Look after)।

भावार्थ—प्रभु हमारे भयों को अभिभूत व पृथक् करनेवाले हैं।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

पाप-विनाश व कल्याण-प्राप्ति

इन्द्रश्च मृडयाति नो न नः पश्चादघं नशत्। भद्रं भवाति नः पुरः॥ ६॥

१. च (चेत्)=यदि **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः मृडयाति**=हमें अनुगृहीत करते हैं तो **अघम्**=पाप व दुःख **नः पश्चात्**=हमारे पीछे **न नशत्**=नहीं प्राप्त होता। प्रभु का अनुग्रह होने पर पाप हमारे पीछे आ ही नहीं पाता। २. उस समय **नः पुरः**=हमारे सामने **भद्रं भवाति**=कल्याण-ही-कल्याण होता है।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से पाप नष्ट होता है और कल्याण प्राप्त होता है।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

निर्भयता

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। जेता शत्रून्विचर्षणिः॥ ७॥

१. **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **सर्वाभ्यः आशाभ्यः परि**=सब दिशाओं से (परि=से पञ्चमी के अर्थ का द्योतक है) **अभयम्**=हमारे लिए भयराहित्य व कल्याण **करत्**=करें। २. ये प्रभु **शत्रून् जेता**=हमारे सब शत्रुओं को जीतनेवाले हैं और **विचर्षणिः**=विशेषरूप से हमारे द्रष्टा—हमारा ध्यान करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें सर्वतःनिर्भय करते हैं। हमारे शत्रुओं का पराभव करते हैं।

सदा 'इन्द्र' से प्रेरणा प्राप्त करनेवाला 'सव्य' (षू प्रेरणे) अगले सूक्त का ऋषि है—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

महान् दाता

न्यू३षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः।
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते॥ १॥

१. **महे**=महान्—पूजनीय **इन्द्राय**=सर्वैश्वर्यवान् प्रभु के लिए **सुवाचम्**=शोभन स्तुतिवाणी को **नि प्र भरामहे**=नितरां प्रयुक्त करते हैं। **विवस्वतः**=प्रभु परिचर्या करनेवाले यजमान के **सदने**=यज्ञगृह में **उ**=निश्चय से उस इन्द्र के लिए **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ उच्चरित होती है। २. **हि**=निश्चय से वह प्रभु **नू चित् हि रत्नम्**=रमणीय धन को **अविदत्**=प्राप्त कराते हैं, **इव**=जिस प्रकार वे **ससताम्**=सोये हुए पुरुषों के धन को छीन लेते हैं। सोये हुओं के धनों को छीन कर वे पुरुषार्थियों को प्राप्त करा देते हैं। **द्रविणोदेषु**=धन के दाता पुरुषों में **दुष्टुतिः**=असमीचीन स्तुति, अर्थात् निन्दा **न**=नहीं **शस्यते**=कही जाती—दाता की कभी निन्दा नहीं की जाती, अतः हम उस महान् दाता का भी स्तवन करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यज्ञशील पुरुष सदा प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु सदा रमणीय धन देते हैं। दाता की सदा प्रशंसा होती है।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रदिवः+अकामकर्शनः

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः।
शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि॥ २॥

१. हे प्रभो! आप **अश्वस्य**='अश्नुवते कर्मसु' यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों के **दुरः**=दाता (दा+उरच्) **अस्ति**=हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गोः**='गमयन्ति अर्थान्' अर्थों की प्रज्ञापक ज्ञानेन्द्रियों के आप **दुरः**=दाता हैं। इन इन्द्रियों की उत्तमता के लिए **यवस्य**=जौरूप सात्त्विक अन्न के आप **दुरः**=दाता हैं। सब **वसुनः**=धनों के आप ही **इनः**=स्वामी व **पतिः**=रक्षक हैं। २. **शिक्षानरः** (शिक्षतिः=दानकर्मा) दान के आप नेता (नृ नये) हैं। धन देकर हमें दान की प्रेरणा देते हैं। **प्रदिवः**=आप प्रकृष्ट ज्ञान के प्रकाशवाले हैं। इस ज्ञान को देकर **अकामकर्शनः**=हमें काम का शिकार नहीं होने देते। इसप्रकार **सखिभ्यः सखा**=सखाओं के सच्चे सखा हैं। **तम्**=उन आपके प्रति **इदम्**=इस स्तोत्र का **गृणीमसि**=उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु उत्तम कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, यव आदि सात्त्विक भोजनों व वसुओं के देनेवाले हैं। हम धनों को प्राप्त करके दान देनेवाले बनें। वे प्रकृष्ट ज्ञानी प्रभु हमें काम का शिकार होने से बचाते हैं। उस सच्चे सखा प्रभु का हम स्तवन करते हैं।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम'

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवेदिदमभितश्चेकिते वसु।
अतः संगृभ्याभिभूत आ भर मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः॥ ३॥

१. हे **शचीवः**=प्रज्ञावन् (शची=प्रज्ञा), **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्, **पुरुकृत्**=सबका पालन व पूरण करनेवाले, **द्युमत्तम**=अतिशयेन दीप्तिमन् प्रभो! **इदम्**=यह **अभितः**=सर्वत्र वर्तमान **वसुः**=धन **तव इत्**=आपका ही है, यह बात **चेकिते**=हमसे जानी जाती है। सब धनों के स्वामी आप ही तो हैं। २. हे **अभिभूते**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले प्रभो! **अतः**=क्योंकि आप ही सब धनों के स्वामी हैं, इसलिए **संगृभ्य**=इनका संग्रह करके **आभर**=हमारे लिए दीजिए। **त्वायतः**=आपको अपनाने की कामनावाले **जरितुः**=स्तोता के **कामम्**=मनोरथ को **मा ऊनयीः**=अपूर्ण मत कीजिए। स्तोता के लिए आप मनोवाञ्छित फल को देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तोता को 'प्रज्ञा-शक्ति-पोषण व दीप्ति' प्राप्त कराते हैं। सम्पूर्ण धन प्रभु का है। प्रभु स्तोता की कामना को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—सव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

युत-द्वेषसः

एभिर्द्युभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना।
इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि ॥ ४ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **एभिः द्युभिः**=इन ज्ञान-प्रदीप्तियों से तू **सुमना**=उत्तम मनवाला हो। **एभिः इन्दुभिः**=इन सुरक्षित सोमकणों के द्वारा, **गोभिः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा तथा **अश्विना**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियरूप धन के द्वारा अथवा प्राणापान के द्वारा, अर्थात् प्राणायाम द्वारा—प्राणसाधना से **अ-मतिम्**=दुर्बुद्धि व दारिद्र्य का **निरुन्धानः**=निरोध करनेवाला हो। २. जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्रेण**=शत्रुविद्रावक आपके द्वारा **दस्युं दरयन्तः**=दास्यव भावनाओं को विदीर्ण करते हुए, **इन्दुभिः**=सुरक्षित सोमकणों से **युतद्वेषसः**=द्वेषशून्य मनोंवाले होते हुए **इषा**=आपकी प्रेरणा के अनुसार हम **संरभेमहि**=कार्यों से संगत हों। मनुष्य का सुन्दरतम जीवन यही है कि (१) वह ज्ञानज्योतियों को प्राप्त करता हुआ उत्तम मनवाला बने, (२) सोम-रक्षण द्वारा ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को शक्तिशाली बनाता हुआ उत्तम बुद्धिवाला बने, (३) प्रभु-स्मरण द्वारा दास्यव वृत्तियों को दूर करे, (४) सोम-रक्षण से निर्दोष बने, (५) पवित्र हृदय में प्रभु-प्रेरणा को सुनकर तदनुसार कार्यों को करे।

भावार्थ—ज्ञानज्योति से हमारा मन निर्मल हो। सोम-रक्षण द्वारा सब इन्द्रियों को प्रशस्त बनाते हुए हम दुर्बुद्धि को दूर करें। प्रभु-उपासना द्वारा दास्यव वृत्तियों का विनाश करें। निर्दोष बनकर प्रभु-प्रेरणा के अनुसार कार्यों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—सव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

राया+इषा+वाजेभिः+प्रमत्या

समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः।
सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि ॥ ५ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! **राया संरभेमहि**=हम आपसे दत्त धन से संगत हों तथा **इषा**=आपसे दी गई प्रेरणा से **सम्**=संगत हों। उस धन का विनियोग आपकी प्रेरणा के अनुसार करें। हे प्रभो! इस प्रकार धनों का सद्व्यय करते हुए **वाजैः सम्**=बलों से संगत हों, जो बल **पुरुश्चन्द्रैः**=बहुतों के आह्लादक हों, अर्थात् जिन बलों का विनियोग इस रूप में हो कि वे अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का कल्याण करें तथा **अभिद्युभिः**=अभितः दीप्यमान हों—ज्ञान से युक्त हों। अथवा ये बल चारों ओर यश फैलानेवाले हों। २. इसप्रकार ऐश्वर्य, प्रभु-प्रेरणा व

बलों से युक्त होकर हम **देव्या**=उस इन्द्र से सम्बद्ध **प्रमत्या**=प्रकृष्ट बुद्धि से युक्त हों जोकि **वीरशुष्मया**= शत्रुओं को कम्पित करनेवाले बल से युक्त हो, **गोअग्रया**=प्रकृष्ट ज्ञानेन्द्रियों को अग्रभाग में लिये हुए हो तथा **अश्वावत्या**=प्रकृष्ट कर्मेन्द्रियोंवाली हो।

भावार्थ—हमें प्रभु के अनुग्रह से ऐश्वर्य, प्रभु-प्रेरणा व बल प्राप्त हो। हम उस प्रमति को प्राप्त करें जो शत्रुओं को कम्पित करके दूर करे तथा उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाली हो।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्राणायाम+स्तोत्र+सोम-रक्षण

ते त्वा मदा अमदन्तानि वृष्ण्या ते सोमासो वृत्रहत्येषु सत्पते।
यत्कारवे दश वृत्राण्यप्रति बर्हिष्मते नि सहस्राणि बर्हयः॥ ६॥

१. हे **सत्पते**=हे सज्जनों के रक्षक प्रभो! **वृत्रहत्येषु**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं के विनाशकारी संग्रामों में **मदाः**=मद (उल्लास) के जनक मरुतों (प्राणों) ने **अमदन्**=आनन्दित किया है। उपासक प्राणसाधना द्वारा प्रभु का प्रिय बनता है। **तानि वृष्ण्या**=उन स्तोत्रों ने तुझे आनन्दित किया है जो स्तोता के लिए सुखों के वर्षक होते हैं। **ते सोमासः**=शरीर में सुरक्षित उन सोमकणों ने तुझे आनन्दित किया है। यह सोमकणों का रक्षण हमें प्रभु का प्रिय बनाता है। प्रभु-प्रीति-प्राप्ति के तीन साधन हैं (क) प्राणायाम (ख) स्तोत्र (ग) सोम-रक्षण। २. इसप्रकार **यत्**=जब आप प्रसन्न होते हैं तब **कारवे**=स्तोता के लिए **बर्हिष्मते**=यज्ञादि पवित्र कर्मों को करनेवाले के लिए **दश सहस्राणि**=दशों हज़ार **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरक वासनाओं को **अप्रति निबर्हयः**=आप ऐसे विनष्ट करते हैं जिससे कि उनका फिर लौटना होता ही नहीं। प्रसन्न प्रभु हमारी सब शत्रुभूत वासनाओं को विनष्ट कर डालते हैं।

भावार्थ—प्राणायाम+स्तवन व सोम-रक्षण द्वारा हम प्रभु के प्रीतिपात्र बनें। प्रभु हमारी सब वासनाओं को विनष्ट कर डालेंगे।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

नमुचि-निबर्हण

युधा युधमुप घेदेषि धृष्णुया पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा।
नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षक **युधा**=आयुध के द्वारा **युधम्**=शत्रु के आयुध को **उप घा इत् एषि**=निश्चय से समीपता से प्राप्त होते हैं। धर्षक आयुधों के द्वारा शत्रु के आयुध को विनष्ट कर डालते हैं। **पुरा**=हमारे पालन व पूरण के दृष्टिकोण से (पृ पालनपूरणयोः) **इदं पुरम्**=इस शत्रु की नगरी को **ओजसा**=ओज के द्वारा **सं हंसि**=सम्यक् नष्ट कर डालते हैं। 'काम' ने इन्द्रियों में, क्रोध ने मन में तथा लोभ ने बुद्धि में जो किले बना लिये थे, उन्हें आप नष्ट कर डालते हैं और इसप्रकार हमारा पालन करते हैं। २. हे इन्द्र! **यत्**=जब आप **नम्या**=सबको प्रह्वीभूत करनेवाली—झुका देनेवाली **सख्या**=सखिभूत शक्ति से **नमुचिं नाम मायिनम्**=इस नमुचि नामक आसुरभाव को **परावति**=सुदूर देश में **निबर्हयः**=विनष्ट कर डालते हैं। अहंकार की वासना नमुचि है—पीछा न छोड़नेवाली है (न+मुच्)। सब आसुरभावों को जीत लेने पर भी यह इस रूप में प्रकट होती है कि 'मैंने कितनी महान् विजय कर ली'। प्रभु-स्मरण ही इसका विनाश करता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे सब आसुरभावों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—सव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

'करञ्ज, पर्णय व वंगृद' का विनाश

त्वं कर॑ञ्जमु॒त प॒र्णयं॑ वधी॒स्तेजि॑ष्ठयातिथि॒ग्वस्य॑ वर्त॒नी।
त्वं श॒ता वङ्ग॑ृदस्याभिन॒त्पुरो॑ऽनानु॒दः परि॑षूता ऋ॒जिश्व॑ना॥ ८॥

१. **त्वम्**=तू **करञ्जम्**=(किरति विक्षिपति धार्मिकान्) धार्मिकों को पीड़ित करने की वृत्ति को तथा **पर्णयम्**=(पर्णानि परप्राप्तानि वस्तूनि याति द०) चोरी की वृत्ति को **अतिथिग्वस्य**=अतिथियों के प्रति नम्रता से जानेवाले—अतिथियज्ञ करनेवाले की **तेजिष्ठया वर्तनी**=अत्यन्त तीव्र सत्क्रिया से **वधीः**=नष्ट करता है। यह अतिथि व विद्वान्व्रती लोगों का आतिथ्य करता हुआ उनसे सत्प्रेरणाओं को प्राप्त करने के कारण 'करञ्ज व पर्णय' का वध कर पाता है। अपने अन्दर यह परपीड़न व चोरी की वृत्ति को नहीं आने देता। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अनानुदः**=शत्रुओं से न धकेले जाते हुए **वंगृदस्य**=(विषादि पदार्थान् ददाति)=विषादि देनेवाले असुर के **शता पुरः**=सैकड़ों नगरों को **अभिनत्**=विदीर्ण करते हैं। ये घात-पात करनेवाले लोग ऐश्वर्य को खूब बढ़ा लेते हैं। प्रभु इनकी कोठियों को क्षणभर में नष्ट कर डालते हैं। वंगृद की ये पुरियाँ **ऋजिश्वना**=ऋजुमार्ग से गति करनेवाले के द्वारा **परिषूताः**=चारों ओर से घेर ली जाती हैं। यह ऋजिश्वा इनका विनाश करनेवाला होता है। ऋजुमार्ग से चलनेवाला व्यक्ति वंगृद बनकर कोठियाँ नहीं खड़ी करता रहता।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण हमें 'करञ्ज, पर्णय व वंगृद' का वध करने में समर्थ करे। यह स्मरण हमें ऋजिश्वा बनाए।

ऋषिः—सव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

वासना-सरित्-संतरण

त्वमे॒तां ज॑नरा॒ज्ञो द्विर्दशा॑ब॒न्धुना॑ सु॒श्रव॑सोपज॒ग्मुषः॑।
ष॒ष्टिं स॒हस्रा॑ नव॒तिं नव॑ श्रु॒तो नि च॒क्रेण॒ रथ्या॑ दु॒ष्पदा॑वृणक्॥ ९॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **एतान्**=इन **द्विर्दश**=बीस **जनराज्ञः**=मनुष्यों पर शासन करनेवाली अशुभवृत्तियों को **वि अवृणक्**=निश्चित रूप से दूर करते हैं। ये अशुभवृत्तियाँ बीस हैं—'दस इन्द्रियों, पाँच प्राणों व मन, बुद्धि, चित्त अहंकार व हृदय' इन बीस से इनका सम्बन्ध है। ये अशुभ वृत्तियाँ बीस होती हुई भी सैकड़ों रूपों में अभिव्यक्त होती हैं, अतः यहाँ उन्हें **षष्टिं सहस्रा**=६० हज़ार कहा है। **नवतिं नव**=निन्यानवें वर्षपर्यन्त इन्हें दूर करने का प्रयत्न करते रहना है। न जाने कब हम इनके शिकार हो जाएँ। २. ये अशुभवृत्तियाँ **अबन्धुना**=संसार में न बन्धनेवाले **सुश्रवता**=ज्ञान-उपदेशों को सुननेवाले के भी **उपजग्मुषः**=समीप आ जाती हैं। इनका आक्रमण बड़े-बड़े ज्ञानियों पर भी हो जाता है। इनके आक्रमण को **श्रुतः**=सम्पूर्ण ज्ञान के पुञ्ज प्रभु ही **दुष्पदा**=बड़ी कठिनता से आक्रमण के योग्य (दुरत्यम्) **रथ्या**=शरीररूप रथ में होनेवाले **चक्रेण**=क्रियाशीलतारूप पहिये से **निवृणक्**=छिन्न करते हैं। प्रभु ही इनके आक्रमण को विफल कर पाते हैं। 'प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रिया में लगे रहना ही' एकमात्र उपाय है, जो हमें इन वासनाओं के आक्रमण से बचाता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से अनन्त प्रवाहों में बहनेवाली वासना-नदी को हम तैर जाएँ।

ऋषिः—सव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सुश्रवस्+तूर्वयाण

त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम्।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः ॥ १० ॥

१. **त्वम्**=आप **तव ऊतिभिः**=अपने रक्षणों के द्वारा **सुश्रवसम्**=उत्तम ज्ञानवाले पुरुष की **आविथ**=रक्षा करते हो। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **तूर्वयाणम्**=(तूर्वं याति) हिंसक काम-क्रोध आदि पर आक्रमण करनेवाले की **तव त्रामभिः**=अपने रक्षा-साधनों से रक्षा करते हैं। हम 'सुश्रवस व तूर्वयाण' बनकर प्रभु की रक्षा के पात्र बनते हैं। २. **त्वम्**=आप **अस्मै**=इस **महे**=महनीय व पूजा की वृत्तिवाले **राज्ञे**=जीवन को व्यवस्थित (Regulated) बनानेवाले **यूने**=दोषों को दूर व अच्छाइयों को समीप प्राप्त करानेवाले इस 'सुश्रवस्' के लिए '**कुत्सम्**'=(कुथ हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाले, **अतिथिग्वम्**=उस महान् अतिथि प्रभु की ओर चलनेवाले **आयुम्**=(एति) गतिशील वीरसन्तान को **अरन्धनायः**=तैयार करते हैं। इसके घर में ऐसी सन्तानों का ही परिपाक होता है।

भावार्थ—हम ज्ञानप्राप्ति के व वासना-संहार के मार्ग पर चलते हुए प्रभु के प्रिय व रक्षणीय बनें। हम पूजा की वृत्तिवाले प्रभु की ओर चलनेवाले व अच्छाइयों को धारण करनेवाले बनकर उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—सव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

देवगोपाः, ते सखायः

य उदृचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥ ११ ॥

१. हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ये**=जो हम **उदृचि**=(उद्गता ऋच यस्मिन्) ऋचाओं के, स्तोत्रों के उच्चारण करनेवाले कर्म में **देवगोपाः**=दिव्यगुणों का अपने अन्दर रक्षण करनेवाले बनते हैं, वे हम **ते सखायः**=आपके मित्र बनते हुए **शिवतमाः असाम**=अतिशयेन कल्याण प्राप्त करनेवाले हैं। हम ऋचाओं में विज्ञान का अध्ययन करें। २. हे प्रभो! **त्वां स्तोषाम**=आपका स्तवन करें। **त्वया सुवीराः**=आपके द्वारा हम उत्तम वीर सन्तानोंवाले हों। **द्राघीय**=अतिशयेन दीर्घ व **प्रतरम्**=उत्कृष्ट—जिसमें सब वासनाओं को तैरा गया है **आयुः**=उस जीवन को **दधानाः**=धारण करते हुए हों।

भावार्थ—हम ज्ञानी, देववृत्तिवाले प्रभु के मित्र व कल्याण को प्राप्त करनेवाले बनें। प्रभु-स्तवन करते हुए वीरसन्तानों को व उत्कृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

यह प्रभु का मित्र 'शरीर-मन व बुद्धि' तीनों को दीप्त करके 'त्रिशोक' बनता है। यह 'प्रियमेध'=यज्ञप्रिय होता है। अगले सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि 'त्रिशोक' व पिछले तीन का यह 'प्रियमेध' है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—त्रिशोकः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभु-स्मरण व सोम-रक्षण

अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये। तृम्पा व्य१श्नुही मदम् ॥ १ ॥

१. हे **वृषभ**=सुखों के वर्षक इन्द्र! **सुते**=सोम की उत्पत्ति होने पर **सुतं पीतये**=इस उत्पन्न सोम के रक्षण के लिए **त्वा**=आपको **अभिसृजामि**=अपने साथ संयुक्त करता हूँ। हृदयदेश में आपके उपस्थित होने पर न वासनाओं का आक्रमण होगा और न ही सोम का विनाश होगा। २. हे प्रभो! **तृम्पा**=आप इस सोम-रक्षण द्वारा प्रसन्न होइए—हम आपके प्रीतिपात्र बनें। आप **मदं व्यश्नुहि**=आनन्दजनक सोम को हमारे अन्दर व्याप्त कीजिए।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण द्वारा सोम-रक्षण करते हुए आनन्द प्राप्त करें।

ऋषिः—**त्रिशोकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'उपहस्वा-अविष्यु, ब्रह्मद्विट्' मूढ़

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन्। माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! **मूराः**=मूढ़ लोग **अविष्यवः**=(अव हिंसायाम्) दूसरों की हिंसा की कामनावाले **त्वा**=आपको **मा आदभन्**=हमारे अन्दर हिंसित करनेवाले न हों। **उपहस्वानः**=उपहास करनेवाले लोग भी हमें आपकी आस्था से दूर करने में समर्थ न हों। इनकी बातें हमारी आस्था को नष्ट न कर पाएँ। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान के साथ अप्रीतिवाले लोगों को **माकीं वनः**=मत प्राप्त हों। ज्ञानी भक्त ही आपका प्रिय हो।

भावार्थ—संसार में हम आध्यात्मिकता का उपहास करनेवाले, पर-हिंसारत मूढ़ लोगों की बातों में आकर प्रभु के प्रति श्रद्धा को न छोड़ बैठें। ज्ञानरुचि बनें और प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—**त्रिशोकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

महे राधसे

इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राधसे। सरो गौरो यथा पिब ॥ ३ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **इह**=इस जीवन में **त्वा**=तुझे ये सोमकण **गोपरीणसा**=ज्ञान की रश्मियों के चारों ओर व्यापन के द्वारा (परि पूर्वाद् व्याप्तिकर्मणो नसतेः क्विप्) **महे राधसे**=महती सिद्धि के लिए **मन्दन्तु**=आनन्दित करें (मादयन्तु)। सोमकणों का रक्षण करता हुआ तू ज्ञानाग्नि के दीपन से ज्ञानरश्मियों से व्याप्त होकर अविद्यान्धकार का विनाश करनेवाला बन। यह तेरा सर्वमहान् साफल्य होगा। इसी से तेरा जीवन आनन्दमय होगा। २. **यथा**=जैसे **गौरः**=गौरमृग **सरः**=तालाब का जल पीता है इसी प्रकार तू सोम का **पिब**=पान कर—यह सोमपान ही तेरे सारे उत्कर्ष का मूल है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि सोम-रक्षण द्वारा जीवन को ज्ञानाग्नि से दीप्त करें। यही आनन्द व साफल्य का मूल है।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सूनु सत्यस्य, सत्पतिम्

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे। सूनु सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ४ ॥

१. हे स्तोतः! तू **गोपतिम्**=ज्ञान की वाणियों के स्वामी **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यथा विदे**=यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए **गिरा**=स्तुतिवाणियों से **अभि प्र अर्च**=प्रकर्षेण पूजित करनेवाला हो। २. तू उस प्रभु को पूजित करनेवाला हो जो **सत्यस्य सूनुम्**=सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं तथा **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें, प्रभु हमें यथार्थ ज्ञान देंगे, सत्य की प्रेरणा प्राप्त कराएँगे और हमें सज्जन बनाकर हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रकाशरश्मियों से दीप्त हृदयदेश

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि। यत्राभि संनवामहे ॥ ५ ॥

१. प्रभु की उपासना होने पर **अरुषीः**=आरोचमान **हरयः**=प्रकाश की रश्मियाँ **अधि बर्हिषि**= हृदयदेश में **आ ससृज्रिरे**=समन्तात् सृष्ट होती हैं। २. उस हृदयदेश में ये प्रकाशरश्मियाँ व्याप्त होती हैं, **यत्र**=जहाँ कि हम **अभिसंनवामहे**=प्रभु को प्रातः-सायं स्तुत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हृदय वासनाशून्य हो जाता है और प्रकाश की रश्मियों से दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

उपह्वरे विदत्

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु। यत्सीमुपह्वरे विदत् ॥ ६ ॥

१. **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय **वज्रिणे**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए पुरुष के लिए **गावः**=प्रकाश की रशिमयाँ **मधु**=उस मधुर ज्ञान का **दुदुह्रे**=दोहन करती हैं, जोकि **आशिरम्**= वासनामल को समन्तात् शीर्ण करनेवाला है। २. यह वह समय होता है **यत्**=जबकि **सीम्**=निश्चय से **उपह्वरे**=एकान्त हृदयदेश में समीप ही (Prominently) उस प्रभु को **विदत्**=प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें। हमें वह मधुर ज्ञान प्राप्त होगा जो हमें हृदयदेश में प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनाएगा।

यह प्रभु को पानेवाला व्यक्ति 'विश्वामित्र' बनता है—सबके प्रति स्नेहवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

आद्रिवः! आयाहि

आ तू न इन्द्र मद्र्य ᳚ग्घुवानः सोमपीतये। हरिभ्यां याह्यद्रिवः ॥ १ ॥

१. हे **अद्रिवः**=आदरणीय व वज्रहस्त **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **हुवानः**=पुकारे जाते हुए **मद्र्यक्**=मदभिमुख होकर **नः**=हमारे इस जीवन-यज्ञ में **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए—शरीरों में ही सोम के रक्षण के लिए **हरिभ्याम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वों के साथ **तू**=निश्चय से **आयाहि**=प्राप्त होइए। २. हमारे हृदयों में आपके स्थित होने पर ही ये इन्द्रियाँ विषयासक्ति से बची रह पाती हैं। तभी सोम का रक्षण सम्भव होता है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमारे हृदय में दर्शन दीजिए, जिससे इन्द्रियाँ विषयासक्ति से बची रहें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

यज्ञ+ध्यान+क्रियाशीलता

सत्तो होता न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक्। अयुज्रन्प्रातरद्रयः ॥ २ ॥

१. **नः**=हमारे इस जीवन-यज्ञ में **होता**=यज्ञ करनेवाला यह ऋत्विक् **ऋत्वियः**=समय पर कार्य करनेवाला होता हुआ **सत्तः**=निषण्ण हुआ है, अर्थात् इस शरीर को प्राप्त करके मैं समय पर ठीक अग्निहोत्र आदि कर्मों को करनेवाला बनता हूँ। २. मेरे द्वारा **आनुषक्**=निरन्तर—

प्रतिदिन **बर्हिः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, वह हृदयासन **तिस्तिरे**=बिछाया गया है। मैं हृदय को पवित्र करके उसपर आसीन होने के लिए आपको पुकारता हूँ। ३. **अद्रयः**=ये प्रभु के उपासक (adore आद्रियते) **प्रातः**=प्रातः-प्रातः ही **अयुज्रन्**=अपने को अपने कर्त्तव्य-कर्मों में युक्त (संगत) कर देते हैं।

भावार्थ—हम समय पर अग्निहोत्र आदि कर्मों को करनेवाले हों। पवित्र हृदयासन पर प्रभु को आसीन करने का प्रयत्न करें। प्रातः से ही अपने कर्त्तव्य को करने में लग जाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

(प्रभु-ध्यान—प्रभु-दर्शन) पुरोडाश-सेवन

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद। वीहि शूर पुरोडाशम्॥ ३॥

१. हे **ब्रह्मवाहः**=ज्ञान की वाणियों का वहन करनेवाले प्रभो! **इमा ब्रह्म**=ये स्तुतिवाणियाँ **क्रियन्ते**=हमसे की जाती हैं। आप **बर्हिः आसीद**=हमारे हृदयासन पर आसीन होइए। हम ध्यान द्वारा हृदय में प्रभु को देखने का प्रयत्न करें। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **पुरोडाशम् वीहि**=जिसमें से पहले यज्ञ के लिए दिया गया है (पुरो दाश्यते यस्मात्) उस यज्ञशेषभूत अन्न का **वीहि**=भक्षण कीजिए। प्रभु ही तो हमारे इस अन्न का पाचन करते हैं, 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रतः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'=देह में आश्रित प्रभु ही वैश्वानररूपेण अन्नों का पाचन करते हैं, अतः मैं क्या खाता हूँ, प्रभु ही देहस्थ होकर इस भोजन को करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए हृदयों में प्रभु का दर्शन करें। इस देहस्थ प्रभु को ही यज्ञशेषरूप अन्नों का सेवन करता हुआ जानें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सवनेषु-स्तोमेषु-उक्थेषु

रारन्धि सवनेषु ण एषु स्तोमेषु वृत्रहन्। उक्थेष्विन्द्र गिर्वणः॥ ४॥

१. हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **एषु**=इन **सवनेषु**=यज्ञों में **रारन्धि**=आप प्रीतिवाले होइए (रमस्व)। हमसे किये जानेवाले यज्ञ हमें आपका प्रिय बनाएँ। इन यज्ञों में लगे रहकर ही तो हम वासनाओं के आक्रमण से बचे रहते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! हमारे इन **सोमेषु**=स्तुति-समूहों में आप प्रीतिवाले होइए। प्रभु-स्तवन करते हुए हम भी इन्द्र-जैसे ही बनें। २. हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से सम्भजनीय प्रभो! **उक्थेषु**=हमसे उच्चारित ज्ञानवाणियों में आप प्रीतिवाले हों। ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें।

भावार्थ—हम यज्ञों—स्तोत्रों व ज्ञान की वाणियों के उच्चारणों से प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोमपां, उरुं, शवसस्पतिम्, इन्द्रम्

मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम्। इन्द्रं वत्सं न मातरः॥ ५॥

१. **मतयः**=हमसे की जानेवाली स्तुतियाँ उस **सोमपाम्**=सोम का रक्षण करनेवाले **उरुम्**=महान् **शवसस्पतिम्**=बल के स्वामी **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **रिहन्ति**=(लिहन्ति) आस्वादित करती हैं—प्राप्त होती हैं। २. हमारी स्तुतियाँ प्रभु को इसप्रकार प्राप्त होती हैं, **न**=जैसेकि **मातरः**=धेनुएँ **वत्सम्**=बछड़े को अथवा माताएँ बच्चों को, अर्थात् हम बड़े प्रेम से प्रभु का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रेम से प्रभु-स्तवन करते हुए सोम का शरीर में रक्षण करें, हृदय को विशाल बनाएँ, बल प्राप्त करें और परमैश्वर्यवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

तन्वा, महे राधसे, न निदे

स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे। न स्तोतारं निदे करः ॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! **सः**=वे आप **अन्धसः**=सोम के द्वारा **हि**=निश्चय से **मन्दस्व**=हमें आनन्दित कीजिए। **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार के हेतु से तथा **महे राधसे**=महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए आप सोम के द्वारा हमें आनन्दित कीजिए। सोम-रक्षण द्वारा हम अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों तथा मोक्षरूप महान् धन को प्राप्त कर सकें। २. आप **स्तोतारम्**=मुझ स्तोता को **निदे न करः**=निन्दा के लिए न कीजिए। न मैं ओरों की निन्दा करता रहूँ, न निन्दा का पात्र ही बनूँ।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करता हुआ मैं सोम-रक्षण द्वारा शरीर की शक्तियों का विस्तार करूँ, अन्ततः उस महान् मोक्षधन को प्राप्त करूँ और कभी निन्दा के वशीभूत न हो जाऊँ। न निन्द्य बनूँ, न निन्दक होऊँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वयं त्वायवः, त्वम् अस्मयुः

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे। उत त्वमस्मयुर्वसो ॥ ७ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वायवः**=आपको प्राप्त करने की कामनावाले **वयम्**=हम **हविष्मन्तः**=त्यागपूर्वक अदनवाले—यज्ञशेष का सेवन करनेवाले होते हुए **जरामहे**=आपका स्तवन करते हैं। २. **उत**=और हे **वसो**=उत्तम निवास देनेवाले प्रभो! **त्वम् अस्मयुः**=आप हमें अभिमत प्रदान के लिए चाहनेवाले होते हैं—हम आपको चाहते हैं और आपके प्रिय बनते हैं।

भावार्थ—हम हविष्मान् बनकर प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले होते हुए प्रभु का स्तवन करें। इसप्रकार हम प्रभु के प्रिय बनें, प्रभु से सब अभिमत वस्तुओं को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मा आरे विमुमुचः

मारे अस्मद्वि मुमुचो हरिप्रियार्वाङ् याहि। इन्द्र स्वधावो मत्स्वेह ॥ ८ ॥

१. हे **हरिप्रिय**=प्रीतिकर इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले (हरिः प्रियो यस्य) **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मत् आरे**=हमसे दूर **मा विमुमुचः**=रथयुक्त अश्वों को मुक्त मत कर दीजिए। **अर्वाङ् याहि**=आप हमें आभिमुख्येन प्राप्त हों। २. हे **स्वधावः**=आत्मधारणशक्तिवाले प्रभो! **इह**=इस—हमारे जीवन में आप **मत्स्व**=आनन्दित होइए। सोम-रक्षण के द्वारा आप हम उपासकों को आनन्दमय जीवनवाला बनाइए।

भावार्थ—प्रभु हमें समीपता से प्राप्त हों। वे आत्मधारणशक्तिवाले प्रभु सोम-रक्षण द्वारा हमें आनन्दित करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

केशिना-घृतस्नू

अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना। घृतस्नू बर्हिरासदे ॥ ९ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुखे रथे**=(सु+ख) उत्तम इन्द्रियोंवाले (सुखकर) इस शरीर-रथ में **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले ये इन्द्रियाश्व **त्वा**=आपको **अर्वाञ्चम्**=हमारे अभिमुख **वहताम्**=प्राप्त कराएँ। २. **घृत-स्नू**=दीप्ति को प्रस्तुत करनेवाले ये अश्व आपको **बर्हि**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में **आसदे**=बैठने के लिए हमारे अभिमुख प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ ज्ञानदीप्तिवाली होती हुई हमें प्रभु को प्राप्त कराएँ।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'विश्वामित्र' ही है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला रथ

उप नः सुतमा गहि सोममिन्द्र गवाशिरम्। हरिभ्यां यस्ते अस्मयुः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे **सतुम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **उप आगहि**=समीपता से प्राप्त होइए। आपकी उपासना से ही हम इस सोम का रक्षण कर पाएँगे। उस सोम को प्राप्त होइए जो **गवाशिरम्**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा समन्तात् वासनाओं को शीर्ण करनेवाला है। २. हे प्रभो! **हरिभ्याम्**=प्रशस्त इन्द्रियों से युक्त **यः ते**=जो आपका रथ है, वह **अस्मयुः**=हमारी कामनावाला हो, अर्थात् हमें प्रशस्त इन्द्रियाश्वों से युक्त शरीर-रथ प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से सोम का रक्षण होगा। सुरक्षित सोम ज्ञानवृद्धि व वासना-विनाश का कारण बनेगा। उस समय हमारा शरीर-रथ प्रशस्त इन्द्रियाश्वों से युक्त होगा।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

जितेन्द्रियता-वासनाविनाश-स्तवन

तमिन्द्र मदमा गहि बर्हिष्ठां ग्रावभिः सुतम्। कुविन्न्व ꣡स्य तृप्णवः॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तं मदम् आगहि**=उस उल्लासजनक सोम को प्राप्त हो, जो **बर्हिष्ठाम्**=वासनाशून्य हृदय में स्थित होनेवाला है। **ग्रावभिः सुतम्**=स्तोताओं से सम्पादित होता है—प्रभु के स्तोता ही इसे अपने अन्दर रक्षित कर पाते हैं। २. तू **कुवित्**=बहुत **नु**=अब शीघ्र ही **अस्य तृप्णवः**=इससे तृप्त हो (तृपेः लेटिरूपम्)। इसके रक्षण से तू प्रीति का अनुभव कर।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए 'जितेन्द्रियता-वासनाविनाश व स्तवन' साधन हैं। इसके रक्षण से अद्भुत प्रीति का अनुभव होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

आवृते, सोमपीतये

इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छागुरिषिता इतः। आवृते सोमपीतये॥ ३॥

१. **इतः**=यहाँ—हमारे गृह की यज्ञभूमि से **मम**=मेरी **गिरः**=स्तुतिरूप वाणियाँ **इषिताः**=हमसे प्रेरित हुई-हुई **इत्था**=सचमुच **इन्द्रम् अच्छा**=प्रभु को लक्ष्य करके **अगुः**=प्रभु की ओर जाती हैं। हम स्तुतिवाणियाँ द्वारा प्रभु का स्तवन करते हैं। २. हम यह स्तवन **आवृते**=प्रभु को अपनी ओर आवृत्त करने के लिए करते हैं। हम अपनी ओर प्रभु की आवृत्ति **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए चाहते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें। प्रभु को प्राप्त करने से हम सोम का रक्षण कर पाएँगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

स्तोमैः-उक्थेभिः

इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे। उक्थेभिः कुविदागमत्॥ ४॥

१. **इह**=यहाँ—इस जीवन में **सोमस्य पीतये**=सोम के रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु को **स्तोमैः**=स्तोत्रों के द्वारा **हवामहे**=पुकराते हैं। २. **उक्थेभिः**=ऊँचे से उच्चार्यमाण इन स्तोत्रों के द्वारा वे प्रभु **कुवित्**=अच्छी प्रकार **आगमत्**=हमें प्राप्त होते हैं। प्रभु-प्राप्ति होने पर काम आदि शत्रुओं का सम्भव ही नहीं रहता, अतः सोमपान सहज में ही हो जाता है।

भावार्थ—हम स्तोत्रों के द्वारा प्रभु की समीपता प्राप्त करते हैं। समीपस्थ प्रभु वासनाविनाश द्वारा सोम का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

इन्द्र-शतक्रतो-वाजिनीवसो

इन्द्र सोमाः सुता इमे तान्दधिष्व शतक्रतो। जठरे वाजिनीवसो॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **इमे सोमाः सुताः**=ये सोम सम्पादित हुए हैं। हे **शतक्रतो**=अनन्तशक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! आप **तान् दधिष्व**=उनको धारण कीजिए। २. हे **वाजिनीवसो**=शक्तिप्रद अन्नों के द्वारा हमें बसानेवाले प्रभो! इन सोमकणों को **जठरे**=हमारे अन्दर ही—शरीर में ही धारण कीजिए। हम इन शक्तिप्रद अन्नों का सेवन करते हुए सोम को अपने अन्दर सुरक्षित कर पाएँ।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए साधन हैं (क) जितेन्द्रियता (इन्द्र), (ख) सदा कर्मों व ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना (शतक्रतो), (ग) अन्नों का सेवन, मांस का असेवन (वाजिनीवसो)।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

धनञ्जय, वाजेषु दधृषम्

विद्मा हि त्वा धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे। अधा ते सुम्नमीमहे॥ ६॥

१. हे **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभो! हम **त्वा**=आपको **हि**=निश्चय से **धनञ्जयम्**=सब धनों का विजेता **विद्म**=जानते हैं। आपको ही **वाजेषु**=संग्रामों में **दधृषम्**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला जानते हैं। २. **अधा**=इसीलिए अब **ते**=आपके **सुम्नम्**=स्तोत्र को **ईमहे**=चाहते हैं। आपका स्तवन करते हुए हम धनों को भी प्राप्त करेंगे और संग्रामों में विजयी होंगे।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम संग्रामों में विजयी बनें और धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'गवाशिर्, यवाशिर्' सोम

इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नः पिब। आगत्या वृषभिः सुतम्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **नः**=हमारे **इमम्**=इस **वृषभिः**=अपने अन्दर शक्ति का सेचन करनेवाले पुरुषों के द्वारा **सुतम्**=उत्पन्न किये गये सोम को **आगत्य**=हमें प्राप्त होकर **पिब**=आप पीजिए। वृषा पुरुष अपने अन्दर सोम का सम्पादन करते हैं। प्रभु ही उसका उनके अन्दर रक्षण करते हैं, अतः ये प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होते हैं। २. उस सोम का आप पान कीजिए जो **गवाशिरम्**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा समन्तात् वासनाओं को शीर्ण करनेवाला है तथा **यवाशिरम्**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों को दूर करने व अच्छाइयों को प्राप्त कराने के द्वारा सब

अवाञ्छनीय तत्त्वों को विनष्ट करता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे अन्दर होते हैं तो सोम का रक्षण करते हैं। यह सोम-ज्ञान की वाणियों के द्वारा वासनाओं को शीर्ण करता है तथा बुराइयों को दूर करके सब अच्छाइयों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम-रक्षण व प्रभु-प्राप्ति

तुभ्येदिन्द्र स्वा ओक्ये॒३॒ सोमं चोदामि पीतये। एष रारन्तु ते हृदि ॥ ८ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तुभ्य इत्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही मैं **स्वे ओक्ये**=अपने निवासस्थानभूत इस शरीर में ही **सोमम्**=सोम को **पीतये**=पीने के लिए **चोदामि**=प्रेरित करता हूँ। शरीर में सुरक्षित सोम अन्ततः प्रभु-प्राप्ति का साधन बनता है। २. **एषा**=यह सोम **हृदि**=हृदय में **ते रारन्तु**=आपको रमण करानेवाला हो। सोम-रक्षण द्वारा हम हृदयस्थ प्रभु में रमण करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति का मूल सोम-रक्षण ही है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

कुशिकासः अवस्यवः

त्वां सुतस्य पीतये प्रत्नमिन्द्र हवामहे। कुशिकासो अवस्यवः ॥ ९ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **सुतस्य**=उत्पन्न हुए सोम के **पीतये**=पान के लिए **प्रत्नम्**=सनातन **त्वम्**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु का आराधन वासना-विद्रावण द्वारा सोम-रक्षण का साधन बनता है। २. **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले हम **कुशिकासः** (कुश संश्लेषणे)=प्रभु के साथ आलिंगन करनेवाले होते हैं। प्रभु के साथ मेल के द्वारा ही (क्रंशतेर्वा प्रकाशयति कर्मणः) ये सपने हृदयों को प्रकाशमय बनाते हैं।

भावार्थ—हम उत्पन्न सोम के रक्षण के लिए सनातन प्रभु का आराधन करते हैं। प्रभु के आराधन से ही हृदय को प्रकाशमय बना पाते हैं।

प्रभु के आराधन से प्रशस्त इन्द्रियोंवाला यह 'गोतम' बनता है। यह गोतम अगले सूक्त का ऋषि है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

गोषु प्रथमः

अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति सुप्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तवोतिभिः।
तमित्पृणक्षि वसुना भवीयसा सिन्धुमापो यथाभितो विचेतसः ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! जो **मर्त्यः**=मनुष्य **तव ऊतिभिः**=आपके रक्षणों से **सुप्रावीः**=सम्यक् रक्षित होता है वह **अश्वावति**=उत्तम कमेन्द्रियोंवाले यज्ञादि कर्मों में **प्रथमः**=पहला होता है तथा **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में भी मुख्य होता हुआ **गच्छति**=गतिवाला होता है। प्रभु से रक्षित मनुष्य उत्तम कर्मेन्द्रियों व उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला होता है। २. हे प्रभो! आप भी **तम् इत्**=उस प्रशस्त इन्द्रियोंवाले पुरुष को ही **भवीयसा वसुना**=अत्यधिक धन से **पृणक्षि**=सम्पृक्त करते हैं, **यथा**=जैसे **आपः**=जल **अभितः**=सब ओर से **सिन्धुम्**=समुद्र को जल से भरते हैं। हे प्रभो! ये

पुरुष, जिनको आप उत्तम इन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं, और जिन्हें आप प्रभूत धन देते हैं, **विचेतसः**=विशिष्ट ज्ञानवाले होते हैं। 'घृतलवणतण्डुलेन्धनचिन्ता' इन्हें परेशान नहीं किये रखती।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित व्यक्ति उत्तम इन्द्रियोंवाला, पर्याप्त धनवाला व विशिष्ट चेतनावाला होता है।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

विततं यथा रजः (एक व्यापक प्रकाश)

आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः।
प्राचैर्देवासः प्र णयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वराइव॥ २॥

१. **देवीः आपः**=दिव्यगुणों से युक्त जल **न**=जैसे समुद्र की ओर जाते हैं, उसी प्रकार हमारी स्तुतियाँ **होत्रियम् उपयन्ति**=होत्र (समर्पण) के योग्य उस प्रभु के समीप प्राप्त होती है। उस समय ये स्तोता लोग **अवः**=(अवस्तोत्) अपने अन्दर—हृदयदेश में उस प्रभु को इसप्रकार **पश्यन्ति**=देखते हैं, **यथा**=जैसेकि **विततं रजः**=एक विस्तृत ज्योति हो। २. **देवासः**=देववृत्ति के लोग **देवयुम्**=दिव्यगुणों का हमारे साथ मिश्रण करनेवाले प्रभु को **प्राचैःप्रणयन्ति**=अग्रगमनों के द्वारा—उन्नतिपथ पर चलने के द्वारा अपने में प्राप्त कराते हैं। **ब्रह्मप्रियम्**=ज्ञान के द्वारा प्रीणित करनेवाले प्रभु को ये स्तोता लोग **जोषयन्ते**=प्रीतिपूर्वक उपासित करते हैं। **वराः इव**=इस प्रकार उपासित करते हैं जैसेकि वर कन्या को।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। आगे बढ़ते हुए हम देववृत्ति के बनकर प्रभु को प्राप्त करते हैं। उस ज्ञान के द्वारा प्रीणित करनेवाले प्रभु को ही हम प्रीतिपूर्वक उपासित करते हैं।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'ज्ञान व कर्म' रूप दो स्तम्भों पर 'भक्ति' रूप छत

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं१ वचो यतस्रुचा मिथुनाया सपर्यतः।
असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते॥ ३॥

१. यह उपासक **द्वयोः अधि**=ज्ञान व कर्मरूप स्तम्भों पर छत के रूप में **उक्थ्यं वचः**=स्तुतिवचन को **अदधाः**=धारण करता है। वही स्तुति मनुष्य का का रक्षण करनेवाली होती है, जोकि ज्ञान व कर्म पर आश्रित हो। **या**=जो **मिथुना**=स्त्री व पुमान्रूप द्वन्द्व **यतस्रुचा**=यज्ञ-साधन चमस् आदि पात्रों को ग्रहण किये हुए होते हैं, अर्थात् यज्ञशील होते हैं, अथवा नियमित वाणीवाले—मौनव्रतवाले होते हैं, वे ही वस्तुतः **सपर्यतः**=प्रभु-पूजन करते हैं (वाग्वै स्तुमः श० ६.३.१.८)। २. हे प्रभो! **असंयतः**=विषयों से अबद्ध पुरुष **ते व्रते क्षेति**=आपके व्रत में निवास करता है, इसके जीवन का उद्देश्य आपको प्राप्त करना होता है। इसकी सब क्रियाएँ आपको प्राप्त करने के उद्देश्य से होती हैं। **पुष्यति**=यह पोषण को प्राप्त करता है। इस **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोम का अभिषव (सम्पादन) करनेवाले पुरुष के लिए ही **भद्रा शक्तिः**=कल्याणकर शक्ति होती है। यह शक्तिशाली होता है और इसकी शक्ति सदा हितकर कार्यों में प्रवृत्त होती है।

भावार्थ—हम ज्ञान व कर्मरूप दो स्तम्भों पर भक्तिरूप छत की स्थापना करें। मौनव्रत को धारें। विषयों से अबद्ध होकर प्रभु की ओर चलें। यज्ञशील व सोम का सम्पादन करनेवाले बनकर भद्रशक्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

सुकृत्यया शम्या

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः॥ ४॥

१. **आत्**=गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान व कर्मरूप भित्तियों पर भक्तिरूप छत के धारण करने के बाद (आत् अनन्तरमेव) ही **ये अङ्गिराः**=जो ये गतिशील पुरुष (अगि गतौ) थे, वे **सुकृत्यया**=उत्तम रीति से किये जानेवाले **शम्या**=कर्मों से **इद्धाग्नयः**=दीप्त अग्निवाले बनकर—यज्ञ आदि कर्मों को करनेवाले होकर **प्रथमं वयः दधिरे**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करते थे। २. ये अङ्गिरा लोग **पणेः** (पण व्यवहारे) उत्तम व्यवहारों के द्वारा **सर्वं भोजनं**=सम्पूर्ण पालन व पोषण के लिए अवश्यक सामग्री को **समविन्दन्त**=प्राप्त करते थे। यह भोजन **अश्वावन्तम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला व **गोमन्तम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला हुआ और इस सात्त्विक भोजन का सेवन करते हुए **नरः**=इस उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोगों में **आ पशुम्**=सब ओर उस सर्वद्रष्टा प्रभु को पाया—ये सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखनेवाले बनें।

भावार्थ—हम यज्ञादि कर्मों को करते हुए उत्तम जीवनवाले बनें। उत्तम व्यवहारों से सात्त्विक भोजनों को प्राप्त करके प्रशस्तेन्द्रिय बनें। उन्नति-पथ पर चलते हुए हम सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखें।

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

अथर्वा-सूर्यः-व्रतपाः

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥ ५॥

१. **अथर्वा**=संसार के विषयों में डाँवाडोल न होनेवाला व्यक्ति **प्रथमः**=सर्वप्रथम होता है—वह सबका अग्रणी होता है। **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा **पथः**=मार्गों को **तते**=विस्तृत करता है। **ततः**=तब ऐसा करने पर, यह **सूर्यः**=(सरति) निरन्तर क्रियाशील व सूर्य के समान चमकनेवाला बनता है। **व्रतपाः**=यह व्रतों का पालन करता है और **वेनः आजनि**=विचारशील हो जाता है—प्रत्येक काम को सोच-समझकर विचारपूर्वक करता है। २. यह **गाः**=इन्द्रियों को **आ आजत्**=समन्तात् अपने-अपने कर्मों में प्रेरित करता है। **उशनाः**=प्रभु-प्राप्ति की कामनावाला होता है। **काव्यः**=ज्ञानी बनता है। इस **यमस्य**=सर्वनियन्ता प्रभु के **सचा**=साथ **जातम्**=प्रादुर्भूतशक्तिवाले **अमृतम्**=विषय वासनाओं के पीछे न मारनेवाले पुरुष को **यजामहे**=हम आदर देते हैं और इसका संग करने का यत्न करते हैं।

भावार्थ—हम स्थिरवृत्ति बनकर यज्ञमय जीवनवाले बनें। सूर्य के समान व्रतों का पालन करनेवाले हों। इन्द्रियों को कर्त्तव्य-कर्मों में प्रेरित करें। प्रभु के सम्पर्क में रहनेवाले लोगों का संसर्ग करें।

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

प्रभु-रमण कहाँ?

बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि।
ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्य१स्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति॥ ६॥

१. **यत्**=जब **वा**=निश्चय से **बर्हिः**=यह वासनाशून्य हृदय **स्वपत्याय**=उत्तम सन्तानों के लिए **वृज्यते**=पाप की भावनाओं से पृथक् किया जाता है, अर्थात् जब एक घर में पति-पत्नी अपने हृदयों को पवित्र बनाते हैं और परिणामतः उत्तम सन्तानों को प्राप्त करते हैं। **वा**=या जब **अर्थः**=स्तोता **दिवि**=स्तुतिकर्म में (दिव् स्तुतौ) **श्लोकम् आघोषते**=प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता है। २. **यत्र**=जिस गृह में **ग्रावा**=सत्कर्मों का उपदेष्टा, **कारुः**=स्वयं उत्तमता से कार्यों को करनेवाला **उक्थ्यः**=स्तोत्रों में उत्तम पुरुष **वदति**=कर्तव्य-पथ का उपदेश करता है, **तस्य इत्**=उस गृह के ही **अभिपित्वेषु**=समीप देशों में—ऐसे घर के वातावरण में ही—**इन्द्रः रण्यति**=प्रभु रमण करते हैं, अर्थात् इस गृह का वातावरण ही प्रभु-प्राप्ति के अनुकूल होता है।

भावार्थ—प्रभु का निवास उन घरों में होता है, जहाँ लोग (क) अपने हृदयों को पवित्र बनाते हैं, (ख) जहाँ प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण होता है, (ग) जहाँ स्वयं 'ज्ञानप्रधान कर्मशील स्तोता' बनकर सन्तानों को कर्त्तव्य-पथ का उपदेश दिया जाता है।

ऋषिः—**अष्टकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'धीभिः+शच्या' गृणानः

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥ ७ ॥

१. हे **हर्यश्व**=लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **वृष्णे**=सब सुखों के वर्षक **प्रयै**=प्रकृष्ट गमनवाले **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए **सतुस्य**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम के **उग्रम्**=उद्गूर्ण बलवाले—तेजस्वी बनानेवाले **सत्याम्**=अवितथ सामर्थ्यवाले **पीतिम्**=पान को **प्र इयर्मि**=अपने में प्रेरित करता हूँ। इस सोम-रक्षण के द्वारा ही तो मैं आपको प्राप्त करूँगा। २. **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **धीभिः**=सब बुद्धियों के द्वारा—ज्ञानप्राप्तियों के द्वारा तथा **शच्या**=कर्मों के द्वारा **गृणानः**=हमसे स्तुति किये जाते हुए **इह**=यहाँ इस जीवन में **विश्वाभिः धेनाभिः**=सम्पूर्ण सत्य-ज्ञानों को देनेवाली इन वेदवाणियों से **मादयस्व**=हमें आनन्दित कीजिए।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लए सोम-रक्षण आवश्यक है, यही हमें तेजस्वी व सत्यवृत्तिवाला बनाता है। हम ज्ञानप्राप्ति में लगने व यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होने के द्वारा प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे हृदयों में वेदवाणियों का प्रकाश करेंगे।

प्रभु की सच्ची उपासना से अपने जीवन में सुख का निर्माण करनेवाला यह 'शुनःशेप' है—यह अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला होने से 'मधुचछन्दाः' होता है। अगले सूक्त में ये ही क्रमशः तीन मन्त्रों के ऋषि हैं—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

योगे-योगे तवस्तरम्

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥ १ ॥

१. हम **सखायः**=परस्पर सखा बनते हुए—परस्पर मित्रभाव से वर्तते हुए **ऊतये**=अपने रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु ने ही तो हमें वास्तविक रक्षण प्राप्त कराना है। २. हम उस प्रभु को **वाजेवाजे**=(Conflict, Battle) प्रत्येक संग्राम में पुकारते हैं, जोकि **योगेयोगे तवस्तरम्**=जितना-जितना सम्पर्क होता है, उतना ही अधिक शक्ति को प्राप्त करानेवाले हैं। जितना-जितना यह उपासक प्रभु के समीप प्राप्त होता है, उतना-उतना

ही अधिक शक्तिशाली बनता है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही यह उपासक काम-क्रोध आदि को पराजित कर पाता है।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारें—प्रभु के अधिकाधिक सम्पर्क में आयें, प्रभु हमें शक्ति देंगे और हम शत्रुओं को पराजित कर पाएँगे।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ऊतिभिः+वाजेभिः

आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्त्रिणीभिरूतिभिः। वाजेभिरुप नो हवम्॥ २॥

१. **यदि**=यदि वे प्रभु **नः**=हमारी **हवम्**=पुकार को **श्रवत्**=सुनते हैं, अर्थात् यदि हम प्रभु को पुकारते हैं तो वे **सहस्त्रिणीभिः ऊतिभिः**=हज़ारों रक्षणों के साथ तथा **वाजेभिः**=बलों के साथ **घा**=निश्चय से **उप आगमत्**=हमें समीपता से प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारें। प्रभु हमें रक्षण व बल प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रत्न ओकस् (सनातन गृह)

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्। यं ते पूर्वं पिता हुवे॥ ३॥

१. **प्रत्नस्य ओकसः अनु**=उस सनातन घर का—ब्रह्मलोकरूप अपने मूल गृह का लक्ष्य करके **तुविप्रतिम्**=शक्तिशालियों के (तुवि=Strong) प्रतिनिधिभूत **नरम्**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ। प्रभु की आराधना से ही मैं शत्रुओं पर विजय पाता हुआ ब्रह्मलोकरूप गृह को प्राप्त करूँगा। २. **यं ते**=(त्वाम्) जिन आपको **पूर्वम्**=पहले **पिता**=मेरे पिता **हुवे**=पुकारते थे। एक घर में पिता को प्रभु की आराधना करते हुए देखकर सन्तानों में भी प्रभु की आराधना की वृत्ति उत्पन्न होती है।

भावार्थ—हम ब्रह्मलोकरूप अपने सनातन गृह को प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रभु को पुकारें जैसे हमारे पिता पुकारते थे। प्रभु हमें शक्ति देंगे और हम शत्रुओं से न रोके जाकर आगे बढ़ते हुए लक्ष्यस्थान पर पहुँच पाएँगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

गृह प्राप्त्यर्थ क्या करें?

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उस ब्रह्मलोक में पहुँचने की कामनावाले लोग **ब्रध्नम्**=(असौ वा आदित्यो ब्रध्नः। —तैब्रा० ३.९.४.१,२) आदित्य को **युञ्जन्ति**=अपने साथ जोड़ते हैं, आदित्य की भाँति अपने को प्रकाशमय बनाने का प्रयत्न करते हैं। **अरुषम्**=(अग्निर्वा अरुषः) अग्नि को अपने साथ जोड़ते हैं, अर्थात् अग्नि ही बनने का प्रयत्न करते हैं—निरन्तर आगे बढ़ने के लिए यत्नशील होते हैं। **चरन्तम्** (वायुर्वै चरन्)=वायु को अपने साथ जोड़ते हैं—वायु की भाँति निरन्तर गतिशील होते हैं। **परितस्थुषः** (इमे वै लोकाः परितस्थुषः)=इन सब लोकों को अपने साथ जोड़ते हैं—विश्वबन्धुत्व की भावना को अपने अन्दर जगाते हैं। २. ऐसा करने पर **दिवि रोचना**=आकाश में चमकते हुए नक्षत्र (नक्षत्राणि वै रोचना दिवि) **रोचन्ते**=इनके लिए रुचिकर होते हैं। ये उन नक्षत्रों में ही जन्म लेते हैं और अन्ततः ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं अथवा **दिवि**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में **रोचना**=विज्ञान के नक्षत्रों को ये **रोचन्ते** (रोचयन्ति)=दीप्त करते हैं। ऐसा करके ही तो वे ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकेंगे।

भावार्थ—ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम सूर्य की भाँति अपने को दीप्त करें। अग्नि की भाँति अग्रणी बनें, वायु की भाँति क्रियाशील हों, विश्वबन्धु की भावना को धारण करें और अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को विज्ञान के नक्षत्रों से चमकाएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ५ ॥

१. उपासक लोग **रथे**=अपने शरीर-रथ में **अस्य**=इस प्रभु से दिये गये (प्रभु के) **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **युञ्जन्ति**=युक्त करते हैं। उन इन्द्रियाश्वों से युक्त करते हैं, जो **काम्या**=चाहने योग्य व सुन्दर हैं। **विपक्षसा**=विशिष्टरूप से अपने-अपने कार्यों का परिग्रह करनेवाले हैं। २. इस उपासक के ये इन्द्रियाश्व **शोणा**=तेजस्विता से चमकनेवाले व गतिशील (शोणति to go, to move), **धृष्णू**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले व **नृवाहसा**=मनुष्यों को लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले हैं।

भावार्थ—उपासक उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करता है, जो कमनीय, विशिष्टरूप से अपने कार्यों को करनेवाले, तेजस्वी—शत्रुधर्षक व उसे लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

केतुं+पेशस्

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥ ६ ॥

१. हे **मर्याः**=मनुष्यो! प्रभु **अकेतवे**=प्रज्ञानरहित के लिए **केतुं कृण्वन्**=प्रज्ञान को करता हुआ है तथा **अपेशसे**=तेजस्विता की कमी से रूपरहित के लिए **पेशः**=तेजस्विता से दीप्त रूप को देते हैं। प्रभु प्रज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं। २. हे प्रभो! आप **उषद्भिः**=अन्धकार का दहन करनेवाली रश्मियों के साथ **सं अजायथाः**=हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। प्रभु हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं।

प्रज्ञान को प्राप्त करके ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रभु का उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाला यह उपासक 'गो-सूक्ति' बनता है। शक्ति प्राप्त करके कर्मेन्द्रियों द्वारा प्रभु का प्रतिपादन करता हुआ यह व्यक्ति 'अश्वसूक्ति' है। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-स्तवन व धन-धान्य

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्। स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=यदि **अहम्**=मैं **यथा त्वम्**=आपकी भाँति **इत्**=निश्चय से **एकः**=अद्वितीय **वस्वः ईशीय**=धन का ईश बन जाऊँ, तो **मे स्तोता**=मेरा स्तोता **गोषखा स्यात्**=प्रशस्त इन्द्रियरूप गौओं का मालिक हो जाए। अथवा गौओं का स्वामी बन जाए। उसे धन-धान्य की कमी न रहे। २. प्रभु के स्तोता को धन-धान्य की कमी नहीं रहती। प्रभु उसके योगक्षेम को सम्यक् चलाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए अभ्युदय को प्राप्त करें। प्रशस्त इन्द्रियरूप धनवाले हों।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

धन-प्राप्ति व धन-दान

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे। यदहं गोपतिः स्याम्॥ २॥

१. हे **शचीपते**=शक्तियों व प्रज्ञानों के स्वामिन् प्रभो! **यत्**=यदि **अहम्**=मैं **गोपतिः स्याम्**=गौओं का मालिक होऊँ—गोधन को प्राप्त करूँ तो **अस्मै**=इस **मनीषिणे**=विद्वान् पुरुष के लिए **दित्सेयम्**=धन को देने की कामना करूँ और कामना ही नहीं, **शिक्षेयम्**=देनेवाला बनूँ (शिक्षतिर्दानकर्मा) २. हम प्रभु-कृपा से धन प्राप्त करें और ज्ञान-प्रसार के कार्यों में लगे हुए ज्ञानियों के लिए उन धनों को दें। 'गोधन' वेदधेनु का भी संकेत करता है। यदि इस वेदवाणीरूप गोधन को प्राप्त करें तो समझदार पुरुषों के लिए इसे देने की कामना करें और दें। ज्ञान-प्रसार में अधिक-से-अधिक शक्ति लगाएँ।

भावार्थ—हम धन के स्वामी बनें और ज्ञान-प्रसार के कार्यों के लिए उसका दान करें।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

सूनृता धेनु

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते। गामश्वं पिप्युषी दुहे॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते धेनुः**=आपकी यह वेदवाणीरूप धेनु **सुनृता**=अत्यन्त प्रिय सत्यवाणीवाली है। यह सत्य-ज्ञान को प्रिय शब्दों में प्राप्त कराती है। २. यह धेनु **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाले पुरुष के लिए **पिप्युषी**=आप्यायन (वर्धन) करनेवाली होती हुई **गाम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को तथा **अश्वम्**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को **दुहे**=प्रपूरित करती है। वेदवाणी को अपनाने से इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होता है।

भावार्थ—वेदवाणीरूप धेनु सत्य-ज्ञान को प्रियरूप में प्राप्त कराती है। इसका अध्ययन इन्द्रियों को प्रशस्त करता है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

न देवो न मर्त्यः वर्ता अस्ति

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः। यद्दित्ससि स्तुतो मघम्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **न देवः**=न तो सूर्य-चन्द्र आदि प्राकृतिक देव (शक्तियाँ) **न मर्त्यः**=न ही कोई मनुष्य **ते राधसः**=आपके ऐश्वर्य का **वर्ता अस्ति**=निवारक है। २. **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप **यत्**=जब **मघम्**=ऐश्वर्य को **दित्ससि**=देने की कामनावाले होते हैं तब कोई आपको रोक थोड़े ही सकता है?

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से जब स्तोता को धन प्राप्त होता है तब कोई भी उस कार्य को विहत नहीं कर पाता।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

यज्ञ का महत्त्व

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि॥ ५॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **इन्द्रम् अवर्धयत्**=इन्द्र को बढ़ाता है, जब हम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तब हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश बढ़ता है। यज्ञ अर्थात् 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' में हम जितना-जितना बढ़ते हैं उतना-उतना प्रभु के समीप होते जाते हैं। देवपूजा हमें प्रभु का उपासक बनाती है, संगतिकरण में हम प्रभु की गोद में पहुँच जाते हैं और दान (अर्पण) करके

हम प्रभु में प्रविष्ट होकर प्रभु के साथ 'एक' हो जाते हैं। **यत्**=जबकि प्रभु **भूमिम्**=हमारी इस शरीररूप पृथिवी को **व्यवर्तयत्**=रोगों से परे करते हैं—हमारा शरीर रोगशून्य बनता है। २. इस समय प्रभु **दिवि**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में **ओपशम्**=शिरोभूषण को—ज्ञान के आभरण को **चक्राणः**=करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—यज्ञों द्वारा हृदय में प्रभु के प्रकाश का वर्धन होता है। इससे शरीर नीरोग बनता है और मस्तिष्क ज्ञान से अलंकृत हो जाता है।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु से रक्षा की पात्रता

वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः। ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यज्ञों द्वारा हमारे अन्दर **वावृधानस्य**=निरन्तर बढ़ते हुए, हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **विश्वा धनानि**=सम्पूर्ण धनों को **जिग्युषः**=जीतनेवाले **ते**=आपके **ऊतिम्**=रक्षण को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। २. हमारी यही कामना होती है कि हम प्रभु की रक्षा के पात्र हों।

भावार्थ—हम यज्ञों द्वारा प्रभु का अपने में वर्धन करें और इसप्रकार प्रभु द्वारा रक्षणीय हों।

अगले सूक्त में भी 'गोषूक्ति व अश्वसूक्ति' ही ऋषि हैं—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

इन्द्रो यदभिनद् वलम्

व्यन्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना। इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥ १ ॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **सोमस्य मदे**=सोम के मद में—सोम-रक्षण से जनित उल्लास होने पर **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **रोचना**=ज्ञानदीप्तियों के साथ **वि अतिरत्**=बढ़ाता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। इस ज्ञानदीप्ति से हृदयान्तरिक्ष चमक उठता है। २. यह सब होता तब है **यत्**=जबकि यह इन्द्र **वलम्**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली वासनाओं को **अभिनद्**=विदीर्ण कर डालता है। वासना-विदारण से ही ज्ञानाग्नि का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर वासनारूप आवरण को विनष्ट करें और हृदय को ज्ञान-प्रकाश से दीप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उद्गाः आजत् अङ्गिरोभ्यः

उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः। अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥ २ ॥

१. प्रभु **अङ्गिरोभ्यः**=इन गतिशील—कर्त्तव्य-कर्मों के करने में लगे हुए उपासकों के लिए **गुहा सतीः**=अविद्यापर्वत की गुहा में वर्तमान **गाः**=इन्द्रियरूप गौओं को **आविष्कृण्वन्**=प्रकाशयुक्त करता हुआ **उद् आजत्**=उत्कृष्ट गतिवाला करता है। २. इसी उद्देश्य से प्रभु **वलम्**=इस आवरणभूत वासना को **अर्वाञ्चं नुनुदे**=अधोमुख विनष्ट कर देते हैं। वासनाओं को विनष्ट करके ही तो वे इन्द्रियों को प्रकाशमय करते हैं।

भावार्थ—प्रभु वासना को विनष्ट करके, गतिमय कर्त्तव्यपरायण पुरुषों की इन्द्रियों को प्रकाशमय करते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

दिवः दृढानि रोचना

इन्द्रेण रोचना दिवो दृढानि दृंहितानि च। स्थिराणि न पराणुदे॥ ३॥

१. **इन्द्रेण**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु से **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **रोचना**=दीप्त ज्ञान-नक्षत्र **दृढानि**=बड़े बलवाले (स्थूल) **च**=तथा **दृंहितानि**=स्थिर किये जाते हैं। हम प्रभु की उपासना करते हैं, प्रभु हमारे मस्तिष्क में महान् ज्ञान-नक्षत्रों को उदित करते हैं। २. ये सब ज्ञान-नक्षत्र **स्थिराणि**=स्थिर होते हैं, **न पराणुदे**=अपनोदनीय—नष्ट करने योग्य नहीं होते। इन ज्ञान-नक्षत्रों की दीप्ति मस्तिष्करूप द्युलोक को उज्ज्वल बनाये रखती है।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हैं। प्रभु हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थिर, सबल ज्ञान-नक्षत्रों को उदित करते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

सोमः अजिरायते

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते। वि ते मदा अराजिषुः॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **अपाम् ऊर्मिः इव**=समुद्रगत जलों की तरंग की भाँति **मदन्**=उल्लसित होती हुई **स्तोमः**=स्तुतिवाणी **अजिरायते**=क्षिप्रगामी की भाँति आचरण करती है, अर्थात् शीघ्रता से मेरे मुख से आपके प्रति निर्गत होती है। हम उल्लासयुक्त होकर प्रभु के स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। २. हे प्रभो! ऐसा करने पर **ते मदाः**=आपके द्वारा प्राप्त कराये गये सोमपानजनित मद (उल्लास) **अराजिषुः**=विशिष्टरूप से दीप्त होते हैं। हम सोम-रक्षण द्वारा आनन्दमय जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हैं। उल्लसित जीवनवाले होकर सोम-रक्षण से एक विशिष्ट आनन्द का अनुभव करते हैं।

अगले सूक्त के ऋषि भी पूर्ववत् ही हैं—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

स्तोमवर्धनः+उक्थवर्धनः

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः। स्तोतॄणामुत भद्रकृत्॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं हि**=आप निश्चय से **स्तोमवर्धनः**=स्तुतिसमूहों से हृदयों में वृद्धि को प्राप्त होनेवाले हैं। स्तोता जितना-जितना स्तवन करता है, उतना-उतना अधिकाधिक आपके प्रकाश को हृदय में पाता है। आप **उक्थवर्धनः असि**=वेदसूक्तों से—ज्ञान की वाणियों से—जानने योग्य हैं। जितना-जितना ज्ञान बढ़ता है, उतना-उतना हम आपके समीप होते हैं २. **उत**=और हे प्रभो! आप **स्तोतॄणां भद्रकृत्**=स्तोताओं का सदा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—स्तुतिसमूहों से हम हृदय में प्रभु का वर्धन करें। ज्ञान की वाणियों से प्रभु के समीप और समीप हों। प्रभु स्तोताओं का कल्याण करते ही हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

उप यज्ञं सुराधसम्

इन्द्रमित्केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः। उप यज्ञं सुराधसम्॥ २॥

१. **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले **हरी**=इन्द्रियाश्व **इन्द्रम् इत्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के ही **उपवक्षतः**=समीप मुझे प्राप्त कराते हैं। मैं अपनी इन्द्रियों के द्वारा विषयों की ओर न जाकर प्रभु की ओर ही चलता हूँ। २. ये मेरे इन्द्रियाश्व **सोमपेयाय**=सोम के शरीर में ही पान (रक्षण) के लिए मुझे इन्द्र के समीप प्राप्त कराते हैं, जोकि **यज्ञम्**=यष्टव्य, पूजनीय हैं और **सुराधसम्**=उत्तम ऐश्वर्य व साफल्य प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें सोम-रक्षण के योग्य बनाएँगे और हमें उत्तम सफलता प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

अपां फेनेन

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजय स्पृधः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **अपाम्**=कर्मों के **फेनेन**=आप्यायन—वर्धन से (स्फायी वृद्धौ) **नमुचेः**=इस पीछा न छोड़नेवाली वासना के **शिरः**=सिर को **उदवर्तयः**=शरीर से उद्गत कर देता है—विच्छिन्न कर डालता है। कर्मों में लगे रहने के द्वारा वासना को विनष्ट कर डालता है। २. यही वह समय होता है **यत्**=जबकि तू **विश्वा**=सब **स्पृधः**=स्पर्धा करती हुई शत्रु-सेनाओं को **अजयः**=जीत लेता है। यह क्रियाशीलता तुझे सब शत्रुओं के पराभव के लिए समर्थ करती हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशील बनकर वासना-सम्राट् 'कामदेव' के सिर का उच्छेदन कर डालें।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

मायाभिः उत् सिसृप्सतः दस्यून् (अवाधूनुथाः)

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः। अव दस्यूँरधूनुथाः॥ ४॥

१. विषय-वासनाओं की कामनाएँ नाना प्रकार से धोखा देकर हमारे अन्दर प्रवेश कर जाती हैं और हमारे मस्तिष्क में अपना स्थान बना लेती हैं। उस समय इनका पराभव बड़ा कठिन हो जाता है, परन्तु हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **मायाभिः**=छल-कपटों के द्वारा **उत्सिसृप्सतः**=हमारे अन्दर ऊर्ध्वगति की कामनावाली होती हुई और **द्याम् आरुरुक्षतः**=मस्तिष्करूप द्युलोक में आरुढ़ होती हुई इन **दस्यून्**=विनाशक वासनावृत्तियों को **अव अधूनुथाः**=अधोमुख करके नीचे पटक देता है।

भावार्थ—हम विषयवासना की वृत्तियों को मस्तिष्क में अपना स्थान न बना लेने दें। वहाँ अपना स्थान बनाने से पूर्व ही इन्हें विनष्ट कर डालें। ये तो मायावी रूप धारण करके हममें प्रबल होने के लिए यत्नशील होंगी।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

असुनु संसद्

असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्य नाशयः। सोमपा उत्तरो भवन्॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **असुन्वां संसदम्**=(न विद्यते सुनुः अभिभवो यस्याः) सोम के अभिषव में विघात करनेवाली अयष्टृसभा को **विषूचीं व्यनाशयः**=तितर-बितर करके नष्ट कर डाल। 'काम, क्रोध, लोभ' आदि आसुरभावों के होने पर मनुष्य यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त न होकर विषयों की ओर झुकता है और शरीर में सोमशक्ति का रक्षण नहीं कर पाता, अतः इन्हें 'असुनु संसद्' कहा गया है। इस संसद् का विनाश आवश्यक है। २. इस संसद् के विनाश से हे इन्द्र! तू **सोमपाः**=सोम का शरीर में रक्षण करनेवाला हो और **उत्तरः**

भवन्=उत्कृष्टतम जीवनवाला बन।

भावार्थ—हम काम-क्रोध आदि आसुरभावों की संसद् को भंग करके सोम-रक्षण करें और उन्नत जीवनवाले बनें।

काम-क्रोधादि को विनष्ट करनेवाला यह 'बरु' कहलाता है—प्रभु का वरण करनेवाला। यह सर्वव्यापक, वासनाहारक प्रभु का ही स्मरण करता है, अतः 'सर्वहरि' भी कहलाता है। यह 'सर्वहरि बरु' प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है—

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

घृतं+चारु

प्र ते॑ म॒हे वि॒दथे॑ शंसिषं॒ हरी॒ प्र ते॑ वन्वे व॒नुषो॑ हर्य॒तं मद॑म्।
घृ॒तं न यो हरि॑भि॒श्चारु॒ सेच॑त॒ आ त्वा॑ विशन्तु॒ हरि॑वर्पसं॒ गिरः॑ ॥ १ ॥

१. हे प्रभो! **महे विदथे**=महान् ज्ञानयज्ञ के निमित्त **ते हरी**=आपसे दिये गये इन्द्रियाश्वों का **प्रशंसिषम्**=शंसन करता हूँ। इनके द्वारा मैं इस जीवन-संग्राम में ज्ञानपूर्वक कर्म करता हुआ उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाला बनूँ। २. **वनुषः**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले आपसे मैं **ते**=आपके द्वारा दिये जानेवाले **हर्यतम्**=चाहने योग्य (कमनीय) **मदम्**=सोमपानजनित मद को **प्रवन्वे**=प्रकर्षेण माँगता हूँ। ३. **यः**=जो आप **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों के द्वारा **घृतं न**=ज्ञानदीप्ति के समान **चारु**=यज्ञादि कर्मों के आचरण को **सेचते**=हममें सिक्त करते हैं, उन **हरिवर्पसम्**=तेजस्वी रूपवाले **त्वा**=आपको **गिरः**=हमारी स्तुतिवाणियाँ **आविशन्तु**=सर्वथा प्रविष्ट हों। आपका हम स्तवन करें। आप हमें ज्ञानदीप्ति व क्रियाशीलता प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त इन्द्रियों के महत्त्व को समझते हुए हम उनसे ज्ञान प्राप्त करते हुए सदा उत्तम कर्म करनेवाले बनें। सोम-रक्षण द्वारा इन्हें सशक्त बनाएँ। प्रभु-स्मरण करते हुए ज्ञान व कर्म का अपने में समुच्चय करें।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

हरिवन्तं शूषम्

हरिं॒ हि योनि॑म॒भि ये स॒मस्व॑रन्हि॒न्वन्तो॒ हरी॑ दि॒व्यं यथा॒ सदः॑।
आ यं पृ॒णन्ति॒ हरि॑भि॒र्न धे॒नव॒ इन्द्रा॑य शू॒षं हरि॑वन्तमर्चत ॥ २ ॥

१. **ये**=जो उपासक **हि**=निश्चय से **हरिम्**=दुःखों का हरण करनेवाले **योनिम्**=सबके मूल-कारण प्रभु को **अभि समस्वरन्**=प्रातः-सायं सम्यक् स्तुत करते हैं, **यथा**=जिस स्तवन के द्वारा ये उपासक **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **दिव्यं सदः**=देवों के निवासस्थानभूत यागगृह में **हिन्वन्तः**=प्रेरित करते हैं। प्रभु-स्तवन के द्वारा इन्द्रियाँ सदा उत्तम कर्मों को करनेवाली होती हैं। वे यज्ञगृहों की ओर जाती हैं। उनका झुकाव क्लबों व चित्रगृहों की ओर नहीं रहता। २. यह उपासक तो वह बन जाता है **यम्**=जिसको **धेनवः न**=गौएँ जैसे दूध से बछड़े को प्रीणित करती हैं, इसी प्रकार इसे वेद-धेनुएँ **हरिभिः**=ज्ञानरश्मिरूप दुग्धों से **आपृणन्ति**=पूरित करती है, अतः हे मनुष्यो! तुम **इन्द्राय**=प्रभु की प्राप्ति के लिए **हरिवन्तम्**=प्रकाश की रश्मियोंवाले **रक्षणम्**=बल को **अर्चत**=पूजित करो। प्रकाश की रश्मियों व बल को सम्पादित करते हुए तुम प्रभु को प्राप्त कर सकोगे।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। इन्द्रियों को यज्ञगृहों, न कि क्लबों की ओर प्रेरित करें। प्रकाश की रश्मियों व बल का सम्पादन करते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥

'हरित आयस' वज्र

सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरा गभस्त्योः।
द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे॥ ३॥

१. **सः**=वह **अस्य**=इस प्रभु का **वज्रः**=क्रियाशीलतारूप वज्र **हरितः**=सब दुःखों का हरण करनेवाला है, **यः**=जो वज्र **आयसः**=लोहनिर्मित है। यह वज्र शत्रुओं का संहार करता ही है। यह **हरिः**=दुःखों का हरण करता है, **निकामः**=नितरां कमनीय (सुन्दर) है। **हरिः**=वे प्रकाशमय प्रभु **गभस्त्योः**=बाहुओं में **आ** (दधाति)=धारण कराते हैं। प्रभु वस्तुतः कर्म करने के लिए ही तो हाथों को देते हैं। २. **द्युम्नी**=वे प्रभु उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाले हैं। **सुशिप्रः**=शोभन हनू व नासिकाओंवाले हैं। उत्तम जबड़ों को प्राप्त कराके वे हमें भोजन को खूब चबाने का संकेत करते हैं। यही नीरोगता का मार्ग है। नासिका छिद्रों को प्राणसाधना में विनियुक्त करने की प्रेरणा देते हैं। यही पवित्रता का मार्ग है 'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'। **हरिमन्युसायकः**=वे प्रभु अत्यन्त तेजस्वी, ज्ञानरूप बाणवाले हैं। इसी के द्वारा वे काम का संहार करते हैं। **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में सब **हरिता रूपा**=तेजस्वी रूप **नि मिमिक्षिरे**=नियोजयितुम् इष्ट होते हैं—सब तेजस्विता के स्रोत वे प्रभु ही तो हैं। जहाँ-जहाँ तेजस्विता है, वह प्रभु के अंश के कारण ही है।

भावार्थ—क्रियाशीलतारूप वज्र बड़ा तेजस्वी व दृढ़ है। प्रभु ने इसे हमारे हाथों में धारण किया है। हम इसे अपनाकर शत्रुओं का संहार करें। ज्ञान प्राप्त करें। चबाकर खाएँ। प्राणायाम करें। सब तेजस्विता का स्रोत प्रभु को जानें।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥

सहस्रशोकाः हरिम्भरः

दिवि न केतुरधि धायि हर्यतो विव्यचद्वज्रो हरितो न रंह्या।
तुददहिं हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अभवद्धरिंभरः॥ ४॥

१. **वज्रः**=यह क्रियाशीलतारूप वज्र **दिवि**=द्युलोक में **केतुः न**=प्रज्ञापक आदित्य के समान **हर्यतः**=कान्त (दीप्त) होता हुआ **अधिधायि**=हाथों में धारण किया जाता है। यह वज्र **रंह्या**=वेग के दृष्टिकोण से **हरितः न**=सूर्य की किरणरूप अश्वों के समान **विव्यचत्**=सर्वत्र व्याप्त होता है, अर्थात् यह इन्द्र हाथों में क्रियाशीलतारूप वज्र लेकर सब कर्त्तव्य-कर्मों को सम्यक्तया करनेवाला होता है। २. **हरिशिप्रः**=यह प्रकाशमय शिरस्त्राणवाला (शिप्र=Helmet) ज्ञानी पुरुष **यः**=जो **आयसः**=शरीर में लोहे का बना हुआ है वह **अहिम्**=वासना को **तुदत्**=विनष्ट करता है। वासना को विनष्ट करके यह **सहस्रशोकाः**=अनन्तदीप्तिवाला **हरिम्भरः**=प्रकाश की किरणों को धारण करनेवाला **अभवत्**=होता है।

भावार्थ—हम हाथों में चमकते हुए क्रियाशीलतारूप वज्र को धारण करें। वासना को विनष्ट करके दीप्त ज्ञानवाले बनें।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥

हरिकेश-हरिजात

त्वंत्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः।
त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्य१मसामि राधो हरिजात हर्यतम्॥ ५॥

१. **हे हरिकेश इन्द्र**=(हरि=सूर्य, केश=प्रकाशरश्मि) सूर्य के समान प्रकाश की रश्मियोंवाले

सर्वशक्तिमन् प्रभो! **पूर्वेभिः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **यज्वभिः**=यज्ञशील पुरुषों से **उपस्तुतः**=स्तुति किये गये **त्वम्**=आप **त्वम्**=और आप ही **अहर्यथाः**=उस स्तोता के प्रति प्रीतिवाले होते हो और उसे प्राप्त होते हो (हर्य गतिकान्तयोः) २. **त्वं हर्यसि**=आप गतिवाले व दीप्तिवाले होते हो। हे **हरिजात**=सूर्य के समान प्रादुर्भूत हुए-हुए प्रभो! **तव विश्वं राधः**=आपका सम्पूर्ण ऐश्वर्य **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य है, **असामि**=पूर्ण है तथा **हर्यतम्**=कान्त है। आप ही उपासकों के लिए इस ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें प्राप्त होंगे और प्रभु हमें सब आवश्यक ऐश्वर्यों को प्राप्त कराएँगे।

अगले सूक्त में ऋषि-देवता पूर्ववत् ही हैं—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥

पुरूणि सवनानि+हरयः सोमाः

ता वज्रिणं मन्दिनं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी।
पुरूण्यस्मै सवनानि हर्यत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे॥ १॥

१. **ता**=वे **हर्यता**=कमनीय व गतिशील **हरी**=इन्द्रियाश्व **मदे**=सोम-रक्षण-जनित उल्लास के निमित्त **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **रथे**=शरीर-रथ में **वहतः**=धारण करते हैं। प्रभु-स्मरण से ही तो शरीर में सोम का रक्षण होगा। ये प्रभु **वज्रिणम्**=वासना-विनाश के लिए हाथों में वज्र को लिये हुए हैं। **मन्दिनम्**=आनन्दमय हैं व **स्तोम्यम्**=स्तुति के योग्य हैं। प्रभु का स्तवन होने पर वासना का विनाश होता है, सोम का रक्षण होता है और जीवन में आनन्द व उल्लास का अनुभव होता है। २. **अस्मै**=इस **हर्यते**=व्याप्त व गतिशील **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **हरयः**=सब दुःखों को हरण करनेवाले **सोमाः**=सोमकण तथा **पुरूणि सवनानि**=पालनात्मक यज्ञ **दधन्विरे**=धारण किये जाते हैं। प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) सोमकणों का रक्षण किया जाए तथा (ख) उत्तम कर्मों में (यज्ञात्मक कर्मों में) अपने को व्यापृत रक्खा जाए।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण द्वारा सोम-रक्षण के लिए हम यत्नशील हों। प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि सोमकणों का रक्षण किया जाए तथा यज्ञात्मक कर्मों में हम प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥

इन्द्रियों की पवित्रता

अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन्हरयो हरी तुरा।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरिवन्तमानशे॥ २॥

१. उस **कामाय**=कमनीय **स्थिराय**=संग्राम में अविचलित इन्द्र की प्राप्ति के लिए **हरयः**=रोगों को हरण करनेवाले सोमकण **अरम्**=ख़ूब ही धारण किये जाते हैं। सोमकणों के रक्षण से ही प्रभु की प्राप्ति होती है। ये **हरयः**=सोमकण **तुरा**=शीघ्रता से अपना कार्य करनेवाले **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **हिन्वन्**=यज्ञ आदि कर्मों में प्रेरित करते हैं। सोम-रक्षण करनेवाले पुरुष का झुकाव यज्ञादि कर्मों के प्रति बना रहता है। २. **यः**=जो **अर्वद्भिः**=(अर्व् to kill) वासनाओं का संहार करनेवाले **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों के साथ **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक प्रभु के उपासन को **ईयते**=प्राप्त होता है, **सः**=वह **अस्य**=इसके, अर्थात् अपने **हरिवन्तं कामम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाली अभिलाषा को, अर्थात् इस

इच्छा को कि 'मेरी इन्द्रियाँ उत्तम बनी रहें' **आनशे**=व्याप्त करता है। उसकी यह इच्छा अवश्य पूर्ण होती है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए सोमकणों का रक्षण करें। सुरक्षित सोम इन्द्रियों को उत्तम कर्मों में प्रेरित करेगा। जो भी व्यक्ति इन्द्रियों को निरुद्ध करके प्रभु का उपासन करता है, वही अपनी इन्द्रियों को पवित्र कर पाता है।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

हरि-श्म-शारुः

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी॥ ३॥

१. **हरि-श्म-शारुः**=शेर के समान शरीरवाला व शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला (हरि=शेर, श्म=शरीर, शारु=हिंसक) **हरिकेशः**=सूर्य के समान प्रकाश की रश्मियोंवाला, **आयसः**=लोहशरीर—लोहे के समान दृढ़ शरीरवाला, **तुरस्पेये**=शीघ्रता से पीने योग्य सोम के विषय में **यः**=जो **हरिपाः**=इस दुःखहर्ता सोम का पान करनेवाला है, वह **अवर्धत**=वृद्धि को प्राप्त करता है। सब वृद्धियों का मूल सोम-रक्षण ही है। २. सोम-रक्षण द्वारा **यः**=जो **अर्वद्भिः**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों के द्वारा **वाजिनीवसुः**=शक्तिरूप धनवाला है, वह **हरी**=अपने इन्द्रियाश्वों को **विश्वा**=सब **दुरिता**=पापों के **पारिषत्**=पार ले-जाता है। इसप्रकार यह निष्पाप व पवित्र जीवनवाला होता है।

भावार्थ—हम तेजस्वी शरीरवाले, पवित्र मनवाले व प्रकाशमय मस्तिष्कवाले बनने के लिए सोम का रक्षण करें। इन्द्रियों को विषयों से दूर रखते हुए शक्तिरूप धनवाले बनें।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इन्द्रियों का परिमार्जन

स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः।
प्र यत्कृते चमसे मर्मृजद्धरी पीत्वा मदस्य हर्यतस्यान्धसः॥ ४॥

१. **यस्य**=जिसके **हरिणी**=(ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी—ष० १.१) ऋक् और साम—विज्ञान व भक्ति—**स्रुवा इव**=दो स्रुवों के समान—यज्ञपात्रों के समान **विपेततुः**=विशिष्ट गतिवाले होते हैं, अर्थात् जिसके जीवन में विज्ञान व भक्ति का समन्वय होता है। २. जिसके **शिप्रे**=हनू और नासिका **वाजाय**=शक्ति-वृद्धि के लिए **हरिणी**=रोगों व वासनाओं का हरण करनेवाले होकर **दविध्वतः**=इन रोगों व वासनाओं को कम्पित करके दूर करते हैं। हनू का चर्वणरूप कार्य ठीक से होने पर रोग नहीं आते तथा नासिका का प्राणायामरूप कार्य ठीक से होने पर वासनाओं का विनाश होता है। ३. इस मन के वासनाशून्य होने पर **हर्यतस्य**=अत्यन्त कान्त—कमनीय **मदस्य**=उल्लासजनक **अन्धसः**=सोम का **पीत्वा**=पान करके इस **कृते चमसे**=संस्कृत शरीर में **यत्**=जो **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व हैं, उनको **प्रमर्मृजत्**=अच्छी प्रकार शुद्ध कर डालता है। सुरक्षित सोम इन्द्रियों की शक्ति को दीप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन-यज्ञ में विज्ञान व भक्ति का समन्वय हो। हम ख़ूब चबाकर भोजन करते हुए व्याधिशून्य बनें, प्राणायाम द्वारा निर्मल मनवाले (आधिशून्य) बनें। सोमपान द्वारा, संस्कृत शरीर में दीप्त इन्द्रियोंवाले हों।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

पूजा-प्रकाश-ओज

उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्यो३रत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत्।
मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद्वयो दधिषे हर्यतश्चिदा ॥ ५ ॥

१. **उत**=और **हरिवान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला पुरुष **हर्यतस्य**=गति देनेवाले कान्त सोम के **पस्त्योः**=द्यावापृथिवी में—मस्तिष्क व शरीर में **सद्म**=गृह को—निवासस्थान को **अचिक्रदत् स्म**=प्रार्थित करता है। उसी प्रकार प्रार्थित करता है **न**=जैसेकि **अत्यः**=सतत गमनशील अश्व **वाजम्**=संग्राम को चाहता है। २. सोम का मस्तिष्क व शरीर में निवास-स्थान बनानेवाले इस पुरुष की **मही चित्**=निश्चय से उपासना की मनोवृत्तिवाली **धिषणा**=बुद्धि **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अहर्यत्**=उस प्रभु की ओर गतिवाली होती है। हृदय को उपासनावाला, मस्तिष्क को ज्ञान के प्रकाशवाला व शरीर को ओजस्वी बनाकर यह प्रभु की ओर चलता है। इस **हर्यतः**=गतिमय कान्त जीवनवाले पुरुष के **बृहद् वयः**=उत्कृष्ट जीवन को हे प्रभो! आप ही **चित्**=निश्चय से **दधिषे**=धारण करते हैं।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में सुरक्षित करके उत्तम मस्तिष्क व शरीर को प्राप्त करें। उपासना, ज्ञान व ओज को धारण करते हुए प्रभु की ओर चलें। प्रभु हमें उत्कृष्ट जीवन प्राप्त कराएँगे।

अगले सूक्त के ऋषि-देवता पूर्ववत् ही हैं—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

हरये-सूर्याय

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम्।
प्र पस्त्य ʃ मसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय ॥ १ ॥

१. हे प्रभो! आप अपनी **महित्वा**=महिमा से **रोदसी**=इस द्यावापृथिवी में **आहर्यमाणः**=सर्वत्र व्याप्तिवाले हैं। सब पदार्थों में आपकी महिमा का दर्शन होता है। इन द्यावापृथिवी व लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके **नु**=अब **नव्यम्**=अत्यन्त स्तुत्य (नु स्तुतौ) **नव्यम्** (नव गतौ)=कर्मों का उपदेश देनेवाले **मन्म**=ज्ञान को **हर्यसि**=आप प्राप्त कराते हैं। यह ज्ञान **प्रियम्**=प्रीति का जनक होता है—आनन्द देनेवाला है। २. हे **असुर**=ज्ञान देकर वासनाओं को विक्षिप्त करनेवाले प्रभो! (असु क्षेपणे) आप **हरये**=औरों के दुःख को हरनेवाले **सूर्याय**=निरन्तर गतिशील पुरुष के लिए **गोः**=इस वेदवाणी के **हर्यतम्**=कान्त—चाहने योग्य **पस्त्यम्**=गृह को **प्र आविष्कृधि**=प्रकर्षेण आविष्कृत करते हैं। जो भी हरि व सूर्य बनता है वही इस वेदवाणीरूप गृह को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा सर्वत्र व्याप्त है। प्रभु लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके हमारे लिए प्रशस्त ज्ञान प्राप्त कराते हैं। जो भी पुरुष 'हरि व सूर्य' बनते हैं, प्रभु उनके लिए वेदज्ञान का प्रकाश करते हैं।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

दशोणि यज्ञ

आ त्वा हर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र।
पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन्यज्ञं सधमादे दशोणिम्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **हरिशिप्रम्**=हरणशील हैं हनू व नासिका जिसकी, जिसके जबड़े भोजन को ख़ूब चबाकर रोगों को दूर करनेवाले हैं और नासिका प्राणायाम के द्वारा वासनाओं को विनष्ट करनेवाली है, उस **हर्यन्तम्**=प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले **त्वा**=तुझको **जनानाम्**=शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों की **प्रयुजः**=योगवृत्तियाँ **रथे**=इस शरीर-रथ में **आवहन्तु**=धारण करनेवाली हों, इन योगवृत्तियों के द्वारा तू सब शक्तियों का धारण करनेवाला बन। २. योगवृत्तियों को तू इसलिए अपनानेवाला हो, **यथा**=जिससे **प्रतिभृतस्य**=प्रतिदिन तेरे अन्दर धारण किये गये **मध्वः**=सोम का **पिब**=तू पान करे तथा **सधमादे**=प्रभु के साथ आनन्द-प्राप्ति के निमित्त **दशोणिम्**=दशों इन्द्रियों को विषयों से पृथक् करनेवाले **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्मों को **हर्यन्**=चाहनेवाला हो।

भावार्थ—योगवृत्तियों को अपनाते हुए हम सोम का रक्षण करें तथा दशों इन्द्रियों को विषयों से पृथक् करके उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें। यही प्रभु के साथ मिलकर आनन्द प्राप्त करने का मार्ग है।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मधुर व शक्तिशाली जीवन

अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सवनं केवलं ते।
ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषं जठर आ वृषस्व॥ ३॥

१. हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तूने **पूर्वेषाम्**=इन पालन व पूरण करनेवाले **सुतानाम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोमकणों का **अपाः**=पान किया है। **अथ उ**=और निश्चय से **इदं सवनम्**=यह सोम का उत्पादन **केवलं ते**=शुद्ध तेरे ही उत्कर्ष के लिए है। २. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **मधुमन्तं सोमम्**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले इस सोम को **ममद्धि**=(पिब सा०) पीनेवाला बन—इसे शरीर में ही व्याप्त कर। हे **वृषन्**=शक्तिशालिन्! तू **सत्रा**=सदा **जठरे**=अपने अन्दर **आवृषस्व**=इस सोम का सेचन करनेवाला बन।

भावार्थ—शरीर में उत्पन्न किये गये सोमकणों का शरीर में रक्षण होने पर ही जीवन मधुर व शक्तिशाली बनता है।

सोम-रक्षण द्वारा शरीरस्थ 'पाँचों भूतों व मन, बुद्धि, अहंकार' इन आठों को ठीक रखनेवाला यह व्यक्ति 'अष्टक' बनता है। यह सोम-रक्षण के महत्त्व को इसप्रकार प्रकट करता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अष्टकः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

क्रियामय, उपासनावाला जीवन

अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व।
मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदमुक्थवाहः॥ १॥

१. हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **इह**=इस हमारे जीवन-यज्ञ में **नृभिः सुतस्य**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोगों से सम्पादित तथा **अप्सु धूतस्य**=कर्मों में पवित्र किये गये इस सोम का **पिब**=पान कीजिए। कर्मों में लगे रहने पर वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और इसप्रकार सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। इस सोम के द्वारा **जठरं पृणस्व**=हमारे आभ्यन्तर को पूरित कीजिए। यह सोम शरीर में ही व्याप्त हो जाए। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **यम्**=जिस सोम को **अद्रयः**=उपासक लोग **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए **मिमिक्षुः**=अपने जठरों में सिक्त करते हैं, **तेभिः**=उन सोमकणों के द्वारा **उक्थवाहः**=स्तोत्रों को धारण करनेवाले इस पुरुष के **मदम्**=हर्ष को **वर्धस्व**=बढ़ाइए। सोम-रक्षण द्वारा शक्ति व ज्ञान का वर्धन होकर नीरोगता व निर्मलता प्राप्त होती है और जीवन आनन्दमय बनता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम कर्मों में लगे रहें, उन्नति-पथ पर आगे बढ़ें। सोम-रक्षण द्वारा प्रभु की प्राप्ति तथा ज्ञानवृद्धि होकर आनन्द की वृद्धि होगी।

ऋषिः—**अष्टकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'उग्रा सत्या' पीति

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः॥ २॥

१. हे **हर्यश्व**=प्रकाशमय इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! **वृष्णे**=सब सुखों के वर्षक **तुभ्यम्**=आपके प्रति **प्रयै**=जाने के लिए **सुतस्य**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम की **उग्राम्**=हमें तेजस्वी बनानेवाली तथा **सत्याम्**=जीवनों को सत्यमय बनानेवाली **पीतिम्**=शरीर में ही रक्षा को **प्र इयर्मि**=प्रकर्षेण प्राप्त होता हूँ। मैं सोम-रक्षण द्वारा तेजस्वी व सत्य जीवनवाला बनकर आपको प्राप्त करता हूँ। २. हे **इन्द्र**=ज्ञानैश्वर्यवाले प्रभो! **धेनाभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **इह मादयस्व**=यहाँ—इस जीवन में हमें आनन्दित कीजिए। आप ही **विश्वाभिः धीभिः**=सम्पूर्ण प्रज्ञानों से तथा **शच्या**=शक्ति से **गृणानः**=स्तूयमान हैं। सम्पूर्ण प्रज्ञान व शक्ति के स्वामी आप ही हैं। हम भी आपकी उपासना के द्वारा सोम का रक्षण करते हुए आपसे ज्ञान व शक्ति प्राप्त करें।

भावार्थ—सोम-रक्षण द्वारा जीवन को उग्र (तेजस्वी) व सत्य बनाएँ। प्रभु हमें ज्ञान व शक्ति अवश्य प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**अष्टकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उशिक् व ऋतज्ञ

ऊती शचीवस्तव वीर्ये॑ण वयो दधाना उशिज ऋतज्ञाः।
प्रजावदिन्द्र मनुषो दुरोणे तस्थुर्गृणन्तः सधमाद्यासः॥ ३॥

१. हे **शचीवः**=शक्तिमन् प्रभो! **तव ऊती**=आपके रक्षण के द्वारा तथा (तव) **वीर्येण**=आपकी शक्ति के द्वारा **उशिजः**=मेधावी **ऋतज्ञः**=जीवन में ऋत के अनुसार (नियमित) कार्यों को करनेवाले लोग **वयः दधाना**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! 'उशिक् ऋतज्ञ' **गृणन्तः**=आपका स्तवन करते हुए **सधमाद्यासः**=और आपके साथ आनन्द का अनुभव करते हुए **मनुषः दुरोणे**=एक विचारशील पुरुष के (दुर्=बुराई, ओण्=अपनयन) अपनीत मलवाले शरीर-गृह में **प्रजावत् तस्थुः**=सब शक्तियों के विकास (प्रजन्=प्रादुर्भाव) के साथ स्थित होते हैं।

भावार्थ—हम मेधावी व समय पर ठीक कार्यों को करनेवाले बनकर प्रभु से रक्षण व शक्ति

को प्राप्त करते हुए उत्कृष्ट जीवन को धारण करें। प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु-उपासन में आनन्द का अनुभव करें और इस पवित्र शरीर-गृह में सब शक्तियों के विकास के साथ स्थित हों।

यह प्रभु-स्तवन करनेवाला व प्रभु के साथ आनन्द का अनुभव करनेवाला 'गृत्स-मद' अगले सूक्त का ऋषि है—

अथ चतुर्थोऽनुवाकः।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

इन्द्र

यो जा॒त ए॒व प्र॑थ॒मो मन॑स्वान्दे॒वो दे॒वान्क्रतु॑ना प॒र्यभू॑षत्।
यस्य॒ शुष्मा॒द्रोद॑सी॒ अभ्य॑सेतां नृ॒म्णस्य॑ म॒ह्ना स ज॑नास॒ इन्द्रः॥ १॥

१. **सः इन्द्रः**=प्रभु वे हैं **यः जातः एव**=जो सदा से प्रादुर्भूत हैं। प्रभु 'कभी जन्म लेते हों' ऐसी बात नहीं। वे सदा से हैं। **प्रथमः**=वे अधिक-से-अधिक विस्तारवाले हैं। **मनस्वान्**=ज्ञानवाले हैं। **देवः**=ये दिव्य गुणयुक्त प्रभु **देवान्**=सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र आदि देवों को **क्रतुना**=शक्ति से **पर्यभूषत्**=अलंकृत करते हैं। प्रभु की महिमा से ही ये सब देव देवत्व को प्राप्त करते हैं। २. **यस्य**=जिनके **शुष्मात्**=बल से **रोदसी**=द्यावापृथिवी **अभ्यसेताम्**=भयभीत हो उठते हैं, हे **जनासः**=लोगो! **नृम्णस्य**=बल की **मह्ना**=महिमा से **सः इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं। 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' प्रभु की शक्ति के भय से ही अग्नि आदि देव अपना-अपना कार्य ठीक से कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु सदा से हैं, ये ही देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं। प्रभु की शक्ति की महिमा से ही सारे सूर्य आदि देव अपनी व्यवस्था में चल रहे हैं।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

सर्वाधार प्रभु

यः पृ॑थि॒वीं व्यथ॑माना॒मदृं॑ह॒द्यः पर्व॑ता॒न्प्रकु॑पिताँ॒ अर॑म्णात्।
यो अ॒न्तरि॑क्षं वि॒म॒मे वरी॑यो॒ यो द्याम॒स्त॑भ्ना॒त्स ज॑नास॒ इन्द्रः॥ २॥

१. **जनासः**=हे लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं **यः**=जोकि **व्यथमानाम्**=भूकम्पादि से कम्पित होती हुई **पृथिवीम्**=पृथिवी को **अदृंहत्**=दृढ़ करते हैं। **यः**=जो **प्रकुपितान्**=मानो कुपित होकर लावा आदि के रूप में गर्म पदार्थों को बाहर फेंकते हुए **पर्वतान्**=पर्वतों को भी **अरम्णात्**=बड़ा रमणीय बना देते हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जिन्होंने **अन्तरिक्षम्**=इस अन्तरिक्षलोक को **वरीयः**=अतिशयेन विशाल **विममे**=बनाया है और **यः**=जोकि **द्याम्**=द्युलोक को [**नृम्णस्य मह्ना**=अपने बल की महिमा से] **अस्तभ्नात्**=थामते हैं।

भावार्थ—प्रभु वे हैं जोकि पृथिवी को दृढ़, पर्वतों को रमणीय, अन्तरिक्ष को विशाल व द्युलोक को स्वस्थानस्थित बनाते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सप्तसिन्धु प्रवहण

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ॥ ३ ॥

१. हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं **यः**=जो **अहिम्**=हमारा विनाश करनेवाली वासना का (आहन्ति) **हत्वा**=विनाश करके **सप्तसिन्धून्**=दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सप्त ऋषियों से प्रवाहित किये जानेवाले सात (सर्पणशील) ज्ञान-प्रवाहों को **अरिणात्**=गतिमय करते हैं, और जो **वलस्य**=ज्ञान पर पर्दे के रूप में आ जानेवाली वासना के **अपधा**=(अप-धा) दूर स्थापन के द्वारा **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **उद् आजत्**=उत्कर्षेण प्रेरित करते हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **अश्मनोः अन्तः**=दो मेघों के अन्दर **अग्निम्**=विद्युत् रूप अग्नि को **जजान**=प्रादुर्भूत करते हैं। इसी प्रकार हमारे जीवनों में ज्ञान व श्रद्धारूप अश्माओं के बीच में कर्मरूप अग्नि को उत्पन्न करते हैं और **समत्सु**=वासना-संग्रामों में **संवृक्**='काम-क्रोध' आदि शत्रुओं का वर्जन करनेवाले हैं। इन प्रभु का ही स्मरण करें।

भावार्थ—प्रभु वासना-विनाश के द्वारा हमारे जीवनों में ज्ञानप्रवाहों को चलाते हैं। ज्ञान और श्रद्धा को उत्पन्न करके हमें कर्मशील बनाते हैं। काम-क्रोध आदि का विनाश करते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

दासं वर्णम् अधरं गुहाकः

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥ ४ ॥

१. **येन**=जिन्होंने **इमा विश्वा**=इन सब लोकों को **च्यवना**=अस्थिर-नश्वर **कृतानि**=बनाया है। दृढ़-से-दृढ़ भी लोक को प्रभु प्रलय के समय विदीर्ण कर देते हैं। **यः**=जो **दासं वर्णम्**=औरों का उपक्षय करनेवाले मानवसमूह को **अधरम्**=निचली योनियों में **गुहाकः**=संवृत ज्ञान की (गुह संवरणे) स्थिति में करते हैं, अर्थात् इन्हें पशु-पक्षियों व वृक्षादि स्थावर योनियों में जन्म देते हैं। यहाँ इनकी बुद्धि सुप्त-सी रहती है। ३. **यः**=जो **जिगीवान्**=सदा विजयी प्रभु **अर्यः**=वैश्यवृत्तिवाले कृपण व्यक्ति की **पुष्टानि**=सम्पत्तियों को इसप्रकार **आदत्**=छीन लेते हैं, **इव**=जैसेकि **श्वघ्नी**=व्याध **लक्षम्**=अपने लक्ष्यभूत मृग आदि को ले-लेता है। हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे कृपण-धनहर्ता प्रभु ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं।

भावार्थ—प्रभु वे हैं जो (क) इन दृढ़-से-दृढ़ लोकों का भी विदारण करनेवाले हैं (ख) औरों का उपक्षय करनेवालों को निचली योनियों में जन्म देते हैं। (ग) कृपणों के धनों का अपहरण कर लेते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अर्यः पुष्टीः विज इव आमिनाति

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विजइवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥ ५ ॥

१. आसुरवृत्तिवाले लोग **यम्**=जिस **घोरम्**=शत्रुभयंकर प्रभु को **'कुह सः इति'**='अरे वे कहाँ है?' इसप्रकार **पृच्छन्ति स्म**=पूछते हैं। **उत**=और **एनम्**=इनको **'एषः न अस्ति इति'**='ये नहीं है' इसप्रकार **ईम् आहुः**=निश्चय से कहते हैं। ऐसा कहते हुए ये अन्याय-मार्गों से धनार्जन करते

हैं। २. **सः**=वे प्रभु **अर्यः**=इन मानवजाति के शत्रुभूत असुरों की **पुष्टीः**=सम्पत्तियों को **विजः इव**=भूकम्प की तरह **आमिनाति**=सर्वथा नष्ट करते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **श्रत् धत्त**=श्रद्धा करो। **सः इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली हैं—सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु में अविश्वास करनेवाले अन्याय्य मार्गों से धनार्जन करते हैं। प्रभु इनके सम्पत्ति-भण्डारों को भूकम्प की भाँति नष्ट कर देते हैं। प्रभु में विश्वास आवश्यक है।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'युक्तग्राव्ण-सुतसोम'

यो रध्रस्य॑ चोदि॒ता यः कृ॒शस्य॒ यो ब्र॒ह्मणो॒ नाध॑मानस्य की॒रेः।
यु॒क्तग्रा॑व्णो॒ यो ऽवि॒ता सु॑शि॒प्रः सु॒तसो॑मस्य॒ स जना॑स॒ इन्द्रः॑॥ ६॥

१. हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं, **यः**=जो **रध्रस्य**=समृद्ध पुरुषों के **चोदिता**=प्रेरक हैं। उन्हें यज्ञादि कर्मों में धन के उपयोग की प्रेरणा देनेवाले ये प्रभु ही हैं। प्रभु वे हैं, **यः**=जो **कृशस्य**=दुर्बल के भी प्रेरक हैं। इसे उत्साहित करते हुए आगे बढ़ने के योग्य बनाते हैं। प्रभु वे हैं **यः**=जो **नाधमानस्य**=याचना करते हुए **कीरेः**=स्तोता के लिए धनों को प्रेरित करते हैं तथा **ब्रह्मणः**=ज्ञानी के प्रेरक हैं—ज्ञानी के लिए ज्ञान देनेवाले प्रभु ही हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **युक्तग्राव्णः** (ग्रावा=प्राण)=प्राणायाम द्वारा चित्तवृत्ति को प्रभु में लगानेवाले के **अविता**=रक्षक हैं तथा **सुतसोमस्य**=अपने अन्दर सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष को **सुशिप्रः**=उत्तम जबड़ों व नासिका-छिद्रों को प्राप्त करानेवाले हैं। वस्तुतः जबड़ों से भोजन को ठीक चबाता हुआ तथा नासिका-छिद्रों से प्राणायाम करता हुआ ही यह सुतसोम बन पाता है।

भावार्थ—प्रभु 'धनी, निर्धन, ज्ञानी व स्तोता' सभी को समुचित प्रेरणा देनेवाले हैं। प्राणसाधना करनेवाले व सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष को उत्तम जबड़ों व नासिका को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

प्रभु के प्रशासन में

यस्याश्वा॑सः प्र॒दिशि॒ यस्य॒ गावो॒ यस्य॒ ग्रामा॒ यस्य॒ विश्वे॒ रथा॑सः।
यः सूर्यं॒ य उ॒षसं॑ ज॒जान॒ यो अ॒पां ने॒ता स जना॑स॒ इन्द्रः॑॥ ७॥

१. हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं, **यस्य**=जिनके **प्रदिशि**=प्रशासन में **अश्वासः**=हमारी कर्मेन्द्रियाँ कर्मों में व्याप्त होती हैं और **यस्य**=जिसके प्रशासन में ही **गावः**=अर्थों की गमक ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति का कार्य करती हैं। **यस्य**=जिसके प्रशासन में ये **ग्रामाः**=प्राणसमूह अपना-अपना कार्य करते हैं और **यस्य**=जिसके प्रशासन में ही **विश्वे**=सब **रथासः**=शरीर-रथ गति कर रहे हैं। 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। २. आधिदैविक जगत् में भी **यः**=जो **सूर्यम्**=सूर्य को **जजान**=प्रादुर्भूत करते हैं और **यः**=जो **उषसम्**=उषा को प्रकट करते हैं। सूर्यकिरणों द्वारा जलों का वाष्पीभवन करके, मेघनिर्माण द्वारा **यः**=जो **अपाम्**=जलों के **नेता**=प्राप्त करानेवाले हैं, वे प्रभु ही 'इन्द्र' है।

भावार्थ—प्रभु के प्रशासन में ही हमारी 'कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह व शरीर-रथ' गति कर रहे हैं। आधिदैविक जगत् में भी प्रभु के प्रशासन में ही 'सूर्य, उषा व मेघ' आदि देव अपना-अपना कार्य करते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सर्वाराध्य प्रभु

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः ।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥ ८ ॥

१. हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं, **यम्**=जिनको **संयती**=सम्यक् गति करते हुए **क्रन्दसी**=परस्पर आह्वान-सा करनेवाले ये द्यावापृथिवी **विह्वयेते**=विविध रूपों में पुकारते हैं। द्युलोक से पृथिवीलोक तक निवास करनेवाले सब प्राणी प्रभु को ही पुकारते हैं। २. **परे**=उत्कृष्ट मोक्षमार्ग पर चलनेवाले निष्काम कर्मयोगी भी प्रभु का आराधन करते हैं और **अवरे**=सकाम कर्म-मार्ग पर चलनेवाले ये निचली श्रेणी के व्यक्ति भी प्रभु को ही पुकारते हैं। ३. **उभयाः अमित्राः**=रणाङ्गण में एक-दूसरे के विरुद्ध मोर्चों को लगाये हुए ये दोनों शत्रु-सैन्य भी विजय के लिए उस प्रभु को ही पुकराते हैं। ४. **चित्**=निश्चय से **समानं रथम्**=समान ही गृहस्थरूप रथ पर **आतस्थिवांसा**=स्थित पति-पत्नी भी **नाना हवेते**=भिन्न-भिन्न रूपों में उस प्रभु का ही आराधन करते हैं। पति उचित धन के लिए आराधन करता है तो पत्नी गृह को सुचारुरूपेण चला सकने के लिए याचना करती है।

भावार्थ—सब संसार प्रभु का ही आराधन करता है। प्रभु से ही उस-उस कामना को प्राप्त करता है **'लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान्'**।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'सर्वविजेता' प्रभु

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥ ९ ॥

१. हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं, **यस्मात् ऋते**=जिनके विना **जनासः**=लोग **न विजयन्ते**=विजय को प्राप्त नहीं करते। वस्तुतः सब विजय प्रभु की ही है 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि, सत्त्वं सत्त्ववतामहम्'। २. प्रभु वे हैं, **यम्**=जिनको **युध्यमानाः**=युद्ध करते हुए लोग **अवसे**=रक्षण के लिए **हवन्ते**=पुकारते हैं। प्रभु ही युद्ध में हमें शत्रुपराभव की शक्ति प्राप्त कराते हैं। ३. प्रभु वे हैं **यः**=जो **विश्वस्य**=संसार का **प्रतिमानम्** (An adversary)= प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले योद्धा **बभूव**=हैं। सारा संसार हमारे विरुद्ध हो, परन्तु प्रभु का हमें साथ प्राप्त हो तो हम पराजित न होंगे। प्रभु तो वे हैं, **यः**=जो **अच्युतच्युत्**=दृढ़-से-दृढ़ (च्यावयितुम् अशक्यम्) भी लोकों को च्युत करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब विजयों के करनेवाले हैं। सबके रक्षक हैं। अनन्तशक्तिवाले हैं। सब शत्रुओं के पराजेता हैं।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'दस्यु-हन्ता' प्रभु

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

१. **यः**=जो **शश्वतः**=बहुत ही **महि एनः दधानान्**=महान् पापों को धारण करनेवाले, **अमन्यमानान्**=प्रभु में आस्था न रखनेवाले पापियों को **शर्वा**=हनन-साधन वज्र आदि से

जघान=नष्ट कर डालते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं। २. प्रभु वे हैं, **यः**=जो **शर्धते**=बल के अभिमान में निर्बलों का हिंसन करनेवाले के लिए **शृध्याम्**=शत्रु प्रसहनशक्ति को **न अनुददाति**=नहीं देते हैं और **यः**=जो **दस्योः हन्ता**=औरों का उपक्षय करनेवाले दस्युओं के हन्ता हैं।

भावार्थ—प्रभु ही पापियों का विनाश करते हैं। अत्याचारियों की शक्तियों को छीन लेते हैं तथा दस्युओं के विनाशक हैं।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

पर्वतवासी शम्बर का विनाश

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥ ११॥

१. अविद्या पाँच पर्वोंवाली होने से 'पर्वत' है। इस अविद्या-पर्वत में ही ईर्ष्या का निवास है। अज्ञान में फँसा मनुष्य ईर्ष्या-द्वेष में फँसा रहता है। 'आचत्वारिंशतः संपूर्णता' इस चरक वाक्य के अनुसार मनुष्य ४० वर्ष में सब शक्तियों के परिपाक को प्राप्त कर लेता है। उस समय भी वह इस ईर्ष्या को अपना पीछा करता हुआ देखता है। **यः**=जो **शम्बरम्**=(शं-वर) शान्ति पर पर्दा डाल देनेवाली, **पर्वतेषु क्षियन्तम्**=अविद्या-पर्वत में निवास करती हुई ईर्ष्या को **चत्वारिंश्यां शरदि**=चालीसवें वर्ष में भी **अन्वविन्दत्**=अपना पीछा करता हुआ पाता है और इस ईर्ष्या को विनष्ट करने के लिए यत्नशील होता है। २. उस समय **ओजायमानम्**=अत्यन्त ओजस्वी (बलवान्) की तरह आचरण करती हुई, **अहिम्** (आहन्ति)=विनाशकारिणी, **शयानम्**=हमारे अन्दर छिपे रूप में रहनेवाली **दानुम्**=शक्तियों को छिन्न करनेवाली इस ईर्ष्या को **यः जघान**=जो विनष्ट करते हैं, हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही प्रभु हैं। प्रभु ही हमें ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठने के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—अज्ञान के कारण ईर्ष्या से ऊपर उठना सम्भव नहीं होता। इस अति प्रबल भी ईर्ष्या-द्वेष की भावना को प्रभु-कृपा से हम पराजित कर पाते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'अचारुक-आस्ना'

यः शम्बरं पर्यतरत्कसीभिर्योऽचारुकास्नापिबत्सुतस्य।
अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यस्मिन्नामूर्छत्स जनास इन्द्रः॥ १२॥

१. **यः**=जो **कसीभिः**=गतिशीलताओं के द्वारा—निरन्तर कर्म में लगे रहने के द्वारा **शम्बरं**=शान्ति के विनाशक ईर्ष्या नामक असुर को **पर्यतरत्**=(पर्यतारयत् सा०) पार करने में—तैर जाने में हमें समर्थ करता है। प्रभु हमें निरन्तर क्रियाओं में प्रेरित करके ईर्ष्या से ऊपर उठाते हैं। अकर्मण्य लोग ही ईर्ष्या-द्वेष में फँसते हैं। २. वे प्रभु ही वस्तुतः **अचारुक-आस्ना**=सदा न चरते रहनेवाले मुख से **सुतस्य अपिबत्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का पान करते हैं। प्रभु उपासक को जिह्वा के संयम के द्वारा सोम के रक्षण के योग्य बनाते हैं। भोजन का संयम हमें ब्रह्मचर्य पालन में समर्थ करता है। ३. **यस्मिन्**=जिस सोम का रक्षण होने पर **गिरौ अन्तः**=(आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः) आचार्य गर्भ (गिरि गुरु) के अन्दर निवास करते हुए **यजमानम्**=देवपूजन करते हुए—बड़ों का आदर करते हुए **बहुं जनम्**=बहुत लोगों को जो **आमूर्छत्**=(Strengthens) शक्ति देता है, हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वही परमैश्वर्यशाली प्रभु है।

आचार्यकुल में निवास करते हुए विनीत ब्रह्मचारियों को प्रभु ही वृद्धि प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—क्रियाशील बनाकर प्रभु हमें ईर्ष्या से ऊपर उठाते हैं। जिह्वा-संयम के द्वारा सोम-रक्षण के योग्य बनाते हैं। आचार्यकुलवासी ब्रह्मचारियों को प्रभु ही उन्नति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

रौहिणासुर-वध

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः॥ १३॥

१. **यः**=जो **सप्तरश्मिः**=गायत्री आदि सात छन्दों में ज्ञान की रश्मियों को देनेवाले हैं। **वृषभः**=ज्ञान द्वारा सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं और **तुविष्मान्**=अत्यन्त प्रवृद्ध बलवाले हैं। हमारे जीवनों को **सर्तवे**=प्रवाहित करने के लिए **सप्त सिन्धून्**=सात छन्दों में प्रवाहित होनेवाली ज्ञान-नदियों को **अवासृजत्**=वासनाओं के बन्धन से मुक्त करते हैं, अर्थात् वासना-विनाश द्वारा हमारे जीवन में ज्ञान-प्रवाहों को प्रवाहित करते हैं। २. **यः**=जो **वज्रबाहुः**=वज्रहस्त प्रभु **रौहिणम्**=निरन्तर बढ़नेवाले और बढ़ते-बढ़ते **द्याम् आरोहन्तम्**=द्युलोक तक जा पहुँचनेवाले लोभ को **अस्फुरत्**=विनष्ट कर डालते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे अन्दर सप्त छन्दोमयी ज्ञान-नदियों को प्रवाहित करते हैं। इनको प्रवाहित करने के लिए ही वे विघ्नभूत लोभ को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'ब्रह्माण्ड के शासक' प्रभु

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः॥ १४॥

१. **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **द्यावापृथिवी चित्**=द्युलोक व पृथिवीलोक भी **नमेते**=नमन करते हैं, अर्थात् ये सब इस प्रभु के शासन में चलते हैं। **अस्य**=इसके **शुष्मात्**=शत्रु-शोषक बल से **पर्वताः**=पर्वत भी **भयन्ते**=भयभीत होते हैं, अर्थात् दृढ़-से-दृढ़ पर्वत को भी प्रभु विदीर्ण कर डालते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **सोमपाः**=(सोम=उत्पन्न जगत्) उत्पन्न जगत् के रक्षक हैं। **निचितः**=(निकेति=to observe) सर्वद्रष्टा हैं। **वज्रबाहुः**=वज्रसदृश बाहुवाले हैं। कभी न थकनेवाली भुजाओंवाले, अर्थात् अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हैं। **यः**=जो **वज्रहस्तः**=दुष्टों को दण्डित करने के लिए हाथ में वज्र लिये हुए हैं, हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=सब शत्रुओं के विद्रावक वे प्रभु ही 'इन्द्र' हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रभु के शासन में है। वे प्रभु अनन्तशक्तिवाले व सर्वद्रष्टा हैं। दुष्टों को दण्डित करके ठीक मार्ग पर लानेवाले हैं।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'ब्रह्म-सोम-राधः'

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः॥ १५॥

१. **यः**=जो **सुन्वन्तम्**=सोम का अभिषव करनेवाले का—शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले का **अवति**=रक्षण करता है, **यः**=जो **पचन्तम्**=ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले को रक्षित

करता है, **यः**=जो **शंसन्तम्**=प्रभु का शंसन करनेवाले का रक्षण करता है और **शशमानम्**=प्लुत गति से अपने कर्त्तव्य-कर्मों को करनेवालों को **ऊती**=रक्षण के द्वारा प्राप्त होता है। २. **यस्य**=जिसका—जिससे दिया हुआ, **ब्रह्म**=ज्ञान **वर्धनम्**=हमारी वृद्धि का कारण होता है। **यस्य**=जिसका—जिससे उत्पन्न किया गया **सोमः**=सोम हमारी वृद्धि का साधक होता है और **यस्य**=जिसका **इदं राधः**=यह ऐश्वर्य है, हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वही परमैश्वर्यशाली प्रभु 'इन्द्र' है।

भावार्थ—प्रभु 'सोमरक्षक, ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले, स्तोता, क्रियाशील' व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। प्रभु से दिया गया ज्ञान, प्रभु से उत्पन्न किया गया सोम तथा प्रभु-प्रदत्त ऐश्वर्य हमारा वर्धक होता है।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'स्वयम्भू' ब्रह्म

जातो व्य॑ख्यत्पित्रोरुपस्थे भुवो न वेद जनितुः परस्य।
स्तविष्यमाणो नो यो अस्मद् व्रता देवानां स जनास इन्द्रः॥ १६॥

१. **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ यह प्रभु **पित्रोः उपस्थे**=द्यावापृथिवी की गोद में **व्यख्यत्**=प्रकाशित होता है। द्यावापृथिवी में सर्वत्र उस प्रभु की महिमा का प्रकाश होता है। यह प्रभु **भुवः**=मातृभूत पृथिवी को तथा **परस्य जनितुः**=उत्कृष्ट पितृस्थानीय द्युलोक को **न वेद**=नहीं जानता, अर्थात् जैसे ये द्युलोक व पृथिवीलोक सबके माता व पिता के रूप में हैं, इसी प्रकार प्रभु के भी कोई 'माता व पिता हों' ऐसी बात नहीं। प्रभु सबके मातृपितृभूत पृथिवी व द्युलोक को जन्म देते हैं। प्रभु को जन्म देनेवाला कोई नहीं—वे 'स्वयम्भू' हैं। २. **यः**=जो **अस्मत्**=हमसे **स्तविष्यमाणः**=स्तुति किये जाते हुए **नः**=हमारे **व्रता**=कर्मों को **देवानाम्**=देवों के कर्म बना देते हैं। प्रभु स्तोता को दिव्य कर्मोंवाला बनाते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु 'इन्द्र' हैं।

भावार्थ—द्यावापृथिवी प्रभु की महिमा का प्रकाश करते हैं। प्रभु के कोई माता-पिता नहीं हैं। स्तोता को प्रभु दिव्य कर्मोंवाला बनाते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'एकवीर' इन्द्र

यः सोमकामो हर्यश्वः सूरिर्यस्माद्रेजन्ते भुवनानि विश्वा।
यो जघान शम्बरं यश्च शुष्णं य एकवीरः स जनास इन्द्रः॥ १७॥

१. **यः**=जो **सोमकामः**=सोम को चाहते हैं—प्रभु की सर्वोपरि कामना यही है कि हम अपने अन्दर उत्पन्न होनेवाले इस सोम का रक्षण करें। **हर्यश्वः**=सब दुःखों का हरण करनेवाले इन्द्रियाश्वों को देनेवाले हैं। प्रभु-प्रदत्त कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे सब दुःखों का हरण करनेवाली हैं। **सूरिः**=वे प्रभु ज्ञानी हैं—ज्ञान के पुञ्ज हैं—ज्ञानस्वरूप हैं। **यस्मात्**=जिस प्रभु से **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन **रेजन्ते**=चमकते हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। २. **यः**=जो प्रभु **शम्बरम्**=शान्ति पर पर्दा डाल देनेवाली ईर्ष्या को **जघान**=नष्ट कर डालते हैं **च**=और **यः**=जो **शुष्णम्**=सब शक्तियों का शोषण कर डालनेवाले 'काम' को नष्ट करते हैं। इसप्रकार **यः**=जो **एकवीरः**=अद्वितीय वीर है, हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु 'इन्द्र' है।

भावार्थ—प्रभु हमसे चाहते हैं कि हम सोम का रक्षण करें। वे प्रभु हमें दुःखहारक इन्द्रियाँ

देते हैं। वे सर्वज्ञ प्रभु ही सब भुवनों को दीप्त करते हैं। प्रभु ही हमें ईर्ष्या व काम के संहार में समर्थ करते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

प्रियासः-सुवीरासः

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम॥ १८॥

१. **यः**=जो **दुध्रः**=दुर्धर्ष व अजेय प्रभु **सुन्वते**=अपने अन्दर सोम का अभिषव करनेवाले के लिए तथा **पचते**=ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले के लिए **चित्**=निश्चय से **वाजम्**=शक्ति को **आदर्दर्षि**=खूब ही प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे आप **किल**=निश्चय से **सत्यः असि**=सत्यस्वरूप हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **विश्वह**=सदा **ते**=आपके **प्रियासः**=प्रिय बनें, तथा **सुवीरासः**=उत्तम वीर बनते हुए **विदथम् आवदेम**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें—ज्ञानी बनने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—सोमरक्षक, ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले पुरुष को प्रभु शक्ति देते हैं। हम सदा प्रभु के प्रिय, वीर होते हुए ज्ञान की वाणियों का ही उच्चारण करें।

यह ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाला व्यक्ति प्रभु का प्रिय स्तोता बनता है, अतः 'नोधाः' कहलाता है—स्तुति का धारण करनेवाला। यह अपने अन्दर शक्ति को भर पाता है, अतः 'भरद्वाज' होता है। यह स्तवन करता हुआ कहता है कि—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—नोधाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'स्तवन व हवन' से प्रभु-परिचरण

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय।
ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा॥ १॥

१. **अस्मै**=इस **तवसे**=प्रवृद्ध, **तुराय**=शत्रु-संहारक, **माहिनाय**=पूजनीय **ऋचीषमाय**=(ऋचा समः) जितनी भी स्तुति की जाए उससे अन्यून, **अध्रिगवे**=अप्रतिहत गमनवाले प्रभु के लिए **ओहम्**=(वहनीय) प्रापणीय **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **इत् उ**=निश्चय से **प्र हर्मि**=प्रकर्षेण प्राप्त कराता हूँ, (हरामि)। उसी प्रकार प्राप्त कराता हूँ **न**=जैसेकि **प्रयः**=अन्न को। जैसे मैं नियमपूर्वक अन्न का सेवन करता हूँ, उसी प्रकार नियमितरूप से प्रभु-स्तवन भी करता हूँ। २. **इन्द्राय**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही मुझसे **ब्रह्माणि**=प्रवृद्ध सोम आदि हवियाँ **राततमा**=अतिशयेन प्रदत्त होती हैं, अर्थात् जहाँ मैं स्तुति करता हूँ, वहाँ इस प्रभु की प्राप्ति के लिए यज्ञादि कर्मों को भी करता हूँ।

भावार्थ—मैं नियमितरूप से प्रभु-स्तवन व यज्ञ आदि करता हुआ प्रभु की प्रीति के लिए प्रयत्नशील होता हूँ।

ऋषिः—नोधाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'हृदा, मनसा, मनीषा'

अस्मा इदु प्रयइव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त॥ २॥

१. **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए निश्चय से **प्रयः इव**=अन्न की भाँति **प्रयंसि**=तू अपने को प्राप्त कराता है। जैसे प्रातः-सायं तू अन्न का सेवन करता है, उसी प्रकार प्रातः-सायं तू प्रभु का उपासन भी करता है। तू यह निश्चय कर कि मैं **बाधे**=शत्रुओं के बन्धन के निमित्त **सुवृक्ति**=शत्रुओं का सम्यक् वर्जन करनेवाले **आंगूषम्**=स्तोत्र को **भरामि**=सम्पादित करता हूँ। प्रभु-स्तवन ही काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का वर्जन करनेवाला होगा। २. उस **प्रत्नाय**=सनातन **पत्ये**=सबके रक्षक **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए स्तोता लोग **हृदा**=हृदय से—हृदयस्थ श्रद्धा से, **मनसा**=मन से—मन के दृढ़ संकल्प से तथा **मनीषा**=बुद्धि के द्वारा **धियः**=अपने कर्मों को **मर्जयन्त**=शुद्ध करते हैं। इस कर्मशुद्धि के होने पर ही प्रभु का दर्शन होगा।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं प्रभु-स्तवन करें। प्रभु-प्राप्ति के लिए 'हृदय, मन व बुद्धि' की पवित्रता से कर्मों की पवित्रता का सम्पादन करें।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उपमं स्वर्षां आंगूषम्

अस्मा इदु त्यमुपमं स्वर्षां भराम्याङ्गूषमास्ये॑न।
मंहि॑ष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै॥ ३॥

१. **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए निश्चय से **त्यम्**=उस **उपमम्**=(उपमीयते अनेन) समीपता से मापनेवाले, अर्थात् यद्यपि प्रभु का पूर्ण मापन सम्भव नहीं, तो भी बहुत कुछ प्रभु के गुणों का प्रतिपादन करनेवाले **स्वर्षाम्**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले **आंगूषम्**=स्तोत्र को **आस्येन**=मुख से **भरामि**=सम्पादित करता हूँ। २. उस **मंहिष्ठम्**=दातृतम—सर्वाधिक देनेवाले **सूरिम्**=ज्ञानी प्रभु को **मतीनाम् अच्छ उक्तिभिः**=मननपूर्वक की गई स्तुतियों के स्वच्छ वचनों से तथा **सुवृक्तिभिः**=सम्यक् पापों के वर्जन से **वावृधध्यै**=अपने में बढ़ाने के लिए होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से प्रकाश की प्राप्ति होती है। स्तुति व पापवर्जन के द्वारा हम प्रभु की भावना को अपने में बढ़ा पाते हैं।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्तुति व ज्ञान

अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टेव तत्सिनाय।
गिरश्च गिर्वाहसे सुवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय॥ ४॥

१. **इव**=जैसे **तष्टा**=बढ़ई **तत्सिनाय**=(तेन सिनम् अन्नं यस्य) रथ द्वारा आजीविका करनेवाले रथ-स्वामी के लिए **रथम्**=रथ को प्राप्त कराता है, इसी प्रकार मैं भी **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **इत् उ**=निश्चय से **स्तोमं संहिनोमि**=स्तुति को प्राप्त कराता हूँ। २. **च**=और **गिर्वाहसे**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले प्रभु के लिए **गिरः**=इन ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों को प्राप्त कराता हूँ। उस **मेधिराय**=(मेध=यज्ञम्) यज्ञ के योग्य अथवा मेधावी **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **विश्वमिन्वम्**=सब गुणों का व्यापन करनेवाली **सुवृक्ति**=सम्यक् पापों का वर्जन करनेवाली स्तुति को प्रेरित करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए मैं ज्ञान व स्तुति को अपनाता हूँ।

ऋषिः—नोधाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अर्कं जुह्वा समञ्जे (सतत स्तवन)

अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा३ समञ्जे।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम् ॥ ५ ॥

१. **अस्मै इन्द्राय इत् उ**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए ही निश्चय से **श्रवस्या**=ज्ञान व यश की प्राप्ति के हेतु से **अर्कम्**=स्तुतिसाधन मन्त्रों को **जुह्वा**=आह्वान की साधनभूतवाणी से **समञ्जे**=संगत करता हूँ। इसप्रकार संगत करता हूँ—सदा स्तवन करनेवाला बनता हूँ **इव**=जैसेकि एक व्यक्ति **श्रवस्या**=अन्न-प्राप्ति की इच्छा से **सप्तिम्**=घोड़े को रथ से जोड़ता है। २. तथा मैं उस प्रभु को **वन्दध्यै**=वन्दन करने के लिए प्रवृत्त होता हूँ, जो **वीरम्**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले हैं। **दानौकसम्**=दान के ओकस (गृह) हैं—सब-कुछ देनेवाले हैं। **पुरां दर्माणम्**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाले हैं। 'काम, क्रोध, लोभ' के दुर्गों के विनाशक हैं। **गूर्तश्रवसम्**=उद्यत (उत्कृष्ट) ज्ञानवाले हैं। 'प्रभु सर्वज्ञ' हैं—भक्तों के ज्ञान को उत्कृष्ट करते हैं।

भावार्थ—मैं सदा उस प्रभु का स्तवन करता हूँ, जो वीर, सर्वप्रद, शत्रु-विनाशक व ज्ञान देनेवाले हैं।

ऋषिः—नोधाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'स्वपस्तम स्वर्य' वज्र

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद्वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं१ रणाय।
वृत्रस्य चिद्विदद्येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः ॥ ६ ॥

१. **त्वष्टा**=वह देवशिल्पी प्रभु **अस्मा इत्**=इस उपासक के लिए निश्चय से **वज्रम्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **तक्षत्**=निर्मित करता है। यह वज्र **स्वपस्तमम्**=अतिशयेन उत्कृष्ट कर्मोंवाला है तथा **स्वर्यम्**=स्तुत्य व शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला है ('स्वृ' शब्दोपतापयोः)। इसप्रकार उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करके तथा शत्रुओं को विनष्ट करके यह वज्र **रणाय**=जीवन की रमणीयता के लिए होता है। २. यह **कियेधाः**=(क्रममाणधाः नि ६.२०) आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का निग्रह करनेवाला, **ईशानः**=जितेन्द्रिय पुरुष **तुजता येन**=शत्रुओं का संहार करनेवाले जिस वज्र के द्वारा **तुजन्**=शत्रुसंहार करता हुआ **चित्**=निश्चय से **वृत्रस्य**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के **मर्म विदत्**=मर्मस्थल को प्राप्त करता है। वृत्र के मर्म पर प्रहार करता हुआ यह वृत्र का विनाश कर डालता है। वृत्र-विनाश से ही अपने जीवन में उत्तम कर्मों को करता हुआ प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें क्रियाशीलतारूप वज्र प्राप्त कराते हैं। इसके द्वारा वासनाओं को विनष्ट करके हम रमणीय जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—नोधाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सोम-रक्षण व सात्त्विक अन्न-सेवन

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवां चार्वन्ना।
मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान्विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥ ७ ॥

१. **अस्य इत् उ मातुः**=इसी निश्चय से, गतमन्त्र के अनुसार, वज्र का निर्माण करनेवाले के **सवनेषु**=उत्पादनों के निमित्त, अर्थात् प्रभु के दर्शन के निमित्त (प्रथम शक्तिमान् के रूप में,

फिर बुद्धिमान् के रूप में और अन्ततः दयालुरूप में दर्शन के निमित्त) **सद्यः**=शीघ्र ही **महः पितुम्**=तेजस्विता के रक्षक सोम का यह उपासक **पपिवान्**=पीनेवाला होता है। शरीर में सुरक्षित सोम ही ज्ञानाग्नि को दीप्त करके प्रभु का दर्शन कराएगा। इस सोम के रक्षण के लिए ही यह उपासक **चारु अन्ना**=सुन्दर सात्त्विक अन्नों का ग्रहण करता है। २. सोम-रक्षण द्वारा **विष्णुः**=व्यापक उन्नति करनेवाला—'शरीर-मन-मस्तिष्क' तीनों को उन्नत करनेवाला—यह उपासक **सहीयान्**=शत्रुओं का अतिशयेन अभिभव करता है तथा **पचतम्**='अन्न से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदस्, मेदस् से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र' इसप्रकार परिपक्व हुए-हुए इस वीर्य को **मुषायत्**=चुरा लेता है। प्रभु ने इसे अन्न में छिपाकर रखा है, यह विष्णु इसका अपहरण कर लेता है। यह **वराहम्**=(मेघ=वृत्रम्, वरं वरं आहन्ति)=ज्ञान की आवरणभूत अच्छी बातों को नष्ट करनेवाली—वासना को **विध्यद्**=बींधता हुआ **अद्रिम्**=अविद्यापर्वत को **तिरः अस्ता**=सूदूर (across, beyond), सात समुद्रपार फेंकनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-दर्शन के निमित्त सोम का रक्षण करें। सोम-रक्षण के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन करें। वासना को विनष्ट करके अविद्या को परे फेंकें और सोम-रक्षण के योग्य बनें।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेदवाणियों द्वारा प्रभु-स्तवन

अस्मा इदु ग्नाश्चिद्देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः।
परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परि ष्टः॥ ८॥

१. **अस्मै इन्द्राय इत् उ**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ही **देवपत्नीः**=दिव्यगुणों का पालन करनेवाली **ग्नाः चित्**=गायत्री आदि छन्दोमयी वेदवाणियाँ निश्चय से **अहिहत्ये**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के निमित्त **अर्कम्**=स्तुतिसाधन मन्त्रों को **ऊवुः**=(अतन्वत) विस्तृत करती हैं। इन वेदवाणियों के द्वारा प्रभु का स्तवन करता हुआ यह स्तोता वासनाओं का शिकार नहीं होता। २. यह इस रूप में प्रभु का स्तवन करता है कि वे प्रभु **उर्वी**=इन विस्तृत **द्यावापृथिवी**=द्यावापृथिवी को **परिजभ्रे**=(हृ=Win over) विजय करनेवाले हैं अथवा (हृ=to lead) प्रभु इन्हें गति देते हैं (भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया)। **ते**=वे द्यावापृथिवी **अस्य महिमानम्**=इसकी महिमा को न **परि स्तः**=चारों ओर से व्याप्त नहीं कर पाते, प्रभु इन्हें व्याप्त करके बाहर भी विद्यमान हैं (एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः)। इसप्रकार प्रभु-स्तवन करता हुआ यह व्यक्ति वासनाओं से पराभूत नहीं होता।

भावार्थ—वेदवाणियाँ हमारे लिए प्रभु-स्तोत्रों को उपस्थित करती हैं। इनसे प्रभु-स्तवन करता हुआ यह स्तोता वासना का विनाश कर पाता है।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वरिः ववक्षे रणाय

अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्।
स्वराडिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः स्वरिरमत्रो ववक्षे रणाय॥ ९॥

१. **अस्य**=इस प्रभु की **महित्वम्**=महिमा **इत् एव**=निश्चय से ही **दिवः पृथिव्याः**=द्युलोक से व पृथिवीलोक से **प्ररिरिचे**=बढ़ी हुई है। वह प्रभु द्यावापृथिवी से व्याप्त नहीं किये जाते। **अन्तरिक्षात् परि**=अन्तरिक्ष से भी उस प्रभु की महिमा ऊपर है—बढ़ी हुई है। ये सब लोकत्रयी

प्रभु के एक देश में ही समायी हुई है (पादोऽस्य विश्वा भूतानि)। २. वे **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **स्वराट्**=स्वयं देदीप्यमान हैं, व अपना शासन स्वयं करनेवाले हैं। **दमे**=इसप्रकार दमन के होने पर वे प्रभु **आ**=समन्तात् **विश्वगूर्तः**=सब उद्यमोंवाले हैं। यह सारा संसार प्रभु की ही रचना है। प्रभु के शासन में ही सारा संसार गतिवाला होता है। ३. वे प्रभु **स्वरिः**=(सु अरिः) उत्तम आक्रान्ता हैं, शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हैं। **अमत्रः**=(अम त्र) गति के द्वारा सबका रक्षण करनेवाले हैं। ये प्रभु **रणाय**=रमणीय संग्राम के लिए **ववक्षे**=स्तोता को शक्तिशाली बनाते हैं। (वक्ष् to be powerful)।

भावार्थ—प्रभु की महिमा त्रिलोकी से व्याप्त नहीं की जाती। प्रभु स्वराट् हैं। स्तोता को शत्रुओं के साथ युद्ध के लिए शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्रवः अभि

अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद्वज्रेण वृत्रमिन्द्रः।
गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेताः॥ १०॥

१. **अस्य इत् एव**=इस प्रभु के ही **शवसा**=बल से **शुषन्तम्**=सूखते-से हुए **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणभूत इस कामदेव को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **विवृश्चद्**=विशेषरूप से काट डालता है। प्रभु-स्मरण से दुर्बल हुई-हुई वासना को यह क्रियायशीलता के द्वारा नष्ट ही कर डालता है। एवं प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रियाशीलता से वासना का विनाश हो जाता है। २. **व्राणाः**=वृत्र से—वासनात्मक काम से आवृत्त हुई-हुई **अवनीः**=रक्षक सोमशक्तियों को यह वासना-विनाश के द्वारा **अमुञ्चत्**=मुक्त करता है। इसप्रकार मुक्त करता है **नः**=जैसेकि **व्राणाः**=बाड़े में घिरी हुई **गाः**=गौओं को कोई मुक्त किया करता है। इस **दावने**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए **सेचताः**=सचेत प्रभु इसे **श्रवः अभि**=ज्ञान व यश की ओर ले-चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से क्षीण कर दी गई वासना को हम क्रियाशीलता द्वारा विनष्ट कर डालें। वासना-विनाश के द्वारा शक्तिकणों का रक्षण करें। इसप्रकार हम इस योग्य बनें कि प्रभु हमें यश व ज्ञान की ओर ले-चलें।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**।

ज्ञानसिन्धु-प्रवाह

अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद्वज्रेण सीमयच्छत्।
ईशानकृद्दाशुषे दशस्यन्तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः॥ ११॥

१. **यत्**=जब एक जितेन्द्रिय पुरुष **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **सीम्**=निश्चय से **परि अयच्छत्**=वासना का सर्वतः नियमन करता है तब **अस्य इत् उ**=इस प्रभु की ही **त्वेषसा**=दीप्ति से **सिन्धवः**=ज्ञान के प्रवाह **रन्त**=हमारे जीवन में रमण करते हैं। वासना ज्ञान-प्रवाह को रोक देती है। वासना-विनाश से यह ज्ञान-प्रवाह फिर से प्रवाहित हो उठता है। २. प्रभु ही इस जितेन्द्रिय पुरुष को **ईशानकृत्**=इन्द्रियों का स्वामी बनाते हैं तथा **दाशुषे**=भोगासक्त न होने के कारण दाश्वान् पुरुषों के लिए **दशस्यन्**=सदा इष्ट धनों को देते हुए ये **तुर्वणिः**=शीघ्रता से धनों का सम्भजन करनेवाले प्रभु **तुर्वीतये**=वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष के लिए **गाधं कः**=प्रतिष्ठा करनेवाले होते हैं। इस तुर्वीति का जीवन अप्रतिष्ठ नहीं होता। यह जीवन में स्थिर

आधार को प्राप्त करके उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—हम क्रियाशील बनकर वासना का नियमन करते हुए प्रभु की दीप्ति से अपने जीवन में ज्ञानप्रवाहों को प्रवाहित करें। ईशान बनकर प्रभु से आवश्यक धनों को प्राप्त करते हुए प्रभुरूप स्थिर आधार को प्राप्त करके जीवन-पथ में आगे बढ़ें।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गो-पर्व विदारण

अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै॥ १२॥

१. हे प्रभो! **तूतुजानः**=शीघ्रता से कार्यों को करते हुए अथवा खूब ही शत्रुओं का हिंसन करते हुए **ईशानः**=सबके स्वामी **कियेधाः**=अपरिमित बल को धारण करनेवाले (कियत् धा नि० ६.२०) आप **अस्मै वृत्राय**=इस ज्ञान की आवरणभूत वासना के लिए **इत् उ**=निश्चय से **वज्रं प्रभरा**=वज्र का प्रहार कीजिए। वज्र-प्रहार से इस वृत्र को समाप्त करके हमारे लिए ज्ञान का प्रकाश कीजिए। २. **गोः पर्व न**=गौ के एक-एक पर्व की तरह इस वेदवाणीरूप गौ के पर्वों को **विरदा**=विच्छिन्न कीजिए। एक-एक शब्द का निर्वचन करते हुए उसके भाव को स्पष्ट कीजिए। हे प्रभो! आप **अर्णांसि**=रेतःकणरूप जलों को **तिरश्चा**=(तिरः अञ्च्) तिरोहित गतिवाले रूप में **इष्यन्**=प्रेरित करते हुए **अपां चरध्यै**=ज्ञान-जलों के चरण के लिए हों। प्रभु के अनुग्रह से हमारे शरीर में रेतःकण रुधिर में इसप्रकार व्याप्त रहें जैसेकि दूध में घृतकण रहते हैं। इसप्रकार सुरक्षित रेतःकण बुद्धि को दीप्त करनेवाले हों और हमारे जीवन में ज्ञान की धाराओं का प्रवाह बहे।

भावार्थ—प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करें। हमें वेद के अन्तर्निहित तत्त्वों को समझने के योग्य बनाएँ। सुरक्षित रेतःकण हमारी बुद्धियों को दीप्त करें और हममें ज्ञानजलों का प्रवाह प्रवाहित हो।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रुसंहार के लिए अस्त्र-प्राप्ति

अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः।
युधे यदिष्णान आयुधान्यृघायमाणो निरिणाति शत्रून्॥ १३॥

१. **अस्य**=इस **तुरस्य**=त्वरा से कार्यों को करनेवाले अथवा शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभु के **इत् उ**=ही निश्चय से **पूर्व्याणि**=पालन व पूरण में उत्तम **कर्माणि**=कर्मों को **प्रब्रूहि**=व्यक्त रूप से कहनेवाला बन। ये प्रभु ही **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **नव्य**=स्तुतिके योग्य हैं। प्रभु का ही स्तवन करना योग्य है। २. वे प्रभु ही **युधे**=वासनाओं के साथ संग्राम के लिए **यत्**=जब **आयुधानि**='ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधों को **इष्णानः**=प्रेरित करते हैं तब **शत्रून् ऋघायमाणः**=शत्रुओं को हिंसित करते हुए **निरिणाति**=(Drive out, expel) हमारे जीवनों से बाहिर कर देते हैं। प्रभु हमें इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों को प्राप्त कराके इस योग्य बनाते हैं कि हम वासनारूप शत्रुओं को अपने से दूर कर सकें।

ऋषिः—नोधाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ओणिं जोगुवानः

अस्येदु भिया गिरयश्च दृढा द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते।
उपो वेनस्य जोगुवान ओणिं सद्यो भुवद्वीर्याय नोधाः ॥ १४ ॥

१. **अस्य इत् उ**=इस प्रभु के ही **भिया**=भय से **गिरयः**=ये पर्वत **च**=भी **दृढाः**=अपने स्थान पर स्थित हैं—दृढ़ हैं **च**=और **जनुषः**=उत्कृष्ट प्रादुर्भाववाले प्रभु के भय से ही **द्यावाभूमा**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **तुजेते**=काँपते हैं। 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'=प्रभु के भय से ही 'अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु व मृत्यु' अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। २. **नोधाः**=इन्द्रिय-नवक (अष्टाचक्रानवद्वारा०) को धारण करनेवाला यह स्तोता **वेनस्य**=उस कान्त प्रभु के **ओणिम्**=सब दुःखों का अपनयन करनेवाले रक्षण को **जोगुवानः**=अनेक सूक्तों से स्तुत करता हुआ **वीर्याय**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **सद्यः**=शीघ्र **उप उ**=समीप **भुवत्**=होता है। स्तुति के द्वारा प्रभु का यह सान्निध्य स्तोता को भी शक्तिशाली बनाता है।

भावार्थ—पर्वतों व द्यावापृथिवी को शासित करनेवाले प्रभु का स्तवन करता हुआ स्तोता भी शक्ति प्राप्त करता है। हम प्रभु के रक्षण का गायन करें—उस रक्षण को अनुभव करें।

ऋषिः—नोधाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'एतश-स्वश्व-सुष्वि'

अस्मा इदु त्यदनु दाय्येषामेको यद्वव्ने भूरेरीशानः।
प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः ॥ १५ ॥

१. **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए ही **एषाम्**=इन स्तोताओं का **यत्**=वह-वह कर्म **अनुदायि**=अनुक्रमेण दिया जाता है। 'यत्करोषि पदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष मदर्पणम्' के अनुसार ये स्तोता जो कुछ करते हैं—प्रभु के अर्पण करते चलते हैं। 'कुरु-कर्म, त्यजेति च' करते हैं और कर्तृत्व का अहंकार छोड़कर उसे प्रभु से होता हुआ जानते हैं। **यत्**=चूँकि वस्तुतः **एकः**=वे अद्वितीय प्रभु ही **वव्ने**=सबका विजय करते हैं। वे ही **भूरेः ईशानः**=इन सब पालनात्मक कर्मों के (भृ=धारणपोषणयोः) ईशान हैं। २. वे **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु ही **एतशम्**=(इ, श्येः एति श्यति) गतिशील और गतिशीलता द्वारा मलों को तनूकृत करनेवाले स्तोता को **प्रावत्**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। प्रभु उसका रक्षण करते हैं, जोकि **सौवश्व्ये**=उत्तम इन्द्रियाश्वों के विषय में **सूर्ये पस्पृधानम्**=सूर्य में स्पर्धावाला है। सप्ताश्व सूर्य के किरणरूप अश्व तो चमक ही रहे हैं। यह स्तोता अपने 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' सप्ताश्वों को भी उसी प्रकार चमकाता है। इसी उद्देश्य से **सुष्विम्**=यह सुष्वि बनता है—सोम का सम्यक् सम्पादन करता है। प्रभु इस सुष्वि का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम सब कर्मों का प्रभु के प्रति अर्पण करें। गतिशील व वासनाओं का क्षय करनेवाले बनें, उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले बनें, सोम का सम्पादन करें। इसप्रकार प्रभु की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—नोधाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

धियावसु

एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥ १६ ॥

१. हे **हारियोजन**=उत्तम इन्द्रियाश्वों (हरि) को हमारे शरीर-रथ में जोड़नेवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **एवा**=इसप्रकार **गोतमासः**=ये प्रशस्तेन्द्रिय व्यक्ति **सुवृक्तिः**=दोषों का सम्यक् वर्जन करनेवाले **ते**=आपके **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को **अक्रन्**=करते हैं। २. **एषु**=इन स्तोताओं में आप **विश्वपेशसम्**=संसार को सुन्दर रूप देनेवाली **धियम्**=बुद्धि को **आधाः**=स्थापित कीजिए। इन्हें वह बुद्धि दीजिए जो संसार का सुन्दर निर्माण करनेवाली हो। हे प्रभो! हमें **प्रातः**=प्रातः **मक्षु**=शीघ्र ही **धियावसुः**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा निवास को उत्तम बनानेवाला व्यक्ति **जगम्यात्**=प्राप्त हो। इनके संग में हम भी 'धियावसु' बन पाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराते हैं। हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें उत्तम निर्माणवाली बुद्धि दें। 'धियावसु' पुरुषों का हमें संग प्राप्त हो।

धियावसु पुरुषों के संग में यह 'भरद्वाज' बनता है, शक्ति को अपने में भरनेवाला। यह प्रभु का स्तवन करता है कि—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

एकमात्र उपासनीय

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्य र्चे आभिः।
यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान्॥ १॥

१. **यः**=जो **चर्षणीनाम्**=मनुष्यों का **एकः इत्**=एकमात्र ही **हव्यः**=पुकारने योग्य है—आराधना के योग्य है **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **आभिः गीर्भिः**=इन स्तुतिवाणियों से **अभि अर्चे**=पूजित करता हूँ। प्रभु ही पूजनीय हैं—मैं उस प्रभु का स्तवन करता हूँ। २. **यः**=जो प्रभु **पत्यते**=सबके ईश्वर हैं। **वृषभः**=सब कामनाओं के वर्षक हैं। **वृष्ण्यावान्**=सुखों का वर्षण करनेवाली शक्तिवाले हैं। **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। **सत्वा**=शत्रुओं के बल को विनष्ट करनेवाले हैं, **पुरुमायः**=अनन्त प्रज्ञावाले हैं, **सहस्वान्**=शत्रुमर्षक बलवाले हैं।

भावार्थ—एकमात्र प्रभु ही उपासनीय हैं। वे ही शत्रुओं के बल को विनष्ट करनेवाले हैं। इसप्रकार हमपर सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

कौन प्रभु को प्राप्त करते हैं?

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्त।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम्॥ २॥

१. **नः**=हममें **ते पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले, **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त (पा रक्षणे), **नवग्वाः**=स्तुत्यगतिवाले, **सप्तविप्रासः**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन स्तोता ऋषियों का अपने में पूर्ण करनेवाले लोग **तम् उ**=उस परमात्मा को ही **अभिवाजयन्तः**=अपने को (गमयन्तः) प्राप्त कराते हैं। इनका लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही होता है। प्रभु को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही ये अपना पूरण करते हैं (पूर्वे), रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत होते हैं (पितरः), स्तुत्यगतिवाले बनते हैं (नवग्व) और शरीर में सप्त ऋषियों का पूरण करते हैं (सप्तविप्रासः) ३. उस प्रभु को पाना ये अपना ध्येय बनाते हैं जोकि '**नक्षद्दाभम्**=अभिगमन शत्रुओं का हिंसन करते हैं, **ततुरिम्**=दुस्तर भवसागर से तराते हैं, **पर्वतेष्ठम्**=अपना पूरण करनेवालों में स्थित होते हैं अथवा अविद्या-पर्वत को पाँव तले रोंद डालते हैं, **अद्रोघवाचम्**=द्रोहशून्य ज्ञान की वाणियोंवाले

हैं तथा **मतिभिः**=बुद्धियों के साथ **शविष्ठम्**=अतिशयेन बलवान् हैं। अपने उपासकों को भी प्रभु बुद्धि व बल प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य बनाकर हम अपने जीवनों को प्रशस्त बनाएँ। प्रभु हमें बुद्धि व शक्ति प्राप्त कराएँगे। हम शत्रुओं का संहार करते हुए भवसागर को पार कर पाएँगे।

ऋषिः—भरद्वाजः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

कैसा धन?

तमीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः।
यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान्तमा भर हरिवो मादयध्यै॥ ३॥

१. **तम् इन्द्रम्**=उस प्रभु से **अस्य रायः**=इस धन की **ईमहे**=याचना करते हैं जोकि **पुरुवीरस्य**=खूब वीर सन्तानोंवाला है, अर्थात् जिसके विनियोग से हम सन्तानों को वीर बना पाते हैं। **नृवतः**=जो प्रशस्त मनुष्योंवाला है—जिसके विनियोग से सब गृहवासियों का जीवन उत्तम बनता है। **पुरुक्षोः**=जो धन पालक व पूरक अन्नवाला है। २. उस धन को माँगते हैं **यः**=जोकि **अस्कृधोयुः**=अनल्प व अविच्छिन्न है। **अजरः**=(अविद्यमाना जरा यस्मात्) हमें वृद्ध नहीं होने देता—जिसके सद्व्यय से हम सदा युवा-से बने रहते हैं। **स्वर्वान्**=जो धन प्रकाश व सुखवाला है। जिसके द्वारा हमारे ज्ञान व सुख की वृद्धि होती है। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **तम्**=उस धन को हमें **मादयध्यै**=आनन्दित करने के लिए **आभर**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु हमें वह धन प्राप्त कराएँ जो हमारे सन्तानों को वीर बनाए, हमें प्रशस्त जीवनवाला बनाए, पालक अन्न को प्राप्त कराए, अविच्छिन्न हो, हमें जीर्ण होने से बचाए तथा प्रकाशमय जीवनवाला करे।

ऋषिः—भरद्वाजः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

कः भागः, किं वयः?

तन्नो वि वोचो यदि ते पुरा चिज्जरितार आनशुः सुम्नमिन्द्र।
कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **पुराचित्**=पहले भी **यदि**=यदि **जरितारः**=स्तोता लोग **ते**=आपसे **सुम्नम् आनशुः**=सुख को प्राप्त हुए हैं, **तत्**=तो **नः**=हमारे लिए भी **विवोचः**=उन स्तोत्रों का प्रतिपादन कीजिए जिससे हम भी आपका स्तवन करते हुए सुख के भागी हों। प्रभु-स्तवन सदा सुख का साधन बनता है। इसे अपनाकर हम भी सुखी हों। २. हे **दुध्र**=शत्रुओं से न धारण करने योग्य बलवाले **खिद्वः**=शत्रुओं को खदेड़नेवाले! **पुरुहूत**=बहुतों-से पुकारे गये **पुरूवसो**=पालक व पूरक वसुओंवाले प्रभो! **असुरघ्नः ते**=असुरों का विनाश करनेवाले आपका **कः भागः**=कौन-सा भजनीय स्तोत्र है? किस स्तोत्र द्वारा हम आपको प्रीणित कर सकते हैं? **किं वयः**=कौन-सा हविर्लक्षण अन्न है जिसके द्वारा हम आपके प्रिय बनेंगे? वस्तुतः स्तवन व यज्ञ करते हुए ही हम आपकी प्रीति के पात्र बन सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का स्तोता अवश्य सुखी होता है। प्रभु-स्तोता के आसुरभावरूप शत्रुओं को खदेड़कर तथा उसे पालक व पूरक धन प्राप्त कराके सुखी करते हैं। स्तोत्रों व यज्ञों से हम प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

प्रभु की चर्चा व प्रभु की ओर

तं पृच्छन्ती वज्रहस्तं रथेष्ठामिन्द्रं वेपी वक्वरी यस्य नू गीः।
तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे नक्षते तुम्रमच्छ ॥ ५ ॥

१. **यस्य**=जिस स्तोता की **वेपी**=(वेप=कर्म) यागादि लक्ष्ण कर्मोंवाली—यज्ञशीला **वक्वरी**=प्रभु के गुणों का प्रवचन करनेवाली **गीः**=वाणी **नु**=निश्चय से **तं वज्रहस्तम्**=उस वज्र को हाथ में लिये हुए, **रथेष्ठाम्**=हमारे शरीर-रथों में स्थित **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **पृच्छन्ती**=पूछती हुई होती है, यह स्तोता सदा **गातुम् इषे**=मार्ग को ही चाहता है—सदा सन्मार्ग पर चलने की ही कामना करता है। सदा प्रभु की ही चर्चा करता हुआ यह कुमार्गगामी नहीं होता। २. इसप्रकार सन्मार्ग पर चलता हुआ यह उस प्रभु को ही **अच्छ नक्षते**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है जोकि **तुविग्राभम्**=महान् ग्राहक हैं—सारे ही ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर लिये हुए हैं। **तुविकूर्मिम्**=महान् कर्मोंवाले हैं। **रभोदाम्**=बल के दाता है तथा **तुम्रम्**=शत्रु के प्रति आक्रमण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु की ही चर्चा करें और सन्मार्ग पर चलते हुए प्रभु की ओर ही जाएँ।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

प्रभु-स्तवन व वृत्रविनाश

अया ह त्यं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतेन।
अच्युता चिद्वीळिता स्वोजो रुजो वि दृळहा धृषता विरप्शिन् ॥ ६ ॥

१. हे **स्वतवः**=स्वायत्तबल! स्वाधीन बलवाले—किसी और से शक्ति को न प्राप्त करनेवाले प्रभो! आप **त्यम्**=उस **ह**=निश्चय से **अया मायया**=इस माया के द्वारा **वावृधानम्**=खूब बढ़ते हुए—संसार के आकर्षणों से वृद्धि को प्राप्त करते हुए वृत्र को—ज्ञान की आवरणभूत वासना को **मनोजुवा**=मन को प्रेरित करनेवाले **पर्वतेन**=(पर्व पूरणे) अपनी न्यूनताओं को दूर करने व पूरण के भाव से **विरुजः**=विनष्ट करते हो। जिस किसी के हृदय में अपने पूरण की भावना का विकास हो जाता है, वह फिर वासना का शिकार नहीं होता। २. हे **स्वोजः**=शोभन बलवाले **विरप्शिन्**=महान् प्रभो! आप **अच्युता चित्**=दूसरों से च्युत न करने योग्य **वीळिता**=बड़ी दृढ़, प्रबल **दृळहा**=स्थिर भी शत्रुओं की पुरियों की **धृषता**=शत्रुधर्षक शक्ति से **विरुजः**=विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही वस्तुतः हमारे मनों में पूरण की भावना को पैदा करके हमें संसारमाया में फँसने से बचाते हैं। प्रभु ही आसुरभावों को विनष्ट करते हैं। 'काम-क्रोध-लोभ' की नगरियों का विनाश प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

दुर्गम भी धर्मपथ का आक्रमण

तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत्परितंसयध्यै।
स नो वक्षदनिमानः सुवह्मेन्द्रो विश्वान्यति दुर्गहाणि ॥ ७ ॥

१. मैं **तम्**=उस **वः शविष्ठम्**=तुम सबके अतिशयेन बलवाले **प्रत्नम्**=पुरातन प्रभु को **प्रत्नावत्**=अपने से पूर्व के ज्ञानियों के समान **नव्यस्या धिया**=अत्यन्त प्रशस्त बुद्धि के द्वारा

परितंसयध्यै=अपने जीवन में अलंकृत करने में प्रवृत्त होता हूँ। प्रभु ही सर्वशक्तिमान् हैं। वे ही सबकी शक्ति हैं 'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्'। प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु के द्वारा अपने जीवन को अलंकृत करें और. प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनें। २. **सः**=वे **अनिमानः**=मानरहित—शक्ति से शून्य परिमाणातीत **सुवह्ना**=शोभनतया संसार का वहन करनेवाले **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः**=हमें **विश्वानि**=सब **दुर्गहाणि**=दुस्तर मार्गों से **अतिवक्षत्**=पार प्राप्त कराएँ। प्रभु हमें इस योग्य बनाएँ कि 'निशित दुरत्यय क्षुरधारा' के समान दुर्गम मार्ग का भी हम अतिक्रमण कर सकें।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन द्वारा प्रभु की भावना से अपने जीवनों को अलंकृत करते हुए हम शक्ति प्राप्त करें और दुर्गम भी धर्म के मार्ग का पूर्ण आक्रमण कर सकें।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

द्रुह्वणे ब्रह्मद्विषे

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा।
तपा वृषन्विश्वतः शोचिषा तान्ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च ॥ ८ ॥

१. हे **वृषन्**=शक्तिशालिन् प्रभो! आप **द्रुह्वणे**=द्रोह (जिघांसा) की भावनावाले **जनाय**=पुरुष के लिए **पार्थिवानि**=पृथिवी पर होनेवाले, **दिव्यानि**=द्युलोक में होनेवाले तथा **अन्तरिक्षा**=अन्तरिक्ष में होनेवाले पदार्थों को **आदीपयः**=समन्तात् तपाइए। ये सब पदार्थ द्रोही पुरुष को संताप देनेवाले हों। २. हे वृषन्! आप **विश्वतः**=सब ओर से **तान्**=उन द्रोही जनों को **शोचिषा**=अपनी संतापक शक्ति से **तपा**=संतप्त कीजिए। **ब्रह्मद्विषे**=इस ज्ञान से अप्रीति रखनेवाले पुरुष के लिए **क्षाम्**=पृथिवी को **च**=और **अपः**=जलों को **शोचय**=दीप्त व संतप्त कर डालिए। इन ब्रह्मद्विट् द्रोहियों को ये पदार्थ दुःखद हों।

भावार्थ—संसार के सब पदार्थ द्रोह करनेवाले, ज्ञान में अरुचिवाले पुरुषों के लिए संतापक हों।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'दिव्यस्य जनस्य-पार्थिवस्य-जगतः' राजा

भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस्त्वेषसंदृक्।
धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि मायाः ॥ ९ ॥

१. हे **त्वेषसंदृक्**=दीप्त संदर्शन—दीप्त प्रकाश के रूप में दिखनेवाले प्रभो! आप **दिव्यस्य जनस्य**=देववृत्ति के—प्रकाशमय जीवनवाले लोगों के **राजा भुवः**=जीवनों को दीप्त करनेवाले हैं। इनको ज्ञान का प्रकाश व तेजस्विता आप ही प्राप्त कराते हैं। इसीप्रकार **पार्थिवस्य जगतः**=इस पार्थिव जगत् के भी आप ही राजा हैं—यहाँ सब ज्योतिर्मय पिण्डों को आप ही ज्योति प्राप्त कराते हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' २. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **दक्षिणे हस्ते**=दाहिने हाथ में **वज्रं धिष्व**=वज्र को धारण कीजिए। हे **अजुर्य**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! आप उस धारण किये गये वज्र से **विश्वाः**=सब **मायाः**=आसुरी मायाओं को **विदयसे**=विशेषरूप से बाधित करते हैं।

भावार्थ—सब दिव्यजनों को व सूर्य आदि ज्योतिर्मय पिण्डों को दीप्ति देनेवाले प्रभु ही हैं। प्रभु ही वज्र के द्वारा आसुरी माया का बाधन करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

दास से आर्य

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम्।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **शत्रुतूर्याय**=शत्रुओं के विनाश के लिए **बृहतीम्**=वृद्धि की कारणभूत **अमृध्राम्**=हिंसित न होनेवाली **संयतं स्वस्तिम्**=संयमरूप कल्याणकारिणीवृत्ति को **आकरः**=करनेवाले होइए। संयमवृत्ति को अपनाते हुए हम कल्याण को सिद्ध कर सकें। २. **यया**=जिस संयमवृत्ति से आप **दासानि**=उपक्षीण कर्मवाले लोगों को **आर्याणि**=(ऋ गतौ) नियमित गतिवाला **करः**=कर देते हैं, उस संयमवृत्ति को हमारे लिए भी कीजिए। हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! इस संयमवृत्ति के द्वारा ही आप **नाहुषाणि**=मनुष्य-सम्बन्धी—मनुष्यों में आ-जानेवाली **वृत्रा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **सुतुका**=पूर्णरूप से हिंसित कर डालते हैं। इन वासनाओं के विनाश से ही तो हमारा कल्याण होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें कल्याणकारिणी संयमवृत्ति को प्राप्त कराके दास से आर्य बना दें तथा वासना-विनाश द्वारा हमें कल्याणभाक् बनाएँ।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

न अदेवः वरते, न देवः

स नो नियुद्भिः पुरुहूत वेधो विश्ववाराभिरा गहि प्रयज्यो।
न या अदेवो वरते न देव आभिर्याहि तूयमा मद्र्यद्रिक्॥ ११॥

१. हे **पुरुहूत**=बहुतों-से पुकारे जानेवाले **वेधः**=विधातः! **सः**=वे आप **नः**=हमें **विश्ववाराभिः**=सबसे वरने योग्य **नियुद्भिः**=इन्द्रियाश्वों के साथ **आगहि**=प्राप्त होइए। हमें उन इन्द्रियाश्वों को दीजिए, जिन्हें कि सब चाहें। २. हे **प्रयज्यो**=प्रकर्षेण यष्टव्य (पूज्य) प्रभो! आप हमें उन इन्द्रियाश्वों को दीजिए, **याः**=जिन्हें कि **अदेवः न वरते**=कोई भी आसुरभाव धर्मपथ पर आगे बढ़ने से रोक नहीं पाता और जिन्हें **देवः**='क्रीड़ा, मद व स्वप्न' का भाव भी रोकनेवाला नहीं होता। हे प्रभो! आप **आभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **तूयम्**=शीघ्र ही **मद्र्यद्रिक्**=अस्मदभिमुख दृष्टिवाले होकर **आयाहि**=आइए।

भावार्थ—प्रभु हमें इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराएँ जो न तो आसुरभावों से आक्रान्त होते हैं और नहीं 'क्रिड़ा, मद व स्वप्न' के वशीभूत हो जाते हैं।

इसप्रकार इन्द्रियाश्वों को पूर्णरूप से वश में करनेवाला व अपने निवास को उत्तम बनानेवाला यह व्यक्ति 'वसिष्ठ' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

तिग्मशृंगो वृषभो न भीमः

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः॥ १॥

१. हे इन्द्र! **यः**=जो आप हैं वे **तिग्मशृंगः**=तीक्ष्ण सींगोंवाले **वृषभः न**=बैल के समान **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर हैं। **एकः**=आप अकेले ही **विश्वाः कृष्टीः**=सब शत्रुभूत मनुष्यों

को **प्रच्यावयति**=स्थानभ्रष्ट करते हैं। प्रभु को हम हृदय में उपासित करते हैं, प्रभु हमारे शत्रुओं को वहाँ से भगा देते हैं—वहाँ काम-क्रोध आदि का स्थान नहीं रहता। २. हे प्रभो! **यः**=जो आप हैं, वे **अदाशुषः**=अदानशील **शश्वतः**=व्यापारादि के लिए प्लुतगतिवाले-व्यापार में ख़ूब निमग्न पुरुष के **गयस्य**=धन के (Welth) **प्रयन्ता**=(restrain, stop, suppress) निग्रह करनेवाले **असि**=हैं और **सुष्वितराय**=अतिशयेन यज्ञशील पुरुष के लिए **वेदः**=धन को **प्रयन्त असि**=देनेवाले हैं (offer, give)।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं। अदानशील पुरुषों के धन का निग्रह करते हैं और यज्ञशील पुरुषों के लिए धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कुत्स का रक्षण

त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वं ह**=आप निश्चय से **कुत्सम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष का **आवः**=रक्षण करते हैं। **त्यत्**=तब (तत्) यह **समर्ये**=इस जीवन-संग्राम में **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार के साथ **शुश्रूषमाणः**=सदा गुरुजनों से ज्ञान के श्रवण की कामनावाला होता है। प्रभु से रक्षित व्यक्ति शक्तियों का विस्तार करता है और ज्ञान-प्राप्ति के लिए यत्नशील होता है। २. हे प्रभो! **यत्**=जब **अस्मै**=इस कुत्स के लिए **दासम्**=शक्तियों का उपक्षय कर देनेवाले क्रोध को, **शुष्णम्**=सुखा देनेवाले काम को तथा **कुयवम्**=सब बुराइयों का मिश्रण करनेवाले लोगों को **नि अरन्धय**=पूर्णरूप से वशीभूत करते हैं तब इस **आर्जुनेयाय** (अर्जुनी=श्वेता) अर्जुनी पुत्र के लिए—अत्यन्त श्वेत (शुद्ध) जीवनवाले के लिए **शिक्षन्**=धनों को देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम वासनाओं के संहार के लिए यत्नशील हों। प्रभु हमारे काम, क्रोध, लोभ का विनाश करेंगे और हमें शुद्ध जीवनवाला बनाकर धन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीतहव्य, सुदास, पौरुकुत्सि, त्रसदस्यु, पूरु

त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम्।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्॥ ३॥

१. हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभो! आप **धृषता**=शत्रुधर्षक बल को प्राप्त कराके **वीतहव्यम्**=हव्य का भक्षण करनेवाले—यज्ञशेष का सेवन करनेवाले—यज्ञशील पुरुष को **प्रावः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। आप **सुदासम्**=वासना का सम्यक् उपक्षय करनेवाले को (दस् उपक्षये) अथवा दानशील पुरुष को (दा) **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के द्वारा रक्षित करते हैं। २. आप **पौरुकुत्सिम्**=वासनाओं का खूब ही संहार करनेवाले को तथा **त्रसदस्युम्**=जिससे दास्यव वृत्तियाँ भयभीत होकर दूर रहती हैं, उस त्रसदस्यु को **प्र आवः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। आप **वृत्रहत्येषु**=संग्रामों में **क्षेत्रसाता**=उत्तम शरीर-क्षेत्र की प्राप्ति के निमित्त **पूरुम्**=अपना पालन व पूरण करनेवाले को रक्षित करते हैं।

भावार्थ—हम 'वीतहव्य-सुदास-पौरुकुत्सि-त्रसदस्यु-व पूरु' बनें और इसप्रकार प्रभु से रक्षणीय हों।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'दस्यु, चुमुरि, धुनि' का स्वापन

त्वं नृभिर्नृमणो देववीतौ भूरीणि वृत्रा हर्यश्व हंसि।
त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चास्वापयो दभीतये सुहन्तु॥ ४॥

१. हे **नृमणः**=(नृभिः मननीय) उन्नति-पथ पर चलनेवाले पुरुषों से मनन के योग्य, **हर्यश्व**=तेजस्वी इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **देववीतौ**=दिव्यगुणों के प्रापण के निमित्त **नृभिः**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले माता-पिता व आचार्यों द्वारा **भूरीणि वृत्रा**=बहुत-सी वासनाओं को **हंसि**=विनष्ट करते हैं। २. आप ही **दभीतये**=वासनाओं के संहार में प्रवृत्त मनुष्य के लिए **सुहन्तु**=उत्तम हननसाधन वज्र के लिए **दस्युम्**=शक्तियों को क्षीण करनेवाले क्रोधरूप दस्यु को **चुमुरिम्**=शक्तियों को पी जानेवाली कामवासना को **च**=और **धुनिम्**=सब गुणों को कम्पित करके दूर करनेवाले लोभ को **नि अस्वापयः**=निश्चय से सुला देते हैं। ये 'दस्यु, चुमुरि व धुनि' दबे पड़े रहते हैं। ये प्रबल होकर इस दभीति का विनाश नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्रभु ही हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं। वे दभीति के लिए 'दस्यु, चुमुरि व धुनि' को सुला-सा देते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

न वृत्र, न नमुचि

तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत्पुरो नवतिं च सद्यः।
निवेशने शततमाविवेषीरहं च वृत्रं नमुचिमुताहन्॥ ५॥

१. हे **वज्रहस्त**=वज्र को हाथ में लिये हुए प्रभो! **तानि**=वे **च्यौत्लनि**=शत्रुओं को च्युत करनेवाले बल **तव**=आपके ही हैं, **यत्**=जब आप **नव नवतिं च**=शत्रुओं की निन्यानवें पुरियों को **सद्यः**=शीघ्र ही **अहन्**=नष्ट कर डालते हैं। २. असुरों की निन्यानवें नगरियों को नष्ट करके **निवेशने**=उत्तम जीवन के निवेशन की निमित्त **शततमा**=सौवीं पुरी में **अविवेषी**=आप व्याप्त होते हैं **च**=और आप **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **अहन्**=विनष्ट करते ही हैं, **उत**=और **नमुचिम्**=पवित्रात्माओं का भी पीछा न छोड़नेवाली अहंकारवृत्ति को भी **अहन्**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपनी प्रबल शक्ति से असुरों की निन्यानवें नगरियों का विध्वंस करके हमें उत्तम निवास के लिए सौवीं नगरी को प्राप्त कराते हैं, जिसमें न वृत्र का स्थान हो, न नमुचि का। वस्तुतः यह सौवीं देवपुरी काम व अहंकार से शून्य है।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

रातहव्य-दाश्वान्-सुदास्

सना ता त इन्द्र भोजनानि रातहव्याय दाशुषे सुदासे।
वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजम्॥ ६॥

१. हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ता**=वे **ते**=आपके **भोजनानि**=पालन करनेवाले धन **रातहव्याय**=दत्तहविष्यक—यज्ञशील पुरुष के लिए तथा **दाशुषे**=दानशील पुरुष के लिए तथा **सुदासे**=वासनाओं का सम्यक् उपक्षय करनेवाले के लिए **सना**=सदा से हैं। 'रातहव्य-दाश्वान्-सुदास्' को आप ये धन प्राप्त कराते ही हैं। २. **वृष्णे ते**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले आपके लिए **वृषणा हरी**=शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों को **युनज्मि**=इस शरीर-रथ में जोड़ता हूँ, अर्थात् इन इन्द्रियों को मैं ज्ञान-प्राप्ति व यज्ञादि कर्मों में लगाये रखता हूँ। हे **पुरुशाक**=अनन्तशक्तिसम्पन्न

प्रभो! आपके ये उपासक **ब्रह्माणि**=ज्ञान की वाणियों को तथा **वाजम्**=बल को **व्यन्तु**=विशेष रूप से प्राप्त हों। कर्मेन्द्रियाँ इन्हें सबल बनाएँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशमय।

भावार्थ—प्रभु यज्ञशील दानी व वासनाओं से ऊपर उठे हुए व्यक्तियों को धन प्राप्त कराते हैं। प्रभु के उपासक सदा इन्द्रियों को कर्त्तव्यकर्मों में लगाये रखकर ज्ञान व शक्ति प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मा अघाय, मा परादै

मा ते॑ अ॒स्यां स॑हसाव॒न्परि॑ष्टाव॒घाय॑ भूम हरिवः परा॒दै।
त्राय॑स्व नोऽवृ॒केभि॒र्वरू॑थै॒स्तव॑ प्रि॒यासः॑ सू॒रिषु॑ स्याम॥ ७॥

१. हे **सहसावन्**=शत्रुओं को कुचलनेवाले बल से सम्पन्न, **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! हम **ते**=आपके **अस्याम्**=इस **परिष्टौ**=अन्वेषणा में (In search of thee) **अघाय**=पाप के लिए **माभूम**=मत हों। **परादै**=परादान के लिए—आपसे त्यागे जाने के लिए न हों। आपकी खोज में लगे हुए हम न तो पापों में फँसे और न ही आप से परित्यक्त हों। २. आप **नः**=हमें **अवृकेभिः**=बाधा से शून्य (अबाधैः सा०) **वरूथैः**=रक्षणों द्वारा **त्रायस्व**=रक्षित कीजिए। हम **तव प्रियासः**=आपके प्रिय हों और **सूरिषु स्याम**=ज्ञानियों में गिनतीवाले हों—ज्ञान-प्रधान जीवन बिताएँ।

भावार्थ—प्रभु की खोज में लगे हुए हम प्रभु से परित्यक्त न हों—पाप में न फँसे। प्रभु द्वारा रक्षित होकर कर्त्तव्य-कर्मों में लगे हुए हम प्रभु के प्रिय बनें—ज्ञानप्रधान जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रियासः इत् ते

प्रि॒यास॒ इत्ते॑ मघवन्न॒भिष्टौ॒ नरो॑ मदेम शर॒णे सखा॑यः।
नि तु॒र्वशं॒ नि याद्वं॑ शिशीह्यतिथि॒ग्वाय॒ शंस्यं॑ करि॒ष्यन्॥ ८॥

१. हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते अभिष्टौ**=आपके अन्वेषण में—प्रार्थना व आराधना में **प्रियासः इत्**=निश्चय से आपके प्रिय होते हुए, **नरः**=उन्नति-पथ पर चलते हुए (ते) **सखायः**=आपके मित्र बनकर **शरणे**=आपकी शरण में **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें। २. हे प्रभो! आप **तुर्वशम्**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करनेवाले उपासक को **निशिशीहि**=खूब तीक्ष्ण कीजिए—इसे तीक्ष्ण-बुद्धि बनाइए। **याद्वम्**=इस यत्नशील मनुष्य को नि (शिशीहि) तीक्ष्ण कीजिए। इसे काम-क्रोध आदि शत्रुओं के लिए भयंकर बनाइए। **अतिथिग्वाय**=अतिथियों के प्रति उनके सत्कार के लिए जानेवाले इस पुरुष के लिए **शंस्यं करिष्यन्**=आप सदा प्रशंसनीय बातों को ही करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की आराधना करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु के प्रिय बनकर प्रभु की शरण में आनन्द का अनुभव करें। शत्रुओं को वश में करनेवाले, यत्नशील व अतिथिसेवी बनें, प्रभु अवश्य हमारा कल्याण करेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उक्थशासः

स॒द्यश्चि॒न्नु ते॑ मघवन्न॒भिष्टौ॒ नरः॑ शंसन्त्युक्थ॒शास॑ उ॒क्था।
ये ते॒ हवे॑भि॒र्वि प॒णीँर॒दाश॑न्न॒स्मान्वृ॑णीष्व॒ युज्या॑य॒ तस्मै॑॥ ९॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते अभिष्टौ**=आपकी अभ्येषणा (प्रार्थना) में **उक्थशासः**=

स्तोत्रों का शंसन करनेवाले **नरः**=स्तोता लोग **सद्यः चित्**=शीघ्र ही **नु**=निश्चय से **उक्था**=स्तोत्रों को **शंसन्ति**=उच्चरित करते हैं। २. **ये**=जो **ते हवेभिः**=आपकी पुकारों से—आराधनाओं से **पणीन्**=वणिक् वृत्तिवालों को **वि अदाशन्**=दानवृत्तिवाला बना देते हैं, उन **अस्मान्**=हमें **तस्मै युज्याय**=उस अपनी मित्रता के लिए **वृणीष्व**=वरिये। हम आपकी मित्रता में चलें। आपकी आराधना करते हुए हम कृपणों को भी दानशील बनाने का यत्न करें।

भावार्थ—प्रभु की आराधना में हम स्तोत्रों का उच्चारण करें। पवित्र जीवनवाले बनते हुए हम कृपणों को भी दानशील बना पाएँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शिवः-सखा-अविता

एते स्तोमा नरां नृतम तुभ्यमस्मद्र्यञ्चो ददतो मघानि।
तेषामिन्द्र वृत्रहत्ये शिवो भूः सखा च शूरोऽविता च नृणाम्॥ १०॥

१. हे **नरां नृतम**=नायकों में सर्वोत्तम नायक प्रभो! **एते स्तोमाः**=ये स्तुतिसमूह **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए हैं। इन स्तोमों द्वारा हम आपको प्राप्त करते हैं। **अस्मद्र्यञ्चो**= हमारे अभिमुख होते हुए ये स्तोम **मघानि ददतः**=ऐश्वर्यों को देते हुए होते हैं। आपका स्तवन करते हुए हम सब आवश्यक ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **वृत्रहत्ये**=संग्राम में **तेषां नृणाम्**=उन उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्यों का **शिवः**=कल्याण करनेवाले **भूः**=होइए **च**=और **सखा**=उनके मित्र होते हुए **शूरः**=उनके शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **च**=और **अविता**=रक्षक होइए।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करनेवाला सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है। प्रभु इनके शत्रुओं को शीर्ण करके इनका कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वाजान्+स्तीन्' (उपमिमीहि)

नू इन्द्र शूर स्तवमान ऊती ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधस्व।
उप नो वाजान्मिमीह्युप स्तीन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ११॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **स्तवमानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **ऊती**=रक्षा के हेतु से **नु**=निश्चय से **वावृधस्व**=हमारा खूब ही वर्धन कीजिए। **ब्रह्मजूतः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा हृदयों में प्रेरित हुए-हुए आप **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार के हेतु से (**वावृधस्व**)=हमारा खूब ही वर्धन कीजिए। २. **नः**=हमारे लिए **वाजान्**=शक्तियों को **उपमिमीहि**=समीपता से निर्मित कीजिए तथा **स्तीन्**=ज्ञान की वाणीरूप शब्दसमूहों का **उप**=निर्माण कीजिए। **यूयम्**=आप सब देव **सदा**=सदा **नः**=हमें **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा **पात**=रक्षित कीजिए।

भावार्थ—स्तुति किये जाते हुए प्रभु हमारा रक्षण करें। प्रभु हमारी शक्तियों का विस्तार करें। हमें बल व ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराएँ।

प्रभु-स्तवन करता हुआ यह व्यक्ति 'इरिम्बिठि' बनता है (ऋ गतौ, बिठं-अन्तरिक्षम्)-क्रियाशीलता की भावना से युक्त हृदयान्तरिक्षवाला होता है तथा 'मधुच्छन्दाः'=मधुर इच्छाओंवाला बनता है। ये इरिम्बिठि व मधुच्छन्दा ही अगले सूक्त में क्रमशः प्रथम तीन व पिछले तीन मन्त्रों के ऋषि हैं—

३८. [अष्टत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभु को हृदय में आसीन करना

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **आयाहि**=आइए। **हि**=निश्चय से **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **सुषुम**=हमने इस सोम का सम्पादन किया है। **इमं सोमं पिब**=आप इस सोम का पान (रक्षण) कीजिए। आपके अनुग्रह से ही हम इस सोम को शरीर में सुरक्षित कर पाएँगे। २. आप सदा ही **मम**=मेरे **इदं बर्हिः**=इस वासनाशून्य हृदय में **आसदः**=आसीन होइए। आपके सान्निध्य से ही वासनाओं का यहाँ प्रवेश नहीं होता। वासनाओं के अभाव में ही सोम का पान सम्भव होता है। इस सुरक्षित सोम के द्वारा हम 'सोम' प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम शरीर में सोम का सम्पादन करते हैं। इसके लिए हृदय में प्रभु का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'ब्रह्मयुजा केशिना' हरी

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना। उप ब्रह्माणि नः शृणु॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ब्रह्मयुजा**=ज्ञान के साथ मेलवाले **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले **हरी**=इन्द्रियाश्व **त्वा**=आपको **आवहताम्**=हमारे लिए प्राप्त करानेवाले हों। हम इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त हुए-हुए अपने में ज्ञानरश्मियों को बढ़ानेवाले हों। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। २. हे प्रभो! **उप**=हमें हृदयों में समीपता से प्राप्त हुए-हुए आप **नः**=हमसे किये जानेवाले **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को **शृणु**=सुनिए।

भावार्थ—इन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाते हुए हम प्रभु के समीप हों। हृदयस्थ प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

ब्रह्माणः+सोमिनः

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः। सुतावन्तो हवामहे॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा युजा**=तुझ साथी के साथ **ब्रह्माणः**=ज्ञानवाले बनते हैं—हम अपने जीवन की साधना इसप्रकार करते हैं कि यह ज्ञान-प्रधान बने। २. **सुतावन्तः**=सोम का सम्पादन करनेवाले हम **सोमपाम्**=सोम का रक्षण करनेवाले ज्ञान को **हवामहे**=पुकारते हैं और **सोमिनः**=सोमी बनते हैं—सोम का रक्षण करनेवाले बनते हैं। इस सुरक्षित सोम ने ही तो हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हमें 'ज्ञानी' (ब्रह्माणः) बनाना है।

भावार्थ—प्रभुरूप मित्र को पाकर हम सोम का रक्षण करते हुए दीप्त ज्ञानाग्निवाले बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

गाथिनः-अर्किणः

इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत॥ ४॥

१. **गाथिनः**=साम वाणियों का गायन करनेवाले **इत्**=निश्चय से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **बृहत्**=खूब ही **अनूषत**=स्तुत करते हैं। २. **अर्किणः**=ऋङ्मन्त्रों द्वारा अर्चन करनेवाले

उपासक **अर्केभिः**=ऋचाओं के द्वारा **इन्द्रम्**=उस प्रभु का ही पूजन करते हैं। ३. **वाणीः**=यजूरूप वाणियाँ भी **इन्द्रम्**=उस प्रभु को ही स्तुत करती हैं।

भावार्थ—हम 'ऋग्-यजु-साम' मन्त्रों से प्रभु का ही पूजन करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वज्री हिरण्ययः

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **इत्**=निश्चय से **हर्योः**=इन इन्द्रियाश्वों का **संमिश्लः**=हमारे साथ मिलानेवाला है। ये ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **सचा**=परस्पर मेलवाले होते हैं और **वचोयुजा**=शास्त्रवचनों के अनुसार कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ मिलकर कार्य करती हैं और शास्त्रवचनों का उल्लंघन न करती हुई अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं। २. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **वज्री**=वज्रहस्त है—क्रियाशील है। क्रियाशीलता ही वस्तुतः इनका वज्र है। **हिरण्ययः**=ये ज्योतिर्मय हैं—ज्ञानज्योति से दीप्त हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त कर्मेन्द्रियाँ हमें वज्री बनाएँ और ज्ञानेन्द्रियाँ हिरण्यय बनानेवाली हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सूर्य व ज्ञानरश्मियाँ

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥

१. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **दीर्घाय चक्षसे**=अन्धकार का विदारण कर देनेवाले विशाल प्रकाश के लिए **सूर्यम्**=सूर्य को **दिवि आरोहयत्**=द्युलोक में आरूढ़ करते हैं। सूर्योदय हुआ और अन्धकार भागा। २. इसी प्रकार हमारे जीवनों में भी वे प्रभु **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों व ज्ञान की रश्मियों से **अद्रिम्**=अविद्यापर्वत को **वि ऐरयत्**=विशिष्ट रूप से कम्पित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही बाह्यजगत् को सूर्य के द्वारा तथा आन्तरिक जगत् को ज्ञानरश्मियों द्वारा प्रकाशमय करते हैं।

इन ज्ञानरश्मियों को पाकर यह पवित्र जीवनवाला व्यक्ति मधुर इच्छाओं को करता हुआ 'मधुच्छन्दा' होता है। यही अगले सूक्त के प्रथम मन्त्र का ऋषि है। शेष मन्त्रों के ऋषि 'गोषूक्ति व अश्वसूक्ति' हैं, जिनकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ सदा उत्तम कर्मों को करनेवाली हैं—

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

केवलः

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः ॥ १ ॥

१. हम **वः इन्द्रम्**=तुम सबके शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **विश्वतःपरि**=सब ओर से इन्द्रियों को विषयों से पृथक् करके (परि-वर्जने) **जनेभ्यः**=सब लोगों के हित के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। हम प्रभु-स्तवन करते हैं—प्रभु हमारे अन्दर लोकहित की भावनाओं को भरते हैं। २. वे प्रभु **अस्माकम्**=हमारे **केवलः**=आनन्द में संचार करानेवाले **अस्तु**=हों। (क=सुख, वल् संचरणे)।

भावार्थ—प्रभु का आराधक लोकहित में प्रवृत्त होता है। प्रभु इसे आनन्दमय जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

सोमस्य मदे

व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना। इन्द्रो यदभिनद्वलम्॥ २॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **सोमस्य मदे**=सोम-रक्षण से जनित उल्लास के होने पर **अन्तरक्षिम्**=हृदयान्तरिक्ष को **रोचना**=ज्ञानदीप्तियों से **व्यतिरत्**=बढ़ाता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और हृदय ज्ञान के प्रकाश से दीप्त हो उठता है। २. यह सब तब होता है **यत्**=जब **इन्द्रः**=वे शत्रुविद्रावक प्रभु **वलम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **अभिनत्**=विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमारी वासना विनष्ट हो और हम सोम का रक्षण करते हुए हृदयान्तरिक्ष में ज्ञानदीप्ति का अनुभव करें।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'वल' का अपनोदन

उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः। अर्वाञ्चं नुनुदे वलम्॥ ३॥

१. प्रभु **अंगिरोभ्यः**=गतिशील पुरुषों के लिए **गुहासतीः**=अविद्यापर्वत की गुफ़ा में बन्द-सी हुई-हुई **गाः**=इन्द्रियों को **आविष्कृण्वन्**=पुनः अज्ञानान्धकार से बाहर लाते हुए **उद् आजत्**=उत्कृष्ट गतिवाला करते हैं। २. इसी उद्देश्य से वे प्रभु **वलम्**=इस वासना के पर्दे को **अर्वाञ्चं नुनुदे**=अधोमुख करके विनष्ट कर डालते हैं। वासनारूप पर्दे के हटने पर ही तो ज्ञान का प्रकाश होगा।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से वासना विनष्ट होती है और इन्द्रियाँ प्रकाशमय होकर उत्कृष्ट गतिवाली होती हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

दिवः रोचना

इन्द्रेण रोचना दिवो दृढानि दृंहितानि च। स्थिराणि न पराणुदे॥ ४॥

१. **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **दृढानि**=बड़े प्रबल **रोचना**=विज्ञान-नक्षत्र **च**=निश्चय से **दृंहितानि**=दृढ़ किये गये हैं। प्रभु अपने उपासक के मस्तिष्क को ज्ञान-नक्षत्रों से दीप्त कर डालते हैं। २. ये विज्ञान-नक्षत्र **स्थिराणि**=बड़े स्थिर होते हैं। **न पुराणुदे**=ये परे धकेले जाने के लिए नहीं होते। कोई भी वासनारूप शत्रु इन्हें विनष्ट नहीं कर पाता।

भावार्थ—उपासक का मस्तिष्करूप द्युलोक विज्ञान-नक्षत्रों से दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

मदाः

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते। वि ते मदा अराजिषुः॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **अपाम् ऊर्मिः इव**=जलों की तरंग की भाँति **मदन्**=उल्लसित होता हुआ **स्तोमः**=यह स्तवन **अजिरायते**=अत्यन्त शीघ्र गतिवाला होता है। यह स्तोम हमारे मुख से उच्चरित होकर शीघ्रता से आपकी ओर गतिवाला होता है। २. ऐसा होने पर हे प्रभो! **ते मदाः**=आपसे प्राप्त कराये गये उल्लासजनक सोम **वि अराजिषुः**=विशिष्ट रूप से दीप्त होते

हैं। प्रभु-स्तवन से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और सोम-रक्षण होकर आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हैं, परिमाणतः हमारा जीवन शक्ति-सम्पन्न व उल्लासमय बनता है।

अगले सूक्त का ऋषि 'मधुच्छन्दाः' ही है—उत्तम मधुर इच्छाओंवाला—

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

मन्दू समानवर्चसा

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा॥ १॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-स्तवन करनेवाले हे उपासक! तू **अबिभ्युषा**=उस भीतिरहित **इन्द्रेण**=सर्वशक्तिमान् प्रभु से **संजग्मानः हि**=संगत-सा हुआ-हुआ ही **संदृक्षसे**=सम्यक् दृष्टिगोचर होता है। उपासना उसे प्रभु के समीप लाती हुई प्रभु से मिला-सा देती है। 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रम्'। २. इसी वृत्ति में ये दोनों उपासक व उपास्य **मन्दू**=आनन्दमय होते हैं। प्रभु तो आनन्दस्वरूप हैं ही, जीव भी उसके आनन्द में भागी बन जाता है। **समानवर्चसा**=ये उपास्य व उपासक समान दीप्तिवाले हो जाते हैं। उपास्य की दीप्ति से उपासक भी दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—उपासक प्रभु से संगत होकर निर्भय, आनन्दमय व दीप्तरूपवाला बन जाता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'प्रशस्त, ज्योर्तिमय, सबल' जीवन

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति। गणैरिन्द्रस्य काम्यैः॥ २॥

१. **मखः**=एक यज्ञशील पुरुष प्राणसाधना करता हुआ प्राणों के साथ **सहस्वत्**=(बलोपेतं यथा स्यात्तथा सबलम् अर्चति) प्रभु का अर्चन करता है। अर्चना उपासक को सबल बनाती है। २. यह उपासक जिन प्राणों की साधना करता हुआ उपासना करता है वे प्राण **अनवद्यैः**=प्रशस्त हैं—हमें पापों से बचाते हैं, प्राणसाधक से कभी कोई निन्दनीय कर्म नहीं होता। **अभिद्युभिः**=ये ज्ञान-ज्योति की ओर ले-जाते हैं। प्राणसाधना से ज्ञान दीप्त हो जाता है। ये प्राण **गणैः**=गणनीय व प्रशंसनीय हैं, **इन्द्रस्य काम्यैः**=जितेन्द्रिय पुरुष की सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के साथ यज्ञशील बनते हुए प्रभु का अर्चन करें। यह अर्चना हमें प्रशस्त ज्योतिर्मय व सबल जीवनवाला बनाएगी।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

पुनः गर्भत्वम् ऐरिरे

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम्॥ ३॥

१. **आत्**=गतमन्त्र के अनुसार उपासना करने के एकदम बाद ही **अह**=निश्चय से **स्वधाम् अनु**=आत्मधारणशक्ति के अनुसार, अर्थात् जितना-जितना आत्मधारण करते हैं उतना-उतना **पुनः**=फिर **गर्भत्वम् एरिरे**=परमात्मा की गोद में होने की स्थिति को अपने में प्रेरित करते हैं। अपने को ये प्रभु की गोद में अनुभव करते हैं। इनका जप यही होता है 'अमृतोपस्तरणमसि, अमृतापिधानमसि'=अमृत प्रभो! आप ही हमारे उपस्तरण हो, आप ही अपिधान हो। २. ये उपासक उस प्रभु के **यज्ञियम् नाम**=पवित्र नाम को **दधानाः**=धारण करते हुए होते हैं। यह नाम-जप उन्हें प्रेरणा देता है। इस प्रेरणा से वे भी प्रभु-जैसा बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—उपासक आत्मधारणशक्ति के अनुपात में अपने को प्रभु की गोद में अनुभव करता है। यह प्रभु के पवित्र नामों का जप करता है।

इसप्रकार पवित्र जीवनवाला प्रशस्तेन्द्रिय यह उपासक 'गोतम' होता है—अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला यह प्रभु-स्तवन करता है—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

दधीचि की अस्थियों से वृत्र का विनाश

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव ॥ १ ॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **दधीचः**=(ध्यानं प्रत्यक्तः) ध्यानी पुरुष की **अस्थभिः**=(असु क्षेपणे) विषयों को दूर फेंकने की शक्तियों से **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **नवतीः नव**=निन्यानवे वार **जघान**=नष्ट करता है। इन वृत्रों के विनाश से ही शतवर्ष तक जीवन पवित्र बना रहता है। २. ध्यान-परायण व्यक्ति ही 'दध्यङ्' है। विषयों को दूर फेंकने की वृत्तियाँ ही अस्थियाँ हैं। वासना ही वृत्र है। यह ध्यानी पुरुष प्रभु के ध्यान द्वारा विषयवासनाओं को परे फेंकनेवाला बनता है। **अप्रतिष्कुतः**=यह प्रतिकूल शब्द से रहित होता है, अर्थात् कोई भी इसका प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहता। यह सब वासनाओं का पराजय करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु का ध्यान करते हुए प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनकर वासनाओं को दूर फेंकनेवाले बनें।

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

शर्यणावान् में अश्व के शिर की प्राप्ति

इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्। तद्विदच्छर्यणावति ॥ २ ॥

१. **पर्वतेषु**=शरीर में मेरुदण्डरूप मेरुपर्वतों पर **अपश्रितम्**=उल्टा करके रखा हुआ (अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः) **अश्वस्य यत् शिरः**=(अश्नुते) सब विषयों का व्यापन करनेवाला जो सिर है। **तत्**=उसको **इच्छन्**=चाहता हुआ साधक **शर्यणावति विदत्**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले व्यक्ति में **विदत्**=प्राप्त करता है। २. यहाँ 'पर्वत' मेरुदण्ड ही है। वासना-विनाश के द्वारा सब विषयों का ज्ञान करनेवाला मस्तिष्क ही 'अश्व' का मस्तिष्क है। वासनाओं का हिंसन करनेवाला व्यक्ति 'शर्यणावान्' है।

भावार्थ—यदि हम चाहते हैं कि शरीर में मेरुदण्ड पर उलटा-सा पड़ा हुआ यह हमारा सिर सब विषयों के ज्ञान का व्यापन करनेवाला बने तो हमें चाहिए कि हम वासनाओं का हिंसन करनेवाले बनें।

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

चन्द्रमा के घर में

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्य ँम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ३ ॥

१. **अत्र अह**=यहाँ ही, गतमन्त्र के अनुसार अश्व के सिर में ही—सब विषयों का व्यापन करनेवाले मस्तिष्क में **गोः अमन्वत**=ज्ञान की वाणियों का—वेदधेनु का मनन करते हैं। इसी मस्तिष्क में वेद का तत्त्व स्पष्ट होता है। यहाँ ही **त्वष्टुः**=उस निर्माता के **अपीच्यम्**=सर्वत्र अन्तर्हित **नाम**=तेज व यश को भी जान पाते हैं। ये गतमन्त्र के शर्यणावान् पुरुष ही सूर्य आदि

सब पिण्डों को प्रभु की दीप्ति से दीप्त होता हुआ देखते हैं। २. **इत्था**=इसप्रकार वेदज्ञान को व प्रभु के यश को मनन करते हुए ये व्यक्ति **चन्द्रमसः गृहे**=आह्लादमय प्रभु के गृह में निवास करते हैं (चदि आह्लादे)।

भावार्थ—वासनाशून्य पुरुष के दीप्त मस्तिष्क में ही वेदज्ञान व प्रभु के यश का मनन होता है। यह पुरुष ऐसा करता हुआ आनन्दमय प्रभु में ही निवास करता है।

प्रभु के यश का मनन करनेवाला यह व्यक्ति प्रभु-स्तवनपूर्वक क्रियामय जीवनवाला होता है, अतः यह 'कुरुसुति' कहलाता है। यह इन्द्र का स्तवन करता है—

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कुरुसुतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अष्टापदी वाक्

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्। इन्द्रात्परि तन्वं ममे॥ १॥

१. प्रभु का स्तवन करता हुआ कुरुसुति कहता है कि **अहम्**=मैं **इन्द्रात्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से **वाचम्**=वाणी को **परिममे**=अपने अन्दर निर्मित करता हूँ। उस वेदवाणी को जोकि **अष्टापदीम्**=कर्ता, कर्म आदि के पद से आठ पदोंवाली है। **नवस्रक्तिम्**=जो हमारे जीवन का स्तुत्य (नु स्तुतौ) निर्माण करती है और **ऋतस्पृशम्**=सब सत्य विद्याओं के स्पर्शवाली है। २. यह कुरुसुति ज्ञान की वाणी का अपने अन्दर निर्माण करता हुआ **तन्वम्**=शक्तियों के विस्तार को अपने अन्दर निर्मित करता है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासन के द्वारा अपने अन्दर सत्य-ज्ञान की वाणियों का निर्माण करते हुए शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों।

ऋषिः—**कुरुसुतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

क्रक्षमाण

अनु त्वा रोदसी उभे क्रक्षमाणमकृपेताम्। इन्द्र यद्दस्युहाभवः॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जब तू **दस्युहा अभवः**=वासनारूप दास्यव वृत्तियों को नष्ट करनेवाला होता है तब **क्रक्षमाणम्**=शत्रुओं को कुचलनेवाले **त्वा अनु**=तेरे अनुसार **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर **अकृपेताम्**=सामर्थ्य-सम्पन्न बनते हैं।

भावार्थ—जितना-जितना हम काम-क्रोध आदि का विनाश कर पाएँगे, उतना-उतना ही शरीर व मस्तिष्क को शक्तिशाली बना पाएँगे।

ऋषिः—**कुरुसुतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शिप्रे अवेपयः

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः। सोममिन्द्र चमू सुतम्॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **चमू सुतम्**=(चम्वोः द्यावापृथिव्योः) शरीर व मस्तिष्क के निमित्त उत्पन्न किये गये **सोमम्**=सोम को—वीर्यशक्ति को **पीत्वी**=अपने अन्दर ही पीकर **ओजसा सह**=ओजस्विता के साथ **उत्तिष्ठन्**=उन्नत होता हुआ **शिप्रे अवेपयः**=शत्रुओं के जबड़ों को कम्पित कर देता है। २. सोम-रक्षण से शरीर में शक्ति तथा मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति का निवास होता है। इसी स्थिति में हम शत्रुओं से पराभूत नहीं होते।

भावार्थ—सोम-रक्षण द्वारा शक्ति व ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करके उन्नत होते हुए हम शत्रुओं

को कम्पित करनेवाले हों।

सब शत्रुओं को कम्पित करनेवाला यह व्यक्ति—'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को दीप्त करके 'त्रिशोक' बनता है। अगला सूक्त इस त्रिशोक का ही है—

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—त्रिशोकः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

द्विषः-बाधो-मृधः (परिजहि)

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः। वसु स्पार्हं तदा भर॥ १॥

१. **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **भिन्धि**=विदीर्ण कर दीजिए। हमारे जीवन में द्वेष का साम्राज्य न हो। हम सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्तनेवाले बनें। **बाधः**=उन्नति के मार्ग में बाधक बनी हुई अशुभवृत्तियों को या व्यक्तियों को **परिजहि**=हमसे दूर कीजिए। (हन् गतौ)। इसी प्रकार **मृधः**=हमें मार डालनेवाली दास्यव वृत्तियों को भी हमसे दूर कीजिए। २. द्वेषों को, बाधाओं को व दास्यव वृत्तियों को हमसे पृथक् करके **तत्**=उस **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धन को **आभर**=सर्वथा प्राप्त कराइए जोकि **स्पार्हम्**=स्पृहणीय है—सबसे प्राप्त करने के लिए वाञ्छनीय है।

भावार्थ—प्रभु हमसे द्वेषों, बाधाओं व शत्रुओं को पृथक् कर स्पृहणीय धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—त्रिशोकः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

वीडु-स्थिर-पर्शाने

यद्वीडाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्। वसु स्पार्हं तदा भर॥ २॥

१. **यत्**=जो धन **वीडौ**=दृढ़, सबल शरीरवाले पुरुष में है, हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **स्थिरे**=स्थिर-शान्त चित्तवृत्तिवाले पुरुष में है और **यत्**=जो **पर्शाने**=विचारशील पुरुष में **पराभृतम्**=धारण किया गया है। **तत्**=उस **स्पार्हम्**=स्पृहणीय **वसु**=धन को **आभर**=हमारे लिए प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम उस स्पृहणीय धन को प्राप्त करें, जिसे प्राप्त करके हम दृढ़ शरीरवाले, स्थिर चित्तवृत्तिवाले तथा विचारशील बन पाएँ।

ऋषिः—त्रिशोकः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

विश्वमानुष

यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति। वसु स्पार्हं तदा भर॥ ३॥

१. **यस्य**=जिस **ते दत्तस्य**=आपसे दिये हुए **भूरेः**=पालन व पोषण के साधनभूत (भृ-धारणपोषणयोः) धन को **विश्वमानुषः**=अपने परिवार में सभी को सम्मिलित करनेवाला—वसुधाकुटुम्बी-पुरुष **वेदति**=प्राप्त करता है, **तत्**=उस **स्पार्हम् वसु**=स्पृहणीय धन को **आभर**=हमारे लिए भी प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम सारे विश्व को अपना परिवार समझते हुए 'विश्वमानुष' बनें। हम प्रभु-प्रदत्त धन के द्वारा सभी के पालन के लिए यत्नशील हों। प्रभु के अनुग्रह से हमें यह 'विश्वमानुष' को मिलनेवाला स्पृहणीय धन प्राप्त हो।

'विश्वमानुष' बनने के लिए क्रियाशीलता नितान्त आवश्यक है। कितना बड़ा बोझ हमारे कन्धों पर आ पड़ा है। अकर्मण्यता से इसे कैसे उठा पाएँगे, अतः क्रियाशीलता के संकल्पवाला

यह व्यक्ति 'इरिम्बिठि' कहलाता है—(बिठम् अन्तरिक्षम्) जिस के हृदय में क्रियाशीलता की भावना है। यह इन्द्र का स्तवन करता है—

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

सम्राट्-मंहिष्ठ

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः। नरं नृषाहं मंहिष्ठम्॥ १॥

१. **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **सम्राजम्**=जीवनों को सम्यक् दीप्त करनेवाले **नव्यम्**=स्तुति के योग्य **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=इन ज्ञानपूर्वक उच्चारित स्तुतिवाणियों से **प्रस्तोत**=प्रकर्षेण स्तुत करो। यह स्तवन ही हमें श्रमशील व परिणामतः दीप्त जीवनवाला बनाएगा। २. उस प्रभु का स्तवन करो जोकि **नरम्**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले हैं। **नृषाहम्**=हमारे शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं, **मंहिष्ठम्**=दातृतम हैं—सर्वाधिक दाता हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु ही हमारे जीवनों को दीप्त बनानेवाले हैं, उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले हैं, हमारे शत्रुओं का पराभव करते हैं और हमें सब-कुछ देते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

उक्थानि श्रवस्या

यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या। अपामवो न समुद्रे॥ २॥

१. उस प्रभु का स्तवन करो **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **विश्वानि उक्थानि**=सब स्तोत्र **रण्यन्ति**=रमणीय होते हैं **च**=और उस प्रभु का ही स्तवन करो जिससे **श्रवस्या** (श्रवस्यम्=Glory)=सब यश इसप्रकार रमणीय होते हैं, **न**=जैसेकि **अपाम् अवः**=जलों का प्रवाह **समुद्रे**=समुद्र में। २. सब जल-प्रवाहों का अन्तिम निधान समुद्र है, इसी प्रकार सब स्तोत्रों व यशों का निधान प्रभु हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु का स्तवन करे जो सब स्तोत्रों व यशों का निधान हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

ज्येष्ठराट्-भरे कृत्नु

तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम्। महो वाजिनं सनिभ्यः॥ ३॥

१. **तम्**=उस **ज्येष्ठराजम्**=सबसे महान् सम्राट्, **भरे कृत्नुम्**=संग्राम में कुशल प्रभु को **सुष्टुत्या**=उत्तम स्तुति से **आविवासे**=पूजित करता हूँ। २. उस प्रभु का मैं पूजन करता हूँ जो **सनिभ्यः**=संभजन करनेवालों के लिए **महः वाजिनम्**=महनीय शक्ति देनेवाले हैं। अपने उपासक को प्रभु महान् शक्ति प्रदान करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सबसे बड़े समुद्र हैं, युद्धों में प्रभु ही विजय प्राप्त कराते हैं। उपासकों के लिए शक्ति देनेवाले हैं।

प्रभु से शक्ति प्राप्त करके यह स्तोता वास्तविक सुख का निर्माण करनेवाला होता है—'शुनःशेप' बनता है। यह देवों में दान देनेवाला 'देवरात' भी कहलाता है। यह प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है—

४५. [पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—शुनःशेपो देवरातापरनामा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

क-पोतः

अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम्। वचस्तच्चिन्न ओहसे॥ १॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे जीव! **अयम्**=यह सोम **उ**=निश्चय से **ते**=तेरा है, तेरे लिए उत्पन्न किया गया है। **सम् अतसि**=तू इसे सम्यक् प्राप्त करता है। यह तेरे लिए **क-पोतः इव**=आनन्द की नाव के समान है। तेरे सारे आनन्दों का निर्भर इसी पर है। २. इस सोम के रक्षण से ही तू **नः**=हमारे **तत् वचः**=उस वेदवाणीरूप ज्ञानवचन को **चित्**=भी **आ ऊहसे**=सम्यक् जाननेवाला होता है जो **गर्भधिम्**=अपने अन्दर सम्पूर्ण सत्य-ज्ञान को धारण करनेवाला है। सोम ही सुरक्षित होकर हमें दीप्त बुद्धिवाला बनाकर इसके समझने के योग्य बनाता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमारी उन्नति के लिए सोम का सम्पादन किया है। यह सुख देनेवाला है। दीप्त बुद्धि बनाकर हमें ज्ञान की वाणियों के तत्त्वों को समझने के योग्य बनाता है।

ऋषिः—शुनःशेपो देवरातापरनामा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

राधानां पते

स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते। विभूतिरस्तु सूनृता॥ २॥

१. हे **वीर**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले! **राधानां पते**=सोम-रक्षण द्वारा सफलताओं के स्वामिन्! **गिर्वाहः**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले जीव! **यस्य ते**=जिस तेरा **स्तोत्रम्**=यह प्रभु-स्तवन चलता है, उस तेरी **विभूतिः अस्तु**=विशिष्ट ऐश्वर्यशालिता हो तथा ऐश्वर्य के साथ **सूनृता**=सदा प्रिय, सत्य वाणी हो।

भावार्थ—सोम-रक्षण करनेवाला पुरुष वीर तो बनता ही है। वह जीवन में कभी असफल नहीं होता। यह ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाला बनता है। ऐसा बनकर सदा प्रभु-स्तवन करता है। परिणामतः विशिष्ट ऐश्वर्य प्राप्त करके भी सदा प्रिय, सत्य वाणीवाला—सौम्य स्वभाव होता है।

ऋषिः—शुनःशेपो देवरातापरनामा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

प्रभु-प्रेरणा से कार्य करें

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन्वाजे शतक्रतो। समन्येषु ब्रवावहै॥ ३॥

१. गतमन्त्र का सौम्य पुरुष प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानवाले प्रभो! **अस्मिन् वाजे**=इस जीवन-संग्राम में **नः ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **ऊर्ध्वः तिष्ठ**=आप सदा ऊपर स्थित हों—जागरित रहें। हमें सदा आपका रक्षण प्राप्त हो। २. हम **अन्येषु**=जीवन के अन्य सब कार्यों में भी **सं ब्रवावहै**=मिलकर बात कर लें, अर्थात् आपसे पूछकर—अन्तःस्थित आपकी प्रेरणा को लेकर ही हम सब कार्यों को करनेवाले हों।

भावार्थ—सौम्य पुरुष सदा संग्राम में प्रभु से रक्षणीय होता है। यह प्रभु-प्रेरणा से प्रेरित होकर ही सब कार्यों को करता है।

हृदयान्तरिक्ष में सदा क्रियाशीलता की भावनावाला यह 'इरिम्बिठि' कहाता है। यह इस रूप में इन्द्र का स्तवन करता है—

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'प्रशस्त मन तथा ज्योति' के कर्ता प्रभु

प्रणेतारं वस्यो अच्छा कर्तारं ज्योतिः समत्सु। सासह्वांसं युधामित्रान्॥ १॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हम अपने अन्दर प्रभु से प्रेरणा का वर्धन करनेवाले हों जो हमें **वस्यः**=प्रशस्त धन की **अच्छा**=ओर **प्रणेतारम्**=ले-चलनेवाले हैं तथा **समत्सु**=संग्रामों में **ज्योतिः**=हमारे लिए ज्ञान का प्रकाश **कर्तारम्**=करनेवाले हैं। इस ज्ञान के प्रकाश में ही तो शत्रुभूत वासनाओं के अन्धकार का विलय होता है। २. उन प्रभु को ही हम बढ़ाएँ जोकि **युधा**=युद्ध के द्वारा **अमित्रान्**=हमारे सब शत्रुओं को **सासह्वांसम्**=कुचल देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए प्रशस्त धन देते हैं। काम-क्रोध आदि शत्रुओं के साथ संग्राम में हमारे लिए ज्ञानज्योति प्राप्त कराते हैं। इन शत्रुओं के साथ युद्ध में उन्हें ज्ञानाग्नि में भस्म कर डालते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

पार होने के लिए द्वेष से दूर

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। इन्द्रो विश्वा अति द्विषः॥ २॥

१. **सः**=वे प्रभु **पप्रिः**=हमारा पूरण करनेवाले हैं—हमारी न्यूनताओं को दूर करते हैं। **नः**=हमें **स्वस्ति**=कल्याणपूर्वक **पारयाति**=इस भवसागर के पार ले-चलते हैं। इसी प्रकार जैसेकि एक नाविक **नावा**=नौका के द्वारा पार ले-जाता है। २. वे **पुरुहूतः**=जिनका आह्वान (आराधन) हमारा पालन व पूरण करनेवाला है; वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु हमें **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अति**=पार ले-जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें द्वेष से दूर करते हुए भवसागर से पार पहुँचानेवाले हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

सुम्नं अच्छ

स त्वं न इन्द्र वाजेभिर्दशस्या च गातुया च। अच्छा च नः सुम्नं नेषि॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमें **वाजेभिः**=शक्तियों के साथ **दशस्या**=धनों को अवश्य दीजिए **च**=तथा **गातुया**=हमारे लिए उत्तम मार्ग की इच्छा कीजिए (मार्गम् इच्छ) २. इसप्रकार हे प्रभो! आप **नः**=हमें **च**=अवश्य **सुम्नम्**=सुख **अच्छ**=की ओर **नेषि**=ले-चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति व धन देते हैं तथा मार्ग का दर्शन कराते हैं। इसप्रकार वे प्रभु हमें सुख की ओर ले-चलते हैं।

प्रभु की शरण में जानेवाला—उत्तम शरणवाला—'सुकक्ष' अगले सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि है। इसकी भावना यह है कि—

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—सुकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

वृत्र-हनन व सुख-वर्षण

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे। स वृषा वृषभो भुवत्॥ १॥

१. हम **तम् इन्द्रम्**=सब शत्रुओं के संहारक उस प्रभु को **वाजयामसि**=अपने अन्दर गतिवाला करते हैं, अर्थात् उस प्रभु का पूजन करते हैं। वे प्रभु हमारे **महे वृत्राय**=महान् शत्रु वृत्र के **हन्तवे**=विनाश के लिए होते हैं। ज्ञान की आवरणभूत वासना को वे प्रभु ही विनष्ट करते हैं। **सः**=वे प्रभु **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले व शक्तिशाली हैं। हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमारे लिए **वृषभः भुवत्**=सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करें। प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करके हमपर सुखों का वर्षण करेंगे।

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'इन्द्र' का लक्षण

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः। द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ २ ॥

१. **इन्द्रः सः**=इन्द्र वह है—इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव वह है जो **दामने**=इन्द्रियों के दमन के निमित्त **कृतः**=किया गया है—जिसका ध्येय इन्द्रियों का वशीकरण है। यह **ओजिष्ठः**=ओजस्वितम बनता है—इन्द्रियविजय ही इसे ओजस्वी बनाता है। ओजस्विता के कारण **सः**=वह **मदे**=सोमरक्षण-जनित उल्लास में **हितः**=स्थापित होता है। २. यह इन्द्र **द्युम्नी**=सुरक्षित सोम को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाकर दीप्त ज्ञानज्योतिवाला होता है। **श्लोकी**=उत्तम कर्मों को करता हुआ यशस्वी होता है। **सः**=वह यशस्वी होता हुआ भी **सोम्यः**=अत्यन्त शान्त, विनीत स्वभाववाला होता है।

भावार्थ—इन्द्र वह है जो इन्द्रियदमन को अपना ध्येय बनाता है। इन्द्रियदमन द्वारा ओजस्वी बनता है। सोम-रक्षण द्वारा उल्लासमय जीवनवाला होता है। ज्ञानज्योति को प्राप्त करके बड़े यशस्वी जीवनवाला होता है। इस सबके होते हुए अतिविनीत बनता है।

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सबलः अनपच्युतः

गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः। ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ ३ ॥

१. **गिरा**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों के द्वारा **सम्भृतः**=हृदय में सम्यक् धारण किये गये प्रभु **वज्रः न**=वज्र के समान होते हैं। स्तोता के सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं का वे संहार करनेवाले होते हैं। **सबलः**=वे प्रभु सदा बल के साथ वर्तमान हैं। **अनपच्युतः**=किन्हीं भी शत्रुओं से स्थान-भ्रष्ट नहीं किये जा सकते। २. वे प्रभु **ऋष्वः**=महान् हैं **अस्तृतः**=अहिंसित हैं। किन्हीं भी शत्रुओं से प्रभु के हिंसित होने का सम्भव नहीं। ये प्रभु **ववक्षे**=उपासक के लिए सब आवश्यक धन आदि पदार्थों के प्राप्त कराने की कामनावाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे लिए वज्र के समान होकर शत्रुओं का संहार करेंगे। वे हमें सब आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं।

अगले तीन मन्त्रों के ऋषि 'मधुच्छन्दाः' हैं—

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'ऋग्-यजु-साम' द्वारा प्रभु का पूजन

इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ४ ॥

१. **गाथिनः**=साममन्त्रों का गायन करनेवाले उद्गाता **इत्**=निश्चय से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **बृहत् अनूषत**=बहुत ही स्तवन करते हैं। **अर्किणः**=ऋचाओं के द्वारा प्रभु का पूजन करनेवाले **अर्केभिः**=इन ऋङ्मन्त्रों के द्वारा **इन्द्रम्**=उस प्रभु का ही पूजन करते हैं। २. हमसे

उच्चरित **वाणी**=यजूरूप वाणियाँ भी उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही स्तुत करती हैं।

भावार्थ—साम, ऋक् व यजूरूप वाणियाँ उस प्रभु का ही स्तवन व पूजन करती हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वज्री हिरण्ययः

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥

१. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **इत्**=निश्चय से **हर्योः**=इन्द्रियाश्वों को **संमिश्लः**=हमारे साथ मिलानेवाले हैं। हमारे शरीर में प्रभु ही ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को जोतते हैं। ये इन्द्रियाश्व **सचा**=परस्पर मेलवाले हैं, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ कर्म करती हैं। ये इन्द्रियाश्व **आ**=सर्वथा **वचोयुजा**=वेदवाणी के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले हैं। २. परिणामतः **इन्द्रः**=इन इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **वज्री**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए होता है और **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला होता है। क्रियाशीलता इसे शक्ति-सम्पन्न बनाती है और स्वाध्याय ज्ञान-सम्पन्न।

भावार्थ—हम इस शरीर में कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मों को करते हुए शक्ति-सम्पन्न बनें। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान-वृद्धि करते हुए ज्योतिर्मय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अविद्या-पर्वत का विदारण

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥

१. **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **दीर्घाय चक्षसे**=अन्धकार का विदारण करनेवाले विस्तृत प्रकाश के लिए **सूर्यम्**=सूर्य को **दिवि**=द्युलोक में **आरोहयत्**=आरूढ़ करते हैं। २. जिस प्रकार प्रभु बाह्य अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य को उदित करते हैं, इसी प्रकार **गोभिः**=ज्ञान की रश्मियों के द्वारा **अद्रिम्**=अविद्या-पर्वत को **वि ऐरयत्**=विशिष्टरूप से कम्पित करके विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु बाह्य आकाश में सूर्य का उदय करते हैं और अन्तःआकाश (मस्तिष्क) में ज्ञानरश्मियों का।

इन ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके इनके अनुसार अपने कर्त्तव्यपालन में प्रसित पुरुष 'इरिम्बिठि' बनता है। क्रियाशीलता की भावना से युक्त हृदयान्तरिक्षवाला यही अगले तीन मन्त्रों का ऋषि है—

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु को हृदयासन पर बिठाना

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम ॥ ७ ॥

१. **आयाहि**=हे प्रभो! आइए। **हि**=निश्चय से **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **सुषुम**=हमने सोम का सम्पादन किया है। इस सोम-रक्षण के द्वारा ही तो हम आपको प्राप्त कर पाएँगे। हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! आप **इमं सोमं पिब**=इस सोम का पान कीजिए। आपने ही वासना-विनाश द्वारा हमें सोम-रक्षण के योग्य बनाना है। २. **इदम्**=इस **मम**=मेरे **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयासन पर **आसदः**=आप विराजिए। आपके हृदय में आसीन होने पर वहाँ ज्ञान के प्रकाश में वासनाओं का अन्धकार विलीन हो जाता है।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण द्वारा प्रभु-प्राप्ति के अधिकारी बनें। प्रभु को हृदयासन पर आसीन

करके ही हम वासनान्धकार का विलय कर सकेंगे।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'ब्रह्मयुजा केशिना' हरी

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना। उप ब्रह्माणि नः शृणु॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वा**=आपको **हरी**=वे इन्द्रियाश्व **आवहताम्**=हमारे लिए प्राप्त कराएँ, जोकि **ब्रह्मयुजा**=ज्ञान के साथ मेलवाले हैं और अतएव प्रकाश की **केशिना**=रश्मियोंवाले हैं। २. हे प्रभो! आप **उप**=समीपता से **नः**=हमसे उच्चरित **ब्रह्माणि**=ज्ञानपूर्वक स्तुतिवचनों को **शृणु**=सुनिए।

भावार्थ—हम इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हुए प्रकाश की रश्मियों से दीप्त जीवनवाले बनें। हम ज्ञानपूर्वक प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

ब्रह्माणः (ज्ञानी) सोमिनः (सोमरक्षक) सुतावन्तः (यज्ञशील)

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः। सुतावन्तो हवामहे॥ ९॥

१. **ब्रह्माणः**=ज्ञान की वाणियोंवाले **वयम्**=हम **युजा**=योग के द्वारा—चितवृत्ति-निरोध के द्वारा **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **सोमिनः**=प्रशस्त सोमवाले—सोम को सुरक्षित करनेवाले हम **सोमपाम्**=सोम के रक्षक आपको पुकारते हैं। २. हे प्रभो! **सुतावन्तः**=प्रशस्त यज्ञोंवाले हम आपको पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के तीन साधन हैं (१) ज्ञान को प्राप्त करना (२) सोम का रक्षण व (३) यज्ञशीलता।

अगले तीन मन्त्रों का ऋषि 'मधुच्छन्दाः' है—अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला। यह कहता है—

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'सूर्य, अग्नि, वायु, लोक, नक्षत्र'

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥ १०॥

१. उपासक लोग **ब्रध्नं युञ्जन्ति**=अपने मन को (असौ आदित्यौ वै ब्रध्नः) उस महान् आदित्य में लगाते हैं। उस सूर्य में प्रभु की महिमा को देखते हैं तथा अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान-सूर्य को उदित करने का प्रयत्न करते हैं। २. **अरुषम्**=अपने मन को (अग्निर्वा अरुषः) अग्नि में लगाते हैं। मन में प्रगतिशीलता की भावना को धारण करते हैं। ३. **चरन्तम्**=(वायुर्वै चरन्) मन को वायु में लगाते हैं। वायु की भाँति निरन्तर गतिशील होने का निश्चय करते हैं। ४. **परितस्थुषः**=(इमे लोका वै परितस्थुषः) इन चतुर्दिक अवस्थित लोकों में अपने मन को लगाते हैं। इन लोकों में प्रभु की महिमा को देखते हैं तथा सब लोगों के साथ मिलकर आगे बढ़ने की भावनावाले होते हैं। ५. ये इन **रोचना**=नक्षत्रों में अपने मन को लगाते हैं, जोकि **दिवि रोचन्ते**=आकाश में चमकते हैं। इन नक्षत्रों में ये जहाँ प्रभु की महिमा को देखते हैं, वहाँ अपने अन्दर भी विज्ञान-नक्षत्रों को उदित करने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम अपने मनों को 'सूर्य-अग्नि-वायुलोक व नक्षत्रों' में लगाने का ध्यान करें। अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य व विज्ञान के नक्षत्रों को उदित करें। प्रगतिशीलता, निरन्तर गति तथा सर्वलोकहित की भावना को धारण करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'विपक्षसा नृवाहसा' हरी

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा॥ ११ ॥

१. साधक लोग **रथम्**=शरीररूप रथ में **हरी**=अपने इन्द्रियाश्वों को **युञ्जन्ति**=जोतते हैं, अर्थात् इन्द्रियों को जीवन-यात्रा की पूर्ति का साधन बनाते हैं। इनको केवल चरने के लिए ही हर समय इधर-उधर भटकने से रोकते हैं। ये इन्द्रियाश्व **अस्य काम्या**=प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले होते हैं। **विपक्षसा**=विशिष्ट परिग्रहवाले होते हैं—एक विशेष उद्देश्य को लिये हुए होते हैं। २. इस विशिष्ट उद्देश्य की ओर निरन्तर बढ़ने से ये **शोणा**=तेजस्वी तथा **धृष्णू**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले बनते हैं और **नृवाहसा**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोगों को लक्ष्य की ओर ले-चलनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों को सदा चरने में ही न लगाएँ रक्खें। शरीर-रथ में जुतकर ये हमें आगे ले-चलें। इनके सामने एक विशिष्ट उद्देश्य हो—प्रभु-प्राप्ति की ये कामनावाले हों। तेजस्वी व शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हों। हमें लक्ष्य की ओर ले-चलें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभुभक्त का जीवन

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥ १२ ॥

१. एक साधक **अकेतवे**=अज्ञानी के लिए **केतुं कृण्वन्**=ज्ञान को करनेवाला होता है। इसके जीवन का उद्देश्य ज्ञान-प्रसार हो जाता है। हे **मर्या**=मनुष्यो! यह **अपेशसे**=न (पेशस् brightness, lustre) दीप्तिवाले के लिए **पेशः**=दीप्ति को करनेवाला होता है। यह मनुष्यों को ज्ञान देकर उन्हें ठीक मार्ग पर ले-चलता है, उन्हें प्राकृतिक पदार्थों के यथायोग्य प्रयोग की प्रेरणा देता है तथा प्रीति से चलकर उन्नत होने की प्रेरणा देता हुआ उन्हें दीप्त जीवनवाला बनाता है। २. हे साधक! तू **उषद्भिः**=उषाकालों के साथ **सम् अजायथाः**=उठ खड़ा होता है (जन्=to rise, spring up) सूर्योदय के समय सोये न रहकर तू तेजस्वी बनता है। वह तेजस्विता ही तुझे अथक कार्य करने में समर्थ करती है।

भावार्थ—साधक (१) अज्ञानियों के लिए ज्ञान देनेवाला बनता है (२) अदीप्त जीवनवालों को दीप्त जीवनवाला बनाता है और (३) उषःकाल में जागकर कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है।

यह प्रातःजागरणशील ज्ञानी पुरुष ही 'प्रस्कण्व' है—उत्कृष्ट मेधावी पुरुष है। यही अगले मन्त्रों का ऋषि है—

ऋषिः—प्रस्कण्वः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

दृशे विश्वाय

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ १३ ॥

१. **केतवः**=ये ज्ञानी पुरुष **त्यम्**=उस **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को उ=ही **उद्वहन्ति**=सर्वोपरि धारण करते हैं। इनके जीवन का मुख्य ध्येय प्रभु-प्राप्ति होता है। २. ये उस **सूर्यम्**=सूर्य के समान दीप्त प्रभु को **विश्वाय दृशे**=सबके दर्शन के लिए धारण करते हैं। प्रभु के ज्ञान का ही सर्वत्र प्रसार करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्रभु का ही धारण करते हैं—प्रभु के ज्ञान का ही प्रसार करते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

सूर्योदय-नक्षत्रविलय

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे॥ १४॥

१. **विश्वचक्षसे**=सबको प्रकाशित करनेवाले **सूराय**=सूर्य के लिए—मानो सूर्य के आगमन के लिए स्थान को रिक्त करने के उद्देश्य से ही—**नक्षत्रा**=नक्षत्र **अक्तुभिः**=रात्रियों के साथ इसप्रकार **अपयन्ति**=दूर चले जाते हैं, **यथा**=जैसेकि रात्रियों के साथ **त्ये तायवः**=वे चोर चले जाते हैं। चोर रात्रि के अन्धकार में ही चोरी करते हैं। अन्धकार-विलय के साथ ये चोरी आदि कार्य समाप्त हो जाते हैं। २. हमारे जीवनों में भी ज्ञान-सूर्योदय होता है और वासना-अन्धकार का विलय हो जाता है। वासना-विनाश से ही सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के इच्छारूप नक्षत्र भी विलीन हो जाते हैं। ये भोग-इच्छाएँ ही तो हमारी शक्तियों का अपहरण करने के कारण चोरों के समान थीं। ज्ञान-सूर्योदय के होते ही ये समाप्त हो जाती हैं।

भावार्थ—जीवनों में ज्ञान-सूर्य के उदय होते ही भोग-इच्छारूप नक्षत्र अस्त हो जाते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

ज्ञान-सूर्य में बुराइयाँ भस्मसात्

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा॥ १५॥

१. **अस्य**=इस उदित हुए-हुए सूर्य की **केतवः**=प्रकाश देनेवाली **रश्मयः**=किरणें **जनान् अनु**=मनुष्यों का लक्ष्य करके **वि अदृशन्**=विशिष्टरूप से इसप्रकार दिखती हैं **यथा**=जैसेकि **भ्राजन्तः अग्नयः**=चमकती हुई अग्नियाँ। २. सूर्य के उदित होने पर जैसे सूर्य की किरणें सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाली होती है, उसी प्रकार हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है और जीवन प्रकाशमय हो जाता है। यह प्रकाश देदीप्यमान अग्नि के समान हो जाता है। इसमें सब बुराइयाँ भस्म हो जाती हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय हो और उसके प्रकाश में सब बुराइयों का अन्धकार विलीन हो जाए।

ऋषिः—प्रस्कण्वः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

तरणिः-ज्योतिष्कृत्

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचन॥ १६॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! तू **तरणि**=उदय होता हुआ रोगकृमियों के विनाश के द्वारा हमें रोगों से तारनेवाला है। **विश्वदर्शतः**=इसप्रकार तू सारे संसार का ध्यान करता है (विश्वं द्रष्टव्यं यस्य दृश् to look after), **ज्योतिष्कृत् असि**=तू सर्वत्र प्रकाश करनेवाला है। **विश्वम् रोचनम्**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को **आ भासि**=तू भासित करता है। २. सूर्य रोगकृमियों के विनाश के द्वारा शरीर को स्वस्थ करता है (तरणिः) मस्तिष्क को यह ज्योतिर्मय करता है (ज्योतिष्कृत्) हृदयान्तरिक्ष को सब मलिताओं से रहित करके चमका देता है। एवं, सूर्य के प्रकाश का प्रभाव 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों पर पड़ता है। यह इन्हें नीरोग, निर्मल व दीप्त बनाता है।

भावार्थ—उदय होता हुआ सूर्य 'शरीर, मन व मस्तिष्क' के स्वास्थ्य को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

देव व मानव बनकर प्रभु-दर्शन

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः। प्रत्यङ् विश्वं स्व॒र्दृशे॥ १७॥

१. हे सूर्य! तू **देवानां विशः प्रत्यङ्**=देवों की प्रजाओं के प्रति गति करता हुआ **उदेषि**=उदित होता है, अर्थात् सूर्य का प्रकाश प्रजाओं को दिव्य गुणोंवाला व दैवी वृत्तिवाला बनाता है। सूर्य के प्रकाश में रहनेवाले लोग दिव्य गुणोंवाले बनते हैं। सूर्य का प्रकाश मन पर अत्यन्त स्वास्थ्यजनक प्रभाव डालता है। २. **मानुषीः प्रत्यङ् उदेषि**=मानव-प्रजाओं के प्रति गति करता हुआ तू उदित होता है। सूर्य का प्रकाश हमें मानुष बनाता है—'मत्वा कर्माणि सीव्यति'=विचारपूर्वक कर्म करनेवाला बनाता है। सूर्य के प्रकाश में विचरनेवाले व्यक्ति समझकर काम करते हैं। अथवा यह प्रकाश हमें मनुष्य बनाता है (मानुष Human)—अक्रूरवृत्तिवाला बनाता है। सामान्यतः हिंसावृत्ति के पशु व असुर रात्रि के अन्धकार में ही कार्य करते हैं। सूर्य का प्रकाश उनके लिए प्रतिकूल होता है। ३. **स्वःदृशे**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति 'ब्रह्म' के दर्शन के लिए तू **विश्वं प्रत्यङ्**=सबके प्रति गति करता हुआ उदय होता है। इस उदय होते हुए सूर्य के अन्दर द्रष्टा को प्रभु की महिमा का आभास मिलता है। यह सूर्य उसे प्रभु की विभूति के रूप में दिखता है।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश देव बनाता है, एक सच्चा मानव बनाता है और हमारे लिए यह प्रभु के दर्शन का आधार बनता है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

पवित्र-निर्द्वेष-लोकहितप्रवृत्त

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥ १८॥

१. हे **पावक**=प्रकाश से जीवनों को पवित्र करनेवाले! **वरुण**=सब रोगों व आसुरभावों का निवारण करनेवाले सूर्य! **त्वम्**=तू **जनान् भुरण्यन्तम्**=लोगों का भरण-पोषण करनेवाले को **येन चक्षसा**=जिस प्रकाश से **अनुपश्यसि**=अनुकूलता से देखता है, उसी प्रकाश को हम प्राप्त करें। वही प्रकाश हमसे स्तुत्य हो, जो लोग द्वेष का निवारण करके (वरुण) अपने हृदयों को पवित्र बनाकर (पावक) लोकहितकारी कार्यों में प्रवृत्त होते हैं (भुरण्यन्) उनके लिए सूर्य का प्रकाश सदा हितकारी होता है। वृत्ति के उत्तम होने पर सब लोक हमारे लिए हितकर होते हैं। वृत्तियों के विकृत हो जाने पर आधिदैविक आपत्तियाँ आया करती हैं।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश उनके लिए हितकर होता है जो पवित्र व निर्द्वेष बनकर लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

दिन-रात्रि का 'पालन-चक्र'

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः। पश्यं जन्मानि सूर्य॥ १९॥

१. हे **सूर्य**=आकाश में निरन्तर सरण करनेवाले आदित्य! तू **द्याम्**=इस विस्तृत द्युलोक में **वि एषि**=विशेषरूप से प्राप्त होता है। द्युलोक में आकर **पृथुरजः**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक में आगे और आगे बढ़ता है। इस गति के द्वारा **अक्तुभिः**=रात्रियों के साथ **अहः मिमानः**=दिनों का तू निर्माण करनेवाला होता है। २. इसप्रकार अपनी गति के द्वारा दिन-रात का निर्माण करता हुआ यह सूर्य **जन्मानि**=जन्म लेनेवाले प्राणियों को **पश्यन्**=देखता है—उनका पालन करता है

(दृश् to look after)। दिन-रात्रि का यह चक्र हमारा सुन्दर निर्माण करता है। दिनभर की थकावट रात्रि में दूर हो जाती है। अकेला दिन व अकेली रात्रि मृत्यु ही है। दिन-रात्रि के क्रम के द्वारा सूर्य हमारा पालन करता है।

भावार्थ—सूर्य उदय होकर अन्तरिक्ष में आगे बढ़ता हुआ दिन व रात्रि के निर्माण द्वारा हमारा पालन करता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

देव+विचक्षण

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षणम्॥ २०॥

१. हे **देव**=द्योतमान—हृदयों को निर्मल करके प्रदीप्त करनेवाले **सूर्य**=निरन्तर सरणशील सूर्य! **त्वा**=तुझे **सप्त हरितः**=सात रंगोंवाली रसहरणशील किरणें **रथे**=रथ में **वहन्ति**=धारण करती हैं। २. उस तुझको धारण करती है जो तू **शोचिष्केशम्**=देदीप्यमान किरणरूप केशोंवाला है तथा **विचक्षणम्**=मस्तिष्क को ज्ञानज्योति से दीप्त करनेवाला है। सूर्य की किरणें सात प्रकार की हैं, अतः सूर्य का नाम ही सप्ताश्व हो गया है। ये सात किरणें सातों प्राणदायी तत्त्वों को हमारे शरीरों में प्रविष्ट कराती हुई हमें नीरोग बनाती हैं। रोग-हरण करने से ये किरणें हरित हैं। रोगकृमियों का संहार करती हुई ये किरणें हमारे शरीरों को शुद्ध कर डालती हैं, इसी से सूर्य 'शोचिष्केश' है।

भावार्थ—सूर्य सप्ताश्व है। यह अपनी सात किरणों के द्वारा सातों प्राणों को हममें पुष्ट करता है। हमारे हृदयों को देव-हृदय बनाता है। मस्तिष्क को विचक्षण करता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

नप्त्यः-शुन्ध्युवः

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः॥ २१॥

१. **सूरः**=सूर्य **रथस्य**=हमारे शरीररूप रथों को **नप्त्यः**=न गिरने देनेवाली **सप्त**=सात **शुन्ध्युवः**=शोधक किरणों को **अयुक्त**=रथ में जोतता है। सूर्य की किरणें सात रंगों के भेद से सात प्रकार की हैं। ये हमारे शरीरों में प्राणशक्ति का संचार करके हमारे शरीरों का शोधन करती हैं और उन शरीरों को गिरने नहीं देतीं। २. यह सूर्य **ताभिः**=उन **स्वयुक्तिभिः**=अपने रथ में जुती हुई किरणरूप अश्वों के साथ **याति**=अन्तरिक्ष में आगे और आगे चलता है।

भावार्थ—सूर्य अपनी किरणों के साथ आगे और आगे चल रहा है। ये किरणें हमारे शरीरों में प्राणशक्ति का संचार करती हैं और उनका शोधन कर डालती हैं।

सूर्य के समान वासनान्धकार का पूर्ण पराजय करनेवाला 'खिलम्' अगले सूक्त का ऋषि है (खिल् to vanquish completely)। यह प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है—

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**खिलः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

तेजस्विता व क्रियाशीलता

अभि त्वा वर्चसा गिरः सिञ्चन्तीराचरण्यवः। अभि वत्सं न धेनवः॥ १॥

१. मेरी ये **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ **वर्चसा सिञ्चन्तीः**=मुझे तेजस्विता से सींचती हुई हैं, तथा **आचरण्यवः**=मुझे समन्तात् कर्त्तव्यों में चरणशील बनाती हैं। इन स्तुतिवाणियों से मुझे भी वैसा बनने की प्रेरणा मिलती है। यह प्रेरणा मुझे क्रियामय जीवनवाला बनाती है। २. ये स्तुतिवाणियाँ

हे प्रभो! **त्वा अभि**=आपकी ओर इसप्रकार प्रवृत्त होती हैं **न**=जैसेकि **वत्सम् अभि धेनवः**=बछड़े की ओर गौवें। मैं प्रीतिपूर्वक आपका स्तवन करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रेम से प्रभु का स्तवन करें, यह स्तवन हमें तेजस्वी व क्रियामय जीवनवाला बनाएगा।

ऋषिः—**खिलः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शुभ्रता-तेजस्विता-प्रीति

ता अर्षन्ति शुभ्रियः पृञ्चन्तीर्वर्चसा प्रियः। जातं जात्रीर्यथा हृदा॥ २॥

१. **यथा**=जैसे **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए बच्चों को **जात्रीः**=माताएँ **हृदा**=हृदय से सम्पृक्त करती हैं, इसी प्रकार **ताः**=हमारी वे स्तुतिवाणियाँ, हे प्रभो! आपकी ओर **अर्षन्ति**=गतिवाली होती हैं। हम प्रेम से आपका स्तवन करते हैं। २. ये स्तुतिवाणियाँ **शुभ्रियः**=हमारे जीवनों को बड़ा शुभ्र (स्वच्छ) बनाती हैं। **वर्चसा पृञ्चन्तीः**=हमें तेजस्विता से सम्पृक्त करती हुई होती हैं तथा **प्रियः**=(प्रीणाति) हमें प्रीणित करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रेम से उच्चरित प्रभु की स्तुतिवाणियाँ हमें 'शुभ्र, तेजस्वी व प्रीतियुक्त' जीवन प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**खिलः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

आयुः, घृतं, पयः

वज्रापवसाध्यः कीर्तिर्म्रियमाणमावहन्। मह्यमायुर्घृतं पयः॥ ३॥

१. **वज्र आपव-साध्यः**=(वज् गतौ, पू पवने) क्रियाशीलता व पवित्रता के द्वारा सिद्ध होनेवाला **कीर्तिः**=यश **म्रियमाणम्**=युद्ध में प्राणत्याग करनेवाले को **आवहन्**=स्वर्ग में प्राप्त करानेवाला हो। जीवन में हम क्रियाशील बनें तथा पवित्रता को सिद्ध करें। इसप्रकार यशस्वी जीवनवाले हों। इस जीवन-संग्राम में वीरतापूर्वक प्राणत्यागनेवाले हों। वह जीवन हमें स्वर्ग प्राप्त करानेवाला हो २. **मह्यम्**=मुझे इस जीवन में **आयुः**=दीर्घ जीवन प्राप्त हो **घृतम्**=ज्ञान की दीप्ति व मलों का क्षरण, अर्थात् निर्मलता प्राप्त हो (घृ क्षरणदीप्तयोः), **पयः**=मुझे सब शक्तियों का आप्यायन प्राप्त हो।

भावार्थ—मेरा यह जीवन सुन्दर बने तथा परलोक में भी मुझे उत्तम गति प्राप्त हो।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः सार्पराज्ञी वा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

कुण्डलिनी का जागरण

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ ४॥

१. **अयम्**=यह **गौः**=जागरित होने पर मेरुदण्ड में ऊपर गति करनेवाली (गच्छति) कुण्डलिनी **पृश्निः** (संस्प्रष्टो भासाम्—नि० २.१४)=ज्योति के साथ सम्पर्कवाली होती है। यह प्राणायाम की उष्णता से **अक्रमीत्**=कुण्डल को तोड़कर आगे गति करती है। २. यह **पुरः**=आगे और आगे बढ़ती हुई **मातरम्**=वेदमाता को (स्तुता मया वरदा वेदमाता) **असदत्**=प्राप्त करती है। इसके जागरण व ऊर्ध्वगत होने पर 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' ऋत का पोषण करनेवाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। यह प्रज्ञा वेदज्ञान का प्रकाश करती है। ३. **च**=और इस वेदज्ञान का प्रकाश होने पर यह **स्वः**=उस देदीप्यमान **पितरम्**=प्रभुरूप पिता की ओर **प्रयन्**=जानेवाली होती है, अर्थात् यह योगी अन्ततः प्रभु का दर्शन करनेवाला होता है।

भावार्थ—कुण्डलिनी के जागरण से बुद्धि का प्रकाश होता है। वेदार्थ का स्पष्टीकरण होता

है और प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—उपरिबभ्रवः सार्पराज्ञी वा॥ देवता—गौः॥ छन्दः—गायत्री॥

प्रभु की रोचना

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः। व्यख्यन्महिषः स्वः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार कुण्डलिनी का जागरण होने पर **अस्य अन्तः**=इस साधक के हृदय में **रोचना चरति**=प्रभु की दीप्ति गतिवाली होती है। इसके हृदयदेश में प्रभु की दीप्ति का प्रकाश होता है। यह रोचना **प्राणात्**=इसके अन्दर प्राणशक्ति का संचार करती है और **अपानतः**=अपान के द्वारा शोधन का कार्य करती है। २. इसप्रकार प्राण व अपान के कार्य के ठीक से होने पर यह **महिषः**=प्रभु का पुजारी **स्वः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को **व्यख्यत्**=विशेषरूप से देखता है। इस पुजारी का हृदय प्रकाश से दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—साधना से साधक का हृदय प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो उठता है। उसकी प्राणापान शक्ति ठीक से कार्य करती हुई इसे प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है।

ऋषिः—उपरिबभ्रवः सार्पराज्ञी वा॥ देवता—गौः॥ छन्दः—गायत्री॥

तीसों धाम

त्रिंशद्धामा वि राजति वाक्पतङ्गो अशिश्रियत्। प्रति वस्तोरहर्द्युभिः॥ ६॥

१. यह साधक **त्रिंशत् धाम**=तीसों स्थानों में **विराजति**=चमकता है। दिन की तीसों घड़ियों में वा महीने के तीसों दिनों में दीप्तिवाला होता है। इसकी **वाक्**=वाणी **पतङ्गः**=उस सूर्यसम ज्योतिवाले ब्रह्म को **अशिश्रियत्**=सेवित करती है, अर्थात् यह वाणी से प्रभु का ही गुणगान करता है। २. यह साधक **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन **अहः** (एव)=निश्चय से **द्युभिः**=ज्ञान-ज्योतियों से उपलक्षित होता है। इसका ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के नाम का जप करें और अपने को ज्ञान-ज्योति से दीप्त करें।

अगले सूक्त में भी ऋषि पूर्ववत् ही है—

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—खिलः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

शक्र+देव

यच्छक्रा वाचमारुहन्नन्तरिक्षं सिषासथः। स देवा अमदन्वृषा॥ १॥

१. **यत्**=जब **अन्तरिक्षं सिषासथः**=हृदयान्तरिक्ष का सेवन करने की इच्छावाले, अर्थात् हमारे हृदयों में निवास करनेवाले प्रभु **वाचम्**=वाणी को **शक्राः**=शक्तिशाली पुरुष **आरुहन्**=आरुढ़ करते हैं, अर्थात् जब हृदयास्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनते हैं अथवा वेदवाणी का अध्ययन करते हैं तब **देवाः**=ये देववृत्ति के पुरुष **वृषाः**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु के साथ **सममदन्** (सम् अमदन्) आनन्द का अनुभव करते हैं। २. प्रभु सर्वव्यापक हैं, परन्तु भक्तों के हृदय प्रभु के सर्वोत्तम निवास-स्थान हैं। सर्वव्यापक होने पर भी प्रभु का दर्शन हृदय में ही होता है। हृदय ही वह स्थान है, जहाँ आत्मा व परमात्मा—ज्ञाता व ज्ञेय दोनों की स्थिति है। इस हृदय में स्थित प्रभु की वाणी को हम सुनते हैं तो सब वासनाओं से ऊपर उठकर शक्तिशाली बनते हुए हम देववृत्ति के बन पाते हैं।

भावार्थ—हम हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनें। यही मार्ग है जिससे हम 'शक्र व देव' बनेंगे।

ऋषिः—खिलः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

मंहिष्ठ

शक्रो वाचमधृष्टायोरुवाचो अधृष्णुहि। मंहिष्ठ आ मदर्दिवि ॥ २ ॥

१. **शक्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **वाचम्**=अपनी वाणी को **अधृष्टाय**=वासनाओं से पराजित न होनेवाले के लिए देते हैं। प्रभु की वाणी को वही सुन पाता है जोकि काम-क्रोध आदि वासनाओं से अभिभूत नहीं होता। २. हे उपासक! तू भी **उरुवाचः**=प्रभु की विशाल, ज्ञान-परिपूर्ण इन वेदवाणियों का **अधृष्णुहि**=धर्षण करनेवाला न हो, अर्थात् इन वाणियों को अनसुना न कर दे। जहाँ हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनने का प्रयत्न करे वहाँ वेदवाणियों का भी तू अध्ययन कर—इसमें प्रमाद न कर। ३. **मंहिष्ठः**=दातृतम—उदार—दानशील बनता हुआ तू **दिवि**=ज्ञान-ज्योति में—प्रकाश में **आमदः**=हर्ष अनुभव करनेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रभु की वाणी को सुनते हुए दानशील बनें और ज्ञान-ज्योति में ही आनन्द लेने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—खिलः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

धाम+धर्म

शक्रो वाचमधृष्णुहि धामधर्मन्विराजति। विमदन्बर्हिरासरन् ॥ ३ ॥

१. हे जीव! **शक्रः**=शक्तिशाली बनता हुआ तू **वाचम्**=हृदयस्थ प्रभु की वाणी का **अधृष्णुहि**=धर्षण करनेवाला न हो। इस वाणी को तू सदा अप्रमत्त होकर अपनानेवाला हो। २. इस वाणी को सुननेवाला व्यक्ति **विमदन्**=विशिष्ट आनन्द को अनुभव करता हुआ **बर्हिः आसरन्**=हृदयान्तरिक्ष में गति करता हुआ **धामधर्मन्**=तेज व धारणात्मक कर्मों में **विराजति**=विशिष्ट दीप्तिवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु की वाणी को सुनने में कभी प्रमाद न करें। यह प्रभुवाणी-श्रवण हमें तेजस्वी बनाएगा, धर्मप्रवण करेगा, आनन्दमय जीवनवाला बनाएगा तथा हमें हृदयान्तरिक्ष की ओर गतिवाला, अर्थात् आत्मनिरीक्षण की वृत्तिवाला बनाएगा।

ऋषिः—नोधाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (समाबृहती+विषमा-सतोबृहती)॥

'दस्म' प्रभु

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ ४ ॥

१. **तम्**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=स्तुतिवाणियों से **नवामहे**=स्तुत करते हैं, जोकि **वः दस्मम्**=तुम्हारे दुःखों के दूर करनेवाले हैं, **ऋतीषहम्**=आर्ति (पीड़ा) के नाशक हैं तथा **वसोः अन्धसः मन्दानम्**=निवास के कारणभूत सोम के द्वारा आनन्दित करनेवाले हैं। २. **स्वसरेषु** (स्वः आदित्यः एतान् सारयति) दिनों में—दिन के निकलने पर **नः**=जैसे **धेनवः**=गौवें **वत्सम् अभि**=बछड़े का लक्ष्य करके हम्भारव करती हैं, उसी प्रकार हम प्रभु का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रातः प्रभु का स्मरण करें। यह स्मरण ही हमारे सब कष्टों को दूर करेगा और सोम-रक्षण द्वारा हमारे आनन्द का साधक होगा।

ऋषिः—नोधाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (समाबृहती+विषमा-सतोबृहती) ॥

'द्युक्ष सुदानु' प्रभु

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम्।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्त्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे॥ ५॥

१. हम उस प्रभु से **मक्षू**=शीघ्र **वाजम्**=बल को **ईमहे**=माँगते हैं, जो बल **क्षुमन्तम्**=प्रभु के स्तवन से युक्त है (क्षु शब्दे), **शतिनम्**=सौ-के-सौ वर्ष तक स्थिर रहता है अथवा शतवर्ष के जीवन को प्राप्त कराता है। **सहस्त्रिणम्** (सहस्)=जीवन को आनन्दयुक्त रखता है तथा **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है। २. उन प्रभु से हम बल की याचना करते हैं जोकि **द्युक्षम्**=ज्ञानज्योति में निवास करनेवाले हैं। **सुदानुम्**=ज्ञान के द्वारा वासनाओं का खण्डन करनेवाले हैं। **तविषीभिः आवृतम्**=बलों से आवृत्त हैं—बल के पुञ्ज हैं। ये प्रभु शक्ति प्राप्त कराके हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान व शक्ति के पुञ्ज हैं। प्रभु से हम भी उस बल की याचना करते हैं, जो ज्ञान व स्तवन से युक्त है।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (समाबृहती+विषमा-सतोबृहती) ॥

सुवीर्य+ब्रह्म

तत्त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ॥ ६॥

१. हे प्रभो! **त्वा**=आपसे **तत्**=उस **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **यामि**=माँगता हूँ, और **तत् ब्रह्म**=उस ज्ञान को **पूर्वचित्तये**=पालक व पूरक चेतना के लिए (पृ पालनपूरणयोः) चाहता हूँ **येन**=जिस सुवीर्य व ब्रह्म के द्वारा **यतिभ्यः**=(संन्यासियों) संयमी पुरुषों के लिए तथा **भृगवे**=ज्ञान से अपना परिपाक करनेवाले के लिए **आविथ**=आप रक्षण करते हो। २. मैं उस सुवीर्य व ब्रह्म की याचना करता हूँ जिससे **हिते धने**=हितकर धन के निमित्त **आ प्रस्कण्वम्**=मेधावी पुरुष का **आविथ**=रक्षण करते हो।

भावार्थ—प्रभु हमें वह सुवीर्य व ब्रह्म (ज्ञान) प्राप्त कराएँ जिससे हम संयमी, ज्ञानी व मेधावी बनकर प्रभु-रक्षण के पात्र हों।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (समाबृहती+विषमा-सतोबृहती) ॥

वृष्णि शवः

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **ते शवः तत्**=आपका बल वह है **येन**=जिससे **समुद्रम्**=समुद्र को **असृजः**=आप उत्पन्न करते हैं। **महीः**=पृथिवियों को तथा **अपः**=जलों को उत्पन्न करते हैं। आपका यह बल इन सब लोक-लोकान्तरों का निर्माण करता हुआ **वृष्णि**=सुखों का वर्षण करनेवाला है। २. **अस्य**=इन प्रभु की **सः महिमा**=वह महिमा **सद्यः**=शीघ्र **न सन्नशे**=हमसे प्राप्त करने योग्य नहीं होती (नश् to reach), **यम्**=जिस महिमा को **क्षोणीः**=ये पृथिवियाँ **अनुचक्रदे**=ऊँचे-ऊँचे कह रही हैं। 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः' ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी उस प्रभु की महिमा को कह रही हैं।

भावार्थ—प्रभु अपनी शक्ति की महिमा से समुद्र आदि की सृष्टि करते हैं। ये सब लोक हमारे लिए सुख का वर्षण करनेवाले हैं।

प्रभु-स्तवन करता हुआ प्रभु की ओर चलनेवाला यह 'मेध्यातिथि' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

प्रभु की 'महिमा-इन्द्रिय-स्वः' का आनन्त्य

कन्नव्यो॑ अतसीनां तुरो गृणीत मर्त्यः।

नही न्व॑स्य महिमानमिन्द्रियं स्व॑र्गृणन्त आनशुः॥ १॥

१. **अतसीनाम्**=परिव्राजकों की (निरन्तर गतिशील संन्यासियों की) **तुरः**=वासनाओं का संहार करनेवाले उस प्रभु की **नव्यः मर्त्यः**=स्तुति करने में उत्तम मनुष्य भी **कत् गृणीत**=कैसे स्तुति करे। प्रभु के गुणों व सामर्थ्यों का वर्णन कर सकना उसकी शक्ति से परे की बात है। कुशल-से-कुशल स्तोता भी प्रभु का स्तुति के द्वारा व्यापन नहीं कर सकता। २. **गृणन्तः**=स्तुति करते हुए व्यक्ति **नु**=निश्चय से **अस्य**=इस प्रभु की **महिमानम्**=महिमा को **इन्द्रियम्**=बल को व **स्वः**=प्रकाश को **नहि आनशुः**=व्याप्त करनेवाले नहीं होते। प्रभु की महिमा बल व प्रकाश अनन्त हैं। सान्त शक्ति व ज्ञानवाले जीवों के लिए प्रभु का पूर्ण यशोगान सम्भव नहीं है।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु की 'महिमा, बल व प्रकाश' को अपनी स्तुति द्वारा व्यक्त नहीं कर पाता।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

सुन्वतः स्तुवतः

कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवत ऋषिः को विप्र ओहते।

कदा हवं मघवन्निन्द्र सुन्वतः कदु स्तुवत आ गमः॥ २॥

१. हे प्रभो! **सतुवन्तः**=स्तुति करनेवाले लोग **उ**=निश्चय से **कत्**=कैसे **ऋतयन्त**=ऋत की कामनावाले होते हैं। प्रभु के सच्चे स्तोता अवश्य अपने जीवन को ऋतवाला बनाते हैं। **कः**=कोई विरला ही **देवता**=दिव्यगुणोंवाला, **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **विप्रः**=अपना पूरण करनेवाला ज्ञानी **ओहते**=आपका विचार करता है। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **कदा**=कब **सुन्वतः**=इस यज्ञशील पुरुष की **हवम्**=पुकार को आप सुनते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तोता ऋत का आचरण करता है। ज्ञानीदेव प्रभु का विचार करते हैं। प्रभु यज्ञशील स्तोताओं की पुकार कों सुनते हैं।

यह प्रभु का स्तोता 'प्रस्कण्व' मेधावी बनता है। यह पुष्ट इन्द्रियोंवाला 'पुष्टिगु' होता है। यह प्रस्कण्व ही अगले सूक्त के १-२ मन्त्रों का ऋषि है, ३-४ मन्त्रों का पुष्टिगु। ये कहते हैं कि—

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रस्कण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)॥

मघवा-पुरूवसुः

अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति॥ १॥

१. **सुराधसम्**=उत्तम सफलता देनेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु का ही **प्र वः**=प्रकर्षेण वरण करनेवाला बन। **यथा विदे**=यथार्थ ज्ञान के लिए उस प्रभु को ही **अभि अर्च**=प्रातः-सायं पूजित कर। २. **यः**=जो **मघवा**=यज्ञशील **पुरूवसुः**=पालक व पूरक धनोंवाले प्रभु हैं, वे **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **सहस्रेण इव शिक्षति**=हज़ारों के रूप में देने की कामना करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का वरण करें, प्रभु का अर्चन करें। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का यही मार्ग है। वे प्रभु स्तोताओं के लिए सब आवश्यक धनों को देते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)॥

हन्ति वृत्राणि दाशुषे

शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः॥ २॥

१. **शत-अनीका इव**=सैकड़ों सैन्यों के समान ये प्रभु **प्रजिगाति**=आगे बढ़ते हैं और **धृष्णुया**=अपनी धर्षण-शक्ति से **दाशुषे**=आत्मार्पण करनेवाले पुरुष के लिए **वृत्राणि हन्ति**=वासनाओं को विनष्ट करते हैं। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें—प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करेंगे। २. अब शत्रुविनाश के बाद **अस्य पुरुभोजसः**=इस अनन्त पालक धनोंवाले प्रभु के **दत्राणि**=दान **पिन्विरे**=इसप्रकार हमें सिक्त व प्रीणित करनेवाले होते हैं, **इव**=जैसेकि **गिरेः**=पर्वत के **रसाः**=रस। पर्वतों से बहनेवाले जल जैसे प्रीति का कारण बनते हैं, इसीप्रकार प्रभु से दिये गये धन हमपर सुखों का सेचन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने अनन्त सामर्थ्य से हमारे शत्रुओं को विनष्ट करते हैं और इस प्रभु के दान हमें सुखों से सिक्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—पुष्टिगुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)॥

काम्यं वसु

प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शक्रमभिष्टये।
यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते॥ ३॥

१. उस **सुश्रुतम्**=उत्तम ज्ञानवाले, **सुराधसम्**=उत्तम ऐश्वर्योंवाले **शक्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अभिष्टये**=इष्ट-प्राप्ति के लिए अथवा वासनारूप शत्रुओं पर आक्रमण के लिए (अभिष्टि=attack) **प्र अर्च**=प्रकर्षेण पूजित कर। प्रभु की अर्चना से वासनारूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके हम भी उत्तम ज्ञान-ऐश्वर्य व शक्तिवाले बनेंगे। २. उस प्रभु का तू पूजन कर जोकि **सुन्वते**=यज्ञशील **स्तुवते**=स्तोता के लिए **काम्यं वसु**=कमनीय (चाहने योग्य) धन को **सहस्रेण इव**=हज़ारों के रूप में **मंहते**=देते हैं।

भावार्थ—प्रभु-पूजन से वासनाओं का विजय करके हम उत्तम ज्ञान-ऐश्वर्य व शक्ति को

प्राप्त करें। ऐश्वर्य को प्राप्त करके हम यज्ञशील स्तोता बनें। इसप्रकार हम प्रभु के काम्य वसुओं की प्राप्ति के पात्र होंगे।

ऋषिः—पुष्टिगुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)॥

दुष्टरा हेतयः समिषो महीः

शतानीका हेतयो अस्य दुष्टरा इन्द्रस्य समिषो महीः।
गिरिर्न भुज्मा मघवत्सु पिन्वते यदीं सुता अमन्दिषुः॥ ४॥

१. **अस्य इन्द्रस्य**=इस सर्वशक्तिमान् शत्रु-विद्रावक प्रभु के **शतानीका**=सैकड़ों बलोंवाले **हेतयः**=हनन-साधन=आयुध **दुष्टराः**=कठिनता से तैरने योग्य हैं। इनसे बच निकलना किसी के लिए सम्भव नहीं। इस इन्द्र की **सम् इषः**=उत्तम प्रेरणाएँ भी **महीः**=महनीय व पूजनीय हैं। प्रभु की प्रेरणाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। २. **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **सुताः**=(सुतं अस्य अस्ति इति) सोम का सम्पादन करनेवाले यज्ञशील पुरुष **अमन्दिषु**=(to praise) उस प्रभु का स्तवन करते हैं तब ये प्रभु **मघवत्सु**=उन यज्ञशील पुरुषों में **पिन्वते**=धनों का सेचन करते हैं। प्रभु उनके लिए **गिरिः न**=(गुरुः न) एक उपदेष्टा के समान होते हैं और **भुज्मा**=उनका पालन करनेवाले होते हैं। गुरु शिष्य को गर्भ में धारण करता हुआ उसका रक्षण करता है। ये यज्ञशील पुरुष भी प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के आयुध दुष्टर हैं। उनकी प्रेरणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। प्रभु यज्ञशील स्तोता को उचित प्रेरणा देते हुए उसे पालित करते हैं।

यह यज्ञशील स्तोता 'मेध्यातिथि' बनता है—निरन्तर पवित्र प्रभु की ओर गतिवाला। यह स्तवन करता हुआ कहता है—

५२. [द्विपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥

सुतावन्तः-वृक्तबर्हिषः

वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्परि स्तोतार आसते॥ १॥

१. हे **वृत्रहन्**=वासनाविनाशक प्रभो! **वयम्**=हम **घ**=निश्चय से **सुतावन्तः**=सोम का सम्पादन करनेवाले व यज्ञशील बनकर **आपः न**=जलों के समान निरन्तर शान्तभाव से कर्मों में प्रवाहित होते हुए **वृक्तबर्हिषः**=वासनाशून्य हृदयान्तरिक्षवाले **स्तोतारः**=स्तोता बनकर **त्वा परि आसते**= आपका सेवन करनेवाले हों। २. आपकी उपासना करते हुए हम **पवित्रस्य**=ज्ञान के (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) **प्रस्रवणेषु**=प्रवाहों में अपने को पवित्र कर पाते हैं। आपकी उपासना हमें ज्ञान-जलों में स्नान के द्वारा पवित्र करनेवाली होती है।

भावार्थ—हम सोम का सम्पादन करते हुए प्रभु का उपासन करते हैं। ज्ञान-जलों के प्रवाहों में अपने को पवित्र करते हैं।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥

स्वब्दीव वंसगः

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः॥ २॥

१. हे प्रभो! **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोग **सुते**=सोम का सम्पादन होने पर **स्वरन्ति**=आपका स्तवन करते हैं। आपका स्तवन ही वस्तुतः उन्हें सोमसम्पादन के योग्य बनाता है। हे **वसो**=उत्तम निवास देनेवाले प्रभो! ये नर **निरेके**=(रेकृ शंकायाम्) शंकाओं से शून्य हृदय में—आपके प्रति पूर्ण श्रद्धायुक्त हृदय के होने पर **उक्थिनः**=स्तोत्रोंवाले होते हैं—आनन्दपूर्वक आपके स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **कदा**=कब आप **तृषाणः**=चाहते हुए **सुतम्**=आपके पुत्रभूत मुझे **ओकः आगमः**=यहाँ घर में प्राप्त होंगे! आप **इव**=जैसे **स्वब्दी**=(सु+अप्+द) उत्तम ज्ञान-जल को प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार **वंसगः**=मननीय—सेवनीय-पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं। ज्ञानपूर्वक इन पदार्थों का ठीक उपयोग करता हुआ ही तो मैं 'अभ्युदय व निःश्रेयस' को सिद्ध कर पाता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु का ही स्तवन करें। श्रद्धायुक्त हृदय में प्रभु के गुणों का गायन करें। प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले हों। प्रभु से ज्ञान व साधनभूत पदार्थों को प्राप्त करके उन्नति को सिद्ध करें।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

वह बल!

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाजं दर्षि सहस्त्रिणम्।
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ ३ ॥

१. हे **धृष्णवो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभो! आप **कण्वेभिः**=मेधावी पुरुषों के द्वारा—उत्तम समझदार माता, पिता व आचार्य द्वारा **वाजम्**=बल को **आदर्षि**=प्राप्त कराते हैं जोकि **धृषद्**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है तथा **सहस्त्रिणम्**=(स हस् अथवा सहस्त्र) हमारे जीवन को आनन्दमय बनानेवाला है अथवा दीर्घजीवन का साधक है। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **विचर्षणे**=सर्वद्रष्टा प्रभो! हम आपसे **मक्षु**=शीघ्र उस जीवन की **ईमहे**=याचना करते हैं, जोकि **पिशंगरूपम्**=तेजस्वीरूपवाला व **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञानन्द्रियोंवाला है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप उत्तम माता, पिता व आचार्यों द्वारा हमें उस बल को प्राप्त कराइए जिससे हम वासनारूप शत्रुओं का धर्षण करते हुए आनन्दमय जीवनवाले हों—तेजस्वी व प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाले बनें।

अगले सूक्त का ऋषि भी मेध्यातिथि ही है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

पुरः विभिनत्ति

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥ १ ॥

१. **कः**=कोई विरला पुरुष ही **ईम्**=निश्चय से **सुते**=सोम का सम्पादन होने पर—शरीर में सोम का रक्षण होने पर **सचा**=अपने में समवेत होनेवाले—सदा साथ रहनेवाले **पिबन्तम्**=सोम का पान करनेवाले—सोम को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले उस प्रभु को **वेद**=जानता है। प्रभु को जानकर **कत्**=(कं तनोति) आनन्द का विस्तार करनेवाले **वयः**=आयुष्य को **दधे**=धारण करता है। २. **अयम्**=यह **यः**=जो **मन्दानः**=उस प्रभु का शंसन करनेवाला होता है, **अन्धसः**=सोम के हेतु से—वीर्यरक्षण के हेतु से **शिप्री**=उत्तम हनुओं व नासिकावाला बनता है, अर्थात् सात्त्विक

भोजन को चबाकर खाता है और प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है, वह **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **पुरःविभिनत्ति**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाला होता है। 'पुरन्दर' बनता है। यह काम-क्रोध-लोभ की पुरियों का विदारण करके उत्तम शरीर (इन्द्रियों), मन व बुद्धिवाला बनता है। काम के विनाश से इसकी इन्द्रियशक्तियाँ जीर्ण नहीं होतीं, क्रोधविनाश से इसका मन शान्त रहता है तथा लोभ को दूर करने से यह अविकल बुद्धिवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करते हुए सोम-रक्षण द्वारा आनन्दमय जीवनवाले बनें। 'प्रभु-स्तवन, सात्त्विक भोजन को चबाकर खाने तथा प्राणायाम' द्वारा सोम-रक्षण करते हुए ओजस्वी बनें तथा 'काम-क्रोध-लोभ' की नगरियों का विनाश करें।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

पुरुत्रा चरथं दधे

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा॥ २॥

१. **दाना**=(दाप् लवने) वासनाओं के लवन (काटने) के हेतु से यह **मृगः न**=सिंह के समान होता है। शेर जैसे शिकार को चीर-फाड़ देता है, इसी प्रकार यह वासनाओं को चीर-फाड़ देता है (मृग=a wild beast), इसप्रकार यह **वारणः**=सब वासनाओं का निवारण करनेवाला होता है। **पुरुत्रा**=पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **चरथं दधे**=इस शरीर-रथ को धारण करता है। भोग ही उसके जीवन का लक्ष्य नहीं बन जाते। २. ऐसी स्थिति में **त्वा**=तुझे **नकिः नियमत्**=कोई भी वासना बाँध नहीं पाती **सुते**=सोम के सम्पादन में **आगमः**=तू सर्वथा गतिवाला होता है। सब प्रकार से सोम का रक्षण करता है। अब **महान्**=(मह पूजायाम्) प्रभु की वृत्तिवाला होता हुआ तू **ओजसा चरसि**=ओजस्विता के साथ सब कर्त्तव्यों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—वासनाओं के वशीभूत न होकर सोम-रक्षण करते हुए हम ओजस्वी बनें और कर्त्तव्य-कर्मों का पालन करें।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

न योषति, आगमत्

य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत्॥ ३॥

१. **यः**=जो प्रभु **उग्रः सन्**=तेजस्वी होते हुए **अनिष्टृतः**=कभी स्थानभ्रष्ट व हिंसित नहीं होते। वे प्रभु **स्थिरः**=स्थिर हैं—अविनाशी हैं। **रणाय संस्कृतः**=रमणीयता के लिए अथवा वासनाओं के साथ संग्राम के लिए सदा हृदयों में योगिजनों से संस्कृत होते हैं। हृदयों में योगिजन प्रभु को देखने का प्रयत्न करते हैं—प्रभु इनके जीवन को रमणीय व विजयी बनाते हैं। २. ये **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **यदि**=यदि **स्तोतुः**=स्तोता की **हवम्**=पुकार को **श्रृणवत्**=सुनते हैं तो **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **न योषति**=अलग नहीं रहते। **आगमत्**=वे अवश्य आते ही हैं। हमारी आराधना को सुनते ही प्रभु प्राप्त होते हैं। वे प्रभु हमारे शत्रुओं के विनाश का कारण बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु तेजस्वी होते हुए अहिंसित हैं। वे स्थिर प्रभु शत्रुसंहार द्वारा हमारे जीवनों को रमणीय बनाते हैं। हमारी आराधना सुनते ही हमें प्राप्त होते हैं।

यह प्रभु-स्तवन करनेवाला 'रेभः' अगले सूक्त का ऋषि है—

५४. [चतुष्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—रेभः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अतिजगती ॥

इन्द्रं ततक्षुः जजनुः च राजसे

विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम्॥ १॥

१. **विश्वाः पृतनाः**=सब शत्रु-सैन्यों को **अभिभूतरम्**=अतिशयेन अभिभूत करनेवाले, **नरम्**=और इसप्रकार उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सजूः**=मिलकर प्रीतिपूर्वक उपासना के द्वारा (जुषी प्रीतिसेवनयोः) **ततक्षुः**=(form in the mind) मन में निर्मित करते हैं **च**=और **जजनुः**=उसे प्रादुर्भूत करते हैं। ध्यान द्वारा प्रभु की कल्पना करते हैं और उसका विकास करते हैं—प्रभु का अधिकाधिक साक्षात्कार करने के लिए यत्नशील होते हैं। जितना-जितना साक्षात्कार कर पाते हैं उतना-उतना ही **राजसे**=दीपन के लिए होते हैं—उनका जीवन उतना ही अधिक दीप्त हो उठता है। २. उस प्रभु का ध्यान करते हैं जो **क्रत्वा**=शक्ति व प्रज्ञान से **वरिष्ठम्**=अत्यन्त विशाल हैं। **वरे**=श्रेष्ठ कार्यों के निमित्त **आमुरिम्**=समन्तात् शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, **उत**=और **उग्रम्**=अत्यन्त तेजस्वी हैं। **ओजिष्ठम्**=ओजस्वी है, **तवसम्**=बलवान् हैं और **तरस्विनम्**=अतिशयेन वेगवान् हैं।

भावार्थ—हम मिलकर घरों में प्रभु की उपासना करते हुए हृदयों में प्रभु को प्रादुर्भूत करें। इसप्रकार हमारा जीवन दीप्त व शक्तिशाली बनेगा। शत्रु-संहार करते हुए हम उन्नति-पथ पर आगे बढ़ेंगे।

ऋषिः—रेभः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उपरिष्टाद्बृहती ॥

'धृतव्रत' प्रभु

समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये।
स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः॥ २॥

१. **रेभासः**=स्तोता लोग **ईम्**=निश्चय से **सोमस्य पीतये**=सोम का शरीर में ही रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सम् अस्वरन्**=संस्तुत करते हैं। प्रभु-स्मरण से वासनाओं को दूर भगाते हुए ये स्तोता सोम को शरीर में सुरक्षित करने में समर्थ होते हैं, २. उस प्रभु का स्तवन करते हैं जो **स्वःपतिम्**=प्रकाश के स्वामी हैं। **यत्**=चूंकि वे प्रभु **ईम्**=निश्चय से **वृधे**=स्तोता की वृद्धि के लिए होते हैं, वे प्रभु **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **हि**=निश्चय से **ऊतिभिः**=रक्षणों से **सम्** (वृधे)=हमारे वर्धन के लिए होते हैं। ये प्रभु **धृतव्रतः**=हमारे व्रतों का धारण करनेवाले हैं। प्रभु से रक्षित होकर ही हम व्रतों का पालन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन द्वारा शक्तिशाली बनकर वासनाओं का संहार करते हुए व्रतमय जीवन बिता पाते हैं और सोम का शरीर में रक्षण कर सकते हैं।

ऋषिः—रेभः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उपरिष्टाद्बृहती ॥

अद्रुहः अपि कर्णे तरस्विनः

नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः॥ ३॥

१. **विप्रः**=ज्ञानी लोग **चक्षसा**=ज्ञान के हेतु से **नेमिम्**=सब शत्रुओं को झुका देनेवाले उस

प्रभु को **नमन्ति**=नमस्कार करते हैं। **मेषम्**=सुखों से सिक्त करनेवाले उस प्रभु को **अभिस्वरा**=प्रातः-सायं स्तवन के द्वारा (स्वृ शब्दे) (नमन्ति) नमस्कार करते हैं। २. ये स्तोता ब्राह्मण **वः**=तुम्हारे **सुदीतयः**=उत्तम दीपन करनेवाले होते हैं—स्वयं ज्ञानदीप्त होते हुए औरों के लिए ज्ञान देनेवाले होते हैं। **अद्रुहः**=किसी का द्रोह नहीं करते। **अपि**=द्रोहशून्य होते हुए भी कर्णे (कृ विक्षेपे)=शत्रुओं के विक्षेपरूप कार्य में **ऋक्वभिः सम्**=ऋचाओं से—प्रभुस्तोत्रों से संगत हुए-हुए **तरस्विनः**=अतिशयेन वेगवान् होते हैं। द्रोहशून्य होते हुए भी ये लोग वासनाशून्य शत्रुओं को विनष्ट करने में सबसे तीव्र गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। दीप्त व द्रोहशून्य जीवनवाले बनकर वासनारूप शत्रुओं को विकीर्ण करनेवाले हों।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'रेभ' ही है—

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—रेभः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अतिजगती ॥

राये विश्वा सुपथा कृणोतु

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद्राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥ १ ॥

१. **तम्**=उस **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् व परमैश्वर्यशाली प्रभु को **जोहवीमि**=पुकारता हूँ, जोकि **मघवानम्**=सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं, **उग्रम्**=तेजस्वी हैं, **सत्रा**=सदा **शवांसि दधानम्**=बलों का धारण करनेवाले हैं, **अप्रतिष्कुतम्**=प्रतिशब्द से रहित हैं—जिनका युद्ध में कोई आह्वान नहीं कर सकता। २. वे प्रभु **मंहिष्ठः**=सर्वमहान् दाता हैं **च**=और **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से उपासना के योग्य हैं। ये प्रभु **आववर्तत्**=सर्वत्र वर्तमान हैं। **वज्री**=ये वज्रहस्त प्रभु **राये**=ऐश्वर्य के लिए **नः**=हमारे **विश्वा**=सब **सुपथा**=उत्तम मार्गों को **कृणोतु**=करें।

भावार्थ—हम उन प्रभु को पुकारें जो ऐश्वर्यशाली-तेजस्वी-बल के धारक व अद्वितीय योद्धा हैं। हम उस सर्वप्रद प्रभु को पूजें। प्रभु हमें सत्पथ से ऐश्वर्य की ओर ले-चलें।

ऋषिः—रेभः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥

'असुरः स्तोता, वृक्तबर्हिष्'

या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥ २ ॥

१. हे **स्वर्वान्**=प्रकाश व आनन्द से युक्त **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **याः भुजः**=जिन भोग-साधन धनों को **असुरेभ्यः आभरः**=(असवः प्राणाः, तेषु रमन्ते) प्राणसाधक लोगों के लिए प्राप्त कराते हैं। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तोतारम् इत्**=स्तोता को निश्चय से **अस्य वर्धय**=इसके द्वारा (अनेन) बढ़ाइए। प्राणसाधना करनेवाले जिन धनों को प्राप्त करते हैं, वे धन इन स्तोताओं को भी प्राप्त हों। २. **ये च**=और जो **त्वे**=आपमें निवास करते हुए **वृक्तबर्हिषः**=हृदय-क्षेत्र को पापों से रहित करते हैं, उन्हें इन धनों के द्वारा बढ़ाइए।

भावार्थ—हम 'प्राणसाधक, स्तोता व निष्पाप' बनते हुए उन ऐश्वर्यों को प्राप्त करें जो हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाले हैं।

ऋषिः—रेभः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥

'यजमान, सुन्वन्, दक्षिणावान्'

यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम्।

यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन्तं धेहि मा पणौ॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **यम्**=जिस **अश्वं गाम्**=कर्मेन्द्रियसमूह तथा ज्ञानेन्द्रियसमूह को तथा **अव्ययं भागम्**=(अवि अय्) विविध योनियों में भटकने का कारण न बननेवाले भजनीय धन को **यजमाने**=यज्ञशील पुरुष में, **सुन्वति**=सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष में तथा **दक्षिणावति**=दानशील पुरुष में **दधिषे**=धारण करते हैं, **तस्मिन्**=उसी 'गौ, अश्व व अव्ययभाग' में **तम्**=उस स्तोता को **धेहि**=धारण कीजिए। २. उस 'गौ, अश्व व अव्ययभाग' को **मा**=मत दीजिए जिसे हम **पणौ**=वणिक् वृत्तिवाले कृपण पुरुष में देखते हैं। कृपण-पुरुष का धन भी **अव्यय**=(अ-व्यय) दान आदि में व्ययित न होकर गढ़ा ही रहता है।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम यज्ञशील, सोम का सम्पादन करनेवाले व दानशील बनें। ऐसे बनकर उत्तम कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व प्रशस्त धनोंवाले हों। कृपण न बनें।

यह प्रशस्तेन्द्रियोंवाला स्तोता 'गोतम' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

मदाय-शवसे

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।

तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत्॥ १॥

१. **नृभिः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोगों से **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **शवसे**=बल की प्राप्ति के लिए तथा **मदाय**=आनन्द के उल्लास के लिए **वावृधे**=बढ़ाया जाता है। ये नर प्रभु का उपासन करते हैं जिससे बल व आनन्द प्राप्त कर सकें। ये प्रभु **वृत्रहा**=वासना का विनाश करनेवाले हैं **तम् इत्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **महत्सु**=बड़े-बड़े **आजिषु**=संग्रामों में **उत ईम्**=और निश्चय से **अर्भे**=छोटे-छोटे संग्रामों में **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु के द्वारा ही विजय की प्राप्ति होती है। २. **सः**=वे प्रभु **वाजेषु**=संग्रामों में **नः**=हमारा **प्र अविषत्**=प्रकर्षेण रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें बल व आनन्द प्राप्त कराता है। प्रभु हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं। प्रभु ही बड़े-छोटे सब संग्रामों में हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

'सेन्य-परादादि-वृध' प्रभु

असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि परादृदिः।

असि दभ्रस्य चिद् वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु॥ २॥

१. हे **वीर**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **सेन्यः असि**=हमारी सेनाओं के उत्तम संचालक हैं और इसप्रकार **भूरिपराददिः असि**=शत्रुओं को खूब ही परादान—पराजित करके दूर भगा देनेवाले हैं। २. **दभ्रस्य**=अल्प के **चित्**=भी—कम सेनावाले उपासक के भी **वृधः असि**=बढ़ानेवाले हैं। कम सेनावाला भी उपासक अधिक सेनावाले अनुपासक को

जीत लेता है। २. **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **शिक्षसि**=आप सदा देते हैं। **सुन्वते**=शरीर में सोम का सम्पादन करनेवाले के लिए **भूरि**=खूब ही ते **वसु**=आपका धन होता है। इस सुन्वन् को आप पालक व पोषक धन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारी सेनाओं के उत्तम संचालक—शत्रुओं का परादान करनेवाले व हमारा वर्धन करनेवाले हैं। हम यज्ञशील व सोम का सम्पादन करनेवाले बनें। प्रभु हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

धृष्णवे धीयते धना

यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना।
युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः॥ ३॥

१. **यत्**=जब **आजयः**=संग्राम **उदीरत**=उठ खड़े होते हैं तब **धृष्णवे**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले के लिए **धना धीयते**=धन धारण किये जाते हैं। संग्राम में विजेता ही धनों का पात्र बनता है। २. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **मदच्युता**=आनन्द को क्षरित करनेवाले, आनन्द को प्राप्त करानेवाले **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **युक्ष्व**=हमारे शरीर-रथ में युक्त कीजिए। आप **कम्**=किसी विरले ही उपासक को **हनः** (हन् गतौ) प्राप्त होते हैं। **कम्**=किसी विरले को ही **वसौ दधः**=वसुओं में धारण करते हैं। हे प्रभो **अस्मान्**=हमें तो आप अवश्य ही **वसौ दधः**=वसुओं में धारण कीजिए।

भावार्थ—संग्राम में विजयी को ही धन प्राप्त होते हैं। इस अध्यात्म-संग्राम में विजय के लिए प्रभु हमें प्राप्त हों। प्रभु हमारे शरीर-रथों में उत्तम इन्द्रियाश्वों को युक्त करें और हमें वसुओं में स्थापित करें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

उभया हस्त्या वसु आभर

मदेमदे हि नो ददिर्यूथा गवामृजुक्रतुः।
सं गृभाय पुरू शतोभया हस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर॥ ४॥

१. **ऋजुक्रतुः**=ऋजुता से सब कर्मों को करनेवाले ये प्रभु **मदे मदे**=उल्लास के जनक सोम का रक्षण होने पर **हि**=निश्चय से **नः**=हमारे लिए **गवां यूथा**=इन्द्रियों के समूहों को **ददिः**=देनेवाले होते हैं। २. हे प्रभो! आप **उभया हस्त्या**=दोनों हाथों से **पुरूशता**=बहुत सैकड़ों—अनेक **वसु**=धनों को **संगृभाय**=ग्रहण कीजिए। **शिशीहि**=हमारी बुद्धियों को तीव्र बनाइए और **रायः आभर**=हमारे लिए ऐश्वर्यों को प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाँ दें। धनों को प्राप्त कराएँ। धनों का सद्विनियोग करते हुए हम तीक्ष्ण बुद्धि बनें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

'पुरूवसु' प्रभु

मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे।
विद्मा हि त्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेऽथा नोऽविता भव॥ ५॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **सुते**=सोम का सम्पादन होने पर **सचा**=मेल के द्वारा—हमें अपना सान्निध्य प्राप्त कराने के द्वारा **मादयस्व**=आनन्दित कीजिए। इसप्रकार आप

हमारे **शवसे**=बल के लिए होइए तथा **राधसे**=सफलता व सिद्धि के लिए होइए। आपके मेल से हम शक्ति-सम्पन्न बनें और सब कार्यों को सिद्ध कर सकें। २. हम **त्वा**=आपको **हि**=निश्चय से **पुरूवसुम्**=अनन्त ऐश्वर्यवाला **विद्म**=जानते हैं। हम **उप**=आपकी उपासना में **कामान्**=अभिलाषाओं को **संसृज्महे**=उत्पन्न करते हैं। आपके समीप ही सब इच्छाओं को प्रकट करते हैं। **अथा**=अब आप **नः**=हमारे **अविता**=सब भागों का दोहन (प्रपूरण) करनेवाले **भव**=होइए। हमारे लिए सब भजनीय धनों को देनेवाले होइए।

भावार्थ—प्रभु का सान्निध्य ही 'आनन्द, शक्ति, सफलता व ऐश्वर्य' का साधक होता है।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

एते ते इन्द्र जन्तवः

एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम्।
अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **एते जन्तवः**=ये सब प्राणधारी प्राणी **ते**=आपके हैं। आपके होते हुए ये **विश्वम्**=सब **वार्यम्**=वरणीय धन को **पुष्यन्ति**=प्राप्त करते हैं। २. आप **हि**=निश्चय से **जनानाम्**=सब लोगों के **अन्तः**=अन्दर होते हुए **ख्यः**=उनके सब आन्तरभावों को देखते हैं। **अर्यः**=आप ही स्वामी हैं। **अदाशुषाम्**=अदानशीलों—कृपणों के **वेदः**=धन को भी आप देखते हैं। **तेषां वेदः**=उनके धन को भी **नः आभर**=हमारे लिए प्राप्त कराइए। हम इस धन का दान करते हुए प्राजापत्ययज्ञ में अपनी आहुति देनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु ही सब वरणीय धनों के देनेवाले हैं। प्रभु अन्तरस्थित होते हुए हमारे सब भावों को जानते हैं। आप कृपणों के धनों को दाश्वान् पुरुषों में प्राप्त करानेवाले हैं।

दान की वृत्तिवाले बनकर हम सदा 'मधुच्छन्दा' बनें—मधुर इच्छाओंवाले। यह 'मधुच्छन्दा' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'सुरूपकृत्नु' प्रभु

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥ १॥

१. हम अपने **ऊतये**=रक्षण के लिए उस प्रभु को **द्यवि द्यवि**=प्रतिदिन **जुहूमसि**=पुकारते हैं, जो प्रभु **सुरूपकृत्नुम्**=उत्तम रूप को करने में कुशल हैं। प्रभु हमें उत्तम रूप प्राप्त कराते हैं। २. इसी प्रकार हम इस 'सुरूपकृत्नु' प्रभु को पुकारते हैं, **इव**=जैसेकि **गोदुहे**=एक गोधुक् के लिए **सुदुघाम्**=सुखसंदोह्य गौ पुकारा जाता है। जैसे एक ग्वाले की यही कामना होती है कि मुझे सुखसंदोह्य गौ प्राप्त हो, इसी प्रकार हमारी प्रार्थना का स्वरूप यही हो कि हमें सुरूपकृत्नु प्रभु प्राप्त हों।

भावार्थ—हम अपने रक्षण के लिए प्रतिदिन प्रभु का आराधन करें। प्रभु हमें उत्कृष्ट जीवनवाला बनाते हुए 'सुरूप' प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सवन+सोमपान+दान

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब। गोदा इद्रेवतो मदः॥ २॥

१. हे प्रभो! **नः सवना उप आगहि**=हमारे यज्ञों में आप समीपता से प्राप्त होइए। आपने ही तो इन यज्ञों को पूर्ण करना है। **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले प्रभो! आप **सोमस्य पिब**=सोम का पान कीजिए। आप ही वासना-विनाश द्वारा हमारे जीवन में सोम का रक्षण करेंगे। २. **रेवतः**=एक धनी पुरुष का **मदः**=वास्तविक हर्ष **इत्**=निश्चय से **गोदाः**=गौओं को देनेवाला है। यज्ञमय जीवनवाला धनी पुरुष निश्चय से दानशील होता है। वस्तुतः यह दानशीलता ही उसके हर्ष का कारण बनती है।

भावार्थ—हम यज्ञों को करानेवाले हों, सोम का रक्षण करें और सम्पन्न होकर दानशील बनें। देने में हम आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अन्तम सुमतियों की प्राप्ति

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्। मा नो अति ख्य आ गहि॥ ३॥

१. हे प्रभो! **अथा**=अब **ते**=आपकी **उन्तमानाम्**=अत्यन्त अन्तिकतम—आपके समीप प्राप्त करानेवाली **सुमतीनाम्**=कल्याणी मतियों को **विद्याम**=प्राप्त करें। इन सुमतियों को प्राप्त करके हम आपके समीप पहुँचनेवाले बनें। २. हे प्रभो! आप **नः**=हमें **मा अति ख्यः**=छोड़कर ज्ञान देनेवाले न होइए, अर्थात् हम सदा आपके ज्ञानों के पात्र बनें। **आगहि**=आप हमें अवश्य प्राप्त होइए।

भावार्थ—हम उन कल्याणी-मतियों को प्राप्त करें, जोकि हमें प्रभु तक ले-जानेवाली हैं। हम सदा प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान के पात्र हों।

ऋषिः—**४-७ विश्वामित्रः; ८-१० गृत्समदः; ११-१६ मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**४-६, ८-१० गायत्री; ७ अनुष्टुप्; ११-१६ बृहती** ॥

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम्। इन्द्र सोमं शतक्रतो॥ ४॥
इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु। इन्द्र तानि त आ वृणे॥ ५॥
अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम्। उत्ते शुष्मं तिरामसि॥ ६॥
अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः।
उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि॥ ७॥
इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्। स हि स्थिरो विचर्षणिः॥ ८॥
इन्द्रश्च मृडयाति नो न नः पश्चादघं नशत्। भद्रं भवाति नः पुरः॥ ९॥
इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। जेता शत्रून्विचर्षणिः॥ १०॥

देखो व्याख्या अथर्व० २०.२०.१-७

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः॥ ११॥
दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा॥ १२॥
य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत्॥ १३॥

देखो व्याख्या अथर्व० २०.५३.१-३

वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्परि स्तोतार आसते॥ १४॥
स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः॥ १५॥
कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाजं दर्षि सहस्रिणम्।
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे॥ १६॥

देखो व्याख्या अथर्व० २०.५२.१-३

ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करके मानव हित में तत्पर 'नृ-मेध' अगले सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों का ऋषि है। इसी उद्देश्य से स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करनेवाला 'जमदग्नि' (जमत् अग्नि=जिसकी जाठराग्नि मन्द नहीं) तीसरे व चौथे मन्त्र का ऋषि है—

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)॥

श्रायन्त इव सूर्यम्

श्रायन्तइव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम॥ १॥

१. **सूर्यम् इव**=सूर्य की भाँति, अर्थात् जैसे सूर्य कभी विश्राम नहीं लेता, इसी प्रकार **श्रायन्तः** (श्रायति to sweat)=श्रम के कारण पसीने से निरन्तर तर-बतर होते हुए **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **विश्वा इत् वसूनि**=सब वसुओं (धनों) को **भक्षत**=उपभुक्त करो। विना श्रम के खाना पाप समझो। सब धनों को प्रभु का ही जानो। २. **ओजसा**=बल से—ओजस्विता से **जाते**= उत्पन्न हुए-हुए तथा **जनमाने**=आगे उत्पन्न होनेवाले धन में **भागं न**=अपने भाग के समान वसु को **प्रतिदीधिम**=प्रतिदिन धारण करें। हम श्रम से—बल से धनों का अर्जन करें और उन्हें अपने-अपने भाग के अनुसार बाँटकर खानेवाले बनें।

भावार्थ—श्रम से—पसीने से तर-बतर होकर हम धनों को कमाएँ और उन्हें अपने-अपने भाग के अनुसार बाँटकर खानेवाले बनें।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)॥

'अनर्शराति' प्रभु

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः।
सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन्॥ २॥

१. उस **अनर्शरातिम्**=निष्पाप दानवाले (Asinless donor) **वसुदाम्**=धनों के दाता प्रभु को **उपस्तुहि**=उपस्तुत कर। **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **रातयः**=दान **भद्राः**=कल्याणकर हैं। २. **सः**=वे प्रभु **अस्य विधतः**=इस-[प्रभु]-की पूजा करनेवाले की—उपासक की **कामम्**=अभिलाषा को **न रोषति**=हिंसित नहीं करते। प्रभु उपासक की अभिलाषा को पूर्ण करते हैं और **मनः**=उपासक के मन को **दानाय**=दान के लिए **चोदयन्**=प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—वसुओं के दाता प्रभु का हम स्तवन करें। प्रभु स्तोता की कामना को पूर्ण करते हैं और उसके मन को दान के लिए प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)॥

सूर्य-आदित्य

वण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि॥ ३॥

१. हे **सूर्य**=सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक प्रभो! आप **वट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् हैं। हे **आदित्य**=प्रलय के समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ले-लेनेवाले (आदानात्) प्रभो! आप **वट्**=सचमुच **महान् असि**=पूजनीय हैं। २. **महः सतः ते**=महान् होने हुए आपकी **महिमा**=महत्ता **पनस्यते**=हमसे स्तुत होती है। हम आपकी महिमा का गायन करते हैं। हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले, ज्ञानदीप्त व उपासकों को दीप्त करनेवाले प्रभो! आप **अद्धा**=सचमुच ही **महान् असि**=महान् हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभु 'सूर्य' हैं। अन्त में सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ले-लेनेवाले प्रभु 'आदित्य' हैं। उस महान् प्रभु की महिमा का हम सदा गायन करें।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)॥

'विभु आदभ्य' ज्योति

बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्॥ ४॥

१. हे **सूर्य**=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! आप **वट्**=सचमुच ही **अवसा**=ज्ञान के हेतु से **महान् असि**=पूजनीय हैं। आपके ज्ञान की पूर्णता के कारण आपका बनाया हुआ यह संसार भी पूर्ण है। हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप **सत्रा**=सचमुच ही **महान् असि**=महान् हैं। २. आप अपनी **मह्ना**=महिमा से **देवानाम् असुर्यः**=देवों के अन्दर प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले हैं। **पुरोहितः**=सृष्टि बनने से पूर्व ही विद्यमान हैं (समवर्तताग्रे) अथवा सब जीवों के लिए हित के उपदेष्टा हैं। आप तो एक **विभु**=व्यापक **अदाभ्यम्**=कभी हिंसित न होनेवाली **ज्योतिः**=ज्योति हैं। आपके उपासकों को भी यह ज्योति दीप्त अन्तःकरणवाला बनाती है।

भावार्थ—प्रभु अपने ज्ञान के कारण महान् हैं—वे एक पूर्ण सृष्टि का निर्माण करते हैं। अपनी महिमा से देवों के अन्दर प्राणशक्ति का सञ्चार करते हैं और उन्हें हितकर प्रेरणा देते हैं। प्रभु एक व्यापक अहिंस्य ज्योति हैं।

इस 'विभु अदाभ्य' ज्योति की ओर चलनेवाला 'मेध्यातिथि' अगले सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों का ऋषि है। पवित्र जीवनवाला 'वसिष्ठ' तीसरे व चौथे मन्त्र का ऋषि है—

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)॥

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथाइव॥ १॥

कण्वाइव भृगवः सूर्याइव विश्वमिद्धीतमानशुः।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन्॥ २॥

देखो व्याख्या अथर्व० २०.१०.१-२

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

इन्द्रः-हरिवान्-सोमी

उदिन्न्वस्य रिच्यतेऽशो धनं न जिग्युषः।
य इन्द्रो हरिवान्न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिनि॥ ३॥

१. **जिग्युषः धनं न**=विनयशील पुरुष के धन के समान **अस्य**=इस पुरुष का **यः**=जोकि **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनता है, उस जितेन्द्रिय पुरुष का **अंशः**=अंश **नु**=अब **इत्**=निश्चय से **उत् रिच्यते**=उद्रिक्त होता चलता है—इसका अंश बढ़ता ही जाता है। पिता की सम्पत्ति में भाग को 'अंश' कहते हैं। प्रभु पिता हैं। उनकी सम्पत्ति में इस जितेन्द्रिय पुरुष का भाग बढ़ता ही जाता है, अर्थात् इसका जीवन अधिक और अधिक दिव्य होता चलता है। २. (यः)=जो **हरिवान्**= जितेन्द्रियता द्वारा सोम-रक्षण करता हुआ प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनता है, **तम्**=उस प्रशस्तेन्द्रियाश्वोंवाले पुरुष को **रिपः न दभन्ति**=शत्रु हिंसित नहीं करते। यह रोग व वासनारूप शत्रुओं का शिकार नहीं होता। वे प्रभु **सोमिनि**=इस सोमरक्षक पुरुष में **दक्षं दधाति**=बल की स्थापना करते हैं।

भावार्थ—जो जितेन्द्रिय बनता है—उसमें प्रभु की दिव्यता का अंश बढ़ता जाता है। जो प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला बनता है उसे रोग व वासनाएँ हिंसित नहीं कर पातीं। सोमरक्षक पुरुष में बल का वर्धन होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

'अखर्व' ज्ञान

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भवत्॥ ४॥

१. हे जीवो! **यज्ञियेषु**=यज्ञात्मक कर्मों के होने पर **मन्त्रम् आदधात**=इस प्रभु से दिये गये मन्त्रात्मक ज्ञान को धारण करो, जोकि **अखर्वम्**=खर्व—अल्प नहीं है, **सुधितम्**=जो 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' ऋषियों के हृदयों में सम्यक् स्थापित किया जाता है तथा **सुपेशसं**=जो हमारे जीवनों का उत्तम निर्माण करनेवाला है। इस ज्ञान के अनुसार कर्म करने पर जीवन बड़ा सुन्दर बनता है। २. **यः**=जो **कर्मणा**=कर्मों के द्वारा **इन्द्रे भवत्**=सदा प्रभु में वास करता है, **तम्**=उसकी **पूर्वीः प्रसितयः**=पालन व पूरण करनेवाले व्रतों के बन्धन **चन**=निश्चय से **तरन्ति**=इस भवसागर से तरानेवाले होते हैं। प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्मों को करनेवाला अपने को सदा व्रतों के बन्धन में बाँधकर चलता है। ये व्रतबन्धन उसे इस भवसागर में विषयों की चट्टानों से टकराकर नष्ट नहीं होने देते।

भावार्थ—वेदज्ञान के अनुसार कर्म करने पर जीवन का बड़ा सुन्दर निर्माण होता है। प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्म करने पर हमारा जीवन व्रतमय बना रहता है और हम संसार के विषयों में फँसते नहीं।

प्रभु में निवास करनेवाला अथवा सोम का रक्षण करता हुआ यह 'सुतकक्ष' बनता है—सुत को ही—सोम को ही यह अपनी शरण बनाता है। अगले मन्त्रों में ये 'सुकक्ष सुतकक्ष' ही ऋषि हैं। ४ से ६ तक ऋषि मधुच्छन्दा है—उत्तम मधुर इच्छाओंवाला—

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—सुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

शूर-स्थिर

एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः। एवा ते राध्यं मनः॥ १॥

१. **एवा**=इसप्रकार, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्म करने पर तू **हि**=निश्चय से **वीरयुः असि**=वीरता की भावना को अपने साथ जोड़नेवाला है। **एवा**=इसप्रकार तू **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला **उत**=और **स्थिरः**=स्थिरवृत्ति का बनता है। २. **एवा**=इसप्रकार **ते**=तेरा **मनः**=मन **राध्यम्**=सिद्धि व सफलता से पूर्ण बनता है (to be successful) अथवा तेरा मन पूर्णता को प्राप्त होता है (to be accomplished), न्यूनताओं से रहित होता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्म करते हुए हम 'वीर, शूर व स्थिर' बनें। हम अपने मनों को न्यूनताओं से रहित कर पाएँ।

ऋषिः—सुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

धाता

एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः। अधा चिदिन्द्र मे सचा॥ २॥

१. हे **तुवीमघ**=महान् ऐश्वर्यवाले प्रभो! **एवा**=इसप्रकार, अर्थात् आपके स्मरणपूर्वक कर्म करने के द्वारा **विश्वेभिः**=सब **धातृभिः**=धारणात्मक कर्म करनेवालों से **रातिः धायि**=आपका दान धारण किया जाता है। ये धाता लोग आपसे ऐश्वर्य प्राप्त करके उस ऐश्वर्य का विनियोग धारणात्मक कर्मों में करते हैं। २. **अधा**=अब जबकि मैं ऐश्वर्य का विनियोग धारणात्मक कर्मों में करूँ, हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **चित्**=निश्चय से **मे सचा**=मेरे साथ होनेवाले होइए। आपको साथी के रूप में पाकर ही मैं उत्तम कार्यों को करता रह सकूँगा।

भावार्थ—लोकहित के कर्मों में ऐश्वर्य का विनियोग करनेवाले ही प्रभु से ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं—प्रभु इन्हीं के साथी (मित्र) होते हैं।

ऋषिः—सुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

गोमतः सुतस्य मत्स्वा

मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते। मत्स्वा सुतस्य गोमतः॥ ३॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **सुवाजानां पते**=अपनी शक्तियों का सम्यक् रक्षण करनेवाले जीव! **ब्रह्म इव**=शक्तियों का रक्षण करता हुआ तू ब्रह्म की भाँति बन। **मा उ**=मत ही **तन्द्रयुः**=आलस्य को अपने साथ जोड़नेवाला हो। आलस्यशून्य होकर अपने कर्त्तव्यकर्मों को करता हुआ तू **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले व प्रशस्त इन्द्रियों—इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाले **सुतस्य**=सोम का **मत्स्व**=आनन्द ले। सोम-रक्षण द्वारा जीवन को आनन्दमय बना।

भावार्थ—शक्तियों का रक्षण करते हुए हम प्रभु-जैसा बनने का प्रयत्न करें। आलस्यशून्य हों। इन्द्रियों को प्रशस्त बनानेवाले सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'सूनृता-मही' वेदवाणी

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही। पक्वा शाखा न दाशुषे॥ ४॥

१. **एवा**=इसप्रकार गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण होने पर हे वेदवाणि! तू **हि**=निश्चय

से **सूनृता**=शुभ, दुःखों का परिहाण करनेवाले ऋत ज्ञान को देनेवाली है। (सु+ऊन+ऋत्)। **विरप्शी**=विविध विज्ञानों का उपदेश देनेवाली **गोमती**=इन्द्रियों को प्रशस्त बनानेवाली व **मही असि**=पूजन में प्रवृत्त करनेवाली है। २. **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए—तेरे प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए तू **पक्वा शाखा न**=परिपक्व फलों से लदी हुई वृक्ष की शाखा के समान है, अर्थात् जैसे वह शाखा अनेकविध फलों को प्राप्त कराती है, इसी प्रकार तू इस दाश्वान् के लिए 'शरीर, मन व बुद्धि' के उत्कर्षरूप फलों को देनेवाली है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करके उस वेदवाणी को प्राप्त करने के पात्र बनते हैं जो विविध विज्ञानों को प्राप्त कराती हुई शरीर, मन व बुद्धि के उत्कर्ष को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विभूतयः=ऊतयः

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते। सद्यश्चित्सन्ति दाशुषे॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **एवा**=इसप्रकार—गतमन्त्र के अनुसार वेदवाणी के प्रति अपने को अर्पण करने पर—ज्ञानप्रधान जीवन बिताने पर **हि**=निश्चय से **ते**=आपकी **विभूतयः**=विभूतियाँ—सूर्य-चन्द्र-तारे आदि उत्कृष्ट रचनाएँ **मावते**=ज्ञानलक्ष्मी-सम्पन्न पुरुष के लिए (मा=ज्ञानलक्ष्मी) **ऊतयः**=रक्षक **सन्ति**=हो जाती हैं। प्रभु की सब विभूतियाँ ज्ञानी पुरुष का रक्षण करनेवाली होती हैं। २. ये विभूतियाँ **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए—ज्ञान के प्रति अपने को दे डालनेवाले के लिए **चित्**=निश्चय से **सद्यः**=शीघ्र ही प्राप्त होती हैं। प्रभु की इन विभूतियों से रक्षण प्राप्त करके यह सचमुच उत्तम लक्ष्मीवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु की सब विभूतियाँ ज्ञानी पुरुष के लिए रक्षण का साधन बन जाती हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

काम्या-शंस्या

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या। इन्द्राय सोमपीतये॥ ६॥

१. **एवा**=इसप्रकार **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस प्रभु के **काम्या**=कमनीय पदार्थ—सुन्दर रचनाएँ **स्तोमः**=प्रभु का स्तवन बन जाते हैं। इन पदार्थों के अन्दर एक जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु की महिमा को देखता है **च**=और **शंस्या**=प्रभु के सब शंसनीय कर्म **उक्थम्**=ऊँचे से गायन के योग्य होते हैं। एक जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु की महिमा का गायन करता है। २. ये सब स्तोम और उक्थ **इन्द्राय**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **सोमपीतये**=सोम-रक्षण का साधन होते हैं। इन स्तोमों और उक्थों को उच्चरित करता हुआ यह वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता और सोम को अपने ही अन्दर सुरक्षित कर पाता है।

भावार्थ—हम प्रभु से रचित कमनीय पदार्थों को देखते हुए प्रभु का स्तवन करें। प्रभु के शंसनीय कर्मों का ऊँचे से गायन करें। इसप्रकार वासनाओं से अनाक्रान्त होते हुए सदा सोम का रक्षण कर पाएँ।

इस सोम-रक्षण से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ सदा उत्तम कर्मों में ही प्रवृत्त होंगी। हम 'गोषूक्ती व अश्वसूक्ती' बनेंगे। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं—

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥

'लोककृत्नु-हरिश्री' मद

तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम्। उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम्॥ १॥

१. हे प्रभो! **ते**=आपके द्वारा जिसकी व्यवस्था की गई है **तम्**=उस सोम के रक्षण से उत्पन्न **मदम्**=उल्लास की **गृणीमसि**=हम प्रशंसा करते हैं। यह मद **वृषणम्**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला है। **पृत्सु**=संग्रामों में **सासहिम्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। २. **उ**=और निश्चय से यह मद हमारे जीवनों में **लोककृत्नुम्**=प्रकाश करनेवाला है (लोक=आलोक)। हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! यह मद (उल्लासजनक सोम) ही **हरिश्रियम्**=इन्द्रियों की श्री का कारण होता है। एवं, इन्द्रियाँ इसी से दीप्त होती व शक्ति प्राप्त करती हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से वासना-विनाश के द्वारा सोम-रक्षण होकर हमें उल्लास प्राप्त होता है जो हमें शक्तिशाली बनाकर संग्राम में विजयी करता है, प्रकाश को प्राप्त कराता है और इन्द्रियों की श्री को बढ़ाता है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥

आयवे-मनवे

येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ। मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि॥ २॥

१. हे प्रभो! **येन**=जिस सोमपान-जनित मद से आप **आयवे**=गतिशील व्यक्ति के लिए **च**=और **मनवे**=विचारशील व्यक्ति के लिए **ज्योतींषि**=ज्योतियों को **विवेदिथ**=प्राप्त कराते हैं, **अस्य**=इस **बर्हिषः**=वृद्धि के कारणभूत सोम का **विराजसि**=विशेष रूप से दीपन करते हैं। इस सोम के दीपन से ही **मन्दानः**=आप इन जीवों को आनन्दित करते हैं। २. सोम-रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम 'आयु' बनें, 'मनु' बनें। उत्तम कर्मों में लगे रहना और स्वाध्यायशील होना ही हमें सोम-रक्षण के योग्य बनाता है। यह रक्षित सोम ही सब वृद्धियों का कारण बनता है। यही जीवन में आनन्द का भी हेतु होता है।

भावार्थ—हम गतिशील व विचारशील बनकर सोम का रक्षण करें। यह सुरक्षित सोम वृद्धि व आनन्द का कारण बनेगा।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥

'वृषपत्नीः अपः' जय

तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा। वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे॥ ३॥

१. हे प्रभो! **अद्या चित्**=आज भी **पूर्वथा**=पहले की भाँति—इस सृष्टि में भी उसी प्रकार जैसेकि पूर्व सृष्टि में **उक्थिनः**=स्तोता लोग **ते**=आपके **तत्**=उस सोमपानजनित् बल व उल्लास का **अनुष्टुवन्ति**=स्तवन करते हैं। यह सोमरक्षण-जनित मद वस्तुतः प्रशस्यतम है। यही सब वृद्धियों व उन्नतियों का मूल है। २. हे प्रभो! आप हमारे लिए **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **अपः**=रेतःकण-रूप जलों का **जया**=विजय कीजिए। ये रेतःकणरूप जल ही **वृषपत्नीः**=हमारे जीवनों में धर्म का ('वृषो हि भगवान् धर्मः—मनु०') रक्षण करनेवाले हैं। वे ही हमें शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने सोम-रक्षण से उत्पन्न होनेवाले बल व मद की अद्भुत ही व्यवस्था की है। प्रभु के अनुग्रह से हम इन रेतःकणरूप जलों का विजय करें। ये रेतःकणरूप जल ही सब शक्तिशाली पुरुषों से रक्षणीय हैं—ये ही हमारे जीवनों में धर्म का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

प्रभु-गायन, प्रभु-पूजन

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्। इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ ४ ॥

१. **तम्**=उस **पुरुहूतम्**=बहुतों-से पुकारे जानेवाले **पुरुष्टुतम्**=खूब ही स्तुति किये जानेवाले प्रभु का **उ**=ही **अभिप्रगायत**=प्रातः-सायं गुणगान करो। यह प्रभु का गुणानुवाद ही आसुरवृत्तियों को दूर भगाने का साधन बनता है। २. उस **तविषम्**=महान्, सर्वशक्तिमान् **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **गीर्भिः**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों से **आविवासत**=पूजित करो। प्रभु-पूजन ही तो हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचाता है।

भावार्थ—हम प्रभु के गुणों का गायन करें—प्रभु का पूजन करें। यह गायन व पूजन ही हमें 'महान्, शक्तिमान् व ऐश्वर्यवान्' बनाएगा।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

सर्वज्ञ+सर्वशक्तिमान्=सर्वाधार

यस्य द्विबर्हसो बृहत्सहो दाधार रोदसी। गिरीँरज्राँ अपः स्व र्वृषत्वना ॥ ५ ॥

१. **यस्य**=जिस **द्विबर्हसः**=ज्ञान व शक्ति—दोनों दृष्टिकोणों से बढ़े हुए प्रभु का **बृहत् सहः**=महान् बल **रोदसी दाधार**=द्यावापृथिवी का धारण करता है, वे प्रभु ही **वृषत्वना**=अपने वीर्य व सामर्थ्य से **गिरीन्**=पर्वतों को, **अज्रान्**=खेतों को, **अपः**=जलों को तथा **स्वः**=प्रकाश को धारण करते हैं। २. वस्तुतः प्रभु ही सबका धारण करनेवाले हैं। सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होने से वे प्रभु सब लोक-लोकान्तरों व भूतों का ठीक से धारण कर रहे हैं। प्रभु का उपासक भी ज्ञान व शक्ति को बढ़ाता हुआ अपने जीवन में मस्तिष्क व शरीर दोनों को सुन्दरता से धारित करता है।

भावार्थ—वे सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने सामर्थ्य से सारे ब्रह्माण्ड का धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

जैत्र बल-श्रवणीय ज्ञान

स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे। इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥ ६ ॥

१. हे **पुरुष्टुत**=बहुत-से मनुष्यों से स्तुत प्रभो! **सः**=वे आप **राजसि**=सारे ब्रह्माण्ड के शासक हैं। **एकः**=बिना किसी अन्य की सहायता के अकेले ही **वृत्राणि जिघ्नसे**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को नष्ट करते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप वासनाओं को विनष्ट करके हमारे लिए **जैत्रा**=विजय के साधनभूत बलों को **च**=और **श्रवस्या**=श्रवणीय ज्ञानों को **यन्तवे**=देने के लिए होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करके हमारे लिए जैत्र बल व श्रवणीय ज्ञान को प्राप्त कराते हैं।

प्रभु-स्तवन के द्वारा 'जैत्र बल' व 'श्रवणीय ज्ञान' को प्राप्त करके अपना उत्तम भरण करनेवाला 'सौभरि' अगले सूक्त में १-४ मन्त्रों का ऋषि है। ५-७ तक ऋषि 'नृमेध'=मनुष्यों के सम्पर्क में चलनेवाला—सबके साथ उन्नति की कामनावाला है तथा ८-१० का ऋषि 'गोषूक्ती व अश्वसूक्ती' हैं—ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का उत्तम प्रयोग करनेवाले। 'सौभरि' प्रार्थना करता है—

६२. [द्विषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—सौभरिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—काकुभः प्रगाथः (विषमाककुप्+समा-सतोबृहती)॥

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः। वाजे चित्रं हवामहे॥ १॥
उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम्॥ २॥
यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे। सखाय इन्द्रमूतये॥ ३॥
हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम्॥ ४॥

देखो व्याख्या अथर्व २०.१४.१-४

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

इन्द्र-विप्र-बृहत्-धर्मकृत्-विपश्चित्-पनस्यु

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥ ५॥

१. **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **साम गायत**=साम (स्तोत्र) का गान करो। **विप्राय**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले **बृहते**=सदा से वर्धमान प्रभु के लिए **बृहत्**=खूब ही गायन करो। २. उस प्रभु के लिए गायन करो, जोकि **धर्मकृते**=धारणात्मक कर्मों को करनेवाले हैं। **विपश्चिते**=ज्ञानी हैं और **पनस्यवे**=स्तुति को चाहनेवाले हैं। जीव को इस स्तुति के द्वारा ही अपने लक्ष्य का स्मरण होता है। यह लक्ष्य का अविस्मरण उसकी प्रगति का साधन बनता है, इसीलिए प्रभु यह चाहते हैं कि जीव का जीवन स्तुतिमय हो।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु के समान ही इन्द्र (जितेन्द्रिय), बृहत् (वृद्धिवाले), विप्र (अपना पूरण करनेवाले), धर्मकृत् (धर्म का कार्य करनेवाले), विपश्चित् (ज्ञानी) व पनस्य (स्तुतिमय जीवनवाले) बनें।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

विश्वकर्मा+विश्वदेवः=महान्

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **अभिभूः असि**=हमारे सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं और **त्वम्**=आप ही इन शत्रुओं का विनाश करके हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में **सूर्यम् अरोचयः**=ज्ञानसूर्य को दीप्त करते हैं। बाह्य आकाश में सूर्य आदि का दीपन आपके द्वारा ही हो रहा है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। २. हे प्रभो! आप ही **विश्वकर्मा**=सब कर्मों के करनेवाले हैं। सब कार्यशक्ति आप से ही प्राप्त होती है। आप **विश्वदेवः**=सब दिव्य गुणोंवाले हैं। जैसे सूर्य आदि देवों को देवत्व आपसे ही प्राप्त होता है, इसी प्रकार सब देवपुरुषों को दैवीसम्पत्ति भी आप ही प्राप्त कराते हैं। इसी से आप **महान् असि**=महान् हैं—पूजनीय है।

भावार्थ—प्रभु हमारे सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं को अभिभूत करके हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का उदय करते हैं। हम सदा उस 'विश्वकर्मा-विश्वदेव-महान्' प्रभु का पूजन करें।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

संयम द्वारा प्रभु-मैत्री की प्राप्ति

विभ्राजञ्ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः। देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे॥ ७॥

१. हे प्रभो! **ज्योतिषा विभ्राजन्**=ज्योति से दीप्त होते हुए आप **स्वः अगच्छः**=सुख को प्राप्त होते हैं, अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं और अतएव आनन्दमय हैं। आप ही अपने उपासकों को **दिवः रोचनम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक की ज्ञानदीप्ति को (अगच्छः=अगमय=) प्राप्त कराते हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **ते**=आपकी **सख्याय**=मित्रता के लिए **येमिरे**=अपने को नियमों के बन्धनों में बाँधते हैं। यह संयम ही इन देवों को महादेव का मित्र बनाता है।

भावार्थ—प्रभु प्रकाशमय हैं, अतएव आनन्दमय हैं—उपासकों को भी प्रभु ज्ञान-दीप्ति प्राप्त कराते हैं। संयम-रज्जु में अपने को बाँधकर देववृत्ति के पुरुष महादेव के मित्र बनते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्। इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत॥ ८॥

यस्य द्विबर्हसो बृहत्सहो दाधार रोदसी। गिरीँरज्राँ अपः स्व१र्वृषत्वना॥ ९॥

स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे। इन्द्र जैत्रा श्रवस्या३च यन्तवे॥ १०॥

व्याख्या देखो अथर्व २०.६१.४-६

सब लोगों के हित की कामनावाला (भुवनस्य अस्ति इति) 'भुवनः' तथा साधनामय जीवनवाला 'साधनः' अगले सूक्त में प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि है। तृतीय के उत्तरार्ध में 'भरद्वाज' ऋषि है—अपने में शक्ति को भरनेवाला। बीच के तीन मन्त्रों के ऋषि 'गोतम' हैं—प्रशस्तेन्द्रिय। अन्तिम तीन के ऋषि 'पर्वत' हैं—अपना पूरण करनेवाले। 'भुवन' प्रार्थना करते हैं—

६३. [त्रिषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—भुवनः साधनो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

त्रिलोकी के अधिपति

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः।
यज्ञं च नस्तन्वं१च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति॥ १॥

१. **नु**=अब हम **इमा**=इस **भुवना**=शरीर, मन व मस्तिष्करूप लोकों को **सीषधाम**=सिद्ध करें—इन्हें अपने वश में करते हुए ठीक स्थिति में रक्खें। शरीर, मन व मस्तिष्क पर हमारा पूर्ण आधिपत्य हो। २. इस वशीकरण के होने पर **इन्द्रः च**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **च**=और **विश्वेदेवाः**=सूर्य-चन्द्र-अग्नि आदि सब देव **कम्**=सुख को (सीषधाम=साधयन्त सा०) सिद्ध करें। ३. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **आदित्यैः सह**=(अदिति=प्रकृति) सूर्य आदि सब प्राकृतिक शक्तियों के साथ **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यज्ञों को **चीक्लृपाति**=शक्तिशाली बनाते हैं। **च**=और इन यज्ञों के द्वारा **तन्वम्**=हमारे शरीरों को शक्ति-सम्पन्न करते हैं, **च**=और शरीरों को शक्ति-सम्पन्न बनाने के द्वारा **प्रजाम्**=अपनी सन्तानों को सशक्त करते हैं।

भावार्थ—हम 'शरीर, मन व मस्तिष्क' पर आधिपत्यवाले हों। इससे प्रभु व सब प्राकृतिक देव हमें सुखी करेंगे। ऐसा होने पर हम यज्ञों में प्रवृत्त होंगे। यज्ञों द्वारा नीरोग शरीरवाले व नीरोग

शरीर द्वारा उत्तम प्रजावाले बनेंगे। इन भुवनों पर आधिपत्यवाले हम सचमुच मन्त्र के ऋषि 'भुवन' होंगे।

ऋषिः—भुवनः साधनो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

शरीर-रक्षण-असुरहनन-देवत्वप्राप्ति

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम्।
हत्वाय देवा असुरान्यदायन्देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः॥ २॥

१. हमारे शरीर में सर्वप्रथम 'पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश' का पंचक गण है। फिर 'प्राण-अपान-व्यान-समान व उदान' नामक प्राण पंचक है। तीसरा गण पाँच कर्मेन्द्रियों, चौथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों का तथा अन्तिम गण 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' का है। वह **सगणः**=इन गणों के सहित **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आदित्यैः**=अदितिः-(प्रकृति)-पुत्रों—सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि के द्वारा तथा **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **अस्माकम्**=हमारे **तनूनाम्**=शरीरों का **अविता**=रक्षक **भूतु**=हो। सूर्यादि का सम्पर्क तथा प्राणसाधना शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक हैं। २. ये प्रभु से रक्षित व्यक्ति देव बनते हैं। ये **देवाः**=देव **यदा**=जब **असुरान् हत्वाय**=आसुरभावों को नष्ट करके **आयन्**=गति करते हैं तब ये **देवाः**=देव **देवत्वम् अभिरक्षमाणाः**=अपने में देवत्व का रक्षण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सूर्य आदि के सम्पर्क में रहते हुए तथा प्राणसाधना करते हुए हम शरीरों का रक्षण करें। आसुरभावों को नष्ट करते हुए देवत्व का अपने में साधन करें। काम-विनाश से स्वस्थ-शरीर बनें, क्रोधविनाश से शान्त मनवाले हों तथा लोभविनाश से दीप्त बुद्धिवाले बनें। स्वस्थ-शरीर, शान्त मन तथा दीप्त बुद्धि ही हमें देव बनाती है।

ऋषिः—(पूर्वार्धस्य) भुवनः साधनो वा; (उत्तरार्धस्य) भरद्वाजः॥
देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

इषिरा स्वधा

प्रत्यञ्चमर्कमनयं छचीभिरादित्स्वधामिषिरां पर्यपश्यन्।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के 'स्वस्थ-शरीर, शान्त मन व दीप्त बुद्धि' वाले देव **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों से **अर्कम्**=उपास्य प्रभु को **प्रत्यञ्चम् अनयन्**=अपने अभिमुख प्राप्त कराते हैं। अन्तःस्थित प्रभु का ये दर्शन करते हैं और **आत् इत्**=अब शीघ्र ही निश्चय से **स्वधाम्**=उस आत्मधारणशक्ति को **पर्यपश्यन्**=ये देखते हैं—अपने में अनुभव करते हैं, जोकि **इषिराम्**=इन्हें लोकहित के कार्यों में प्रेरित करती है। ये आत्मधारणशक्ति को प्राप्त करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। २. हम भी **अया**=(अनया) इस आत्मधारणशक्ति से **देवहितम्**=देवों में स्थापित किये गये **वाजम्**=बल को **सनेम**=प्राप्त करें और **सुवीराः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले होते हुए **शतं हिमाः**=शतवर्ष-पर्यन्त **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें। इसप्रकार इस मन्त्रभाग के ऋषि 'भरद्वाज' बनें।

भावार्थ—देव प्रज्ञापूर्वक कर्म करते हुए अन्तःस्थित प्रभु का दर्शन करते हैं—वे आत्मधारण-शक्ति का अनुभव करते हैं जो उन्हें लोकहित के कार्यों में प्रेरित करती हैं। हम भी इस आत्मधारणशक्ति के द्वारा बल प्राप्त करें और सुवीर होते हुए शतवर्षपर्यन्त उत्तम जीवनवाले बनें।

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

'ईशान-अप्रतिष्कुत' इन्द्र

य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे। ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग॥ ४॥

१. हे **अङ्ग**=प्रिय! **यः**=जो **एकः इत्**=बिना किसी अन्य की सहायता के अकेला ही **दाशुषे मर्ताय**=दाश्वान् (दानशील) पुरुष के लिए **वसु विदयते**=निवास को उत्तम बनाने के लिए साधनभूत वसुओं को प्राप्त कराता है, वही **ईशानाः**=सबका स्वामी है। २. हे प्रिय! यह **अप्रतिष्कुतः**=किसी से कभी युद्ध के लिए न ललकारा गया **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु है।

भावार्थ—वे प्रभु ही 'ईशान व अप्रतिष्कुत' हैं। दाश्वान् पुरुष के लिए वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

प्रभु-स्तवन व यज्ञ-साधन

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्। कदा नः शुश्रवद्गिर इन्द्रो अङ्ग॥ ५॥

१. हे **अङ्ग**=प्रिय! वे प्रभु **कदा**=न जाने कब, अर्थात् शीघ्र ही (In no time) **अराधसम्**=यज्ञ आदि कार्यों को सिद्ध न करनेवाले **मर्तम्**=पुरुष को इसप्रकार **स्फुरत्**=समाप्त कर देते हैं—उसका वध कर देते हैं **इव**=जैसेकि **पदा**=पैर से **क्षुम्पम्**=खुम्ब को परे फेंक दिया जाता है। २. **कदा**=कब **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः गिरः**=हमारे स्तुतिवचनों को **शुश्रवत्**=सुनते हैं, अर्थात् कब हम प्रभु का स्तवन करनेवाले बनेंगे। वस्तुतः वही सौभाग्य का दिन होगा जबकि हम प्रभु-स्तवन करते हुए यज्ञ आदि उत्तम कर्मों को सिद्ध करनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें और यज्ञ आदि उत्तम कर्मों को सिद्ध करने में लगे रहें।

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

बहुभ्यः सुतावान्

यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति। उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग॥ ६॥

१. हे **अङ्ग**=सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! (अगि गतौ) **यः**=जो **चित् हि**=भी निश्चय से **बहुभ्यः**=बहुतों के लिए **सुतावान्**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मोंवाला होता हुआ **त्वा**=आपका **आविवासति**=पूजन करता है, वह **तत्**=तब **उग्रं शवः**=तेजस्वी शत्रुविनाशक बल को **पत्यते**=प्राप्त होता है। 'उग्र शव' को प्राप्त होनेवाला यह उपासक **इन्द्रः**=स्वयं इन्द्र हो जाता है। यह शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला इन्द्र बन जाता है।

भावार्थ—हम लोकहित के लिए यज्ञ आदि कर्म करते हुए प्रभु का पूजन करें और इसप्रकार तेजस्वी बनें।

ऋषिः—पर्वतः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

'सोमपातमः' महः

य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति। येना हंसि न्यत्रिणं तमीमहे॥ ७॥

१. हे **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिशालिन् व क्रियाशील **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यः**=जो **सोमपातमः**=अतिशयेन सोम का पान करनेवाला **मदः**=उल्लास **चेतति**=जाना जाता है, **तम्**=उसको **ईमहे**=हम आपसे माँगते हैं, अर्थात् हम यही चाहते हैं कि क्रियाशील व जितेन्द्रिय बनकर आपकी उपासना करते हुए सोम का रक्षण कर सकें और जीवन को उल्लासमय बना पाएँ। २. इस सोमरक्षण-जनित **तम्**=उस उल्लास को प्राप्त करें **येन**=जिससे

कि आप **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाली इन वासनाओं को **निर्हंसि**=नष्ट कर देते हैं। सोम-रक्षण से शरीरस्थ रोगों के नाश की भाँति मन की आधियों का भी विनाश होता है।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण के द्वारा उल्लासमय जीवनवाले बनें। रोगों व वासनाओं का विनाश कर पाएँ।

ऋषिः—**पर्वतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

दशग्व-समुद्र

येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम्। येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥ ८ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **येन**=जिस 'सोमपातम मद' से, हे प्रभो! आप **दशग्वम्**=दसवें दशक तक जानेवाले, अर्थात् सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करनेवाले इस आराधक को **आविथ**=रक्षित करते हो **तम् ईमहे**=उस मद को हम आपसे माँगते हैं। सोम-रक्षण द्वारा उल्लासमय जीवनवाले होते हुए हम शतवर्ष जीवी बनें। २. हे प्रभो! हम उस सोमरक्षण-जनित मद को चाहते हैं जिससे कि आप **अध्रिगुम्**=अधृतगमनवाले मार्ग पर चलते समय वासनारूप विघ्नों से न रुक जानेवाले पुरुष को रक्षित करते हो। जिस मद से आप **वेपयन्तम्**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले को रक्षित करते हो और जिससे **स्वर्णरम्**=अपने को प्रकाश की ओर ले चलनेवाले पुरुष को रक्षित करते हो, उस मद को ही हम आपसे माँगते हैं। ३. हम उस मद को चाहते हैं **येन**= जिससे **समुद्रम्** (समुद्) आनन्दित रहनेवाले पुरुष को आप **आविथ**=रक्षित करते हैं। यह सोम-रक्षण उसे अन्नमयकोश में 'दशग्व' बनाता है, प्राणमयकोश में 'अध्रिगु', मनोमयकोश में 'वेपयन्', विज्ञानमयकोश में 'स्वर्णर' तथा आनन्दमयकोश में 'समुद्र' बनाता है। इसप्रकार बननेवाला व्यक्ति ही प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण-जनित मद हमें दीर्घजीवी, अधृतगमन—शत्रुओं को कम्पित करनेवाला, प्रकाश की ओर चलनेवाला व आनन्दमय मनोवृत्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—**पर्वतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

सोम-रक्षण के लाभ

येन सिन्धुं महीरपो रथाँइव प्रचोदयः। पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे ॥ ९ ॥

१. **येन**=जिस सोमपान-जनित मद से **सिन्धुम्**=ज्ञाननदी को तथा **महीः**=उपासनावृत्तियों को और **अपः**=कर्मों को, **रथान् इव**=शरीर-रथों को जैसे लक्ष्य की ओर, उसी प्रकार **प्रचोदयः**=आप प्रेरित करते हो **तम् ईमहे**=उस मद की हम याचना करते हैं। इस सोमपान-जनित मद से हमारे अन्दर ज्ञान-नदी प्रवाहित होती है, हमारे अन्दर उपासनावृत्ति जागती है तथा हम महत्त्वपूर्ण कर्मों को करते हैं और हमारा शरीर-रथ लक्ष्य की ओर चलता है। २. हम इसलिए सोमपान-जनित मद की याचना करते हैं कि हम **ऋतस्य**=यज्ञ के व सत्य के **पन्थाम् यातवे**=मार्ग पर चलनेवाले हों।

भावार्थ—सोम-रक्षण से ज्ञान की प्राप्ति होती है, उपासनावृत्ति जागती है, हम उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, शरीर-रथ लक्ष्य की ओर बढ़ता है और हम ऋत व सत्य के मार्ग पर चलते हैं।

इस सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष 'नृमेध' बनता है—सबके साथ मिलकर चलनेवाला। यही अगले सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि है तथा चार से छह मन्त्रों तक 'विश्वमनाः' ऋषि है—व्यापक मनवाला। यह नृमेध प्रार्थना करता है—

६४. [चतुःषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

सत्राजित्

एन्द्र नो गधि प्रियः सत्राजिदगोह्यः। गिरिर्न विश्वतस्पृथुः पतिर्दिवः ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमें **आगधि**=प्राप्त होइए। **प्रियः**=आप प्रीति व आनन्द के जनक हैं। **सत्राजित्**=सदा विजय प्राप्त करानेवाले हैं। **अगोह्यः**=आप किसी से संवृत किये जाने योग्य नहीं। सारे ब्रह्माण्ड को आपने अपने में आवृत किया हुआ है। आपकी महिमा कण-कण में दृष्टिगोचर होती है, आपका प्रकाश सर्वत्र है। २. आप **गिरिः न**=उपदेष्टा के समान हैं। हृदयस्थरूपेण सदा सत्कर्मों की प्रेरणा दे रहे हैं। **विश्वतः पृथुः**=आप सब दृष्टिकोणों से विशाल हैं। आपका ज्ञान, बल व ऐश्वर्य सब अनन्त हैं। आप **दिवः पतिः**=प्रकाश के—ज्ञान के स्वामी हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें विजय प्राप्त कराते हैं। ज्ञानोपदेश द्वारा वे हमारा कल्याण करते हैं।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

सुन्वतो वृधः

अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी। इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥ २ ॥

१. हे **सत्य**=सत्यस्वरूप **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **अभिबभूथ**=अभिभूत करते हो। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपके वश में है। २. हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! आप **सुन्वतः**=यज्ञशील पुरुष के व सोम का सम्पादन करनेवाले के **वृधः असि**=बढ़ानेवाले हैं। **दिवः**=स्वर्ग के—प्रकाश के **पतिः**=स्वामी हैं। जो भी यज्ञशील बनता है अथवा अपने जीवन में सोम का सम्पादन करता है, उसे आप स्वर्ग व प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु सारे ब्रह्माण्ड के शासक हैं। सोम का सम्पादन करनेवाले के रक्षक हैं। प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

पुरां दर्ता-मनोर्वृधः

त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि। हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **त्वं हि**=आप ही **शश्वतीनाम्**=(बह्वीनाम्) अनेक **पुराम्**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं की नगरियों के **दर्ता असि**=विदारण करनेवाले हैं। २. इन नगरियों का विध्वंस करके आप **दस्योः**=हमारा उपक्षय करनेवाले के **हन्ता असि**=नष्ट करनेवाले हैं। **मनोः वृधः**=विचारशील पुरुष का वर्धन करनेवाले हैं तथा **दिवः पतिः**=प्रकाश व स्वर्ग के स्वामी हैं।

भावार्थ—शत्रु-पुरियों का विद्रावण करके दस्यु-हनन के द्वारा प्रभु विचारशील पुरुष का वर्धन करते हैं और जीवन को प्रकाशमय व स्वर्गवाला बनाते हैं।

ऋषिः—विश्वमनाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

'वीर सदावृध' प्रभु का कर्मठ उपासक

एदु मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः। एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥ ४॥

१. हे **अध्वर्यो**=यज्ञशील पुरुष! तू **इत् उ**=निश्चय से **मध्वः अन्धसः**=माधुर्य का सञ्चार करनेवाले सोम से भी **मदिन्तरम्**=अधिक आनन्दित करनेवाले उस प्रभु को **आसिञ्च**=अपने में सिक्त कर। प्रभु की उपासना का भाव तेरी नस-नस में व्याप्त हो जाए। २. वह **वीरः**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करके दूर करनेवाला, **सदावृधः**=सदा से वृद्धि को प्राप्त हुआ-हुआ प्रभु **एवा हि**=गतिशीलता के द्वारा ही **स्तवते**=स्तुति किया जाता है, अर्थात् क्रियाशील पुरुष ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम उल्लास का कारण होता है। प्रभु का हृदय में धारण उससे भी अधिक आनन्दित करनेवाला होता है। उस 'वीर, सदावृध' प्रभु का सच्चा उपासक वही है, जो क्रियाशील है।

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

न शवसा, न भन्दना

इन्द्र॑ स्थातर्हरीणां॒ नकि॑ष्टे पू॒र्व्यस्तु॑तिम्। उदा॑नंश॒ शव॑सा॒ न भ॒न्दना॑॥ ५॥

१. हे **हरीणां स्थातः**=इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठातृभूत **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपकी **पूर्व्यस्तुतिम्**=पालन व पूरण करनेवाली बातों में सर्वोत्तम इस स्तुति को **नकिः उदानंश**=कोई भी अतिव्याप्त नहीं कर पाता—कोई भी व्यक्ति आपकी स्तुति का अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं होता। २. **न शवसा**=कोई भी बल से आपको अतिक्रान्त नहीं कर सकता। **न भन्दना**=कोई भी कल्याण व सुख से आपका उल्लंघन करनेवाला नहीं है। आप अनन्तशक्ति-सम्पन्न व आनन्दस्वरूप हैं। आपके उपासक में भी इस शक्ति व आनन्द की संक्रान्ति होती है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। यह स्तवन हमारी न्यूनताओं को दूर करता है। स्तवन से हमारे अन्दर शक्ति व आनन्द का संचार होता है।

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'शक्तियों के स्वामी, यज्ञों से वर्धनीय' प्रभु

तं वो॒ वाजा॑नां॒ पति॒महू॑महि श्रव॒स्यव॑ः। अप्रा॑युभिर्य॒ज्ञेभि॑र्वावृ॒धेन्य॑म्॥ ६॥

१. **श्रवस्यवः**=ज्ञान व यश की कामनावाले हम **तम्**=उस **वः**=तुम सबके **वाजानां पतिम्**=बलों के स्वामी प्रभु को **अहूमहि**=पुकारते हैं। प्रभु हमारी सब इन्द्रियों के बल का वर्धन करके हमारे ज्ञान व बल का वर्धन करते हैं। इसप्रकार हमारा जीवन यशस्वी बनता है। हम उस प्रभु को पुकारते हैं जो **अप्रायुभिः**=प्रमाद से रहित **यज्ञेभिः**=यज्ञों से **वावृधेन्यम्**=वर्धनीय हैं। जब हम प्रमादशून्य होकर यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं तब प्रभु का प्रकाश हममें निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु सब शक्तियों के स्वामी हैं। यज्ञों के द्वारा हममें प्रभु का प्रकाश होता है। ज्ञानी व यशस्वी होने के लिए हम प्रभु को पुकारते हैं।

अगले सूक्त के ऋषि हैं—'विश्वमना'=व्यापक, उदार मनवाले। विश्वमना कहते हैं—

६५. [पञ्चषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'स्तोम्य-नर' इन्द्र का स्तवन

ए॒तो न्विन्द्रं॒ स्तवा॑म॒ सखा॑य॒ स्तोम्यं॒ नर॑म्। कृ॒ष्टीर्यो विश्वा॑ अ॒भ्यस्त्येक॒ इत्॥ १॥

१. हे **सखायः**=मित्रो! **एत उ**=निश्चय से आओ! **नु**=अब उस **स्तोम्यम्**=स्तुति के योग्य **नरम्**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु का **स्तवाम**=स्तवन करें। यह सम्मिलित आराधन हमें प्रभु के अधिक और अधिक समीप लानेवाला हो। २. हम उस प्रभु का स्मरण करें **यः**=जो **एकः इत्**=अकेले ही **विश्वाः कृष्टीः**=सब मनुष्यों को **अभि अस्ति**=अभिभूत करनेवाले हैं। हमारे सब शत्रुओं का पराजय ये प्रभु ही तो करेंगे।

भावार्थ—हम सब मिलकर प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे सब शत्रुओं का अभिभव करके हमें उन्नति-पथ पर ले-चलेंगे।

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'घृत व मधु' से अधिक स्वादिष्ट वचन

अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः। घृतात्स्वादीयो मधुनश्च वोचत॥ २॥

१. **अगोरुधाय (गाः न रुणद्धि)**=ज्ञान की वाणियों को न रोकनेवाले—निरन्तर ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाले, **गविषे (गो+इष्)**=हमारे लिए उत्तम इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाले और इसप्रकार **द्युक्षाय**=प्रकाश में निवास करानेवाले प्रभु के लिए—प्रभु की प्राप्ति के लिए **दस्म्यं वचः**=दुःख का नाश करनेवालों में उत्तम वचन को **वोचत**=बोलो। दुःखियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व दुःखनिवारक वचनों को बोलनेवाला ही उस प्रभु को प्राप्त करता है, जो निरन्तर ज्ञान की वाणियों व उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराके हमें प्रकाश में निवासवाला बनाते हैं। २. हे मनुष्यो! प्रभु की प्राप्ति के लिए **घृतात् स्वादीयः**=घृत से भी अधिक स्वादिष्ट **च**=तथा **मधुनः**= शहद से भी अधिक मधुर वचन (वोचत) बोलो। कटुवचन दूसरे के हृदय को काटते हुए अन्तःस्थित प्रभु के भी निरादर का कारण होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति के लिए 'दुःखनाशक, घृत से भी स्वादिष्ट और शहद से भी अधिक मधुर' वचनों को बोलें। प्रभु ज्ञान की वाणियों व उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराके हमारे लिए प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

अनन्त 'वीर्य-ऐश्वर्य-ज्ञान व दान'-वाले प्रभु

यस्यामितानि वीर्या३ न राधः पर्येतवे। ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा॥ ३॥

१. **यस्य**=जिस प्रभु के **वीर्या**=वृत्रवध आदि पराक्रम के कार्य **अमितानि**=अगणित व अपरिमित हैं, उस प्रभु का **राधः**=ऐश्वर्य **पर्येतवे न**=चारों ओर से घेरे जाने योग्य नहीं है। उस प्रभु का पराक्रम व ऐश्वर्य अनन्त ही है। २. **ज्योतिः न**=प्रकाश की भाँति **दक्षिणा**=उस प्रभु का दान भी **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार को **अभ्यस्ति**=अभिभूत करनेवाला है। उस प्रभु का ज्ञान व दान निरतिशय है—सर्वातिशायी है—सबसे अधिक है।

भावार्थ—प्रभु का पराक्रम व ऐश्वर्य अनन्त है। वे प्रभु अपनी ज्योति व दक्षिणा से सभी को अभिभूत करनेवाले हैं।

अगले सूक्त के ऋषि भी 'विश्वमनाः' ही हैं—

६६. [षट्षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'अनूर्मि, वाजी, यम' प्रभु का स्तवन

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम्। अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे॥ १॥

१. **व्यश्ववत्**=व्यश्व की भाँति—उत्तम इन्द्रियोंवाले पुरुष की भाँति तू **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिशाली प्रभु का **स्तुहि**=स्तवन कर, जोकि **अनूर्मिम्**=(ऊर्मि=A human infirmity) शोक, मोह, जरा, मृत्यु व क्षुत्-पिपासारूप ऊर्मियों से रहित हैं 'शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे षडूर्मयः'। उस प्रभु में शोक-मोह आदि किसी भी दुर्बलता का निवास नहीं, अतएव **वाजिनम्**=वे प्रभु शक्तिशाली हैं और **यमम्**=सर्वनियन्ता हैं। प्रभु का स्तोता भी दुर्बलताओं से ऊपर उठता है, शक्तिशाली बनता है और संयम की वृत्तिवाला होता है। २. उस प्रभु का हम स्तवन करें जोकि **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **अर्यः**=काम, क्रोध, लोभरूप शत्रुओं के **गयम्**=गृह को **विमंहमानम्**=विशेषरूप से प्राप्त कराते हैं। 'काम' ने आज तक इन्द्रियों में अपना निवास बनाया हुआ था, 'क्रोध' ने मन को अपनाया हुआ था और 'लोभ' ने बुद्धि पर अधिकार किया हुआ था। प्रभु इन सबको दूर करके यह शरीर-गृह दाश्वान् को प्राप्त कराते हैं। उपासक के जीवन में काम, क्रोध, लोभ का निवास नहीं रहता।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम शोक-मोह आदि से ऊपर उठते हैं। शक्तिशाली व संयमी बनते हैं। हमारा शरीर काम, क्रोध, लोभ का घर नहीं बना रहता।

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

दशमं नवम्

एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम्। सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम्॥ २॥

१. **एवा**=गतिशीलता के द्वारा—कर्त्तव्यकर्मों को करने के द्वारा हे **वैयश्व**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले स्तोता! तू **नूनम्**=निश्चय से **उपस्तुहि**=उस प्रभु का स्तवन कर जोकि **दशमम् (दश्यन्ते शत्रवः अनेन)**=हमारे शत्रुओं का विध्वंस करनेवाले हैं और अतएव **नवम् (नु स्तुतौ)**= स्तुति के योग्य हैं। २. उस प्रभु का स्तवन कर जोकि **सुविद्वांसम्**=उत्तम ज्ञानी हैं और **चरणीनाम्**=कर्त्तव्य-कर्मों के करने में तत्पर मनुष्यों के **चर्कृत्यम्**=फिर-फिर नमस्कार करने योग्य हैं। वस्तुतः यह प्रभु-नमस्कार ही उन्हें 'चरणि' बनाता है। प्रभु-नमस्कार से शक्ति-सम्पन्न बनकर वे कर्त्तव्यकर्म कर पाते हैं।

भावार्थ—हम 'दशम-नव-सुविद्वान्—नमस्करणीय' प्रभु का स्तवन करते हुए उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले व शक्ति-सम्पन्न बनकर कर्त्तव्यकर्म करने में तत्पर रहें।

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

निर्ऋति परिवर्जन

वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम्। अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव॥ ३॥

१. हे **वज्रहस्त**=व्रज को हाथ में लिये हुए प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **निर्ऋतीनाम्**=उपद्रवकारी राक्षसीभावों के **परिवृजम्**=परिवर्जन को—हमसे पृथक् करने को **वेत्थ**=जानते हैं। आपका स्मरण व स्तवन होते ही हमारे हृदयों को राक्षसीभाव छोड़कर चले जाते हैं। २. आप राक्षसीभावों के परिवर्जन को इसी प्रकार जानते हैं, **इव**=जिस प्रकार **शुन्ध्युः**=सब अन्धकार का शोधन कर देनेवाला सूर्य **अहरहः**=प्रतिदिन **परिपदाम्**=आहार के लिए चारों ओर गतिवाले पशु-पक्षियों के स्वस्थान परिवर्जन को जानता है। सूर्योदय होते ही सब पक्षी घोंसलों को छोड़कर इधर-उधर निकल जाते हैं। इसी प्रकार प्रभु-स्मरण होते ही राक्षसीभाव हृदयों को छोड़ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण राक्षसीभावों को दूर भगा देता है। इनको दूर रखने के लिए दिन-

रात प्रभु-स्मरण आवश्यक है। सूर्यास्त होने पर पक्षी जैसे घोंसलों में लौट आते हैं, इसी प्रकार प्रभु-विस्मरण होते ही राक्षसीभावों के लौट आने की आशङ्का होती है।

निर्ऋति परिवर्जन करता हुआ यह व्यक्ति 'परुत्' बनता है—पालन व पूरण करनेवाला। इसप्रकार जीवन का सुन्दर निर्माण करनेवाला यह 'शेप' कहलाता है। यह 'परुच्छेप' अगले सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि है। चार से सात तक ऋषि 'गृत्समद' है (गृणाति माद्यति)= प्रभु-स्तवन करता है व आनन्द में रहता है—

६७. [सप्तषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—परुच्छेपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अत्यष्टिः॥

'सुन्वन्' का सुन्दर जीवन

वनोति हि सुन्वन्क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः।
सुन्वान इत्सिषासति सहस्रा वाज्यवृतः।
सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं ददात्याभुवम्॥ १॥

१. **सुन्वन्**=अपने शरीर में सोमरस (वीर्य) का अभिषव करनेवाला व्यक्ति **हि**=निश्चय से **क्षयम्**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व गतिवाले शरीररूप गृह को **वनोति**=प्राप्त करता है (Wins)। इस सोम के रक्षण से शरीर की शक्तियाँ बनी रहती हैं और क्रियाशीलता में कमी नहीं आती। **सुन्वानः**=सोम का अभिषव करनेवाला यह **हि**=निश्चय से **परीणसः** (परितो नद्धान् सा०)=चारों ओर से बाँधनेवाले—हमपर आक्रमण करनेवाले **द्विषः**=द्वेष आदि शत्रुओं को **अवयजाति**=दूर करता है। **देवानां द्विषः**=दिव्य भावनाओं के दुश्मनों को—दिव्य भावनाओं की विरोधी आसुरभावनाओं को **अव**=अपने से दूर करता है। रोगरक्षण से द्वेष आदि आसुरभावनाएँ दूर होकर मानस पवित्रता का लाभ होता है। २. **सुन्वानः इत्**=सोम का अभिषव करता हुआ ही **वाजी**=शक्तिशाली बनता है, **अवृतः**=द्वेष आदि शत्रुओं से घेरा नहीं जाता और **सहस्रा**=शतशः धनों को **सिषासति**=संभक्त करना चाहता है, अर्थात् यह सुन्वान शतशः धनों को प्राप्त करके उन्हें देने की वृत्तिवाला होता है। ३. **सुन्वानाय**=सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिए ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आभुवम्**=सर्वतो व्याप्त, अर्थात् अत्यन्त प्रवृद्ध **रयिम्**=धन को **ददाति**=देता है। उस धन को **ददाति**=देता है जोकि **आभुवम्**=समन्तात् भवनशील होता है, अर्थात् सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त होता है।

भावार्थ—शरीर में सोम के रक्षण से (क) हमारा शरीररूप गृह उत्तम बनता है (ख) हम यज्ञ से आसुरभावों को दूर कर पाते हैं (ग) शक्तिशाली बनकर शतशः धनों को प्राप्त करते हैं (घ) उन धनों को प्राप्त करते हैं जो हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—अत्यष्टिः॥

'चित्त-नव्य-अमर्त्य' सोमरूप धन

मो षु वो अस्मदभि तानि पौंस्या सना भूवन्द्युम्नानि मोत जारिषुरस्मत्पुरोत जारिषुः।
यद्वश्चित्रं युगेयुगे नव्यं घोषादमर्त्यम्।
अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिधृता यच्च दुष्टरम्॥ २॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=आपके—आपकी साधना से उत्पन्न होनेवाले **तानि**=वे प्रसिद्ध **सना**=संभजनीय—सेवनीय-**पौंस्या**=बल **अस्मत्**=हमसे **उ**=निश्चयपूर्वक **मा सु अभिभूवन्**=

(अपगतानि मा भूवन् सा०) मत ही अलग हों। **उत**=और **द्युम्नानि**=ज्ञान की ज्योतियाँ **मा जारिषुः**=क्षीण न हों। **उत**=और **अस्मत्**=हमारी **पुरा**=ये शरीररूप नगरियाँ **मा जारिषुः**=जीर्ण न हो जाएँ। एवं, प्राणसाधना से (क) शक्ति प्राप्त होती है (ख) ज्ञानज्योति बढ़ती है (ग) शरीर स्वस्थ होता है। २. हे मरुतो! **यत्**=जो **वः**=आपका **चित्रम्**=अद्भुत **युगे-युगे**=जीवन के प्रत्येक काल में—बाल्य, यौवन व वार्धक्य में—**नव्यम्**=स्तुति के योग्य धन है, जो धन **अमर्त्यं घोषात्**=मनुष्य की अमर्त्यता की घोषणा करता है **तत्**=उस धन को **अस्मासु**=हममें **दिधृता**=धारण कीजिए **च**=और उस धन को धारण कीजिए **यत्**=जो **दुष्टरम्**=शत्रुओं से तैरने योग्य नहीं है **यत् च**=और जो सचमुच **दुष्टरम्**=शत्रुओं से तैरने योग्य नहीं। मरुतों का यह धन सोम ही है। प्राणसाधना से इस सोम का शरीर में रक्षण होता है। रक्षित सोमरूप धन (चित्रम्=)अद्भुत है। यह जीवन के प्रत्येक अन्तर (Period) में स्तुत्य परिणामों को पैदा करता है (नव्यम्)। यह हमें अमर्त्य बना देता है—रोगों का शिकार नहीं होने देता। रोगकृमिरूप शत्रुओं से यह सोम दुष्टर होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें शक्ति प्राप्त होती है, हमारी ज्ञानज्योति बढ़ती है, शरीर क्षीण नहीं होते। इस साधना से सोम-रक्षण द्वारा 'अद्भुत' स्तुत्य-पूर्ण जीवन को प्राप्त करानेवाला—दुष्टर बल प्राप्त होता है।

ऋषिः—**परुच्छेपः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥

जातवेदा अग्नि का उपासन

अ॒ग्निं होता॑रं मन्ये॒ दास्व॑न्तं॒ वसुं॑ सू॒नुं सह॑सो जा॒तवे॑दसं॒ विप्रं॒ न जा॒तवे॑दसम्।
य ऊ॒र्ध्वया॑ स्वध्व॒रो दे॒वो दे॒वाच्या॑ कृ॒पा।
घृ॒तस्य॒ विभ्रा॑ष्टि॒मनु॑ वष्टि शो॒चिषा॒जुह्वा॑नस्य स॒र्पिषः॑ ॥ ३ ॥

१. मैं **अग्निम्**=उस सर्वाग्रणी—हमारी अग्रगति के साधक प्रभु का **मन्ये**=मनन व विचार करता हूँ जो प्रभु **होतारम्**=सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं, **दास्वन्तम्**=सब-कुछ देनेवाले हैं, **वसुम्**=निवास के लिए आवश्यक सब धनों को प्राप्त कराके हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं, **सहसः सूनुम्**=बल के पुत्र—शक्ति के पुञ्ज हैं तथा **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ हैं। वे प्रभु **विप्रं न**=जैसा हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं, उसी प्रकार **जातवेदसम्**=(जाते जाते विद्यते) हम सबके अन्दर विद्यमान हैं। अन्तःस्थित होते हुए वे हमारा पूरण कर रहे हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **स्वध्वरः**=उत्तम अहिंसात्मक यज्ञोंवाले **देवः**=प्रकाशमय होते हुए **ऊर्ध्वया**=अत्यन्त उन्नत **देवाच्या** (देवान् अञ्चति)=देवों को प्राप्त होनेवाले **कृपा**=सामर्थ्य से हमारे जीवनों में **घृतस्य**=ज्ञानदीप्ति की **विभ्राष्टिम् अनु**=ज्योति के बाद **शोचिषा**=मन की शुद्धता के साथ **आजुह्वानस्य सर्पिषः**=आहुति दिये जाते हुए घृत की **वष्टिम्**=कामना करते हैं। प्रभु हमारे जीवनों में तीन बातें चाहते हैं (क) ज्ञान की दीप्ति (ख) हृदय की पवित्रता (ग) हाथों से यज्ञों का प्रवर्तन।

भावार्थ—प्रभु 'अग्नि-होता-दास्वान्-सहसः सूनु व जातवेदाः' हैं; उनसे सामर्थ्य प्राप्त करके हम मस्तिष्क में ज्ञानदीप्तिवाले, हृदय में पवित्रतावाले तथा हाथों में यज्ञोंवाले बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

भरतस्य सूनवः

य॒ज्ञैः संमि॑श्ला॒: पृष॑तीभिर्ऋ॒ष्टिभि॒र्यामं॑ छुभ्रासो॑ अ॒ञ्जिषु॑ प्रि॒या उ॒त।
आ॒सद्या॑ ब॒र्हिर्भ॑रतस्य सूनवः पो॒त्रादा सोमं॑ पिबता दिवो नरः ॥ ४ ॥

१. **नरः**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले मनुष्यो! **बर्हिः आसद्य**=वासनाशून्य हृदय में आसीन होकर आप **दिवः**=ज्ञान-प्रकाश के हेतु से तथा **पोत्रात्**=पोतृकर्म के हेतु से—अपने जीवन को पवित्र बनाने के दृष्टिकोण से **सोमम् आपिबत**=सोम (वीर्य) का अपने अन्दर ही पान करो। इसप्रकार तुम **भरतस्य सूनवः**=भरत के पुत्र बनो—अपना भरण बड़ी उत्तमता से करनेवाले बनो। २. **यज्ञैः संमिश्लाः**=ये सोमपान करनेवाले यज्ञों से युक्त होते हैं—इनका जीवन यज्ञमय बनता है। ये लोग **यामम्**=इस जीवन-यात्रा के मार्ग में **पृषतीभिः** (पृष् सेचने)=जिनका शक्ति से सेचन किया गया है, ऐसे **ऋष्टिभिः**=आयुधों से—इन्द्रियों, मन व बुद्धिरूप साधनों से **शुभ्रासः**=उज्ज्वल जीवनवाले होते हैं। इनकी इन्द्रिय, मन व बुद्धि सभी चमकते हैं **उत**=और ये सोमरक्षक पुरुष **अञ्जिषु**=आभरणों में **प्रिया**=बड़े प्रिय लगते हैं। स्वास्थ्य, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता ही इनके आभरण होते हैं। इन आभरणों से इनकी शोभा बढ़ जाती है।

भावार्थ—ज्ञान व पवित्रता के उद्देश्य से हम सोम का रक्षण करें। इससे हमारा जीवन यज्ञमय, प्रकाशमय व शक्ति-सम्पन्न होगा।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सोम-रक्षण से अग्नितत्त्व की उचित स्थिति

आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन्होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु।
प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात्तव भागस्य तृप्णुहि॥ ५॥

१. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले **विप्र**=ज्ञानिन्! **इह**=इस जीवन में **देवान्**=देवों को—दिव्य गुणों को **आवक्षि (आवह)**=प्राप्त कर, **च**=और **उशन्**=प्रभु-प्राप्ति की कामना करता हुआ **यक्षि**=दिव्यगुणों को अपने साथ संगत कर। **त्रिषु योनिषु**=तीनों घरों में **निषद**=तू आसीन हो। स्थूलशरीर में आसीन हुआ-हुआ तू पूर्ण स्वस्थ बन। सूक्ष्मशरीर में आसीन हुआ-हुआ तू ज्ञान को बढ़ानेवाला हो। कारणशरीर में स्थित हुआ-हुआ तू सबके साथ एकत्व का अनुभव कर। २. इस **प्रस्थितम्**=निरन्तर गतिवाले—चलने के स्वभाववाले—**सोम्यं मधु**=सोम-सम्बन्धी मधु का तू **प्रतिवीहि**=भक्षण कर—इसे तू शरीर में ही सुरक्षित कर। **आग्नीध्रात्**=अपने अन्दर अग्नितत्त्व के धारण के उद्देश्य से तू इसे **पिब**=अपने अन्दर पीनेवाला हो। तू **तव**=अपने **भागस्य तृप्णुहि**=इस भजनीय सोम के पान से तृप्ति (प्रीति) का अनुभव कर। इस सोम के पान से तेरा मन सदा प्रसन्न हो।

भावार्थ—सोम-रक्षण से शरीर में अग्नितत्त्व ठीक बना रहता है और मन में प्रसन्नता होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

नृम्ण-सहः-ओजः

एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः।
तुभ्यं सुतो मघवन्तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपत्पिब॥ ६॥

१. **एषः स्यः**=ये जो गतमन्त्रों में वर्णित सोम **ते तन्वः**=तेरे शरीर के **नृम्णवर्धनः**=बल का वर्धन करनेवाला है, इसके द्वारा **प्रदिवि**=प्रकृष्ट ज्ञान होने पर **सहः**=शत्रुमर्षक बल तथा **ओजः**=इन्द्रियशक्तियों का वर्धक बल **बाह्वोः**=तेरी भुजाओं में **हितः**=स्थापित होता है। २. **तुभ्यं सुतः**=तेरे लिए इस सोम को उत्पन्न किया गया है। हे **मघवन्**=यज्ञशील पुरुष! **तुभ्यम्**=तेरे हित के लिए **आभृतः**=यह शरीर में समन्तात् भृत हुआ है। **त्वम्**=तू **ब्राह्मणात्**=ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति

के हेतु से **आतृपत्पिब**=खूब तृप्त होता हुआ इसे पी। इसे तू अपने अन्दर ही व्याप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित हुआ सोम बल व सुख को बढ़ानेवाला है। यह रोगकृमिरूप शत्रुओं को कुचलनेवाला है। इन्द्रियशक्तियों का वर्धक है। अन्ततः यह ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—द्रविणोदाः॥ छन्दः—जगती॥

'प्रभु-स्मरण व यज्ञों' में लगे रहना

यमु पूर्वमहुवे तमिदं हुवे सेदु हव्यो ददिर्यो नाम पत्यते।
अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधु पोत्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥ ७॥

१. **यम् उ**=जिस प्रभु को ही **पूर्वम् अहुवे**=मैं दिन के प्रारम्भ में पुकारता हूँ **तम् इदं हुवे**=उस प्रभु को ही अब सायं भी पुकारता हूँ। **सः इत् उ**=वह प्रभु ही **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं—आराधना के योग्य हैं। **ददिः**=वे ही सब-कुछ देनेवाले हैं, **यः**=जो **नाम**=निश्चय से **पत्यते**=सारे संसार के ईश व पति हैं। २. **अध्वर्युभिः**=जीवन-यज्ञ को चलानेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धि से **प्रस्थितम्**= प्रस्थान व गति के स्वभाववाले **सोम्यं मधु**=सोम-सम्बन्धी मधु का तू **पिब**=पान कर। यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त इन्द्रियों से ही सोम का रक्षण सम्भव होता है। ३. हे **द्रविणोदः**=धनों को दान करनेवाले यज्ञशील पुरुष! **पोत्रात्**=अपने जीवन को पवित्र बनाने के दृष्टिकोण से **ऋतुभिः सोमं पिब**=समय रहते तू सोम का पान कर। तू युवावस्था में ही सोम को शरीर में सुरक्षित करनेवाला बन।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें—यज्ञों की वृत्तिवाले बनें। यही सोम-रक्षण का मार्ग है।

सोम-रक्षण से हम 'मधुच्छन्दाः'=उत्तम इच्छाओंवाले बनते हैं। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

६८. [अष्टषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥ १॥
उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब। गोदा इद्रेवतो मदः॥ २॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्। मा नो अति ख्य आ गहि॥ ३॥

व्याख्या देखें अथर्व० २०.५७.१-३

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

'विप्र, अस्तृत, विपश्चित्'

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्। यस्ते सखिभ्य आ वरम्॥ ४॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित 'सुमतियों' के प्रापण के लिए प्रभु जीव से कहते हैं—**परेहि**=विषयों व सांसारिक कामनाओं से दूर हो। **विग्रम्**=मेधावी **अस्तृतम्**=काम-क्रोध आदि से अहिंसित पुरुष को प्राप्त हो। इस ज्ञानी व संयमी पुरुष के समीप प्राप्त होकर तू ज्ञान का संग्रह करने में यत्नशील हो। इस **विपश्चितम्**=ज्ञानी पुरुष से **इन्द्रं पृच्छा**=परमात्मा के विषय में पूछनेवाला हो। २. उस विपश्चित् से तू प्रश्न करनेवाला बन, **यः**=जो **ते**=तेरे लिए तथा **सखिभ्यः**=तेरे समान ज्ञान-प्राप्त

करने की कामनावाले मित्रों के लिए उस **वरम्**=श्रेष्ठ वरणीय ज्ञानधन को **आ** (नयति) प्राप्त कराता हो।

भावार्थ—हम विषयों से ऊपर उठें और 'विप्र, अस्तृत, विपश्चित्' पुरुषों से आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

व्यर्थ के कार्यों से दूर

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद्दुवः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हम ज्ञानी व संयमी पुरुषों के समीप पहुँचकर ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करें ही, **उत**=और इसके साथ हम **निदः**=निन्दाओं को **नो** (न+उ)=न ही **ब्रुवन्तु**=बोलें—हमारे मुख से कभी निन्दात्मक शब्दों का उच्चारण न हो। २. प्रभु कहते हैं कि **अन्यतः**=दूसरे कामों से, अर्थात् अनावश्यक अनुपयोगी कार्यों से **चित्**=निश्चयपूर्वक **निः आरत**=बाहर गति करनेवाले हों। 'ताश खेलते रहना या गपशप मारते रहना' आदि कर्मों से निश्चयपूर्वक बचो। ३. जब भी कभी अवकाश हो, अर्थात् हम घर के कार्यों को कर चुके हों—स्वाध्याय से श्रान्त हो गये हों तब हम **इत्**=निश्चयपूर्वक **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **दुवः**=परिचर्या को **दधानाः**=धारण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम निन्दा न करें, व्यर्थ के कार्यों से दूर रहने का ध्यान करें। अवकाश के समय में सदा प्रभु के नाम का जप करें, उसी के अर्थ का भावन करें (तज्जपः, तदर्थभावनम्)

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

इन्द्रस्य शर्मणि

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥ ६॥

१. हे **दस्म**=शत्रुओं का क्षय करनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से हमारा जीवन इसप्रकार भद्रता को लिये हुए हो कि **अरिः**=शत्रु भी **नः**=हमें **सुभगान्**=उत्तम भाग्यशाली—उत्तम ज्ञान आदि सम्पन्न **वोचेयुः**=कहें। हमारी भद्रता शत्रुओं के हृदयों को भी प्रभावित करे। २. **उत**=और **कृष्टयः**=कर्षणशील—श्रमशील बनकर हम **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **शर्मणि**=सुख में—आनन्द में **इत्**=निश्चय से **स्याम**=निवास करनेवाले हों। प्रभु की ओर से आनन्द का लाभ उन्हें ही होता है जो श्रमशील बनते हैं, अकर्मण्यता के साथ आनन्द का सम्बन्ध नहीं है।

भावार्थ—हम क्रोध आदि से दूर होकर भद्र जीवन बिताते हुए शत्रुओं से भी भागयशाली समझे जाएँ तथा श्रमशील बनकर प्रभु के आनन्द में भागी हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

सोम-रक्षण व शोभामय जीवन

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्। पतयन्मन्दयत्सखम्॥ ७॥

१. **आशवे**=(अशू व्याप्तौ) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में होनेवाले उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **ईम्**=निश्चय से **आशुम्**=सम्पूर्ण रुधिर में व्याप्त होनेवाले इस सोम को **आभर**=सब प्रकार से अपने में धारण करने का प्रयत्न कर। २. उस सोम का तू भरण कर जोकि **यज्ञश्रियम्**=यज्ञमय जीवनवाले पुरुष की श्री का कारण है। **नृमादनम्**=यह उन्नतिशील नरों को आनन्दित करनेवाला है। **पतयत्**=(पतयन्तम्=कर्मणि व्याप्नुवन्तम्—सा०) यह सोम कर्मों में व्याप्त होनेवाला है—यह अपने रक्षक को कर्मशूर बनाता है। **मन्दयत्सखम्**=उस आनन्दित करनेवाले प्रभु में यह सोम

सखिभूत है—परमात्म-प्राप्ति का यह प्रमुख साधन बनता है और प्रभु-प्राप्ति द्वारा अद्भुत आनन्द को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए सोम-रक्षण आवश्यक है। यह हमें यज्ञों में प्रवृत्त कर शोभावाला बनाता है, हमारी उन्नति को सिद्ध करके आनन्दित करता है। यह हमें कर्मशूर बनाता है, आनन्दित करनेवाले प्रभु का सखिभूत है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

सोम-रक्षण व संग्राम-विजय

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः। प्रावो वाजेषु वाजिनम्॥ ८॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त कर्मों व प्रज्ञानोंवाले प्रभो! आप **अस्य पीत्वा**=इस सोम की रक्षा करके **वृत्राणाम्**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली काम आदि वासनओं के **घनः**=मारनेवाले **अभवः**=होते हैं। सोम-रक्षणवाला पुरुष क्रोध आदि का शिकार नहीं होता। २. हे प्रभो! आप **वाजेषु**=इन वासना-संग्रामों में **वाजिनम्**=प्रशस्त अन्नवाले को (वाज=अन्न) **प्रावः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। जब एक मनुष्य सात्त्विक अन्न का सेवन करता है तब उसकी बुद्धि व मन भी सात्त्विक बनते हैं। सात्त्विक बुद्धिवाला वासना-संग्राम में अवश्य वियजी बनता है।

भावार्थ—प्रभु-नामस्मरण से हम वासनाओं से ऊपर उठते हैं—शरीर में सोम का रक्षण कर पाते हैं। प्रभु हमें शक्तिशाली बनाकर संग्रामों में रक्षित करते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

प्रभु-पूजन व संग्राम-विजय

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो। धनानामिन्द्र सातये॥ ९॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व शक्तियोंवाले प्रभो! **वाजेषु**=काम-क्रोध आदि के साथ होनेवाले संग्रामों में **वाजिनम्**=प्रशस्त शक्ति देनेवाले **तं त्वा**=उन आपको हम **वाजयामः**=अर्चित करते हैं। (वाजयति=अर्चति नि०)। प्रभु की उपासना से—प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम शत्रुओं को पराभूत कर पाते हैं। २. हे **इन्द्र**=सर्वैश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! इन शत्रुओं को जीतकर ही हम **धनानां सातये**=धनों की प्राप्ति के लिए होते हैं। आपने ही शत्रुविजय द्वारा हमें 'स्वास्थ्य-नैर्मल्य-बुद्धि की तीव्रता' रूप ऐश्वर्यों को प्राप्त कराना है।

भावार्थ—प्रभु ही हमें अध्यात्म संग्रामों में विजयी बनाते हैं और धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

'सुपार' प्रभु

यो रायो३ऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा। तस्मा इन्द्राय गायत॥ १०॥

१. **तस्मै इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **गायत**=गुणों का गायन करो, **यः**=जोकि **रायः**=धनों के **अवनिः**=रक्षक व स्वामी हैं। **महान्**=वे प्रभु ही पूजनीय हैं। प्रभु अपने उपासकों को आवश्यक धन प्राप्त कराते ही हैं। २. **सु-पारः**=प्रभु ही हमें सब कार्यों के पार ले-चलनेवाले हैं—प्रभु-कृपा से ही सब कार्य पूर्ण होते हैं। **सुन्वतः सखा**=वे प्रभु यज्ञशील पुरुष के मित्र हैं अथवा **सुन्वतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले के वे मित्र हैं। प्रभु की प्राप्ति यज्ञशील व सोमरक्षक को ही होती है।

भावार्थ—प्रभु ही धनों के दाता, पूजनीय, कार्यों के साधक व यज्ञशील के मित्र हैं। हम

प्रभु का ही गायन करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

सम्मिलित प्रभु-पूजन

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत। सखाय स्तोमवाहसः ॥ ११ ॥

१. हे **स्तोमवाहसः**=प्रभु के स्तोत्रों का धारण करनेवाले **सखायः**=मित्रो! **आ तु एत**=आप निश्चय से आइए और आकर **निषीदत**=आपने-अपने आसनों पर नम्रता से बैठिए तथा **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अभिप्रगायत**=प्रातः-सायं गायन कीजिए। २. 'स्तोमवाहसः' शब्द से यह भाव स्पष्ट है कि हमें प्रभु के स्तोत्रों को अपने जीवन में अनूदित करना है (वह to carry out)। 'सखायः' का भाव 'तुल्य ख्यानवाले—समान विचारवाले हैं। प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले एकत्र होते हैं' और मिलकर नम्रता से प्रभु का पूजन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रतिदिन सम्मिलित होकर नम्रता से प्रभु-पूजन करनेवाले हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

पुरूणां पुरूतमम्

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्। इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ १२ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हम मिलकर उस प्रभु का गायन करें, जो **पुरूणां पुरूतमम्**=(पृ पालनपूरणयोः) पालकों में सर्वोत्कृष्ट पालक हैं। अथवा जो हमारे 'पुरून् तमयति ग्लापयति' बहुत भी शत्रुओं को क्षीण बकरनेवाले हैं। शत्रुओं को क्षीण करके ही तो वे प्रभु सब वरणीय धनों को हमें प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु **वार्यणाम्**=वरणीय धनों के **ईशानम्**=ईशान हैं। २. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **सुते सोमे**=सोम का अभिषव (सम्पादन) करने पर **सचा**=प्रभु से मेल होने पर हम गायन करें। यह सोम हमें उस सोम (प्रभु) से मिलाने का साधन बनता है।

भावार्थ—प्रभु पालकों में सर्वोत्तम पालक हैं। वे हमारे शत्रुओं को क्षीण करते हैं। वरणीय धनों के वे ईशान हैं। उस प्रभु का स्तवन यही है कि हम सोम के रक्षण से बुद्धि को सूक्ष्म करके प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

अगला सूक्त भी 'मधुच्छन्दाः' का ही है—

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'धन, बुद्धि व शक्ति' के दाता प्रभु

स घा नो योग आ भुवत्स राये स पुरन्ध्याम्। गमद्वाजेभिरा स नः ॥ १ ॥

१. **सः**=वे प्रभु **घा**=निश्चय से **नः**=हमारे **योगे**=अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के विषय में **आभुवत्**=साधक होते हैं। प्रभु के अनुग्रह से ही हमें सब आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं। **सः**=वे प्रभु **राये**=धन के लिए (आभुवत्=) सहायक होते हैं। **सः**=वे प्रभु ही **पुरन्ध्याम्**=पालन व पूरण करनेवाली बुद्धि की प्राप्ति में सहायक होते हैं—प्रभु ही हमारे लिए बुद्धि प्राप्त कराते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **वाजेभिः**=सात्त्विक अन्नों व बलों के साथ **आगमत्**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें सब अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं। वे ही धन, बुद्धि व शक्ति देते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभु को हृदय में आसीन करना

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः। तस्मा इन्द्राय गायत॥ २॥

१. **यस्य**=जिसके **संस्थे**=हृदयदेश में स्थित होने पर **शत्रवः**=काम-क्रोध आदि शत्रु **समत्सु**=अध्यात्म-संग्रामों में **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **न वृण्वते**=आक्रमण के लिए नहीं चुनते—इनपर आक्रमण नहीं करते—इनपर आवरण के रूप में नहीं आ जाते। **तस्मा इन्द्राय गायत**=उस प्रभु का मिलकर गायन करो। २. प्रभु-स्मरण हमें काम आदि के आक्रमण से बचाता है। जिस घर में परिवार के सदस्य मिलकर प्रभु का गायन करते हैं, वहाँ शरीर रोगादि से आक्रान्त नहीं होते और मन काम-क्रोध का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण होने पर इन्द्रियाँ काम-क्रोध आदि से आक्रान्त नहीं होतीं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'शुचयः-दध्याशिरः' सोमासः

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये। सोमासो दध्याशिरः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब इन्द्रियों पर वासनाओं का आक्रमण न होगा तब हम सोम की रक्षा कर पाएँगे। **इमे सुताः**=ये उत्पन्न हुए-हुए सोमकण **सुतपाव्ने**=उत्पन्न हुए-हुए सोमकणों की रक्षा करनेवाले के लिए **शुचयः**=पवित्रता करनेवाले होते हैं। सोमकणों का असंयम ही आर्थिक अपवित्रता की ओर ले-जाता है। २. ये सुरक्षित सोमकण **वीतये**=(वी to shine) हमारे जीवन को चमकाने के लिए **यन्ति**=हमें प्राप्त होते हैं। इनके द्वारा ज्ञानाग्नि दीप्त हो उठती है। ये **सोमासः**=सोमकण **दध्याशिरः**=(धत्ते, आश्रृणाति) हमारे शरीरों को धारण करते हैं और सब दोषों को शीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—हम उत्पन्न सोमकणों का रक्षण करके पवित्र मनवाले (शुच्यः), दीप्त मस्तिष्कवाले (वीतये) व सबल शरीरवाले बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

सोम-रक्षण द्वारा वृद्धि व ज्येष्ठता की प्राप्ति

त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः। इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो॥ ४॥

१. हे **सुक्रतो**=उत्तम कर्मसंकल्प व ज्ञानवाले जीव! **त्वम्**=तू **सुतस्य पीतये**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम के पान के लिए हो—सोम का तू शरीर में ही रक्षण करनेवाला बन। इस सोम-रक्षण से तू **सद्यः**=शीघ्र **वृद्धः**=बढ़ी हुई शक्तियोंवाला **अजायथाः**=हो जाता है। इससे तेरा शरीर स्वस्थ बनता है, मन **ज्यैष्ठ्याय**=ज्येष्ठता के लिए होता है। ब्राह्मण बनकर तू ज्ञान से ज्येष्ठ बनता है, क्षत्रिय बनकर बल के दृष्टिकोण से ज्येष्ठ होता है और वैश्य के रूप में बढ़े हुए धन-धान्यवाला होता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण ही वृद्धि व ज्येष्ठता का मूल है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

क्रियाशीलता-शान्ति-प्रकृष्ट चेतना

आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः। शं ते सन्तु प्रचेतसे॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सोमासः**=ये सोमकण **त्वा आविशन्तु**=तुझमें समन्तात् प्रवेश

करें—तेरे शरीर में व्याप्त हो जाएँ। ये सोमकण **आशवः**=तुझे सदा कर्मों में व्याप्त करनेवाले हैं (अश् व्याप्तौ)। सोमकणों के शरीर में व्याप्त होने पर तुझे अकर्मण्यता नहीं घेर सकती। २. हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले पुरुष! ये सुरक्षित हुए-हुए सोमकण **ते शं सन्तु**= तुझे शान्ति देनेवाले हों। **प्रचेतसे**=ये तेरी प्रकृष्ट चेतना के लिए हों। इनके रक्षण से तू सदा आत्म-स्मरणवाला हो। 'मैं कौन हूँ', 'मैं यहाँ क्यों आया हूँ', इन बातों का स्मरण तुझे कभी मार्गभ्रष्ट न होने देगा।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें '**क्रियाशील, शान्तस्वभाव व प्रकृष्ट चेतनायुक्त**' बनाता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स्तोम+उक्थ-गीः

त्वां स्तोमा अवीवृधन्त्वामुक्था शतक्रतो। त्वां वर्धन्तु नो गिरः॥ ६॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त कर्मों व प्रज्ञानोंवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको **स्तोमाः**=हम सामगान करनेवालों के स्तोम (स्तुतिसमूह) **अवीवृधन्**=बढ़ानेवाले हों। हम हृदय में भक्ति की भावना से भरित होकर साममन्त्रों से आपके गुणों का गायन करें। २. ज्ञानी पुरुष के **उक्था**=स्तुतिवचन भी **त्वाम्**=आपकी महिमा को ही बढ़ाते हैं। **नः**=हम कर्मकाण्डियों की **गिरः**=वाणियाँ भी **त्वां वर्धन्तु**=आपको ही बढ़ानेवाली हैं।

भावार्थ—भक्तों के स्तोम, ज्ञानियों के उक्थ तथा कर्मकाण्डियों की गिराएँ—सभी प्रभु की महिमा का वर्धन करनेवाली हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सात्त्विक अन्न द्वारा बल-वर्धन

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्त्रिणम्। यस्मिन्विश्वानि पौंस्या॥ ७॥

१. **अक्षितोतिः**=यह न नष्ट हुए-हुए रक्षणवाला—सोम-रक्षण द्वारा अपनी रक्षा करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **इमम्**=इस **सहस्त्रिणम्**=(स+हस्) सदा हास्य व प्रसन्नता देनेवाले **वाजम्**=अन्न का **सनेत्**=सेवन करे। **यस्मिन्**=जिस सात्त्विक अन्न में **विश्वानि पौंस्या**=सब बल हैं। २. हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए अपनी शक्ति का वर्धन करें और सदा अपना रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न का सेवन करें। इसप्रकार अपने बलों का वर्धन करके अनष्ट रक्षणवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

न द्रोह, न वध

मा नो मर्ता अभि द्रुहन्तनूनामिन्द्र गिर्वणः। ईशानो यवया वधम्॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **नः तनूनाम्**=हमारे शरीरों का—हमसे दिये गये इन शरीरों का **मर्ता**=विषयों के पीछे मरनेवाले मनुष्य **मा अभिद्रुहन्**=द्रोह न करें—वे इन शरीरों को मारने की कामनावाले न हों। विषयासक्ति शरीर-ध्वंस का कारण बनती है। २. हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों का संभजन करनेवाले जीव! **ईशानः**=इन्द्रियों का ईश होता हुआ तू **वधम् यवय**=वध को अपने से पृथक् कर। अपने शरीर का वध न होने दे।

भावार्थ—हम विषयासक्ति से ऊपर उठकर शरीरों से द्रोह न करें। जितेन्द्रिय बनकर वध

को अपने से दूर रखें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ९ ॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ १० ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥ ११ ॥

देखो व्याख्या, अथर्व० २०.२६.४-६ ॥

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम् ॥ १२ ॥

देखो व्याख्या, अथर्व० २०.४०.३ ॥

अगले सूक्त का ऋषि भी 'मधुच्छन्दाः' ही है—

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रमरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

वासनाविनाश द्वारा ज्ञानरश्मि-प्रादुर्भाव

वीडु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः। अविन्द उस्त्रिया अनु ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों को वश में करने के लिए यत्नशील जीव! **वीडु चित्**=अत्यन्त प्रबल भी **गुहा चित्**=कहीं हृदय गुहा में छिपकर बैठी हुई भी इन वासनाओं को **आरुजत्नुभिः**=सब प्रकार से पूर्णतया नष्ट करनेवाले और इसप्रकार **वह्निभिः**=लक्ष्य-स्थान तक ले-जानेवाले इन मरुतों (प्राणों) से युक्त होकर तू **उस्त्रियाः**=ज्ञानरश्मियों को **अनु अविन्दः**=प्राप्त करता है। २. यहाँ मन्त्र में मरुत् शब्द नहीं है तब भी 'मरुतः' देवता होने से मरुत् शब्द को अर्थ करते समय उपयुक्त कर लिया गया है। ये प्राण ही वासनाओं का भंग करनेवाले व हमें लक्ष्य-स्थान पर ले-जानेवाले हैं।

भावार्थ—इन्द्र (जीवात्मा) सेनानी है, मरुत् (प्राण) उसके सैनिक हैं। ये प्राण वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं और आवरण को हटाकर ज्ञान-रश्मियों का प्रादुर्भाव करते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रमरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'देवयन्तः-गिरः'

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः। महामनूषत श्रुतम् ॥ २ ॥

१. **देवयन्तः**=(देवमात्मनमिच्छन्तः) उस प्रभु को प्राप्त करने की कामनावाले **गिरः**=स्तोता लोग **महाम्**=पूजनीय **श्रुतम्**=सर्वज्ञत्व आदि गुणों से प्रसिद्ध प्रभु को **अनूषत**=स्तुत करते हैं। २. उस प्रभु को **अच्छ**=लक्ष्य करके स्तवन करते हैं जो **यथामतिम्**=यथार्थ ज्ञानवाले हैं और **विदद्वसुम्**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से जहाँ यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, वहाँ निवास के लिए आवश्यक सब धन भी प्राप्त हो जाते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

मन्दू समानवर्चसा

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-स्तवन करता हुआ तू **अबिभ्युषा**=सब प्रकार के भयों से रहित उस **इन्द्रेण**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से **संजग्मानः**=संगत होता हुआ **हि**=निश्चय से **संदृक्षसे**=दिखता है। यह प्रभु-संगम तुझे भी भीतिरहित व परमैश्वर्यवाला बनाता है। २. प्रभु-संगम के होने पर ये उपास्य-उपासक दोनों **मन्दू**=आनन्दमय व **समानवर्चसा**=समान तेजवाले हो जाते हैं। प्रभु की गोद में पूर्ण निर्भीक यह उपासक भी आनन्दमय हो जाता है और प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न हो जाता है। जैसे अग्नि में पड़कर लोहशलाका भी अग्निमय हो जाती है, इसी प्रकार यह उपासक भी प्रभु की भाँति हो जाता है। उपनिषदों के शब्दों में 'ब्रह्म इव'।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से प्रभु से संगत होकर हम भी प्रभु के समान 'आनन्द व शक्ति' का अनुभव करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'निर्दोष-ज्ञानमय-प्रशंसनीय' जीवन

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति। गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ ४ ॥

१. प्रभु की उपासना करनेवाला यह उपासक **मखः** (मख गतौ)=गतिशील—कर्मनिष्ठ होता है। यह मरुतों (प्राणों) के साथ उस प्रभु की **सहस्वत्** (बलोपेतं यथा स्यात्तथा)=सबल **अर्चति**=अर्चना करता है। प्रभु की अर्चना की वस्तुतः पहचान ही यह हैं कि उपासक में 'सहस्' की उत्पत्ति हुई या नहीं। २. जिन प्राणों की साधना करता हुआ इन्द्र प्रभु की अर्चना करता है, वे प्राण **अनवद्यैः**=अवद्य—निन्दनीय पाप से रहित हैं। प्राणसाधना वासना-विनाश द्वारा साधक को निष्पाप बनाती है। **अभिद्युभिः**=ये प्राण प्रकाश की ओर ले-जानेवाले हैं। वासनारूप वृत्र (आवरण) का विनाश करके ये ज्ञान को अनावृत्त कर देते हैं। **गणैः**=ये प्राण संख्यान के योग्य हैं—प्रशंसनीय हैं। (गण् to praise) **इन्द्रस्य काम्यैः**=जीवात्मा के चाहने योग्य हैं। वस्तुतः इन प्राणों के द्वारा ही 'हम निर्दोष-ज्ञानमय-प्रशंसनीय' जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—यज्ञमय जीवनवाले बनकर प्राणसाधना द्वारा हम प्रभु का अर्चन करें। यह अर्चन हमें 'सहस्वान्' बनाएगा। प्राणसाधना से हम 'निर्दोष-ज्ञानयुक्त-प्रशंसनीय' जीवनवाले बनेंगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन

अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि। समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र का आराधक प्रभु से आराधना करते हुए कहता है कि **परिज्मन्**=हे चारों ओर गये हुए सर्वव्यापिन् प्रभो! **आगहि**=आप हमें प्राप्त होइए। **अतः**=इस पृथिवीलोक से **दिवःवा**=या द्युलोक से **रोचनात् अधि**=इस चन्द्र व विद्युत् की दीप्तिवाले अन्तरिक्ष से (आगहि) आप हमें प्राप्त होइए, अर्थात् पृथिवीस्थ अग्नि आदि देवों का चिन्तन करता हुआ मैं उन देवों में स्थापित किये गये देवत्व का दर्शन करूँ। इसी प्रकार अन्तरिक्ष के देवों में मैं आपकी महिमा का दर्शन करूँ तथा द्युलोक के देवों में मुझे आपका प्रकाश मिले। २. इस प्रकार सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखनेवाले **गिरः**=स्तोता लोग **अस्मिन्**=इस परमात्मा में **समृञ्जते**=अपने जीवन को सुभूषित करते हैं। प्रभु के अनुरूप बनने का प्रयत्न करते हुए ये स्तोता लोग सुन्दर जीवनवाले बन जाते हैं।

भावार्थ—हम सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखें। प्रभु में स्थित हुए-हुए, प्रभु के अनुरूप बनने का प्रयत्न करते हुए अपने जीवन को सुन्दर बना पाएँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रमरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'दृढ़ शरीर-उज्ज्वल मस्तिष्क-स्निग्ध हृदय' (आदर्श भक्त)

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि। इन्द्रं महो वा रजसः ॥ ६ ॥

१. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से हम इतः **पार्थिवात् अधि**=इस पार्थिवलोक से **सातिम्**=धनदान को **ईमहे**=माँगते हैं। पार्थिवलोक यह शरीर है। इसका धन यही है कि यह वज्र-तुल्य दृढ़ हो, अतः हम प्रथम आराधना यही करते हैं कि हमारा शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो। २. हम उस प्रभु से **दिवः वा**=इस द्युलोक का धन माँगते हैं। द्युलोक का धन दीप्ति है—हम ज्ञानदीप्ति की याचना करते हैं। ३. **महः रजसः वा**=हम इस महान् अन्तरिक्षलोक से (सातिम् ईमहे) धन-दान माँगते हैं। अन्तरिक्षलोक में जैसे चन्द्रमा शीतल किरणों से ज्योत्स्ना फैला रहा है उसी प्रकार हमारा हृदय प्रेम की स्निग्ध भावना से शीतलता को प्रवाहित करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभुभक्त का आदर्श है 'दृढ़ शरीर, उज्ज्वल मस्तिष्क, स्निग्ध हृदय'।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रमरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ७ ॥

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ८ ॥

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ९ ॥

व्याख्या देखो, अथर्व० २०.३८.४-६ या २०.४७.४-६ ॥

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रमरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'वाजों व सहस्रप्रधनों' में विजय

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च। उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥ १० ॥

१. वैदिक साहित्य में छोटे युद्ध 'वाज' कहलाते हैं और अध्यात्म-जीवन को सुन्दर बनाने के लिए काम-क्रोध आदि के साथ चलनेवाले संग्राम 'सहस्रप्रधन' हैं। हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **वाजेषु**=युद्धों में **अव**=रक्षित कीजिए। आपकी कृपा से हम धनों का विजय करके 'अभ्युदयशाली' बनें। २. **च**=और आप हमें **सहस्रप्रधनेषु** (सहस्+प्रधन)=आनन्द-प्राप्ति के कारणभूत संग्रामों में भी रक्षित कीजिए। काम को पराजित करके हम 'प्रेम' वाले बनें, क्रोध को पराजित करके 'करुणा' को अपनाएँ तथा लोभ-विनाश से हम 'दया' वाले बनें। इन 'प्रेम, करुणा व दया' ने ही तो हमें 'निःश्रेयस' प्राप्त कराना है। ३. हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! आप अपने **उग्राभिः ऊतिभिः**=तेजपूर्ण, प्रबल रक्षणों से इन युद्धों में हमें विजयी बनाइए।

भावार्थ—प्रभु की सहायता से वाजों में विजयी बन हम 'अभ्युदय' को प्राप्त करें तथा सहस्रप्रधनों में विजयी बनकर 'निःश्रेयस' को सिद्ध करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रमरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'महाधन व अर्भ' में विजय

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे। युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥ ११ ॥

१. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को हम **महाधने**='दमन-दया व दान' रूप महाधनों की प्राप्ति के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु-कृपा से काम को पराजित करके मैं मन को दान्त

करता हूँ। प्रभु-कृपा से ही क्रोध को पराभूत करके मैं दयावाला बनता हूँ और लोभ को विनष्ट कर मैं दानशील होता हूँ। २. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही हम **अर्भे**=छोटे धनों के निमित्त—सांसारिक धनों की प्राप्ति के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। ३. उस प्रभु को हम पुकारते हैं जोकि **युजम्**=सदा हमारा साथ देनेवाले हैं और **वृत्रेषु**=हमारे ज्ञान पर पर्दा डालनेवाली वासनाओं पर **वज्रिणम्**=वज्र का प्रहार करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर हम छोटे-बड़े सभी संग्रामों में विजयी बनें। प्रभु हमारा साथ न छोड़नेवाले सच्चे मित्र हैं। उनके अनुग्रह से ही हम वासनाओं पर विजय पाकर ज्ञानदीप्त बन पाते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'चरु-अपावरण'

स नो॑ वृषन्न॒मुं च॒रुं सत्रा॑दाव॒न्नपा॑ वृधि। अ॒स्मभ्य॒मप्र॑तिष्कुतः ॥ १२ ॥

१. हे **वृषन्**=संग्रामों में विजय प्राप्त कराके सुखों का वर्षण करनेवाले **सत्रादावन्**=सदा धनों व ज्ञानों को देनेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **अमुं चरुम्**=अपने उस ज्ञान के कोश को **अपावृधि**=खोलिए। 'ब्रह्मचर्य' शब्द में ज्ञान के चरण का संकेत हैं, 'आचार्य' इस ज्ञान के चरण को करानेवाले हैं, ब्रह्मचारी इस चरण को करनेवाला है। इस चरु का प्रकट करना ही इसका अपावरण है। 'यस्मात् कोशादुभराम वेदम्' इन शब्दों में ज्ञान एक कोश है, उस कोश को प्रभु-कृपा से ही हम खोल पाएँगे। २. हे प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए आप **अप्रतिष्कुतः**=प्रतिशब्द से रहित हो—आप हमारे लिए 'न' इस शब्द का उच्चारण कीजिए ही नहीं। हमारी प्रार्थना सदा आपसे सुनी जाए।

भावार्थ—प्रभु हमारी प्रार्थना को सदा सुनें। हमारे लिए वे ज्ञान के कोश को खोल दें। हमपर सदा सुखों का वर्षण करें, हमारे लिए इष्ट धनों को देनेवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अनन्त दान-सान्त स्तवन

तु॒ञ्जेतु॑ञ्जे॒ य उत्त॑रे॒ स्तोमा॒ इन्द्र॑स्य व॒ज्रिण॑:। न वि॑न्धे अस्य सुष्टु॒तिम् ॥ १३ ॥

१. **तुञ्जे तुञ्जे**=प्रत्येक दान के कर्म में **ये**=जो उस **वज्रिणः**=काम, क्रोध, लोभ आदि पर वज्र का प्रहार करनेवाले **इन्द्रस्य**=शत्रुओं के विद्रावक परमैश्वर्यशाली प्रभु के **उत्तरे स्तोमाः**=उत्कृष्ट स्तवन होते हैं, उन स्तवनों द्वारा **अस्य**=इस प्रभु की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को न **विन्धे**=(न विन्दामि) नहीं प्राप्त करता हूँ। २. प्रभु के दान अनन्त है, मेरी स्तुति तो सान्त ही है। मैं कितना भी प्रभु का स्तवन करूँ, प्रभु के दान उस स्तवन से अधिक ही होते हैं। प्रभु के दान समाप्त नहीं होते, मेरी स्तुति समाप्त हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु के अनन्त दानों का स्तवन करना हमारे सामर्थ्य से बाहर है। दान अनन्त हैं, हमारी शक्ति तो सान्त ही है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

हम 'गौएँ' हों, प्रभु हमारे 'गोपाल'

वृषा॑ यू॒थेव॒ वंस॑गः कृ॒ष्टीरि॑य॒र्त्योज॑सा। ईशा॑नो॒ अप्र॑तिष्कुतः ॥ १४ ॥

१. वे प्रभु **वृषा**=शक्तिशाली हैं, हमपर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। वे हमें इसप्रकार प्राप्त होते हैं **इव**=जैसेकि **वंसगः**=वननीय (सुन्दर) गतिवाला गडरिया **यूथा**=भेड़ों के झुण्डों को

प्राप्त होता है। वे प्रभु **कृष्टीः**=श्रमशील मनुष्यों को **ओजसा इयर्ति**=ओजस्विता के साथ प्राप्त होते हैं। हमें प्रभु ओजस्वी बनाते हैं। २. **ईशानः**=वे प्रभु ईशान हैं—सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं और **अप्रतिष्कुतः**=प्रति शब्द से रहित हैं—कभी न करनेवाले नहीं है। प्रभु के दरबार में 'हमारी प्रार्थना कभी अस्वीकृत होगी', ऐसी सम्भावना नहीं है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम प्रभु के निर्देश में इसप्रकार चलें जैसे भेड़ें गडरिये के निर्देश में चलती हैं। प्रभु का यह निरन्तर सम्पर्क हमें ओजस्वी बनाएगा। प्रभु हमें सब-कुछ देते हैं, 'न' नहीं करते।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रमरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

चर्षणीनाम्-वसूनाम्

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति। इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम्॥ १५॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जो **एकः**=अकेले ही **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के व **वसूनाम्**=सब धनों के **इरज्यति**=ईश हैं। 'श्रमशील मनुष्य' भी प्रभु के हैं, 'वसु' भी प्रभु के। प्रभु इन श्रमशील मनुष्यों को सब वसु प्राप्त कराते हैं। श्रमशील मनुष्य ही प्रभु को प्रिय हैं। इनसे भिन्न मनुष्य प्राकृतिक भोगों में फँस जाते हैं। २. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **पञ्च क्षितीनाम्**=पाँचों मनुष्यों के स्वामी हैं। मानव-समाज पाँच भागों में बँटा है, 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद'। प्रभु इन सबके स्वामी हैं। सभी का हित करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सब मनुष्यों के ईश हैं। श्रमशील मनुष्यों के लिए सब वसुओं—धनों को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रमरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः॥ १६॥

देखो व्याख्या, अथर्व० २०.३९.१ ॥

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रमरुतः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

उत्कृष्ट धन

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर॥ १७॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **रयिं आभर**=हमें ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। उस रयि को जोकि **सानसिम्**=संभजनीय है—समविभागपूर्वक सेवनीय है। हम इस धन को अकेले न खाएँ। 'केवलाघो भवति केवलादी' इस बात का स्मरण रखें कि अकेला खाना तो पाप को ही खाना है। यह धन **सजित्वानम्**=विजयशील हो। हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करता हुआ हमें वासनाओं में फँसानेवाला न हो। **सदासहम्**=सदा वासनाओं का पराभव करनेवाला हो। यह धन वासनापूर्ति का साधन न बन जाए। ३. **वर्षिष्ठम्**=यह धन सदा बढ़ा हुआ हो—हमारे जीवनों में सुखों की वर्षा करनेवाला हो। इस धन को **ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए प्राप्त कराइए। जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए साधन बनता हुआ यह धन हमारा रक्षक हो।

भावार्थ—प्रभु हमें वह धन प्राप्त कराएँ जिसे हम बाँटकर खाएँ, जो हमें विजयी बनाए, वासनाओं का पराभव करे, सब आवश्यक साधनों को प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त हो। यह धन हमारा रक्षक हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रमरुतः॥ छन्दः—गायत्री॥

धन का राष्ट्ररक्षा में विनियोग

नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै। त्वोतासो न्यर्वता॥ १८॥

१. हमें वह धन प्राप्त कराइए **येन**=जिसके द्वारा अपने सैनिकों के **मुष्टिहत्यया**= (मुष्टिप्रहारेण) मुक्कों के प्रहारों से **नि**=निश्चितरूप से **वृत्रा**=शत्रुओं को—राष्ट्र को घेर लेनेवाले दुश्मनों को **निरुणधामहै**=निरुद्ध कर दें। उनको राष्ट्र पर आक्रमण करने से रोक सकें। २. हे प्रभो! **त्वा ऊतासः**=आपसे रक्षित हुए-हुए हम **अर्वता**=अपने घोड़ों से शत्रुओं को **नि** (रुणधमहै)= रोकनेवाले बनें। धन का विनियोग इस पदातिसैन्य व अश्वसैन्य के संग्रह में करके हम राष्ट्र का रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमें प्रभु 'वर्षिष्ठ' धन दें, जिससे उचित संख्या में सैन्यसंग्रह द्वारा राष्ट्र का रक्षण सम्भव हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रमरुतः॥ छन्दः—गायत्री॥

धन द्वारा शस्त्रास्त्र संग्रह

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि। जयेम सं युधि स्पृधः॥ १९॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वा ऊतासः**=आपसे रक्षित हुए-हुए **वयम्**=हम **घना**=दृढ़ **वज्रम्**=वज्र को—शस्त्रास्त्रसमूह को **आददीमहि**=सब प्रकार से ग्रहण करें। राष्ट्ररक्षा के लिए शस्त्रास्त्र की कमी न हो। सैनिकों के लिए उपकरण होंगे तभी तो विजय प्राप्त होगी। २. इस अस्त्र-संग्रह द्वारा हम **युधि**=युद्ध में **स्पृधः**=शत्रुओं को **संजयेम**=सम्यक् पराजित कर सकें।

भावार्थ—हम धन से सैन्यसंग्रह के साथ शस्त्रास्त्र संग्रह करके शत्रुओं का पराभव करनेवाले हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रमरुतः॥ छन्दः—गायत्री॥

रक्षणात्मक युद्ध

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः॥ २०॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावणकुशल प्रभो! **वयम्**=हम **शूरेभिः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले वीर **अस्तृभिः**=अस्त्रों के फेंकने (चलाने) में कुशल सैनिकों के द्वारा तथा **त्वया युजा**=आपको साथी पाकर, अर्थात् धर्मयुक्त रक्षणात्मक युद्ध करते हुए, **पृतन्यतः**=हमपर सेनाओं द्वारा आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को **सासह्याम**=खूब ही पराभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—हम नाना शस्त्र-प्रहरण में प्रवीण वीर सैनिकों के द्वारा, प्रभु के आशीर्वाद से हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को कुचल सकें।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'मधुच्छन्दाः' ही है—

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

'महान् परः' इन्द्रः

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे। द्यौर्न प्रथिना शवः॥ १॥

१. वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **महान्**=महान् हैं—पूजनीय हैं और **नु च**=अब निश्चय से

परः=सर्वोत्कृष्ट हैं। उस प्रभु की महिमा अनन्त है, उनकी महिमा का वर्णन शब्दों से परे है। **वज्रिणे**=उस वज्रहस्त प्रभु के लिए **महित्वम् अस्तु**=हमारे हृदयों में पूजा का भाव हो। २. उस प्रभु का **शवः**=बल **द्यौः न प्रथिना**=आकाश के समान सर्वत्र फैला हुआ है। आकाश में सर्वत्र प्रभु की शक्ति दृष्टिगोचर होती है।

भावार्थ—सर्वत्र प्रभु की शक्ति को कार्य करता हुआ देखते हुए हम प्रभु का पूजन करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विजय किनको मिलती है

समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ। विप्रासो वा धियायवः ॥ २ ॥

१. संग्राम में विजय **वा**=या तो उन्हें प्राप्त होती है **ये**=जो **समोहे**=संग्राम में **आशत**=शक्ति के कार्यों को करनेवाले इन्द्र को स्तुति से व्याप्त करते हैं। २. तथा जो **नरः**=उन्नति पर चलनेवाले सब व्यक्ति **तोकस्य**=(तु=पूर्तौ) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक धनों को **सनितौ**=प्राप्त करने में लगते है (आशत) ३. **वा**=तथा **धियायवः**=प्रज्ञा की कामनावाले **विप्रासः**= अपना पूरण करनेवाले होते हैं। वे प्रभु-स्तवन करते हुए विजयी होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करते हुए क्षत्रिय संग्राम विजय को, वैश्य धनवृद्धि को तथा ब्राह्मण ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

कर्मवीर, न कि वाग्वीर

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते। उर्वीरापो न काकुदः ॥ ३ ॥

१. **यः कुक्षिः**=जो उदर **सोमपातमः**=अधिक-से-अधिक सोम का पान करनेवाला होता है, अर्थात् सोम को अपने में पूर्णतया सुरक्षित करता है, वही **समुद्रः इव**=अन्तरिक्ष के समुद्र की भाँति **पिन्वते**=सेचन करनेवाला होता है। समुद्र जैसे मेघरूप होकर सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है, इसी प्रकार यह संयमी पुरुष भी सभी को सुखी करने का प्रयत्न करता है। २. इस संयमी पुरुष के **आपः**=कर्म **उर्वी**=विशाल होते हैं। 'उदारं धर्ममित्याहुः' उदारता व विशालता ही तो कर्मों को धर्म बनाती है। संकुचित मनोवृत्ति से किये जानेवाले कर्म पाप होते हैं। **न काकुदः**=यह कर्मवीर पुरुष बहुत बोलता नहीं। (काकुद=वाणी)। यह वीर कर्म पर ही बल देता है, बोलने पर नहीं।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण करते हुए अन्तरिक्षस्थ मेघ की भाँति सबपर सुखों का वर्षण करनेवाले हों, उदार (विशाल) कार्यों को करनेवाले बनें, बोलें कम।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सूनृता, मही, पक्वा शाखा न (वेदवाणी)

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही। पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥

१. **एवा**=गतमन्त्र के अनुसार सोमपायी बनने पर **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु की **सूनृता**=(सु ऊन ऋत) उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा सत्यज्ञान देनेवाली वेदवाणी **विरप्शी**=विविध सत्यविद्याओं का प्रतिपादन करनेवाली होती है (रप्=व्यक्तायां वाचि)। **गोमती**=यह वेदवाणी प्रशस्त इन्द्रियोंवाली है। अध्ययन करनेवाले की इन्द्रियों को निर्मल बनाती है। **मही**=(मह पूजायाम्) अपने उपासक की मनोवृत्ति को पूजावाली बनाती है। वेदवाणी का उपासक ज्ञानपूर्ण मस्तिष्कवाला—यज्ञादि कर्मों में लगी हुई प्रशस्त

इन्द्रियोंवाला तथा मन में पूजा की वृत्तिवाला होता है। २. यह वेदवाणी **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—दानशील के लिए **पक्वा शाखा न**=परिपक्व शाखा के समान होती है। यह उसके लिए परिपक्व शाखा के समान विविध फलों को प्राप्त करानेवाली होती है। इस वेदवाणी से इसे 'क्षीर, सर्पि, मधु, उदक (सामवेद १२९९) पुण्यभक्ष व अमृतत्व (१३०३ साम) प्राप्त होता है। यह उसे 'आयु-प्राण-प्रजा-पशु-कीर्ति-द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' (अथर्व) प्राप्त कराती है।

भावार्थ—वेदवाणी सब सत्यविद्याओं की प्रतिपादक है। यह धनों को देनेवाली है। पूजा की वृत्ति को प्राप्त कराती है तथा इष्टफलों को देनेवाली है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मावान्-दाश्वान्

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते। सद्यश्चित्सन्ति दाशुषे॥ ५॥

१. **एवा**=इसप्रकार **हि**=निश्चय से हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते विभूतयः**=आपके ऐश्वर्य हैं। ये ऐश्वर्य **मावते**=(प्रमावते) ज्ञानवाले पुरुष के लिए, **ऊतयः**=रक्षा के साधन होते हैं। ज्ञान के द्वारा इनका ठीक प्रयोग करते हुए हम जीवन को 'सत्य-शिव व सुन्दर' बना पाते हैं। २. ये ऐश्वर्य **दाशुषे**=दाश्वान्—दानशील—लोभरहित पुरुष के लिए **चित्**=निश्चय से **सद्यः**=शीघ्र **सन्ति**=प्राप्त होते हैं। त्यागशील पुरुष ही इनसे लाभान्वित हो पाता है।

भावार्थ—हम ज्ञानवान् व त्यागशील बनकर प्रभु के सब पदार्थों का ठीक व मात्रा में प्रयोग करते हुए अपने कल्याण को सिद्ध करें—अपने जीवन को सुरक्षित बनाएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स्तोम व उक्थ

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या। इन्द्राय सोमपीतये॥ ६॥

१. **एवा**=इसप्रकार **हि**=निश्चय से **अस्य**=इन ऐश्वर्यों व रक्षणोंवाले इन्द्र के **स्तोमः**=साम-मन्त्रों द्वारा स्तवन **च**=और **उक्थम्**=ऋचाओं द्वारा महिमा का प्रतिपादन **काम्या**=कामयितव्य है—चाहने योग्य है और **शंस्या**=शंसन के योग्य है। सामन्त्रों द्वारा हम प्रभु के गुणों का कीर्तन करें तथा ऋङ्मन्त्रों द्वारा सृष्टि के पदार्थों में रचना-सौन्दर्य-दर्शन से प्रभु की महिमा का शंसन करें। २. ये स्तोम व उक्थ—भक्तिप्रधान व विज्ञानप्रधान स्तवन हृदय व मस्तिष्क से होनेवाला उपासन **इन्द्राय**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए होगा और **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए होगा। प्रभु-स्तवन द्वारा वासनाओं का विनाश होकर सोम का रक्षण सम्भव होता है। सोम-रक्षण द्वारा यह स्तवन हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का गुणस्तवन व महत्त्वकथन ही हमारे लिए कामयितव्य व शंसनीय हो। यही मार्ग परमैश्वर्य की प्राप्ति का साधक है और सोम-रक्षण में सहायक है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम-रक्षण व महत्त्व-प्राप्ति

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ अभिष्टिरोजसा॥ ७॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठातः जीव! तू **इहि**=मेरी ओर आ। **अन्धसः**=इस सोम के द्वारा तू **मत्सि**=आनन्द का अनुभव कर। इन **विश्वेभिः**=सब **सोमपर्वभिः**=सोम के शरीर में ही पूरणों के द्वारा **महान्**=तू बड़ा बनता है। सोम-रक्षण द्वारा मनुष्य उन्नत होता हुआ अन्ततः ब्रह्म को प्राप्त होता है। २. इसप्रकार महान् बनकर **ओजसा अभिष्टिः**=ओजस्विता

के साथ शत्रुओं का अभिभविता बन। (शत्रूणामभिभविता)। सोम-रक्षण से ही 'तेज, बल, ओज, व सहस्' प्राप्त होते हैं और हम शत्रुओं को कुचलने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना करते हुए हम सोम का रक्षण करनेवाले बनें। यही महत्त्व-प्राप्ति का मार्ग है। इसी से हम ओजस्वी बनकर शत्रुओं का अभिभव करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मन्दी+चक्रि (स्तोता क्रियाशील)

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने। चक्रिं विश्वानि चक्रये॥ ८॥

१. **ईम्**=निश्चय से **सुते**=उत्पन्न होने पर **एनम्**=इस सोम को **आ सृजता**=(पुनः अभ्युन्नयत सा०) शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला करने का प्रयत्न करो। ऊर्ध्वरेता बनना ही जीव का मूल कर्त्तव्य है। २. यह सोम **मन्दिने**=(मन्दतेः स्तुतिकर्मणः) स्तुति करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **मन्दिम्**=आनन्द व हर्ष का देनेवाला है। यही **विश्वानि चक्रये**=सब कर्त्तव्य कर्मों को करने के स्वभाववाले जीव के लिए **चक्रिम्**=क्रियाशीलता को उत्पन्न करनेवाला है।

भावार्थ—शरीर में उन्नीत सोम हमें नीरोगता प्राप्त कराके आनन्दित करता है और शक्ति की वृद्धि द्वारा अनथक कार्य करनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'सुशिप्र' बनना

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभि स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे। सचैषु सवनेष्वा॥ ९॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—हे **सुशिप्र** (हनू नासिके वा नि० ६.२७)=शोभन हनुओं व नासिका-छिद्रोंवाले जीव! हनुओं द्वारा भोजन को खूब चबाकर खानेवाले तथा नासिका-छिद्रों से प्राणसाधना करनेवाले पूर्ण नीरोग व निर्दोष जीवनवाले जीव! तू **मन्दिभिः**=आनन्द देनेवाले **स्तोमेभिः**=प्रभु-स्तवनों से **मत्स्व**=एक मस्ती का अनुभव कर—तेरा हृदय प्रभु-स्तवन द्वारा आनन्द से परिपूर्ण हो जाए। खूब चबाकर खाने से भोजन का सम्यक् परिपाक होकर वीर्य आदि धातुओं का उत्तम निर्माण होगा। प्राणसाधना से इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होगी। प्रभु-स्तवन भी इस कार्य में सहायक होगा। अब जीवन में एक मस्ती का अनुभव होगा। २. हे **विश्वचर्षणे**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले स्तोता! **एषु सवनेषु**=जीवन के 'प्रातः-माध्यन्दिन व सायन्तन' सवनों में **सचा**=सदा सोम के साथ रहता हुआ (सह) अथवा सोम का शरीर में ही समवाय (षच् समवाये) करता हुआ **आ** (गच्छ)=तू हमारे प्राति आ।

भावार्थ—हम खूब चबाकर भोजन करते हुए वीर्य का सुन्दर निर्माण करें। प्राणसाधना द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगतिवाले हों। प्रभु-स्तवन में एक मस्ती का अनुभव करें। लोकहित में रत हुए-हुए सदा सोम-रक्षण द्वारा प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'सुखों के वर्षक व पालक' प्रभु

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत। अजोषा वृषभं पतिम्॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=मेरे सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **ते गिरः असृग्रम्**=आपके स्तुतिवचनों का निर्माण करता हूँ। ये स्तुतिवचन **त्वाम् प्रति**=आपके प्रति **उद् अहासत**=उद्गत होकर प्राप्त होते हैं। २. ये मेरे स्तुतिवचन **वृषभम्**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **पतिम्**=सबके रक्षक आपको **अजोषा**=प्रिय हों—आपकी प्रीति का कारण बनें। मै कर्मशील बनकर इन

स्तुतिवचनों से आपको आराधित कर पाऊँ।

भावार्थ—हम कर्मों के द्वारा प्रभु का स्तवन करें। प्रभु को ही सुखों का वर्धक व पालक जानें। ये हमारी स्तुतियाँ हमें प्रभु का प्रीतिपात्र बनाएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

'चित्र-वरेण्य-विभु' राधस्

सं चोदय चित्रमर्वाग्राध इन्द्र वरेण्यम्। असदित्ते विभु प्रभु॥ ११॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **राधः**=उस कार्य-साधक ऐश्वर्य को **अर्वाक् संचोदय**=हमारे अभिमुख प्रेरित कीजिए जोकि **चित्रम्**=ज्ञान का वर्धक है (चित्+र) तथा **वरेण्यम्**=वरने के योग्य है—श्रेष्ठ है—श्रेष्ठ साधनों से कमाया गया है। २. हे प्रभो! **ते**=आपकी कृपा से ही वह धन **असत्**=प्राप्त होता है जोकि **विभु**=आवश्यक योग्य वस्तुओं के जुटाने के लिए पर्याप्त है और **प्रभु**=प्रभावजनक है। **इत्**=निश्चय से हे प्रभो! वह धन **ते**=आपका ही है।

भावार्थ—प्रभु हमें 'चित्र-वरेण्य-विभु-प्रभु' धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

रभस्वतः-यशस्वतः

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः। तुविद्युम्न यशस्वतः॥ १२॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **अस्मान्**=हमें **तत्र**=वहाँ **राये**=ऐश्वर्य के लिए **सुचोदय**=सम्यक् प्रेरित कीजिए। उन हमें प्रेरित कीजिए जोकि **रभस्वतः**=उद्योगवाले हैं। हम श्रम द्वारा ही धन को प्राप्त करें और धन को प्राप्त करके भी श्रमशील बने रहें। आराम करनेवाले न बन जाएँ। २. हे **तुविद्युम्न**=महान् धनवाले प्रभो! हम **यशस्वतः**=यशस्वी जीवनवालों को ऐश्वर्य के लिए प्रेरित कीजिए। धन का अर्जन करके, महाधन बनकर, हम उस धन का यज्ञ आदि उत्तम कार्यों में विनियोग करें, जिससे यशस्वी हों। इस धन से भोगविलास में फँसकर हम अपयश व विनाश के मार्ग पर न चल दें।

भावार्थ—श्रम द्वारा धन का अर्जन करते हुए हम उसे यज्ञ आदि उत्तम कार्यों में विनियुक्त करते हुए यशस्वी बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

'विश्वायु-अक्षित' धन

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्। विश्वायुर्धेह्यक्षितम्॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए उस **श्रवः**=यशस्वी धन को **संधेहि**=धारण कीजिए जोकि **गोमत्**=प्रशस्त गौओंवाला हो—जिस धन के द्वारा हम घरों में गौवों को रख सकें। **वाजवत्**=प्रशस्त अन्नवाले धन को धारण कीजिए। धन के द्वारा हम शक्तिवर्धक अन्नों को जुटा सकें। यह धन **पृथु**=विस्तारवाला व **बृहत्**=वृद्धिवाला हो। इस धन के विनियोग से हम शक्तियों का विस्तार करते हुए वृद्धि को प्राप्त हों। २. यह धन हमें **विश्वायुः**=पूर्ण जीवन देनेवाला हो। इस धन से हमारे शरीरों में शक्ति का वर्धन हो, मनों में पवित्रता बढ़े, अर्थात् हम यज्ञादि की प्रवृत्तिवाले बनें न कि भोगवृत्तिवाले तथा ज्ञान के साधनों को जुटाते हुए हम दीप्त मस्तिष्कवाले बनें। यह धन **अक्षितम्**=किसी भी प्रकार से हमें क्षीण न करे।

भावार्थ—प्रभु हमें 'गोमान्-वाजवान्-पृथु-बृहत्-विश्वायु-अक्षित' धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

द्युम्नं, श्रवः, रथिनी, इषः

अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्। इन्द्र ता रथिनीरिषः ॥ १४ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **श्रवः**=श्रवणीय—यशस्वी धन को **धेहि**=धारण कीजिए, जो धन **बृहत्**=वृद्धि का कारण बने, **द्युम्नम्**=ज्ञान की ज्योतिवाला हो, **सहस्रसातमम्**=सहस्रों के साथ संविभागपूर्वक सेवनीय हो—जिस धन को हम अकेले ही नहीं खा जाते। २. हे प्रभो! हमारे लिए **ताः**=उन **इषः**=अन्नों को प्राप्त कराइए, जोकि **रथिनीः**=उत्तम शरीररूप रथोंवाले हैं—जिनके द्वारा शरीररूप रथ उत्तम बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमें यशस्वी व ज्ञानज्योति को बढ़ानेवाला धन दें तथा उन उत्तम अन्नों को प्राप्त कराएँ जिनके द्वारा हम शरीर-रथ को उत्तम बना सकें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

वसुपतिं-ऋग्मियम्

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्। होम गन्तारमूतये ॥ १५ ॥

१. हम **गीर्भिः गृणन्तः**=यज्ञरूप वाणियों से प्रभु का स्तवन करते हुए **वसोः ऊतये**=धनों से आवश्यकताओं की पूर्ति के द्वारा आभरण के लिए उन **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **होम**=पुकारते हैं, जो **वसुपतिम्**=सब धनों के स्वामी हैं तथा **ऋग्मियम्**=विज्ञानात्मक ऋचाओं का निर्माण करनेवाले हैं (ऋचौ मिमीते—सा०)। वस्तुतः ऋचाओं द्वारा विज्ञान को प्राप्त करके ये वैज्ञानिक सब पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखते हुए प्रभु का स्तवन करते हैं। २. हम उन प्रभु को (ऊतये) अपने रक्षण के लिए पुकराते हैं जो **गन्तारम्**=स्तोता को अवश्य प्राप्त होते ही हैं।

भावार्थ—प्रभु सब धनों के स्वामी व ऋचाओं द्वारा ज्ञान देनेवाले हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं। हम प्रभु को पुकराते हैं, प्रभु हमें धन व ज्ञान प्राप्त कराके हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

शत्रु-शोषक बल की अर्चना

सुतेसुते न्यो ⌈ कसे बृहद् बृहत एदरिः। इन्द्राय शूषमर्चति ॥ १६ ॥

१. **बृहत्**=वृद्धि को प्राप्त करनेवाला **अरिः** (इयर्ति)=क्रियाशील व्यक्ति **सुते-सुते**=प्रत्येक सोम-सम्पादन का कार्य होने पर **न्योकसे**=निश्चितरूप से हममें निवास करनेवाले **बृहते**=सदा से वृद्ध **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए—प्रभु की प्राप्ति के लिए—**शूषम्**=शत्रु-शोषक बल को **अर्चति**=पूजित करता है। २. प्रभु को वही प्राप्त करता है जोकि वृद्धिशील है—क्रियामय जीवनवाला है, सोम का रक्षण करता है और बल का सम्पादन करता है।

भावार्थ—हम सोम का सम्पादन करें, वर्धनशील व क्रियामय जीवनवाले बनें, शक्ति की अर्चना करें, कामादि शत्रुओं का शोषण करके प्रभु को प्राप्त हों।

यह शक्ति की अर्चना करनेवाला अंग-प्रत्यंग में—प्रत्येक पर्व में शक्तिशाली बनता हुआ 'परुच्छेपः' कहलाता है=पर्व-पर्व में शक्तिवाला। यह इन्द्र की अर्चना करता हुआ कहता है—

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**परुच्छेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥

यज्ञ+स्तोम+प्रभु-दर्शन

विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः पृथक्स्वः सनिष्यवः पृथक्। तं त्वा नावं न पर्षणिं शूषस्य धुरि धीमहि।
इन्द्रं यज्ञैश्चितयन्त आयवः स्तोमेभिरिन्द्रमायवः॥ १॥

१. हे प्रभो! **वृषमण्यवः**=आपको ही सब सुखों का वर्षक जाननेवाले लोग **हि**=निश्चय से **विश्वेषु**=सब **सवनेषु**=यज्ञों में **त्वा**=आपके प्रति **तुञ्जते**=अपने को दे डालते हैं। इन सब यज्ञों को आपसे ही होता हुआ वे देखते हैं। ये सब **पृथक्**=अगल-अलग **स्वः सनिष्यवः**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करने की कामनावाले लोग **पृथक्**=अगल-अलग होते हुए भी **समानम्**=सबके प्रति समान **एकम्**=अद्वितीय आपके ही प्रति अपने को दे देनेवाले होते हैं। आपके प्रति अर्पण करते हुए आपकी शक्ति से अपने यज्ञ आदि कर्मों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। २. **नावं न पर्षणिम्**=नाव के समान इस भवसागर से पार लगानेवाले **तं त्वा**=उन आपको ही **शूषस्य धुरि**=सब सुखों व बलों के अग्रभाग में **धीमहि**=धारण करते हैं। आप ही सब शक्तियों के देनेवाले हैं, आप ही इन शक्तियों के द्वारा सुखों को प्राप्त कराते हैं। ३. **आयवः**=क्रियाशील मनुष्य **यज्ञैः**=देवपूजा-संगतिकरण व दानरूप धर्मों से **इन्द्रं न** (नः एव)=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **चितयन्तः**=अपने में चेताने के लिए यत्नशील होते हैं। **आयवः**=ये क्रियाशील मनुष्य **स्तोमेभिः**=स्तुतिसमूहों से **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को अपने हृदयों में प्रबुद्ध करते हैं। यज्ञों व स्तोत्रों से अपने को प्रभु-दर्शन के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—यज्ञों को करना और उन्हें प्रभु के प्रति अर्पित करना ही मोक्ष व सुख-प्राप्ति का साधन है। प्रभु ही हमें शक्तियों व सुखों को प्राप्त कराते हैं। वे ही भवसागर से तराते हैं। यज्ञों व स्तोत्रों से हम प्रभु-दर्शन के पात्र बनते हैं।

ऋषिः—**परुच्छेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥

क्रियामय जीवन व प्रभु-पूजन

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः। यद्गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि।
आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले **मिथुनाः**=छन्दों के रूप में रहनेवाले पति-पत्नी **त्वा**=आपका लक्ष्य करके **विततस्रे**=वासनाओं को विनष्ट करते हैं। (**वितस्**=to reject)। २. **गव्यस्य व्रजस्य**=इस इन्द्रियसमूह के **साता**=प्राप्ति के निमित्त **निःसृजः**=ये निश्चय से त्याग की वृत्तिवाले होते हैं अथवा पापों को अपने से निर्गत करनेवाले होते हैं (पापं निर्गमयन्तः)। हे इन्द्र! **सक्षन्त**=आपका सेवन करते हुए ये **निःसृजः**=पाप को अपने से दूर करते हैं। ३. **यत्**=जब **गव्यन्ता**=वेदवाणी की कामना करते हुए **द्वा जना**=दो लोगों को—अर्थात् पति-पत्नी को **स्वर्यन्ता**=स्वर्ग की ओर जाते हुओं को—जो अपने घर को स्वर्ग बना रहे हैं उनको **समूहसि**=आप सम्यक् धारण करते हो तब आप हे **इन्द्र**=प्रभो! **सचाभुवम्**= सदा साथ रहनेवाले **वृषणम्**=शक्ति देनेवाले अथवा सुखों का वर्षण करनेवाले **वज्रम्**= क्रियाशीलतारूप वज्र को **आविष्करिक्रत्**=प्रकट करते हुए होते हो। उस क्रियाशीलता को जोकि सदा साथ रहती

है (सचाभुवम्)। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही हम ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं—अपनी शक्ति का वर्धन करनेवाले होते हैं और इसप्रकार अपने जीवन को स्वर्गोपम सुखवाला बनाते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी का मूल कर्त्तव्य प्रभु की उपासना के द्वारा जीवन को पवित्र रखना है। ज्ञान की रुचिवाले बनकर वे अपने घर को स्वर्गोपम बनाएँ। उसका जीवन सतत क्रियामय हो।

ऋषिः—**परुच्छेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥

प्रातः जागरण—ध्यान व हवन

उतो नो अस्या उषसो जुषेत ह्य१र्कस्य बोधि हविषो हवीमभिः स्वर्षाता हवीमभिः।
यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिञ्चिकेतसि।
आ मे अस्य वेधसो नवीयसो मन्म श्रुधि नवीयसः॥ ३॥

१. प्रभु कहते हैं कि मनुष्य **उत उ**=निश्चय से **नः**=हमारी **अस्याः उषसः**=इस उषा का **जुषेत**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे, अर्थात् हम प्रातःकाल जाग जाएँ। यह प्रातःजागरण हमें प्रभु का प्रिय बनाएगा। **हि**=निश्चय से **अर्कस्य**=स्तुतिमन्त्रों को **बोधि**=जानें। हम प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें। **हवीमभिः**=प्रभु पुकारों के साथ **हविषः**=हवि को **बोधि**=जानें, अर्थात् हम प्रभु की प्रार्थना के साथ अग्निहोत्र करनेवाले बनें। २. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! आप **हवीमभिः**=हमारी प्रार्थनाओं के साथ **स्वर्षाता**=स्वर्ग-प्राप्ति की साधनभूत हवियों को जानिए। हम स्तुति के साथ अग्निहोत्र अवश्य करें। **वृषा**=शक्तिशाली **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले प्रभो! आप **मृधः**=शत्रुओं को **हन्तवे चिकेतसि**=मारने के लिए जानते हो। आप **नवीयसः**=अतिशयेन स्तवन करनेवाले **वेधसः मे**=मेधावी मेरे **मन्म**=स्तोत्र को **आश्रुधि**=सर्वथा श्रवण कीजिए। **नवीयसः**=नवतर जीवनवाले मेरे स्तवन को अवश्य ही सुनिए।

भावार्थ—हम प्रातः जागें, प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त हों, अग्निहोत्र करें। प्रभु हमारे काम आदि शत्रुओं का संहार करेंगे। हम मेधावी व नमनशील बनकर स्तोत्रों का उच्चारण करें।

इसप्रकार उत्तम जीवनवाले हम 'वसिष्ठ' होंगे। यह वसिष्ठ अगले सूक्त में प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि है। काम आदि शत्रुओं का संहार करके उत्तम वसुओं को प्राप्त करनेवाले (क्रामति गच्छति) 'वसुक्र' होंगे। ४-६ तक यही ऋषि है—

७३. [त्रिसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

सवना ब्रह्माणि

तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि।
त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधाऽसि॥ १॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **इमा**=ये **विश्वा**=सब **सवना**=यज्ञ **तुभ्य इत्**=आपके लिए ही हैं—आपकी प्राप्ति के लिए ही ये यज्ञ किये जाते हैं। **तुभ्यम्**=आपकी ही **वर्धना**=महिमा का वर्धन करनेवाले इन **ब्रह्माणि**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तोत्रों को **कृणोमि**=करता हूँ। आपकी महिमा का स्तवन करता हुआ मैं आपके प्रकाश को अपने में बढ़ा पाता हूँ। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **नृभिः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **विश्वधा**=सब प्रकार से **हव्यः असि**=पुकारने योग्य हैं। आपका आराधन करता हुआ ही मनुष्य वासनाओं से बचकर उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—हम यज्ञों-स्तोत्रों व आराधनों को करते हुए आगे बढ़ते चलें और प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

अनन्त 'महिमा-पराक्रम व ऐश्वर्य'

नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दुस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र।
न वीर्य॑मिन्द्र ते न राधः॥ २॥

१. हे **उग्र**=तेजस्विन् **दस्म**=दर्शनीय प्रभो! **मन्यमानस्य**=सब-कुछ जानते हुए **ते**=आपकी **महिमानम्**=महिमा को **नू चित् नु**=न ही कोई **उत् अश्नुवन्ति**=व्याप्त करने में समर्थ होते हैं। आपकी अनन्त महिमा को यह सारा ब्रह्माण्ड भी व्याप्त नहीं कर पाता। यह तो आपके एक देश में ही है 'एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः'। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **न**=नहीं **ते**=आपके **वीर्यम्**=पराक्रम को और न **राधः**=न ही ऐश्वर्य को कोई नाप सकता है। आपका पराक्रम व ऐश्वर्य अनन्त है, वह मापा नहीं जा सकता।

भावार्थ—प्रभु की 'महिमा, पराक्रम व ऐश्वर्य' अनन्त हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

स्तवन+सुमति

प्र वो मुहे महिवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणिप्राः॥ ३॥

१. हे मनुष्यो! उस **महे**=महान्, **महिवृधे**=महान् वृद्धि करनेवाले प्रभु के लिए **प्रभरध्वम्**=स्तुति का भरण करो। **प्रचेतसे**=उस प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभु के लिए **सुमतिम्**=कल्याणीमति को **प्रकृणुध्वम्**=प्रकर्षेण करनेवाले बनो। यह स्तुति व सुमति ही तुम्हें प्रभु की ओर ले-चलेगी। २. हे प्रभो! आप **पूर्वी**=पालन व पूरण करनेवाली **विशः**=प्रजाओं में **प्रचरः**=गतिवाले होते हो। वस्तुतः **चर्षणिप्राः**=आप ही इन श्रमशील मनुष्यों का पूरण करते हो। जितना-जितना मैं प्रभु का भाव जागरित करूँगा उतना-उतना ही उन्नत होता जाऊँगा।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम स्तवन की वृत्तिवाले बनें, सुमति का सम्पादन करें, अपना पालन व पूरण करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'हिरण्य-वज्र'

यदा वज्रं हिरण्यमिदथा रथं हरी यमस्य वहतो वि सूरिभिः।
आ तिष्ठति मघवा सनश्रुत इन्द्रो वाजस्य दीर्घश्रवसस्पतिः॥ ४॥

१. **यदा**=जब **वज्रम्**=(वज् गतौ) हमारी क्रिया **हिरण्यम्**=हित-रमणीय (स्वर्णीय) होती है, अथवा जब हमारी सब क्रियाएँ स्वर्णीय मध्य से होती हैं, अर्थात् जब हम जागने व खाने-पीने आदि सारी क्रियाओं में मध्यमार्ग का अवलम्बन करते हैं, **अथा**=तब **इत्**=निश्चय से **रथम्**=हमारे शरीर-रथ को **हरी**=इन्द्रियाश्व **यमस्य वहतः**=उस नियन्ता प्रभु की ओर ले-चलते हैं। २. उस समय **मघवा**=ऐश्वर्यों व यज्ञोंवाला होकर **सनश्रुतः**=सनातन वेदज्ञानवाला होता हुआ **विसूरिभिः**=विशिष्ट ज्ञानियों के साथ **आतिष्ठति**=सर्वथा स्थित होता है। यही व्यक्ति **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनता है और **वाजस्य**=बल का तथा **दीर्घश्रवसः**=तामस् व राजस् वासनाओं के विदारक ज्ञान

का **पतिः**=स्वामी होता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त हितरमणीय क्रियाओंवाला होता है। बल व ज्ञान का पति बनता है। जितेन्द्रिय होता है।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सुक्षयम् (उत्तम गृह)

सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या३ स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते।
अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद्धूनोति वातो यथा वनम्॥ ५॥

१. **स उ**=और वह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **चित् नु**=निश्चय से अब **वृष्टिः**=सबपर सुखों की वृष्टि करनेवाला होता है। प्रभुभक्त सर्वभूतहितेरत होता ही है। यह **स्वा यूथ्या**=अपने समूह में होनेवाले ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण व अन्तःकरण के पञ्चकों को **सचा**=उस प्रभु से मेलवाला करता है। २. **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **श्मश्रूणि**=शरीर में (श्म) आश्रित (श्रि) 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को **हरिता**=सब मलों का हरण करनेवाले सोमकणों से **अभिप्रुष्णुते**=सींचता है। यह सोम इन्द्रियों को सशक्त, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र बनाता है। इसप्रकार यह **सुक्षयम्**=उत्तम शरीररूप गृह को **अववेति**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है। **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **मधु**=यह सारभूत सोम **इत्**=निश्चय से **उत् धूनोति**=सब मलों को इसप्रकार कम्पित कर देता है **यथा**=जैसे **वातः वनम्**=वायु वन को। वायु पत्रों को हिलाकर उनके मल को दूर कर देता है, इसी प्रकार सोम 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को निर्मल कर देता है।

भावार्थ—सोम शरीर में सुरक्षित होकर निर्मलता का साधक होता है।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अभिसारिणीत्रिष्टुप्** ॥

न विवाचः, न मृध्रवाचः

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः॥ ६॥

१. **यः**=जो **वाचः**=वेदवाणी के द्वारा **विवाचः**=विरुद्ध वाणीवाले अथवा बहुत बोलनेवाले तथा **मृध्रवाचः**=हिंसायुक्त वाणीवाले, अर्थात् कटुभाषी **पुरू सहस्रा**=अनेक हज़ारों **अशिवा**=अकल्याणकर शत्रुओं को **जघान**=नष्ट करते हैं। वेदवाणी द्वारा उपदेश देकर प्रभु मनुष्यों को 'बहुत बोलने से तथा कड़वा बोलने से' रोकते हैं। बहुत बोलने व कड़वा बोलनेवाले व्यक्ति कर्मवीर नहीं हुआ करते। २. कर्मवीर बनने के लिए हम **अस्य**=इस प्रभु के **तत् तत्**=उस-उस **पौंस्य**=वीरतायुक्त कर्म का **इत्**=निश्चय से **गृणीमसि**=स्तवन करते हैं। इस स्तवन के द्वारा हम भी वीरतापूर्ण कर्मों को करने की प्रेरणा करते हैं। उस समय वे प्रभु **पिता इव**=हमारे पिता की भाँति होते हैं, **यः**=जोकि **तविषीम्**=हमारे बलों को तथा बल के द्वारा **शवः**=क्रियाशीलता को **वावृधे**=बढ़ाते हैं।

भावार्थ—हम असंगत व बहुत प्रलापों को तथा हिंसायुक्त वाणियों को छोड़कर वीरतापूर्ण कर्मों में प्रवृत्त हों। प्रभु हमारे रक्षक होंगे, वे हमें बल व क्रियाशीलता प्राप्त कराएँगे।

कर्मवीर बनकर हम सुख-निर्माण करनेवाले 'शुनःशेप' बनेंगे। 'शुनःशेप' ही अगले सूक्त के ऋषि हैं—

७४. [चतुःसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—शुनःशेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

प्रशस्त, न कि अनाशस्त

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ताइव स्मसि।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ १॥

१. हे **सत्य**=सत्यस्वरूप **सोमपा**=हमारे सोम का रक्षण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो हम **चित्**=निश्चय से **अनाशस्ताः इव**=अप्रशस्त से जीवनवाले **स्मसि**=हैं, अतः हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **तु**=तो **आ**=सब प्रकार से **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु (स हस्)**=मनःप्रसाद से युक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **शंसय**=प्रशस्त बनाइए। २. हे प्रभो! आप **तुवीमघ**=महान् ऐश्वर्यवाले हैं। आपके ऐश्वर्य में भागी बनकर हम भी प्रशस्त व आनन्दमय जीवनवाले बनें। हे प्रभो! आप 'सत्य' हैं, मैं भी सत्य के द्वारा पवित्र मनवाला बनूँ। आप 'सोमपाः' हैं—मन को पवित्र करके मैं भी सोम का रक्षण करनेवाला बनूँ। 'इन्द्र' नाम से आपका स्मरण करता हुआ मैं भी जितेन्द्रिय बनूँ। यह जितेन्द्रियता ही तो मुझे 'त्रिभुवन-विजेता' व 'तुवीमघ' बनाएगी।

भावार्थ—वे 'सत्य, सोमपा इन्द्र' मेरे जीवन को शुभ व मेरी इन्द्रियों को निर्मल बनाने की कृपा करें। मैं अनाशस्त से प्रशस्त बन जाऊँ।

ऋषिः—शुनःशेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

स्वकर्मों द्वारा (तव दंसना)

शिप्रिन्वाजानां पते शचीवस्तव दंसना।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ २॥

१. जीव की प्रार्थना पर प्रभु जीव से कहते हैं कि **शिप्रिन्**=उत्तम हनुओं व नासिकावाले! सात्त्विक पदार्थों को चबाकर खाने के द्वारा उत्तम जबड़ोंवाले तथा प्राणसाधना द्वारा उत्तम नासिकावाले! सात्त्विक भोजन व प्राणायाम द्वारा **वाजानां पते**=शक्तियों के स्वामिन्! तथा **शचीवः**=उत्तम प्रज्ञा व कर्मोंवाले **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **तव दंसना**=तेरे कर्मों से ही तूने 'तुवीमघ' बनना है। २. तेरे कर्मों से ही तू **नः**=हमारी—हमसे दी गई इन **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=प्रसन्न **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=अपने जीवन को प्रशंसनीय बना। वस्तुतः हमारे कर्म ही हमें 'तुवीमघ' बनाएँगे। सबसे प्रथम तो हम (क) (शिप्रिन्) उत्तम सात्त्विक भोजन को चबाकर खाएँ तथा नियमित रूप से प्राणसाधना करनेवाले हों। (ख) (वाजानां पते) सात्त्विक भोजन व प्राणायाम द्वारा शक्तियों का रक्षण करें। (ग) (शचीवः) उत्तम प्रज्ञा व कर्मोंवाले बनें।

भावार्थ—हम 'शिप्री, वाजानां पति व शचीवान् तथा इन्द्र' बनकर शुद्ध, प्रशस्त इन्द्रियोंवाले व अत्यन्त प्रशस्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—शुनःशेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

आत्मालोचन व स्वाध्याय

नि ष्वापया मिथूदृशा सस्तामबुध्यमाने।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ ३॥

१. **मिथूदृशा**=एक-दूसरे को ही देखनेवालों को **निःष्वापया**=निश्चितरूप में सुला दीजिए, अर्थात् हम एक-दूसरे के ही दोषों को देखने में न लगे रहें, प्रत्युत् अपने ही जीवन का आलोचन करके अपने दोषों को दूर करनेवाले बनें। २. **अबुध्यमाने**=जो प्रतिदिन स्वाध्याय के द्वारा अपने बोध को बढ़ाते नहीं वे **सस्ताम्**=समाप्त हो जाएँ (सस् cease)। हम नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले बनें। प्रभु से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आत्मालोचन व स्वाध्याय करनेवाले **नः**=हमें आप **शुभ्रेषु**=शुद्ध व **सहस्त्रेषु**=आनन्दयुक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंसायुक्त जीवनवाला बनाइए। **तुवीमघ**=आप तो महान् ऐश्वर्यवाले हैं—हमें भी अपने ही समान ऐश्वर्ययुक्त कीजिए।

भावार्थ—हम आत्मालोचन व स्वाध्याय के द्वारा प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनें।

ऋषिः—शुनःशेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

अराति-स्वप्न, राति-जागरण

स॒सन्तु॒ त्या अरा॑तयो॒ बोध॑न्तु शूर रा॒तयः॑।

आ तू न॑ इन्द्र शंसय॒ गोष्वश्वे॑षु शु॒भ्रिषु॑ स॒हस्त्रे॑षु तुवीमघ॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से **त्या**=वे **अरातयः**=न दान की वृत्तियाँ **ससन्तु**=हमारे जीवन में समाप्त हो जाएँ और **शूर**=हे सब शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! **रातयः**=दानवृत्तियाँ **बोधन्तु**=जाग उठें। वस्तुतः यह दानवृत्ति ही सब बुराइयों का खण्डन करके (दाप् लवने) हमारे जीवन को शुद्ध बनाती हैं। (दैप् शोधने)। २. हे **इन्द्र** (शत्रुओं के विद्रावक प्रभो)! आप इस दानवृत्ति से **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्त्रेषु**=आनन्दयुक्त **गोषु अश्वेषु**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=सर्वतः प्रशंसनीय बना दीजिए। **तुवीमघ**=आप महान् ऐश्वर्यशाली हैं। जीवन को शुद्ध बनाकर हम भी आपके ऐश्वर्य में भागी बनें।

भावार्थ—हम अदानवृत्ति से दूर हों। दान की वृत्ति हमारे जीवन को शुद्ध बना दे।

ऋषिः—शुनःशेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

'गर्दभ' न बनना

समि॑न्द्र गर्द॒भं मृ॑ण नु॒वन्तं॑ पा॒पया॑मु॒या।

आ तू न॑ इन्द्र शंसय॒ गोष्वश्वे॑षु शु॒भ्रिषु॑ स॒हस्त्रे॑षु तुवीमघ॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सब इन्द्रियों के ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **अमुया पापया**=उस पापयुक्त सदा अशुभ शब्दों को बोलनेवाली वाणी से **नुवन्तम्**=शब्द करते हुए—बकवास करते हुए **गदर्भम्**=इस गधे को—नासमझ को **संमृण**=सम्यक्, पूर्णतया नष्ट कर दे (मृण हिंसायाम्), अर्थात् प्रभु-कृपा से हम कभी भी अशुभ शब्दों के बोलनेवाले न हों। गधे न बनें। समझदार बनकर सदा शुभ ही शब्द बोलें। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्त्रेषु**=सदा प्रसन्न **गोषु अश्वेषु**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंसनीय जीवनवाला बना दीजिए। **तुवीमघ**=आप महान् ऐश्वर्यवाले हैं। मैं भी औरों की निन्दा न करता हुआ अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाता हुआ आपके समान ही 'तुवीमघ' बनने का प्रयत्न करूँ।

भावार्थ—वह वाणी पापमय है, जो औरों की निन्दा ही करती रहती है। हम ऐसे नामसझ न बनें कि हमारी वाणी पाप-कीर्तन ही करती रहे।

ऋषिः—शुनःशेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

'कुटिलता, क्रूरता व क्रोध' से दूर

पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्त्रेषु तुवीमघ॥ ६॥

१. **कुण्डृणाच्या**=(कुडि दाहे, ऋण् गतौ, अञ्च गतौ) दहनात्मक कुटिल गति से चलनेवाली **वातः**=वायु **वनात् अधि दूरम्**=वन से अधिक दूर होकर **पताति**=चलती है, अर्थात् हमारे जीवन से यह कोसों दूर रहती है। हमारे मस्तिष्कों में ऐसी हवा नहीं भर जाती जिसमें दहनात्मकता है—'कुटिलता, क्रूरता व क्रोध' है। हमारी वाणी आँधी की भाँति औरों का हिंसन करनेवाली नहीं होती। २. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **तु**=तो **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्त्रेषु**=संप्रसादवाली **गोषु अश्वेषु**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=सब प्रकार से प्रशस्त जीवनवाला बनाइए। **तुवीमघ**=हे महान् ऐश्वर्यवाले प्रभो! मैं भी इन्द्रियों को प्रशस्त बनकर अध्यात्म ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—कुटिल गति से चलनेवाली दहनात्मक हवा हमसे दूर रहे। हम 'कुटिल-क्रूर-व क्रोधी' न बनें।

ऋषिः—शुनःशेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

'परिक्रोश' से दूर

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम्।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्त्रेषु तुवीमघ॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **सर्वम्**=सब **परिक्रोशम्**=गालियों को **जहि**=विनष्ट कर दीजिए। हम किसी के लिए अपशब्दों का प्रयोग न करें। निन्दात्मक वचन हमसे दूर ही रहें। **कृकदाश्वम्**=(कृक=The throat; दाश्नोति kill) गला काटने की वृत्ति को **जम्भया**=नष्ट कर दीजिए। हम कभी भी किसी की हिंसा करनेवाले न बनें। २. हे **इन्द्र**=शत्रु-नाशक प्रभो! आप **तु**=निश्चय से **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्त्रेषु**=संप्रसादयुक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों व **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंसनीय जीवनवाला कीजिए। **तुवीमघ**=आप अनन्त ऐश्वर्यवाले हैं। हम भी इसी प्रकार क्रोध व क्रूरता को दूर करके अध्यात्म-सम्पत्तिवाले बनें।

भावार्थ—हम अभिशाप के शब्द न बोलते रहें, औरों का गला न काटते फिरें।

पवित्र जीवनवाला अंग-प्रत्यंग में शक्तिवाला होता हुआ 'परुच्छेप' अगले सूक्त का ऋषि है—

७५. [पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—परुच्छेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अत्यष्टिः ॥

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः
सक्षन्त इन्द्र निःसृजः। यद्गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि।
आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम्॥ १॥

व्याख्या अथर्व० २०.७२.२ पर देखिए।

ऋषिः—परुच्छेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अत्यष्टिः ॥

इन्द्र का महान् पराक्रम

विदुष्टे अस्य वीर्य ऽस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः
सासहानो अवातिरः। शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते।
महीममुष्णाः पृथिवीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः॥ २॥

१. **पूरवः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग, हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **ते**=आपके **अस्य वीर्यस्य**=इस पराक्रम का **विदुः**=ज्ञान रखते हैं **यत्**=कि आप **सासहानः**=शत्रुओं का पराभव करते हुए **शारदीः**=हमारी शक्तियों को शीर्ण करनेवाली **पुरः**=आसुर पुरियों को **अवातिरः**=विध्वस्त कर देते हैं और **अवातिरः**=अवश्य विध्वस्त कर देते हैं। काम की नगरी हमारी इन्द्रियशक्तियों को शीर्ण करती है, क्रोधनगरी मन को तथा लोभनगरी बुद्धि को शीर्ण कर देती है। इन शारदी पुरियों को प्रभु ही विध्वस्त करते हैं। २. हे **शवसस्पते**=सब शक्तियों के स्वामिन्! **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **तम्**=उस **अयज्युम्**=अयज्ञशील **मर्त्यम्**=मनुष्य को **शासः**=निगृहीत करते हो। यज्ञ आदि कर्मों में लगे रहने पर हम काम-क्रोध आदि के शिकार नहीं होते। ३. हे प्रभो! अपने पुत्रों की यज्ञशीलता से **मन्दसानः**=प्रसन्नता का अनुभव करते हुए आप **महीं पृथिवीम्**=इस महनीय पृथिवी को तथा **इमाः अपः**=इन जलों को **अमुष्णाः**=(surpass) लाँघ जाते हो। आपकी महिमा को यह विशाल पृथिवी तथा अत्यन्त व्यापक रूप को धारण करनेवाले जल भी नहीं व्याप्त कर सकते। **इमाः अपः**=ये जल वस्तुतः आपकी महिमा से ही महत्त्व को धारण करते हैं। इनमें रस-रूप से आप ही निवास करते हो 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'। पृथिवी भी आपकी महिमा से ही महिमान्वित होती है 'पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च'। हमारे शत्रुओं को नष्ट करके इस शरीररूप पृथिवी व रेतःकणरूप जलों को भी आप ही उत्तम गन्ध व रसवाला बनाते हो।

भावार्थ—प्रभु की महिमा को पृथिवी व जल व्याप्त नहीं कर पाते। उपासित हुए-हुए ये प्रभु ही हमारे शत्रुओं का विध्वंस करके हमारे शरीर व शरीरस्थ रेतःकणों को सुरक्षित करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अत्यष्टिः ॥

'उशिक् सखीयन्' पुरुषों का विलक्षण ऐश्वर्य

आदित्ते अस्य वीर्य ऽस्य चक्रिरन्मदेषु वृषन्नुशिजो यदाविथ सखीयतो यदाविथ।
चकर्थ कारमेभ्यः पृतनासु प्रवन्तवे ते अन्यामन्यां नद्यं ऽसनिष्णत श्रवस्यन्तः
सनिष्णत॥ ३॥

१. हे **वृषन्**=शक्तिशालिन् प्रभो! **यत्**=जब आप **उशिजः**=मेधावी पुरुषों को **आविथ**=रक्षित करते हो, **यत्**=जब, **सखीयतः**=आपके मित्रत्व की कामना करते हुए इनको **आविथ**=आप रक्षित करते हो तब ये लोग **आत् इत्**=शीघ्र ही **मदेषु**=उल्लासों की प्राप्ति के निमित्त **ते अस्य वीर्यस्य**=आपकी इस शक्ति का **चक्रिरन्**=अपने अन्दर प्रक्षेप करते हैं। आपकी उपासना से आपकी शक्ति को अपने में संचरित करते हैं। २. हे प्रभो! आप **एभ्यः**=इन 'उशिक्, सखीयन्' पुरुषों के लिए **पृतनासु प्रवन्तवे**=संग्रामों में शत्रुओं को जीतने के लिए **कारं चकर्थ**=क्रियाशीलता का निर्माण करते हैं। इनके जीवनों को क्रियाशील बनाकर आप इन्हें शत्रुविजय में समर्थ करते हैं। ३. **ते**=वे क्रियाशील पुरुष **अन्याम् अन्याम्**=विलक्षण व प्रतिविलक्षण **नद्यम्**=समृद्धि को (नदि समृद्धौ)

सनिष्णत=प्राप्त करते हैं। **श्रवस्यन्तः**=आपका यशोगान करते हुए ये **सनिष्णत**= समृद्धि प्राप्त करते हैं। कामविध्वंस द्वारा शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त करते हैं, क्रोध नाश से मानस शान्ति को पाते हैं तथा लोभ-विलय से ये बुद्धि की सूक्ष्मतावाले बनते हैं।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रभु की शक्ति से अपने को शक्ति-सम्पन्न करते हैं। क्रियाशीलता द्वारा काम आदि शत्रुओं का विध्वंस करते हैं। इसप्रकार ये 'स्वास्थ्य, मानसशान्ति व बुद्धि सूक्ष्मता' रूप ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार 'मेधाविता व प्रभुमित्रता' के द्वारा वसुओं का क्रमण (प्राप्ति) करनेवाला यह 'वसुक्र' (वसूनि क्रामति) बनता है। 'वसुक्र' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

७६. [षट्सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

नृ-तमः

वने न वा यो न्यधायि चाकं छुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः।
यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान्॥ १॥

१. मन्त्र का ऋषि 'वसुक्र' वह है **यः**=जो **चाकन्**=कामना करता हुआ—प्रभु की मित्रता को चाहता हुआ **वने न**=उपासनीय के समान उस प्रभु में **वा**=निश्चय से **न्यधायि**=स्थापित होता है। प्रभु को यह अपना आधार बनाता है, इसीलिए **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला होता है। २. हे **भुरणौ**=धारण व पोषण करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपका **स्तोमः**=स्तवन **अजीगः**=इस वसुक्र को प्राप्त होता है। यह आपके स्तवन से आपके महत्त्व को जानता हुआ आपकी साधना में प्रवृत्त होता है। २. यह वसुक्र वह है **यस्य**=जिसका **इन्द्रः इत्**=परमात्मा ही **पुरुदिनेषु**=इन जीवन के लम्बे (बहुत) दिनों में **होता**=जीवन-यज्ञ को चलानेवाला है। यह वसुक्र प्रभु की कृपा से ही जीवन-यात्रा को पूर्ण होता हुआ देखता है, इसीलिए यह निरभिमान बना रहता है। **नृणां नर्यः**= मनुष्यों में सर्वाधिक नरहितकारी कर्मों को करनेवाला होता है। **नृतमः**=अतिशयेन उत्तम मनुष्य बनता है। **क्षपावान्**=(क्षप् to fast, to be an abstinent) भोजन में बड़ा संयमी होता है। इस संयम पर ही सब उन्नतियाँ निर्भर हैं।

भावार्थ—जो भोजन में संयमवाला होता है, वह उत्तम मनुष्य बनता है। यह प्राणसाधना करता हुआ प्रभु में स्थित होता है।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रिशोक

प्र ते अस्या उषसः प्रापरस्या नृतौ स्याम नृतमस्य नृणाम्।
अनु त्रिशोकः शतमावहन्नॄन्कुत्सेन रथो यो असत्ससवान्॥ २॥

१. **ते**=आपकी **अस्याः उषसः**=इस उषाकाल के तथा **अपरस्या**=आनेवाली भी उषा के **प्रनृतौ**=प्रकृष्ट नयन में **प्रस्याम**=प्रकर्षेण हों। आप प्रत्येक उषाकाल में जिधर भी हमें ले-चलनेवाले हों हम उधर ही चलें। आप जो नाच नचाएँ, वही हमें रुचिकर हो। आप **नृणां नृतमस्य**=मनुष्यों के सर्वोत्तम नेता हैं—आपका नेतृत्व ही हमारा संचालक हो। २. **अनु**=ऐसा होने पर ही इसके बाद ही **कुत्सेन**=सब बुराइयों के संहार से (कुथ हिंसायाम्) **त्रिशोकः**='शरीर मन व बुद्धि' तीनों की दीप्ति **नॄन्**=मनुष्यों को **शतम् आवहत्**=सौ वर्ष तक ले-चलनेवाली होती है। ३. **यः रथः**=इसप्रकार जो भी उत्तम शरीररूप रथवाला व्यक्ति (रथः अस्य अस्ति इति रथः)

असत्=होता है, वह **ससवान्**=सस्य को ही खानेवाला होता है। वानस्पतिक भोजन ही सात्त्विक है, अतः यही उपादेय है।

भावार्थ—हम प्रभु की आज्ञा में चलें। सस्यभोजी बनें। इसप्रकार 'शरीर, मन व बुद्धि' को दीप्त करनेवाले 'त्रिशोक' बनें।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रन्त्यः मदः

कस्ते मद इन्द्र रन्त्यो भूदुरो गिरो अभ्यु१ग्रो वि धाव।
कद्वाहो अर्वागुप मा मनीषा आ त्वा शक्यामुपमं राधो अन्नैः ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते मदः**=आपकी प्राप्ति का मद **कः**=अनिर्वचनीय आनन्द देनेवाला है और **रन्त्यः भूत्**=रमणीय है। प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति एक अवर्णनीय सुख का अनुभव करता है और उसे सारा संसार सुन्दर-ही-सुन्दर प्रतीत होता है। २. **अभि उग्रः**=आप अतिशयेन तेजस्वी हो। **दुरः**=मेरे इन्द्रिय द्वारों को तथा **गिरः**=ज्ञानवाणियों को **विधाव**=विशेषरूप से शुद्ध कर दीजिए। आपकी तेजस्विता मेरी सब मलिनताओं को नष्ट कर दे। ३. हे प्रभो! **कत्**=मुझे कब **वाहः**=इधर-उधर भटकानेवाला यह मन **अर्वाक्**=अन्तर्मुख होगा और **कत्**=कब **मा**=मुझे **मनीषा**=बुद्धि **उप**=आपके समीप पहुँचानेवाली होगी। ४. हे प्रभो! आप 'इन्द्रियशुद्धि, मन की अन्तर्मुखीवृत्ति तथा मनीषा की प्राप्ति' के द्वारा मुझे इस योग्य बनाइए कि **उपमम्**=अन्तिकतम—अत्यन्त समीप हृदय में ही निवास करनेवाले **त्वा**=आपको **आशक्याम्**=प्राप्त होने में समर्थ होऊँ और **अन्नैः**=अन्नों के साथ **राधः**=कार्यसाधक धन को भी प्राप्त कर सकूँ। अन्न व धन को प्राप्त करके मैं मार्ग पर आगे बढ़ूँगा तथा आपका स्मरण मुझे मार्गभ्रष्ट होने से बचाएगा।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति के लिए यत्नशील हों। प्रभु हमारी इन्द्रियों को शुद्ध करें, मन को अन्तर्मुख करें तथा हमें बुद्धि-सम्पन्न बनाएँ। अन्न व धन को प्राप्त करके हम आगे बढ़ें और प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले हों।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-जैसा बनना

कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन्कया धिया करसे कन्न आगन्।
मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन्मनीषाः ॥ ४ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **कत् उ**=कब निश्चय से **द्युम्नम्**=ज्योति को आप **करसे**=करते हैं और कब **कया**=आनन्द को देनेवाली **धिया**=ज्ञानपूर्वक क्रियाओं से **नॄन्**=हम मनुष्यों को **त्वावतः**=अपने-जैसा करते हैं। **कत्**=कब **नः**=हमें **आगन्**=आप प्राप्त होंगे। आप जैसा बनकर ही तो मैं आपको प्राप्त होने का अधिकारी होता हूँ। २. हे **उरुगाय**=खूब ही स्तवन करने योग्य प्रभो! आप **मित्रः न**=मित्र के समान हैं। **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। आप ही **भृत्यै**=हमारे भरणपोषण के लिए होते हैं। **यत्**=आपने यह भी अद्भुत व्यवस्था की है कि **समस्य**=सबकी **मनीषाः**=बुद्धियाँ **अन्ने**=अन्न में **असन्**=हैं। जैसा अन्न कोई खाता है, वैसा ही उसकी बुद्धि बन जाती है। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'=आहार की शुद्धि पर ही अन्तःकरण की शुद्धि निर्भर करती है।

भावार्थ—बुद्धिपूर्वक अन्नों का प्रयोग करते हुए हम ज्ञानपूर्वक क्रियाओं से प्रभु-जैसा

बनकर, प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—वसुक्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

भवसागर के पार

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधाइव ग्मन्।
गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः ॥ ५ ॥

१. हे प्रभो! आप **सूरः न**=सूर्य के समान हैं—आप हमारे हृदयाकाशों को प्रकाशित करनेवाले हैं और हमें कर्मों की प्रेरणा देनेवाले हैं। आप **अर्थं प्रेरयः**='धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' रूप पुरुषार्थों की हमें प्रेरणा दीजिए। **पारम्**=आप हमें इस भवसागर के पार प्राप्त कराइए। आपकी प्रेरणा से धर्मपूर्वक धनों का अर्जन करते हुए और उनके द्वारा उचित आनन्दों का उपभोग करते हुए हम मोक्ष के अधिकारी हों। २. हे प्रभो! आप उन्हें भवसागर से पार कीजिए **ये**=जो **अस्य**=इन आपकी **कामम्**=इच्छा को **जनिधा इव**=विकास को धारण करनेवाले की भाँति **ग्मन्**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रभु की कामना के अनुसार कार्यों को करते हुए जीवन में शक्तियों का विकास करते हैं और इसप्रकार प्रभु के प्रिय बनकर ये मोक्ष को प्राप्त होते हैं। ३. हे **तुविजात**=महान् विकास को प्राप्त करानेवाले **इन्द्र**=प्रभो! **ये च नरः**=और जो लोग **ते**=आपकी **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली अथवा हमारे जीवनों का पूरण करनेवाली **गिरः**=वेदवाणियों को **अन्नैः**=सात्त्विक अन्नों के द्वारा शुद्ध अन्तःकरणवाले होकर **प्रतिशिक्षन्ति**=एक-एक करके सीखते हैं, इन लोगों को आप अवश्य भवसागर के पार प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों के सेवन के द्वारा शुद्ध अन्तःकरणवाले होकर, वेदवाणियों का प्रकाश प्राप्त करें। उनके अनुसार कर्त्तव्यकर्मों को करते हुए भवसागर से पार हो जाएँ।

ऋषिः—वसुक्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'क्षीणमल-दीप्तज्ञान व मधुरस्वभाव' वाला जीवन

मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन।
वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन्भवन्तु पीतये मधूनि ॥ ६ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **मात्रे ते**=अपने जीवन का निर्माण करनेवाले तेरे लिए **मज्मना काव्येन**=जीवन को शुद्ध बनानेवाले वेदरूप काव्य के साथ **द्यौः पृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **नु**=निश्चय से **सुमिते**=उत्तमता से बनाये गये हैं। ये **पूर्वी**=तेरा पूरण व पालन करनेवाले हैं। वेदज्ञान के अनुसार चलनेवाले पुरुष के लिए ये सारा ब्रह्माण्ड कल्याण-ही-कल्याण करनेवाला है। २. हे **स्वाद्मन्**=(सु आ अद्मन्) सदा उत्तम भोजन करनेवाले जीव! **वराय** (वृ)=ठीक चुनाव करनेवाले तेरे लिए—भोग की अपेक्षा योग को, प्रेय की अपेक्षा श्रेय को, अनित्य की अपेक्षा नित्य को चुननेवाले तेरे लिए **सुतासः**=सात्त्वि आहार से उत्पन्न सोमकण **घृतवन्तः**=मलों के क्षरणवाले तथा ज्ञानदीप्ति को बढ़ानेवाले **भवन्तु**=हों। ये सोमकण **पीतये**=रक्षण के लिए हों। **मधूनि** (भवन्तु)=ये हमारे स्वभाव में माधुर्य उत्पन्न करने का कारण बनें। इस सोम के रक्षण से द्वेष के स्थान में प्रेमवाले हों, ईर्ष्या को छोड़कर मुदितावाले हों दूसरों की उन्नति में प्रसन्न हों, क्रोध को छोड़कर करुणावाले बनें।

भावार्थ—वेदज्ञान के अनुसार चलने पर यह संसार हमारा पूरण व पालन करनेवाला होता है।

ऋषिः—वसुक्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'क्रतु+पौंस्य' द्वारा 'नर्य' बनना

आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः ।
स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च ॥ ७ ॥

१. **अस्मा इन्द्राय**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए इस **पूर्णम् अमत्रम्**=सब प्रकार की कमियों से रहित शरीररूप पात्र को **मध्वः**=मधु से—सोम से **असिचन्**=सिक्त करते हैं। इस शरीर में प्रभु ने उन्नति के लिए आवश्यक सब साधनों को जुटाया है। (अम) गति के द्वारा (त्र) इसका रक्षण होता है, अतः इसे 'अम-त्र' नाम दिया गया है। इसमें आहार की सारभूत वस्तु 'मधु'=सोम है। इसके रक्षण से ही 'शरीर, मन व मस्तिष्क' में स्वस्थ बनकर हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनते हैं। २. इस सोम का रक्षण करनेवाला **सः**=वह पुरुष **हि**=निश्चय से **सत्यराधाः**=सत्य सम्पत्तिवाला होता है। **सः**=वह **पृथिव्याः**=पृथिवी के **वरिमन्**=विस्तार में **आवावृधे**=सब प्रकार से बढ़ता है। यह शरीररूप पृथिवी की सब शक्तियों का विस्तार करनेवाला होता है। यह **नर्यः**=नरहितकारी पुरुष **अभि**=दोनों ओर—अन्दर और बाहर—अन्दर तो **क्रत्वा**=प्रज्ञान व शक्ति से **च**=तथा बाहर **पौंस्यैः**=वीरतापूर्ण कर्मों से बढ़ता हुआ होता है। ऐसा बनकर ही यह प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम शरीर को वीर्य से सिक्त करें। सोम-रक्षण द्वारा इसे प्रज्ञान व शक्ति से परिपूर्ण करके नरहितकारी कार्यों में प्रवृत्त हों। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—वसुक्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

प्रभुरूप सारथि द्वारा विजय-प्राप्ति

व्यानडिन्द्रः पृतनाः स्वोजा आस्मै यतन्ते सख्याय पूर्वीः ।
आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ यं भद्रया सुमत्या चोदयासे ॥ ८ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम-रक्षण के द्वारा **स्वोजाः**=उत्तम ओजवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पृतनाः**=शत्रुसैन्यों को **व्यानट्**=विशेषरूप से घेरनेवाला—उन्हें पराभूत करनेवाला बनता है। काम, क्रोध के परिभव के द्वारा **पूर्वीः**=अपना पूरण करनेवाले लोग **अस्मै सख्याय**=इस प्रभु की मित्रता के लिए **आयतन्ते**=सर्वथा प्रयत्न करते हैं। २. ये प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **न**=जैसे **पृतनासु**=संग्रामों में **रथम्**=रथ पर सारथि स्थित होता है, उसी प्रकार हे प्रभो! आप भी **स्म**=निश्चय से (रथम्) **आतिष्ठ**=हमारे इस शरीर-रथ पर स्थित होइए। उस रथ पर स्थित होइए **यम्**=जिसको कि आप **भद्रया सुमत्या**=कल्याणी सुमति से **चोदयासे**=प्रेरित करते हैं। इस कल्याणी मति को प्राप्त कराके ही प्रभु हमें विजयी बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु मेरे शरीर-रथ के सारथि हों। मैं अपनी जीवन-दिशा को प्रभु के निर्देश से निश्चित करूँ।

प्रभु के निर्देश से चलनेवाला व्यक्ति 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनता है। यह प्रार्थना करता है कि—

७७. [सप्तसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सोमपान द्वारा 'इन्द्र' बनकर 'महेन्द्र' को पाना

आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः॥ १॥

१. **सत्यः**=सत्यस्वरूप, **मघवान्**=ऐश्वर्यशाली, **ऋजीषी**=ऋजुता की प्रेरणा देनेवाला—कुटिलता को दूर करनेवाला (ऋजु+इष्) प्रभु **आयातु**=हमें प्राप्त हो। **अस्य**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **हरयः**=इन्द्रियाश्व **नः उपद्रवन्तु**=हमें समीपता से प्राप्त हों। ये इन्द्रियाँ हमें प्रभु की ओर ही ले-जानेवाली हों। २. **तस्मा इत्**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही **अन्धः**=सोम को **सुषुम**=हम उत्पन्न करते हैं। यह सोम **सुदक्षम्**=उत्तम बल को प्राप्त करानेवाला है। हमें बल-सम्पन्न बनाकर ही यह सोम हमें प्रभु-प्राप्ति का पात्र बनाता है। ये प्रभु **इह**=इस जीवन में **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए **अभिपित्वम्**=हमारे अभिमत की प्राप्ति को **करते**=करते हैं। प्रभु का स्तवन यही है कि हम प्रभु से उत्पादित इस सोम का रक्षण करें। सोम-रक्षण से शक्तिशाली इन्द्र बनकर उस 'महान् इन्द्र' का सच्चा उपासन करते हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ हमें उस सत्यस्वरूप, ऐश्वर्यशाली, ऋजुता की प्रेरणा देनेवाले प्रभु की ओर ले-चलें। प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से ही सोम का रक्षण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु ही सब इष्टों को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अश्व-मोचन

अव स्य शूराध्वनो नान्तेऽस्मिन्नो अद्य सवने मन्दध्यै।
शंसात्युक्थमुशनेव वेधाश्चिकितुषे असुर्या ॑य मन्म॥ २॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **अध्वनः अन्ते न**=जिस प्रकार मार्ग की समाप्ति पर अश्वों को खोलते हैं, उसी प्रकार आप **नः**=हमारे **अस्मिन् सवने**=इस जीवन-यज्ञ में **अद्य**=आज **मन्दध्यै**=आनन्द की प्राप्ति के लिए **अव स्य**=इन्द्रियाश्वों को विषयों के बन्धन से मुक्त कीजिए। २. **उशना इव**=सर्वहित की कामना करते हुए उपासक के समान यह भक्त **उक्थम्**=स्तोत्रों का शंसन करता है। **वेधा**=ज्ञानी बनकर **चिकितुषे**=उस सर्वज्ञ **असुर्याय**=प्राणशक्ति का संचार करनेवालों में उत्तम प्रभु के लिए **मन्म**=मननीय ज्ञान को प्राप्त करता है। जितना-जितना ज्ञान प्राप्त करता चलता है, उतना-उतना प्रभु के समीप होता जाता है।

भावार्थ—हम यही चाहते हैं कि प्रभु हमारी इन्द्रियों को विषयबन्धन से मुक्त करें, जिससे हम जीवन-यात्रा को ठीक से पूर्ण करते हुए तथा ज्ञान को बढ़ाते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ज्ञान के सात दीपक

कविर्न निण्यं विदथानि साधन्वृषा यत्सेकं विपिपानो अर्चात्।
दिव इत्था जीजनत्सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः॥ ३॥

१. **कविः न निण्यम्**=जैसे एक कान्तदर्शी पुरुष अन्तर्हित—गूढ़ तत्त्वार्थ को जान लेता है,

इसी प्रकार **विदथानि**=ज्ञानों को **साधन्**=सिद्ध करता हुआ **वृषा**=शक्तिशाली पुरुष **यत्**=जब **सेकम्**=शरीर में सेचनीय सोम को **विपिपानः**=विशेषरूप से पीता हुआ—शरीर में ही वीर्य को सुरक्षित करता हुआ **अर्चात्**=प्रभु की उपासना करता है। प्रभु से दी गई इस सर्वोत्तम धातु का रक्षण प्रभु का अर्चन ही हो जाता है। २. **इत्था**=इसप्रकार वीर्यरक्षण के द्वारा सप्त='दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व जिह्वा' इन सातों को **दिवः कारून्**=प्रकाश (ज्ञान) का उत्पन्न करनेवाला **जीजनत्**=बनाता है और **अह्ना चित्**=एक ही दिन में, अर्थात् अति शीघ्र ही **गृणन्तः**= स्तुति करते हुए ये लोग **वयुना चक्रुः**=अपने में प्रज्ञानों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं। सुरक्षित वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बन ज्ञान को दीप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय में प्रवृत्त होने से वीर्य का रक्षण सम्भव होता है। वीर्यरक्षण ही प्रभु का सच्चा समादर है। यह सुरक्षित वीर्य सब ज्ञानेन्द्रियों को शक्तिशाली बनाता है और शीघ्र ही हमारी ज्ञानाग्नि की दीप्ति का कारण बनता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान-प्रकाश व वासना-विलय

स्व१र्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ ॥ ४ ॥

१. **अर्कैः**=अर्चना के साधनभूत मन्त्रों के द्वारा **यत्**=जब **सुदृशीकम्**=उत्तम दर्शनीय **स्वः**=प्रकाश **वेदि**=जाना जाता है—प्राप्त किया जाता है। **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **वस्तोः**=निवास को उत्तम बनाने के उद्देश्य से **महि ज्योतिः**=महनीय व महान् ज्योति में ही **रुरुचुः**=रुचिवाले होते हैं। उस समय **नृतमः**=वह सर्वोत्तम नेता प्रभु **नृभ्यः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले इन लोगों के लिए **अभिष्टौ**=वासनाओं पर आक्रमण के निमित्त **अन्धा तमांसि**=घने अन्धकारों को **दुधिता चकार**= (नाशितानि सा०) नष्ट कर देते हैं और **विचक्षे**=उन लोगों के लिए विशेष रूप से मार्गदर्शन के लिए होते हैं। २. प्रभु की उपासना से प्रकाश प्राप्त होता है। इसी से हमारी रुचि ज्ञान-प्राप्ति की ओर होती है। उस समय प्रभु हमारे घने अज्ञानान्धकारों को नष्ट करते हैं। ज्ञान के प्रकाश में वासनान्धकार का विलय हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु उपासक को ज्ञान का वह प्रकाश प्राप्त कराते हैं, जिसमें वासनान्धकार विलीन हो जाता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सर्वत्र व्याप्त-अनन्त' प्रभु

ववक्ष इन्द्रो अमितमृजीष्यु१भे आ पप्रौ रोदसी महित्वा।
अतश्चिदस्य महिमा वि रेच्यभि यो विश्वा भुवना बभूव ॥ ५ ॥

१. **ऋजीषी**=ऋजुता (सरलता) की प्रेरणा देनेवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अमितं ववक्ष**=असीम वृद्धिवाले होते हैं, (वक्ष to grow)। वे **महित्वा**=अपनी महिमा से **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **आपप्रौ**=पूरित कर लेते हैं। २. वास्तव में तो **अतः चित्**=इन द्यावापृथिवी से भी **अस्य महिमा**=इन प्रभु की महिमा **विरेचि**=अतिरिक्त होती है। ये द्यावापृथिवी प्रभु की महिमा को अपने में समा लेने में समर्थ नहीं होते। प्रभु तो वे हैं **यः**=जोकि **विश्वा भुवना**=सब भुवनों को **अभिबभूव**=अभिभूत किये हुए हैं। उन्होंने इस सारे ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में लिया हुआ है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। प्रभु इनसे महान् हैं, ये द्यावापृथिवी तो प्रभु के एक देश में ही स्थित हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अपः सखिभिः रिरेच

विश्वा॑नि श॒क्रो नर्या॑णि वि॒द्वान॒पो रि॑रेच॒ सखि॑भि॒र्निका॑मैः।
अश्मा॑नं चि॒द्ये बि॑भि॒दुर्वचो॑भिर्व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ वि व॑व्रुः ॥ ६ ॥

१. **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **विश्वानि**=सब **नर्याणि विद्वान्**=नरहित साधनभूत बातों को जानता हुआ **निकामैः**=प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले **सखिभिः**=मित्रभूत जीवों के साथ **अपः रिरेच**=वीर्यकणों को मिलाता है (रिच्=to mix, to join) वस्तुतः इन वीर्यकणों के द्वारा ही सब हित सिद्ध होते हैं। जीवन-भवन की नीव ये वीर्यकण ही हैं। २. **ये**=जो उपासक **वचोभिः**=स्तुतिवचनों के द्वारा **अश्मानं चित्**=पत्थर के समान दृढ़ भी वासना को **विभिदुः**=विदीर्ण करते हैं, वे **उशिजः**=मेधावी—प्रभु की कामनावाले पुरुष **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले **व्रजम्**=बाड़े को **विवव्रुः**=वासना के आच्छादन से रहित करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों को वासनाओं से मुक्त करते हैं। अपने को वासनाओं से मुक्त करके ही तो वे वीर्यरक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवनों को मंगलमय बनाने के लिए प्रभु हमारे साथ वीर्यकणों को जोड़ते हैं। इन वीर्यकणों के रक्षण के लिए प्रभु की उपासना नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पृथिवी+सचेताः

अ॒पो वृ॒त्रं व॑व्रि॒वांसं॒ परा॑ह॒न्प्राव॑त्ते॒ वज्रं॑ पृथि॒वी सचे॑ताः।
प्रार्णां॑सि समु॒द्रिया॑ण्यैनोः॒ पति॒र्भव॒ञ्छव॑सा शूर धृष्णो ॥ ७ ॥

१. **अपः**=रेतःकणों को **वव्रिवांसम्**=आवृत कर लेनेवाले **वृत्रम्**=कामरूप इस शत्रु को **पर्यहन्**=आप सुदूर विनष्ट करते हो। **सचेता**=चेतनावाला—समझदार **पृथिवी**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला मनुष्य **ते**=आपके दिये हुए **वज्रं प्रावत्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को प्रकर्षेण रक्षित करता है। सदा क्रियाशील बने रहकर यह वृत्र के आक्रमण से अपने को बचाये रखता है। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **धृष्णो**=धर्षकशक्ति से युक्त प्रभो! आप **शवसा**=अपने बल के द्वारा **पतिःभवन्**=हमारे रक्षक होते हुए **समुद्रियाणि**=ज्ञानैश्वर्य के आधारभूत वेदरूप समुद्रों के **अर्णांसि**=ज्ञान-जलों को **प्रऐनोः**=प्रकर्षेण प्रेरित करते हैं। कर्मशक्ति व ज्ञान देकर ही तो आप हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—समझदार पुरुष क्रियाशील बनकर वासना से बचा रहता है। वासना-विनाश से शक्ति व ज्ञान का वर्धन करके यह ज्ञानसमुद्र के रत्नों को पानेवाला बनता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अविद्या-पर्वतों का भेदक प्रभु

अ॒पो यदद्रिं॑ पुरुहूत॒ दर्द॑रा॒विर्भु॑वत्स॒रमा॑ पू॒र्व्यं ते॑।
स नो॑ ने॒ता वाज॒मा द॑र्षि॒ भूरिं॑ गो॒त्रा रु॒जन्नङ्गि॑रोभिर्गृणा॒नः ॥ ८ ॥

१. हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी, ऐसे प्रभो! आप **यत्**=जब **अपः**=हमारे वीर्यकणों का लक्ष्य करके **अद्रिम्**=अविद्यापर्वत को **दर्दः**=विदीर्ण करते हैं तब **पूर्व्यम्**=सर्वप्रथम

ते=आपकी **सरमा**=सब विषयों में चलनेवाली बुद्धि **आविर्भुवत्**=प्रकट होती है। अविद्या-विनाश से वीर्य का रक्षण होता है, इससे हममें सूक्ष्मबुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। २. **सः**=वे **नः**=हमारे **नेता**=प्रणयन करनेवाले आप **भूरिम्**=पालन व पोषण करनेवाले **वाजम्**=बल व अन्न को **आदर्षि**=प्राप्त कराते हैं। **अंगिरोभिः**=अपने अंगों को रसमय बनानेवाले पुरुषों से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **गोत्रा**=अविद्यापर्वतों का **रुजन्**=विदारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त हों। प्रभु ही हमारे अविद्यापर्वत का विदारण करेंगे और हमें पालक व पोषक बलों को प्राप्त कराएँगे।

ज्ञान व बल को प्राप्त करनेवाला यह उपासक अपने साथ शान्ति को जोड़नेवाला 'शंयु' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

७८. [अष्टसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—शंयुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

उस सर्वज्ञ+सर्वशक्तिमान् का गायन

तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने। शं यद्गवे न शाकिने॥ १॥

१. **वः**=तुम **सुते**=शरीर में सोम का सम्पादन करने पर **सचा**=मिलकर **पुरुहूताय**=पालक व पूरक पुकारवाले—जिसकी प्रार्थना हमारा पालन व पूरण करती है, उस **सत्वने**=शत्रुओं के सादयिता (नाशक) प्रभु के लिए **तद् गाय**=उन स्तोत्रों का गायन करो। २. **गवे**=उस (गमयति अर्थान्) वेदवाणी के द्वारा सब अर्थों के ज्ञापक **न**=(न=च) और **शाकिने**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के लिए उस स्तोत्र का गायन करो **यत्**=जो **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। प्रभु को सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् के रूप में सोचते हुए हम भी ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करने की प्रेरणा लेते हैं और इसप्रकार जीवन में शान्ति प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण करते हुए मिलकर घरों में प्रभु का गायन करें। यह गायन हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा देता है और हमारे जीवनों को शान्त बनाता है।

ऋषिः—शंयुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभु-स्तवन से ज्ञान व शक्ति की प्राप्ति

न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः। यत्सीमुप श्रवद्गिरः॥ २॥

१. **यत्**=जब **वसुः**=सबके बसानेवाले वे प्रभु **गिरः**=हमारी स्तुतिवाणियों को **सीम्**=निश्चय से **उपश्रवत्**=सुनते हैं तब **घा**=निश्चय से **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले **वाजस्य**=शक्ति के **दानम्**=दान को **न**=नहीं **नियमते**=उपरत करते, अर्थात् हमें ज्ञान व बल को प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। इसी उद्देश्य से वे हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं, अतः हम सदा प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—शंयुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

कुवित्स को प्रभु की प्राप्ति

कुवित्सस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत्। शचीभिरप नो वरत्॥ ३॥

१. **दस्युहा**=दास्यव (राक्षसी) वृत्तियों को विनष्ट करनेवाले प्रभु **कुवित्सस्य** (षोऽन्तकर्मणि)=शत्रुओं को खूब ही विनष्ट करनेवाले उपासक के **हि**=निश्चय से **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले

व्रजम्=इस शरीररूप गोष्ठ को **गमत्**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् 'कुवित्स' आवश्य प्रभु को प्राप्त करता है। २. यहाँ हम कुवित्सों को प्राप्त होकर वे प्रभु **नः**=हमारी इन इन्द्रियरूप गौओं को **शचीभिः**=अपने प्रज्ञानों व बलों से **अपवरत्**=वासना के आवरण से रहित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे दास्यवभावों को विनष्ट करके हमारी इन्द्रियों को अज्ञान के आवरण से रहित करते हैं।

प्रभु के उपासन से उत्तम निवासवाला बनकर यह 'वसिष्ठ' बनता है, शक्ति का पुत्र होने से 'शक्ति' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

७९. [एकोनशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—(**पूर्वार्धस्य**) **शक्तिः**; (**उत्तरार्धस्य**); **वसिष्ठः** (**ताण्डके**)॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः** (**बृहती+सतोबृहती**)॥

जीवन-शक्ति व ज्योति

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए इसप्रकार **क्रतुम्**=प्रज्ञान व शक्ति को **आभर**=प्राप्त कराइए, **यथा**=जैसे पिता **पुत्रेभ्यः**=पिता पुत्रों के लिए प्राप्त कराता है। हम आपके पुत्र हैं, आप हमारे पिता हैं। आपने ही तो हमें प्रज्ञान व शक्ति प्राप्त करानी है। १. हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक पुकारवाले प्रभो! **नः**=हमें **अस्मिन् यामनि**=इस जीवन-मार्ग में **शिक्षा**=शक्तिशाली बनाइए अथवा शिक्षित कीजिए। **जीवाः**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण हुए-हुए हम—सबल होते हुए हम **ज्योतिः अशीमहि**=ज्ञानज्योति को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम शक्ति व प्रज्ञान से परिपूर्ण होते हुए सुन्दरता से जीवन-यात्रा को परिपूर्ण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** (**शाट्यायनके**), **वसिष्ठः** (**ताण्डके**)॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः** (**बृहती+सतोबृहती**)॥

'न पाप, न चिन्ता, न अशुभ'

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३ माशिवासो अव क्रमुः।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि॥ २॥

१. हे प्रभो! **नः**=हमें **अज्ञाता वृजना**=अज्ञान में हो जानेवाले पाप व **दुराध्यः**=दुःखदायी आधियाँ—मानस चिन्ताएँ **मा अवक्रमुः**=मत आक्रान्त करें। **अशिवासः**=अकल्याणकर विचार **नः**=हमें अभिभूत करनेवाले न हों। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वया**=आपके द्वारा—आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर **प्रवतः** (precipice, decling) इस जीवन-मार्ग की ढलानों तथा **शश्वतीः अपः**=सनातन व तीव्र गति से बहते हुए भवसागर के जलों को **अति तरामसि**=पार कर जाएँ। आपके बिना पग-पग पर फिसलने की व बह जाने की आशंका है। आपने ही हमें बचाना है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण करते हुए हम 'पापों, आधियों व अशिवों' से आक्रान्त न हों। प्रभु की सहायता से हम ढलानों पर फिसल न जाएँ और विषय-जलों में डूब न जाएँ।

पापों, आधियों व अशिवों से ऊपर उठकर हम शान्त जीवनवाले 'शंयु' बनें। शंयु ही अगले सूक्त का ऋषि है—

८०. [अशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—शंयुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती) ॥

'ज्येष्ठ, ओजिष्ठ, पपुरि, श्रव'

इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः।
येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र प्राः ॥ १ ॥

१. **इन्द्र**=हे सर्वशक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए **ज्येष्ठम्**=प्रशस्यतम **ओजिष्ठम्**=अत्यन्त ओजस्वी **पपुरि**=पालक व पूरक **श्रवः**=ज्ञान को **आभर**=प्राप्त कराइए। २. हे **चित्र**=चायनीय—पूजनीय—**वज्रहस्त**=वज्र हाथ में लिये हुए प्रभो! दुष्टों को दण्ड देनेवाले **सुशिप्र**=उत्तम हनू व नासिका को प्राप्त करानेवाले प्रभो! उस ज्ञान को हमें प्राप्त कराइए, **येन**=जिससे कि **इमे उभे**=इन दोनों **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—शरीर व मस्तिक को **आप्रा**=आप पूरित करते हैं। यहाँ 'सुशिप्र' सम्बोधन इस भाव को व्यक्त कर रहा है कि हम खूब चबाकर खाएँ (हनु) और प्राणायाम में प्रवृत्त हों (नासिका) जिससे शरीर के रोगों व मन के दोषों को दूर करते हुए हम उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकें। प्रभु सुशिप्र हैं। प्रभु से उत्तम हनु व नासिका को प्राप्त करके भोजन को चबाकर खाते हुए और प्राणसाधना करते हुए हम उस ज्ञान को प्राप्त करें जो हमें 'प्रशस्त, ओजस्वी व न्यूनतारहित' जीवनवाला बनाए।

भावार्थ—प्रभु ही वह प्रशस्त ज्ञान दें, जिससे कि हमारा जीवन 'प्रशस्त, ओजस्वी व पूर्ण सा' बन सके। वह ज्ञान हमारे शरीर को सबल बनाए—मस्तिष्क को दीप्त।

ऋषिः—शंयुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती) ॥

शत्रु-विजय

त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन्देवेषु हूमहे।
विश्वा सु नो विथुरा पिब्दना वसोऽमित्रान्सुषहान्कृधि ॥ २ ॥

१. हे **देवेषु राजन्**=सूर्य आदि सब देवों में दीप्त होनेवाले, अर्थात् सूर्य आदि को दीप्ति प्राप्त करानेवाले प्रभो! **उग्रम्**=तेजस्वी **चर्षणीसहम्**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले **त्वाम्**=आपको **अवसे**=रक्षण के लिए **हूमहे**=हम पुकारते हैं। आपकी शक्ति व दीप्ति से ही तो हमारा रक्षण होना है। २. हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **विश्वा पिब्दना**=सब (पेष्टुमर्हाणि शत्रुसैन्यानि) पीस देने योग्य शत्रुओं को **सुविथुरा**=अच्छी प्रकार व्यथित व बाधित **कृधि**=कीजिए। **अमित्रान्**=हमारे शत्रुभूत जनों को **सुषहान्**=सुगमता से जीते जाने योग्य कीजिए। हम शत्रुओं को सुगमता से जीत सकें।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हैं। प्रभु हमारे लिए शत्रुओं को पराजित करते हैं।

प्रभु की उपासना से शत्रुओं का खूब ही हनन करता हुआ यह व्यक्ति 'पुरुहन्मा' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

८१. [एकाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—पुरुहन्मा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती) ॥

ज्यायान् एभ्यः लोकेभ्यः

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यद्**=यदि **द्यावः**=ये द्युलोक **शतं स्युः**=सैकड़ों हों तो भी ये **ते**=तेरा **न** (अश्नुवन्ति)=व्यापन नहीं कर सकते। उत और **शतं भूमीः**=सैकड़ों भूमियाँ भी तेरा व्यापन नहीं कर सकतीं। २. हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! **त्वा**=आपको **सहस्रं सूर्याः**=हज़ारों भी सूर्य **न**=प्रकाशित नहीं कर पाते। (न तत्र सूर्यो भाति)। **जातम्**=सृष्टि से पहले ही, सदा से प्रादुर्भूत हुए-हुए आपको **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **न अनु अष्ट**=व्याप्त करनेवाले नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु को हज़ारों द्युलोक, पृथिवीलोक व सूर्य भी व्याप्त नहीं कर पाते। प्रभु इनसे महान् हैं।

ऋषिः—**पुरुहन्मा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

बल से आपूरण

आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन्विश्वा शविष्ठ शवसा।
अस्माँ अव मघवन्गोमति व्रजे वज्रिं चित्राभिरूतिभिः॥ २॥

१. हे **वृषन्**=सुखों का वर्षण करनेवाले **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिशालिन् प्रभो! आप **वृष्ण्या**=सुखों का वर्षण करनेवाली **महिना**=अपनी महिमा से **विश्वा**=सबको **शवसा**=बल से **आ पप्राथ**=आपूरित करते हैं। प्रभु को जो भी धारण करता है, वह प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनता है। २. हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त! **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मान्**=हमें **गोमति व्रजे**=इस इन्द्रियरूप गौओंवाले शरीररूप बाड़े में **चित्राभिः ऊतिभिः**=अद्भुत रक्षणों के द्वारा **अव**=रक्षित कीजिए।

भावार्थ—वह प्रभु ही हमें शक्ति से प्रपूरित करते हैं। प्रभु के अनुग्रह से ही हमरा शरीररूप व्रज प्रशस्त इन्द्रियरूप गौओंवाला होता है।

शक्ति-सम्पन्न व प्रशस्तन्द्रिय बनकर यह उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' बनता है। यह वसिष्ठ ही अगले सूक्त का ऋषि है—

८२. [द्व्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

धन से पुण्य वृद्धि

यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय।
स्तोतारमिद्दिधेषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=यदि **यावतः**=जिसने धन के **त्वम्** (ईशीय)=आप ईश हैं, **एतावत्**=इतने धन का **अहम्**=मैं **ईशीय**=स्वामी होऊँ तो **इत्**=निश्चय से **स्तोतारम्**=प्रभु के स्तोता का ही **दिधेषेय**=मैं धारण करूँ। २. हे **रदावसो**=सब धनों के देनेवाले प्रभो! मैं **पापत्वाय**=पाप की वृद्धि के लिए **न रासीय**=कभी भी देनेवाला न होऊँ। मेरा धन उत्तम कार्यों के विस्तार का ही कारण बने। मेरे धन से कभी पापवृद्धि न हो।

भावार्थ—यदि मैं प्रभु के अनुग्रह से धनों का स्वामी बनूँ तो सदा स्तोतृजनों के लिए—न कि पापियों के लिए उस धन का देनेवाला बनूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)॥

प्रभु ही पिता हैं, प्रभु ही बन्धु हैं

शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे।
नहि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन॥ २॥

१. **कुहचिद् विदे** (यत्र कुत्र चिद् विद्यमानाय)=जहाँ कहीं भी (किसी भी देश में) निवास करनेवाले **महयते**=प्रभु के पूजक के लिए **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **इत्**=निश्चय से **रायः**=धनों को **आशिक्षेयम्**=सर्वथा देनेवाला बनूँ। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वद् अन्यत्**=आपसे भिन्न **नः**=हमारा **आप्यम्**=बन्धु **नहि अस्ति**=नहीं है। आपसे भिन्न **वस्यः**=प्रशस्त **पिता चन**=पिता भी नहीं है। प्रभु ही हमारे पिता हैं, प्रभु ही बन्धु हैं। प्रभु-प्रदत्त धनों को हम प्रभु के उपासकों के लिए ही देनेवाले हों।

भावार्थ—दैशिक भेदभावों को छोड़कर हम सब प्रभु के उपासकों के लिए धनों को देनेवाले हों। प्रभु को ही पिता व बन्धु जानें। प्रभु को ही सब धनों का दाता समझें।

प्रभु को पिता व बन्धु जाननेवाला यह व्यक्ति शान्त जीवनवाला 'शंयु' होता है। यह प्रभु का उपासन करता हुआ कहता है—

८३. [त्र्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)॥

उत्तम गृह

इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत्।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **मघवद्भ्यः**=(मघ=मखम्) यज्ञशील पुरुषों के लिए **शरणम्**=गृह **यच्छ**=दीजिए। जो घर **त्रिधातु**=बालक, युवा व वृद्ध तीनों को धारण करनेवाला हो। **त्रिवरूथम्**='शीत, आतप व वर्षा' तीनों का निवारण करनेवाला हो। **स्वस्तिमत्**=कल्याणकर हो। **छर्दिः** (छदिष्यत्)=उत्तम छतवाला हो। २. **च**=और इसप्रकार के गृहों को प्राप्त कराके **मह्यम्**=मेरे लिए **एभ्यः**=इन गृहों से **दिद्युम्**=खण्डनकारिणी विद्युत् को **यावया**=पृथक् कीजिए। इन घरों पर विद्युत्-पतन का भय न हो।

भावार्थ—हम उत्तम घरों को बनाकर स्वस्थ मन से उनमें निर्भयतापूर्वक रहते हुए उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)॥

तनूपाः-अन्तमः

ये गव्यता मनसा शत्रुमादभुरभिप्रघ्नन्ति धृष्णुया।
अध स्मा नो मघवन्निन्द्र गिर्वणस्तनूपा अन्तमो भव॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्तम घरों में रहते हुए हम वे बनें **ये**=जो **गव्यता मनसा**=ज्ञान की वाणियों को अपनाने की कामनावाले मन से **शत्रुम् आदभुः**=कामरूप शत्रु को हिंसित करते हैं और **धृष्णुया**=शत्रुधर्षण शक्ति के द्वारा **अभिप्रघ्नन्ति**=इन वासनारूप शत्रुओं का समन्तात् विनाश करते हैं। २. **अध**=अब हे **मघवन् इन्द्र**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! शत्रु-विद्रावक प्रभो! आप **स्म**=निश्चय से **नः**=हमारे होइए—हम आपकी ओर झुकाववाले हों। हे **गिर्वणः**=ज्ञान की

वाणियों से सम्भजनीय प्रभो! आप हमारे **तनूपाः**=शरीरों के रक्षक **अन्तमः**=अन्तिकतम मित्र **भव**=होइए।

भावार्थ—हम ज्ञान की वाणियों की कामनावाले होते हुए शत्रुओं का धर्षण करें। प्रभु के मित्र बनें। प्रभु हमारे रक्षक व अन्तिकतम मित्र हों।

प्रभु की मित्रता में शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होते हुए हम मधुर इच्छाओंवाले 'मधुच्छन्दाः' बनें। मधुच्छन्दा ही अगले सूक्त का ऋषि है—

८४. [चतुरशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

प्रभु-साक्षात्कार

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **आयाहि**=आप आइए। हे **चित्रभानो**=(चित् र) ज्ञान देनेवाली दीप्तिवाले प्रभो! **इमे**=ये **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए सोमकण **त्वायवः**=आपकी कामनावाले हैं। ये सोमकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त कर रहे हैं। इसप्रकार ये सोमकण हमें आपके दर्शन के योग्य बनाते हैं। २. ये सोमकण **अण्वीभिः**=सूक्ष्म बुद्धियों के साथ **तना**=सदा **पूतासः**=पवित्रता को सिद्ध करनेवाले हैं। सोम की रक्षा से जहाँ बुद्धि सूक्ष्म बनती है, वहाँ हृदय भी पवित्र होता है। इसप्रकार ये सोमकण हमें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! हम सोम की रक्षा के द्वारा बुद्धि को सूक्ष्म बनाएँ। इस सोम-रक्षण से ही हृदयों को भी पवित्र करें। इस प्रकार प्रभु-दर्शन के पात्र बनते हुए प्रभु के अद्भुत प्रकाश का साक्षात्कार करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

धिया-इषितः विप्रजूतः

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः। उप ब्रह्माणि वाघतः॥ २॥

१. गतमन्त्र में की गई जीव की प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **धिया इषितः**=बुद्धि से प्रेरित होता है—सारे कार्यों को बुद्धिपूर्वक करता है। **विप्रजूतः**=ज्ञानी आचार्यों से प्रेरित होता है—उनकी प्रेरणा में चलता हुआ तू भी उनकी भाँति ही ज्ञानी बनता है। २. तू **सुतावतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले—संयम द्वारा सोम की रक्षा करनेवाले **वाघतः**=मेधावी पुरुष के—ज्ञान का वहन करनेवाले विद्वान् व्यक्ति के **ब्रह्माणि**=ज्ञानों को **उप**=समीप रहकर प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (१) हम बुद्धि से प्रेरित हों (२) ज्ञानी पुरुषों से प्रेरणा प्राप्त करें (३) संयमी विद्वान् पुरुषों के समीप रहकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए यत्नशील रहें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

सात्त्विक अन्न सेवन

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दधिष्व नश्चनः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **तूतुजानः**=शीघ्रता करता हुआ अथवा (तुन् हिंसायाम्) सब वासनाओं की हिंसा करता हुआ **आयाहि**=मेरे समीप प्राप्त हो। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियरूप

घोड़ोंवाले! तू **ब्रह्माणि उप**=सदा ज्ञानों के समीप रहनेवाला हो—ज्ञान-प्राप्ति की रुचिवाला बन। इस ज्ञान के द्वारा ही तू वासनाओं को दग्ध करके पवित्र हृदय में प्रभु का दर्शन कर पाएगा। २. **सुते**=सोम की उत्पत्ति के निमित्त **नः**=हमारे दिये हुए **चनः**=इस अन्न को **दधिष्व**=तू धारण करनेवाला बन। यह अन्न ही तेरा भोजन हो। मांस की ओर तेरा झुकाव न हो जाए। मांस-भोजन से राजसवृत्तिवाला बनकर तू विषयों की ओर झुक जाएगा।

भावार्थ—हम सात्त्विक भोजन करें। सात्त्विक भोजन से सात्त्विक बुद्धिवाले बनें। सात्त्विक बुद्धि से दीप्त ज्ञानाग्निवाले बनकर वासनाओं को दग्ध कर दें, तभी हम प्रभु-दर्शन कर पाएँगे।

सात्त्विक अन्न से सात्त्विक बुद्धिवाला बनकर यह प्रभु का गायन करनेवाला 'प्रगाथ' होता है तथा यह मनुष्य 'मेधातिथि' बनता है—बुद्धि की ओर चलनेवाला। सात्त्विक बुद्धिवाला बनकर यह 'मेध्य' प्रभु की ओर चलनेवाला मेधातिथि बनता है। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं—

८५. [पञ्चाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रगाथः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती) ॥

प्रभु का ही शंसन

मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥ १॥

१. प्रगाथ अपने मित्रों से कहता है कि **सखायः**=हे मित्रो! **अन्यत्**=प्रभु से भिन्न किसी अन्य का **मा चिद् विशंसत**=मत ही शंसन व स्तवन करो। सदा प्रभु का स्मरण करते हुए तुम **मा रिषण्यत**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं से हिंसित न होओ। २. हे मित्रो! **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **सचा**=साथ मिलकर **वृषणम्**=उस शक्तिशाली **इन्द्रम् इत्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को ही **स्तोत**=स्तुत करो **च**=और **मुहुः**=बारम्बार **उक्था**=ऊँचे से गाने योग्य स्तोत्रों का **शंसत**=शंसत करो। यह प्रभु-स्तवन ही तुम्हें सबल बनाएगा और तुम वासनाओं व रोगों से हिंसित न होओगे।

भावार्थ—प्रभु का शंसन हमें 'काम, क्रोध' के आक्रमण से बचाता है, इसप्रकार यह शंसन हमें हिंसित नहीं होने देता।

ऋषिः—प्रगाथः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती) ॥

'उभयंकर-उभयावी' प्रभु

अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम्।
विद्वेषणं संवननोऽभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम्॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उस प्रभु का मिलकर स्तवन करो जोकि **अवक्रक्षिणम्**=शत्रुओं का अवकर्षण करनेवाले हैं। **यथा**=जैसे **वृषभम्**=शक्तिशाली हैं, उसी प्रकार **अजुरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले—अहिंसित हैं। **गां न**=एक वृषभ के समान **चर्षणीसहम्**=हमारे शत्रुभूत मनुष्यों का पराभव करनेवाले हैं। प्रभु हमारे आन्तर व बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं का हिंसन करते हैं। २. **विद्वेषणम्**=(विगत-द्विष्) वे प्रभु हमारे जीवनों को द्वेष से शून्य बनाते हैं और **संवननम्**=सम्यक् विजय प्राप्त करानेवाले हैं। **उभयंकरम्**=इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस् को प्राप्त करानेवाले हैं। **मंहिष्ठम्**=वे प्रभु दातृतम हैं—सर्वोपरि दाता है। हमारे लिए सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं। **उभयाविनम्**='शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञान' दोनों को वे देनेवाले हैं। प्रभु सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होते हुए उपासकों के लिए शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से आन्तर व बाह्य शत्रुओं का विनाश होता है—अभ्युदय व निःश्रेयस्

की प्राप्ति होती है और हमारा ज़ीवन ज्ञान व शक्ति से युक्त बनता है।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)॥

ज्ञानीभक्त, न कि आर्तभक्त

यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये।

अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम्॥ ३॥

१. **यत्**=जो **चित् हि**=निश्चय से **इमे**=ये **नाना जनाः**=विविध वृत्तियोंवाले लोग हैं, वे सब **ऊतये**=अपने रक्षण के लिए **त्वा हवन्ते**=आपको पुकारते हैं। पीड़ा के आने पर सब प्रभु को याद करते ही हैं, परन्तु पीड़ा के दूर होने पर प्रभु के ये आर्तभक्त प्रभु को भूल भी जाते हैं, २. परन्तु हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्माकम् इदं ब्रह्म**=हमसे किया गया यह स्तवन **ते**=आपके लिए **विश्वा च अहा**=सब दिनों में **वर्धनम्**=यश का वर्धन करनेवाला **भूतु**=हो। हम आपके ज्ञानीभक्त बनें और सब कार्यों को आपके स्मरण के साथ ही करें। इसप्रकार हमारे सब कर्म पवित्र हों और हमारा जीवन बड़ा यशस्वी बने।

भावार्थ—हम केवल पीड़ा के आने पर ही प्रभु के भक्त न बनें। प्रभु के ज्ञानीभक्त बनकर हम सदा प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। यह प्रभु का सतत स्मरण ही हमारे जीवनों को यशस्वी बनाएगा।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)॥

पुरुरूप वाज

वि तर्तूर्यन्ते मघवन्विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम्।

उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये॥ ४॥

१. हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **विपश्चितः**=सब वस्तुओं को सूक्ष्मता से देखकर चिन्तन करनेवाले विद्वान् **अर्यः**=(ऋ गतौ) शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले वीर तथा **जनानां विपः**=तत्त्वज्ञान की प्रेरणा से लोगों को कम्पित कर देनेवाले—उन्हें एक बार हिला देनेवाले लोग **वितर्तूर्यन्ते**=सब कष्टों को तैर जाते हैं। २. हे प्रभो! आप **नेदिष्ठम् उपक्रमस्व**=हमें समीपता से प्राप्त होइए। हम आपके अधिक-से-अधिक समीप हों। आप हमें **ऊतये**=रक्षण के लिए **पुरुरूपम्**=अनेक रूपोंवाले **वाजम्**=बल को **आभर**=प्राप्त कराइए। शरीर, इन्द्रियों, मन व बुद्धि के विविध बलों को प्राप्त करके हम अपना रक्षण करने में समर्थ हों।

भावार्थ—हम ज्ञानी व वीर बनकर आपत्तियों को तैरनेवाले हों। प्रभु के समीप होते हुए अनेकरूपा शक्ति को प्राप्त करके अपने रक्षण के लिए समर्थ हों।

यह प्रभु के समीप रहनेवाला व्यक्ति सबका मित्र 'विश्वामित्र' बनता है, और प्रार्थना करता है कि—

८६. [षडशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

जीवन-संग्राम में विजय व ब्रह्म-प्राप्ति

ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू।

स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन्प्रजानन्विद्वाँ उप याहि सोमम्॥ १॥

१. **ब्रह्मयुजा**=ब्रह्म से इस शरीर-रथ में युक्त किये गये हे प्रभो! **ते हरी**=आपके इन

इन्द्रियाश्वों को **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **युनज्मि**=युक्त करता हूँ। ये इन्द्रियाश्व ही **सखाया**=मेरे मित्र हैं और **सधमादे**=इस जीवन-संग्राम में **आशू**=व्याप्त होनेवाले हैं। इनके द्वारा ही मैंने जीवन-संग्राम को लड़ना है और विजय पाकर आपके साथ आनन्द का अनुभव करना है। 'सधमाद' शब्द का अर्थ संग्राम भी है—वहाँ वीर सैनिक एकत्र होकर हर्ष का अनुभव करते हैं और अन्ततः मोक्षलोक भी 'सधमाद' है, इसमें आत्मा परमात्मा के साथ आनन्द का अनुभव करता है। ३. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **स्थिरम्**=इस स्थिर—दृढ़ अंगोंवाले **सुखम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले (सु+ख) **रथम् अधितिष्ठन्**=शरीर-रथ पर स्थित होता हुआ, **प्रजानन्**=संसार के स्वरूप को ठीक से समझता हुआ, **विद्वान्**=उस आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करनेवाला तू **सोमम् उपयाहि**=शान्त प्रभु को समीपता से प्राप्त होनेवाला है।

भावार्थ—इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में ठीक से जोतकर, जीवन-संग्राम में विजय करते हुए हम ज्ञानी बनकर प्रभु को प्राप्त हों।

वह जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करनेवाला व्यक्ति 'वसिष्ठ' बनता है और कहता है—

८७. [सप्ताशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सुतसोम का प्रिय' प्रभु

अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम्।
गौराद्वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद्याति सुतसोममिच्छन्॥ १॥

१. हे **अध्वर्यवः**=यज्ञशील पुरुषो! **क्षितीनाम्**=मनुष्यों पर **वृषभाय**=सुखों का सेचन करनेवाले प्रभु के लिए—प्रभु की प्राप्ति के लिए इस **अरुणम्**=तेजस्वी **दुग्धम्**=ओषधियों से छोड़े गये—भोजन के रूप में सेवित ओषधियों से प्राप्त कराये गये **अंशुम्**=सोम को **जुहोतन**= अपने जीवन में आहुत करो। इस सोम को अपने अन्दर ही सुरक्षित करने का प्रयत्न करो। २. **गौरात्**=(Pure) पवित्र जीवनवाले पुरुष से **अवपानम्**=शरीर के अन्दर ही सोम के पान को **वेदीयान्**=अतिशयेन प्राप्त करनेवाला **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **सुतसोमम् इच्छन्**=सुतसोम पुरुष को चाहता हुआ **विश्वाहा इत्**=सदा ही **याति**=प्राप्त होता है। पवित्र जीवनवाला व्यक्ति सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करता है। इस सोमरक्षक को ही प्रभु प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हे यज्ञशील पुरुषो! प्रभु-प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करो। सोमरक्षक पुरुष को ही प्रभु प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सात्त्विक अन्न का सेवन व प्रभु का उपासन

यद्दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि।
उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान्पाहि सोमान्॥ २॥

१. **यत्**=जब **प्रदिवि**=प्रकृष्ट ज्ञान के निमित्त **चारु अन्नम्**=सुन्दर सात्त्विक अन्न को **दधिषे**=धारण करता है, तब **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **अस्य**=इस सोम की **पीतिम्**=शरीर में रक्षा को **वक्षि**=प्राप्त करता है। सात्त्विक अन्न का सेवन हमें सोम-रक्षण के योग्य बनाता है। २. **उत**=और **हृदा**=हृदय से श्रद्धापूर्वक, **उत**=और मन से—प्रबल इच्छापूर्वक **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हुए हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **उशन्**=हमारे हित को चाहते हुए आप **प्रस्थितान्**=(प्र-स्थितान्) शरीर में सर्वत्र गतिवाले **सोमान् पाहि**=सोमकणों को सुरक्षित कीजिए। प्रभु की

उपासना से ही, वासना-विनाश द्वारा, सोमकणों का रक्षण सम्भव होता है।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न के सेवन व प्रभु के उपासन से हम शरीर में सोमकणों का रक्षण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोम-रक्षण-प्रभुमहिमा-दर्शन=ज्ञानधन-प्राप्ति

जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच।
एन्द्र पप्राथोर्व१न्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ॥ ३॥

१. हे प्रभो! **जज्ञानः**=हमारे हृदयों में प्रादुर्भाव होते हुए आप **सहसे**=हमारे बल के लिए **सोमं पपाथ**=सोम का रक्षण करते हो। हृदय में प्रभु का प्रादुर्भाव होने पर, वासना का विनाश हो जाता है और इसप्रकार सोम का रक्षण सम्भव होता है। हे प्रभो! आपके हृदय में प्रादुर्भूत होने पर ही **माता**=यह वेदमाता **ते महिमानम्**=आपकी महिमा को **प्र-उवाच**=प्रकर्षेण प्रतिपादित करती है। हृदय के निर्मल होने पर वेदार्थ स्पष्ट होता है और हमें प्रभु की महिमा का ज्ञान होता है। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप ही **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को **आपप्राथ**=अपने तेज से प्रपूरित करते हो। आप ही **युधा**=युद्ध के द्वारा **देवेभ्यः**=देवों के लिए **वरिवः चकर्थ**=धन देते हैं। युद्ध में विजय प्राप्त करके काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतनेवाले ये देव वास्तविक ऐश्वर्य को—ज्ञानरूप धन को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सोम-रक्षण द्वारा हमें शक्ति देते हैं। प्रभु ही सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को तेज से आपूरित करते हैं। अध्यात्म-संग्राम में विजयी बनाकर प्रभु ही हमें ज्ञानधन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणसाधना+प्रभु-स्मरण=विजय

यद्योधया महतो मन्यमानान्साक्षाम तान्बाहुभिः शाशदानान्।
यद्वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **यत्**=जब **महतः मन्यमानान्**=अपने को बड़ा माननेवाले शत्रुओं के साथ **योधया**=हमें युद्ध कराते हैं तब हम **तान्**=उन **शाशदानान्**=हिंसन करते हुए शत्रुओं को **बाहुभिः**=बाहुओं से **साक्षाम**=अभिभूत करते हैं। प्रभु-स्मरणपूर्वक युद्ध करते हुए हम शत्रुओं को पराजित करते हैं। २. **यद्वा**=अथवा **नृभिः वृतः**=हमें उन्नत करनेवाले (नॄ नये) इन प्राणों से आवृत (घिरे) हुए-हुए आप **अभियुध्याः**=हमारे शत्रुओं से युद्ध करते हैं तब हम **त्वया**=आपके द्वारा **तम्**=उस **सौश्रवसम्**=उत्तम यश के हेतुभूत **आजिम्**=युद्ध को **जयेम**=जीतनेवाले होते हैं। 'प्राणों से आवृत्त हुए-हुए प्रभु' का भाव यही है कि हम प्राणसाधना के साथ प्रभु-स्मरण करनेवाले बनें। 'प्राणसाधना+प्रभु-स्मरण=विजय' इस सूत्र को हम न भूलें।

भावार्थ—हम प्रभु की सहायता से अभिमानी शत्रुओं का पराजय कर पाते हैं। प्राणसाधना व प्रभु-स्मरण हमें यशस्वी व विजय प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-कीर्तन से आसुरी माया का पराभव

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत्केवलः सोमो अस्य॥ ५॥

१. मैं **इन्द्रस्य**=बल के सब कर्मों को करनेवाले प्रभु के **प्रथमा**=अतिशयेन विस्तारवाले व मुख्य **कृतानि**=कर्मों का **प्रवोचम्**=प्रतिपादन करता हूँ। **या**=जिन **नूतना**=अतिशयेन स्तुत्य कर्मों को **मघवा**=यह ऐश्वर्यशाली प्रभु **चकार**=करते हैं, उन कर्मों का मैं गायन करता हूँ। २. इस प्रभु-कीर्तन द्वारा **यदा इत्**=जब यह उपासक **अदेवीः**=आसुरी **मायाः**=मायाओं को **असहिष्ट**=पराभूत करता है, **अथ**=तब वह **केवलः**=आनन्द में संचार करानेवाला **सोमः**=सोम **अस्य अभवत्**=इसका होता है। आसुरभावों को जीतकर यह सोम का रक्षण कर पाता है और सोम-रक्षण से आनन्द को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्रभु के विशाल व प्रशस्त कर्मों का कीर्तन करें। यह कीर्तन हमें आसुरभावों से बचाएगा। आसुरभावों के विनाश से हम सोम का रक्षण कर पाएँगे। यह सोम-रक्षण हमारे उल्लास का कारण बनेगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पशव्यं विश्वम्

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं१ यत्पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥ ६ ॥

१. **इदम्**=यह **अमितः**=चारों ओर फैला हुआ **पशव्यम्**=सब द्विपात्-चतुष्पात् प्राणियों के लिए हितकर **विश्वम्**=जगत् **तव**=आपका ही है। **यत्**=जिस जगत् को आप **सूर्यस्य चक्षसा**=सूर्य के प्रकाश से **पश्यसि**=प्रकाशित करते हैं। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **कः इत्**=अकेले ही **गवां गोपतिः असि**=सब गौओं के स्वामी हैं। 'गो' शब्द ऐश्वर्य का प्रतीक है—सब ऐश्वर्यों के स्वामी आप ही हैं। हे प्रभो! **ते**=आपके द्वारा **प्रयतस्य**=(प्रदत्तस्य) दिये हुए **वस्वः**=धन का **भक्षीमहि**=हम उपभोग करें।

भावार्थ—प्रभु का यह संसार सबका हितकर है। प्रभु इसे सूर्यकिरणों द्वारा प्रकाशित करते हैं। सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। प्रभु-प्रदत्त धन का हम उपभोग करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राबृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्' प्रभु

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप **इन्द्रः च**=और सर्वशक्तिमान् प्रभु **युवम्**=आप दोनों क्रमशः **दिव्यस्य वस्वः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के ज्ञानधन को **उत**=तथा **पार्थिवस्य**=शरीररूप पृथिवी के शक्तिरूप धन के **ईशाथे**=ईश हैं। वस्तुतः 'बृहस्पति व इन्द्र' प्रभु के ही दो रूप हैं—प्रभु ही सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् हैं। २. **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले **कीरये**=(कॄ विक्षेपे) वासनाओं को विदीर्ण कर देनेवाले स्तोता के लिए **चित्**=निश्चय से **रयिं धत्तम्**=ऐश्वर्य को धारण कीजिए। **यूयम्**=हे देवो! आप **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा **सदा**=सदा **नः पात**=हमारा रक्षण कीजिए।

भावार्थ—बृहस्पति व इन्द्र के रूप में प्रभु की आराधना करते हुए हम ज्ञान व शक्ति प्राप्त करें। हे प्रभो! स्तवन करनेवालों के लिए आप ऐश्वर्य प्राप्त कराएँ।

ज्ञान व शक्ति प्राप्त करके यह 'वामदेव' बनता है—सुन्दर दिव्य गुणोंवाला। यह प्रभु की आराधना निम्न शब्दों में करता है—

८८. [अष्टाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ऋषयः-दीध्यानाः-विप्राः

यस्तुस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्॥ १॥

१. **यः**=जो **ज्मः अन्तान्**=पृथिवी के अन्तों को—दसों दिशाओं को **सहसा**=शक्ति से **वितस्तम्भ**=थामता है, **बृहस्पतिः**=जो ब्रह्मणस्पति है—सब ज्ञानों का स्वामी है। **रवेण**=ज्ञान-कर्म व उपासना की वाणियों से **त्रिषधस्थः**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में स्थित है, अर्थात् सर्वत्र इन वाणियों का प्रसार कर रहा है। २. **तम्**=उस **मन्द्रजिह्वम्**=अत्यन्त मधुर जिह्वावाले—मधुरता से ज्ञानोपदेश करनेवाले प्रभु को **पुरःदधिरे**=अपने सामने धारण करते हैं। प्रभु को आदर्श के रूप में अपने सामने स्थापित करके तदनुसार अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करते हैं। एक तो **प्रत्नासः ऋषयः**=पुराणे, अर्थात् बड़ी आयु के तत्त्वज्ञानी पुरुष; दूसरे **दीध्यानाः**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त होनेवाले पुरुष तथा **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले पुरुष, उस प्रभु को ही अपने सामने स्थापित करते हैं—उसके अनुसार ही अपने जीवन को बनाने का यत्न करते हैं।

भावार्थ—ऋषि, ध्यानी व विप्र प्रभु को अपने सामने स्थापित करते हैं। उसे अपने जीवन में धारण करने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

स्वाध्याय व दोष-निवारण

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्त्रे।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम्॥ २॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **ये**=जो **नः**=हममें से **धुनेतयः**=(धुना ईतिर्येषाम्) शत्रुओं को कम्पित करनेवाली गतिवाले **सुप्रकेतम् मदन्तः**=उत्कृष्ट ज्ञान के साथ आनन्द का अनुभव करते हुए **अभिततस्त्रे**=प्रातः-सायं दोनों समय दोषों को अपने से दूर फेंकते हैं। (तस् reject, cast)। **अस्य**=इस मनुष्य के **योनिम्**=बुराइयों के अमिश्रण व अच्छाइयों के मिश्रण के प्रयत्न की **रक्षतात्**=आप रक्षा करें। २. यह योनि ही **पृषन्तम्**=सब सुखों का सेचन करनेवाली है। **सृप्रम्**=अग्रगति की साधक है, **अदब्धम्**=इसे हिंसित नहीं होने देती और **ऊर्वम्**=विशाल है। प्रातः-सायं दोषनिवारण के कार्य से ही इसका जीवन सुखसिक्त, अग्रगतिवाला, अहिंसित तथा विशाल बनता है।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं स्वाध्याय में आनन्द लेते हुए दोष-निवारण के लिए यत्नशील हों। प्रभु-कृपा से हमारा यह कार्य सुखवर्षक, उन्नतिकारक, अहिंसक व हमें विशाल बनानेवाला होगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यज्ञशीलता व स्वर्गप्राप्ति

बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम्॥ ३॥

१. हे **बृहस्पते**=सर्वोच्च दिशा के अधिपते परमात्मन्! **या**=जो **ते**=आपके **परावत् परमा**=सुदूर

से सुदूर देश से भी उत्कृष्ट स्थान है, उनमें **ऋतस्पृशः** (ऋत=यज्ञ)=यज्ञों के सम्पर्कवाले—यज्ञशील पुरुष **आनिषेदुः**=आसीन होते हैं। पृथिवीलोक से ऊपर अन्तरिक्षलोक, अन्तरिक्षलोक से ऊपर द्युलोक तथा द्युलोक से ऊपर (दिवो नाकस्य पृष्ठात्०) स्वर्गलोक है। यहाँ यज्ञशील पुरुष ही पहुँचते हैं। २. **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **अद्रिदुग्धाः**=(आदृ=to adore, दुह प्रपूरणे) उपासना के द्वारा अपने में पूरित हुए-हुए **मध्वः**=सोमकण **अभितः विरप्शम्**=दोनों ओर महान् शब्दराशि को **श्चोतन्ति**=क्षरित करते हैं। अपराविद्या की शब्दराशि ही प्रकृतिविद्या है, पराविद्या की शब्दराशि आत्मविद्या है। जब हम सोमकणों का रक्षण करते हैं तब ये दोनों ही विद्याएँ हमें प्राप्त होती हैं। एक इहलोक को सुन्दर बनाती है तो दूसरी परलोक को! 'अभितः' शब्द इसीभाव का द्योतक है। ये सोमकण **खाताः अवताः**=खोदे गये कुओं के समान हैं। जैसे ये कुएँ जलराशि को प्राप्त कराते हैं, इसी प्रकार ये सोमकण ज्ञान की जलराशि को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम स्वर्ग में स्थित होते हैं। शरीर में सुरक्षित सोमकण हमें ज्ञान जल-राशि को प्राप्त कराते हैं। उसमें स्नान करके हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सप्तास्य-सप्तरश्मि' प्रभु

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्यो॑मन्।
सप्तास्य॑स्तुविजातो रवे॑ण वि सप्तर॑श्मिरधमत्तमांसि ॥ ४ ॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **महःज्योतिषः**=महान् ज्ञानज्योति से **प्रथमं जायमानः**=विस्तार के साथ प्रादुर्भूत होता हुआ **रवेण**=ज्ञान की वाणियों के उच्चारण से **तमांसि**=अज्ञानान्धकारों को **वि अधमत्**=विनष्ट करता है। हृदय में प्रभु का प्रकाश होते ही सब अन्धकार नष्ट हो जाता है। २. ये प्रभु **सप्तास्यः**=सात छन्दों से बनी हुई वेदवाणीरूप सात मुखोंवाले हैं। **तुविजातः**=महान् प्रादुर्भाववाले हैं—प्रभु-उपासक में महान् गुणों का विकास करते हैं। **सप्तरश्मिः**=सात रश्मियोंवाले सूर्य की भाँति ये प्रभु सात छन्दों से बनी वेदवाणीरूप सात रश्मियोंवाले हैं। इन सात रश्मियों से ही ये प्रभु 'भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम्' नामक सातलोकों को प्रकाशित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्योतिर्मय हैं। सप्त छन्दोमयी वेदवाणियाँ ही प्रभु के सात मुख हैं। ये ही प्रभुरूप सूर्य की सात रश्मियाँ हैं। इनके द्वारा प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वल व फलिगं' का विनाश

स सुष्टुभा स ऋक्व॑ता गणेन॑ वलं रु॑रोज फलिगं रवे॑ण।
बृहस्पति॑रुस्रिया॑ हव्यसूदः कनि॑क्रदद्वाव॑शती॑रुदा॑जत् ॥ ५ ॥

१. **सः**=वे **बृहस्पतिः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु **सुष्टुभा**=उत्तम स्तुतियोंवाले **गणेन**=मन्त्रसमूह से तथा **सः**=वे प्रभु **ऋक्वता**=ऋचाओंवाले—विज्ञानवाले (गणेन) मन्त्रसमूह से **वलम्**=ज्ञान के आवरणभूत (Vail) इस वल नामक असुर को **रुरोज**=विनष्ट करते हैं। **रवेण**=हृदयस्थरूपेण इन ज्ञान की वाणियों के उच्चारण से **फलिगम्**=विशीर्णता की ओर ले-जानेवाली (वल विशरणे) आसुरीवृत्ति को विनष्ट करते हैं। २. **बृहस्पतिः**=वे ज्ञान के स्वामी प्रभु **हव्यसूदः**=सब हव्य पदार्थों को—पवित्र यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त करानेवाली **वावशतीः**=हमारा अत्यन्त हित चाहती हुई

उस्त्रियाः=ज्ञान की रश्मियों को **उदाजत्**=हममें उत्कर्षेण प्रेरित करते हैं। इन ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके ही हम इस संसार में अयज्ञिय बातों से दूर रहकर अपना हित सिद्ध कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की वाणियों के द्वारा ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करते हैं और सब विदीर्ण करनेवाली आसुरवृत्तियों को दूर करते हैं। अब हव्य पदार्थों की ओर हमारा झुकाव होता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'यज्ञैः नमसा हविर्भिः'

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वलासुर को विनिष्ट करके हम **एवा**=सचमुच उस **पित्रे**=पालक **विश्वदेवाय**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज **वृष्णे**=शक्तिशाली व सुखवर्षक प्रभु के लिए **यज्ञैः**=श्रेष्ठतम कर्मों से **नमसा**=उन कर्मों के अहंकार को छोड़कर नम्रभाव से और **हविर्भिः**=सदा दानपूर्वक अदन से **विधेम**=पूजा करें। २. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! इसप्रकार 'यज्ञों-नमन व हवियों' से आपका पूजन करते हुए **वयम्**=हम **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाले व **वीरवन्तः**=वीरत्व की भावनावाले तथा **रयीणां पतयः**=धनों के स्वामी—न कि धनों के दास **स्याम**=हों।

भावार्थ—'यज्ञों, नमन व हवियों' से प्रभु-पूजन करते हुए हम 'उत्तम सन्तान, वीरता व धनों के स्वामित्व' को प्राप्त करें। यज्ञों से उत्तम प्रजा को, प्रभु के प्रति नमन से वीरता को तथा हवियों (दान) से धनों के स्वामित्व को प्राप्त करनेवाले हों।

'उत्तम प्रजा, वीरता व धन स्वामित्व' को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला यह 'कृष्ण' बनता है और इन्द्र का इसप्रकार आराधन करता है—

८९. [एकोननवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'विद्याभ्यसनं व्यसनं, हरिपादसेवनं व्यसनम्'

अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन्भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम्॥ १॥

१. **अस्ता इव**=शत्रुओं पर अस्त्र फेंकनेवाले पुरुष की भाँति (असु क्षेपणे) **सुप्रतरम्**=अत्यन्त प्रवृद्ध **लायम्**=लय (विनाश) के कारणभूत अस्त्र को **अस्यन्**=फेंकता हुआ और इसप्रकार **भूषन् इव**=अपने को सद्गुणों से अलंकृत करता हुआ **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **स्तोमम्**=स्तुति को **प्रभर**=भरण करनेवाला तू बन। काम-क्रोध आदि शत्रुओं के विनाश के लिए प्रभु-स्तवन ही सर्वोत्तम अस्त्र है। २. **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले हे लोगो! **वाचा**=प्रभु की दी हुई ज्ञान की वाणियों से **तरत**=तुम इन शत्रुओं को तैर जाओ। **अर्यः**=(ऋ गतौ) सर्वत्र गतिवाले प्रभु की **वाचम्**=वाणी को **निरामय**=अपने अन्दर रमा लो। इन ज्ञान की वाणियों का तुम्हें व्यसन लग जाए और हे **जरितः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले **सोम**=सौम्यस्वभाव जीव! तू **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को अपने में रमा ले। प्रभु-उपासन का भी तू व्यसनी बन जा। ये 'विद्या व प्रभु की उपासना' के व्यसन तुझे अन्य सब व्यसनों से बचानेवाले होंगे।

भावार्थ—शत्रुओं को शीर्ण करने का सर्वोतम प्रकार यही है कि हम जीवन में 'विद्या व उपासना' के व्यसनी बन जाएँ।

ऋषिः—कृष्णः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

गोदोहन-इन्द्र प्रबोधन

दोहेन गामुप शिक्षा सखायं प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम्।
कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्टमा च्यावय मघदेयाय शूरम्॥ २॥

१. **गां दोहेन**=वेदवाणीरूप गौ के दोहन से, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा तू **सखायम्**=उस सनातन मित्र प्रभु को **उपशिक्षा**=समीपता से जाननेवाला हो। ज्ञानीभक्त बनकर तू प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय हो 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। २. इस ज्ञान के द्वारा **जरितः**=स्तवन करनेवाले जीव! तू **जारम्**=विषय-वासनाओं को जीर्ण करनेवाले **इन्द्रम्**=उस असुरों के संहारक प्रभु को **प्रबोधय**=अपने हृदय में जागरित कर। इस प्रभुरूप सूर्य के उदय के साथ सब वासनान्धकार विलीन हो जाएगा। ३. ये प्रभु **कोशं न पूर्णम्**=एक पूर्ण कोश के समान हैं—प्रभु की प्राप्ति से तेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाएँगी। **वसुना**=निवास के लिए आवश्यक सब धनों से **न्यृष्टम्**=ये प्रभु निश्चय से युक्त हैं। सम्पूर्ण वसु उस प्रभु की ओर ही प्रवाहवाले हैं (ऋष् to flow)। प्रभु को प्राप्त कर लेने पर इनकी प्राप्ति तो हो ही जाती है, इसलिए तू **शूरम्**=सब धनों के विजेता तथा सब बुराइयों को शीर्ण करनेवाले उसे प्रभु को **मघदेयाय**=ऐश्वर्यों के देने के लिए **आच्यावय**=अपने अभिमुख कर। प्रभु की प्राप्ति में ही सब धनों की प्राप्ति है।

भावार्थ—हम ज्ञानधेनु का दोहन करें। प्रभु के प्रकाश को हृदय में प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्रभु ही सब धनों के कोश हैं—प्रभु-प्राप्ति में सब धनों की प्राप्ति है।

ऋषिः—कृष्णः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'शिशय' का, न कि 'भोज' का स्मरण

किमङ्ग त्वा मघवन्भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः॥ ३॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **अङ्ग**=सर्वत्र गतिमय (अगि गतौ) प्रभो! **त्वा**=आपको **किम्**=क्यों **भोजनम्**=सब भोजनों को प्राप्त कराके पालन करनेवाला **आहुः**=कहते हैं। मैं तो भोजनों की प्रार्थना न करके यही चाहता हूँ कि आप **मा**=मुझे **शिशीहि**=तीक्ष्ण बुद्धिवाला कर दें। मैं **त्वा**=आपको **शिशयम्**=बुद्धि को तीव्र करनेवाले के रूप में **शृणोमि**=सुनता हूँ। २. साथ ही हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आपकी कृपा से **मम धीः**=मेरी बुद्धि **अप्नस्वती**=कर्मोंवाली **अस्तु**=हो और हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **वसुविदम्**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों को प्राप्त करानेवाले **भगम्**=भजनीय धन को **आभर**=सर्वथा प्राप्त कराइए। वस्तुतः प्रभु बुद्धि देकर मुझे इस योग्य बना दें कि मैं निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को जुटाने में समर्थ हो जाऊँ। मैं बुद्धिवाला होऊँ और मेरी बुद्धि कर्म से युक्त हो।

भावार्थ—मैं भोजन की प्रार्थना न करके क्रियायुक्त बुद्धि की याचना करूँ। 'हम प्रभु को 'शिशय' के रूप' स्मरण करें, न कि 'भोज' के रूप में।

ऋषिः—कृष्णः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

हविष्मान्, न कि असुन्वत्

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र सन्तस्थाना वि ह्वयन्ते समीके।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **समीके**=संग्राम में **सन्तस्थानाः**=सम्यक् स्थित हुए-हुए **जनः**=लोग **मम सत्येषु**='मेरा पक्ष सत्य है, मेरा पक्ष सत्य है' इसप्रकार के विचारवाले संग्रामों में **त्वाम्**=आपको **विह्वयन्ते**=पुकारते हैं। दोनों ही पक्ष अपने को सत्य पर आरूढ़ समझ रहे होते हैं। दोनों में कोई भी अपने को ग़लती पर नहीं समझता। २. **अत्र**=इसप्रकार के विचारवाले इन संग्रामों के उपस्थित होने पर **यः**=जो **हविष्मान्**=हविवाला होता है—त्यागपूर्वक अदन करनेवाला होता है, वही उस प्रभु को **युजं कृणुते**=अपना साथी बना पाता है। **शूरः**=सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभु **असुन्वता**=अयज्ञशील पुरुष के साथ **सख्यम्**=मित्रता को **न वष्टि**=नहीं चाहते हैं। त्याग की वृत्ति ही मनुष्य को असत्य से दूर करती है, प्रभु इस सत्य के पक्षवाले को ही विजयी करते हैं। संग्रामों में विजय उन्हीं की होती है, जो हविष्मान् बनते हैं। जिस जाति में त्याग की भावना नहीं होती, वह पराजित ही होती है।

भावार्थ—हम हविष्मान् बनें, हम तभी प्रभु की मित्रता में विजयी बनेंगे।

ऋषिः—**कृष्णः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'प्रयस्वान्' बनना

धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान्।
तस्मै शत्रून्त्सुतुकान्प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान्युवति हन्ति वृत्रम्॥ ५॥

१. **यः**=जो भी पुरुष **प्रयस्वान्**=(प्रयस्=हवि) हविष्मान्=त्याग की वृत्तिवाला बनकर **अस्मै**=इस प्रभु के लिए—इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **धनम्**=धन को **स्पन्द्रं न**=जोकि चञ्चल-सा है—अस्थिर है तथा **बहुलम्**=जीवन के लिए कृष्णपक्ष के समान है—जीवन को अन्धकारमय बना देता है—उस धन को **आसुनोति**=यज्ञ के लिए विनियुक्त करता है और जो प्रयस्वान् (प्रयस्=food) प्रशस्त भोजनवाला बनकर **तीव्रान्**=शक्तिशाली—रोगकृमियों व मन की मैल का संहार करनेवाले **सोमान्**=सोमकणों को **आसुनोति**=अपने शरीर में उत्पन्न करता है, **तस्मै**=उस पुरुष के लिए वे प्रभु **अह्नः प्रातः**=दिन का प्रारम्भ होते ही **शत्रून्**=काम आदि शत्रुओं को **सुतुकान्**=(सुप्रेरणान् सा०) पूरी तरह से भाग जानेवाला करते हैं और **स्वष्ट्रान्**=(उत्तमायुधान् अष्ट्रा=goad) उत्तम शस्त्रोंवाले इन शत्रुओं को **नियुवति**=निश्चय से पृथक् कर देते हैं। इसप्रकार **वृत्रं हन्ति**=वे प्रज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट कर डालते हैं। २. (क) त्यागवाले बनकर हम धनों को यज्ञों में विनियुक्त करें। ये धन अस्थिर हैं—इनमें ममता क्या करनी? ये धन हमारी अवनति का कारण बनते हैं—जीवन में ये कृष्णपक्ष के समान हैं। (ख) उत्तम अन्नों का सेवन करते हुए हम शरीर में सोम का उत्पादन करें, वह हमें नीरोग व निर्मल बनाएगा। (ग) ऐसा होने पर हमारे ये काम आदि शत्रु भाग खड़े होंगे। इन शत्रुओं के अस्त्र हमारे लिए कुण्ठित हो जाएँगे—हमारी शत्रुभूत वासनाओं का विनाश हो जाएगा।

भावार्थ—हम धनों को यज्ञों में लगाएँ, सोम (वीर्य) का अपने में उत्पादन करें। यही शत्रु-विनाश का मार्ग है।

ऋषिः—**कृष्णः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जन्य, (द्युम्न), धन

यस्मिन्वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा काममस्मे।
आराच्चित्सन्भयतामस्य शत्रुर्न्य ∫ स्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम्॥ ६॥

१. **यस्मिन् इन्द्रे**=जिस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **वयम्**=हम **शंसम्**=स्तुति को **दधिम**=धारण

करते हैं और **यः मघवा**=जो ऐश्वर्यशाली प्रभु **अस्मे**=हममें **कामम्**=काम को **शिश्राय** (to use, employ)=हमारी उन्नति के लिए विनियुक्त करते हैं। इस काम के द्वारा ही तो वेदाध्ययन व यज्ञ आदि उत्तम कर्म हुआ करते हैं। **अस्य शत्रुः**=इस पुरुष का नाश करनेवाला काम **आरात् चित् सन्**=दूर भी होता हुआ **भयताम्**=डरता ही रहे। इसके पास फटकने का इसे स्वप्न भी न हो और अब **अस्मै**=इस प्रभु के स्तोता के लिए **जन्या**=मनुष्य का हित साधनेवाले **द्युम्ना**=धन **नमन्ताम्**=निश्चय से प्रह्वीभूत हों। इसे इन जन्य धनों की प्राप्ति हो। २. जब हम प्रभु का स्तवन करते हैं तब इसका सर्वमहान् लाभ यह होता है कि हमारे जीवनों में काम शत्रु न बनकर मित्र की भाँति कार्य करता है। प्रभु इस 'काम' को हमारी उन्नति के लिए विनियुक्त करते हुए उन धनों को प्राप्त करते हैं जो जनहित के साधक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्तवन से काम हमारा शत्रु न होकर मित्र हो जाता है और हम लोकहित-साधक धनों को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रमणीय शक्ति व बुद्धि

आराच्छत्रुमप॑ बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः॑ पुरुहूत तेन॑।
अस्मे धे॑हि यव॑मद्गोम॑दिन्द्र कृधी धियं॑ जरित्रे वाज॑रत्नाम्॥ ७॥

१. हे **पुरुहूत**=बहुतों-से पुकारे जानेवाले प्रभो! **यः**=जो आपका **उग्रः**=तीव्र **शम्बः**=वज्र है, **तेन**=उस शत्रुओं को शान्त (शंब) करनेवाले वज्र से **आरात् शत्रुम्**=इस समीप आनेवाले शत्रु को **दूरम्**=सुदूर **अपबाधस्व**=विनष्ट करनेवाले होइए। वस्तुतः प्रभु ने हमें यह क्रियाशीलतारूप वज्र दिया है। इसी से हमने काम आदि शत्रुओं को दूर भगाना है। २. हे प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए आप **यवमत्**=जौवाले व **गोमत्**=गौओंवाले, अर्थात् गोदुग्ध से युक्त अन्न को **धेहि**=धारण कीजिए। जौ इत्यादि अन्नों से हममें प्राणशक्ति का वर्धन होगा और गोदुग्ध से हमें सात्त्विक बुद्धि प्राप्त होगी। ३. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **जरित्रे**=स्तोता के लिए **वाजरत्नाम्**=रमणीय शक्तियोंवाली **धियम्**=बुद्धि को **कृधि**=कीजिए। आपका स्तोता जहाँ बुद्धि को प्राप्त करे, वहाँ उसे रमणीय शक्तियाँ भी प्राप्त हों। शक्तियों की रमणीयता इसी में है कि वह रक्षा के कार्य में विनियुक्त होती है—ध्वंस के कार्य में नहीं।

भावार्थ—हम क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा वासना को नष्ट करें। जौ व गोदुग्ध का प्रयोग करते हुए रमणीय शक्ति व बुद्धि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बहुलान्त सोम

प्र यमन्तर्वृ॑षसवासो अग्म॑न्तीव्राः सोमा॑ बहुलान्ता॑स इन्द्र॑म्।
नाह॑ दामानं॑ मघवा नि यं॑सन्नि सुन्वते व॑हति भूरिं॑ वामम्॥ ८॥

१. **यम् इन्द्रम्**=जिस जितेन्द्रिय पुरुष को **तीव्राः**=रोगकृमिरूप शत्रुओं के लिए उग्र **बहुलान्तासः**=मानव-जीवन में कृष्णपक्ष का अन्त और शुक्लपक्ष को लानेवाले **वृषसवासः**=शक्तिशाली पुरुष को जन्म देनेवाले **सोमाः**=सोमकण **अन्तःअग्मन्**=अन्दर प्राप्त होते हैं, अर्थात् जिस जितेन्द्रिय पुरुष के शरीर में ये सोमकण व्याप्त होते हैं उस **दामानम्**=कटिबन्धनवाले (दामन् girdle), नियमित जीवनवाले पुरुष को **अह**=निश्चय से **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **न नियंसत्**=क़ैद में नहीं डालते, अर्थात् यह पुरुष बारम्बार बन्धन में नहीं पड़ता। यह सोम-रक्षण जहाँ उसे शक्तिशाली

व नीरोग बनाता है, वहाँ उसे उज्ज्वल जीवनवाला भी बनाता है। शुक्लमार्ग से चलता हुआ यह व्यक्ति उस लोक को प्राप्त करता है, जहाँ से इसे फिर इस मानव आवर्त्त के बन्धन में नहीं आना पड़ता। २. **सुन्वते**=इस सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिए **भूरि**=पालन-पोषण के लिए पर्याप्त **वामम्**=सुन्दर धन **निवहति**=निश्चय से प्राप्त कराते हैं। सोम-रक्षण से जहाँ परलोक में निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, वहाँ यह सोम-रक्षण इस लोक के अभ्युदय को भी प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों का साधक है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवकाम (न धना रुणद्धि)

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित्तं रायः सृजति स्वधाभिः॥ ९॥

१. **अतिदीवा**=प्रभु की अतिशयेन स्तुति करनेवाला यह सोमरक्षक पुरुष **प्रहाम्**=प्रकर्षेण विनाश करनेवाली, 'मार' नामवाली इस कामवासना को **जयति**=जीत लेता है, २. **उत**=और **इव**=जैसे **श्वघ्नी**=कल की चिन्ता न करनेवाला 'कितव' (जुआरी) **काले**=अवसर पर **कृतम्**=द्यूतोपार्जित सम्पूर्ण धन को **विचिनोति**=बखेर देता है, इसी प्रकार **यः**=जो **देवकामः**=प्रभु-प्राप्ति की कामनावाला **धनम्**=धनों को **न रुणद्धि**=रोकता नहीं है, अपितु यज्ञों में विनियुक्त कर डालता है, **तम्**=उस देवकाम पुरुष को **स्वधावान्**=सम्पूर्ण (स्व) धनों को धारण करनेवाला प्रभु **रायः**=धन से **इत्**=निश्चयपूर्वक **संसृजति**=संसृष्ट करता है। देवकाम पुरुष को यज्ञादि की पूर्ति के लिए धनों की कमी नहीं रहती।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन द्वारा काम को पराजित करें। उदारता से धनों का यज्ञों में विनियोग करें। प्रभु हमें सब आवश्यक धन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अरिष्टासः

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम॥ १०॥
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीवः कृणोतु॥ ११॥

व्याख्या अथर्व० २०.१७.१०-११ पर देखिए।

सूचना—अथर्व० २०.१७.१० पर '**विश्वे**' के स्थान पर '**विश्वा**' णः है। वहाँ यह 'क्षुधम्' का विशेषण है। यहाँ यह 'वयम्' का। **विश्वे वयं तरेम**=हम सब तैर जाएँ। **आरिष्टासो वृजनीभिः**=के स्थान में '**अस्माकेन वृजनेना**' ऐसा पाठ है। यहाँ अर्थ है 'अहिंसित' होते हुए पाप-वर्जनों के द्वारा।

पापवर्जन द्वारा ही यह 'भरद्वाज' बनता है और प्रार्थना करता है कि—

९०. [नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'अद्रिभित्' प्रभु

यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत्पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति॥ १॥

१. **यः**=जो प्रभु **अद्रिभित्**=हमारे अविद्यापर्वत का विदारण करनेवाले हैं, **प्रथमजाः**=सृष्टि से पूर्व ही विद्यमान हैं, **ऋतावाः**=ऋतवाले हैं—प्रभु के तीव्र तप से ही तो ऋत की उत्पत्ति होती है 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत', **बृहस्पतिः**=(ब्रह्मणस्पतिः) वेदज्ञान के रक्षक हैं। **अङ्गिरसः**=उपासकों के अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले हैं, **हविष्मान्**=प्रशस्त हविवाले हैं। प्रभु ही सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं। २. **द्विबर्हज्मा**=दोनों लोकों में प्रवृद्ध गतिवाले हैं (द्वि-बर्ह-ज्मा)-द्युलोक व पृथिवीलोक में सर्वत्र प्रभु की क्रिया विद्यमान है। **प्राघर्मसत्**=प्रकृष्ट तेज में आसीन होनेवाले हैं—तेज पुञ्ज हैं—तेज-ही-तेज हैं। **नः पिता**=हम सबके पिता हैं। **वृषभः**=ये सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु **रोदसी**=इन द्यावापृथिवी में **आरोरवीति**=खूब ही गर्जना करते हैं। इन लोकों में स्थित मनुष्यों के हृदयों में स्थित होकर उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश करते हैं। अच्छे कर्मों में उत्साह व बुरे कर्मों में भय प्रभु ही तो प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के स्वामी प्रभु ही हमारे अविद्यापर्वत का विदारण करते हैं। हमें तेजस्वी बनाते हैं। हृदयस्थरूपेण कर्त्तव्य की प्रेरणा देते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

जनाय चिद्य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार।
घ्नन्वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयं छत्रूँरमित्रान्पृत्सु साहन्॥ २॥

१. **यः बृहस्पतिः**=जो ज्ञान के स्वामी प्रभु हैं, वे **ईवते जनाय**=गतिशील-आलस्यशून्य-मनुष्य के लिए **चित्**=पूर्ण निश्चय से **देवहूतौ**=यज्ञों में **लोकम्**=स्थान को **चकार**=करते हैं, अर्थात् वे ज्ञानस्वरूप प्रभु पुरुषार्थी मनुष्य को यज्ञ की रुचिवाला बनाते हैं। २. इसप्रकार यज्ञरुचि बनाकर प्रभु **वृत्राणि घ्नन्**=इसकी वासनाओं को नष्ट करते हुए **पुरः विदर्दरीति**=काम, क्रोध, लोभ की नगरियों का विदारण कर देते हैं। इसके **शत्रून्**=इन काम आदि शत्रुओं को **जयन्**=जीतते हुए **पृत्सु**=संग्रामों मे **अमित्रान्**=द्वेष आदि अमित्रभूत भावनाओं को **साहन्**=पराभूत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु आलस्यशून्य मनुष्य को यज्ञशील बनाते हैं। इसके आसुरभावों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अर्कों द्वारा अमित्र-हनन

बृहस्पतिः समजयद्वसूनि महो व्रजान्गोमतो देव एषः।
अपः सिषासन्त्स्व१रप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः॥ ३॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक सब धनों को हमारे लिए **समजयत्**=जीतते हैं। **एषः देवः**=ये हमारे लिए शत्रुओं को पराजित करने की कामनावाले प्रभु (दिव् विजिगीषायाम्) **महः**=महत्त्वपूर्ण **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **व्रजान्**=बाड़ों को (cow-shed) हमारे लिए जीतते हैं, अर्थात् प्रभु सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं और हमें प्रशस्त

इन्द्रियोंवाला बनाते हैं। २. **अप्रतीतः**=ये किसी से भी प्रतिगत न होनेवाले—न रोके जानेवाले प्रभु **अपः**=रेतःकणरूप जलों को तथा **स्वः**=प्रकाश को **सिषासन्**=हमारे साथ संभक्त करने की कामनावाले हैं। **बृहस्पतिः**=ये ज्ञान के स्वामी प्रभु **अर्कैः**=अर्चना के साधकभूत मन्त्रों के द्वारा **अमित्रम्**=हमारा विनाश करनेवाली द्वेष आदि की भावनाओं को **हन्ति**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के स्वामी प्रभु हमें वसुओं को प्राप्त कराते हैं, प्रशस्त इन्द्रियाँ देते हैं। रेतःकणों को व प्रकाश को प्राप्त कराते हुए ये ज्ञान के स्वामी प्रभु मन्त्रों द्वारा द्वेष आदि अमित्रभूत भावनाओं को विनष्ट करते हैं।

वसुओं, प्रशस्त इन्द्रियों तथा रेतःकणों व प्रकाश को प्राप्त करता हुआ यह उपासक 'अयास्य' बनता है—यह शत्रुओं से खिन्न नहीं किया जाता। यह शत्रुओं से अजय्य (invincible) होता है। अयास्य ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह अयास्य प्रार्थना करता है कि—

९१. [एकनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अयास्यः**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तुरीयावस्था में पहुँचना

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन्॥ १॥

१. **इमां धियम्**=इस कर्मों व बुद्धि का धारण करनेवाली—हमारे कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाली तथा ज्ञान को बढ़ानेवाली **सप्तशीर्ष्णीम्**=गायत्री आदि सात छन्दोंरूप सिरोंवाली **ऋत प्रजाताम्**=ऋत के लिए प्रादुर्भूत हुई-हुई, यज्ञ आदि उत्तम कर्मों के प्रतिपादन के लिए उत्पन्न हुई-हुई **बृहतीम्**=वृद्धि की कारणभूत इस वेदवाणी को **पिता**=हम सबके पिता प्रभु ने **नः**=हमारे लिए **अविन्दत्**=प्राप्त कराया (अवेदयत)। २. इस वेदज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य **विश्वजन्यः**=सब लोगों के हित को करनेवाला होता है। **अयास्यः**=अनथक श्रमवाला होता है। **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **उक्थम्**=स्तोत्रों का **शंसन्**=उच्चारण करनेवाला होता है। इसप्रकार जीवन को उत्तम बनाता हुआ **स्वित्**=निश्चय से **तुरीयम्**=तुरीयावस्था को **जनयत्**=अपने में विकसित करता है। इस अवस्था में यह 'वैश्वानर-तैजस-व प्राज्ञ' बनकर 'शान्त-शिव अद्वैत' स्थिति में पहुँचता है।

भावार्थ—हम प्रभु से दी गई वेदवाणी को प्राप्त करें—इसके अनुसार लोकहित में प्रवृत्त हों, अनथकरूप से कार्य करें, प्रभु का स्तवन करें और समाधि की स्थिति तक पहुँचने को अपना लक्ष्य बनाएँ।

ऋषिः—**अयास्यः**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

असुरस्य वीराः (प्रभु के पुत्र)

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार तुरीयावस्था की ओर चलनेवाले लोग **ऋतं शंसन्तः**=सदा ऋत का ही शंसन करते है—इनके जीवन से अनृत का उच्चारण नहीं होता। **ऋजु दीध्यानाः**=ये सदा सरलता से कल्याण का ही ध्यान करनेवाले होते हैं—कभी किसी के अमंगल का विचार नहीं करते। **दिवः-पुत्रासः**=ज्ञान के द्वारा ये अपने जीवन को पवित्र बनाते हैं और आधि-व्याधियों से इसका रक्षण करते हैं (पुनाति त्रायते)। **असुरस्य वीराः**=ये उस (असून् राति) प्राणशक्ति

को देनेवाले प्रभु के वीर सन्तान बनते हैं। प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके सब बुराइयों को विनष्ट करनेवाले होते हैं। २. **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले ये वीर पुरुष **विप्रं परम्**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले (वि-प्रा) सर्वोच्च स्थान को **दधानाः**=धारण करने के हेतु से **यज्ञस्य**=उस यज्ञरूप प्रभु के **प्रथमं धाम**=सर्वोत्कृष्ट तेज का **मनन्त**=मनन करते हैं। प्रभु के तेज को अपना लक्ष्य बनाकर ये भी अपने जीवन को यज्ञमय बनाते हैं और उन्नति को प्राप्त करते हुए 'विप्र-पद' को धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—ऋत का शंसन करते हुए और प्रभु के तेज का स्मरण करते हुए हम उन्नत होने के लिए यत्नशील हों। ऊपर-और-ऊपर उठते हुए हम 'शूद्र से वैश्य', 'वैश्य से क्षत्रिय' व 'क्षत्रिय-पद से विप्र-पद' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पाषाणमय बन्धनों' का भेदन

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद्गा उत प्रास्तोदुच्च विद्वाँ अगायत्॥ ३॥

१. **बृहस्पतिः**=वेदज्ञान का पति बननेवाला ज्ञानी पुरुष **अश्मन्मयानि**=पत्थरों से बने हुए पाषाणतुल्य दृढ़ **नहना**=बन्धनों को **व्यस्यन्**=दूर फेंकने के हेतु से **वावदद्भिः**=प्रभु-स्तोत्रों का खूब ही उच्चारण करनेवाले **हंसैः सखिभिः**=हंस-तुल्य मित्रों के साथ **गाः**=इन वेदवाणियों का **अभिकनिक्रदत्**=प्रातः-सायं उच्चारण करता है। काम, क्रोध, लोभरूप आसुरवृत्तियाँ क्रमशः इन्द्रियों, मन व बुद्धि में अपने अधिष्ठानों को दृढ़ बनाती हैं, ये ही असुरों की तीन पुरियाँ कहलाती हैं। बड़ी दृढ़ होने से ये पुरियाँ 'अश्मन्मयी' हैं। इन पुरियों को ज्ञानाग्नि ही भस्म करनेवाली होती है। इसी उद्देश्य से बृहस्पति अपने मित्रों के साथ ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करता है। ये प्रिय हंसों के समान हों—शुभ का ग्रहण करनेवाले, सरल चाल से चलनेवाले व निरभिमान। ऐसे मित्रों का संग ही हमें उत्थान की ओर ले-जाता है। २. यह बृहस्पति आसुर पुरियों के विध्वंस के उद्देश्य से ही **प्रास्तौत्**=प्रकर्षेण प्रभु का स्तवन करता है। **उत**=और **विद्वान्**=ज्ञानी बनकर **उदगायत् च**=अवश्य प्रभु के गुणों का गायन करता है। यह गुणगान उसे उन गुणों के धारण के लिए प्रेरित करता है। इन गुणों के धारण से काम-क्रोध-लोभ का विलय ही हो जाता है।

भावार्थ—हम ज्ञान की प्रवृत्तिवाले बनकर उत्तम मित्रों के साथ ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें और प्रभु-स्तवन करते हुए 'काम, क्रोध, लोभ' के दृढ़ बन्धनों को शिथिल कर डालें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

एक, दो व तीन

अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः॥ ४॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का पति यह विद्वान् **द्वाभ्याम् अव उ**=काम, क्रोधरूप दोनों शत्रुओं से दूर ही रहता है। काम, क्रोध से दूर होकर **एकया**=अद्वितीय वेदवाणी से यह **परः**=उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है। २. ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व **गुहा तिष्ठन्तीः**=अज्ञानान्कारारूप गुहा में ठहरी हुई और अतएव **अनृतस्य सेतौ** (तिष्ठन्तीः)=अनृत के बन्धन में पड़ी हुई **गाः**=इन्द्रियों को उद

आवः=अज्ञानान्धकार से बाहर करता है। ज्ञान प्राप्त करने पर इसकी इन्द्रियाँ विषयों में ही नहीं फँसी रहतीं। २. **बृहस्पतिः**=यह ज्ञान की वाणी का पति बनता है। **तमसि**=इस संसार के विषयान्धकार में **ज्योतिः इच्छन्**=यहाँ आत्मप्रकाश की प्राप्ति की इच्छा करता है। इसी उद्देश्य से **उस्राः**=ज्ञान की किरणों को (उद् आवः) अपने जीवन में प्रमुख स्थान प्राप्त कराता है। ज्ञानविरोधी किसी भी व्यवहार को यह नहीं करता। इसप्रकार **हि**=निश्चय से **तिस्रः**=तीनों ज्योतियों को **वि आवः**=विशेषरूप से प्रकट करता है। 'त्रीणि ज्योतींषि सचेत स षोडशी' इस मन्त्रभाग में इन्हीं तीन ज्योतियों का संकेत है। शरीर में ये ज्योतियाँ तेजस्विता (अग्नि), आह्लाद (चन्द्र) व ज्ञान (सूर्य) के रूप में हैं। यह बृहस्पति शरीर में तेजस्वितावाला होता है, मन में आह्लादमय तथा मस्तिष्क में ज्ञानरूप सूर्यवाला होता है।

भावार्थ—हम काम, क्रोध से दूर हो, वेदवाणी के द्वारा उत्कृष्ट जीवनवाले बनें तथा 'तेजस्विता, आह्लाद व ज्ञान' रूप ज्योतियों को अपने में जगाएँ।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'उषसं-सूर्यं गाम् अर्कम्' (विवेद)

विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत्।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः॥ ५॥

१. शरीर में 'काम, क्रोध, लोभ' रूप असुरों की क्रमशः 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' में पुरियाँ बन जाती हैं। ये पुरियाँ 'अपाची' (अप अञ्च)=हमें प्रभु से दूर ले-जानेवाली हैं। आसुरवृत्तियों के कारण हम संसार के विषयों में फँस जाते हैं और प्रभु को भूल जाते हैं। यदि हम इन्द्रियों को शान्त कर पाते हैं तो इन आसुर पुरियों को विदीर्ण करने में समर्थ हो जाते हैं। **शयथा**=(शी=tranquility) शान्ति के द्वारा अथवा हृदय में शयन (निवास) के द्वारा—अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा **अपाचीम्**=प्रभु से हमें दूर ले-जानेवाली **पुरम्**=इस वासनात्मक आसुर पुरी का **ईम्** **विभिद्या**=निश्चय से विदारण करके, यह विदारण करनेवाला पुरुष **उदधेः साकम्**=(कामो हि समुद्रः) अनन्त विषयरूप जलवाले 'काम' के साथ **त्रीणि**='काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों को **निः अकृन्तत्**=निश्चय से काट डालता है। इनको नष्ट करके ही तो यह प्रभु की ओर चलता है। २. यह **बृहस्पतिः**=ज्ञानी व शान्तवृत्तिवाला पुरुष **उषसम्**=उषा को, **सूर्यम्**=सूर्य को, **गाम्**=गौ को **अर्कम्**=अर्क को **विवेद**=विशेषरूप से प्राप्त करता है। 'उषस्' शब्द 'उष दाहे' धातु से बनकर दोष-दहन का प्रतीक है 'सृ गतौ' से बना 'सूर्य' शब्द निरन्तर गति व क्रियाशीलता का संकेत करता है। 'गौ' शब्द 'गमयति' इस व्युत्पत्ति से अर्थों का ज्ञान देनेवाली वाणी का वाचक है और 'अर्च पूजायाम्' से बना अर्क शब्द पूजा व उपासना का वाचक है। बृहस्पति के जीवन में ये चारों वस्तुएँ बड़ी सुन्दरता से उपस्थित होती हैं। यह दोषों का दहन करता है—निरन्तर क्रियाशील होता है—वेदवाणी के अध्ययन से ज्ञान को बढ़ाता है और प्रभु के पूजन की वृत्तिवाला होता है। ३. ऐसा बनकर यह **स्तनयन् इव द्यौः**=गर्जना करते हुए द्युलोक के समान होता है। द्युलोकस्थ सूर्य की भाँति सर्वत्र प्रकाश फैलाता है, परन्तु जैसे गर्जते हुए मेघों के कारण सूर्य सन्तापकारी नहीं होता, उसी प्रकार यह बृहस्पति भी गर्जते हुए मेघ के समान ज्ञान-जल का वर्षण करता है। वर्षण से यह लोकों के सन्ताप को हरता है। सन्तापहरण के उद्देश्य से ही यह ज्ञान-प्रसार के कार्य को बड़ी मधुरता से करता है।

भावार्थ—आसुर पुरियों का विदारण करके हम प्रभु-प्रवण वृत्तिवाले बनें। ज्ञान-प्रसार के कार्य को अहिंसा व माधुर्य के साथ करनेवाले हों।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

करेण+रवेण

इन्द्रो॑ व॒लं र॑क्षि॒तारं॒ दुघा॑नां क॒रेणे॑व॒ वि च॑कर्ता॒ रवे॑ण।
स्वेदा॑ञ्जिभिरा॒शिर॑मि॒च्छमा॒नोऽरो॑दयत्प॒णिमा गा अ॑मुष्णात् ॥ ६ ॥

१. 'वल' वृत्र है—ज्ञान को यह आवृत्त कर लेनेवाला (वल vail) वासना का पर्दा है। इस वृत्र के प्रबल होने से ज्ञानेन्द्रियाँ अपना कार्य ठीक से नहीं करतीं। मानो यह 'वृत्र' उन्हें चुरा ले-जाता है और कहीं गुफा में छिपा देता है। ज्ञान का दोहन करनेवाली (दुघानां) ज्ञानेन्द्रियों को वल छिपा रखता है (रक्षितारम्)। इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष वल को नष्ट करके इन इन्द्रियरूप गौओं को फिर वापस ले-आता है। वल के नष्ट करने का साधन 'करेण+रवेण' है—कर्मशील बनना और प्रभु के नामों का उच्चारण करना। क्रियाशीलता के अभाव में अशुभवृत्तियाँ पनपती हैं और प्रभु-स्मरण के अभाव में किये जानेवाले उत्तम कर्मों के गर्व होने का भय बना रहता है। अहंकार भी 'वल' का ही दूसरा रूप है। यह भी ज्ञान का विरोधी है। **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **दुघानाम्**=ज्ञान-दुग्ध का दोहन करनेवाली इन्द्रियरूप गौओं के **रक्षितारम्**=चुराकर कहीं गुफा में रखनेवाले **वलम्**=वृत्रासुर को **करेण इव रवेण**=कर से, अर्थात् क्रियाशीलता से और इसी प्रकार रव से, अर्थात् प्रभु के नामोच्चारण से **विचकर्त**=काट डालता है। प्रभु-स्मरण के साथ क्रियाओं को करता हुआ यह वासनाओं से इन्द्रियों को आक्रान्त नहीं होने देता। २. यह **स्वेदाञ्जिभिः**=(अञ्जि=आभरण) पसीनेरूप आभरण से **आशिरम्** (आश्रयिणं, श्रियं)=श्री को **इच्छमानः**=चाहता हुआ **पणिम्**=लोभवृत्ति को (बनिये की) वृत्ति को **अरोदयत्**=रुलाता है और **गाः**=ज्ञानेन्द्रियरूप गौओं को **अमुष्णात्** (आजहार सा०) फिर वापस ले-जाता है। लोभवृत्ति में मनुष्य कम-से-कम श्रम से अधिक-से-अधिक धन लेना चाहता है। इसप्रकार लोभ से इसकी बुद्धि मलिन हो जाती है, इसीलिए मन्त्र का ऋषि 'अयास्य' गाढ़े पसीने की कमाई को ही चाहता है—स्वेद उसका आभूषण ही बन जाता है। यह लोभवृत्ति को नष्ट कर डालता है, मानो उसे रुलाता है। श्रम से धन की कामना करता हुआ यह अपनी इन्द्रियों को स्वस्थ रखता है।

भावार्थ—वासना हमारी इन्द्रियरूप गौओं को चुरा लेती है। श्रम से ही धनार्जन करते हुए हम ज्ञानेन्द्रियों को स्वस्थ रखते हैं।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

उत्तम मित्र

स ईं स॒त्येभि॒: सखि॑भि॒ शुच॑द्भि॒र्गोधा॑यसं॒ वि ध॑न॒सैर॑दर्दः।
ब्रह्म॑ण॒स्पति॒र्वृष॑भिर्व॒राहै॑र्घ॒र्मस्वे॑देभि॒र्द्रवि॑णं॒ व्या ऽनट् ॥ ७ ॥

१. **सः**=वह **ईम्**=सचमुच **सत्येभिः**=सत्य का पालन करनेवाले **शुचद्भिः**=अपने मनों को पवित्र बनानेवाले **धनसैः**=धनों का संविभाग करनेवाले, अर्थात् सारे-का-सारा स्वयं न खा जानेवाले **सखिभिः**=मित्रों के साथ **गोधायसम्**=इन्द्रियरूप गौओं को चुराकर कहीं अज्ञानान्धकार में छुपाकर रखनेवाले वल (वृत्र=वासना) को **वि अदर्दः**=विदीर्ण करता है। संसार में मित्रों का संग ही हमें बनाता व बिगाड़ता है। अच्छे मित्रों के साथ हम अच्छे बन जाते हैं, बुरों के साथ बिगड़ जाते हैं। यहाँ हमारे मित्र 'सत्य, शुचि व धनों' का संविभाग करनेवाले हैं। इनसे और उत्तम मित्र हो ही क्या सकते हैं? २. यह उत्तम मित्रों के साथ वल का विदारण करनेवाला व्यक्ति **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी बनता है और **वृषभिः**=पुण्यों से—पुण्यात्मक कर्मों से

वराहैः=(वरं आहन्ति=गच्छति) शुभ उपायों के अवलम्बन से तथा **घर्मस्वेदेभिः**=स्वेद के क्षरण से (घृ=क्षरणे)—पसीना बहाने के द्वारा **द्रविणम्**=धन को **व्यानट्**=प्राप्त करता है। ज्ञानी बनकर यह धन को पुण्यात्मक कर्मों से—शुभ उपायों से तथा खूब मेहनत से पसीना बहाकर ही कमाता है।

भावार्थ—हमारे मित्र सत्यवादी, पवित्र व निःस्वार्थी हों। हम पुण्य व शुभ श्रमयुक्त उपायों से ही धनार्जन करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अवद्यम+स्वयुक्' इन्द्रियाँ

ते स॒त्येन॒ मन॑सा॒ गोप॑तिं॒ गा इ॑या॒नास॑ इषणयन्त धी॒भिः।

बृह॒स्पति॑र्मि॒थोअ॑वद्यपेभि॒रुदु॒स्रिया॑ असृजत स्व॒युग्भिः॑ ॥ ८ ॥

१. **ते**=वे **सत्येन मनसा**=सच्चे दिल से **गोपतिम्**=सब इन्द्रियों के स्वामी प्रभु को तथा **गाः**=इन्द्रियों को **इयानासः**=प्राप्त करने के लिए जाते हुए (अभिगच्छन्तः) **धीभिः**=ज्ञानयुक्त कर्मों से **इषणयन्त**=उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं। जब हममें किसी पदार्थ के प्राप्त करने की सच्ची कामना होती है तभी हम उसे प्राप्त कर पाते हैं। ज्ञानयुक्त कर्मों से जहाँ हम इन इन्द्रियों को प्राप्त करते हैं, वहाँ इन्द्रियों के स्वामी प्रभु को भी प्राप्त करनेवाले होते हैं। २. **बृहस्पतिः**=वह ज्ञानी पुरुष **मिथः**=आपस में **अवद्यपेभिः**=अशुभ से एक-दूसरे से बचानेवाली **स्वयुग्भिः**=आत्मतत्त्व से मेल करानेवाली ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से **उस्त्रियाः**=प्रकाश की किरणों को **उत्**=उत्कर्षेण **असृजत**=उत्पन्न करता है। ३. कर्मेन्द्रियाँ कर्म द्वार ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के द्वारा कर्मों को पवित्र करती हैं। इसप्रकार ये एक-दूसरे को अपवित्रता से बचाए रखती हैं। अपवित्रता से अपने को बचाकर ये आत्मा के साथ हमारा मेल करानेवाली होती हैं। इन इन्द्रियों से ही प्रकाश की किरणों की सृष्टि होती है।

भावार्थ—हममें प्रभु-प्राप्ति व इन्द्रिय-विजय की सच्ची कामना हो। हम ज्ञानेन्द्रियों को सुरक्षित करते हुए प्रकाशमय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान+शक्ति=विजय

तं व॒र्धय॑न्तो म॒तिभिः॑ शि॒वाभिः॑ सिं॒हमि॑व॒ नान॑दतं स॒धस्थे॑।

बृह॒स्पतिं॒ वृष॑णं॒ शूर॑सातौ॒ भरे॑भरे॒ अनु॑ मदेम जि॒ष्णुम्॥ ९ ॥

१. **शिवाभिः**=कल्याणी **मतिभिः**=मतियों से हम **ते**=उस प्रभु का **वर्धयन्तः**=वर्धन करते हुए **अनुमदेम**=उसकी अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करें। हम अपनी मति को सदा शुभ बनाए रक्खें, वस्तुतः मति का शुभ बनाए रखना ही प्रभु का सर्वोत्तम आराधन है—संसार में किसी के अशुभ का विचार न करना। २. उस प्रभु का हम वर्धन करें, जो **सधस्थे**=जीवात्मा व परमात्मा के साथ-साथ रहने के स्थान 'हृदय' में **सिंहम् इव**=शेर की भाँति **नानदतम्**=गर्जन कर रहे हैं। 'तिस्रो वाच उदीरते हरिरिति कनिक्रदत्'=हृदयस्थ प्रभु 'ज्ञान, भक्ति व कर्म' की ऊँचे-ऊँचे प्रेरणा दे रहे हैं। ३. **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी **वृषणम्**=शक्तिशाली **शूरसातौ**=शूरों से संभजनीय (सेवनीय) **भरे-भरे**=प्रत्येक संग्राम में **जिष्णुम्**=विजय प्राप्त करानेवाले प्रभु को **अनुमदेम**=अनुकूल करते हुए हर्ष का अनुभव करें। सब विजय प्रभु की शक्ति व ज्ञान से ही होती है 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्' सब विजयों को प्रभु के प्रति अर्पण करके हम अहंकारशून्य

होकर सदा आनन्दमय बने रहें।

भावार्थ—शुभमति के हेतु से हम प्रभु का वर्धन करें। वे प्रभु हमें निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। वे प्रभु ही शक्ति व ज्ञान के स्रोत हैं—सब विजयों को प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु की अनुकूलता में हम हर्ष का अनुभव करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्तर सद्म का आरोहण

यदा वाजमसनद्विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की अनुकूलता में **यदा**=जब मनुष्य **विश्वरूपम्**='तेज-वीर्य-ओजस्, बल, मन्यु व सहस्' इन सब रूपोंवाले **वाजम्**=बल को **असनत्**=प्राप्त करता है, तब यह व्यक्ति **द्याम् अरुक्षत्**=प्रकाशमय लोक का आरोहण करता है, **उत्तराणि सद्म**=उत्कृष्ट गृहों का आरोहण करता है। पृथिवीलोक से ऊपर उठकर यह अन्तरिक्षलोक में पहुँचता है, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, द्युलोक से ऊपर उठकर हम ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं। यह ब्रह्मलोक ही 'उत्तर सद्म' है। २. इस समय हम **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी **वृषणम्**=शक्तिशाली प्रभु को **वर्धयन्तः**=बढ़ाते हुए होते हैं। उस ब्रह्म का सतत स्मरण करते हुए सबमें उस ब्रह्म की सत्ता को अनुभव करते हुए—उनके साथ एकत्व का अनुभव करते हैं। इस अनुभव से **नाना सन्तः**=उन अनेक रूपों में होते हुए **आसा**=मुख से **ज्योतिः बिभ्रतः**=प्रकाश का धारण करते हुए होते हैं। उस समय हम सर्वत्र ज्ञान का प्रचार करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम तेजस्विता का धारण करें, प्रकाशमयलोक में आरूढ़ हों। प्रभु का वर्धन करते हुए भी सबके साथ एकत्व का दर्शन करें और ज्ञान का प्रसार करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सत्या आशीः

सत्यामाशिषं कृणुता वयोधै कीरिं चिद्ध्यवथ स्वेभिरेवैः।
पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद्रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे॥ ११॥

१. हे देवो! **वयोधै**=उत्तम जीवन के धारण व स्थापन के लिए **आशिषम्**=इच्छाओं को **सत्याम्**=सत्य **कृणुत**=करो। इच्छाएँ सत्य होगीं तो जीवन भी उत्तम बनेगा। २. **कीरिम्**=इस स्तोता को **चित् हि**=निश्चय से **स्वेभिः एवैः**=अपने कर्मों के द्वारा **अवथ**=रक्षित करते हो। यह स्तोता क्रियाशील बनता है और इसके ये कर्म इसके रक्षण का साधन बनते हैं। ३. **पश्चा**=अब इस क्रियाशीलता के होने पर—क्रियाशीलता के पीछे **विश्वाः**=सब **मृधः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु **अपभवन्तु**=हमसे दूर हों। हम काम-क्रोध आदि के शिकार न हों। **तत्**=हमारी इस प्रार्थना को **विश्वमिन्वे**=सब संसार को प्रीणित करनेवाले **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **शृणुतम्**=सुनें। हमारी इस प्रार्थना को क्रियान्वित करने के लिए सारा संसार अनुकूल हो।

भावार्थ—हमारी इच्छाएँ सत्य हों। हम स्तोताओं का कर्मों के द्वारा रक्षण हो। काम, क्रोध व लोभ हमसे दूर हों। हमारी यह कामना सम्पूर्ण संसार की अनुकूलता द्वारा पूर्ण हो।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अर्बुद के मूर्धा का विभेदन

इन्द्रो॑ म॒ह्ना म॑ह॒तो अ॑र्ण॒वस्य॒ वि मू॒र्धान॑मभिनदर्बु॒दस्य॑।
अह॒न्नहि॒मरि॑णात्स॒प्त सिन्धू॑न्दे॒वैर्द्या॑वापृथिवी॒ प्राव॑तं नः ॥ १२ ॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **महतः अर्णवस्य**=महान् ज्ञानसमुद्र की **मह्ना**=महिमा से **अर्बुदस्य**=वासनारूप मेघ के **मूर्धानम्**=शिखर को **वि अभिनद्**=विशेषरूप से विदीर्ण कर देता है। ज्ञान अल्प हो तो वासना से आवृत्त होकर समाप्त हो जाता है, परन्तु ज्ञानसमुद्र में वासना का ही विलय हो जाता है। प्रचण्ड ज्ञानाग्नि में वासना भस्म हो जाती है। २. यह इन्द्र **अहिम्**=ज्ञान को नष्ट करनेवाली वासना को **अहन्**=नष्ट कर देता है और **सप्त सिन्धूम्**=सप्तर्षियों से प्रवाहित होनेवाले सात ज्ञान नदियों को (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) **अरिणात्**=गतिमय करता है। वासना के विनाश से ज्ञान-प्रवाह ठीक से होने लगता है। इस ज्ञान का प्रवाह होने पर **द्यावापृथिवी**=ज्ञानदीप्त मस्तिष्करूप द्युलोक तथा दृढ़ शरीररूप पृथिवी—ये दोनों **देवैः**=दिव्यगुणों के द्वारा **नः**=हमें **प्रावतम्**=प्रकर्षेण रक्षित व प्रीणित करनेवाले हों। दीप्त मस्तिष्क व शरीर के दृढ़ होने पर हममें दिव्य गुणों का विकास हो। ज्ञान के अभाव में दिव्यगुणों के विकास का प्रश्न ही नहीं पैदा होता और अस्वस्थ शरीर में भी चिड़चिड़ापन व क्रोध आदि की वृत्ति आ जाती है।

भावार्थ—ज्ञानवृद्धि से हम वासना का उन्मूलन करके ज्ञानप्रवाहों को और अधिक प्रवाहित करनेवाले हों। इसप्रकार स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क से हम दिव्यगुणों का विकास करें।

यह ज्ञान की रुचिवाला 'प्रियमेध' अगले सूक्त में १-१५ तक मन्त्रों का ऋषि है। १६-२१ तक 'पुरुहन्मा' ऋषि है—अच्छी तरह वासनारूप शत्रुओं का हनन करनेवाला। प्रियमेध कहता है कि—

९२. [द्विनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

अ॒भि प्र गोप॑तिं गि॒रेन्द्र॑मर्च॒ यथा॑ वि॒दे। सू॒नुं स॒त्यस्य॒ सत्प॑तिम् ॥ १ ॥
आ हर॑यः ससृज्रि॒रेऽरु॑षी॒रधि॑ ब॒र्हिषि॑। यत्रा॒भि सं॒नवा॑महे ॥ २ ॥
इन्द्रा॑य॒ गाव॑ आ॒शिरं॑ दुदु॒ह्रे व॒ज्रिणे॒ मधु॑। यत्सी॑मुपह्व॒रे वि॒दत् ॥ ३ ॥

देखिए व्याख्या अथर्व० २०.२२.४-६ पर।

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सख्युः पदे

उद्यद् ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपं॑ गृ॒हमिन्द्र॑श्च॒ गन्व॑हि।
मध्वः॑ पी॒त्वा स॑चेवहि॒ त्रिः स॒प्त सख्युः॒ प॒दे ॥ ४ ॥

१. घर में पत्नी यह कामना करती है कि मैं **च**=और **इन्द्रः**=मेरा यह जितेन्द्रिय पति हम दोनों ही **उत्**=उत्कृष्ट **यत्**=जो **ब्रध्नस्य विष्टपम्**=सूर्य के तापशून्य अथवा विशिष्ट रूप से दीप्त **गृहे**=गृह को **गन्वहि**=जाएँ, अर्थात् हमारे घर में सूर्य की किरणें व प्रकाश बहुत ही अच्छी तरह आएँ। सूर्यकिरणें इस गृह को तापशून्य व नीरोग बनानेवाली हों। २. **मध्वः पीत्वा**=इस गृह में रहते हुए हम सोम का पान करके **सख्युः पदे**=परमसखा उस प्रभु के चरणों में **त्रिःसप्त**=इक्कीस

शक्तियों को **सचेवहि**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारे घर सूर्यकिरणों से प्रकाशित हों। इनमें हम प्रभु का स्मरण करते हुए सोमरक्षण द्वारा शरीर की सब शक्तियों को स्थिर रखें।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रियमेध का प्रभु-पूजन

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत। अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्व र्चत॥ ५॥

१. **अर्चत**=उस प्रभु का पूजन करो, **प्रार्चत**=खूब ही पूजन करो। **प्रियमेधासः**=हे यज्ञप्रिय लोगो! इन यज्ञों के द्वारा उस प्रभु का **अर्चत**=पूजन करो। २. **उत**=और **पुत्रकाः**=(पुनाति, त्रायते) अपने जीवन को पवित्र करनेवाले व अपना त्राण करनेवाले लोग उस प्रभु का **अर्चन्तु**= पूजन करें। उस प्रभु का **अर्चत**=पूजन करो, जोकि **पुरं न**=पालन व पूरण करनेवाले के समान हैं तथा **धृष्णु**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं, हमारे शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं। उस प्रभु का यज्ञों के द्वारा हम पूजन करें।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु-स्मरणपूर्वक युद्ध

अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत्। पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम्॥ ६॥

१. **गर्गरः**=युद्ध का नगारा **अवस्वराति**=अतिशयेन भयानक शब्द कर रहा है। **गोधा**=हस्तघ्न **परिसनिष्वणत्**=चारों ओर आवाज़ को फैला रहे हैं। हस्तघ्नों पर होनेवाले डोरी के प्रहारों से शब्द उठ रहे हैं। **पिङ्गा**=पिंगलवर्णवाली ज्या **परिचनिष्कदत्**=चारों ओर गति कर रही है—चारों ओर आक्रमण कर रही है। २. एवं चारों ओर युद्ध का भयंकर वातावरण है। इस युद्ध में **इन्द्राय**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु के लिए **ब्रह्म उद्यतम्**=मन्त्रों द्वारा स्तवन उत्थित हुआ है। 'मामनुस्मर युद्ध च' के अनुसार हमारा यही कर्त्तव्य है कि प्रभु का स्मरण करें और युद्ध भी करते चलें। प्रभु ही तो हमें विजयी बनाएँगे।

भावार्थ—चारों ओर भयंकर युद्ध में हम प्रभु का स्मरण करते हुए युद्ध करें। प्रभु-स्मरण से हम युद्ध में विजयी बनेंगे।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुखसंदोह्य गौओं का दूध व हृदयरोग-चिकित्सा

आ यत्पतन्त्येन्य ः सुदुघा अनपस्फुरः। अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे॥ ७॥

१. **यत्**=जब **अनपस्फुरः** (not refusing to be milked)=न बिदकनेवाली **सुदुघाः**= सुखसंदोह्य **एन्यः**=शुभवर्ण की गौएँ **आपतन्ति**=समन्तात् गृहों की ओर आनेवाली होती हैं, उस समय **अपस्फुरम्**=हृदय-कम्पन को दूर करनेवाले (Throbbing, palpilation) **सोमम्**=सोम को—ताजे दूध को—**गृभायत**=ग्रहण करो। यह दूध **इन्द्राय पातवे**=जितेन्द्रिय पुरुष के रक्षण के लिए होता है। २. गौवें 'सुदुघा' होनी चाहिएँ। ये अनपस्फुर होंगी तो इनके दूध में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होगा। यह ताजा गोदुग्ध ही सोम है। यह हृदय की धड़कन को ठीक रखता है—हृदय-सम्बद्ध सब रोगों से बचानेवाला है।

भावार्थ—हम सुखसंदोह्य गौओं के ताज़े दूध का प्रयोग करें। यही 'सोम' है। यह जितेन्द्रिय पुरुष का रक्षण करता है—हृदय-कम्पन आदि रोगों से बचाता है।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

'इन्द्र-अग्नि-देव'

अपादिन्द्रो अपादग्निर्विश्वे देवा अमत्सत।
वरुण इदिह क्षयत्तमापो अभ्य ऽनूषत वत्सं संशिश्वरीरिव॥ ८॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अपात्**=इस सोम का पान करता है। **अग्निः**=प्रगतिशील पुरुष **अपात्**=इसको पीता है। **विश्वेदेवाः**=सब देव इस सोमपान में **अमत्सत**=हर्ष का अनुभव करते हैं। २. **वरुणः**=वह पापनिवारक प्रभु **इत्**=निश्चय से **इह**=इस सोमपान करनेवाले के जीवन में **क्षयत्**=निवास करता है। **तम्**=उस प्रभु को **आपः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली प्रजाएँ **अभ्यनूषत**=स्तुत करती हैं। उसी प्रकार स्तुत करती हैं, **इव**=जैसेकि **संशिश्वरीः**=उत्तम बछड़ोंवाली गाएँ **वत्सम्**=बिछड़े के प्रति जाती हुई शब्द करती हैं। इसी प्रकार प्रेम से पूर्ण होकर कर्मों में व्याप्त होनेवाली ये प्रजाएँ अपने प्रिय प्रभु के प्रति स्तुति शब्दों को बोलती हैं।

भावार्थ—सोमपान हमें 'इन्द्र, अग्नि व देव' बनता है—शरीर में सबल (इन्द्र), मस्तिष्क में प्रकाशमय (अग्नि) तथा मन में 'देव'। सोमपान करनेवालों में ही परमात्मा का निवास होता है। ये कर्मों में व्याप्त रहकर सदा प्रभु का स्मरण करते हैं।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सु-देव

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं ऽसुषिरामिव॥ ९॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **सु देवः असि**=आप सर्वोत्तम देव हैं—देवों के भी अधिदेव हैं। **यस्य ते**=जिन आपकी **सप्त सिन्धवः**=सात छन्दों में प्रवाहित होनेवाली ज्ञान-जल की नदियाँ **काकुदम् अनुक्षरन्ति**=हमारे तालु में बहती हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **सूर्म्यम्**=(lustre) प्रकाश व रश्मिजाल **सुषिराम्**=सछिद्र वस्तु में प्रवेश करता है। २. हम प्रभु का स्मरण करते हैं तो प्रभु की वेदवाणियाँ हमारे जीवन में इसप्रकार प्रवेश करती हैं, जैसेकि सछिद्र भित्ति में सूर्यरश्मियाँ। ये रशिमयाँ ही—वेदवाणियों का प्रकाश ही हमारे जीवन को निर्मल बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवन को निर्मल कर देगा। वह प्रकाश हमें भी 'सुदेव' बनाएगा।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वपुः

यो व्यतीँरफाणयत्सुयुक्ताँ उप दाशुषे। तक्वो नेता तदिद्वपुरुपमा यो अमुच्यत॥ १०॥

१. **यः**=जो **दाशुषे**=दानशील अथवा अपने को प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले के लिए **वि+अतीन्**=विशिष्ट गतिवाले **सुयुक्तान्**=उत्तमता से शरीर-रथ में जुते हुए इन्द्रियाश्वों को **उप अफाणयत्**=समीपता से प्राप्त करता है, वह प्रभु ही **तक्वः**=हमारे यज्ञों में प्राप्त होनेवाले हैं। प्रभु ही हमें यज्ञों के प्रति प्राप्त कराते हैं। २. **नेता**=वे प्रभु ही हमें मार्ग पर ले-चलनेवाले हैं। प्रभु नेता होते हैं तो **तत् इत्**=तभी यह उपासक **वपुः**=सब बुराइयों का वपन (छेदन) करनेवाला होता है। **उपमा**=यह औरों के लिए उपमानभूत हो जाता है। ऐसा बन जाता है कि **यः अमुच्यत**=जो मुक्त हो जाता है। पवित्र जीवनवाले पुरुषों की, लोग इससे उपमा देने लग जाते हैं कि 'यह तो ऐसा पवित्र है, जैसाकि वह वपुः'।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु हमें गतिशील सुयुक्त इन्द्रियाश्वों को

प्राप्त कराके उत्तम मार्ग पर ले-चलेंगे। हम बुराइयों का छेदन करके उपमानभूत जीवन को प्राप्त करेंगे। हम जीवन्मुक्त-से बन जाएँगे।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'मुक्तिप्रदाता' शक्र—इन्द्र

अतीदु शक्र ओहत इन्द्रो विश्वा अति द्विषः।
भिनत्कनीन ओदनं पच्यमानं परो गिरा॥ ११॥

१. **शक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **इत् उ**=निश्चय ही **अति ओहते**=हमें भवसागर के पार ले-जाता है। **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **विश्वाः द्विषः**=सब द्वेषों के **अति**=पार प्राप्त कराता है। २. **कनीनः**=दीप्त प्रभु—प्रकाशमय प्रभु **परः**=सबसे परस्तात् वर्तमान है—सब गुणों के दृष्टिकोण से परे हैं—उत्कृष्ट हैं। वे प्रभु ही **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **पच्यमानम्**=परिपक्व किये जाते हुए इस **ओदनम्**=हमारे अन्नमयकोश को—इस स्थूलशरीर को **भिनत्**=हमसे पृथक् करते हैं और हमें मुक्तिमार्ग पर आगे ले-चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही शक्र हैं—इन्द्र हैं। वे ही हमें सब द्वेषों से ऊपर उठाते हैं और ज्ञानाग्नि में परिपक्व करके हमें मुक्त करते हैं।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अर्भकः न, कुमारकः

अर्भको न कुमारकोऽधि तिष्ठन्नवं रथम्।
स पक्षन्महिषं मृगं पित्रे मात्रे विभुक्रतुम्॥ १२॥

१. जीव को चाहिए कि **अर्भकः न**=एक छोटे बालक के समान हो। **कुमारकः**=वे सब क्रीड़ा करनेवाले हों। एक बालक के समान निर्दोष व्यवहारवाला हो—व्यर्थ में चुस्त-चालाक न बने। साथ ही क्रीडक की मनोवृत्तिवाला हो—खिझे नहीं। **नवं रथम् अधितिष्ठन्**=इस स्तुत्य (न स्तुतौ) व गतिशील (नव गतौ) शरीर-रथ पर आरूढ़ होता हुआ **सः**=वह **पित्रे मात्रे**=पिता व माता के लिए उस **महिषम्**=पूजनीय (मह पूजायाम्) **मृगम्**=अन्वेषणीय **विभुक्रतुम्**=सर्वव्यापक व प्रज्ञानस्वरूप प्रभु को **पक्षत्**=परिगृहीत करे। (पक्ष परिग्रहे)।

भावार्थ—हम बालकों की भाँति निर्दोष जीवनवाले बनें। शरीररूप रथ को स्तुत्य व गतिशील बनाएँ। प्रभु को ही माता व पिता समझें। ये प्रभु पूज्य हैं, अन्वेषणीय हैं, सर्वव्यापक व प्रज्ञानस्वरूप हैं।

ऋषिः—पुरुहन्मा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

मिलकर प्रभु की ओर

आ तू सुशिप्र दम्पते रथं तिष्ठा हिरण्ययम्।
अध द्युक्षं सचेवहि सहस्रपादमरुषं स्वस्तिगामनेहसम्॥ १३॥

१. पत्नी पति से कहती है कि हे **सुशिप्र**=शोभन हनुओं व नासिकावाले—उत्तम भोजन व प्राणायाम करनेवाले **दम्पते**=शरीररूप गृह का रक्षण करनेवाले जीव! **हिरण्ययं रथम्**=ज्योतिर्मय शरीर-रथ पर **आतिष्ठ उ**=निश्चय से स्थित हो। इस शरीर-रथ को तू ज्ञानज्योति से परिपूर्ण कर। २. **अध**=अब—जीवन को इसप्रकार (क) सात्त्विक भोजनवाला (ख) प्राणसाधना-सम्पन्न (ग) व ज्ञानयुक्त बनाकर, हम उस प्रभु को **सेचवहि**=प्राप्त हों, जो **द्युक्षम्**=सदा प्रकाश

में निवास करनेवाले हैं। **सहस्रपादम्**=हज़ारों पाँवोंवाले हैं—सर्वत्र गतिमय हैं। **अरुषम्**=आरोचमान व (अ-रुषं) क्रोधरहित हैं। **स्वस्तिगाम्**=कल्याण की ओर गतिवाले हैं—हमें कल्याणपथ पर ले-चलनेवाले हैं और **अनेहसम्**=निष्पाप हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक भोजन करते हुए शरीररूप रथ का रक्षण करें। इसे ज्योतिर्मय बनाएँ। पति-पत्नी मिलकर प्रकाशमय प्रभु का उपासन करें। वे हमें कल्याण के मार्ग से ले-चलते हुए निष्पाप जीवनवाला बनाएँगे।

ऋषिः—पुरुहन्मा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥

सुधित अर्थ

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते।
अर्थं चिदस्य सुधितं यदेतव आवर्तयन्ति दावने॥ १४॥

१. **तं स्वराजम्**=उस स्वयं देदीप्यमान प्रभु को **इत्था**=सचमुच **घा ईम्**=निश्चय से **नमस्विनः**=नमस्कारवाले **उपासते**=उपासित करते हैं। २. **अस्य**=इस उपासक का **अर्थम्**=प्राप्तव्य धन **चित्**=निश्चय से **सुधितम्**=सम्यक् स्थापित होता है। **यत्**=जो धन **एतवे**=जीवन के कार्यों को संचालित करने के लिए होता है और **दावने**=इस धन को वे हवि आदि देने के लिए **आवर्तयन्ति**=आवृत्त करते हैं, अर्थात् इस धन का वे सदा यज्ञों में विनियोग करते हैं।

भावार्थ—नमन से युक्त होकर हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें धन देते हैं। यह धन सदा उत्तम साधनों से कमाया जाए। जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए उपयुक्त किया जाता हुआ धन सदा दान में विनियुक्त हो।

ऋषिः—पुरुहन्मा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥

प्रियमेधासः, वृक्तबर्हिषः, हितप्रयसः

अनु प्रत्नस्यौकसः प्रियमेधास एषाम्।
पूर्वामनु प्रयतिं वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आशत॥ १५॥

१. **प्रियमेधासः**=बुद्धि के साथ प्रेमवाले लोग **एषाम्**=इनके, अर्थात् अपने **प्रत्नस्य ओकसः अनु**=सनातन गृह का लक्ष्य करके **वृक्तबर्हिषः**=हृदयरूप क्षेत्र को वासनारूप घास से रहित करनेवाले होते हैं। २. ये **हितप्रयसः**=सदा हितकर उद्योगों में लगे हुए **पूर्वाम्**=सर्वमुख्य अथवा पालन व पूरण करनेवाली **प्रयतिम्**=दान की प्रक्रिया को **अनु आशत**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् सदा दानशील होते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मलोकरूप अपने सनातन गृह को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम 'प्रियमेध', बुद्धिप्रिय बनें। हृदयक्षेत्र में से हम वासनाओं के घास-फूस को उखाड़ डालें। सदा हितकर उद्योगों में लगे रहें।

ऋषिः—पुरुहन्मा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (समा-बृहती+विषमा-सतोबृहती)॥

'ज्येष्ठ वृत्रहा' प्रभु का स्तवन

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे॥ १६॥

१. मैं उस प्रभु का **गृणे**=स्तवन करता हूँ **यः**=जोकि **चर्षणीनां राजा**=श्रमशील मनुष्यों के जीवन को दीप्त बनानेवाला है। **रथेभिः याता**=शरीररूप रथों से हमें प्राप्त हानेवाला है, अर्थात्

हमारे लिए उत्तम शरीर-रथों को देनेवाला है। **अध्रिगुः**=अधृत गमनवाला है—प्रभु को अपने कार्यों में कोई विहत नहीं कर सकता। २. ये प्रभु ही **विश्वासाम्**=सब **पृतनानाम्**=शत्रुसैन्यों के **तरुता**=तैरजानेवाले हैं। हमें शत्रुसैन्यों पर विजय प्राप्त करानेवाले हैं। **ज्येष्ठः**=प्रशस्यतम हैं। **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमें वासनारूप शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ करते हैं। वे हमें उत्तम शरीर-रथों को प्राप्त कराते हैं और हमारे जीवनों को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—पुरुहन्मा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (समा-बृहती+विषमा-सतोबृहती)**॥

वज्र+सूर्य

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः॥ १७॥

१. हे **पुरुहन्मन्**=शत्रुओं का खूब ही हनन करनेवाले जीव! तू **तम्**=उस **इन्द्रम्**=शत्रुविद्रावक प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **शुम्भ**=अपने जीवन में अलंकृत कर। उस प्रभु को अलंकृत कर **यस्य**=जिसके **द्विता**=दोनों का विस्तार है—उसकी शक्ति भी अनन्त है और ज्ञान भी अनन्त है। प्रभु को अपने जीवन में अलंकृत करने पर हम भी ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करेंगे। २. उस **विधर्तरि**=विशेषरूप से धारण करनेवाले प्रभु में **हस्ताय**=(हन्ताय) शत्रुसंहार के लिए **दर्शतः**=दर्शनीय **महा**=महान् **वज्रः**=वज्र **प्रतिधायि**=धारण किया जाता है। हाथ में उसी प्रकार वज्र धारण किया जाता है, **न**=जैसेकि **दिवे**=प्रकाश के लिए **सूर्यम्**=सूर्य का धारण होता है।

भावार्थ—हम भी जीवन में वज्र और सूर्य को धारण करते हैं—हाथों में क्रियाशीलता को, मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य को। एवं, यह प्रभु का धारण हमें शक्ति व प्रकाश प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—पुरुहन्मा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (समा-बृहती+विषमा-सतोबृहती)**॥

न कर्म से, न यज्ञ से

नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम्।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमो ⌈जसम्॥ १८॥

१. **तम्**=उस व्यक्ति को **कर्मणा**=कर्मों से **नकिः नशत्**=कोई भी व्याप्त नहीं कर पाता, अर्थात् उसके समान कोई भी महान् कर्मों को नहीं कर पाता, **यः**=जोकि **सदावृधम्**=सदा से वर्धमान उस प्रभु को **चकार**=अपने हृदय में करता है, अर्थात् जो प्रभु को हृदय में धारण करता है, वह प्रभु से शक्ति प्राप्त करके महान् कार्यों को करनेवाला होता है। २. **न**=(सम्प्रति) अब हम **यज्ञैः**=यज्ञात्मक कर्मों से **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को उपासित करें, जो प्रभु **विश्वगूर्तम्**=सबसे स्तुति के योग्य है, **ऋभ्वसम्**=महान् हैं। **अधृष्टम्**=किसी से भी धर्षित होनेवाले नहीं और **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **धृष्णुम्**=हमारे सब शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें असाधारण, महान् कर्मों को करने में समर्थ करती है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर हम सब शत्रुओं का धर्षण करते हैं।

ऋषिः—पुरुहन्मा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (समा-बृहती+विषमा-सतोबृहती)॥

द्यावः क्षामः अनोनवुः

अषाढमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामो अनोनवुः॥ १९॥

१. **द्यावः**=द्युलोक में होनेवाले ये सूर्य व **क्षामः**=पृथिवीलोक उस प्रभु का **अनोनवुः**=अतिशयेन स्तवन करते है, जो प्रभु **अषाढम्**=शत्रुओं से कभी पराभूत नहीं होते, **उग्रम्**=उद्‌गूर्ण बलवाले व तेजस्वी हैं तथा **पृतनासु**=शत्रुसैन्यों का **सासहिम्**=पराभव करनेवाले हैं। २. **यस्मिन् जायमाने**=जिसके प्रादुर्भू होने पर **महीः**=महत्त्वपूर्ण **उरुज्रयः**=महान् वेगवाली, अर्थात् हमें क्रियाओं में प्रेरित करनेवाली **धेनवः**=वेदवाणीरूप गौएँ **सम् अनोनवुः**=सम्यक् शब्दायमान हो उठती हैं। हृदय में प्रभु का प्रकाश होने पर ये वेदवाणियाँ हमें उस-उस क्रिया में प्रेरित करनेवाली होती है। इन वेदवाणियों के रूप में ही हमें प्रभु की प्रेरणाएँ सुन पड़ती हैं।

भावार्थ—ये सूर्य आदि पदार्थ प्रभु की ही महिमा का प्रकाश हैं। हृदय में प्रभु का प्रकाश होने पर वेदवाणी हमारे लिए उत्कृष्ट कर्मों की प्रेरणा देनेवाली होती है।

ऋषिः—पुरुहन्मा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (समा-बृहती+विषमा-सतोबृहती)॥

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥ २०॥
आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन्विश्वा शविष्ठ शवसा।
अस्माँ अव मघवन्गोमति व्रजे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः॥ २१॥

देखो व्याख्या अथर्व० २०.८१.१-२ पर।

प्रभु का स्तवन करनेवाला यह 'प्रगाथ' अगले सूक्त में १-३ तक ऋषि है। स्तवन के द्वारा दिव्यगुणों को जन्म देनेवाली 'देवजामय' ४-८ तक का ऋषि है—

९३. [त्रिनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रगाथः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

प्रभु-स्तवन व ज्ञानियों का संग

उत्त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः। अव ब्रह्मद्विषो जहि॥ १॥

१. हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! **त्वा**=आपको **स्तोमः**=हमसे की जानेवाली स्तुतियाँ **उत् मन्दन्तु**=उत्कर्षेण आनन्दित करें। ये स्तोत्र हमें आपका प्रिय बनाएँ। आप हमारे लिए **राधः कृणुष्व**=कार्यसाधक धनों को कीजिए, अर्थात् आवश्यक धनों को हमारे लिए दीजिए। २. **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान से अप्रीतिवाले लोगों को **अवजहि**=हमसे दूर कीजिए। हमें ज्ञानी लोगों का ही सम्पर्क प्राप्त हो। मूर्खों के सम्पर्क से हम सदा दूर रहें।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए कार्यसाधक धनों को प्राप्त करें और ज्ञानियों के सम्पर्क में रहें, ज्ञान-प्राप्ति की रुचिवाले बनें।

ऋषिः—प्रगाथः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

अराधस् पणियों का विनाश

पदा पणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि। नहि त्वा कश्चन प्रति॥ २॥

१. हे इन्द्र! आप **पणीन्**=लोभयुक्त व्यवहारवाले **अराधसः**=यज्ञों के असाधक धनोंवाले

धनियों को **पदा**=पाँव से **निबाधस्व**=नीचे पीड़ित कीजिए—इन्हें पाँव तले रौंद डालिए। **महान् असि**=आप पूज्य हैं। २. हे प्रभो! **कश्चन**=कोई भी **त्वा प्रति नहि**=आपका मुक़ाबला करनेवाला नहीं है। आप अद्वितीय शक्तिशाली हैं।

भावार्थ—प्रभु लोभी व अयज्ञिय वृत्तिवाले धनियों को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**प्रगाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सबका 'ईश' प्रभु

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम्। त्वं राजा जनानाम्॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **सुतानाम्**=कर्मानुसार उस-उस शरीर को ग्रहण करनेवाले—जन्म-धारण करनेवाले लोगों के **ईशिषे**=ईश हैं। **त्वम्**=आप ही **असुतानाम्**=शरीर न धारण करनेवाले—जन्म न धारण करनेवाले मुक्त पुरुषों के भी ईश हैं। २. **त्वम्**=आप ही **जनानाम्**=सब जन्मधारियों के **राजा**=व्यवस्थापक—कर्मानुसार फल देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु सभी के ईश हैं—चाहे वे जन्म लिये हुए हों, चाहे मुक्त हों। सबको कर्मानुसार जन्म देनेवाले प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**देवजामयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

देवजामयः-'इन्द्र' मातरः

ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते। भेजानासः सुवीर्यम्॥ ४॥

१. **ईंखयन्तीः**=स्तुति के द्वारा प्रभु की ओर गति करनेवाली, **अपस्युवः**=अपने साथ कर्म को जोड़नेवाली माताएँ **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले बालक को **उपासते**=उपासित करती हैं, अर्थात् सदा इसका ध्यान करती हैं, इसे अपनी आँखों से ओझल नहीं करतीं। २. इसका निर्माण करनेवाली ये माताएँ **सुवीर्यम् भेजानासः**=उत्तम वीर्य व शक्ति का सेचन करनेवाली होती है। स्वयं संयमी जीवन बिताती हुई ये शक्ति का रक्षण करती हैं। इनका आपना जीवन संयमवाला न हो तो इन्होंने बच्चों का क्या निर्माण करना? 'स्तुति, क्रिया व संयम' के द्वारा ही तो ये 'देवजामय' बनती हैं।

भावार्थ—बालक को वही माता 'इन्द्र' बना पाती है जो 'प्रभु-स्तवन, क्रियाशीलता व संयम' को अपनाती है।

ऋषिः—**देवजामयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

बालक को माता की प्रेरणा

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः। त्वं वृषन्वृषेदसि॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले प्रिय! **त्वम्**=तू **बलात्**=बल से, **सहसः**=सहस् से—सहनशक्तिवाले बल से तथा **ओजसः**=ओज से **अधिजातः असि**=आधिक्येन प्रसिद्ध हुआ है। तेरा मनोमयकोश 'बल व ओज' से सम्पन्न बना है तथा आनन्दमयकोश 'सहस्' वाला हुआ है। २. हे **वृषन्**=शक्तिशाली इन्द्र! **त्वम्**=तू **इत्**=निश्चय से **वृषा असि**=शक्तिशाली है। तूने अपने को शक्ति से सिक्त करना है।

भावार्थ—माता प्रारम्भ से बालक को यही प्रेरणा देती है कि तूने 'बलवान्, ओजस्वी व सहस्वी' बनना है। तूने अवश्य शक्तिशाली होना है।

ऋषिः—देवजामयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

उदारहृदय-उत्कृष्ट मस्तिष्क

त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्य१न्तरिक्षमतिरः। उद् द्यामस्तभ्ना ओजसा॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वं वृत्रहा असि**=तू ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करनेवाला है। **अन्तरिक्षं वि अतिरः**=तू ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करके हृदयान्तरिक्ष को विशेषरूप से बढ़ानेवाला है, अर्थात् तू अपने हृदय को विशाल बनाता है तथा २. **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **उत् अस्तभ्नाः**=उत्कृष्ट स्थान में थामता है, अर्थात् तू मस्तिष्क को उत्कृष्ट ज्ञान-सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—माता बालक को प्रेरणा देती है कि (क) तूने वासनाओं को विनष्ट करनेवाला बनना है (ख) हृदय को विशाल बनाना है तथा (ग) ओजस्विता के साथ मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करना है।

ऋषिः—देवजामयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

सजोषसं अर्कं, ओजसा वज्रम्

त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः। वज्रं शिशान ओजसा॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बननेवाले जीव! **त्वम्**=तू **बाह्वोः**=अपनी भुजाओं में **सजोषसम्**= ओज व उत्साह से युक्त **अर्कम्**=(अर्च पूजायाम्) स्तुत्य सूर्यसम तेज को **बिभर्षि**=धारण करता है। 'प्राणो वा अर्कः' (श० १०.४.१.२३) के अनुसार तू प्राणशक्ति-सम्पन्न जीवनवाला बनता है। २. तू **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **वज्रम्**=अपने वज्र को **शिशानः**=तीक्ष्ण करनेवाला है। 'वज् गतौ' से बना हुआ 'वज्र' शब्द क्रियाशीलता का वाचक है। ओजस्विता के कारण तेरा जीवन बड़ा क्रियाशील बनता है।

भावार्थ—बालक को माता ने उत्साहयुक्त तेजवाला तथा ओजस्वितायुक्त क्रियाशीलता-वाला बनाना है।

ऋषिः—देवजामयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'अभिभू' बनकर 'आभूति' वाला होना

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा। स विश्वा भुव आभवः॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय व शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले बालक! **त्वम्**=तू **विश्वा जातानि**=सब उत्पन्न हुए-हुए इन वासनारूप शत्रुओं को **ओजसा**=अपनी ओजस्विता से **अभिभूः असि**=पराभूत करनेवाला है। काम, क्रोध, लोभ से तू आक्रान्त नहीं होता। २. **सः**=वह तू **विश्वाः**=सब **भुवः**=भूमियों को—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमयकोशों को—**आभवः**=आभूति-(ऐश्वर्य)-वाला बनाता है। इन्हें क्रमशः 'तेज, वीर्य, बल व ओज, मन्यु तथा सहस्' से परिपूर्ण करता है।

भावार्थ—माता ने बालक को यह प्रेरणा देनी है कि (क) तूने काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को अभिभूत करना है तथा (ख) अन्नमय आदि सब कोशो का आभूतिवाला बनाना है।

माता से उत्तम प्रेरणा प्राप्त करके यह शत्रुओं का कर्षण करनेवाला 'कृष्ण' बनता है—यह अंग-प्रत्यंग में रसवाला 'आंगिरस' होता है। यह इन्द्र का उपासन करता है और प्रभु इस छोटे इन्द्र को कहते हैं कि—

९४. [चतुर्नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'तूतुजानः तुविष्मान्'

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान्।
प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन॥ १ ॥

१. **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **आयातु**=मेरे समीप आये। जैसे एक बच्चा पिता की गोद में बैठता है, उसी प्रकार यह जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु की गोद में बैठनेवाला हो। जो इन्द्र **स्वपतिः**=अपना स्वामी है—इन्द्रियों, मन व बुद्धि का दास न होकर इनका अधिष्ठाता है और अतएव **मदाय**=सदा हर्ष के लिए होता है। २. प्रभु कहते हैं कि मेरे समीप वह 'इन्द्र' आये **यः**=जोकि **धर्मणा**=लोकधारण के हेतु से **तूतुजानः**=(त्वरमाणः नि० ६.२०) शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। जो **तुविष्मान्**=(growth, strength, intellect) उन्नति, शक्ति व बुद्धिवाला है। ३. **अपारेण महता**=महान् अपार, अर्थात् बहुत अधिक **वृष्ण्येन**=बल के द्वारा **विश्वा सहांसि**=सब सहनशक्ति के जनक बलों को **अति प्रत्वक्षाणः**=बहुत ही सूक्ष्म (तीव्र) बनानेवाला होता है। बल को बढ़ाता हुआ सहनशक्तिवाला होता है। वही प्रभु को पा सकता है। निर्बल व चिड़चिड़े पुरुष ने प्रभु को क्या पाना?

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम 'इन्द्र-स्वपति-धारणात्मक कर्मों को करनेवाले—उन्नतिशील—तथा सबल बनकर सहनशील' हों।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सुष्ठामा रथः

सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ।
शीभं राजन्त्सुपथा याह्यर्वाङ् वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के स्वपति से कहते हैं कि **रथः**=तेरा शरीररूप रथ **सुष्ठामा**=शोभनावस्थान हो—इसका एक-एक अंग सुबद्ध हो, अर्थात् यह शरीररूप रथ सुगठित हो। **ते**=तेरे **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **सुयमा**=सम्यक् वश में हों। हे **नृपते**=आगे बढ़नेवालों के स्वामिन्—मुखिया **ते गभस्तौ**=तेरे बाहुओं में **वज्रः**=क्रियाशीलतारूप वज्र **मिम्यक्ष**=संगत हो, अर्थात् तू सतत क्रियाशील जीवनवाला हो। २. हे **राजन्**=अपने जीवन को व्यवस्थित (regulated) करनेवाले और इसप्रकार अपने जीवन को दीप्त बनानेवाले जीव! तू **सुपथा**=उत्तम मार्ग से **शीभम्**=शीघ्र **अर्वाङ्**=हमारे अभिमुख—हमारे अन्दर **आयाहि**=प्राप्त हो, बहिर्मुखी वृत्ति को छोड़कर अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बन। जीवन को व्यवस्थित बनाना ही प्रभु की ओर चलना है। ३. प्रभु कहते हैं कि ऐसा होने पर **पपुषः**=सोमपान करनेवाले **ते**=तेरे **वृष्ण्यानि**=बलों को **वर्धाम**=हम बढ़ाते हैं। सोमपान से ही शक्ति का वर्धन होता है। सशक्त होकर ही हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनते हैं।

भावार्थ—हमारा शरीररूप रथ सुदृढ़ हो। इन्द्रियाश्व संयत हों। हाथों में क्रियाशीलता हो। सुपथ से प्रभु की ओर चलें और सोम-रक्षण द्वारा शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

उग्र-प्रत्वक्षस-सत्यशुष्म

एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषास एनम्।
प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्ममेमस्मत्रा सधमादो वहन्तु॥ ३ ॥

१. प्राण जीवात्मा के साथ रहते हैं—उपनिषद् के शब्दों में उसी प्रकार जैसेकि पुरुष के साथ छाया। छाया पुरुष का साथ नहीं छोड़ती, प्राण आत्मा का साथ नहीं छोड़ते, इसीलिए प्राणों को यहाँ 'सधमादः' जीव के साथ आनन्दित होनेवाला कहा गया है। ये प्राण जितेन्द्रिय पुरुष को प्रभु के प्रति ले-चलनेवाले हैं, अतः 'इन्द्रवाहः' कहलाते हैं। शक्तिशाली होने से 'उग्रासः' हैं और अत्यन्त बढ़े हुए होने से—सब उन्नतियों का कारण होने से 'तविषासः' कहे जाते हैं। २. इन प्राणों से कहते हैं कि **सधमादः**=जीव को प्रभु के साथ आनन्द का अनुभव करानेवाले, **इन्द्रवाहः**=जितेन्द्रिय पुरुष को प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले, **उग्रासः**=तेजस्वी, **तविषासः**=प्रवृद्ध व बलसम्पन्न प्राणो! आप **एनम्**=इस जीव को **ईम्**=निश्चय से **अस्मत्रा**=हमारे समीप **आवहन्तु**=ले-आओ। उस जीव को जोकि **नृपतिम्**=उन्नतिशील पुरुषों का प्रमुख है। **वज्रबाहुम्**=बाहुओं में क्रियाशीलतारूप वज्र को लिये हुए है। **उग्रम्**=तेजस्वी है। **प्रत्वक्षसम्**=अपनी बुद्धि को बड़ा सूक्ष्म बनानेवाला है। **वृषभम्**=शक्तिशाली होता हुआ सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला है और इन गुणों को उत्पन्न करके प्राण इस साधक को प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीव शक्तिशाली व सत्य के बलवाला और सूक्ष्मबुद्धि से युक्त होता है। इन तीनों बातों का सम्पादन करके यह प्रभु के समीप पहुँचता है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सुरक्षित सोम का महत्त्व

एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्ज स्कम्भं धरुण आ वृषायसे।
ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृधे॥ ४॥

१. हे **धरुण**=हमारा धारण करनेवाले प्रभो! **एवा**=(इ गतौ) गतिशीलता के द्वारा आप **आवृषायसे**=हममें उस सोम का वर्षण व सेचन करते हैं जोकि **पतिम्**=पालक है—रोगों से हमें बचानेवाला है। **द्रोणसाचम्**=इस शरीररूप द्रोण (सोमपात्र) में समवेत (सम्बद्ध) होनेवाला है। **सचेतसम्**=जो चेतना से युक्त है—चेतना व ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है और **ऊर्जः स्कम्भम्**=बल व प्राणशक्ति का धारक है। २. हे प्रभो! इस सोम के सेचन से **ओजः कृष्व**=आप हममें ओजस्विता का सम्पादन कीजिए और **त्वे अपि संगृभाय**=हमें अपने में ग्रहण करने की कृपा कीजिए। हम आपकी गोद में इसी प्रकार आ सकें, जैसकि पुत्र पिता की गोद में आता है। ३. आप हमारे लिए उसी प्रकार होइए **यथा**=जैसेकि **इनः**=स्वामी होते हुए आप **केनिपानाम्**=मेधावियों के **वृधे**=वर्धन के लिए होते हैं। हम भी इस सोम के रक्षण के द्वारा मेधावी हों और आपके प्रिय होकर निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करें।

भावार्थ—सोम (वीर्य) रोगों से हमारा रक्षण करता है, हमें चेतना-सम्पन्न व शक्तिशाली बनाता है। इसके द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। मेधावी बनकर वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अनाधृष्यपात्र

गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः।
त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा॥ ५॥

१. हे प्रभो! गतमन्त्र के अनुसार जब मैं अपने इस शरीर को सोम का पात्र बनाता हूँ—

शरीर में सोम का रक्षण करता हूँ तब **हि**=निश्चय से **अस्मे**=हममें **वसूनि**=जीवन को उत्तम बनानेवाले सब वासक तत्त्व **आगमन्**=प्राप्त होते हैं और मैं **शंसिषम्**=आपका शंसन व स्तवन करनेवाला बनता हूँ—मेरी वृत्ति भोगप्रवण न होकर प्रभु-प्रवण होती है। आप मुझ **सोमिनः**=सोम का रक्षण करनेवाले के **सु-आशिषम्**=उत्तम इच्छाओंवाले **भरम्**=भरणात्मक यज्ञ को **आयाहि**=आइए। **त्वम् ईशिषे**=वस्तुतः आप ही तो इन सब यज्ञों के ईश हैं। आपकी कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। २. **सः**=वे आप **अस्मिन्**=इस हमारे **बर्हिषि**=वासनाओं का जिसमें से उद्बर्हण कर दिया गया है और यज्ञों का जिसमें स्थापन हुआ है उस हृदय में **आसत्सि**=आकर विराजमान होते हैं। उन हृदयस्थ आपकी प्रेरणा व शक्ति से ही सब यज्ञपूर्ण हुआ करते हैं। ३. हे प्रभो! **तव**=आपकी **धर्मणा**=धारकशक्ति से ही **पात्राणि**=ये सोम-रक्षण के पात्रभूत हमारे शरीर **अनाधृष्या**=आधि-व्याधियों से धर्षण के योग्य नहीं होते। हृदय में आपके उपस्थित होने पर वहाँ 'काम' का प्रवेश नहीं होता। परिणामतः सोम का रक्षण होकर शरीर रोगाभिभूत नहीं होता। इसप्रकार यह स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाला पुरुष 'आदर्श पुरुष' बनता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण होने पर हमारे हृदयों में प्रभु का वास होगा। उस समय हमारे शरीर रोगों से आक्रान्त न होंगे और मन वासनाओं से मलिन न होंगे।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यज्ञिय भाव

पृथक्प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्या ॅनि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥ ६॥

१. **प्रथमाः**=(प्रथ विस्तारे) अपना विस्तार करनेवाले व अपने हृदयों को विशाल बनानेवाले **देवहूतयः**=देव को पुकारनेवाले—प्रभु की प्रार्थना करनेवाले—अपने में दिव्यगुणों की स्थापना के लिए यत्नशील सोमी पुरुष **पृथक्**=अनासक्त (Detached) होकर—अलग रहते हुए—न फँसते हुए—**प्रायन्**=प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। सब सांसारिक कार्यों को करते हुए ये उनमें आसक्त नहीं होते। २. अनासक्तभाव से कार्यों को करते हुए ये सोमी पुरुष **श्रवस्यानि**=उन श्रवणीय यशों को **अकृण्वत**=करनेवाले होते हैं, जो यश **दुष्टरा**=दूसरों से दुस्तर होते हैं। इनके यश का अन्य लोग उल्लंघन नहीं कर पाते। ३. इनके विपरीत वे व्यक्ति **ये**=जोकि **यज्ञियां नावम्**=यज्ञमयी नाव पर **आरुहम्**=आरोहण के लिए **न शेकुः**=समर्थ नहीं होते, अर्थात् जो जीवन को, आसक्ति से ऊपर उठकर, यज्ञिय कार्यों में नहीं लगा पाते, **ते**=वे **केपयः**=कुत्सितकर्मा लोग **ईर्मे एव**=(ऋणेनैव) अपने पर चढ़े हुए 'मानव ऋण' से ही **न्यविशन्त**=नीचे और नीचे प्रवेश करते हैं। इनको अधोगति प्राप्त होती है। मनुष्य पर चार ऋण होते हैं—'पितृऋण, ऋषिऋण, देवऋण व मानव ऋण'। इन ऋणों को हम विविध यज्ञिय कर्मों द्वारा उतारा करते हैं। यदि उन यज्ञों को हम नहीं करते तो ऋणभार से दबे हुए हम अधोगति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम संसार में फल की आसक्ति को छोड़कर कर्त्तव्यकर्मों को करें। यही 'यज्ञिय नाव' है। यही हमें भवसागर से तराएगी और अधोगति से बचाएगी।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्राग्, नकि अपाग्

एवैवापागपरे सन्तु दूढ्यो ॅश्वा येषां दुर्युज आयुयुज्रे।
इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना॥ ७॥

१. **येषाम्**=जिन यज्ञ न करनेवालों के **दुर्युज**=दुष्ट योजनावाले, अर्थात् अशुभ मार्ग की ओर जानेवाले **अश्वाः**=इन्द्रियरूप अश्व **आयुयुज्रे**=इस शरीर-रथ में जुतते हैं, वे **दूढ्यः**=(दुर्धियः) दुष्ट बुद्धिवाले **अपरे**=इस अपरा प्रकृति में फँसे हुए पुरुष **एवा एव**=अपनी गतियों के कारण ही **अपाग् सन्तु**=अधोगतिवाले हों। भोगप्रवण मनोवृत्तिवाले पुरुषों की बुद्धियाँ सदा कुमन्त्रणा करती हैं। इनकी अन्ततः अवनति ही होती है। २. **उ**=और **ये**=जो **परे**=दूसरे पराप्रकृति (जीव=आत्मस्वरूप) की ओर चलनेवाले होते हैं और **इत्था**=सचमुच **दावने सन्ति**=देने के कार्य में लोग रहते हैं, वे **प्राग् सन्ति**=आगे बढ़नेवाले होते हैं। वे वहाँ पहुँचते हैं **यत्र**=जहाँ कि **पुरूणि**=पालन व पूरण करनेवाले पर्याप्त **वयुनानि**=ज्ञानयुक्त व कान्त (चमकते हुए) **भोजना**=धन हैं। भोगवृत्ति से ऊपर उठे हुए इन यज्ञशील पुरुषों को पालन के लिए आवश्यक सब धन प्राप्त होते हैं। ये धन उन्हें मूढ बनानेवाले नहीं होते। ये उन्हें आगे बढ़ाते हुए उनकी ज्ञानवृद्धि का साधन बनते हैं।

भावार्थ—भोगप्रवण बनकर हम अधोगति को प्राप्त करनेवाले न बनें। यज्ञों में प्रवृत्त हुए-हुए हम आगे बढ़ें और ज्ञानयुक्त धनोंवाले हों।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—जगती ॥

समीचीने धिषणे

गिरीँरज्रानेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत्।
समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति॥ ८॥

१. **वृष्णः**=शक्ति देनेवाले सोम का **पीत्वा**=पान करके—सोम को शरीर में ही व्याप्त करके मनुष्य **मदे**=उल्लास में **उक्थानि**=प्रभु के स्तोत्रों का **शंसति**=उच्चारण करता है। जिस समय मन्त्र का ऋषि 'गोतम' (प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष) सोम का विनाश न करके उसे शरीर में ही सुरक्षित करता है, उस समय नीरोगता व निर्मलता के कारण उसे एक अनुपम उल्लास का अनुभव होता है। उस उल्लास में वह प्रभु की महिमा का गायन करता है। २. इस सोम के रक्षण के द्वारा वह **समीचीने**=(सम् अञ्च) उत्तम गतिवाले **धिषणे**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **विष्कभायति**=विशेषरूप से थामता है। इनकी शक्ति को यह बढ़ानेवाला होता है। सोम-रक्षण ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और शरीर में आ जानेवाले रोगकृमियों का नाश करता है। यह 'मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाना, व शरीर को नीरोग बनाना' ही द्यावापृथिवी का धारण है। यही द्यावापृथिवी की समीचीनता है। अपने-अपने कार्य को ठीक से करना ही तो समीचीनता है। ३. यह **अज्रान्**=अपनी गति के द्वारा विक्षिप्त करनेवाले **रेजमानान्**=अत्यन्त कम्पित करते हुए **गिरीन्**=अविद्यापर्वतों को **अधारयत्**=थामता है, अर्थात् इन पर्वतों के आक्रमण से अपने को बचाता है। इसका **द्यौः**=मस्तिष्करूप द्युलोक **अक्रन्दत्**=प्रभु का आह्वान करनेवाला होता है, अर्थात् यह अपने ज्ञान के प्रकाश से प्रभु को देखता है और उसे अपने रक्षण के लिए पुकारता है। यह **अन्तरिक्षाणि**=अपने हृदयान्तरिक्षों को **कोपयत्** (कोपयति to shine)=दीप्त करता है। प्रभु के प्रकाश से हृदय का दीप्त होना स्वाभाविक है।

भावार्थ—सोम के रक्षण के द्वारा हमारे मस्तिष्क व शरीर उत्तम हों।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

प्रभु-स्तवनरूप अंकुश

इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः।
अस्मिन्त्सु ते सवने अस्त्वोक्यं सुत इष्टौ मघवन्बोध्याभगः ॥ ९ ॥

१. हे प्रभो! **इमम्**=इस **ते**=आपके **सुकृतम्**=पुण्य के कारणभूत **अंकुशम्**=स्तवन को **बिभर्मि**=मैं धारण करता हूँ। यहाँ स्तुति को अंकुश इसलिए कहा है कि यह हमें मार्ग पर चलने के लिए प्रेरक होती है। अंकुश हाथी को मार्गभ्रष्ट नहीं होने देता—इसी प्रकार स्तुति मनुष्य को मार्गभ्रष्ट होने से बचाती है। हे **मघवन्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! यह स्तुतिरूप अंकुश वह है, **येन**=जिससे **शफारुजः**=(शफ root of a tree) शरीररूप वृक्ष के मूल पर आघात करनेवाले 'काम, क्रोध, लोभ' को आप **आरुजासि**=छिन्न-भिन्न कर देते हो। 'काम' शरीर को, 'क्रोध' मन को तथा 'लोभ' बुद्धि को नष्ट कर देता है। इन तीनों शफारुजों को प्रभु का स्तवन नष्ट कर देता है। २. इनको नष्ट करके हम चाहते हैं कि **अस्मिन् सवने सुते**=इस जीवन-यज्ञ में सोम का सम्पादन होने पर **ओक्यम् अस्तु**=प्रभु का यहाँ निवास हो। हे **आभगः**=आभजनीय—सर्वदा स्तवन के योग्य प्रभो! **इष्टौ सुते**=इस जीवन को यज्ञरूप में चलाने पर **बोधि**=आप हमारा ध्यान कीजिए। आपसे रक्षित होकर हम इस जीवन को यज्ञ का रूप दे सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमारे जीवनरूप हाथी के लिए अंकुश के समान हो। हम जीवन को यज्ञमय बनाएँ। इस जीवन-यज्ञ में प्रभु का निवास हो।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ११ ॥

देखो व्याख्या २०.१७.१०-११ पर।

प्रभु की उपासना करनेवाला (गृणाति) और उल्लासमय जीवनवाला (माद्यति) 'गृत्समद' अगले सूक्त के प्रथम मन्त्र का ऋषि है। २-४ तक ऋषि 'सुदाः'=उत्तम दानशील पैजवनः=(अपिजवनः) खूब क्रियाशील व्यक्ति है—

९५. [पञ्चनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अष्टिः ॥

'देव, सत्य व इन्दु' बनना

त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशत्।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥ १ ॥

१. **त्रिकद्रुकेषु**=(कदि आह्वाने) जीवन के तीनों आह्वानकालों में—बाल्य, यौवन व वार्धक्य में **महिषः**=प्रभु की पूजा करनेवाला और अतएव **तुविशुष्मः**=महान् बलवाला मन्त्र का ऋषि गृत्समद **विष्णुना**=परमात्मा के द्वारा **सुतम्**=उत्पन्न किये गये **यवाशिरम्** (यौति आश्रृणाति)= अशुभों को दूर करनेवाले, शुभों को हमारे साथ सम्पृक्त करनेवाले और सब रोगकृमियों व वासनाओं को शीर्ण करनेवाले **सोमम्**=सोम को **तृपत्**=तृप्ति का अनुभव करता हुआ **अपिबत्**=

अपने अन्दर ही पीता है, अर्थात् शरीर में ही इसे व्याप्त करता है। उतना-उतना व्याप्त करता है **यथा अवशत्**=जितना-जितना इन्द्रियों को वश में करता है। २. इसप्रकार सदा प्रभु का स्मरण करता हुआ और इन्द्रियों को वश में करता हुआ गृत्समद सोम का पान करता है—वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित करता है। **सः**=वह **ईम्**=निश्चय से **ममाद**=प्रसन्नता का अनुभव करता है। **महि कर्म कर्तवे**=महान् कर्म करने के लिए होता है और **एनम्**=इस **महाम्**=महान्—पूजनीय **उरुम्**=सर्वव्यापक प्रभु को **सश्चत्**=प्राप्त होता है। **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला बनकर **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त करता है। **सत्यः**=सत्यवादी व **इन्दुः**=शक्तिशाली बनकर **सत्यम्**=सत्यस्वरूप **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को पाता है।

भावार्थ—उपासक उपासना की वृत्ति के परिणामस्वरूप वासनाओं से आक्रान्त न होकर सोम का रक्षण कर पाता है। इस सोम-रक्षण से उल्लासमय जीवनवाला—महान् कर्मों को करनेवाला तथा 'देव, सत्य व इन्द्र' बनकर उस महान् 'देव, सत्य व इन्दु' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**सुदाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शक्वरी** ॥

पुरोरथम्+शूषम्

प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत। अभीके चिदु लोककृत्संगे समत्सु
वृत्रहास्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ २॥

१. **अस्मै**=इस **इन्द्राय**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले सेनापति के लिए **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **पुरोरथम्**=अग्रगतिवाले रथ को तथा **शूषम्**=शत्रुशोषक बल को **प्र अर्चत**=सम्यक् आदर दो। उस सेनापति को उचित आदर प्राप्त हो, जिसका रथ सदा आगे ही बढ़ता है, जो रणाङ्गण से कभी पराङ्मुख नहीं होता। उस सेनापति को आदर दो जिसका बल शत्रुओं का शोषण करनेवाला है। २. यह इन्द्र **अभीके**=संग्राम में **चित् उ**=निश्चय से **लोककृत्**=अपना स्थान बनानेवाला है। **समत्सु**=संग्रामों में **संगे**=शत्रुओं के साथ मुठभेड़ होने पर यह **वृत्रहा**=वृत्र का हनन करनेवाला है। राष्ट्र को घेरनेवाले शत्रुओं को समाप्त करनेवाला होता है (वृ=घेरना) ३. हे इन्द्र! इसप्रकार शत्रु-हनन करता हुआ तू **अस्माकम्**=हमारा **चोदिता**=प्रेरक **बोधि**=अपने को जान। इसप्रकार ही तू प्रजाओं के अन्दर उत्साह का संचार करता है। तेरी वीरता के सामने **अन्यकेषाम्**=(कुत्सिते कन्) इन अधर्म के पक्षवाले शत्रुओं की **ज्याकाः**=धनुष् की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ। उनका उत्साह मन्द पड़ जाए। उनके अस्त्र कुण्ठित हो जाएँ।

भावार्थ—सेनापति का रथ आगे-ही-आगे बढ़नेवाला हो, उसका बल शत्रुओं का शोषण कर दे। सेनापति शत्रुओं का हनन करता हुआ प्रजाओं के उत्साह को बढ़ाए और शत्रुओं के अस्त्र कुण्ठित हो जाएँ।

ऋषिः—**सुदाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शक्वरी** ॥

राष्ट्र रक्षा के लिए रक्तधाराओं का बहाना

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम्। अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि
वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ ३॥

१. **अहिम्**=(आहन्ति) चारों ओर मारकाट करनेवाले शत्रु को **त्वम्**=तू **अहन्**=नष्ट करता है और **अधराचः**=नीचे की ओर बहनेवाली **सिन्धूम्**=रक्तनदियों को तू **अवासृजः**=उत्पन्न कर देता है। इसप्रकार शत्रुओं को समाप्त करके हे **इन्द्र**=सेनापते! तू **अशत्रुः जज्ञिषे**=शत्रुरहित हो

जाता है, तेरी शक्ति के कारण कोई भी तेरा विरोधी नहीं रहता। २. इसप्रकार शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करके तू **विश्वं वार्यम्**=सब वरणीय वस्तुओं का **पुष्यसि**=पोषण करता है। **तं त्वा**=उस तुझको हम **परिष्वजामहे**=आलिंगित करते हैं, अर्थात् तेरा उचित अभिनन्दन करते हैं। तेरे बल के सामने **अन्यकेषाम्**=कुत्सित वृत्तिवाले इन शत्रुओं की **ज्याकाः**=डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—घात-पात करनेवाले शत्रुओं को मारकर सेनापति रक्तधाराएँ बहा दे। राष्ट्रोत्थान का यही तो मार्ग है—बाह्य शत्रुओं का भय न होना तथा वरणीय तत्त्वों का वर्धन।

ऋषिः—सुदाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—शक्वरी ॥

वज्र व धन की चोट से

वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः।
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते
रातिर्ददिर्वसु नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ ४॥

१. **विश्वाः**=सब **अरातयः**=न देने की वृत्तिवाले—कृपण **अर्यः**=शत्रु **सु**=अच्छी प्रकार **विनशन्त**=विनष्ट हो जाएँ। **नः**=हमें **धियः**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्म **नशन्त**=प्राप्त हों। शत्रुभय के न होने पर हम सब कार्यों को स्वस्थ मस्ष्कि से करनेवाले हों। २. हे **इन्द्र**=सेनापते! **यः**=जो **नः**=हमें **जिघांसति**=मारना चाहता है, उस **शत्रवे**=शत्रु के लिए तू **वधम्**=वज्र को **अस्तासि**=फेंकनेवाला है और समय-समय पर **या**=जो **ते**=तेरी **रातिः**=दानशीलता है, उसे भी तू शत्रु के लिए फेंकनेवाला होता है, अर्थात् धन देकर भी तू शत्रुओं पर विजय पाने का प्रयत्न करता है। कई बार जो कार्य तोपों के गोलों की मार से नहीं होता, वह सोने के एक भार से हो जाता है, इसलिए आवश्यकता होने पर तू **वसुददिः**=धन देनेवाला होता है। इसप्रकार **अन्यकेषां ज्याकाः**=शत्रुओं के धनुषों की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**= नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—शत्रु भय के अभावों में हमारे सब कार्य बुद्धिपूर्वक हों। सेनापति शस्त्रों से व धनों से शत्रुविजय के लिए यत्नशील हो।

शत्रुभयरहित राष्ट्र के शान्त वातावरण में बुद्धिपूर्वक कार्यों को करता हुआ यह व्यक्ति अपनी न्यूनताओं को दूर करता है और अपना पूरण करता है, अतः 'पूरणः' नामवाला हो जाता है। यही अगले सूक्त के प्रथम पाँच मन्त्रों का ऋषि है। 'पूरण' का साधन सोम-रक्षण ही है—

९६. [षण्णवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—पूरणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'मुख्य कर्त्तव्य' (सोम-रक्षण)

तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च।
इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन्तुभ्यमिमे सुतासः॥ १॥

१. **तीव्रस्य**=शत्रुओं के लिए तीव्र=रोगकृमिरूप शत्रुओं को तीव्रता से विनष्ट करनेवाले **अभिवयसः**=(अभिगतं वयो येन), जिसके द्वारा उत्कृष्ट जीवनवाला होता है, **अस्य** (सोमस्य)= इस सोम का **पाहि**=तू अपने में रक्षण कर। सोम को तू शरीर में ही सुरक्षित रख। यह तुझे रोगों से मुक्त करेगा और दीर्घजीवन प्राप्त कराएगा। २. **इह**=इस जीवन में **सर्वरथाः** (सर्वः रथः

याभ्याम्)=जिनके द्वारा यह शरीर-रथ पूर्ण बनता है, उन **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **विमुञ्च**=विषय-वासनारूप घास के चरते रहने से पृथक् कर। तेरी इन्द्रियाँ विषयों में ही लिप्त न रह जाएँ—इन्हें तू विषयमुक्त करके शरीर-रथ को आगे ले-चलनेवाला बन। ३. हे **इन्द्र**= जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा**=तुझे **अन्ये यजमानासः**=अन्य विविध कामनाओं से यज्ञों में व्यापृत लोग **मा निरीरमन्**=मत आनन्दित करें, अर्थात् तू भी उनकी तरह सकाम होकर इन यज्ञ-याग आदि में ही न उलझा रह जाए। **तुभ्यम्**=तेरे लिए तो **इमे**=ये सोम **सुतासः**=उत्पन्न किये गये हैं। तेरा मुख्य कार्य इनका रक्षण है। इनके रक्षण से ही सब प्रकार की उन्नति होगी।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों से मुक्त करके, सोम-रक्षण को ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझें।

ऋषिः—पूरणः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

वेदवाणियों की पुकार

तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति।
इन्द्रेदमद्य सवनं जुषाणो विश्वस्य विद्वाँ इह पाहि सोमम्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तुभ्यं सुताः**=तेरे लिए इन सोमों का उत्पादन हुआ है, **उ**=और **तुभ्यम्**=तेरे लिए ही **सोत्वासः**=उत्पन्न किये जाएँगे। ये **श्वात्र्याः** (शु अतन्ति)=शीघ्रता से गतिवाली, अर्थात् कर्मों में प्रेरित करनेवाली **गिरः**=वेदवाणियाँ **त्वाम् आह्वयन्ति**=तुझे पुकारती है। तूने इनका अध्ययन करना है और इनमें निर्दिष्ट कर्मों में प्रवृत्त होना है। २. हे जितेन्द्रिय पुरुष! **अद्य**=आज **इदं सवनम्**=इस जीवन-यज्ञ को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **विश्वस्य विद्वान्**=अपने सब कर्त्तव्यकर्मों को जानता हुआ **सोमम्**=सोम (वीर्य) को **इह**=इस शरीर में **पाहि**=सुरक्षित कर। इस सोम-रक्षण से ही तू सब कर्त्तव्यकर्मों को पूर्ण कर पाएगा। सोम-रक्षण ही तुझे तीव्र बुद्धि बनाकर वेद (ज्ञान) को समझने के योग्य बनाएगा।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। वेदवाणी को पढ़ें। वेदवाणी को समझते हुए हम तदुपदिष्ट कर्त्तव्यकर्मों का पालन करें।

ऋषिः—पूरणः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'प्रशस्त चारु' जीवन

य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति।
न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति॥ ३॥

१. **यः**=जो **उशता मनसा**=कामयमान मन से—चाहते हुए मन से **सर्वहृदा**=पूरे दिल से **देवकामः**=उस महान् देव प्रभु की कामनावाला होता हुआ **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमं सुनोति**=अपने में सोम को उत्पन्न करता है। **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **तस्य**=उसकी **गाः**=इन्द्रियरूप गौओं को **न पराददाति**=कभी उससे दूर नहीं करता। इन्हें विषयों का नहीं होने देता। एवं, सोम-रक्षण का प्रथम परिणाम यही होता है कि मनुष्य प्रभु-प्रवण बनता है—उसकी इन्द्रियाँ विषयों से व्यावृत्त रहकर ठीक बनी रहती है। २. इसप्रकार वे प्रभु **अस्मै**=इस सोम-रक्षण करनेवाले के लिए **इत्**=निश्चय से **प्रशस्तम्**=प्रशस्त व **चारुम्**=सुन्दर जीवन को **कृणोति**=करते हैं। इसका जीवन प्रशस्त व सुन्दर बनता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण के द्वारा हम इन्द्रियों को सशक्त बनाएँ। प्रभु-प्रवण बनकर जीवन को प्रशंसनीय व सुन्दर बना सकें।

ऋषिः—पूरणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

विलास का दुष्परिणाम

अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान्न सुनोति सोमम्।
निररत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ॥ ४ ॥

१. **यः**=जो **रेवान्**=धनवान् होता हुआ **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमं न सुनोति**=सोम का अभिषव नहीं करता—विलासमय जीवन बिताता हुआ जो सोम का नाश करता है, **एषः**=यह व्यक्ति **अस्य**=इस प्रभु की **अनुस्पष्टः भवति**=दृष्टि में स्थापित होता है (स्पश् to see)। प्रभु की इसपर दृष्टि होती है, उसी प्रकार जैसेकि एक अशुभ आचरणवाला व्यक्ति राजपुरुषों की दृष्टि में होता है। २. यदि यह एकदम विलासमय जीवनवाला हो जाता है तो **तम्**=उस विलासी धनी पुरुष को **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **अरत्नौ**=मुट्ठी में **निः दधाति**=निश्चय से धारण करता है, अर्थात् उसे कैद में डाल देता है और भी अधिक विलास के बढ़ने पर इस **ब्रह्मद्विषः**=वेद के शत्रुओं को—ज्ञान से विपरीत मार्ग पर चलनेवालों को वे प्रभु **हन्ति**=विनष्ट कर देते हैं। **अनानुदिष्टः**=ये प्रभु कभी अनुदिष्ट नहीं होते। प्रभु तक कोई सिफ़ारिश नहीं पहुँचाई जा सकती।

भावार्थ—विलासी पुरुष प्रभु से 'अनुस्पष्ट, धृत व दण्डित' होता है। हम विलास के मार्ग पर न चलकर तप के ही मार्ग पर चलें।

ऋषिः—पूरणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

तपस्वी जीवन

अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वोपगन्तवा उ।
आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम ॥ ५ ॥

१. **अश्वायन्तः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों की कामना करते हुए, **गव्यन्तः**=ज्ञानेन्द्रियों को प्रशस्त बनाते हुए, **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए हम **उपगन्तवा उ**=हे प्रभो! आपके समीप प्राप्त होने के लिए **त्वा हवामहे**=आपको पुकारते हैं। प्रभु की आराधना से ही हम जीवन में विलास से बचकर उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, उत्तम कर्मेन्द्रियों व शक्ति को प्राप्त करते हैं। २. हे प्रभो! इसप्रकार **ते**=आपकी **नवायाम्**=अतिशयेन स्तुत्य **सुमतौ**=कल्याणी मति में **आभूषन्तः**=सदा वर्तमान होते हुए **वयम्**=हम, हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **शुनम्**=आनन्दस्वरूप **त्वा**=आपको **हुवेम**=पुकारते हैं। आपकी आराधना ही तो हमें कल्याणी मति प्राप्त कराएगी।

भावार्थ—उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व शक्ति का सम्पादन करते हुए हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु का उपासन हमें शुभ बुद्धि को प्राप्त कराता है।

यह उत्तम बुद्धिवाला तपस्वी जीवन को, नकि विलासी जीवन को बिताता हुआ पूर्ण नीरोग बनता है। सब रोगों को नष्ट करता हुआ 'यक्ष्मनाशनम्' होता है।

ऋषिः—पूरणः, ब्रह्मा च, भृग्वङ्गिराश्च ॥ देवता—यक्ष्मनाशनम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अग्निहोत्र से रोगमुक्ति

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ ६ ॥

१. **त्वा**=तुझे **हविषा**=हवि के द्वारा—अग्निकुण्ड में डाली गई आहुतियों के द्वारा—**अज्ञातयक्ष्मात्**=अज्ञात रोगों से **उत**=और **राजयक्ष्मात्**=क्षयरोग से **मुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ। **जीवनाय**=

जिससे तू उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त कर सके तथा तेरा जीवन **कम्**=सुखमय हो। २. अथवा **यदि**=यदि **एनम्**=इसको **एतत्** (एतस्मिन् काले सा०) अब **ग्राहिः**=अंगों को पकड़-सा लेनेवाला वातरोग **जग्राह**=जकड़ लेता है, तो **एनम्**=इसको **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि **तस्याः**=उस ग्राहि नामक रोग से **प्रमुमुक्तम्**=मुक्त करें। अग्निहोत्र में दीप्त होता हुआ अग्नि हविर्द्रव्यों को सूक्ष्मकणों में विभक्त करके सूर्यलोक तक पहुँचाता है 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'। सूर्य (इन्द्र) जलों को वाष्पीभूत करके इन सूक्ष्मकणों के चारों ओर प्राप्त कराता है। इसप्रकार वृष्टि के बिन्दु इन हविर्द्रव्यों को केन्द्रों में लिये हुए होते हैं। उनके वर्षण से उत्पन्न अन्न-कण भी उन्हीं हविर्द्रव्यों के गुणों से युक्त हुए-हुए रोगों के निवारक बनते हैं। इसप्रकार इन्द्र और अग्नि हमें रोगमुक्त करके दीर्घजीवन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—अग्निहोत्र में डाले गये हविर्द्रव्यों से हम रोगमुक्त हो पाते हैं। सब अज्ञातरोग—राजयक्ष्मा व ग्राहि नामक रोग सूर्य व अग्नि के द्वारा दूर किये जाते हैं।

ऋषिः—पूरणः, ब्रह्मा च, भृग्वङ्गिराश्च॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्॥** छन्दः—**त्रिष्टुप्॥**

निर्ऋति की गोद से बाहर

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय॥ ७॥

१. **यदि**=यदि **क्षितायुः**=यह रुग्ण पुरुष क्षीण आयुष्यवाला हो गया है। **यदि वा**=अथवा **परा इतः**=रोग में बहुत दूर पहुँच गया है। **यदि**=यदि **मृत्योः अन्तिकम्**=मृत्यु के समीप **नीतः एव**=पहुँच ही गया है तो भी **तम्**=उसको **निर्ऋतेः**=दुर्गति की **उपस्थात्**=गोद से **आहरामि**=छीन लाता हूँ। २. इसप्रकार **एनम्**=इसे रोगमुक्त करके **शतशारदाय**=पूरे सौ वर्ष के जीवन के लिए **अस्पार्षम्**=(स्पृ बलप्रीणनयोः) बलयुक्त करता हूँ।

भावार्थ—अग्निहोत्र के द्वारा तीव्रतम रोगों से भी मुक्ति होकर दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—पूरणः, ब्रह्मा च, भृग्वङ्गिराश्च॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्॥** छन्दः—**त्रिष्टुप्॥**

सहस्राक्ष हवि

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्॥ ८॥

१. मैं **एनम्**=इस रुग्ण पुरुष को **हविषा**=हवि के द्वारा **आहार्षम्**=रोग से बाहर ले-आता हूँ, उस हवि के द्वारा जोकि **सहस्राक्षेण**=हज़ारों आँखोंवाली है—हज़ारों पुरुषों का ध्यान करती है। हज़ारों को ही रोगों से मुक्त करती है। **शतशारदेन**=यह हवि हमें शतवर्षपर्यन्त ले-चलती है। **शतायुषा**=इस हवि के द्वारा हमारा शतवर्ष का आयुष्य क्रियामय बना रहता है। (एति इति आयुः)। २. मैं इसको हवि के द्वारा रोग से बाहर लाता हूँ और इसप्रकार व्यवस्था करता हूँ कि **यथा**=जिससे **इमम्**=इस पुरुष को **इन्द्रः**=सूर्य **विश्वस्य**=सब **दुरितस्य**=दुर्गतियों के **पारम्**=पार **नयाति**=ले-जाता है। अग्नि और सूर्य मिलकर मनुष्य को सब रोगों से ऊपर उठा देते हैं।

भावार्थ—अग्निहोत्र में डाले गये हविर्द्रव्यों से हज़ारों पुरुषों का कल्याण होता है। ये उन्हें शतवर्ष का क्रियामय जीवन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—पूरणः, ब्रह्मा च, भृग्वङ्गिराश्च॥ देवता—यक्ष्मनाशनम्॥ छन्दः—शक्वरीगर्भाजगती॥

'इन्द्र, अग्नि, सविता तथा बृहस्पति'

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम्॥ ९॥

१. हे मनुष्य! तू **वर्धमानः**=सब शक्तियों की दृष्टि से वृद्धि प्राप्त करता हुआ **शतं शरदः जीव**=सौ शरद् ऋतुओं तक जीनेवाला हो। **शतं हेमन्तान्**=सौ हेमन्त ऋतुओं तक जी **उ**=और **शतं वसन्तान्**=सौ वसन्त ऋतुओं तक जीनेवाला बन। २. **इन्द्रः अग्निः**=सूर्य और अग्नि तथा **सविता बृहस्पतिः**=उत्पादक वीर्यशक्ति तथा उत्कृष्ट ज्ञान—ये सब **ते**=तेरे लिए **शतम्**=शतवर्ष का जीवन दें। मैं **एनम्**=इस रुग्ण पुरुष को **शतायुषा**=शत वर्षों का जीवन देनेवाली **हविषा**=हवि के द्वारा **आहार्षम्**=रोग से बाहर ले-जाता हूँ। 'सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहना, अग्निहोत्र द्वारा वायु-शुद्धि, उत्पादक शक्ति का शरीर में रक्षण तथा ज्ञान' ये सब दीर्घजीवन की प्राप्ति के साधन हैं।

भावार्थ—'इन्द्र, अग्नि, सविता तथा बृहस्पति' हमें दीर्घ जीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—पूरणः, ब्रह्मा च॥ देवता—यक्ष्मनाशनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

सर्वाङ्ग

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम्॥ १०॥

१. रोगी को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **त्वा आहार्षम्**=तुझे रोग से बाहर ले-आता हूँ और इसप्रकार **त्वा अविदम्**=तुझे प्राप्त करता हूँ। **पुनः आगाः**=तू फिर से हमें प्राप्त हो। **पुनः नवः**=फिर से नवजीवन प्राप्त करनेवाला बन। २. हे **सर्वाङ्ग**=सम्पूर्ण अंगोंवाले पुरुष! **ते**=तेरे लिए **सर्वं चक्षुः**=पूर्ण स्वस्थ दृष्टि, **च**=और **ते**=तेरे लिए **सर्वम् आयुः**=पूर्ण जीवन **अविदम्**=मैंने प्राप्त कराया है।

भावार्थ—हम नीरोग होकर ठीक दृष्टि को व स्वस्थ अधिकृत अंगों को प्राप्त करते हुए पूर्ण जीवन प्राप्त करें।

अग्निहोत्र के द्वारा रोगकृमियों का विनाश होकर हमें नीरोगता प्राप्त होती है। ये रोगकृमि अपने रमण के लिए हमारा क्षय करते हैं, अतः 'रक्षस्' कहलाते हैं। इनको नष्ट करनेवाला 'रक्षोहा' अगले छह मन्त्रों का ऋषि है—

ऋषिः—रक्षोहाः॥ देवता—गर्भदोषनाशनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

गर्भस्थ व योनिस्थ दोषों का निराकरण

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥ ११॥

१. **अग्निः**=यह ज्ञानाग्नि से दीप्त कुशल वैद्य **रक्षोहा**=रोगकृमियों का नाश करनेवाला है। यह **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **संविदानः**=खूब ज्ञानी बनता हुआ **इतः**=यहाँ से—तेरे शरीर से **बधताम्**=रोग को रोककर दूर करनेवाला हो। **यः अमीवा**=जो रोग **ते**=तेरे **गर्भम् आशये**=गर्भस्थान में निवास करता है, उस रोग को यह वैद्य दूर करे। २. **यः**=जो **दुर्णामा**=अशुभ नामवाला अर्शस्=(बवासीर) नामक रोग **ते**=तेरी **योनिम्**=रेतस् के आधानभूत स्थान को अपना आधार बनाता है, उसे भी

यह वैद्य दूर करे।

भावार्थ—कुशल वैद्य गर्भस्थान व योनि में होनेवाले दोषों को दूर करे।

ऋषिः—रक्षोहाः ॥ देवता—गर्भदोषनाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

क्रव्याद (क्रिमि) संहार

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥ १२ ॥

१. **यः**=जो **अमीवा**=रोग **ते**=तेरे **गर्भम्**=गर्भस्थान में **आशये**=निवास करता है और जो **दुर्णामा**=अशुभ नामवाला अर्शस् नामक रोग **योनिम्**=रेतस् के आधान स्थान में निवास करता है, **तम्**=उसको **अग्निः**=यह कुशल, ज्ञानी वैद्य **निः अनीनशत्**=बाहर करके नष्ट कर दे। २. यह ज्ञानी वैद्य **ब्रह्मणा सह**=ज्ञान के साथ, अर्थात् रोग को अच्छी प्रकार समझकर नष्ट करनेवाला हो। **क्रव्यादम्**=इस मांस खानेवाले (मांसानि शनम् सा०) क्रिमि को यह वैद्य नष्ट कर दे। इन क्रव्याद क्रिमियों के नाश से ही रोग का उन्मूलन होता है।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य मांस को खा जानेवाले क्रिमियों को नष्ट करके गर्भगत व योनिगत विकारों को नष्ट करता है।

ऋषिः—रक्षोहाः ॥ देवता—गर्भदोषनाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

गर्भाधान से जातकर्म तक

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १३ ॥

१. गर्भाधान काल में **पतयन्तम्**=गर्भ में जाते हुए **ते**=तेरे वीर्यांश को **यः**=जो **हन्ति**=नष्ट करता है, अब **निषत्स्नुम्**=गर्भ में निषण्ण होते हुए जीव को जो नष्ट करता है, **यः**=जो तीन-चार मास बाद **सरीसृपम्**=सर्पणशील उस गर्भस्थ बालक को नष्ट करता है, **तम्**=उस रोगकृमि को **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=हम नष्ट करते हैं। २. **यः**=जो रोग **ते**=तेरे **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए बालक को **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, उस रोग को भी हम नष्ट करते हैं।

भावार्थ—गर्भस्थ बालक के जीवन को प्रारम्भ से अन्त तक रोगों से बचाने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—रक्षोहाः ॥ देवता—गर्भदोषनाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पति-पत्नी के शरीर-दोषों का निराकरण

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये।
योनिं यो अन्तरारेढि तमितो नाशयामसि ॥ १४ ॥

१. हे नारि! **यः**=जो **ते**=तेरी **विहरति**=जाँघों में विहार करता है, **तम्**=उस रोगकृमि को हम **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=नष्ट करते हैं। २. जो भी रोग **दम्पती**=पति-पत्नी के **अन्तरा**=देह के मध्य में गुप्तरूप से रहता है, उसको भी नष्ट करते हैं। ३. और **यः**=जो तेरी **योनिम् अन्तः**=योनि में प्रविष्ट होकर **आरेढि**=आहित वीर्य को ही चाट जाता है, उस कृमि को भी हम विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—हम पति-पत्नी के शरीर-दोषों को दूर करते हैं, जिससे सन्तान नीरोग हों।

ऋषिः—रक्षोहाः ॥ देवता—गर्भदोषनाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

बालक की गर्भ-स्थिति में संयम का महत्त्व

यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥ १५॥

१. हे नारि! **यः**=जो **भ्राता**=भरण करनेवाल **पतिः भूत्वा**=पति बनकर **त्वा**=गर्भस्थ बालकवाली तुझे **निपद्यते**=भोग के लिए प्राप्त होता है अथवा **जारः**=तेरी शक्तियों को जीर्ण करनेवाला **भूत्वा**=होकर तुझे प्राप्त होता है और इसप्रकार **यः**=जो **ते**=तेरी **प्रजाम्**=गर्भस्थ सन्तति को **जिघांसति**=मारने की कामनावाला होता है, **तम्**=उसको हम **इतः**=यहाँ से **नाशायामसि**=दूर करते हैं, अर्थात् ऐसी व्यवस्था करते हैं कि तुझ गर्भिणि के साथ भोगवृत्ति से कोई भी बर्ताव करनेवाला न हो। २. गर्भिणि स्त्री के पति का यह कर्त्तव्य है कि बच्चे के गर्भस्थ होने के समय वह 'भ्राता' ही बना रहे। उस समय भोग द्वारा स्त्री की शक्तियों को जीर्ण करनेवाला 'जार' न बने।

भावार्थ—बालक के गर्भस्थ होने पर पति 'भ्राता' के समान वर्ते। उस समय पति के रूप में वर्तना 'जारवृत्ति' है।

ऋषिः—रक्षोहाः ॥ देवता—गर्भदोषनाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अचेतनावस्था में भोग का निषेध

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥ १६॥

१. **यः**=जो **त्वा**=तुझे **स्वप्नेन तमसा**=स्वप्नावस्था में ले-जानेवाले तमोगुणी पदार्थों के प्रयोग से **मोहयित्वा**=मूढ़ व अचेतन बनाकर **निपद्यते**=भोग के लिए प्राप्त होता है और इसप्रकार **यः**=जो **ते**=तेरी **प्रजाम्**=प्रजा को—गर्भस्थ सन्तान को **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, **तम्**=उसको **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=हम दूर करते हैं। २. गर्भिणी को अचेनावस्था में ले-जाकर भोगप्रवृत्त होना गर्भस्थ बालक के उन्माद या विनाश का कारण हो जाता है, अतः वह सर्वथा हेय है।

भावार्थ—पत्नी को अचेनावस्था में उपभुक्त करना गर्भस्थ बालक के लिए अत्यन्त घातक होता है।

शरीर के अंग-प्रत्यंग से दोषों का उद्बर्हण करनेवाला 'विवृहा' १७ से २३ तक मन्त्रों का ऋषि है। ज्ञानी होने से यह 'काश्यप' है—

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—यक्ष्मनाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शीर्षण्य दोष का निराकरण

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वया वि वृहामि ते॥ १७॥

१. हे रुग्ण पुरुष! मैं 'विवृहा काश्यप' **ते**=तेरी **अक्षीभ्याम्**=आँखों से **नासिकाभ्याम्**=नासिका-छिद्रों से, **कर्णाभ्याम्**=कानों से **छुबुकादधि**=ठोडी से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=उखाड़ फेंकता हूँ—इन अंगों से रोग का समूलोन्मूलन किये देता हूँ। २. **शीर्षण्यम्**=सिर में बैठे रोग को दूर करता हूँ। **मस्तिष्कात्**=शिर के अन्तःस्थित मांस विशेष से तथा **जिह्वायाः**=जिह्वा से **ते**=तेरे इस रोग को विनष्ट करता हूँ। इसप्रकार तेरे शिरोभाग को निर्दोष बनाता हूँ।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य सिर के सब रोगों का निराकरण करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दोषण्य दोष का निराकरण

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।

यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते॥ १८॥

१. हे व्याधिगृहीत पुरुष! मैं **ते**=तेरी **ग्रीवाभ्यः**=गले में विद्यमान नाड़ियों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=दूर करता हूँ। **उष्णिहाभ्यः**=ऊपर की ओर जानेवाली धमनियों से **कीकसाभ्यः**=अस्थियों से **अनूक्यात्**=अस्थिसंधियों से भी रोग को दूर करता हूँ। २. **दोषण्यम्**=भुजाओं में होनेवाले रोग को दूर करता हूँ और **अंसाभ्याम्**=कन्धों से तथा **बाहुभ्याम्**=भुजाओं के अधोभागरूप हाथों से **ते**=तेरे रोग को दूर करता हूँ।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य भुजाओं के सब रोगों को दूर कर देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

हृदयादि दोष-दूरीकरण

हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम्।

यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि॥ १९॥

१. हे रुग्ण पुरुष! **ते**=तेरे **हृदयात्**=हृदय-पुण्डरीक से, **परिक्लोम्नः**=हृदय-समीपस्थ फेफड़े से **हलीक्ष्णात्**=पित्ताशय से, **पार्श्वाभ्याम्**=दोनों कोखों से—पार्श्वावयवों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामसि**=पृथक् करते हैं। २. **ते**=तेरे **मतस्नाभ्याम्**=गुर्दों से **प्लीह्नः**=तिल्ली से और **यक्नः**=जिगर से रोग को दूर करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य हृदय आदि प्रदेशों से रोग को दूर करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**चतुष्पदाभुरिगुष्णिक्**॥

आन्त्र आदि से रोग का निराकरण

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि।

यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते॥ २०॥

१. **ते**=तेरी **आन्त्रेभ्यः**=आँतों से **गुदाभ्यः**=गुदा से—मलमूत्रप्रवहण मार्गों से **वनिष्ठोः**=स्थविरान्तों से (मलस्थान से—मलाधिष्ठान से) **उदरात् अधि**=सर्वाधारभूत जठर से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=पृथक् करता हूँ। २. **कुक्षिभ्याम्**=दक्षिण व उत्तर उदरभागों से (दाएँ-बाएँ पासे से) **प्लाशेः**=बहुछिद्र मलपात्र से (अन्दर की थैली से) और **नाभ्या**=नाभि से **ते**=तेरे रोग को निकाल फेंकता हूँ।

भावार्थ—आन्त्र आदि प्रदेशों से रोग-बीजों को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती**॥

'उरु' आदि प्रदेशों की नीरोगता

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।

यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते॥ २१॥

१. हे रोगार्त! **ते**=तेरी **ऊरुभ्याम्**=जाँघों से **अष्ठीवद्भ्याम्**=घुटनों से **पार्ष्णिभ्याम्**=पाँवों के अधरभाग, अर्थात् एड़ियों से और **प्रपदाभ्याम्**=पाँवों के अग्रभाग से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=पृथक्

करता हूँ। २. **भसद्यम्**=कटिभाग में होनेवाले रोग को दूर करता हूँ। **श्रोणिभ्याम्**=कटि के अधरभाग से रोग को दूर करता हूँ। इसीप्रकार **ते**=तेरे **भासदम्**=गुह्यप्रदेश में होनेवाले रोग को **भंससः**=(भस दीप्तौ) भासमान गुह्यस्थान से पृथक् करता हूँ।

भावार्थ—जाँघों आदि प्रदेशों में होनेवाले रोगों को नष्ट किया जाए।

सूचना—'भंससः' शब्द गुह्यप्रदेश की शुद्धता पर बल दे रहा है। इन प्रदेशों को शुद्ध रखना नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भानिचृदनुष्टुप्**॥

अस्थ्यादि दोष-विध्वंस

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते॥ २२॥

१. **ते**=तेरी **अस्थिभ्यः**=हड्डियों से **मज्जभ्यः**=मज्जा से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=दूर करता हूँ। **स्नावभ्यः**=सूक्ष्म सिराओं से तथा **धमनिभ्यः**=स्थूल सिराओं से तेरे रोग को दूर करता हूँ। २. **ते**=तेरे **पाणिभ्याम्**=हाथों से, **अंगुलिभ्यः**=अंगुलियों से तथा **नखेभ्यः**=नखों से रोग को दूर करता हूँ।

भावार्थ—अस्थि आदि में आ गये रोग को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

प्रत्यंग रोग-विनाश

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि॥ २३॥

१. हे रुग्ण! **ते**=तेरे **अङ्गे अङ्गे**=सब अवयवों में, **लोम्नि लोम्नि**=सब रोमकूपों में **पर्वणि पर्वणि**=सब पर्वों में—सन्धियों में होनेवाले **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामसि**=पृथक् करते हैं। २. **वयम्**=हम **ते**=तेरे **त्वचस्यम्**=त्वचा में होनेवाले **विष्वञ्चम्**=चक्षु आदि सब अवयवों में व्याप्त होनेवाले रोग को **कश्यपस्य**=ज्ञानी पुरुष के **वीबर्हेण**=रोगघातक प्रयोग से नष्ट करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य रोग के मूलकारण को समझकर अंग-प्रत्यंग से रोगों को विनष्ट करता है।

रोग-विनाश द्वारा सर्वाङ्ग स्वस्थ होकर यह 'प्रचेता' प्रकृष्ट ज्ञानी बनता है और पाप को अपने से दूर भगाता हुआ कहता है—

ऋषिः—**प्रचेता**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पाप-संकल्प को दूर भगाना

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर। परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥ २४॥

१. हे **मनसस्पते**=मन का पति बन जानेवाले पाप संकल्प! तू **अप इहि**=यहाँ से दूर भाग जा। **अपक्राम**=तेरा पादविक्षेप हमसे सुदूर प्रदेशों में ही हो। **परःचर**=तू दूर जंगलों में भटकनेवाला हो। २. **निर्ऋत्यै**=इस निर्ऋति—दुर्गति—दुराचार के लिए **परः**=हमसे दूर होकर **आचक्ष्व**=कथन कर, अर्थात् तू हमें पाप के लिए प्रेरित मत कर। **जीवतः मनः**=प्राणशक्ति को धारण करनेवाला मेरा मन **बहुधा**=बहुत बातों का धारण करनेवाला है। घर के कितने ही कार्यों—गौ आदि की सेवा व वेदवाणी के अध्ययन में मेरा मन व्यापृत है, अतः हे पाप-संकल्प! तू मुझसे दूर जा—

मुझे अवकाश नहीं कि तेरी बातों को सुनूँ।

भावार्थ—हम मन पर प्रभुत्व पा लेनेवाले पाप-संकल्प को दूर भगाएँ। धारणात्मक कार्यों में मन को लगाये रक्खें, जिससे इसमें पाप-संकल्प उत्पन्न ही न हों।

पाप-संकल्पों को पराजित करनेवाला यह वीर 'कलि' कहलाता है (कलि=A hew)। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

अथ नवमोऽनुवाकः

९७. [सप्तनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कलिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

स्तवन, सोम-रक्षण, प्रभु-प्राप्ति

वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
तस्मा उ अद्य समना सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते॥ १॥

१. **वयम्**=हम **एनम्**=इस **वज्रिणम्**=वज्रहस्त प्रभु को **इह**=इस जीवन में **इदा**=अब और **ह्यः**=भूतकाल में भी (गत दिवस में भी) **अपीपेम**=अप्यायित करते हैं। स्तोत्रों के द्वारा हम प्रभु की भावना को अपने अन्दर बढ़ाते हैं। २. **तस्मा उ**=उस प्रभु-प्राप्ति के लिए **अद्य**=आज **समना**=संग्राम के द्वारा—वासनाओं को संग्राम में पराजित करने के द्वारा **सुतं भरा**=सोम का सम्भरण करते हैं। वे प्रभु **नूनम्**=निश्चय से **श्रुते**=शास्त्रश्रवण होने पर **भूषत**=प्राप्त होते हैं (आभवतु=आगच्छतु)।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का स्तवन करें। स्तुति द्वारा वासनाओं को पराजित करके सोम का रक्षण करें। सोम-रक्षण द्वारा तीव्र बुद्धि होकर प्रभु-दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**कलिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

'वृक व उरामथि' के जीवन में परिवर्तन

वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति।
सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया॥ २॥

१. **वारणः**=सबके मार्गों को रोकनेवाला **वृकः चित्**=स्तेन (चोर) भी तथा **उरामथिः**=(उर to go) मार्ग में जानेवालों का हिंसक (Highway robber) डाकू भी **अस्य वयुनेषु**=इस प्रभु का प्रज्ञान होने पर, कहीं अकस्मात् सत्संग में प्रभु का उपदेश सुनने पर **आभूषति**=अनुकूल को प्राप्त करता है, अर्थात् प्रतिकूल कर्मों से निवृत्त हो जाता है। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सः**=वे आप **इमं नः**=इस हमारे **स्तोमम्**=स्तवन को **जुजुषाणः**=प्रीतिपूर्वक ग्रहण करते हुए **चित्रया धिया**=चेतना देनेवाली बुद्धि के साथ **प्र आगहि**=प्रकर्षेण प्राप्त होइए।

भावार्थ—प्रभु-विषयक उपदेश चोरों व डाकुओं के जीवन में भी परिवर्तन लानेवाला होता है। प्रभु हमारे स्तोम से प्रसन्न हों और हमारे लिए चेतनादायिनी बुद्धि दें।

ऋषिः—**कलिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य'

कदू न्व१स्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम्।
केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा॥ ३॥

१. **कत् उ नु**=कौन-सा निश्चय से **पौंस्यम्**=पौरुष का काम—वृत्र आदि का विनाशरूप

कर्म **अस्य इन्द्रस्य**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अकृतमस्ति**=न किया हुआ है? अर्थात् वृत्र-वध आदि सब पौरुष के काम प्रभु द्वारा ही तो किये जाते हैं। २. **केन उ नु श्रोमतेन**=और निश्चय से किस श्रवणीय पौरुष के कार्य से **न शुश्रवे**=वे प्रभु नहीं सुने जाते? **जनुषः परि**=जन्म से लेकर ही, अर्थात् जैसे ही प्रभु का हृदयों में कुछ प्रादुर्भाव होता है, तभी वे प्रभु **वृत्रहा**=वासना का विनाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—वासना-विनाश (वृत्र-वध) आदि सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभु ही हैं। वे प्रभु हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होते ही सब शत्रुओं का विनाश कर देते हैं।

प्रभु की उपासना के द्वारा वासना-विनाश से शान्ति को अपने साथ जोड़नेवाला 'शंयु' अगले सूक्त का ऋषि है—

९८. [अष्टनवतितमं सूक्तम्]

'प्रभु-आराधन' के लाभ

त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः॥ १॥

१. **कारवः**=कुशलता से कार्यों को करनेवाले स्तोता लोग **वाजस्य सातौ**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **त्वाम् इत् हि**=आपको ही **हवामहे**=पुकारते हैं। आप ही सब शक्तियों के देनेवाले हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **वृत्रेषु**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं के विनाश के निमित्त **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक **त्वाम्**=आपको पुकारते हैं तथा **अर्वतः**=अश्व-सम्बन्धिनी **काष्ठासु** (काष्ठा=race-cower)=पलायन भूमियों में **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्य **त्वाम्**=आपको पुकारते हैं। इन्द्रियाँ जब अपने मार्गों पर गति करती हैं तब वे प्रभु का स्मरण करते हैं, जिससे ये इन्द्रियाँ मार्गभ्रष्ट न हों।

भावार्थ—प्रभु का आराधन (क) हमें शक्ति देता है (ख) वासनाओं का विनाश करता है तथा (ग) इन्द्रियों को मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है।

ऋषिः—**कलिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

तेजस्विता की प्राप्ति

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः।
गामश्वं रथ्य ꣡मिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे॥ २॥

१. हे **चित्र**=चयनीय—पूजनीय **वज्रहस्त**=दुष्टों को दण्ड देने के लिए हाथ में वज्र लिये हुए **अद्रिवः**=शत्रुओं से न विदीर्ण किये जानेवाले प्रभो! **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमारे लिए **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षण के हेतु से **महः**=तेजस्विता **संकिर**=दीजिए। आपसे तेजस्विता प्राप्त करके हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले बनें। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **रथ्यम्**=शरीर-रथ में उत्तमता से कार्य करनेवाली **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों व **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियों को (संकिर) दीजिए और हे प्रभो! **सत्रा**=सदा **जिग्युषे**=जैसे एक विजयशील पुरुष के लिए इसी प्रकार हमें **वाजम्**=शक्ति दीजिए। एक इन्द्रियों को जीतनेवाला पुरुष जैसे शक्ति-सम्पन्न बनता है, उसी प्रकार हम भी शक्ति प्राप्त करें।

भावार्थ—स्तुति किये जाते हुए प्रभु हमारे लिए शक्ति दें। इस शक्ति के द्वारा ही तो हम शत्रुओं को जीत पाएँगे।

शत्रुओं को जीतकर यह पवित्र जीवनवाला पुरुष 'मेध्य'-पूर्ण पवित्र प्रभु की ओर चलता है, अतः इसका नाम 'मेध्यातिथि' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

९९. [नवनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

चारों आश्रमों में प्रभु-स्तवन

अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन्रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम्॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **पूर्वपीतये**=जीवन के पूर्वभाग में सोम-रक्षण के लिए **त्वा अभि**=आपका लक्ष्य करके ही **समस्वरन्**=स्तुति-शब्दों का ही उच्चारण करते हैं—आपका स्तवन ही वासनाओं के विनाश के द्वारा हमें सोम-रक्षण के योग्य बनाता है। २. **आयवः**=संसार के व्यवहारों में चलनेवाले गृहस्थ पुरुष भी **स्तोमेभिः**=स्तुति-समूहों के द्वारा आपको ही स्तुत करते हैं। आपका स्तवन ही उन्हें भोगविलास में फँसने से बचाकर आगे बढ़ानेवाला होता है। ३. गृहस्थ से ऊपर उठकर **समीचीनासः**=प्रभु के साथ मिलकर गति करनेवाले (सम् अञ्च) प्रभु-स्मरणपूर्वक सब कार्यों को करनेवाले **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त व्यक्ति आपके ही (समस्वरन्=) स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हैं और ४. अन्त में **रुद्राः**= (रुत् र) ज्ञानोपदेश करनेवाले ये परिव्राजक लोग भी **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम आपको ही **गृणन्त**=स्तुत करते हैं। आपका स्तवन ही उन्हें आसक्ति से ऊपर उठाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण ही ब्रह्मचारी को सोम-रक्षण के योग्य बनाता है। प्रभु-स्मरण से ही गृहस्थ भोगप्रसक्त नहीं होता। यह प्रभु-स्मरण ही वनस्थ को स्वाध्याय-प्रवृत्त करके दीप्त जीवनवाला बनाता है। यह स्मरण ही संन्यस्त को सब कमियों से दूर रहने में समर्थ करता है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

वृष्ण्यं शवः

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा॥ २॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **सुतस्य अस्य**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम के **विष्णवि मदे**=शरीर में व्याप्त मद (उल्लास) के होने पर **इत्**=ही **वृष्ण्यं शवः**=शक्ति का सेचन करनेवाले—अंग-प्रत्यंग को सशक्त बनानेवाले बल को **वावृधे**=अपने अन्दर बढ़ाता है। २. **आयवः**=गतिशील पुरुष **अस्य**=इस सोम की **तम्**=उस **महिमानम्**=महिमा को **पूर्वथा**=पहले की भाँति **अनुष्टुवन्ति**=स्तुत करते हैं। सोम का महत्त्व वेद में स्थान-स्थान पर उद्गीत हुआ है, सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ही उत्कृष्ट जीवन का आधार बनता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर के सब अंगों को सशक्त बनाता है। सोम की महिमा सदा वेदवाणियों से गाई जाती रही है।

यह सोमी पुरुष उन्नति-पथ पर चलता हुआ अन्य मनुष्यों के साथ मिलकर चलता है, अतः यह 'नृमेध' कहलाता है (मेध संगमे)। इसका जीवन स्वार्थमय नहीं होता। यह 'नृमेध' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१००. [शततमं सूक्तम्]

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

महान् कामनाएँ

अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा कामान्महः ससृज्महे। उदेव यन्त उदभिः ॥ १ ॥

१. हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा उपासनीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अधा हि**=अब निश्चय से **त्वा उप**=आपके समीप ही **महः कामान्**=इन महान् कामनाओं को **ससृज्महे**=अपने में उत्पन्न करवाते हैं। प्रभु की उपासना—उस महान् प्रभु का सम्पर्क हममें महान् ही कामनाओं को जन्म देता है। २. **इव**=जैसे **उदा यन्तः**=पानी में से जाते हुए पुरुष **उदभिः**=जलों से अपने को संसृष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—जैसे नदी से जानेवाले पुरुष जलों से संसृष्ट होते हैं, उसी प्रकार महान् प्रभु के सम्पर्कवाले पुरुष महान् कामनाओं से संसृष्ट हो पाते हैं। इनके अन्दर तुच्छ कामनाएँ उत्पन्न ही नहीं होतीं।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

स्तवन से प्रभु-प्रकाश की प्राप्ति

वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि। वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥ २ ॥

१. **न**=जैसे **यव्याभिः**=यवों के क्षेत्रों के उद्देश्य से **वाः**=जलों को **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। जलों के द्वारा ही यवों ने बढ़ना होता है। एवं, हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **यव्याभिः**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों को पृथक् करने के उद्देश्य से **ब्रह्माणि**=हमारी स्तुतिवाणियाँ **त्वा वर्धन्ति**=आपको बढ़ाती हैं। आपका स्तवन ही हमें बुराइयों से बचाता है। २. हे **अद्रिवः**=आदरणीय व वज्रहस्त प्रभो! **वावृध्वांसं चित्**=सब दृष्टिकोणों से बढ़े हुए भी आपको **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन हमारी स्तुति-वाणियाँ बढ़ती हैं। इन स्तुति-वाणियों के द्वारा ही हम आपके प्रकाश को अपने अन्दर अधिक और अधिक बढ़ा पाते हैं।

भावार्थ—स्तवन के द्वारा प्रभु के प्रकाश का अपने अन्दर वर्धन करते हुए हम बुराइयों को अपने जीवन से दूर करें।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

'इन्द्रवाहा-वचोयुजा'

युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे। इन्द्रवाहा वचोयुजा ॥ ३ ॥

१. **इषिरस्य**=उस सर्वप्रेरक—सबको गति देनेवाले प्रभु की **गाथया**=गुणगाथा के साथ **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **उरौ रथे**=इस विशाल शरीर-रथ में **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। उस शरीर-रथ में इन्हें जोतते हैं, जोकि **उरुयुगे**=विशाल युगवाला है। मन ही युग है। यह आत्मा व इन्द्रियों को जोड़नेवाला है। २. ये इन्द्रियाश्व **इन्द्रवाहा**=जितेन्द्रिय पुरुष को लक्ष्य की ओर वहन करनेवाले हैं—इस जितेन्द्रिय पुरुष को ये प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं। **वचोयुजा**=वे इन्द्रियाश्व वेदवाणी के अनुसार कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रेरक प्रभु का गुणगान करनेवाला व्यक्ति इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में वेदवाणी के निर्देश के अनुसार युक्त करके प्रभुरूप लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

यह प्रभुरूप लक्ष्य की ओर बढ़नेवाला व्यक्ति 'मेध्यातिथि' बनता है। प्रभु को प्राप्त करके पवित्र प्रभु (मेध्य) का अतिथि होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०१. [एकोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'दूत होता व विश्ववेदस्' अग्नि का वरण

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ १॥

१. उपासक कहता है कि हम तो **अग्निम्**=उस सब उन्नतियों के साधक प्रभु का ही **वृणीमहे**=वरण करते हैं। वे प्रभु **दूतम्** (दु उपतापे)=हम भक्तों को तपस्या की अग्नि में तपाकर परिपक्व जीवनवाला करते हैं। वह तपस्या की अग्नि ही हमारे जीवनों को शुद्ध बनाती है। २. **होतारम्**=वे प्रभु हमारे लिए उन्नति के साधनभूत सब पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। वे प्रभुही तो **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनों के स्वामी हैं। इन धनों के द्वारा **अस्य यज्ञस्य**=हमारे इस जीवन-यज्ञ के **सुक्रतुम्**=उत्तम कर्त्ता हैं। प्रभु-कृपा से ही हमारा जीवन-यज्ञ चलता है। प्रभु-कृपा के अभाव में यह जीवन यज्ञमय नहीं रहता।

भावार्थ—प्रभु 'अग्नि-दूत-होता व विश्ववेदस्' हैं। वे हमारे जीवन-यज्ञ के सुक्रतु हैं। हम प्रभु का ही वरण करते हैं। प्रभु-वरण से आवश्यक प्राकृतिक भोग तो प्राप्त हो ही जाते हैं साथ ही हम प्रकृति में फँसने से होनेवाली दुर्गति से बच जाते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'पुरु प्रिय' प्रभु का आह्वान

अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम्। हव्यवाहं पुरुप्रियम्॥ २॥

१. जो भी संसार में समझदारी से चलते हैं वे **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को और **अग्निम्**=उस प्रभु को ही **हवीमभिः**=आह्वान के साधनभूत मन्त्रों से **सदा**=हमेशा **हवन्त**=पुकारते हैं। प्राकृति का चुनाव करने से मनुष्य घाटे में ही रहता है। ठीक-ठीक बात तो यह है कि कुछ अपने ज्ञान को भी खो बैठता है। २. हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि प्रभु ही **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के पति—पालक व रक्षक हैं और जब प्रभु रक्षक हैं तब हमें भय किस बात का? वे प्रभु **हव्यवाहम्**=सब हव्य—पवित्र यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं, वे **पुरुप्रियम्**=पालक व पूरक हैं और अतएव प्रिय हैं। प्रभु को प्राप्त करने पर उपासक को एक ऐसा अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होता है कि और सब-कुछ उसे हेय-सा प्रतीत होता है।

भावार्थ—प्रभु 'विश्पति, हव्यवाह व पुरुप्रिय' हैं। हम उस अग्नि नामक प्रभु को पुकारते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

देवों का आह्वान

अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे। असि होता न ईड्यः॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=हमारी सम्पूर्ण अग्रगति के साधक प्रभो! **इह**=इस जीवन में **वृक्तबर्हिषे**=जिसने अपने हृदय को वासनाओं से वर्जित (वृक्त) किया है, उस पवित्र हृदय पुरुष के लिए **देवान्**=सब दिव्यगुणों को **आवह**=प्राप्त कराइए। हे प्रभो! **जज्ञानः**=प्रादुर्भूत होते हुए आप हमारे जीवनों में दिव्यगुणों को उत्पन्न करते ही हैं। 'महादेव' के आने पर क्या 'देव' न आएँगे। २. हे प्रभो! आप ही **होता**=सब दिव्यगुणों को पुकारनेवाले हैं अथवा सब अच्छाइयों को आप ही देनेवाले

असि=हैं, अतः आप ही **नः**=हमारे लिए **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं। आपका यह स्तवन हमारे सामने भी उन दिव्यगुणों की प्राप्तिरूप लक्ष्य को उपस्थित करता है।

भावार्थ—हे प्रभो! हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होते हुए आप सब दिव्यगुणों को प्रादुर्भूत करते हैं। आप ही हमारे लिए सब अच्छाइयों को प्राप्त कराते हैं। आप ही स्तुति के योग्य हैं।

यह प्रभु का स्तोता किसी के साथ द्वेष न करता हुआ सभी का मित्र बनता है। यह 'विश्वामित्र' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०२. [द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥

'ईडेन्य-नमस्य' प्रभु

ईडेन्यो नमस्य स्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा॥ १॥

१. ये प्रभु **ईडेन्यः**=स्तुति के योग्य, **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य हैं। **तमांसि तिरः**=सब अन्धकारों को तिरोभूत करनेवाले हैं और **दर्शतः**=दर्शनीय हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं तो हमारे अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं। ज्ञान के प्रकाश में हमें प्रभु का दर्शन होता है। २. ये **वृषा**=शक्तिशाली **अग्निः**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभु **समिध्यते**=स्तवन व नमन के द्वारा हृदयों में समिद्ध किये जाते हैं। प्रभु का दर्शन उन्हीं को होता है जोकि शक्ति का सम्पादन करें (वृषा) तथा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने का प्रयत्न करें (अग्नि)।

भावार्थ—स्तवन व नमन से प्रीणित प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं। प्रभु हमें उन्नति-पथ पर ले-चलते हैं और शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥

'हविष्मान्' उपासक

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईडते॥ २॥

१. **वृषा**=शक्तिशाली **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **उ**=ही **समिध्यते**=उपासकों से हृदयों में समिद्ध किये जाते हैं। वे प्रभु **अश्वः न**=अश्व के समान हैं। जैसे एक घोड़ा अपने सवार को लक्ष्यस्थान पर पहुँचाता है, उसी प्रकार प्रभु अपने उपासकों को लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हैं। **देववाहनः**=देवों से ये प्रभु धारण किये जाते हैं। देववृत्ति के पुरुष ही हृदयों में प्रभु का दर्शन करते हैं। २. **तम्**=उस प्रभु को **हविष्मन्तः**=प्रशस्त हविवाले पुरुष ही **ईडते**=पूजते हैं। प्रभु का पूजन हवि से ही होता है। (हविषा विधेम) दानपूर्वक अदन ही प्रभु-पूजन है। यही यज्ञों के द्वारा यज्ञरूप प्रभु का उपासन है।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु हमें शक्तिशाली व उन्नत बनाकर लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥

वृषणं, दीद्यतम्, बृहत्

वृषणं त्वा वयं वृषन्वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यतं बृहत्॥ ३॥

१. हे **वृषन्**=शक्तिशाली **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वृषणं त्वा**=शक्तिशाली आपको **वयम्**=हम **वृषणः**=शक्तिशाली बनते हुए **समिधीमहि**=अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम प्रभु-जैसे बनें। प्रभु 'वृषा' हैं—हम भी वृषा=शक्तिशाली बनें। २. वे प्रभु **दीद्यतम्**=देदीप्यमान हैं, **बृहत्**=महान् हैं। हम भी मस्तिष्क में ज्ञान-ज्योति से दीप्त बनने का

प्रयत्न करें तथा हृदयों में महान्—विशाल बनें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना करते हुए हम भी प्रभु की भाँति 'शक्तिशाली, ज्ञानी व विशाल हृदय' बनें।

ज्ञानदीप्तिवाला प्रभु का यह उपासक 'सुदीति' बनता है, अपने अन्दर शक्ति का खूब ही सेचन करता हुआ 'पुरुमीढ' होता है। ये 'सुदीति व पुरुमीढ' ही अगले सूक्त में प्रथम मन्त्र के ऋषि हैं। अत्यन्त तेजस्वी बननेवाला 'भर्ग' २-३ मन्त्र का ऋषि है—

१०३. [त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीढौ ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बृहती ॥

सुदीतये छर्दिः

अ॒ग्निमीळि॒ष्वाव॑से गाथा॑भिः शी॒रशो॑चिषम्।
अ॒ग्निं रा॒ये पु॑रुमीढ श्रु॒तं नरो॒ऽग्निं सु॑दी॒तये॑ छ॒र्दिः ॥ १ ॥

१. **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **गाथाभिः**=स्तुतिवाणियों के द्वारा **ईडिष्व**=उपासित कर। हे **पुरुमीढ**=अपने में शक्ति का खूब ही सेचन करनेवाले उपासक! तू **राये**=ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए **शीरशोचिषम्**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाली ज्ञानदीप्तिवाले **श्रुतम्**=उस प्रसिद्ध **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को उपासित कर। २. हे **नर**=मनुष्यो! **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु **सुदीतये**=उत्तम दीप्तिवाले नर के लिए—खूब ज्ञान प्राप्त करनेवाले मनुष्य के लिए **छर्दिः**=शरणस्थान व गृह हैं। इस सुदीति को प्रभु शरण देते हैं।

भावार्थ—हम स्तुतिवाणियों से प्रभु का अर्चन करें। प्रभु ही हमें ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही ज्ञानदीप्ति प्राप्त करनेवालों के लिए शरणस्थान होते हैं।

ऋषिः—भर्गः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बृहती ॥

अग्नियों के साथ 'अग्नि'

अग्न॒ आ या॑ह्य॒ग्निभि॒र्होता॑रं त्वा वृणीमहे।
आ त्वाम॑नक्तु॒ प्रय॑ता ह॒विष्म॑ती॒ यजि॑ष्ठं ब॒र्हिरा॒सदे॑ ॥ २ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **अग्निभिः**=उत्तम मातारूप दक्षिणाग्नि, उत्तम पितारूप गार्हपत्याग्नि तथा उत्तम आचार्यरूप आह्वनीय अग्नि के साथ **आयाहि**=हमें प्राप्त होइए। **होतारम्**=सब-कुछ देनेवाले **त्वा**=आपको **वृणीमहे**=हम वरते हैं। आपकी प्राप्ति से सब-कुछ प्राप्त हो ही जाता है। २. **यजिष्ठम्**=अतिशयेन पूजनीय **त्वाम्**=आपको **बर्हिः आसदे**=हृदयासन पर बिठाने के लिए **हविष्मती**=हवि से युक्त यह **प्रयता**=पवित्र वेदवाणी **अनक्तु**=हमारे जीवनों में प्राप्त कराए। यज्ञ व ज्ञान हमें प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—उत्तम माता-पिता व आचार्य को प्राप्त करके, ज्ञान को प्राप्त करते हुए, हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं। यज्ञों से युक्त पवित्र वेदवाणी हमें प्रभु की समीपता में प्राप्त कराती है।

ऋषिः—भर्गः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—सतोबृहती ॥

'ऊर्जोन पातं-घृतकेशम्' ईमहे

अच्छा॒ हि त्वा॑ सहसः सूनो अङ्गिरः॒ स्रुच॒श्चर॑न्त्यध्व॒रे।
ऊ॒र्जो नपा॑तं घृ॒तके॑शमीमहे॒ऽग्निं य॒ज्ञेषु॑ पू॒र्व्यम् ॥ ३ ॥

१. हे **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज प्रभो! हे **अंगिरः**=सर्वत्र गतिवाले प्रभो! इस **अध्वरे**=जीवन-

यज्ञ में **स्त्रुचः**=(वाग वै स्त्रुक् श० ६.३.१.८) ज्ञान की वाणियाँ **हि**=निश्चय से **त्वा अच्छा**=आप की ओर **चरन्ति**=गतिवाली हैं। ये ज्ञान की वाणियाँ हमें आपके समीप प्राप्त कराती हैं। २. हम **यज्ञेषु**=यज्ञों में उस प्रभु को **ईमहे**=आराधित करते हैं—स्तुत करते हैं, जो **ऊर्जः नपातम्**=शक्ति को न गिरने देनेवाले हैं, **घृतकेशम्**=दीप्त ज्ञान की रश्मियोंवाले हैं। **अग्निम्**=अग्रणी हैं और **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हैं।

भावार्थ—इस जीवन-यज्ञ में हम ज्ञान प्राप्त करते हुए प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें शक्ति प्राप्त कराएँगे और ज्ञानदीप्ति देंगे।

पवित्र प्रभु का अतिथि बननेवाला 'मेध्यातिथि' अगले सूक्त के १-२ मन्त्रों का ऋषि है तथा 'नृमेध' (सबके साथ मिलकर चलनेवाला) ३-४ का।

१०४. [चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+ समा-सतोबृहती)** ॥

पावकवर्णाः शुचयः विपश्चितः

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत॥ १॥

१. हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक वसुओं-(धनों)-वाले प्रभो! **इमाः याः मम गिरः**=ये जो मेरी वाणियाँ हैं, वे **उ**=निश्चय से **त्वा वर्धन्तु**=आपका वर्धन करनेवाली हों। हम सदा आपका ही स्तवन करें। २. **पावकवर्णाः**=अग्नि के समान वर्णवाले—तेजस्वी **शुचयः**=पवित्र मनोंवाले, **विपश्चितः**=ज्ञानी पुरुष ही **स्तोमैः**=स्तुतियों के द्वारा आपका **अभि अनूषत**=प्रातः-सायं (दिन के दोनों ओर) स्तवन करते हैं। वस्तुतः आपके स्तवन से ही वे 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' बनते हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमें शरीरों में अग्नि के समान तेजस्वी, मनों में पवित्र व मस्तिष्क में ज्ञानोज्ज्वल बनाएगा।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+ समा-सतोबृहती)** ॥

यज्ञेषु-विप्रराज्ये

अयं सहस्त्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्रइव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥ २॥

१. **अयम्**=ये प्रभु **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों से **सहस्त्रम्**=आनन्दपूर्वक **सहस्कृतः**=अपना बल बनाया जाता है, अर्थात् ऋषि लोग प्रभु को हृदयों में धारण करते हुए प्रभु के बल से अपने को बल-सम्पन्न बनाते हैं। ये प्रभु **समुद्रः इव**=समुद्र के समान **पप्रथे**=विस्तृत हैं। समुद्र अनन्त-सा प्रतीत होता है—प्रभु हैं ही अनन्त। २. **सः**=वह **अस्य**=इसकी **महिमा**=महिमा **सत्यः**=सत्य है कि **यज्ञेषु**=यज्ञों और **विप्रराज्ये**=ज्ञानियों के राज्य में **शवः गृणे**=इस प्रभु के बल का स्तवन होता है। वे प्रभु स्तुत्य बलवाले हैं। प्रभु का यह बल यज्ञों व ज्ञानयज्ञों का रक्षण करता है।

भावार्थ—ऋषि प्रभु को ही अपना बल बनाते हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं। प्रभु के बल का सर्वत्र यज्ञों में व ज्ञानयज्ञों में स्तवन होता है।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)॥

ब्रह्माणि सवनानि (उप)

आ नो विश्वासु हव्य इन्द्रः समत्सु भूषतु।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहा परमज्या ऋचीषमः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=वह शत्रुसंहारक प्रभु **विश्वासु समत्सु**=सब संग्रामों में **हव्यः**=पुकारने योग्य होते हैं। वे प्रभु **नः**=हमें **आभूषतु**=अलंकृत करनेवाले हों। प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करके ही हम शत्रुओं का संहार कर पाते हैं। २.वे प्रभु सदा **ब्रह्माणि**=ज्ञानपूर्वक की गई स्तुतिवाणियों के साथ तथा **सवनानि**=यज्ञों के **उप**=समीप प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रभु उसी व्यक्ति को प्राप्त होते हैं जो अपने जीवन को स्तुतिमय व यज्ञमय बनाता है। वे प्रभु **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करते हैं। **परमज्या**=(परमान् जिनाति) अत्यन्त प्रबल शत्रुओं को भी समाप्त करनेवाले हैं। **ऋचीषमः**(स्तुत्या समः)=स्तुतियों से अभिमुखीकरणीय होते हैं। जितना-जितना हम प्रभु-स्तवन करते हैं, उतना-उतना ही प्रभु के समीप होते हैं।

भावार्थ—सब संग्रामों में प्रभु ही हमें विजयी बनाते हैं। वे ही हमारे जीवनों को अलंकृत करते हैं। ज्ञान व यज्ञ के द्वारा हम प्रभु को समीपता से प्राप्त होते हैं। प्रभु ही हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)॥

राधसां प्रथमः दाता

त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत्।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः॥ ४॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **राधसाम्**=ऐश्वर्यों के **प्रथमः दाता असि**=सर्वमुख्य दाता हैं। आप **सत्यः असि**=सत्यस्वरूप हैं। **ईशानकृत्**=स्तोताओं को ऐश्वर्यों का ईशान बनानेवाले हैं। २. **तुविद्युम्नस्य**=महान् ज्ञानज्योतिवाले **शवसः पुत्रस्य**=बल के पुञ्ज—सर्वशक्तिमान् **महः**=महान् आपके **युज्या**=संगतिकरण योग्य, अर्थात् उत्तम धनों को **आवृणीमहे**=हम वरते हैं। हम प्रभु से देय धनों की ही कामना करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वमुख्य ऐश्वर्यों के दाता हैं। उस महान् ज्ञानज्योतिवाले, सर्वशक्तिमान् प्रभु के धनों का ही हम वरण करते हैं।

अगले सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि भी 'नृमेध' ही है। ४-५ का पुरुहन्मा=शत्रुओं का खूब ही विनाश करनेवाला—

१०५. [पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती)॥

अशस्तिहा-विश्वतूः

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रतूर्तिषु**=संग्रामों में **विश्वाः**=सब **स्पृधः**=स्पर्धाकारिणी शत्रुसेनाओं को **अभि असि**=अभिभूत करनेवाले हैं। २. आप **अशस्तिहा**=इन शत्रुओं से की जानेवाली हिंसाओं के हन्ता हैं। **जनिता**=इन शत्रुओं की हिंसा को पैदा करनेवाले

हैं। हमें शत्रुओं के हिंसन के योग्य बनाते हैं। हमें इनसे हिंसित नहीं होने देते। **विश्वतूः असि**=सब शत्रुओं का हिंसन करनेवाले आप ही हैं। **त्वम्**=आप ही **तरुष्यतः**=हिंसन करनेवालों को **तूर्य**=विनष्ट कीजिए।

भावार्थ—प्रभु ही संग्रामों में हमारे शत्रुओं का पराभव करते हैं। सब हिंसकों का हिंसन प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)** ॥

'वृत्र-विनाश से सब शत्रुओं को विनाश'

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आपके **तुरयन्तम् शुष्मम्**=शत्रुओं का संहार करनेवाले बल का **क्षोणी**=द्यावापृथिवी **अनु ईयतुः**=अनुगमन करते हैं, **नः**=जैसे **मातरा शिशुम्**=माता-पिता प्रेम-वश छोटे बच्चे के पीछे चलते हैं। प्रभु के बल से ही वस्तुतः सब अपने शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं। २. **ते मन्यवे**=आपके क्रोध के लिए **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रुसैन्य **श्नथयन्त**=श्नथित (हिंसित) व खिन्न हो जाते हैं। **यत्**=जब आप **वृत्रम्**=वृत्र को—ज्ञान के आवरणभूत 'काम' को **तूर्वसि**=विध्वस्त कर देते हैं। वृत्र का विनाश होने पर सब शत्रुसैन्य ढीले पड़ जाते हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण संसार प्रभु की शक्ति का ही अनुगमन करता है। प्रभु के मन्यु के सामने सब शत्रु शिथिल हो जाते हैं। प्रभु ही वृत्र का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

'तुग्र्यावृध' प्रभु

इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम्।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्र्यावृधम्॥ ३॥

१. **वः**=तुम्हारे **अजरम्**=जरा को दूर करनेवाले (न जरा यस्मात्) **प्रहेतारम्**=शत्रुओं को दूर प्रेरित करनेवाले, **अप्रहितम्**=किसी भी दूसरे से प्रेरित न किये जानेवाले, **आशुम्**=वेगवान्, **जेतारम्**=शत्रुओं को पराजित करनेवाले, **हेतारम्**=शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले प्रभु को **ऊती**=रक्षण के लिए **इतः**=ये द्यावापृथिवी प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रभु ही सबका रक्षण करते हैं। २. उस प्रभु को रक्षा के लिए सब प्राप्त होते हैं, जो **रथीतमम्**=हमारे शरीर-रथों के सर्वोत्तम संचालक हैं। **अतूर्तम्**=किसी से हिंसित होनेवाले नहीं तथा **तुग्र्यावृधम्**=शरीरस्थ रेतःकणरूप जलों का वर्धन करनेवाले हैं। वस्तुतः शत्रुओं का हिंसन करके शरीर में शक्तियों के वर्धन के द्वारा ही प्रभु हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण द्यावापृथिवी रक्षण के लिए प्रभु को ही प्राप्त होते हैं। प्रभु शत्रुओं का हिंसन करके हमारा रक्षण करते हैं। वे रेतःकणरूप जलों का हममें वर्धन करते हैं।

ऋषिः—**पुरुहन्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥

'ज्येष्ठ वृत्रहा' प्रभु

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे॥ ४॥

१. मैं उस प्रभु का **गृणे**=स्तवन करता हूँ **यः**=जोकि **चर्षणीनां राजा**=श्रमशील मनुष्यों के

जीवन को दीप्त बनानेवाला है। **रथेभिः याता**=शरीररूप रथों से प्राप्त होनेवाला है, अर्थात् शरीररूप उत्तम रथों को हमारे लिए देते हैं। **अध्रिगुः**=अधृतगमनवाला है—प्रभु को अपने कार्यों में कोई विहत नहीं कर पाता। २. ये प्रभु ही **विश्वासाम्**=सब **पृतनानाम्**=शत्रुसैन्यों के **तरुता**=तैर जानेवाले है। सब शत्रुओं से वे प्रभु हमें पार करनेवाले हैं। वे प्रभु **ज्येष्ठः**=प्रशस्यतम हैं **यः**=जो **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें उत्तम शरीर-रथ प्राप्त कराते हैं और हमारे जीवनों को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—**पुरुहन्मा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)**॥

वज्रः-सूर्यः

इन्द्र तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः॥ ५॥

१. हे **पुरुहन्मन्**=शत्रुओं का खूब ही हनन करनेवाले जीव! तू **तम्**=उस **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **शुम्भ**=अपने जीवन में अलंकृत कर। उस प्रभु को अलंकृत कर **यस्य**=जिसके **द्विता**=दोनों का विस्तार है—उस प्रभु की शक्ति भी अनन्त विस्तारवाली है और ज्ञान भी। प्रभु को धारण करने पर हम भी ज्ञान व शक्ति प्राप्त करेंगे। २. उस **विधर्तरि**=विशेषरूप से धारण करनेवाले प्रभु में **हस्ताय** (हननाय)=शत्रु-संहार के लिए **दर्शतः**=दर्शनीय **महः**=महान् **वज्रः**=वज्र **प्रतिधायि**=धारण किया जाता है **न**=(चार्थे) और **दिवेः**=प्रकाश के लिए **सूर्यः**=सूर्य धारण किया जाता है। 'वज्र' शत्रु-संहार की शक्ति का प्रतीक है और 'सूर्य' ज्ञान का।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में प्रभु का धारण करें। प्रभु शत्रुहनन के लिए वज्र का धारण करते हैं और प्रकाश के लिए सूर्य का। प्रभु का धारण हमें शक्ति व प्रकाश प्राप्त कराएगा।

ज्ञान के धारण करनेवाले हम 'गोषूक्ति' बनेंगे, अर्थात् हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम ही कथन करेंगी तथा शक्ति को धारण करनेवाले हम 'अश्वसूक्ति' होंगे। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं—

१०६. [षडुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥

शुष्म-क्रतु-वज्र-इन्द्रिय

तव त्यदिन्द्रियं बृहत्तव शुष्ममुत क्रतुम्। वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम्॥ १॥

१. हे उपासक! **तव**=तेरी **धिषणा**=यह स्तुति **त्यत्**=उस **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को **शिशाति**=तीक्ष्ण करती है **उत**=और यह स्तुति **तव**=तेरे **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को और **क्रतुम्**=प्रज्ञान को बढ़ाती है। २. 'इन्द्रियशक्ति, शत्रुशोषक बल व प्रज्ञान' का वर्धन करती हुई यह स्तुति **वरेण्यम्**=वरणीय—चाहने योग्य **वज्रम्**=क्रियाशीलता को बढ़ानेवाली होती है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हमारा जीवन 'शक्ति, ज्ञान व क्रियाशीलता' वाला होता है। यह स्तुति हमारी इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करती है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥

'द्युलोक, पृथिवी, समुद्र व पर्वतों' द्वारा प्रभु-स्तवन

तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः। त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **द्यौः**=यह द्युलोक **तव**=आपके **पौंस्यम्**=बल को **वर्धति**=बढ़ाता है। यह द्युलोक आपकी शक्ति की सूचना देता है। **पृथिवी**=यह पृथिवी भी **श्रवः**=आपके यश को बढ़ाती है। यह आपकी महिमा का स्तवन करती है। २. **आपः**=ये जल **पर्वतासः च**=और पर्वत **त्वाम् हिन्विरे**=आपको ही प्राप्त करते हैं। इन समुद्रस्थ अनन्त-से जलों को व गगनचुम्बी पर्वतशिखरों को देखकर आपकी महिमा का ही स्मरण होता है।

भावार्थ—यह 'आकाश, पृथिवी, समुद्र, जल व पर्वत' सभी प्रभु की महिमा का प्रकाश कर रहे हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥

सच्चे उपासक का जीवन

त्वां विष्णुर्बृहन्क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः। त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम्॥ ३॥

१. हे प्रभो! वास्तव में **त्वाम्**=आपका **गृणाति**=स्तवन वही करता है जोकि **विष्णुः**=व्यापक व उदारवृत्तिवाला बनता है, **बृहन्**=अपनी शक्तियों का वर्धन करता है, **क्षयः**=उत्तम निवास व गतिवाला बनता है 'क्षि निवासगत्योः' **मित्रः**=सबके प्रति स्नेहवाला होता है और **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला होता है। प्रभु का वास्तविक स्तवन तो यही है कि हम इसप्रकार के जीवनवाले बनें। २. हे प्रभो! **त्वाम्**=आपकी **अनु**=अनुकूलता करता हुआ यह **मारुतं शर्धः**=प्राणों का बल **मदति** (मादयति)=आनन्द का अनुभव कराता है। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति की एकाग्रता होकर प्रभु में प्रीति बढ़ती है, तब एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक 'विष्णु, बृहत्, क्षय, मित्र व वरुण' बनने का प्रयत्न करता है। यह प्राणसाधना करता हुआ, चित्तवृत्ति की एकाग्रता के द्वारा, प्रभु-प्राप्ति का आनन्द पाता है।

यह उपासक प्रभु का प्रिय 'वत्स' बनता है। यह अगले सूक्त में १-३ का ऋषि है। खूब ज्ञान के प्रकाशवाला 'बृहद् दिवः' कहलाता है। यह ४-१२ मन्त्रों तक का ऋषि है १३-१४ का ब्रह्मा और वासनाओं का पूर्ण संहार करनेवाला 'कुत्स' १५ वें मन्त्र का ऋषि है—

१०७. [सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—वत्सः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

प्रभु का विनम्र प्रिय शिष्य

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः। समुद्रायेव सिन्धवः॥ १॥

१. **अस्य मन्यवे**=इस प्रभु के ज्ञान के लिए **विश्वाः**=सब **विशः**=संसार में प्रवेश करनेवाली **कृष्टयः**=श्रमशील प्रजाएँ **सन्नमन्त**=इसप्रकार नतमस्तक होती हैं, **इव**=जिस प्रकार **समुद्राय**=समुद्र के लिए **सिन्धवः**=नदियाँ। २. नदियाँ निम्नमार्ग से जाती हुई समुद्र को प्राप्त करती हैं। इसी प्रकार प्रजाएँ नम्रता को धारण करती हुईं प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान को प्राप्त करती हैं। ज्ञान-प्राप्ति के लिए नम्रता ही तो मुख्य साधन है 'तद् विद्धि प्रणिपातेन'।

भावार्थ—हम नम्रता को धारण करते हुए प्रभु से दिये जानेवाले वेदज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—वत्सः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

ज्ञान+शक्ति=ओजस्विता

ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत्। इन्द्रश्चर्मेव रोदसी॥ २॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **चर्म इव**=चर्म की भाँति **यत्**=जब **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **समवर्तयत्**=ओढ़ (Wrap up) लेता है, अर्थात् मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक दोनों का धारण करता है, **तत्**=तब **अस्य ओजः**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का ओज (शक्ति) **तित्विषे**=चमक उठता है। २. ओजस्विता केवल शरीर की शक्ति से नहीं, अपितु मस्तिष्क का ज्ञान होने पर भी चमकती है। 'शरीर की शक्ति व मस्तिष्क का ज्ञान' दोनों के ही धारण की आवश्यकता है। ये दोनों सम्मिलितरूप से धारण किये जाने पर इस रूप में हमारे रक्षक होते हैं, जैसेकि एक ढाल (चर्म)। जैसे एक योद्धा ढाल के द्वारा अपने को शत्रु के प्रहार से बचाता है, इसप्रकार उपासक को 'शक्ति व ज्ञान' रोग व वासनारूप शत्रुओं से बचाते हैं।

भावार्थ—शरीर की शक्ति व मस्तिष्क का ज्ञान—दोनों को सम्मिलितरूप से धारण करने पर हम ओजस्वी बनते हैं। यह ओजस्विता ही हमारा रक्षण करनेवाली ढाल बनती है।

ऋषिः—वत्सः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'शतपर्व वृष्णि' वज्र

वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा। शिरो बिभेद वृष्णिना॥ ३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **दोधतः**=(दुध to kill) हमारा विनाश करनेवाले ज्ञान की आवरणभूत वासना के **शिरः**=सिर का **चित्**=निश्चय से **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **बिभेद**=विदारण कर देता है। क्रियाशीलता हमपर वासना का आक्रमण नहीं होने देती। २. यह क्रियाशीलतारूप वज्र **वृष्णिना**=बड़ा प्रबल है—हममें शक्ति का सेचन करनेवाला है तथा **शतपर्वणा**=शतवर्षपर्यन्त हमारा पूरण करनेवाला है। वस्तुतः क्रियाशीलता से ही शक्ति बनी रहती है और सौ वर्ष का पूर्ण जीवन प्राप्त होता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष क्रियाशील बना रहकर वासना का विनाश करनेवाला बनता है। इससे वह शक्ति-सम्पन्न व शतवर्षपर्यन्त जीवनवाला होता है।

ऋषिः—बृहद्दिवोऽथर्वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ज्येष्ठ ब्रह्म

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः॥ ४॥

१. **तत्**=वे ब्रह्म **इत्**=ही **भुवनेषु**=सब भुवनों में—सम्पूर्ण ब्राह्माण्ड में **ज्येष्ठं आस**=सर्वश्रेष्ठ हैं। **यतः**=जिस ब्रह्म से **उग्रः**=तेजस्वी **त्वेषनृम्णः**=दीप्त बलवाला यह आदित्य **जज्ञे**=उत्पन्न हुआ है। प्रभु इस द्युलोक में देदीप्यमान सूर्य को उदित करते हैं। इसी प्रकार हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान का सूर्य प्रभु के द्वारा उदित किया जाता है। २. यह सूर्य **जज्ञानः**=प्रादुर्भूत होता हुआ **सद्यः**=शीघ्र ही **शत्रून्**=शत्रुभूत अन्धकारों को **निरिणाति**=नष्ट करता है। मस्तिष्क में उदित होनेवाला ज्ञानसूर्य अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला होता है। अज्ञानान्धकार के नाश के द्वारा **विश्वे ऊमाः**=अपना रक्षण करनेवाले सब प्राणी **यम्**=जिसके **अनुमदन्ति**=पीछे उल्लास का अनुभव करते हैं। जितना-जितना प्रभु का उपासन करते हैं, उतना-उतना एक रस का अनुभव लेते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से ज्ञानसूर्य का उदय होता है—वासनान्धकार का विनाश होता है और प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'शक्ति-पुञ्ज' प्रभु

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु॥ ५॥

१. वे प्रभु **शवसा वावृधानः**=बल से खूब बढ़े हुए हैं। **भूरि ओजाः**=अतिशयित ओजवाले हैं। **शत्रुः**=हमारी वासनाओं का शातन करनेवाले हैं। **दासाय**=(दसु उपक्षये) हमारी शक्तियों को क्षीण करनेवाले काम, क्रोध के लिए **भियसं दधाति**=भय को धारण करते हैं। जहाँ भी महादेव के नाम का उच्चारण होता हो वहाँ कामदेव आने से भयभीत होते ही हैं। २. वे प्रभु **अवयनत्**=श्वास (प्राण) न लेनेवाले स्थावर पदार्थों को **च**=तथा **व्यनत्**=विशेषरूप से प्राणों को धारण करनेवाले जंगम प्राणियों को **सस्नि**=शुद्ध करनेवाले हैं। **ते**=आपके **मदेषु**=आनन्दों में **प्रभृता**=धारण किये हुए सब प्राणी **संनवन्त**=सम्यक् स्तवन करते हैं (नु स्तुतौ), अथवा आपकी ओर गतिवाले होते हैं (नव गतौ)।

भावार्थ—प्रभु अनन्त शक्तिवाले हैं। हमारे शत्रुओं को भयभीत करके हमसे दूर करते हैं। सबका शोधन करते हैं। उपासक प्रभु-प्राप्ति के आनन्द में निरन्तर प्रभु का स्तवन करते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु में जीवन का शोधन

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः॥ ६॥

१. **विश्वे**=सब उपासक **त्वे**=आपमें ही—आपकी उपासना में ही **क्रतुम्**=ज्ञानों, कर्मों व संकल्पों को **अपि पृञ्चन्ति**=संपृक्त करते हैं, (purify पवित्र करते हैं)। २. **एते**=ये **ऊमाः**=आपके सम्पर्क द्वारा अपने मलों का प्रक्षालण करके अपना रक्षण करनेवाले लोग **यत्**=जब **द्विः भवन्ति**=दो बार होते हैं, अर्थात् प्रातः-सायं आपके ध्यान में बैठते हैं, अथवा **त्रिः** (भवन्ति)=तीन बार (प्रातः, मध्याह्न व सायं) आपकी उपासना में स्थित होते हैं तो **स्वादोः स्वादीयः**=स्वादु से भी स्वादु, अर्थात् मधुरतम आप इस उपासक के जीवन को **स्वादुना सृजा**=माधुर्य से संसृष्ट करते हैं। ३. **अदः**=इस उपासक के **सुमधु**=उत्तम मधुर जीवन को **मधुना**=और अधिक माधुर्य से **अभियोधीः**=वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा संगत करते हैं। वासनाओं को विनष्ट करके इस उपासक के जीवन को आप अधिक मधुर बनाते हैं। ४. सायणाचार्य के अनुसार 'द्विः भवन्ति' का भाव यह है कि जब ये गृहस्थ बनकर एक से दो होते हैं, तथा 'त्रिः भवन्ति' का भाव यह है कि जब इन्हें सन्तान प्राप्त होते हैं और ये दो से तीन हो जाते हैं। इसप्रकार गृहस्थ बनकर ये आपके उपासक बने ही रहें और आप इनके गृहस्थ जीवन को मधुर-ही-मधुर बनाइए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के द्वारा हम अपने कर्मों व संकल्पों को पवित्र करें। दो बार व तीन बार प्रभु-चरणों में बैठने का नियम बनाये। प्रभु हमारे जीवनों को मधुर बनाएँगे।

सूचना—तीन बार प्रभु-चरणों में बैठने का भाव इस रूप में लेना चाहिए कि हम 'बाल्य, यौवन व वार्धक्य' रूप 'प्रातः, मध्याह्न व सायन्तन' सवन में प्रभु-चरणों में बैठनेवाले बनें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धन के साथ प्रभु-स्मरण

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्दुरेवासः कशोकाः॥ ७॥

१. **यदि चत् नु**=यदि निश्चय से अब **रणे रणे**=प्रत्येक संग्राम में **धना जयन्तं त्वा**=धनों का विजय करानेवाले आपको **विप्राः**=ये ज्ञानी पुरुष **अनुमदन्ति**=प्रतिदिन स्तुत करते हैं तो हे **शुष्मिन्**=शत्रु-शोषक बलोंवाले प्रभो! इन उपासकों में **ओजीयः**=ओजस्विता से पूर्ण **स्थिरम्**=स्थिर धन को **आतनुष्व**=विस्तृत कीजिए। वस्तुतः प्रभु-उपासना होने पर धन के विजय का अहंकार नहीं होता, विषयों की ओर झुकाव न होकर ओजस्विता बनी रहती है तथा धन का विषयों में विनाश भी नहीं हो जाता। २. हे प्रभो! इन धनों के कारण **दुरेवाः**=दुर्गमनवाले **कशोकाः**=विनाशक भाव (to destroy) अथवा अभिमान के प्रलाप (to serend) **त्वा मा दभन्**=आपके स्मरण को हमारे हृदयों से हिंसित न कर दें। हम धनों के गर्व में अभिमानयुक्त होकर घातपात की क्रियाओं में न लग जाएँ।

भावार्थ—हम धनों को प्रभु से प्राप्त कराया जाता हुआ जानें। ये धन हमारी ओजस्विता व चित्तवृत्ति की स्थिरता को नष्ट करनेवाले न हों। धनों के अहंकार में विषय-प्रवण होकर हम प्रभु को भूल ही न जाएँ।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु की उपासना के द्वारा शत्रु-विजय

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि॥ ८॥

१. हे प्रभो! **वयम्**=हम **रणेषु**=संग्रामों में **त्वया**=आपके साथ **प्रपश्यन्तः**=अच्छी प्रकार से देखते हुए—ज्ञान को प्राप्त करते हुए **युधेन्यानि**=युद्ध करने योग्य 'काम, क्रोध, लोभ' आदि आसुरभावों को **भूरि**=खूब ही **शाशद्महे**=नष्ट करनेवाले हों। हमारे अन्दर छिपकर रहनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को हम अवश्य विनष्ट करनेवाल हों। २. **ते**=आपसे दिये हुए **आयुधा**='इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप अस्त्रों को **वचोभिः**=आपके वेद में दिये गये वचनों (निर्देशों) के अनुसार **चोदयामि**=प्रेरित करता हूँ। **ते ब्रह्मणा**=आपके इस वेदज्ञान व स्तवन से **वयांसि**=मैं अपने 'बाल्य, यौवन व वार्धक्य' में विभक्त जीवनों को **संशिशामि**=तीव्र करता हूँ। मैं अपनी शक्ति व बुद्धि को तीव्र बनाता हूँ और इसप्रकार वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से मिलकर हम वासनारूप शत्रुओं को युद्ध में पराजित करें। इस युद्ध के लिए ज्ञान की वाणियों के द्वारा 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप अस्त्रों को तीव्र करें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अवर व पर' धन

नि तद्दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि॥ ९॥

१. हे प्रभो! **यस्मिन् दुरोणे**=जिस यज्ञशील पुरुष के इस शरीररूप गृह में **अवसा**

(protection, food, wealth) रक्षण के द्वारा, उत्तमं भोजन के द्वारा तथा न्याय्य धनों के द्वारा **आविथ**=आप रक्षण करते हो **तत्**=उस शरीरगृह को आप **अवरे**=निचले शक्तिरूप धन में **च**=तथा **परे**=उत्कृष्ट ज्ञान-धन में **निदधिषे**=निश्चय से स्थापित करते हो। यह बल-(क्षत्र)-रूप धन हमें रोगों से बचाता है और ज्ञान-(ब्रह्म)-रूप धन वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता। २. हे प्रभो! आपका हमें यही उपदेश है कि **जिगत्नुम्**=गतिशील बनानेवाली **मातरम्**=वेदमाता को **आस्थापयत**=अपने में स्थापित करो, **अतः**=इस वेदमाता के अपने में स्थापन से **भूरि**=खूब ही **कर्वराणि**=कर्मों को **इन्वत**=व्याप्त करो। वस्तुतः यह वेदमाता उसी प्रकार हमें कर्मों की प्रेरणा देती है जैसे एक माता अपने शिशु को।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराते हैं। प्रभु इस वेदमाता के द्वारा हमें कर्मों की प्रेरणा देते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु की उपासना से शत्रु-विनाश

स्तुष्व वर्ष्मन्पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम्।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः॥ १०॥

१. वेदमाता यह प्रेरणा देती है कि हे **वर्ष्मन्**=सुन्दर आकृतिवाले पुरुष! तू उस प्रभु का **संस्तुष्व**=सम्यक् स्तवन कर, जो **पुरुवर्त्मानम्**=पालक व पूरक मार्गोंवाले हैं—प्रभु की ओर ले-जानेवाले मार्ग कभी भी तुम्हारा विनाश नहीं करेंगे। **ऋभ्वाणम्**=(उरुभासमानम्) वे प्रभु खूब ही ज्ञान की दीप्तिवाले हैं। **इनतमम्**=सर्वमहान् स्वामी हैं। **आप्त्यानाम् आप्तम्**=विश्वसनियों में विश्वसनीय हैं। प्रभु का भरोसा करनेवाला कभी धोखा नहीं खाता। २. वे **भूर्योजाः**=अनन्त ओजस्वी प्रभु **शवसा**=बल के द्वारा **आदर्शति**=शत्रुओं को विदीर्ण करते हैं (दृ विदारणे)। **प्रसक्षति**=वे प्रभु ही शत्रुओं का पराभव करते हैं—इनका मर्षण व विनाश करते हैं। वे **पृथिव्याः प्रतिमानम्**=सम्पूर्ण पृथिवी के प्रतिमान हैं—(adversary) सारे संसार की शक्ति भी प्रभु को पराभूत नहीं कर सकती। प्रभु को धारण करने से तुम भी सारे शत्रुओं का पराभव कर सकोगे।

भावार्थ—वेदमाता की अपने शिशुओं को यही प्रेरणा है कि वे प्रभु का उपासन करें। प्रभु उनके शत्रुओं का विनाश करेंगे। प्रभु की उपासना होने पर सारा संसार भी हमारा पराजय न कर सकेगा।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्रियः-स्वर्षाः

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद्विश्वमर्णवत्तपस्वान्॥ ११॥

१. **बृहद् दिवः**=उत्कृष्ट ज्ञानधनवाला व्यक्ति **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **इमा ब्रह्म**=इन स्तोत्रों का **कृणवत्**=निर्माण व उच्चारण करता है। इस स्तवन से **अग्रियः**=जीवन-मार्ग में आगे बढ़नेवाला **स्वर्षाः**=प्रकाश को प्राप्त करनेवाला यह 'बृहद्दिव' **शूषम्**=शत्रुशोषक बल को (नि० २.९) व सुख को (नि० ३.६) **क्षयति**=प्राप्त होता है (क्षि गतौ) और **महः गोत्रस्य**=महनीय, तेजस्वी इन्द्रियसमूह का **क्षयति** (रक्षयति)=ईश्वर होता है। (क्षि to gover, to rule, to be master of) २. यह **स्वराजा**=अपना शासन करनेवाला व्यक्ति **चित्**=निश्चय से **तुरः**=सब

शत्रुओं का संयम करनेवाला होता है, परिणामतः **विश्वम् अर्णवत्**=इसका यह सारा ज्ञानेन्द्रियसमूह ज्ञानजलवाला होता है और यह **तपस्वान्**=अतिशयित ज्ञानदीप्तिवाला होता है (तप् दीप्तौ)।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करता हुआ ज्ञानी पुरुष जीवन-यात्रा में आगे बढ़ता है और प्रकाश व सुख प्राप्त करता है।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभुरूपता

एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्व१मिन्द्रमेव।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च॥ १२॥

१. **एवा**=इसप्रकार **महान्**=पूजा की वृत्तिवाला (मह पूजायाम्) **बृहद्दिवः**=उत्कृष्ट ज्ञान-धनवाला **अथर्वा**=न डाँवाडोल वृत्तिवाला पुरुष **स्वां तन्वम्**=अपने शरीर को **इन्द्रम् एव अवोचत्**=परमेश्वर ही कहता है। अन्तःस्थित प्रभु के कारण उसे प्रभु ही जानता है। शीशी में शहद हो तो शीशी की ओर संकेत करके यही तो कहा जाता है कि 'यह शहद है'। इसी प्रकार अन्तःस्थित प्रभु को देखता हुआ यह अपने शरीर की ओर निर्देश करता हुआ यही कहता है कि 'यह प्रभु ही है'। २. इसप्रकार से **स्वसारः**=उस आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले ज्ञानी पुरुष **मातरिभ्वरी**=सदा वेदवाणीरूप माता में होनेवाली, अर्थात् वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाली और अतएव **अरिप्रे**=निर्दोष **एने**=इन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के समूह को **हिन्वन्ति**=प्रवृद्ध शक्तिवाला करते हैं 'हि वृद्धौ' **च**=और **शवसा वर्धयन्ति**=बल से बढ़ाते हैं अथवा गतिशीलता से बढ़ाते हैं। इन इन्द्रियों को अपने-अपने कर्मों में व्याप्त करके इन्हें सशक्त बनाये रखते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष सदा अन्तःस्थित प्रभु का ध्यान करता है। आत्मतत्त्व की ओर चलता हुआ यह इन्द्रियों को सशक्त बनाये रखता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**॥

प्रभुरूप सूर्य का उदय

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान्प्रदिशः सूर्य उद्यन्।
दिवाकरोति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद्दुरितानि शुक्रः॥ १३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अन्तःस्थित प्रभु को देखने पर यह उपासक अनुभव करता है कि वे प्रभु ही **चित्रम्**=सब ज्ञानों के देनेवाले हैं। **देवानां केतुः**=सब देवों के प्रकाशक हैं (brightness)। सूर्य आदि सब प्रभु द्वारा ही प्रकाशित हो रहे हैं। **अनीकम्**=प्रभु ही बल हैं 'बलं बलवताञ्चाहं कामरागविवर्जितम्'। **ज्योतिष्मान्**=प्रकाशमय हैं। **उद्यन् सूर्यः**=उदय होते हुए—हृदय में प्रादुर्भूत होते हुए—सूर्यसम ज्योतिवाले वे प्रभु **प्रदिशः**=उपासक के लिए मार्ग का निर्देश करनेवाले हैं। २. ये उदय होते हुए प्रभुरूप सूर्य **द्युम्नैः**=ज्ञान-ज्योतियों से **तमांसि**=सब अन्धकारों को **दिवा करोति**=दिन के प्रकाश में परिवर्तित कर देते हैं। **शुक्रः**=(शुच्) वे देदीप्यमान प्रभु **विश्वा दुरितानि**=सब दुरितों को **अतारीत्**=तैर जाते हैं—विध्वस्त कर देते हैं। प्रभु के उदय होते ही सब पापों व अज्ञानों का अन्धकार विलीन हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु ही प्रकाश व बल के देनेवाले हैं। प्रभु के हृदय में उदय होते ही सब अशुभवृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'सर्वभूतान्तरात्मा' प्रभु

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ १४॥

१. ये प्रभु ही **चित्रम्**=सब ज्ञानों के देनेवाले हैं। सब **देवानम्**=देवों के **अनीकम्**=बल हैं—सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं। **उदगात्**=ये मेरे हृदय में उदित हुए हैं। ये प्रभु ही **मित्रस्य**=द्युलोकस्थ सूर्य के **वरुणस्य**=अन्तरिक्षस्थ रात्रि में चन्द्ररूप से दीप्त सूर्यकिरण के तथा **अग्नेः**=पृथिवीलोकस्थ **अग्नेः**=अग्नि के **चक्षुः**=प्रकाशक हैं। सब देवों को दीप्ति देनेवाले वे प्रभु हैं 'तेन देवाः देवतामनु आयन्'। २. ये प्रभु ही **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोकरूपी त्रिलोकी को **आप्रात्**=पूरण व व्याप्त कर रहे हैं। **सूर्यः**=(सुवति कर्मणि) सब लोक-लोकान्तरों व कर्मों को प्रभु ही क्रियाशील बना रहे हैं। सब पिण्डों में शक्ति की स्थापना प्रभु ही करते हैं। वस्तुतः प्रभु ही **जगतः तस्थुषः च**=जंगम व स्थावर जगत् के **आत्मा**=आत्मा हैं। सबके अन्दर ओत-प्रोत होकर सबको शक्ति-सम्पन्न व क्रियाशील बना रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान व बल के देनेवाले हैं। वे ही सूर्य, चन्द्र व अग्नि के प्रकाशक हैं। त्रिलोकी को व्याप्त किये हुए हैं। ब्रह्माण्डरूप शरीर की वे आत्मा हैं। सब प्राणियों के हृदयों में स्थित हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सूर्य व उषा का सच्चा पूजन

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्॥ १५॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **रोचमानाम्**=चमकती हुई **देवीम्**=प्रकाशमयी **उषसम्**=उषा के **पश्चात्**=पीछे **अभ्येति**=उसी प्रकार आता है **न**=जैसेकि **मर्यः**=मनुष्य **योषाम्**=पत्नी के पीछे आता है। उषा मानो पत्नी है, सूर्य उसका पति है। ये पति-पत्नी जब आते हैं तब हमें इनके स्वागत के लिए तैयार रहना चाहिए। इस समय लेटे रहना—या व्यर्थ की प्रवृत्तियों में लगना तो इनका निरादर ही है। २. यह समय वह होता है **यत्रा**=जिसमें कि **देवयन्तः नरः**=अपने को देव बनाने की कामनावाले पुरुष **युगानि**=द्वन्द्वरूप में होकर, अर्थात् पति-पत्नी मिलकर **भद्राय**=कल्याण व सुख-प्राप्ति के लिए **भद्रम्**=कल्याण व सुख के साधक यज्ञ को **प्रतिवितन्वते**=प्रतिदिन विस्तृत करते हैं। इन यज्ञों से (क) उनकी वृत्ति दिव्य बनती है (ख) उनका कल्याण होता है (ग) वे उषा व सूर्य का सच्चा पूजन कर पाते हैं। सूर्य के सामने हाथ जोड़ना सूर्य का पूजन नहीं है—सूर्योदय के समय यज्ञादि करना ही सूर्यपूजन है।

भावार्थ—उषा के पीछे आते हुए सूर्य का हमें स्वागत करना चाहिए—उस समय यज्ञादि कर्मों में हमें प्रवृत्त होना चाहिए।

यह यज्ञशील पुरुष सबके हित में प्रवृत्त हुआ-हुआ सबके साथ मिलकर चलता है, अतः इसका नाम 'नृमेध' हो जाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१०८. [अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

ओज+नृम्ण

त्वं न॑ इन्द्रा भ॑रँ ओजो॑ नृम्णं श॑तक्रतो विचर्षणे। आ वी॒रं पृ॑तना॒षह॑म्॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्—परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिए **ओजः**=बल को तथा **नृम्णम्**=धन को **आभर**=प्राप्त कराइए। २. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले **विचर्षणे**=सबके द्रष्टा प्रभो! आप हमें **पृतनाषहम्**=शत्रु-सेनाओं का अभिभव करनेवाले **वीरम्**=वीर सन्तान को **आ** (भर)=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु का उपासन करते हुए हम बल, धन व वीर सन्तान को प्राप्त करके सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—ककुबुष्णिक् ॥

सुम्नम्

त्वं हि नः॑ पि॒ता व॑सो॒ त्वं मा॒ता श॑तक्रतो ब॒भूवि॑थ। अधा॑ ते सु॒म्नमी॑महे॥ २ ॥

१. हे **वसो**=सबको अपने में बसानेवाले प्रभो! **त्वम् हि**=आप ही **नः पिता**=हमारे पिता हैं, हे **शतक्रतो**=अनन्त सामर्थ्य व प्रज्ञानवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही **माता बभूविथ**=माता हैं, २. अतः **अधा**=अब **ते**=आपसे ही हम **सुम्नम्**=सुख को **ईमहे**=माँगते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही हमारे पिता व माता हो। आपसे ही हम सब सुखों को माँगते हैं।

ऋषिः—नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पुरउष्णिक् ॥

सुवीर्यम्

त्वां शु॑ष्मिन्पुरुहूत वाज॒यन्त॒मुप॑ ब्रुवे शतक्रतो। स नो॑ रास्व सुवीर्य॑म्॥ ३ ॥

१. हे **शष्मिन्**=शत्रुओं के शोषक बल से सम्पन्न! **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्ति से सम्पन्न प्रभो! **वाजयन्तम्**=हमारे साथ बल का सम्पर्क करनेवाले **त्वाम्**=आपको ही **उपब्रुवे**=मैं समीपता से पुकारता हूँ। २. **सः**=उपासना किये गये वे आप **नः**=मारे लिए **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **रास्व**=दीजिए।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् प्रभु उपासक को भी शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं। प्रभु हमारे लिए भी सुवीर्य को प्राप्त कराएँ।

'ओज-नृम्ण-सुम्न व सुवीर्य' को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति प्रशस्त इन्द्रियोंवाला 'गोतम' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०९. [नवोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

'स्वादु विषूवान्' मधु का पान

स्वा॒दोरि॒त्था वि॑षू॒वतो॒ मध्वः॑ पिबन्ति गौ॒र्य॑ः।
या इन्द्रे॑ण स॒याव॑रीर्वृष्णा॒ मद॑न्ति शो॒भसे॒ वस्वी॒रनु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ १ ॥

१. **गौर्यः**=गौरवर्ण गौएँ, अर्थात् व्यसनों में अलिप्त शुद्ध इन्द्रियाँ **मध्वः**=सोम का **पिबन्ति**=पान करती है। आहार से उत्पन्न सोम को—वीर्यशक्ति को जब शरीर में ही सुरक्षित रखा जाता

है तब यही इन्द्रियों का सोमपान होता है। इन्द्रियाँ उस सोम का पान करके जोकि **स्वादोः**=जीवन को स्वाद व माधुर्यवाला बनाता है और **इत्था**=इसप्रकार **विषूवतः**=सारे अंगों में व्याप्त हो जाता है। सब अंगों में व्याप्त होकर उन्हें सशक्त बनाता है। २. सोम-रक्षण से शक्ति-सम्पन्न बनी हुई इन्द्रियाँ वे होती हैं **याः**=जोकि **वृषणा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **इन्द्रेण**=इन्द्र के साथ **सयावरीः**=गति व प्राप्तिवाली होती हैं। सोमपान के अभाव में इन्द्रियाँ विषयोन्मुख होती हैं। सोमपान करने पर ये आत्मतत्त्व के दर्शन के लिए प्रवृत्त होती हैं। आत्मतत्त्व के दर्शन में प्रवृत्त ये इन्द्रियाँ **मदन्ति**=उल्लास से युक्त होती हैं। **शोभसे**=जीवन की शोभा के लिए होती हैं। **वस्वीः**=निवास को उत्तम करनेवाली होती हैं, परन्तु यह सब होता तभी है जबकि **अनु स्वराज्यम्**=मनुष्य आत्मशासन करनेवाला होता है। आत्मशासन के बाद ही सोम-रक्षण सम्भव होता है और तभी इन्द्रियाँ आत्मतत्त्व की ओर गति करती हैं, जीवन शोभामय होता है और हमारा इस शरीर में निवास उत्तमता को लिये हुए होता है।

भावार्थ—हम संयमी बनें। इससे सोम-रक्षण होकर इन्द्रियाँ सशक्त बनेगी। ये हमें आत्मतत्त्व की ओर ले-चलेंगी। उस समय जीवन शोभामय व उत्तम बनेगा।

ऋषिः—गोतमः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

'सायक' वज्र

ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम्॥ २॥

१. **ताः**=गतमन्त्र में वर्णित शुद्ध इन्द्रियाँ (गौर्यः) **अस्य**=इस आत्मतत्त्व के—इन्द्र के **पृशनायुवः**=(स्पर्शनकामाः) स्पर्शन की कामनावाली, **पृश्नयः** (संस्प्रष्टो भासा नि० २.१४)=ज्योति से युक्त हुई-हुई **सोमम्**=सोम को **श्रीणन्ति**=शरीर में ही परिपक्व करती हैं। सोम को शरीर में सुरक्षित करके विविध शक्तियों का पोषण करती हैं। इस सोम-रक्षण से ही तो आत्मतत्त्व का स्पर्श करनेवाली हो पाएँगी। २. ऐसा होने पर **इन्द्रस्य**=इन इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **धेनवः**=ज्ञान-दुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणियाँ **प्रियाः**=प्रिय होती हैं और वे वाणियाँ इसके जीवन में **सायकम्**=सब शत्रुओं का अन्त करनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **हिन्वन्ति**=प्रेरित करती हैं, अर्थात् ये इसे क्रियाशील बनाती हैं। ३. इसप्रकार ये **वस्वीः**=उसे उत्तम निवासवाला बनाती हैं। ये उसे **स्वराज्यम् अनु**=आत्मशासन के बाद उत्तम निवासवाला बनाती हैं। जितना-जितना आत्मशासन होता है, उतना-उतना ही जीवन उत्तम बनता है।

भावार्थ—शरीर में सोम के परिपाक से इन्द्रियाँ आत्मदर्शन करानेवाली होती हैं। सोमपान करनेवाले इस पुरुष को वेदवाणियाँ प्रिय होती हैं। यह उनमें उपदिष्ट कर्मों को करनेवाला होता है। इन कर्मों में लीन हुआ-हुआ यह वासनाओं का शिकार नहीं होता।

ऋषिः—गोतमः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

नम्रतायुक्त बल

ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः।
व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम्॥ ३॥

१. **ताः**=वे इन्द्रियाँ (गौर्यः) **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **अस्य**=इस इन्द्र (जीवात्मा) के **सहः**=बल को **नमसा**=नमन से—विनीतता के द्वारा **सपर्यन्ति**=पूजित करती हैं। सोम का पान करनेवाली इन्द्रियाँ इन्द्र को सबल बनाती है और इसके बल को विनीतता से युक्त करती हैं।

२. ये इन्द्रियाँ **अस्य**=इस इन्द्र के **पुरूणि**=पालन व पूरणात्मक **व्रतानि**=व्रतों को **सश्चिरे**= सेवित करती हैं। सोमपान करनेवाली इन्द्रियों के द्वारा ही हमारे सब पुण्यकर्म पूर्ण हुआ करते हैं। २. ये इन्द्रियाँ **पूर्वाचित्तये**=सृष्टि से पूर्व वर्तमान प्रभु के ज्ञान के लिए होती हैं। इनके द्वारा सृष्टि के पदार्थों में प्रभु की महिमा का दर्शन होकर प्रभु की सत्ता में हमारा विश्वास दृढ़ हो जाता है। इसप्रकार प्रभुसत्ता में विश्वास कराकर **वस्वीः**=ये इन्द्रियाँ उत्तम निवास को करानेवाली होती हैं। यह उत्तम निवास **स्वराज्यम् अनु**=आत्मशासन के अनुपात में ही होता है।

भावार्थ—सोमपान करनेवाली इन्द्रियाँ हमें नम्रयुक्त बल प्राप्त कराती हैं। हमें व्रतमय जीवनवाला बनाकर प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती हैं।

गौरी इन्द्रियोंवाला व्यक्ति अपने ज्ञान को बढ़ाकर उस ज्ञान को ही अपनी शरण बनाता है, अतः 'श्रुतकक्ष' कहलाता है—ज्ञान है शरण-स्थान (Hiding place) जिसका। यह उत्तम शरण स्थानवाला 'सुकक्ष' है। ये श्रुतकक्ष ही अगले सूक्त का ऋषि है—

११०. [दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

'स्वाध्याय व स्तवन' के द्वारा सोम का शरीर में स्तोभन

इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः। अर्कमर्चन्तु कारवः॥ १॥

१. उस **मद्वने**=(मद्+वन्) हर्ष का संभजन करनेवाले आनन्दस्वरूप **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **नः गिरः**=हमारी ज्ञान की वाणियाँ **सुतं परिष्टोभन्तु**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को शरीर में ही चारों ओर रोकनेवाली हों (स्तोभते=Stops)। शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर ही प्रभु की प्राप्ति होती है। २. **कारवः**=क्रियाओं को कुशलता से करने के द्वारा प्रभु का अर्चन करनेवाले स्तोता **अर्कम्**=उस उपासनीय प्रभु का **अर्चन्तु**=पूजन करें। कर्त्तव्यकर्मों को करके उन्हें प्रभु के लिए अर्पित करना ही प्रभु का अर्चन है।

भावार्थ—आनन्दमय प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण आवश्यक है। सोम-रक्षण के लिए स्वाध्याय व प्रभु-स्तवन साधन बनते हैं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

'श्री-पति' विष्णु

यस्मिन्विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः। इन्द्रं सुते हवामहे॥ २॥

१. **यस्मिन्**=जिन प्रभु में **विश्वाः श्रियः**=सब लक्ष्मियाँ **अधि**=आधिक्येन निवास करती हैं। जिस प्रभु के विषय में **सप्त**=सातों **संसदः**=होता 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' **रणन्ति**=स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं, उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को—सब इन्द्रियों को शक्ति देनेवाले प्रभु को **सुते**=इस सोम के सम्पादन व रक्षण के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु ने ही वासना-विनाश द्वारा इस सोम का रक्षण करना है।

भावार्थ—प्रभु ही सब विषयों के आधार हैं। प्रभु ही हमारी कर्ण आदि इन्द्रियों को श्रीसम्पन्न बनाते हैं। इस श्रीसम्पादन के लिए प्रभु ही हमारे शरीरों में सोम का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

ज्योतिः, गौः, आयुः

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत। तमिद्वर्धन्तु नो गिरः॥ ३॥

१. **त्रिकद्रुकेषु**=(ज्योतिः, गौः, आयुः) 'हमें ज्योति प्राप्त कराओ, हमारे लिए उत्तम इन्द्रियों

को प्राप्त कराइए (गौः) तथा हमें दीर्घजीवी बनाइए' इसप्रकार तीनों आह्वानों के होने पर (कदि आह्वाने) **चेतनम्**=चेतना को—ज्ञान को देनेवाले **यज्ञम्**=पूजनीय प्रभु को **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अलत**=अपने में विस्तृत करते हैं। २. **नः गिरः**=हमारी ये वाणियाँ भी **तम् इत्**=उस प्रभु का ही **वर्धन्तु**=वर्धन करें। हम अपनी वाणियों से प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभु हमारे ज्ञान को बढ़ाएँगे, हमें उत्तम इन्द्रियाँ प्राप्त कराएँगे और इसप्रकार हमें प्रशस्त दीर्घ जीवनवाला बनाएँगे।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष प्रभु को ही पुकारते हैं। प्रभु-स्तवन करते हुए वे ज्ञान व प्रकाश को, उत्तम इन्द्रियों को तथा दीर्घजीवन को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार प्रभु-स्तवन द्वारा अपना पूरण करनेवाला यह ऋषि 'पर्वत' कहलाता है पर्व पूरणे। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१११. [एकादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**पर्वतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

विष्णु-त्रित आप्त्य

यत्सोम॑मिन्द्र॒ विष्ण॑वि॒ यद्वा॑ घ त्रि॒त आ॒प्त्ये। यद्वा॑ म॒रुत्सु॒ मन्द॑से॒ समिन्दु॑भिः ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब आप **विष्णवि**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक—उदार हृदयवाले पुरुष में **सोमम्**=सोम को **संमन्दसे**=प्रशंसित करते हैं। **यत् वा**=अथवा **घ**=निश्चय से **त्रिते**=(त्रीन् तनोति) 'ज्ञान, कर्म व उपासना' इन तीनों का विस्तार करनेवालों में आप सोम को प्रशंसित करते हैं **आप्त्येः**=आप्तों में—उत्तम पुरुषों में आप इस सोम को प्रशंसित करते हैं, अर्थात् यह सोम-रक्षण ही उन्हें 'विष्णु, त्रित व आप्त्य' बनाता है। एक पुरुष में उदारता 'विष्णु' 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों के विस्तार (त्रित) व आप्तता (Aptness आप्त्य) को देखकर और इन बातों को सोममूलक जानकर लोग सोम का प्रशंसन तो करेंगे ही। इस प्रशंसन को करते हुए वे सोम-रक्षण के लिए प्रेरणा प्राप्त करेंगे। २. **यत् वा**=अथवा हे इन्द्र! आप **मरुत्सु**=इन प्राणसाधक पुरुषों में **इन्दुभिः**=इन सुरक्षित सोमकणों से **संमन्दसे**=(to shine) चमकते हैं। सोमकणों का रक्षण ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और बुद्धि को तीव्र बनाता है। इस तीव्र बुद्धि से प्रभु का दर्शन होता है। **'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'।**

भावार्थ—सोम-रक्षण से हम उदार-हृदय, ज्ञान, कर्म व उपासना का विस्तार करनेवाले व आप्त बनते हैं। प्राणसाधना होने पर सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ही हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**पर्वतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

परावति-समुद्रे

यद्वा॑ शक्र परा॒वति॑ समु॒द्रे अधि॒ मन्द॑से। अ॒स्माक॒मित्सु॒ते र॑णा॒ समिन्दु॑भिः ॥ २ ॥

१. हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यद्वा**=अथवा आप **परावति**=पराविद्यावालों में—ब्रह्मविद्या को प्राप्त करनेवाले में तथा **समुद्रे**=(समुद्) सदा आनन्दमय स्वभाववाले पुरुष में **अधिमन्दसे**= आधिक्येन चमकते हैं। प्रभु-प्राप्ति का उपाय 'पराविद्या में रुचिवाला होना' तथा 'सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न करना' है। २. हे प्रभो! **अस्माकम्**=हमारी **इत्**=निश्चय से **सुते**=इस सोम सम्पादन की क्रिया के होने पर **इन्दुभिः**=सोमकणों के द्वारा **संरण**=हमारे अन्दर रमणवाले होइए। यह सोम-रक्षण हमें आपके दर्शन का पात्र बनाए।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (१) पराविद्या में रुचिवाले हों, (२)

सदा आनन्दमय रहें, (३) सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करें।

ऋषिः—**पर्वतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'सुन्वतः यजमानस्य' वृधः

यद्वासि सुन्वतो वृधो यजमानस्य सत्पते। उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः ॥ ३ ॥

१. हे **सत्पते**=उत्तम कर्मों के रक्षक प्रभो! आप **यत् वा**=निश्चय से **सुन्वतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले—अपने अन्दर सोम को सुरक्षित करनेवाले **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **वृधः असि**=बढ़ानेवाले हैं। इस यज्ञशील सोमी पुरुष को आप सदा बढ़ाते हैं। २. **वा**=अथवा उसके आप बढ़ानेवाले हैं **यस्य**=जिसके **उक्थे**=स्तोत्र में आप **इन्दुभिः**=सोमकणों के द्वारा **संरण्यसि**=सम्यक् प्रीतिवाले होते हैं। जो भी स्तोता सोमकणों का रक्षण करता हुआ प्रभु-स्तवन करता है, वह प्रभु का प्रिय बनता है।

भावार्थ—प्रभु सोमरक्षक यज्ञशील पुरुष का वर्धन करते हैं। सोम-रक्षक पुरुष से किया जानेवाला स्तवन प्रभु को प्रिय होता है।

यह प्रभु का स्तोता प्रभु को अपनी शरण बनाता है, अतः 'सु-कक्ष'=उत्तम शरणवाला (Hiding place) कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११२. [द्वादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

इन्द्र-वृत्रहन्-सूर्य

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ १ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **वृत्रहन्**=कामनाओं को विनष्ट करनेवाले व **सूर्य**=सूर्य की भाँति निरन्तर क्रियाशील जीव! **यत्**=जब **अद्य**=आज या जब भी कभी तू **उत्**=प्रकृति से ऊपर उठकर **अभि अगाः**=मेरी ओर आता है तब **तत् सर्वम्**=वह सब हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ते वशे**=तेरी इच्छा पर निर्भर करता है। तू दृढ़ संकल्प करेगा, वासनाओं को विनष्ट करके ज्ञान सूर्य से दीप्त जीवनवाला बनेगा तो अवश्य मेरी ओर (प्रभु की ओर) आनेवाला होगा। २. प्रभु की ओर आने पर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **तत् सर्वम्**=यह सब संसार **ते वशे**=तेरे वश में होगा। प्रभु को प्राप्त कर लेने पर तुझे ये सब ब्रह्माण्ड प्राप्त हो जाएगा।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति का दृढ़ संकल्प करें। यह संकल्प हमें वासना-विनाश में प्रवृत्त करेगा और तब हमारे जीवन में वासनाओं के मेघों का विलय होकर ज्ञानसूर्य का उदय होगा।

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अमरत्व का ज्ञान

यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे। उतो तत्सत्यमित्तव ॥ २ ॥

१. हे **प्रवृद्ध**=ज्ञान के दृष्टिकोण से वृद्धि को प्राप्त हुए-हुए **सत्पते**=उत्तम कर्मों के रक्षक जीव! **यद् वा**=जब निश्चय से **'न मरा'**='मैं मरता नहीं। मैं तो अमर हूँ' **इति मन्यसे**=इसप्रकार तू जानता है तो **उत उ**=निश्चय से **तव**=तेरा **तत्**=वह अपने को अजरामर जानना **सत्यम् इत्**=सत्य ही है। २. अपने अमरत्व को पहचानना ही वास्तिवक सत्य को पाना है।

भावार्थ—हम आने अमरत्व को पहचानकर शरीरादि से ऊपर उठें। यही ज्ञान हमें प्राकृतिक भोगों की तुच्छता को स्पष्ट करता हुआ उनके बन्धन में पड़ने से बचाएगा।

ऋषिः—सुकक्षः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

सोम-रक्षण द्वारा शरीर व मस्तिष्क का सुन्दर निर्माण

ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे। सर्वांस्ताँ इन्द्र गच्छसि॥ ३॥

१. ये **सोमासः**=जो सोमकण **परावति**=उस सुदूर मस्तिष्करूप द्युलोक के निमित्त **सुन्विरे**=उत्पन्न किये गये हैं, अथवा **ये**=जो **अर्वावति**=समीपस्थ इस शरीररूप पृथिवीलोक के निमित्त उत्पन्न किये गये हैं, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **तान् सर्वान्**=उन सब सोमकणों को **गच्छसि**=प्राप्त होता है। २. अपने अमरत्व को समझकर विषयों से ऊपर उठने पर ही सोमकणों का रक्षण होता है। इनके रक्षण से ही मस्तिष्करूप द्युलोक दीप्त तथा शरीररूप पृथिवीलोक दृढ़ बनता है।

भावार्थ—हम अपने अमरत्व को पहचानें और विषयों की तुच्छता को समझकर उनमें न फँसते हुए सोमणों का रक्षण करें। इसप्रकार मस्तिष्क को दीप्त बनाएँ और शरीर को दृढ़ करें।

सोम-रक्षण द्वारा तेजस्वी बननेवाला यह ऋषि 'भर्गः' (तेजःपुञ्ज) होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११३. [त्रयोदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—भर्गः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)॥

सूक्ष्मार्थग्राहिणी बुद्धि

उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
सत्राच्या मघवा सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत्॥ १॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे लिए **उभयम् इदं वचः**=प्रकृति व आत्मा दोनों का ज्ञान देनेवाले इस वेदवचन को **अर्वाक्**=अन्तर्हृदय में (हमारे अभिमुख) **शृणवत्**=(अन्तर्भावितण्यर्थ) सुनाएँ। हृदयस्थ प्रभु से हम उन ज्ञान की वाणियों को सुन पाएँ जोकि प्रकृति व आत्मा का ज्ञान देनेवाली हैं। २. वह **शविष्ठः**=अतिशयेन शक्तिशाली **मघवा**=ज्ञानरूप ऐश्वर्यवाले प्रभु **सत्राच्या**=सत्य-ज्ञान के साथ गतिवाली—सत्यज्ञान को प्राप्त करानेवाली **धिया**=बुद्धि के साथ **आगमत्**=हमें प्राप्त हों। ये प्रभु **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए हों। सोम-रक्षण द्वारा ही वे हमें उस सूक्ष्मार्थग्राहिणी बुद्धि को प्राप्त कराएँगे जो हमें प्रकृति व आत्मा के तत्त्व को समझने के योग्य बनाएगी।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रकृति व आत्मा का ज्ञान देनेवाले वेदवचनों को सुनाएँ। सोम-रक्षण के द्वारा उस बुद्धि को प्राप्त कराएँ जोकि सूक्ष्म अर्थों के सत्यतत्त्व को जानने में समर्थ हो।

ऋषिः—भर्गः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)॥

'स्वराट् वृषभ' प्रभु

तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः।
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः॥ २॥

१. **तम्**=उस **स्वराजम्**=स्वयं देदीप्यमान **वृषभम्**=शक्तिशाली प्रभु को **हि**=निश्चय से **धिषणे**=द्यावापृथिवी **निष्टतक्षतुः**=(संस्कर्तुः) संस्कृत करते हैं। द्युलोक प्रभु की दीप्ति का आभास देता है तो पृथिवीलोक प्रभु की शक्ति व दृढ़ता का 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'। प्रभु ने ही वस्तुतः द्युलोक को तेजस्वी व पृथिवीलोक को दृढ़ बनाया है। **तम्**=उस प्रभु को ही हम **ओजसे**=बल की प्राप्ति के लिए अपने अन्दर देखने का प्रयत्न करें। २. **उत**=और हे प्रभो! आप

उपमानाम्=उपमानभूत देवों में **प्रथमः**=मुख्य होते हुए **निषीदसि**=हमारे हृदयों में निषण्ण होते हैं। हमने अपने पिता प्रभु-जैसा ज्ञानी व शक्तिशाली बनने का प्रयत्न करना है। हमारे लिए यह कहा जाए कि यह प्रभु के समान ज्ञानी व शक्तिशाली है। वस्तुतः ऐसे ही व्यक्ति जनता को प्रभु के अवतार प्रतीत होने लगते हैं। **ते मनः**=आपके प्रति प्रवण मन **हि**=निश्चय से **सोमकामम्**=सोम की कामनावाला होता है। प्रभु-प्रवण मन विलास में नहीं जाता और इसप्रकार सोम का रक्षण हो पाता है।

भावार्थ—द्युलोक में स्वराट् प्रभु का प्रकाश है तो पृथिवी में शक्तिशाली प्रभु की दृढ़ता। इस प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी प्रकाश व शक्ति का सम्पादन करें। प्रभु-प्रवण मन सदा सोम का रक्षक होता है।

अपने अन्दर प्रकाश व शक्ति का सम्पादन करनेवाला यह 'सोभरि' बनता है—अपना सम्यक् भरण करनेवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११४. [चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सोभरिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्** ॥

युधा इत् आपित्वमिच्छसे

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि। युधेदापित्वमिच्छसे॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **अभ्रातृव्यः**=शत्रुरहित **असि**=हैं तथा **जनुषा**=पूर्णरूप से शक्तियों के प्रादुर्भाव के द्वारा **सनात्**=सदा से ही **अना**=अनेतृक व **अनापिः**=अबन्धु (असि) हैं। आप सबके नेता हैं—आपका कोई नेता नहीं। आपके समान शक्तियोंवाला कोई और नहीं, अतः समानता के अभाव में आपका कोई बन्धु भी नहीं। आप उपासकों के मित्र अवश्य होते हैं, परन्तु **युधा**=युद्ध के द्वारा **इत्**=ही **आपित्वम्**=मित्रभाव को **इच्छसे**=चाहते हैं, अर्थात् जब एक व्यक्ति 'काम-क्रोध-लोभ' आदि से युद्ध करता है, इन्हें जीतने का प्रयत्न करता है, तभी प्रभु इसके मित्र होते हैं। प्रभु जितनी पूर्णता कठिन है, परन्तु उस पूर्णता की ओर चलनेवाला ही प्रभु की मित्रता का पात्र होता है।

भावार्थ—प्रभु शत्रुरहित हैं। प्रभु का कोई नेता नहीं, वे सबके नेता हैं। समानता के द्वारा कोई प्रभु का बन्धु नहीं—प्रभु की बाराबरी का नहीं। जो भी 'काम, क्रोध, लोभ' आदि से संघर्ष करता है, यह प्रभु का मित्र बन पाता है।

ऋषिः—**सोभरिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**सतोबृहती** ॥

सम्पत्ति में विस्मरण, विपत्ति में ही स्मरण

नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः।
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव हूयसे॥ २॥

१. हे प्रभो! आप **रेवन्तम्**=धनवान् को—यज्ञ आदि में धन का विनियोग न करनेवाले पुरुष को **सख्याय**=मित्रता के लिए **नकिः विन्दसे**=नहीं प्राप्त करते। ऐसे अयज्ञशील धनी के आप कभी मित्र नहीं होते। **ते**=वे **सुराश्वः**=(सुर ऐश्वर्ये) ऐश्वर्य से फूलनेवाले लोग **पीयन्ति**=हिंसात्मक कर्मों में प्रवृत होते हैं। अभिमान में खूब फूले हुए ये लोग प्रभु को भूल जाते हैं। २. **यदा**=जब आप **नदनुं कृणोषि**=गर्जना करते हैं, अर्थात् जब ज़रा भूकम्प-सा आता है तब सब सम्पत्ति हिलती-सी प्रतीत होती है तब आप **समूहसि**=(change, modify) उनके जीवन में परिवर्तन लाते हैं। **आत् इत्**=उस समय ही **पिता इव हूयसे**=पिता के समान आप पुकारे जाते हैं। वे

धनी व्याकुलता होने पर परिवर्तित जीवनवाले बनते हैं और प्रभु की ओर झुकाववाले हो जाते हैं।

भावार्थ—जो धनी धन के मद में फूले हुए हिंसात्मक कर्मों में प्रवृत होते हैं, प्रभु उनके कभी मित्र नहीं होते। जब कभी सम्पत्ति विनष्ट होने लगती है, तभी ये धनी व्याकुल होकर प्रभु का स्मरण करते हैं और पिता की तरह प्रभु को पुकारते हैं।

सम्पत्ति में भी प्रभु का स्मरण करनेवाला प्रभु का प्रिय बनता है, अतः 'वत्स' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११५. [पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—वत्सः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

सूर्य के समान

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ। अहं सूर्यइवाजनि॥ १॥

१. **अहम्**=मैं **इत् हि**=निश्चय से **पितुः**=अपने पिता प्रभु से **ऋतस्य**=सत्यज्ञान की **मेधाम्**=बुद्धि को **परिजग्रभ**=ग्रहण करता हूँ। प्रभु की उपासना करता हुआ हृदयस्थ प्रभु से प्रकाश प्राप्त करता हूँ। २. इस प्रकाश को प्राप्त करके **अहम्**=मैं **सूर्य इव**=सूर्य की भाँति **अजनि**=हो गया हूँ। प्रभु से दिया गया प्रकाश मुझे इसप्रकार चकमा देता है जैसेकि सूर्य।

भावार्थ—हम प्रभु का ध्यान करें। हृदयस्थ प्रभु से प्रकाश को प्राप्त करें। यह प्रकाश हमें सूर्य की भाँति दीप्त जीवनवाला बना देगा।

ऋषिः—वत्सः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

सनातन ज्ञान के द्वारा बल की प्राप्ति

अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत्। येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मैं प्रभु से प्रकाश प्राप्त करता हूँ। **अहम्**=मैं **प्रत्नेन**=सनातन—सदा सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले **मन्मना**=ज्ञान से **गिरः शुम्भामि**=अपनी वाणियों को ऐसे अलंकृत करता हूँ **कण्ववत्**=जैसेकि एक मेधावी पुरुष किया करता है। वस्तुतः यह सनातन ज्ञान ही मुझे मेधावी बनाता है। २. उस ज्ञान से मैं अपनी वाणियों को अंकृत करता हूँ, **येन**=जिससे **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **इत्**=निश्चय से **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को **दधे**=धारण करता है। इस ज्ञानाग्नि से ही इन्द्र सब असुरों को दग्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—सनातन वेदज्ञान मेरी वाणियों को अलंकृत करे। इस ज्ञान के द्वारा जितेन्द्रिय बनता हुआ मैं सब वासनारूप शत्रुओं के शोषक बल को धारण करूँ।

ऋषिः—वत्सः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

'ऋषि' नकि 'प्राकृत' (प्रकृति में फँसा हुआ)

ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः। ममेद्वर्धस्व सुष्टुतः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! ऐसे भी लोग हैं **ये**=जो **त्वाम्**=आपको **न तुष्टुवुः**=स्तुत नहीं करते। प्रकृति के भोगों में फँसे हुए, उन्हीं के जुटाने में यत्नशील वे 'जगदाहुरनीश्वरम्'=संसार को ईश्वररहित ही कहते हैं। वे आपकी सत्ता से ही इनकार करते हैं **च**=और इनके विरीत वे **ऋषभ**=तत्त्वद्रष्टा पुरुष भी हैं **ये**=जोकि आपका **तुष्टुवुः**=स्तवन करते हैं—सब कार्यों को आपसे ही होता हुआ जानते हैं। २. इसप्रकार द्विविध लोगों को देखता हुआ मैं तो आपका स्तवन

करनेवाला ही बनूँ। **मम**=मेरी तो **इत्**=निश्चय से **सुष्टुतः**=उत्तमता से स्तुत हुए-हुए आप **वर्धस्व** (वर्धयस्व)=वृद्धि का कारण बनें। आपका स्तवन करता हुआ मैं आप-जैसा ही बनने का यत्न करूँ। आपका स्तवन मेरी वृद्धि का कारण बने।

भावार्थ—प्राकृतिक भोगों में फँसे हुए लोग ईश्वर का स्मरण नहीं करते। तत्त्वद्रष्टा ऋषि प्रभु की स्तुति करते हैं। प्रभु-स्तवन करता हुआ मैं वृद्धि को प्राप्त करूँ।

प्रभु-स्तवन करता हुआ यह पवित्र प्रभु को अपना अतिथि बनाता है अथवा निरन्तर प्रभु की ओर चलता है (अत सातत्यगमने) और इसप्रकार 'मेध्यातिथि' नामवाला होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११६. [षोडशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥

मा भूम निष्ट्याः इव

मा भूम निष्ट्याइवेन्द्र त्वदरणाइव। वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **निष्ट्याः इव**=घर से बहिष्कृत-से **मा भूम**=न हो जाएँ। आप ही तो हमारे सच्चे माता व पिता हैं। हम आपसे दूर न हो जाएँ और परिणामतः **त्वत्**=आपसे **अरणाः** (अरमणाः) आनन्द को न प्राप्त होनेवाले न हो जाएँ। हमें आपकी उपासना में ही आनन्द आये। २. इसप्रकार आपसे बहिष्कृत न हुए-हुए और आपकी उपासना में आनन्द लेनेवाले हम **प्रजहितानि**=शाखा-पत्र आदि से **त्यक्त**=क्षीण **वनानि न**=वनों की भाँति (मा भूम) मत हो जाएँ, अर्थात् हम पुत्र-पौत्रों से वियुक्त-से न हो जाएँ। हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! हम **दुरोषासः**=सब बुराइयों को दग्ध करनेवाले होते हुए **अमन्महि**= आपका स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु से बहिष्कृत न हो जाएँ। प्रभु की उपासना में ही आनन्द का अनुभव करें। पुत्र-पौत्रों से भरे परिवारवाले हों और बुराइयों का दहन करते हुए आपका स्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—मेध्यातिथिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥

अनाशवः-अनुग्रासः

अमन्महीदनाशवोऽनुग्रासश्च वृत्रहन्। सकृत्सु ते महता शूर राधसानु स्तोमं मुदीमहि ॥ २ ॥

१. हे **वृत्रहन्**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **अनाशवः**=बहुत हबड़-दबड़ में न पड़े हुए, अर्थात् शान्तभाव से सब कार्यों को करते हुए **च**=और **अनुग्रासः**=उग्र व क्रूर, क्रोधी वृत्तिवाले न होते हुए हम **इत्**=निश्चय से **अमन्महि**=आपका मनन व स्तवन करते हैं। २. हे **शूर**=हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **सकृत्**=एक बार तो **ते**=आप से दिये गये **महता राधसा**=इस महान् ज्ञानैश्वर्य के साथ **स्तोमम् अनु**=आपके स्तवन के अनुपात में **सु मुदिमहि**=उत्तम आनन्द का अनुभव करें। ज्ञानपूर्वक आपका स्तवन हमें आनन्दित करनेवाला हो।

भावार्थ—हम शान्त व मृदु स्वभाव बनकर प्रभु का स्तवन करते हैं। ज्ञानपूर्वक किये जाते हुए इन प्रभु-स्तवनों में ही आनन्द का अनुभव करते हैं।

यह ज्ञानी स्तोता अतिशयेन उत्तम जीवनवाला बनता है, अतः 'वसिष्ठ' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११७. [सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिपदागायत्री** ॥

अहिंसक सोम (न अर्वा)

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः। सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सोमं पिब**=अपने अन्दर इस सोम का पान कर—इसे तू शरीर में ही व्याप्त कर। यह **त्वा मन्दतु**=तुझे आनन्दित करनेवाला हो। हे **हर्यश्व**=कमनीय इन्द्रियाश्वोंवाले इन्द्र! उस सोम का तू पान कर **यम्**=जिसको **ते**=तेरे लिए **अद्रिः**=उस आदरणीय प्रभु ने **सुषाव**=उत्पन्न किया है। प्रभु से उत्पन्न किये गये इस सोम का समुचित रक्षण करना ही चाहिए। २. वह सोम **सोतुः**=स्तोता की—उत्पन्न करनेवाले की **बाहुभ्याम्**=बाहुओं से **सुयतः**=सम्यक् यत होता है, अर्थात् यदि सोम का सम्पादन करनेवाला यह व्यक्ति क्रियाशील बना रहता है तो वह वासनाओं से आक्रान्त न होकर इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर पाता है। रक्षित हुआ-हुआ यह सोम **न अर्वा**=हिंसित करनेवाला नहीं होता (अर्व to kill) रोगकृमियों का संहार करता हुआ यह सोम हमारा रक्षण ही करता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम आनन्द की वृद्धि का कारण बनता है। यह हमें रोगों से हिंसित नहीं होने देता। सतत क्रियाशील बने रहना ही सोम-रक्षण का साधन है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिपदागायत्री** ॥

'मद-युज्य-चारु' सोम

यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि। स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **प्रभूवसो**=प्रभूत ज्ञानैश्वर्य के स्वामिन्! **सः**=वह सोम शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ **त्वाम्**=तुझे **ममत्तु**=आनन्दित करे। २. वह सोम तुझे आनन्दित करे **यः**=जो **ते**=तेरे लिए **मदा**=उल्लास को पैदा करनेवाला है, **युज्यः**=तुझे प्रभु से मिलानेवाला है तथा **चारुः अस्ति**=जीवन को सुन्दर-ही-सुन्दर बनानेवाला है और हे **हर्यश्व**=कमनीय इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! वह सोम तुझे आनन्दित करे **येन**=जिसके द्वारा तू **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **हंसि**=विनष्ट करता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम उल्लास का जनक है, हमें प्रभु से मिलानेवाला है, जीवन को सुन्दर बनानेवाला है। इस सोम के द्वारा वासनाओं का विनाश होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिपदागायत्री** ॥

वसिष्ठ का प्रभु-अर्चन

बोधा सु मे मघवन्वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम्।
इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व॥ ३॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **मे**=मेरी **इमां वाचम्**=इस स्तुतिवाणी को **सु**=अच्छी प्रकार **आ**=सर्वथा **बोध**=जानिए **यः**=जिस **ते**=आपकी **प्रशस्तिम्**=स्तुतिरूप वाणी को **वसिष्ठः**=वशियों में श्रेष्ठ अथवा उत्तम निवासवाला यह उपासक **अर्चति**=पूजित करता है, अर्थात् मुझे आप इसप्रकार ज्ञान दीजिए कि मैं वसिष्ठ बनकर आपका स्तवन करता हुआ आपका पूजन करूँ। २. हे प्रभो! **इमा ब्रह्म**=इन ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों को **सधमादे**=मिलकर आनन्दित होने के इस हृदयरूप स्थान में **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। हम हृदय में आपका ध्यान करते हुए इन ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुति-वाणियों में आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—हम वसिष्ठ बनकर ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुति-वाणियों द्वारा हृदय में प्रभु का ध्यान करें। ये स्तुतिवाणियाँ हमें प्रभु का प्रिय बनाएँ।

यह स्तोता सोम-रक्षण द्वारा 'भर्गः' बनता है तथा निरन्तर प्रभु की ओर चलता हुआ 'मेध्यातिथि' होता है। अगले सूक्त में १-२ का ऋषि 'भर्गः' है। ३-४ का 'मेध्यातिथिः'—

११८. [अष्टादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

'ऐश्वर्य, यश व वसु'

शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि॥ १॥

१. हे **शचीपते**=शक्तियों (कर्मों) व प्रज्ञानों के स्वामिन्! **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **विश्वाभिः**=सब **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा **उ**=निश्चय से **सुशग्धि**=सब उत्तम पदार्थों को दीजिए। २. **भगं न**=ऐश्वर्यपुञ्ज के समान **यशसम्**=यशस्वी तथा **वसुविदम्**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले **त्वा**=आपको हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **हि अनु चरामसि**=निश्चय से उपासित करते हैं। आपकी उपासना हमें भी 'ऐश्वर्यशाली', यशस्वी-व सब वसुओं (धनों) को प्राप्त करनेवाला बनाएगी।

भावार्थ—वे शचीपति प्रभु हमें रक्षित करते हुए सब उत्तम पदार्थ प्राप्त कराते हैं। प्रभु की उपासना हमें 'ऐश्वर्य' व वसुओं को देती है।

ऋषिः—**भर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

पौरः

पौरो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः।
नकिर्हि दानं परिमर्धिषत्त्वे यद्यद्यामि तदा भर॥ २॥

१. हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली, कर्मेन्द्रियों के आप **पौरः**=पूरयिता **असि**=हैं। **गवाम्**=अर्थों की गमक इन्द्रियों के आप **पुरुकृत्**=पालन व पूरण करनेवाले हैं। आप हमारे लिए **हिरण्ययः उत्सः**=ज्योतिर्मय स्रोत के समान हैं। २. **त्वे**=आपमें **दानम्**=हमारे लिए देय धन **नकिः हि**=नहीं ही **परिमर्धिषत्**=हिंसित होता, अर्थात् आप सदा हमारे लिए इन धनों को प्राप्त कराते हैं। **यत् यत् यामि**=जो-जो मैं आपसे माँगता हूँ **तत**=उसे **आभर**=हमारे लिए प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु हमारी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का पूरण करनेवाले हैं। हमारे लिए ज्ञान के स्रोत हैं। जो कुछ माँगते हैं, उसे हमारे लिए देते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

इन्द्र के आराधन से चार लाभ

इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्य॑ध्वरे। इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये॥ ३॥

१. **इन्द्रम् इत्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को ही **प्रयति अध्वरे**=इस चलते हुए जीवन-यज्ञ के निमित्त, अर्थात् जीवन-यज्ञ की रक्षा के लिए पुकारते हैं। **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **देवतातये**=दिव्यगुणों के विस्तार के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। २. **इन्द्रम्**=उस शत्रुविद्रावक

प्रभु को ही **समीके**=संग्रामों में पुकारते हैं। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर हम शत्रुओं का विद्रावण कर पाएँगे। **वनिनः**=प्रभु का संभजन करनेवाले हम **धनस्य सातये**=धन की प्राप्ति के लिए **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु की आराधना से ही (१) जीवन-यज्ञ सुरक्षितरूप में चलता है (२) दिव्यगुणों का विस्तार होता है ३. संग्रामों में हम विजयी बनते हैं और (३) धनों की प्राप्ति में समर्थ होते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

इन्द्र की महिमा

इन्द्रो॑ म॒ह्ना रोद॑सी पप्रथ॒च्छव॒ इन्द्रः॒ सूर्य॑मरोचयत्।
इन्द्रे॑ ह॒ विश्वा॒ भुव॑नानि येमिर॒ इन्द्रे॑ सुवा॒नास॒ इन्द॑वः ॥ ४ ॥

१. **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **मह्ना**=अपनी महिमा से **रोदसी**=द्यावापृथिवी में **शवः**=बल को **पप्रथत्**=विस्तृत करते हैं। द्यावापृथिवी में सर्वत्र प्रभु की शक्ति ही कार्य कर रही है। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **सूर्यम्**=सूर्य को **अरोचयत्**=दीप्त करते हैं। सूर्य आदि सब ज्योतिर्मय पिण्ड प्रभु की दीप्ति से ही दीप्त हो रहे हैं 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। २. **ह**=निश्चय से **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन **येमिरे**=नियमित हो रहे हैं। प्रभु के शासन में ही वे सब लोक-लोकान्तर अपनी-अपनी मर्यादा में हैं। **इन्द्रे**=उस शक्तिशाली प्रभु में ही **इन्दवः**=शक्तिशाली **सुवानासः** (स्वनाः)=शब्द हैं। प्रभु इन शब्दों से ही लोक-लोकान्तरों का निर्माण करते हैं। शब्दगुणक आकाश प्रभु से प्रादुर्भूत होता है 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'। इस शब्दगुणक आकाश से वायु आदि के क्रम से सृष्टि का विस्तार प्रभु ही करते हैं।

भावार्थ—द्यावापृथिवी में सर्वत्र प्रभु की शक्ति का विस्तार है। प्रभु ही सूर्य को दीप्त करते हैं—सब भुवन प्रभु द्वारा नियन्त्रित होते हैं। प्रभु में ही शक्तिशाली शब्दों का निवास है।

इन्द्र का स्तवन करता हुआ यह स्तोता अपने कर्तव्यों में तत्पर होकर 'आयु' कहलाता है (एति)। अगले सूक्त में प्रथम मन्त्र का यही ऋषि है। द्वितीय मन्त्र का ऋषि 'श्रुष्टिगु' है—खूब समृद्ध ज्ञानेन्द्रियोंवाला।

११९. [एकोनविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**आयुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

वेदवाणी द्वारा बुद्धिवर्धन

अस्ता॑वि॒ मन्म॑ पू॒र्व्यं ब्रह्मेन्द्रा॑य वोचत। पू॒र्वीर्ऋ॒तस्य॑ बृह॒तीर॑नूषत स्तो॒तुर्मे॒धा अ॑सृक्षत ॥ १ ॥

१. **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण में उत्तम **मन्म**=मननीय स्तोत्र **अस्तावि**=हमसे स्तुत होता है। हम प्रभु का विचारपूर्वक स्तवन करते हैं—यह स्तवन हमारी लक्ष्यदृष्टि को पैदा करता हुआ हमारा पूरण करता है। **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **ब्रह्म वोचत**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करो। २. **ऋतस्य**=सत्यज्ञान की **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली **बृहतीः**=ये वर्धन की हेतुभूत वाणियाँ **अनूषत**=हमसे स्तुत होती हैं। इस वेदवाणी के स्तवन से **स्तोतुः**=स्तवन करनेवाले की **मेधा**=बुद्धियाँ **असृक्षत**=सृष्ट होती हैं। वेदवाणियों का अध्ययन बुद्धियों की वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु-प्राप्ति के लिए ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें।

ये वेदवाणियाँ हमारी बुद्धि का वर्धन करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**श्रुष्टिगुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

तुरण्यवः-विप्रासः

तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे सुवानास इन्दवः॥ २॥

१. **तुरण्यवः**=क्षिप्रकारी, कर्मकुशल **विप्रासः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले लोग **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाले **घृतश्चुतम्**=हमारे जीवनों में दीप्ति को आसिक्त करनेवाले **अर्कम्**=पूजनीय प्रभु का **आनृचुः**=अर्चन करते हैं। २. इस प्रभु के अर्चन से **अस्मे**=हमारे लिए **रयिःपप्रथे**=ऐश्वर्य का विस्तार होता है। **वृष्ण्यं शवः**=हमें सुखों का सेचन करनेवाला बल प्राप्त होता है। **अस्मे**=हमारे लिए **सुवानासः**=उत्पन्न होते हुए सोमकण **इन्दवः**=शक्तिशाली बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का अर्चन करें। हमें इस अर्चन से ऐश्वर्य व शक्ति प्राप्त होगी। हमारे अन्दर सुरक्षित सोमकण हमें तेजस्वी व ओजस्वी बनाएँगे। प्रभु की उपासना जीवन को मधुर व ज्ञानदीप्त बनाती है।

यह प्रभु का उपासक अन्ततः 'देवातिथि' बनता है—प्रभु को अपना अतिथि बनाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१२०. [विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**देवातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

सर्वव्यापक प्रभु

यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो आप **अपाग्**=पूर्व व पश्चिम में **उदग् न्यग् वा**=वा उत्तर व दक्षिण में **नृभिः**=मनुष्यों से **हूयसे**=पुकारे जाते हैं। वे आप **सिमः**=सब दिशाओं में विद्यमान है। आप कहाँ नहीं हैं? आप **पुरू**=खूब ही **नृषूतः असि**=उन्नति-पथ पर चलनेवालों के सारथि हैं। २. **आनवे**=(अन प्राणने) आप इन नर मनुष्यों को प्राणित व उत्साहित करनेवाले हैं। हे **प्रशर्ध**=प्रकृष्ट शक्ति-सम्पन्न प्रभो! आप **तुर्वशे असि**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करने के लिए होते हैं। प्रभु का भक्त प्रभु से शक्ति व उत्साह प्राप्त करके शत्रुओं को शीघ्रता से वश में करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक हैं। उन्नति-पथ पर चलनेवालों के पथ के सारथि होते हैं। उन्हें उत्साह व शक्ति देते हैं। शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले हैं।

ऋषिः—**देवातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

'रुम, रुशम, श्यावके, कृप'

यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा।
कण्वासस्त्वा ब्रह्मभि स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत् वा**=या तो **रुमे** (रु शब्दे)=स्तुतिशब्दों का उच्चारण करनेवाले पुरुष में, या **रुशमे**=(रुश् to kill) स्तुतिशब्दों के उच्चारण के साथ शत्रु-संहार

करनेवाले में तथा **श्यावके**=शत्रुसंहार के उद्देश्य से ही निरन्तर गतिशील पुरुष में (श्यैङ् गतौ) और **कृपे**=(कृप् सामर्थ्ये) शक्तिशाली पुरुष में **रुचा**=समवाय-(मेल)-वाले होते हुए आप **मादयसे**=इन उपासकों को आनन्दित करते हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तोमवाहसः**=स्तुतिसमूहों का धारण करनेवाले **कण्वासः**=बुद्धिमान् लोग **ब्रह्मभिः**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित होनेवाली इन स्तुतिवाणियों से **त्वा यच्छन्ति**=आपके प्रति अपने को दे डालते हैं। **आगहि**=आप इन स्तोताओं को प्राप्त होइए।

भावार्थ—प्रभु उन्हें प्राप्त होते हैं जो (१) स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हैं (२) वासनाओं का संहार करते हैं (२) गतिशील हैं तथा (३) शक्तिशाली बनते हैं। स्तोता प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं—प्रभु इन्हें प्राप्त होते हैं।

प्रभु को प्राप्त करनेवाला यह स्तोता अतिशयेन उत्कृष्ट जीवनवाला 'वसिष्ठ' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१२१. [एकविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**देवातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

ईशान का ध्यान

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाइव धेनवः। ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥

१. हे **शूर**=हमारे 'काम, क्रोध, लोभ'-रूप शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! हम **अदुग्धाः धेनवः**=जो दुग्धदोह नहीं हो गईं, अर्थात् जो इतनी वृद्ध नहीं हो गईं कि अब दूध देंगी ही नहीं, उन गौओं के समान, अर्थात् अवृद्ध ही—तरुणावस्था में ही **त्वा अभिनोनुमः**=आपको प्रातः व सायं खूब ह स्तुत करते हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप ही **अस्य जगतः**=इस जंगम संसार के **ईशानम्**=ईशान हैं। आप ही **तस्थुषः ईशानम्**=सम्पूर्ण स्थावर जगत् के भी स्वामी हैं। आप **स्वर्दृशम्**=सूर्य के समान दिखते हैं 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' अथवा सबका ध्यान करनेवाले आप ही हैं (Look after)। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आप ईशान हैं और सारे ब्रह्माण्ड के आप पालक हैं।

भावार्थ—हम तरुणावस्था में ही सदा प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करें। प्रभु ही हमारे शत्रुओं का विनाश करेंगे और ये ही हम सबके स्वामी व पालनकर्त्ता हैं।

ऋषिः—**देवातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

अद्वितीय प्रभु

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वावान्**=आपके समान **न अन्यः दिव्यः**=न तो कोई अन्य दिव्य सत्ता, **न पार्थिवः**=न ही पार्थिव सत्ता **न जातः**=न तो पैदा हुई है और **न**=न ही **जनिष्यते**=पैदा होगी। आप अद्वितीय हैं। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अश्वायन्तः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करने की कामनावाले होते हुए, **गव्यन्तः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामना करते हुए **वाजिनः**=उत्तम शक्तिवाले होते हुए हम **त्वा हवामहे**=आपको ही पुकारते हैं। आपका आराधन ही हमें उत्तम इन्द्रियों व शक्ति को प्राप्त कराएगा।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं अद्वितीय प्रभु को ही पुकारते हैं। वे हमें उत्तम इन्द्रियों व शक्ति प्राप्त कराएँगे।

उत्तम इन्द्रियों व शक्ति को प्राप्त करके ही हम सुखों का निर्माण करनेवाले 'शुनःशेप' बन सकेंगे। यह शुनःशेप ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१२२. [द्वाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—शुनःशेपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

'सधमादः क्षुमन्तः' तुविवाजाः

रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः। क्षुमन्तो याभिर्मदेम॥ १॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्र के हमारे होने पर, अर्थात् जब हम प्रभु की ही कामना करेंगे और प्रभु को अपनाएँगे तब **नः**=हमारे **रेवतीः**=प्रशस्त धनोंवाले **तुविवाजाः**=प्रभूत अन्न **सन्तु**=हों, जो अन्न **सधमादः**=साथ मिलकर हमें आनन्द देनेवाले हों, अर्थात् वे अन्न हमारे हों, जिनको हम स्वयं ही सारों को न खा जाएँ, अपितु औरों के साथ बाँटकर ही खानेवाले हों। २. ये अन्न **क्षुमन्तः**=भूखवाले हों, अर्थात् इन अन्नों को हम इस रूप में सेवन करें कि इनके अतियोग से हमारी भूख ही न समाप्त हो जाए और इसप्रकार ये अन्न ऐसे हों कि **याभिः**=जिनसे नीरोग व सशक्त बने हुए हम **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें। ३. प्रभु-प्रवण व्यक्ति को (क) निर्धनता का कष्ट नहीं सहना पड़ता (रेवतीः), (ख) साथ ही धनी होकर कृपण नहीं होता, miser बनकर miserable life वाला नहीं हो जाता (सधमादः), (ग) इन धनों व अन्नों से विलासमय जीवनवाला बनकर रोगी भी नहीं हो जाता (क्षुमन्तः)। संक्षेप में वह धनी होता हुआ न तो इनका अतियोग करता है, न अयोग, अपितु यथायोग से चलता हुआ आनन्दमय जीवन वाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्रवण व्यक्ति को वे अन्न व धन प्राप्त होते हैं, जिनका वह औरों के साथ मिलकर उपभोग करता है। वे अन्न व धन उसे अपने में आसक्त करके अतियोग से रुग्ण नहीं कर देते। परिणामतः इनसे वह आनन्द ही प्राप्त करता है।

ऋषिः—शुनःशेपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

त्रिविध उन्नति

आ घ त्वावान्त्मनाप्त स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः। ऋणोरक्षं न चक्र्योः॥ २॥

१. हे **स्तोतृभ्यः धृषणो**=स्तोताओं के लिए उनके शत्रुओं का घर्षण करनेवाले प्रभो! जो व्यक्ति **त्वावान्**=आप-जैसा बनने का प्रयत्न करता है और **त्मना आप्तः**=आत्मतत्त्व की प्राप्ति से सब-कुछ को प्राप्त मानता है। वह **इयानः**=सदा गतिशील होता हुआ **घ**=निश्चय से **चक्र्योः अक्षं न**=चक्रों में अक्ष की भाँति, मस्तिष्क व शरीर (द्युलोक व पृथिवीलोक) के बीच में हृदय (अन्तरिक्ष) को **आ ऋणोः**=प्राप्त करता है (आ ऋणोति)। जैसे चक्र व अक्ष साथ-साथ चलते हैं उसी प्रकार यह स्तोता मस्तिष्क, शरीर व हृदय सबकी साथ-साथ उन्नति करता है। उन्नति कर वही पाता है जोकि क्रियाशील होता है (इयानः) २. यह ठीक है कि यह व्यक्ति प्रभु का स्तवन करता है और प्रभु ही इसके मार्ग में आनेवाले विघ्नभूत शत्रुओं का विनाश करते हैं। स्तोताओं के शत्रुओं का विनाश प्रभु का ही कार्य है। स्तोता वह है जोकि प्रभु-जैसा बनने का प्रयत्न करता है **(त्वावान्)** तथा अपने अन्दर आत्मा से ही तुष्ट होने का प्रयत्न करता है (त्मना आप्तः=आत्मन्येवात्मना तुष्टः)।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें। प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं का संहार करेंगे। तभी हम शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों की उन्नति कर पाएँगे।

ऋषिः—शुनःशेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'प्रज्ञा, वाणी व कर्म'

आ यद्दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम्। ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥ ३ ॥

१. हे **शतक्रतो**=सैकड़ों प्रज्ञाओं व कर्मोंवाले प्रभो! आप **जरितॄणाम्**=स्तोताओं को **यत्**=जो **दुवः**=धन (दुवस् wealth) तथा **कामम्**=चाहनेवाले पदार्थों को **आऋणोः**=सर्वथा प्राप्त कराते हैं, यह सब **शचीभिः**=(कर्म नि० २.१; वाणी १.११; प्रज्ञा ३.९) कर्म, वाणी व प्रज्ञा के हेतु से **अक्षं न**=दो पहियों के बीच में वर्तमान अक्ष के समान हैं। जैसे दो पहियों के बीच में अक्ष होता है, उसी प्रकार यहाँ प्रज्ञा व कर्म के बीच में वाणी है। दोनों पहिये तथा अक्ष साथ-साथ घूमते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा, वाणी व कर्म साथ-साथ चलते हैं। प्रत्येक कर्म पहले विचार के रूप में होता है (प्रज्ञा), फिर उच्चारण के रूप आता है (वाङ्) और अन्ततः आचरण (कर्म) का रूप धारण करता है। २. प्रभु हमें जो भी धन प्राप्त कराते हैं या हमें जो काम्य पदार्थ देते हैं, वे सब इसलिए कि हम 'प्रज्ञा, वाणी व कर्म' को सुन्दर बना सकें। इन सब धनों व काम्य पदार्थों का अतियोग व अयोग न करते हुए हम यथायोग करेंगे तो हम 'प्रज्ञा, वाणी व कर्म' इन सबको सुन्दर बना ही सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें। प्रभु हमें धनों व इष्ट पदार्थों को प्राप्त कराएँगे। उनके यथायोग से हम 'प्रज्ञा, वाणी व कर्म' को पवित्र बना पाएँगे।

'प्रज्ञा, वाणी व कर्म' को पवित्र बनानेवाला यह व्यक्ति 'कुत्स' कहलाता है—सब वासनाओं का संहार करनेवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१२३. [त्रयोविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

उपसंहार

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ १ ॥

१. **तत्**=तभी **सूर्यस्य**=सूर्य का—सूर्य के समान ज्ञानदीप्त मेधावी पुरुष का **देवत्वम्**=देवपन है, **तत्**=तभी **महित्वम्**=बड़प्पन व माहिमा होती है **यदा**=जबकि **मध्यःकर्तोः**=कामों के बीच में **विततम्**=फैले हुए क्रियाजाल को **संजभार**=संगृहीत करता है। संसार में मनुष्य ने आजीविका के लिए कोई-न-कोई काम तो करना ही होता है। प्रारम्भ में कार्य छोटा-सा होता है। धीरे-धीरे कई बार वह बड़ा फैल जाता है। मनुष्य उसमें उलझ जाता है। कई बार इतना उलझ जाता है कि उसे खान-पान की सुध भी नहीं रहती। इस उलझन से उसके आयुष्य में भी कमी आ जाती है और ज्ञान-मार्ग के आक्रमण का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसी सम्पूर्ण विचार से वैदिक संस्कृति में गृहस्थ को समाप्त करके वानप्रस्थ होने का आदेश है। मनुष्य अपने कार्यों को समाप्त (wind up) करे और स्वाध्याय में समय का यापन करे। समाप्ति का यह भी प्रकार है कि अपने इन सब कार्यों को पुत्रों के कन्धों पर डाल दे। २. इसप्रकार निपटकर **यदा**=जब यह **इत्**=निश्चय से **सधस्थात्**=सदा साथ रहनेवाले प्रभु से **हरितः**=ज्ञान की रश्मियों को **अयुक्त**=अपने साथ जोड़ता है, तब इस ज्ञान की रश्मियों से द्योतित होकर यह 'देव' बनता है। इस ज्ञानदीप्ति से ही यह महिमावाला होता है। ३. **आत्**=अन्यथा, अर्थात् कर्मों का उपसंहार करके प्रभु की गोद में न बैठने पर **रात्री**=अज्ञानान्धकार **सिमस्मै**=सबके लिए **वासः**=अज्ञानान्धकार

के वस्त्रों को **तनुते**=तान देती है। धन में उलझा हुआ मनुष्य चिन्तामय जीवनवाला होता है। उसे 'मैं कौन हूँ, यहाँ क्यों आया हूँ' इन प्रश्नों के सोचने का समय ही नहीं मिलता। इसप्रकार अपने स्वरूप के विषय में ही वह अज्ञानन्धकार में रहता है।

भावार्थ—हम जीविका के कार्यों का उपसंहार करके सधस्थ प्रभु से ज्ञान प्राप्त करें, जिससे हमपर सदा अज्ञान का पर्दा ही न पड़ा रहे।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अनन्त, अन्यत्, रुशत्' पाजः

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥ २॥

१. यह **सूर्यः**=ज्ञान-सूर्य को अपने अन्दर उदित करनेवाला व्यक्ति **द्योः**=उस प्रकाशमय प्रभु के **उपस्थे**=समीप, अर्थात् उसकी उपासना करता हुआ **मित्रस्य**=स्नेह की भावना के तथा **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की भावना के **अभिचक्षे**=अपने अन्दर दर्शन के लिए **तत् रूपम्**=उस प्रकाश को अपने अन्दर **कृणुते**=करता है (**रूपम्**=प्रज्ञाने नि० १०.१३)। प्रभु का उपासक उस प्रकाश को पाता है जो प्रकाश उसे मनुष्य की एकता का दर्शन कराता है—उस स्थिति में राग-द्वेष का प्रश्न ही कहाँ? २. **अस्य**=इस ज्ञानदीप्त पुरुष का **पाजः**=बल **अनन्तम्**=बहुत अधिक होता है। **अन्यत्**=इसका बल विलक्षण ही होता है। **रुशत्**=इसका यह बल देदीप्यमान होता है। वस्तुतः प्रभु के सम्पर्क के कारण इसमें प्रभु की शक्ति काम करने लगती है, अतः इसकी शक्ति का असाधारण व विलक्षण प्रतीत होना स्वाभाविक है। ३. **हरितः**=इसकी ये ज्ञानरश्मियाँ **अन्यत्**=एक विलक्षण ही **कृष्णम्** (कृष्-भूः स्वास्थ्य, नः निर्वृत्ति)=स्वास्थ्य व सन्तोष का **संभरन्ति**=सम्यक् भरण करनेवाली होती हैं। इस 'कुत्स' के ज्ञान-सूर्य की रश्मियाँ सभी को प्राणशक्ति व प्रकाश प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपस्थान करते हुए ज्ञान प्राप्त करें। सबके प्रति स्नेहवाले, तेजस्वी व प्रकाश फैलानेवाले बनें।

प्रभु की गोद में बैठनेवाला यह उपासक स्नेह व निर्द्वेषिता को अपनाकर 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनता है। यही अगले सूक्त में १-३ का ऋषि है। लोकहित में प्रवृत्त हुआ-हुआ यह सबको अपने परिवार में सम्मिलित करके 'भुवन' होता है। यही ४-६ तक मन्त्रों का ऋषि है—

१२४. [चतुर्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

वह सदा का साथी

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥ १॥

१. वे **सदावृधः**=सदा से बढ़े हुए **सखा**=जीव के मित्र **चित्रः**=अद्भुत शक्ति व ज्ञानवाले प्रभु **नः**=हमारे **ऊती**=कल्याणमय रक्षण के द्वारा **आभुवत्**=चारों ओर विद्यमान हैं। जब मैं प्रभु से आवृत्त हूँ तब मुझे भय किस बात का? 'हम प्रभु में रह रहे हैं' इस तथ्य को हम अनुभव करेंगे तो निर्भीक बनेंगे ही। प्रभु हमें सदा बढ़ानेवाले हैं। हम ही क्रोध, ईर्ष्या व द्वेष आदि से उस उन्नति को समाप्त कर लेते हैं। २. वे प्रभु **कया**=कल्याणकर **शचिष्ठया**=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**=आवर्तन के द्वारा हमारे चारों ओर विद्यमान हैं। दिन-रात व ऋतुओं आदि का चक्र हमारे

कल्याण के लिए ही है।

भावार्थ—मैं उस सदा के साथी, मेरी सतत वृद्धि के कारणभूत प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करूँ। वे प्रभु अनन्त शक्तिप्रद आवर्तनों के द्वारा हमारी रक्षा कर रहे हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

आसुर पुरियों का विध्वंस

कस्त्वा॑ स॒त्यो मदा॑नां॒ मंहि॑ष्ठो मत्स॒दन्ध॑सः। दृ॒ळ्हा चि॑दा॒रुजे॒ वसु॑॥ २॥

१. हे जीव! **त्वा**=तुझे **कः**=आनन्दमय **सत्यः**=सत्यस्वरूप **मदानां मंहिष्ठः**=आनन्दों के सर्वाधिक दाता प्रभु **अन्धसाः**=इस आध्यायनीय सोम के द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करते हैं। इस सोम को वे प्रभु तुझे इसलिए भी प्राप्त कराते हैं कि **दृढा चित्**=बड़े दृढ़ भी **वसु**=लोकों को **आरुजे**= छिन्न-भिन्न करने के लिए तू समर्थ हो सके। २. सोम-रक्षण ही आनन्द-प्राप्ति का साधन है। हम सोम-रक्षण से समर्थ बनकर 'काम, क्रोध, लोभ' आदि असुरों की पुरियों का विदारण करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे शरीर में सोम की उत्पत्ति की है। इसके द्वारा ही प्रभु हमारे जीवनों को आनन्दमय व पवित्र बनाते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सखा+जरिता

अ॒भी षु ण॒ः सखी॑नामवि॒ता ज॑रितॄ॒णाम्। श॒तं भ॑वास्यू॒तिभि॑ः॥ ३॥

१. हे प्रभो! आप **अभि**=दोनों ओर **सु**=उत्तमता से **नः**=हम **सखीनाम्**=सखा (मित्र) **जरितृणाम्**=स्तोताओं को **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा **अविता भवसि**=रक्षक होते हैं। प्रभु मातृ-गर्भ में भी व बाहर आने पर भी हमारे रक्षक होते हैं। उन्होंने सर्वत्र हामरे रक्षण की व्यवस्था की है। सम्पूर्ण संसार चक्राकार गति में चलता हुआ हमारा रक्षण करनेवाला होता है। २. यह रक्षण सखाओं को प्राप्त होता है। जो भी व्यक्ति समान ख्यान-(ज्ञान)-वाले बनते हैं वे ही संसार के इन पदार्थों से कल्याण प्राप्त कर पाते हैं। इसी प्रकार प्रभु-स्तवन करते हुए वे भटकते नहीं और कल्याण के भागी होते हैं। ३. 'ऊतिभिः'=शब्द का अर्थ 'कर्मों से' (गति से) भी है। प्रभु क्रियाशील का ही कल्याण करते हैं। इसप्रकार अपने जीवन में 'ज्ञान, उपासना व कर्म' का समन्वय करनेवाला व्यक्ति प्रभु-कृपा का पात्र बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के सखा व स्तोता बनकर प्रभु-कृपा के पात्र हों। प्रभु सबके रक्षक हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इ॒मा नु कं॒ भुव॑ना सीषधा॒मेन्द्र॑श्च॒ विश्वे॑ च दे॒वाः।
य॒ज्ञं च॑ नस्त॒न्वं॑ च प्र॒जां चा॑दि॒त्यैरिन्द्र॑ः स॒ह ची॑क्लृपाति॥ ४॥
आ॒दि॒त्यैरिन्द्र॒ः सग॑णो म॒रुद्भि॑र॒स्माकं॑ भूत्ववि॒ता त॒नूना॑म्।
ह॒त्वाय॑ दे॒वा असु॑रा॒न्यदाय॑न्दे॒वा दे॑व॒त्वम॑भि॒रक्ष॑माणाः॥ ५॥
प्र॒त्यञ्च॑म॒र्कम॑नय॒ञ्छची॑भि॒रादित्स्व॒धामि॑षि॒रां पर्य॑पश्यन्।
अ॒या वाजं॑ दे॒वहि॑तं सनेम॒ मदे॑म श॒तहि॑माः सु॒वीरा॑ः॥ ६॥

व्याख्या २०.६३.१-३ पर द्रष्टव्य है

गत सूक्त की भावना के अनुसार जीवन को सुन्दर बनाता हुआ यह व्यक्ति उत्तम यशवाला 'सुकीर्ति' बनता है। प्रभु का उत्तम कीर्तन करने से भी यह 'सुकीर्ति' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१२५. [पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—सुकीर्तिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

शत्रुओं का अपनोदन

अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व।
अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन्मदेम॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **प्राचः अमित्रान्**=सामने से आनेवाले शत्रुओं को **अपनुदस्व**=परे धकेल दीजिए। इसी प्रकार हे **अभिभूते**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले प्रभो! **अपाचः**=दाहिनी ओर से आनेवाले शत्रुओं को भी **अप**=दूर कीजिए। **उदीचः**=उत्तर की ओर से आनेवाले शत्रुओं को **अप**=दूर कीजिए। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **अधरा च**=पश्चिम से (सूर्य जिस दिशा में नीचे जाता प्रतीत होता है—अधर) आते हुए शत्रुओं को भी **अप**=दूर कीजिए। सब दिशाओं से आनेवाले इन शत्रुओं को हमसे पृथक् कीजिए। २. इन सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं को पराजित करके हम **यथा**=जिस प्रकार **तव**=आपकी **उरौ**=विशाल **शर्मन्**=शरण में **मदेम**=आनन्द में रहें, ऐसी आप कृपा कीजिए।

भावार्थ—चारों दिशाओं से होनेवाले शत्रुओं के आक्रमण से हम बचें। सदा प्रभु की शरण में आनन्द में रहें।

ऋषिः—सुकीर्तिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वासनाशून्य हृदय में प्रभु-भजन

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः॥ २॥

१. हे **अङ्ग**=प्रिय! **यथा**=जैसे **यवमन्तः**=जौ-वाले—जौ की कृषि करनेवाले **चित्**=निश्चय से **यवम्**=जौ को **पूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=पृथक्-पृथक् करके **कुवित्**=खूब ही **दान्ति**=काट डालते हैं। इसी प्रकार **ये**=जो व्यक्ति अपने हृदय-क्षेत्र से वासनाओं को उखाड़ डालते हैं और वासनाशून्य **बर्हिषः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, उस हृदय में **नमःवृक्तिम्**=नमस्कार के वर्जन को **न जग्मुः**=नहीं प्राप्त होते हैं, अर्थात् जो अपने हृदयों को वासनाशून्य बनाते हैं और उन हृदयों में सदा प्रभु के प्रति नमन की भावना को धारण करते हैं, **एषाम्**=इनके **इह इह**=इस-इस स्थान पर, अर्थात् जब-जब आवश्यकता पड़े **भोजननानि**=पालन के साधनभूत भोग्य पदार्थों को प्राप्त कराइए। २. मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि एक-एक करके वासनाओं को विनष्ट करनेवाला हो। वासनाशून्य हृदय में प्रभु को नमन करे। प्रभु इसको योगक्षेम प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—मनुष्य वासनाओं का उद्बर्हण करके वासनाशून्य हृदय में प्रभु के प्रति नमनवाला होता है तो प्रभु उसके योगक्षेम की स्वयं व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—सुकीर्तिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

प्रभु की मित्रता में

नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ॥ ३ ॥

१. **स्थूरि** (अव)=एक बैल से युक्त शकट **ऋतुथा**=समय पर **यातम्**=उद्दिष्ट स्थान पर प्राप्त **नहि अस्ति**=नहीं होता है, इसी प्रकार उस प्रभु के बिना अकेला जीव अपने शरीर-रथ को उद्दिष्ट स्थान पर नहीं ले-जा सकता। सम्पूर्ण सफलता प्रभु से प्राप्त शक्ति पर ही निर्भर करती है। २. यह प्रभु को विस्मृत करनेवाला व्यक्ति **संगमेषु**=सभाओं में उपस्थित न होकर **श्रवः**=ज्ञान को **न विविदे**=नहीं प्राप्त करता है। यह व्यक्ति भोगप्रवण होकर ज्ञानरुचिवाला नहीं रहता, इसलिए **गव्यन्तः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामना करते हुए **अश्वायन्तः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों की कामना करते हुए **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **इन्द्रम्**=उस प्रभु को ही **सख्याय**=मित्रता के लिए चाहते हैं। प्रभु की मित्रता में ही मनुष्य अपने शरीर-रथ को लक्ष्य की ओर ले-चलता है। उसकी इन्द्रियाँ सशक्त बनती है। अंग-प्रत्यंग की शक्ति स्थिर रहती है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में मनुष्य मार्गभ्रष्ट न होकर अपने ज्ञान व बल का वर्धन करता हुआ लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता है।

ऋषिः—सुकीर्तिः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सुरामं विपिपाना

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा। विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ४ ॥

१. 'अश्विना' शरीर में प्राणापान हैं। इनकी साधना से शरीर में सोमशक्ति (वीर्य) की ऊर्ध्वगति होती है। इस सोमशक्ति को प्रस्तुत मन्त्र में 'सुरामम्' कहा गया है। इसके द्वारा जीव उत्तम रमणवाला होता है 'सुष्ठु रमते अनेन'। सोम-रक्षण होने पर ही सब आनन्द-निर्भर हैं। इसी से मनुष्य सौम्य स्वभाव का बनता है और अन्ततः प्रभु को पानेवाला होता है। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **सुरामम्**=उत्तम रमण के साधनभूत सोम का **विपिपाना**=विशेषरूप से पान करते हुए, **शुभस्पती**=सब कर्मों के रक्षक होते हो, **सचा**=परस्पर मिलकर—प्राण-अपान से मिलकर **आसुरे**=असुरों के अधिपति **नमुचौ** (न मुचि)=अत्यन्त कठिनता से पीछा छोड़नेवाले इस अहंकार का हनन करनेवाले होते हो। प्राणसाधना से सब मलों का क्षय होते-होते इस आसुर अहंकारवृत्ति का भी ध्वंस हो जाता है। ३. इस आसुरवृत्ति का संहार करके आप **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **कर्मसु**=कर्मों में **आवतम्**=रक्षित करते हो। कर्मों में लगा रहकर यह साधक वासनाओं की ओर नहीं झुकता और पवित्र बना रहकर प्रभु को पानेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम का रक्षण होकर मनुष्य निरहंकार होता है। कर्मशील बना रहकर पवित्र बना रहता है और प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—सुकीर्तिः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

काव्यैः-दंसनाभिः

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ५ ॥

१. **इव**=जैसे **पितरौ**=माता-पिता **पुत्रम्**=पुत्र को रक्षित करते हैं उसी प्रकार हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय

पुरुष! **उभा अश्विना**=ये दोनों प्राणापान **काव्यैः**=उत्तम ज्ञानों के द्वारा तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों के द्वारा **अवथुः**=तेरा रक्षण करते हैं। प्राणापान हमारे लिए माता-पिता के समान हैं। इनके रक्षणों से हमारा ज्ञान बढ़ता है और हमारी प्रवृत्ति उत्तम कर्मों में होती है। २. यह सब कब होता है? **यत्**=जबकि हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! तू **सुरामम्**=इस रमण के साधनाभूत उत्तम सोम को **व्यपिब**=विशेषरूप से पीनेवाला होता है। प्राणसाधना के द्वारा ही तो इस सोम का पान होता है। ऐसा होने पर **सरस्वती**=यह ज्ञान की अधिष्ठातृ-देवता सरस्वती **शचीभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा (नि० ३.९) तथा उत्तम कर्मों के द्वारा (नि० २.१) **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्**=(भिष्णज् सेवायाम्) सेवित करती है। सोम पान से ज्ञान बढ़ता है और उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम-रक्षण होता है। सोम-रक्षण से ज्ञानवृद्धि व उत्तम कर्मों में अभिरुचि होती है।

ऋषिः—**सुकीर्तिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

निर्द्वेषता-निर्भयता-सुवीरता

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥ ६॥

१. **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **द्वेषः बाधताम्**=द्वेष की भावना को हमसे दूर करे। **सुत्रामा**=वह उत्तम रक्षण करनेवाला **स्ववान्**=सब धनोंवाला व आत्मिक शक्तिवाला प्रभु **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा हमारे लिए **अभयं कृणोतु**=निर्भयता करें। प्रभु की गोद में बैठे हुए हम आत्मशक्ति-सम्पन्न बनकर निर्भय क्यों न होंगे? २. वे **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनोंवालें प्रभु **सुमृडीकः भवतु**=आवश्यक धनों को प्राप्त कराके हमारे लिए उत्तम सुखों को देनेवाले हों। व्यर्थ के भोगों में न फँसकर हम **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति के **पतयः**=रक्षक **स्याम**=हों।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम निर्द्वेष, निर्भय व सुवीर बनें।

ऋषिः—**सुकीर्तिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुमति+सौमनस

स सुत्रामा स्वावाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ७॥

१. **सः**=वह **सुत्रामा**=उत्तम त्राण करनेवाला **स्वावान्**=आत्मिक शक्ति से सम्पन्न **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक प्रभु **अस्मत्**=हमसे **द्वेषः**=द्वेष को **आरात् चित्**=निश्चय से बहुत दूर प्रवाहित करके **युयोतु**=पृथक् कर दे। 'यह द्वेष हमारे समीप फिर न आसके' इस रूप में प्रभु इसे हमसे दूर करें। २. **तस्य यज्ञियस्य**=उस यज्ञिय—पूज्य प्रभु की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **वयम् स्याम**=हम हों **अपि**=और **भद्रे सौमनसे**=उस उत्तम मन में स्थित हों जो सबका भद्र व कल्याण ही सोचता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें सुमति व सौमनस प्राप्त हो। द्वेष हमसे दूर हो।

'सुमति व सौमनस' को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'वृषाकपि' बनता है—शक्तिशाली व वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला। यह 'इन्द्र' परमैश्वर्यशाली प्रभु का उपासक होने से 'इन्द्र' कहलाता है। 'इन्द्राणी' प्रकृति प्रभु का सामर्थ्य है। उस प्रकृति की ओर झुकनेवाली ऋषिका भी 'इन्द्राणी' है। ये ही अगले सूक्त के द्रष्टा है—

१२६. [षड्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

प्रभु-मित्रता में आनन्द

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत।

यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १॥

१. **हि**=निश्चय से **सोतोः**=ज्ञान को उत्पन्न करने के हेतु से **वि असृक्षत**=विशेषरूप से इन इन्द्रियों का निर्माण हुआ है, परन्तु सामान्यतः ये तत्त्वज्ञान की ओर न झुककर विषयों की ओर भागती हैं। **देवम् इन्द्रम्**=उस प्रकाशमय प्रभु का **न अमंसत**=मनन नहीं करतीं। २. ये इन्द्रदेव प्रभु वे हैं, **यत्र**=जिनमें स्थित हुआ-हुआ **वृषाकपिः**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला (कपि) शक्तिशाली (वृषा) पुरुष **अमदत्**=आनन्द का अनुभव करता है। यह वृषाकृषि **अर्यः**=स्वामी बनता है, इन्द्रियों का दास नहीं होता। **पुष्टेषु**=अंग-प्रत्यंग की शक्तियों का पोषण करने पर **मत्सखा**=(माद्यति इति मत्) इस आनन्दमय प्रभुरूप मित्रवाला होता है। ३. यह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं। प्रभु-प्राप्ति में सम्पूर्ण प्राप्ति—संसार की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए दी गई हैं। इनके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हुए हम 'वृषाकपि' बनकर प्रभु-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए आतुरता

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः।

नो अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **हि**=निश्चय से जब **परा धावसि**=दूर होते हैं, अर्थात् जब वृषाकपि को आपका दर्शन नहीं होता तब आप **वृषाकपेः**=इस वृषाकपि के **अतिव्यथिः**=अति व्यथित करनेवाले होते हैं। प्रभु-दर्शन के अभाव में वृषाकपि आतुरता का अनुभव करता है। उसे प्रभु-दर्शन के बिना शान्ति कहाँ? २. प्रभु संकेत करते हुए कहते हैं कि **सोमपीतये**=तू सोम-रक्षण के लिए यत्नशील हो। यही प्रभु-दर्शन का साधन है। **अन्यत्र**=अन्यान्य बातों में—विषयवासनाओं में लगे रहने से **अह**=निश्चयपूर्वक तू **नो प्रविन्दसि**=उस प्रभु को नहीं प्राप्त करता है। प्रभु-प्राप्ति का मार्ग एक ही है— 'वीर्यरक्षण'। इस वीर्य की ऊर्ध्वगति से मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और उस समय सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा प्रभु का दर्शन होता है। ये **इन्द्रः**=प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं। इन्हीं को प्राप्त करने में आत्मकामता है।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए हममें आतुरता हो और हम सोमपान=वीर्यरक्षण करते हुए अपने को प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएँ।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

हरितो मृगः

किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः।

यस्मा इरस्यसीदु न्वर्यो वा पुष्टिमद्वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ३॥

१. हे प्रभो! **अयं वृषाकपि**=यह वृषाकपि **त्वाम्**=आपकी प्राप्ति का लक्ष्य करके **किं**

चकार=क्या करता है ? यही तो करता है कि **हरितः**=यह इन्द्रियों का प्रत्याहार करनेवाला बनता है और **मृगः**=आत्मान्वेषण में प्रवृत्त होता है। २. यह आत्मनिरीक्षण करनेवाला और विषयों से इन्द्रियों को प्रत्याहृत करनेवाला वृषाकपि वह है **यस्मा**=जिसके लिए आप **अर्यः**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी होते हुए **वा उ**=निश्चय से **नु**=अब **पुष्टिमत् वसु**=पुष्टिवाले धन को—पोषण के लिए पर्याप्त धन को **इरस्यसि इत्**=देते ही हैं। वे प्रभु **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—हम आत्मानिरीक्षण करें, इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करें। प्रभु हमें पोषक धन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

वराहावतार

यमि॒मं त्वं वृ॒षाक॑पिं प्रि॒यमि॑न्द्राभि॒रक्ष॑सि।
श्वा न्व॑स्य जम्भिष॒दपि॒ कर्णे॑ वराह॒युर्विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यम्**=जिस **इमम्**=इस **प्रियम्**=अपने कर्मों से आपको प्रीणित करनेवाले, अपने हरितत्व व मृगत्व के द्वारा प्रभु का प्रिय बननेवाले **वृषाकपिम्**=वृषाकपि को **त्वम्**=आप **अभिरक्षसि**=शरीर में रोगों से तथा मन में राग-द्वेष से बचाते हो, **नु**=अब ऐसा होने पर **श्वा** (मातरिश्वा) वायु, अर्थात् प्राण **अस्य**=इसके **जम्भिषत्**=सब दोषों को खा जाता है। प्राण-साधना से इसके सब दोष दूर हो जाते हैं। प्राण-साधना से दोष दूर होते ही हैं, मानो प्राण सब दोषों को खा जाते हैं। २. इतना ही नहीं, **कर्णे** (कृ विक्षेपे)=चित्तवृत्ति का विक्षेप होने पर ये प्राण **वराहयुः अपि**=(वरं वरम् आहन्ति, प्रापयति) श्रेष्ठता को प्राप्त करानेवाले प्रभु से मेल करानेवाले भी हैं। प्राणायाम से मन का निरोध होता है और इसप्रकार प्राण हमें प्रभु से मिलाते हैं, जोकि 'वराह' हैं=सब वर पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। इसप्रकार प्राण हमें विषय-समुद्र में डूबने से बचाते हैं। ये **इन्द्रः**=प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—प्रभु-रक्षण प्राप्त होने पर, प्राणसाधना से हम सब दोषों को दूर करके प्रभु से मेलवाले होते हैं।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

विषयदोष-दर्शन

प्रि॒या त॒ष्टानि॑ मे क॒पिर्व्य॑क्ता॒ व्य॑दूदुषत्।
शिरो॒ न्व॑स्य राविषं॒ न सु॒गं दु॒ष्कृते॑ भुवं॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः॥ ५॥

१. प्रकृति कहती है कि **मे**=मुझसे **तष्टानि**=बनाये गये **व्यक्ताः**=(adorned, decorated) अलंकृत **प्रिया**=देखने में बड़े प्रिय लगनेवाले इन विषयों को **कपिः**=यह वृषाकपि—विषयवासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला **व्यदूदुषत्**=दूषित करता है—इन विषयों के दोषों को देखता हुआ इनमें फँसता नहीं। २. प्राकृत मनुष्य इन विषयों के दोषों को न देखता हुआ इनमें आसक्त हो जाता है। **नु**=अब प्रकृति **अस्य शिरः**=इस विषयासक्त पुरुष के सिर को **राविषम्**=(रु to break) तोड़-फोड़ देती है। यह प्रकृति कभी भी **दुष्कृते**=अशुभ कर्म करनेवाले के लिए **न सुगं भुवम्**=सुखकर गमनवाली नहीं होती। वस्तुतः प्रकृति-प्रवण हो जाना ही दोषपूर्ण है। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात्**=सबसे **उत्तरः**=उत्कृष्ट हैं। उन्हीं की ओर चलना श्रेष्ठ है। प्रकृति के भोग तो प्रारम्भ में रमणीय लगते हुए भी परिणाम में विष-तुल्य हैं।

भावार्थ—प्राण-साधना करनेवाला पुरुष विषयदोष-दर्शन करता हुआ उनमें फँसता नहीं। सामान्य व्यक्ति इनमें फँसकर अशुभ मार्ग पर चलता है। इसके लिए यह प्रकृति ही अन्त में घातक हो जाती है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

प्रकृति का आकर्षण

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विषयदोष-दर्शन करनेवाले वृषाकपि से इन्द्राणी (प्रकृति) कहती है कि **मत्**=मुझसे **सुभसत्तरा**=अधिक दीप्तिवाली (भस दीप्तौ) **स्त्री न**=स्त्री नहीं है और **न**=न ही **सुयाशुतरा**=(या+अश्) अधिक उत्तमता से प्राप्त होनेवाली व भोगों को प्राप्त करानेवाली **भुवत्**=है। प्रकृति को प्राप्त करना सुगम है और वहाँ सब भोग प्राप्त होते हैं। **न**=न ही **मत्**=मुझसे अधिक **प्रतिच्यवीयसी**=प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होनेवाली है और **न**=न ही **सक्थि**=आसक्तिपूर्वक **उद्यमीयसी**=स्थिति को उन्नत करनेवाली है। 'सक्थि' शब्द 'सच्' धातु से बनकर आसक्ति व प्रेम के भाव को प्रकट कर रहा है। प्रकृति चमकती है (सुभसत्), विविध भोगों को प्राप्त कराती है (सुयाशु), सबकी ओर आती है (प्रतिच्यवीयसी) और सांसारिक स्थिति को ऊँचा कर देती है (सक्थि उद्यमीयसी)। २. **मे**=मेरा पति **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवान् प्रभु भी तो **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है, अतः इस वृषाकपि का मुझमें दोष देखना तो ठीक नहीं। मेरे प्रति उसका आकर्षण होना ही चाहिए।

भावार्थ—प्रकृति चमकती है, सामान्यतः मनुष्य उसकी ओर आकृष्ट होता ही है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

माता, नकि स्त्री

उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति।
भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ७॥

१. वृषाकपि उत्तर देता हुआ कहता है कि **उवे अम्ब**=हे मातः! हे **सुलाभिके**=सब उत्तम लाभों को प्राप्त करानेवाली! **अङ्ग**=प्रिय मातः! **यथा इव भविष्यति**=जैसा आप कहती हो वैसा ही होगा। आप 'सुभतरा, सुयाशुतरा, प्रतिच्यवीसी व सक्थ्युद्यमीयसी' ही हैं। आपके पुत्र के नाते **मे**=मेरी **भसत्**=दीप्ति, **मे सक्थि**=माता-पिता के प्रति मेरा प्रेम अथवा सब भाइयों के प्रति स्नेह तथा **मे शिरः**=मेरा उन्नति के शिखर पर पहुँचना **वि हृष्यति इव**=विशिष्ट प्रसन्नतावाला-सा होता है। २. यह तो आप ठीक ही कहती हो कि **इन्द्रः**=वे प्रभु **विश्वस्मात्**=सबसे **उत्तरः**=अधिक उत्कृष्ट हैं। मुझे भी उस प्रभु को पाने के लिए सब-कुछ छोड़ना स्वीकार है। ३. यहाँ वृषाकपि प्रकृति को 'अम्ब' इस रूप में सम्बोधन करता हुआ यही संकेत करता है कि प्रकृति मेरी स्त्री नहीं, अपितु माता है। यह प्रकृति मेरे लिए उपभोग्य न होकर आदरणीय है। इस प्रकृतिमाता से मैंने आवश्यक सहायता प्राप्त करनी है। इस भावना के होने पर ही प्रकृति 'सुलाभिका' होती है। प्रकृति को इस रूप में देखनेवाला ही दीप्ति व प्रेम प्राप्त करके उन्नति के शिखर पर पहुँचता है।

भावार्थ—प्रकृति को हम माता समझकर चलेंगे तो उसके प्रति आसक्त न होकर, दीप्त प्रेमयुक्त जीवनवाले बनकर उन्नत होंगे।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

वृषाकपि की प्रशस्त भावना

किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने।
किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्य॑मीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ८॥

१. इन्द्र इन्द्राणी से कहता है कि हे **सुबाहो**=उत्तम बाहुओंवाली **स्वंगुरेः**=उत्तम अंगुलियोंवाली, **पृथुष्टो**=विशाल केशसमूहवाली **पृथुजाघने**=विशाल जघनोंवाली तुम **किम्**=वृषाकपि के प्रति क्यों रुष्ट होती हो। **मा**=मुझ **शूरपत्नि**=शूर की पत्नी होती हुई **त्वम्**=तू **किम्**=क्यों **वृषाकपिम्**=वृषाकपि के प्रति **अभि अमीषि**=क्रोध करती है? २. तू सुन्दर है, आकर्षक है, तेरा अंग-प्रत्यंग मनोहर है। ऐसा होने पर भी तेरा पुत्र वृषाकपि तेरे प्रति मातृभावना रखता हुआ तेरा समुचित आदर करता है। इससे बढ़कर क्या बात हो सकती है कि हमारा पुत्र वृषाकपि इतनी उत्कृष्टवृत्तिवाला है। ३. इतना तो तूने भी कहा है कि मेरा पति **इन्द्रः**=इन्द्र **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है। तुझे इसी बात पर गर्व होना चाहिए कि हमारा लड़का सचमुच वृषाकपि है—वासनाओं को कम्पित करके शक्तिशाली बना है।

भावार्थ—प्रकृतिरूप स्त्री अत्यन्त आकर्षक है। वह प्रभु की पत्नी है। जीव की तो वह माता ही है, पत्नी नहीं।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

प्रकृति 'अवीरा' नहीं, 'वीरिणी' है

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ९॥

१. 'प्रकृति इतनी आकर्षक है फिर भी वृषाकपि उससे आकृष्ट नहीं हुआ' यह देखकर प्रकृति क्रुद्ध-सी होती है और कहती है कि **अयं शरारुः**=यह सब वासनाओं का संहार करनेवाला (प्रकृति की दृष्टि में शरारती) **माम्**=मुझे **अवीराम् इव मन्यते**=अवीर, अवीर-सा मानता है। मैं अवीर थोड़े ही हूँ? **उत अहम्**=निश्चय से मैं तो **वीरिणी अस्मि**=उत्कृष्ट वीरता-(पुत्र)-वाली हूँ। **इन्द्रपत्नी**=इन्द्र की पत्नी हूँ। **मरुत्सखा**=ये मरुत् (प्राण) मेरे मित्र हैं और यह तो सब कोई जानता ही है कि मेरा पति **इन्द्रः**=इन्द्र **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है। ऐसी स्थिति में यह कैसे सहनीय हो सकता है कि यह वृषाकपि मेरा निरादर करे। २. यहाँ 'इन्द्रपत्नी' शब्द का प्रयोग करके प्रकृति स्वयं अपने पक्ष को शिथिल कर लेती है। वृषाकपि उसे इन्द्रपत्नी जानकर ही तो माता के रूप में देखता है। 'मरुत्सखा' शब्द भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इन मरुतों=प्राणों ने ही उसे वासनात्मक जगत् से ऊपर उठाकर प्रकृति के आकर्षण में फँसने से बचाना है। एवं, इन्द्राणी के मित्र ये मरुत् ही वृषाकपि को वृषाकपित्व प्राप्त कराते हैं। प्रकृति वीरिणी है, प्रकृति का पुत्र वृषाकपि भी वीर बनता है। यह प्रलोभन में फँसने से बचता है।

भावार्थ—प्रकृति वीरिणी है। उसका पुत्र वृषाकपि वीर बनकर अपनी माता का (प्रकृति का) सच्चा आदर करता है।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

युद्धों व यज्ञों में

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तर॥ १०॥

१. **पुरा**=पहले—उत्कृष्ट युग में, धर्म का ह्रास होने से पूर्व **नारी**=पत्नी **होत्रम्**=यज्ञ के प्रति **संगच्छति स्म**=पति के साथ मिलकर जाती थी तथा **वाव**=निश्चय से **समनम्**=युद्ध के प्रति जाती थी। पत्नी 'धर्मपत्नी' थी। वह पति के साथ यज्ञों व युद्धों में सहायक होती थी। 'इत्थं युद्धैश्च यज्ञैश्च भजामो विष्णुमीश्वरम्' इस वाक्य के अनुसार वे धर्मयुद्धों व यज्ञों से उस सर्वव्यापक ईश को भजते थे। २. यह पत्नी घर में **ऋतस्य वेधा**=सब यज्ञों व श्रेष्ठतम (ठीक) कार्यों का विधान करती थी। परिणामतः यह **वीरिणी**=वीर सन्तानोंवाली होती है। यह **इन्द्रपत्नी**=जितेन्द्रिय पुरुष की पत्नी **महीयते**=महिमा को प्राप्त करती है। ऐसी ही नारियों का आदर होता है। इनकी दृष्टि में **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट होते हैं। ये इस इन्द्र का ही पूजन करती हैं।

भावार्थ—स्त्री अपने को आकर्षक बनाने की अपेक्षा धार्मिक व वीर बनने का ध्यान करे। उसकी वृत्ति वैषयिक न हो। वह युद्धों व यज्ञों में पति की सहायिका बने।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

इन्द्राणी का अजरामर सौभाग्य

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।

नह्य ऽस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ११॥

१. **इन्द्राणीम्**=इन्द्राणी को **आसु नारिषु**=इन नारियों में **अहम्**=मैं **सुभगाम्**=उत्तम भाग्यवाला **अश्रवम्**=सुनता हूँ चूँकि **अस्याः**=इसका **पतिः**=स्वामी इन्द्र **अपरंचन**=अन्य पतियों के समान **जरसा**=बुढ़ापे से **हि**=निश्चयपूर्वक **न मरते**=मृत्यु को प्राप्त नहीं हो जाता। इन्द्र अजरामर हैं, अतः इन्द्रपत्नी इन्द्राणी का सौभाग्य भी अजरामर बना रहता है। **विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः**=इस अजरामरता के कारण परमैश्वर्यशाली प्रभु सबसे उत्कृष्ट हैं। २. प्रभु 'इन्द्र' हैं। प्रकृति 'इन्द्राणी' है। यह प्रभु की पत्नी के समान है। प्रकृति का यह कितना सौभाग्य है कि जहाँ अन्य व्यक्तियों के जरा से समाप्त हो जाने के कारण अन्य नारियों का सौभाग्य भी कुछ देर के लिए होता है, वहाँ प्रकृति का सौभाग्य, इन्द्र के अजरामर होने से अक्षुण्ण बना रहता है।

भावार्थ—पति प्रभु के अजरामर होने से पत्नी 'प्रकृति' का सौभाग्य भी अमर बना रहता है। पत्नी ने सदा पति के दीर्घजीवन की कामना करनी, जिससे वह स्वयं सौभाग्यवती बनी रहे।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

'अप्य हवि' का महत्त्व

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते।

यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १२॥

१. प्रभु प्रकृति से कहते हैं कि **इन्द्राणि**=हे प्रकृते! **अहम्**=मैं **सख्युः**=इस मित्र (द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया) **वृषाकपेः**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले और अतएव शक्तिशाली इस वृषाकपि के **ऋते**=बिना **न रारणे**=इस सृष्टिरूप क्रीड़ा को नहीं करता हूँ। यह सारी सृष्टिरूप क्रीड़ा इस मित्रभूत जीव के लिए ही तो है। आप्तकाम होने से मुझे इसकी आवश्यकता नहीं, जड़ता के कारण तुझे (प्रकृति को) इसकी आवश्यकता नहीं। जीव ही तो इसमें साधन-सम्पन्न होकर उन्नत होता हुआ मोक्ष तक पहुँचता है। २. वह जीव **यस्य**=जिसकी **इदम्**=यह **अप्यम् हविः**=रेतःकण-सम्बन्धी हवि **प्रियम्**=इसे प्रीणित करनेवाली होती है और इसे कान्ति प्रदान

करती है। (प्री तर्पणे कान्तौ च) तथा **देवेषु गच्छति**=सब इन्द्रियरूप देवों में जाती है। रेत:कणों का रक्षण ही शरीर में इस 'अप्य हवि' को आहुत करता है। यह हवि शरीर को कान्त बनाती है और इन्द्रियों को सशक्त। २. इस अप्य हवि के द्वारा सब शक्तियों का वर्धन करके यह जीव अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—प्रभु इस सृष्टि का निर्माण जीव के लिए करते हैं। भोगों में न फँसकर जब यह शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करता है तब यह शुभ को पहचान पाता है और मोक्ष का भागी होता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

आत्मा की पत्नी बुद्धि

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुनुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १३॥

१. हे प्रकृते! तू **वृषाकपायि**=इस वृषाकपि की माता है। वृषाकपि का उत्कर्ष इसी में है कि वह माता को माता के रूप में देखे और इससे सहायता लेता हुआ इसके भोगों में आसक्त न हो। **रेवति**=हे प्रकृते! तू तो ऐश्वर्य-सम्पन्न है। **सुपुत्रे**=यह वृषाकपि तेरा उत्तम पुत्र है। इसे तू आवश्यक ऐश्वर्य देती ही है। **आत् उ**=और अब **सुनुषे**=हे प्रकृते! तू उत्तम स्नुषावाली है। वृषाकपि तेरा पुत्र है और इस वृषाकपि की पत्नी 'बुद्धि' तेरी स्नुषा है। इस बुद्धि के द्वारा चलता हुआ वृषाकपि अपने जीवन को उत्तम बना पाता है। २. यह वृषाकपि उन्नत होता हुआ अपने पिता के अनुरूप बनकर 'इन्द्र' ही बन जाता है। यह **इन्द्रः**=इन्द्र **ते**=तेरे, अर्थात् प्राकृतिक आहार से उत्पन्न हुए-हुए **उक्षणः**=शरीर को शक्ति से सिक्त करनेवाले वीर्यकणों को **घसत्**=खाता है—इन्हें अपने शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। यह उसके लिए **प्रियम्**=प्रीणित करनेवाली **काचित् करम्**=निश्चय से सुख देनेवाली **हविः**=हवि होती है। इस हवि की वह शरीर-यज्ञ में आहुति देता है। यही उक्षा (वीर्य) का भक्षण है। इस हवि के सेवन से वह अत्यन्त तीव्र बुद्धि होकर उस प्रभु का दर्शन करता है और कहता है कि **इन्द्रः**=परमैश्वरशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट है।

भावार्थ—वीर्यरूप हवि की शरीराग्नि में ही आहुति देना सच्चा जीवन-यज्ञ है। इस यज्ञ को करानेवाला प्रभु को 'पुरुषोत्तम' के रूप में देखता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

परिपाक

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १४॥

१. **उक्ष्णः**=शरीर में शक्ति का सेचन करनेवाले वीर्यकणों को **हि**=निश्चय से **मे**=मेरे **पञ्चदश**=पन्द्रह—दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण **साकम्**=साथ-साथ **पचन्ति**=परिपक्व करनेवाले होते हैं। विषयव्यावृत्त इन्द्रियों तथा प्राणायाम द्वारा सिद्ध किये हुए प्राण वीर्यकणों को शरीर में ही परिपक्व करनेवाले होते हैं। वीर्यकणों के परिपाक के द्वारा ये प्राण **विंशतिम्**=एकोनविंशति मुखोंवाले इस बीसवें आत्मा को भी परिपक्व करते हैं, अर्थात् ये इन्द्रियाँ व प्राण आत्मिक शक्ति के विकास का कारण बनते हैं। २. **उत**=और **अहम्**=मैं **अद्मि**=इन वीर्यकणों को शरीर में खाने

का प्रयत्न करता हूँ। **इत्**=निश्चय से **पीवः**=मैं हृष्ट-पुष्ट बनता हूँ। ये सुरक्षित वीर्यकण **मे**=मेरी **उभा कुक्षी**=दोनों कुक्षियों को **पृणन्ति**=(Protect) सुरक्षित करते हैं। इन कणों के रक्षण से गुर्दे इत्यादि की बीमारियाँ नहीं होती। ३. इस स्वस्थ अवस्था में मैं उस प्रभु का स्मरण करता हूँ जोकि **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली होते हुए **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—विषयव्यावृत्त इन्द्रियों व प्राणसाधना से वीर्य का परिपक्व होकर आत्मिक शक्ति का विकास होता है। प्रसंगवश यह वीर्य का परिपाक गुर्दे आदि के कष्टों से भी हमें बचाता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

तिग्मशृंगवृषभ

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १५॥

१. वे प्रभु **तिग्मशृंगः वृषभः न**=पैने सींगोंवाले वृषभ के समान हैं। जैसे एक वृषभ मार्ग-विघातक को अपने तेज सींगों के द्वारा दूर कर देता है, उसी प्रकार प्रभु हमारे शत्रुओं को दूर करनेवाले हैं, इसीलिए स्थानान्तर में 'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' इन शब्दों में कहा है कि प्रभु बालोंवाले घोड़े के समान हैं। जैसे घोड़ा पूँछ से मक्खियों को दूर करता है, उसी प्रकार प्रभु हमारी वासनाओं को दूर करते हैं। ये वृषभ के समान प्रभु **यूथेषु अन्तः**=जीव-समूह के अन्दर **रोरुवत्**=खूब गर्जना कर रहे हैं। हृदयस्थरूपेण वे प्रभु 'ज्ञान, कर्म व उपासना' की विविध प्रेरणा दे रहे हैं। उस प्रेरणा के अनुसार चलने पर हम वासनाओं के आक्रमण से बचे रहते हैं। २. हे **इन्द्र**=प्रभो! **ते**=आपका **मन्थः**=मन्थन—चिन्तन **हृदे शम्**=हृदय के लिए शान्ति देनेवाला होता है। **यम्**=जिस **ते**=आपके मन्थन व विचार को **भावयुः**=भक्तिभाव से युक्त उपासक **सुनोति**=अपने में उत्पन्न करता है और सदा इस रूप में सोचता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं। प्रभु को सर्वोत्कृष्ट रूप में देखनेवाला ही प्रभु का उपासक बनता है। उस समय प्रभु उसे सतत प्रेरणा देते हैं और उसके शत्रुओं को दूर कर देते हैं।

भावार्थ—उपासक के लिए प्रभु तिग्मशृंग वृषभ के समान रक्षक होते हैं।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

ध्यान व ज्ञान

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत्।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से रक्षित होकर जो व्यक्ति प्रभु के ध्यान में लगता है और **यस्य**=जिसका **सक्थि**=(सच् समवाये) प्रभु से मेलवाला व **कपृत्**=अपने में आनन्द का पूरण करनेवाला मन **अन्तरः**=अन्दर ही **आरम्बते**=स्थिर होता है—आश्रय करता है, **न स ईशे**=वह ही ईश नहीं है, अपितु **स इत् ईशम्**=वास्तविक ईश तो यह है **निषेदुषः**=नम्रता से आचार्यचरणों में बैठनेवाले **यस्य**=जिसका **रोमशम्**=(रोमणि शेते, सामानि यस्य लोमानित) साममन्त्रों में निवास करनेवाला मन **विजृम्भते**=विकसित होता है, अर्थात् जिसका मन ऋचाओं व यजुर्मन्त्रों का अध्ययन करके साममन्त्रों में निवास करता है, दूसरे शब्दों में जिसका मन सम्पूर्ण ज्ञान में अवस्थित होता है। २. यह ज्ञानी अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—जैसे ध्यानी पुरुष मन का ईश बनता है, उसी प्रकार ज्ञानी भी मन का वास्तविक

ईश बनता है।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

ज्ञान व ध्यान

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते।
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १७॥

१. गतमन्त्र की भावना को ही क्रम बदलकर कहते हैं कि **न स ईशे**=वह ही ईश नहीं है **निषेदुषः**=आचार्यचरणों में नम्रता से बैठनेवाले **यस्य**=जिसका **रोमशम्**=(सामानि यस्य लोमानि) साममन्त्रों में निवास करनेवाला मन **विजृम्भते**=ज्ञान के दृष्टिकोण से अधिकाधिक विकसित होता चलता है, **स इत्**=वह भी **ईशे**=ईश है, **यस्य**=जिसका **सक्थि**=प्रभु से मेलवाला **कपृत्**=परिणामतः अपने में आनन्द को भरनेवाला मन **अन्तरा**=अन्दर ही **आरम्बते**=स्थिर होता है। अन्तःस्थित हुआ-हुआ मन प्रभु का आश्रय करता है। २. यह मन अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्य-शाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार में उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—जहाँ ज्ञान मनुष्य को विषयों के तात्त्विक स्वरूप का चिन्तन कराके उनसे ऊपर उठाता है, वहाँ ध्यान भी प्रभु-प्राप्ति का आनन्द देकर वैषयिक आनन्द की तुच्छता को स्पष्ट कर देता है।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

अ-पराधीनता

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हृतं विदत्।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आपका **अयम्**=यह पुत्र **वृषाकपिः**=वासनाओं को कम्पित करनेवाला और अतएव शक्तिशाली सन्तान **परस्वन्तम्**=पराधीन को—इन्द्रियों के अधीन हुए-हुए पुरुष को **हतं विदत्** (विद् ज्ञाने)=मृत जानता है। इन्द्रियों की अधीनता (दासता) मृत्यु का ही कारण बनती है। इन्द्रियों को जीतकर ही हम आनन्दमय जीवन बिता सकते हैं। २. यह जितेन्द्रिय पुरुष **असिम्**=(अस् क्षेपणे) वासनाओं के दूर फेंकने को, **सूनाम्**=(सू प्रेरणे) प्रभु की प्रेरणा को—इस प्रेरणा से ही तो यह निरन्तर वासनाओं को दूर करने के लिए यत्नशील होता है **नवं चरुम्**=(नु स्तुतौ, चर भक्षणे) वासनाओं को न उत्पन्न होने देने के लिए ही स्तुत्य भोजन को—राजस व तामस् भोजनों को छोड़कर सात्त्विक आहारों को और **आत्**=इनके बाद **ऐधस्य**=ज्ञानदीप्ति के **आचितम्**=समन्तात् व्याप्तिवाले **अनः**=शरीर-रथ को **विदत्**=प्राप्त करता है (विद् लाभे)। ३. यह अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों की दासता विनाश का मार्ग है। इनको जीतकर ही हम शरीर-रथ को ज्ञानदीप्त बना पाते हैं।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

'दास व आर्य' का विवेक

अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १९॥

१. वृषाकपि कहता है कि **अयम्**=यह मैं **विचाकशत्** (कश् to sound)=प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ **एमि**=गतिशील होता हूँ—अपने कार्यों में प्रवृत्त होता हूँ। मैं अपने जीवन में **दासम्**=(दस उपक्षये) नाशक वृत्ति को तथा **आर्यम्**=श्रेष्ठ वृत्ति को **विचिन्वन्**=विविक्त करता हुआ गति करता हूँ। दास वृत्तियों को छोड़ता हुआ आर्य वृत्तियों को अपनाता हूँ। २. **पाकसुत्वनः**=जीवन के परिपाक के लिए उत्पन्न किये गये सोम का **पिबामि**=मैं पान करता हूँ। इस सोम को शरीर में ही व्याप्त करने से नवशक्तियों का सुन्दर परिपाक होता है। इस परिपाक से मैं **धीरम्**=उस ज्ञान देनेवाले प्रभु को **अभि अचाकशम्**=प्रातः-सायं स्तुत करता हूँ कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सारे संसार से अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—सोम का शरीर में व्यापन होने पर जीवन की शक्तियों का उत्तम परिपाक होता है। यह व्यक्ति ही प्रभु का स्तवन व दर्शन कर पाता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

संसार-मरीचिका

धन्व॑ च॒ यत्कृ॒न्तत्रं॑ च॒ कति॑ स्वि॒त्ता वि योज॑ना।
नेदी॑यसो वृषाक॒पेऽस्त॒मेहि॑ गृ॒हाँ उप॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः॥ २०॥

१. यह संसार एक मृगतृष्णा के दृश्य के समान है। **धन्व च**=यह मरुस्थल तो है ही—जैसे मरुस्थल में एक मृग पानी की कल्पना करके प्यास बुझाने के लिए उधर भागता है—परन्तु उस स्थान पर पहुँचने पर वहाँ पानी न पाकर रेत को ही पाता है और दूर पर फिर पानी के दृश्य को देखता है और उधर भागता है। इसप्रकार यह मरीचिका उसकी शक्ति को छिन्न-भिन्न करती चलती है **यत् कृन्तत्रं च**=यह काटनेवाली तो है ही और फिर **ता**=वे मरीचिका के दृश्य **कतिस्वित्**=कितने ही **योजना**=योजनों तक **वि**=(वि तत) विस्तृत होते हैं। इन योजनों तक फैले दृश्यों में आसक्त मृग जैसे मर जाता है, इसी प्रकार मनुष्य के लिए संसार के विषय **धन्व च**=मरुस्थल के समान हैं, **च**=और **कृन्तत्रम्**=उसकी शक्तियों को छिन्न-भिन्न करनेवाले हैं और **ता**=वे विषय जीवन-यात्रा में न जाने **कतिस्वित् योजना**=कितने ही योजनों तक चलते हैं। अन्त में वे मनुष्य को भ्रान्त करके समाप्त कर देते हैं। २. हे **वृषाकपे**=शक्तिशाली तथा वासनाओं को कम्पित करनेवाले जीव! तू इन विषय-मरीचिकाओं में न उलझकर **नेदीयसः**=अपने अत्यन्त समीप निवास करनेवाले प्रभु के **अस्तम् ऐहि**=गृह को आ। हृदय ही प्रभु का गृह है। विषय-व्यावृत्त होकर हम अन्तर्मुख यात्रा करते हुए हृदय में स्थित होने के लिए यत्नशील हों। **गृहान् उप**=इन प्रभु-गृहों के समीप रहनेवाले बनें और यह अनुभव करें कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—संसार की मरीचिका में कोसों भटकते रहने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि हम हृदयरूप गृह में प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

स्वप्न-नंशनः (नींद से उठ बैठना)

पुन॒रेहि॑ वृषाकपे सुवि॒ता क॑ल्पयावहै।
य ए॒ष स्व॑प्न॒नंश॒नोऽस्त॒मेषि॑ प॒था पुन॒र्विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः॥ २१॥

१. हे **वृषाकपे**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले वृषाकपे! तू **पुनः**=फिर **एहि**=घर में प्राप्त हो। इधर-उधर भटकने की अपेक्षा तू मन को निरुद्ध करके हृदय में आत्मदर्शन

करनेवाला हो। प्रभु कहते हैं कि मैं और तू मिलकर **सुविता**=उत्तमकर्मों को (सु-इता) **कल्पयावहै**=करनेवाले हों। जीव प्रभु की शक्ति का माध्यम बने, जीव के माध्यम से प्रभु-शक्ति उत्तम कार्यों को सिद्ध करनेवाली हो। २. जीव इस दुनिया की चमक में अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है और अपने लक्ष्य को वह सदा भूला-सा रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वह सो गया हो। अब **स्वप्नंनंशनः**=इस नींद को समाप्त करनेवाला तू अपने लक्ष्य का स्मरण करता है और **अस्तम् एषि**=फिर से घर में आता है। **पुनः**=फिर **पथा**=ठीक मार्ग से चलता हुआ हृदयरूप गृह में प्रभु का दर्शन करता है और अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ—इस संसार में हमें सोते नहीं रह जाना। जागकर लक्ष्य की ओर बढ़ना है। प्रभु की शक्ति का माध्यम बनकर सदा उत्तम कर्मों को करना है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

'उदङ्' नकि 'पुल्वघ-मृग-जनयोपन'

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन।
क्व१स्य पुल्वघो मृगः कमगं जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ २२॥

१. हे **वृषाकपे**=वासनाओं को कम्पित करनेवाले शक्तिशाली जीव! **यत्**=जब **उत् अञ्चः**=लोग उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाले होते हैं, तभी वे **गृहम्**=घर को **अजगन्तन**=प्राप्त होते हैं। ब्रह्मलोक ही वस्तुतः इस जीव का घर है। उत्कृष्ट मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति इस गृह को प्राप्त करते हैं। २. परन्तु हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **स्यः**=वह **पुल्वघः**=बहुत पापोंवाला **मृगः**=सदा विलास की वस्तुओं को व परछिद्रों को खोजनेवाला (मृग अन्वेषणे) व्यक्ति ब्रह्मलोकरूप गृह में **क्व**=कहाँ आ पाता है? **जनयोपनः**=लोगों को पीड़ित करनेवाला **कम् अगन्**=किसको प्राप्त करता है? यह हिंसक पुरुष ब्रह्मलोक को क्या प्राप्त करेगा? उन्नति-पथ पर चलनेवाला पुरुष ही जान पाता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—हम 'उदङ्' बनें। 'पुल्वघ, मृग व जनयोपन' न बनें।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

मानवी की महिमा

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।
भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ २३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमें 'उदङ्' बनना है। यह तभी हो सकता है जब हमारी बुद्धि स्थिर हो। यह बुद्धि मानो मनु की सन्तान है, इसीलिए इसे 'मानवी' कहा गया है। यही मानव की पत्नी है—उसकी शक्ति है। यही उसका कल्याण करती है। यह **ह**=निश्चय से **पर्शुः नाम**='पर्शु' इस नामवाली है। यह वासना-वृक्षों के लिए सचमुच कुल्हाड़े के समान है। २. यह बुद्धि मनुष्य की वासनाओं को छिन्न-भिन्न करके सभी इन्द्रियों व सभी प्राणों को ठीक रखती है। दसों इन्द्रियों व दसों प्राणों को विकसित करने के कारण यह बुद्धि इन बीस सन्तानोंवाली कहलाती है। **साकम्**=साथ-साथ **विंशतिम्**=इस बीस को यह **ससूव**=उत्पन्न करती है। ३. हे **भल**=सर्वद्रष्टा प्रभो! **त्यस्याः**=उस बुद्धि का **भद्रम् अभूत्**=भला हो, **यस्याः**=जिसका हमारी दुर्गति को देखकर **उदरम् आमयत्**=पेट पीड़ावाला हुआ, अर्थात् जिसको हमारी दुर्गति अखरी। हमारी दुर्गति को दूर करने के लिए ही इसने वासनाओं का विनाश किया और हमें

अनुभव कराया कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सर्वोत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—अन्ततः बुद्धि ही हमारा कल्याण करती है—यही मानवी है। वासना-वृक्षों के लिए पर्शु बनकर यह हमारी इन्द्रियों व प्राणशक्तियों को उत्कृष्ट बनाती है।

इस बुद्धि को विकसित करनेवाला व्यक्ति सब बुराइयों को (कु) सन्तप्त व विनष्ट (ताप) करनेवाला बनता है। सो यह 'कुन्ताप' कहलाता है। अगले दस सूक्त इसी ऋषि के हैं, अतः ये 'कुन्ताप-सूक्त' कहलाते हैं।

अथ कुन्तापसूक्तानि॥

१२७. [सप्तविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

षष्टिं-सहस्रा-नवतिं (च)

इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते।
षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे॥ १॥

१. **जनाः**=हे लोगो! **इदम् उपश्रुत**=इस बात को ध्यान से सुनो। **नराशंसः**=उन्नति-पथ पर चलनेवालों से शंसनीय वह प्रभु **स्तविष्यते**=हमसे स्तुत होगा। हम प्रभु का स्तवन करेंगे, आप सब प्रभु-स्तवन को सुनने का अनुग्रह करो। २. प्रभु-स्तवनपूर्वक **कौरमे**=(कु+रम्) इस पृथ्वी पर क्रीड़ा करनेवाले में—क्रीड़क की मनोवृत्ति से सब कार्यों को करनेवाले में तथा **रुशमेषु**=काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले में हम **षष्टिं** (ष=wise) अतिशयित बुद्धिमत्ता को **सहस्रा** (स हस्)=आनन्दमयी मनोवृत्तियों को तथा **नवतिम्**=(नवते to go) क्रियाशीलता को **आदद्महे**=सब प्रकार से ग्रहण करते हैं। ३. वस्तुतः प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला व्यक्ति 'कौरम व रुशम' बनता है। यह सब स्थितियों को क्रीडक की मनोवृत्ति से करता है तथा वासनाओं का संहार करता है। परिणामतः यह बुद्धिमत्ता (षष्टिं) मनःप्रसाद (स-हस्रा) तथा क्रियाशीलता को (नवति) प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम क्रीडक की मनोवृत्तिवाले व वासनाओं का संहार करनेवाले बनें। ऐसी स्थिति में हम 'बुद्धि-प्रसाद व क्रियाशीलता' के द्वारा मस्तिष्क, हृदय व शरीर—तीनों का स्वास्थ्य प्राप्त करेंगे।

'दिवः ईषमाणाः, उपस्पृशः'

उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वधूमन्तो द्विर्दश।
वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईषमाणा उपस्पृशः॥ २॥

१. गतमन्त्र में वर्णित स्तोता वह है **यस्य**=जिसके **प्रवाहणः**=(प्रवाहिणः) प्रकृष्ट गतिवाले **द्विःदश**=दस प्राण तथा दस इन्द्रियाँ—ये बीस तत्त्व—**वधूमन्तः**=बुद्धिरूप प्रकृष्ट वधूवाले होते हुए **उष्ट्राः**=सब दोषों का दहन करनेवाले होते हैं (उष दाहे)। आत्मा पति है और बुद्धि उसकी पत्नी है। (आत्मा Adam है तो बुद्धि Eve)। जब इन्द्रियों व प्राणों के साथ इस उत्कृष्ट बुद्धि का सम्पर्क होता है तब ये प्राण व इन्द्रियाँ सब दोषों का दहन करनेवाली होती हैं। २. उस समय **रथस्य**=इस शरीर-रथ के **वर्ष्मा**=(Surface of a mountain) शिखर (शिरःस्थ आँख, कान, नाक, मुख) **निजिहीडते**=इन सब प्राकृतिक भोगों का निरादर करते प्रतीत होते हैं। यह स्तोता प्राकृतिक भोगों में नहीं फँसता। इस स्तोता के शरीर-रथ के शिखर **दिवः ईषमाणाः**=प्रकाश की ओर गतिवाले होते हैं और अन्ततः **उपस्पृशः**=उस प्रभु को समीपता से स्पर्श करनेवाले होते

हैं।

भावार्थ—स्तोता की इन्द्रियाँ व प्राण प्रकृष्ट बुद्धि से युक्त होकर गतिशील होते हैं और सब दोषों का दहन करनेवाले होते हैं। अब यह स्तोता प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठता है और प्रकाश की ओर चलता हुआ प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है।

शतं निष्कान्-दश स्रजः

एष इषाय मामहे शतं निष्कान्दश स्रजः।
त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम्॥ ३॥

१. **एषः**=यह स्तोता **इषाय**=प्रभु-प्रेरणा की प्राप्ति के लिए **मामहे**=खूब ही प्रभु-पूजन करता है। प्रभु-पूजन करता हुआ यह स्तोता अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनता है और प्रभु से दिये हुए **शतं निष्कान्**=सैकड़ों कण्ठ की भूषणभूत ज्ञानमालाओं को आदृत करता है। प्रभु से दिये गये ये ज्ञान इस स्तोता के **निष्क** (neckless)=कण्ठहार—बनते हैं। प्रभु-प्रदत्त **दश स्रजः**=(सृजन्ति) ज्ञान व कर्मों का उत्पादन (सृष्टि) करनेवाली इन्द्रियों को आदर देता है। इन इन्द्रियों का ग़लत प्रयोग नहीं करता। २. यह स्तोता **शतानि**=शतवर्षपर्यन्त चलनेवाले **अर्वताम् त्रीणि**=वासनाओं के संहार के तीन को—कामसंहार, क्रोधसंहार व लोभसंहार को आवृत्त करता है। प्रभु-स्तवन के द्वारा यह आजीवन 'काम, क्रोध, लोभ' का संहार करनेवाला होता है। वासना-संहार के द्वारा **गोनाम्**=ज्ञान की वाणियों के **सहस्रा**=(सहस्) आनन्द को प्राप्त करानेवाले प्रभु **दश**=धर्म के दश लक्षणों का ज्ञान प्राप्त कराते हैं और यह स्तोता उनको आदृत करता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु की प्रेरणा को प्राप्त करेंगे। प्रभु हमें कण्ठों के आभूषणभूत शतशः ज्ञानों को, ज्ञानों व कर्मों का सर्जन करनेवाली दस इन्द्रियों को, शतवर्षपर्यन्त होनेवाले 'काम, क्रोध व लोभ' के विविध संहार को तथा ज्ञान द्वारा होनेवाले आनन्दमय धर्म के दस लक्षणों को प्राप्त कराते हैं।

मामनुस्मर युध्य च

वच्यस्व रेभ वच्यस्व वृक्षे न पक्वे शकुनः।
नष्टे जिह्वा चर्चरीति क्षुरो न भुरिजोरिव॥ ४॥

१. हे **रेभ**=स्तोतः! **वच्यस्व**=तू प्रभु के नामों का उच्चारण कर। प्रभु के गुणों का **वच्यस्व**=तू इसप्रकार उच्चारण कर **न**=जैसेकि **पक्वे वृक्षे**=पके हुए वृक्ष पर **शकुनः**=पक्षी शब्द करता है। वृक्ष के परिपक्व फलों का वह आनन्द लेता है और प्रसन्नता में शब्द करता है। इसी प्रकार हे स्तोतः! प्रभु-स्मरण में आनन्द अनुभव करता हुआ तू प्रभु का गुणगान कर। २. **नष्टे**=किसी भी प्रकार के 'सन्तान, धन व यश' आदि का नाश होने पर **जिह्वा चर्चरीति**=इस स्तोता की जिह्वा प्रभु-नामों का उच्चारण करती हुई इसप्रकार गतिवाली होती है, **न**=जैसेकि **भुरिजो क्षुरः इव**=भुजाओं में क्षुर (razor or arrow) (उस्तरा या तीर) गतिवाला होता है। यह उपासक विघ्न-विनाश के लिए भुजाओं द्वारा अस्त्रों का प्रहार करता है और वाणी द्वारा प्रभु-नामोच्चारण करता है, अर्थात् यह स्तोता प्रभु-स्मरण करता है और युद्ध करता है। (मामनुस्मर युध्य च)।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन में आनन्द लें। आपत्ति आने पर भुजाओं में पुरुषार्थ हो, वाणी में प्रभु के नामों का उच्चारण।

स्तुति, सन्तान व गौएँ

प्र रेभासो मनीषा वृषा गावइवेरते। अमोतपुत्रका एषाममोत गाइवासते॥ ५॥

१. **रेभासः**=स्तोता लोग **मनीषा**=मननपूर्वक की गई स्तुतियों को (Hymn, praise) इसप्रकार **प्र ईरते**=प्रकर्षेण गतिमय करते हैं, **इव**=जैसे वे अपने घरों में **वृषाः गावः**=दुग्ध का वर्षण करनेवाली—खूब दूध देनेवाली गौवों को प्रेरित करते हैं। ये प्रभु-भक्त इन गोदुग्धों के सेवन से ही सात्त्विकवृत्तिवाले बनकर प्रभु-भजन करनेवाले होते हैं। २. **एषाम्**=इन स्तोताओं के **अमा**=घर में **उत पुत्रकाः**=निश्चय से प्रिय सन्तान **आसते**=आसीन होते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **अमा**=इनके घरों में **उत**=निश्चय से **गाः**=गौएँ आसीन होती हैं। प्रभु-भक्तों के गृह प्रिय सन्तानों व गौओं से युक्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभुभक्तों के गृहों में जिसप्रकार प्रभु का उपासन चलता है, उसी प्रकार वहाँ प्रिय सन्तानों व गौओं की स्थिति होती है।

ज्ञान के द्वारा प्रभु को प्राप्त करानेवाली बुद्धि

प्र रेभ धीं भरस्व गोविदं वसुविदम्। देवत्रेमां वाचं श्रीणीहीषुर्नावीरस्तारम्॥ ६॥

१. हे **रेभ**=स्तोतः! **गोविदम्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाली तथा **वसुविदम्**=सबके अन्दर बसनेवाले व सबको अपने अन्दर बसानेवाले प्रभु को प्राप्त करानेवाली **धीम्**=बुद्धि को **प्रभरस्व**=अपने में धारण कर। स्तवन से ही यह बुद्धि प्राप्त होती है। २. **देवत्रा**=देवों में स्थित होकर **इमां वाचम्**=इस ज्ञान की वाणी को **श्रीणीहि**=अपने में परिपक्व कर। ज्ञानी गुरुओं के चरणों में बैठकर इस ज्ञान को तू इसप्रकार परिपक्व कर **न**=जैसेकि **अवीः इषुः**=रक्षक बाण **अस्तारम्**=अस्त्रों को फेंकनेवाले योद्धा को परिपक्व करता है। हाथ में अस्त्र होने पर योद्धा घबराता नहीं। अस्त्रों से सुसज्जित योद्धा दृढ़ मन से युद्ध करता है, इसी प्रकार उत्तम आचार्यों को पाकर शिष्य अपने में ज्ञान का ठीकरूप से परिपाक कर पाता है।

भावार्थ—स्तवन से वह बुद्धि प्राप्त होती है जोकि ज्ञान को प्राप्त कराती हुई प्रभु-प्राप्ति का साधन बनती है। यह स्तोता ज्ञानी आचार्यों के चरणों में ज्ञान का परिपाक करता है और इसप्रकार जीवन-संग्राम में विजयी बनता है जैसेकि अस्त्रों से सुसज्जित योद्धा युद्ध में।

विश्वजनीन राजा

राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवोऽमर्त्याँ अति। वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परिक्षितः॥ ७॥

१. उस **राज्ञः**=सम्पूर्ण संसार का शासन (regulation) करनेवाले, **विश्वजनीनस्य**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले, **वैश्वानरस्य**=सब मनुष्यों को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले, **परिक्षितः**=समन्तात् निवास व गतिवाले (सर्वव्यापक) प्रभु की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **आसुनोत**=उत्पन्न करो। प्रभु के गुणों का गायन करो। २. उन प्रभु का स्तवन करो **यः**=जोकि **देवः**=प्रकाशमय हैं तथा **अमर्त्यान् अति**=अमरणधर्मा देवों को लाँघकर स्थित हैं। सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले वे ही 'महादेव' हैं—देवाधिदेव हैं।

भावार्थ—हम संसार के शासक, सबके हितकारी, सबको उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले, सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण करें। वे प्रभु ही प्रकाशमय हैं, देवों के देव 'महादेव' हैं। सबको देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं।

पति-पत्नी का मिलकर प्रभु-स्तवन

परिच्छिन्नः क्षेममकरोत्तम आसनमाचरन्। कुलायन्कृण्वन्कौरव्यः पतिर्वदति जायया॥ ८॥

१. **तमः आसनम्** (आं अस्=क्षेपणे)=समन्तात् अन्धकार को परे फेंकने—दूर करने को **आचरन्**=करता हुआ—हमारे अज्ञानान्धकारों को दूर करता हुआ **परिक्षित्**=चारों ओर निवास व

गतिवाला वह सर्वव्यापक प्रभु **नः**=हम स्तोताओं के **क्षेमम्**=कल्याण को **अकरोत्**=करता है। प्रभु की उपासना से हृदय प्रकाशमय हो उठता है और अन्धकार में पनपनेवाले सब आसुरभाव वहाँ से विलीन हो जाते हैं। २. **कुलायन् कृण्वन्** (कुलायं)=घर को बनाता हुआ **कौरव्यः** (कु+रु) पृथिवी पर प्रभुनामोच्चारण करनेवालों में उत्तम वह **पतिः**=गृहपति **जायया**=अपनी पत्नी के साथ **वदति**=प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता है। यह पति-पत्नी के द्वारा किया गया स्तवन ही उनके घर को उत्तम बनाता है।

भावार्थ—स्तुति किया गया प्रभु हमारे अज्ञानान्धकारों को दूर करता है। जिस घर में पति-पत्नी प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं, वह घर प्रकाशमय व प्रशस्त बनता है।

दधि, मन्थां, परिश्रुतम्

कतरत्त आ हराणि दधि मन्थां परि श्रुतम्।
जायाः पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः॥ ९॥

१. **परिक्षितः**=चारों ओर निवास व गति करनेवाले **राज्ञः**=संसार के शासक (इन्द्रो विश्वस्य राजति) प्रभु के राष्ट्र में, अर्थात् जिस राष्ट्र में सब घरों में प्रभु-स्तवन होता है वहाँ **जाया**=पत्नी **पतिं विपृच्छति**=पति से पूछती है कि **दधि मन्थां परिश्रुतम्**=दही, मठा व मक्खन में से **कतरत्**=कौन-सी वस्तु को **ते**=आपके लिए **आहराणि**=प्राप्त कराऊँ? २. प्रभु-स्तवनवाले राष्ट्र में (दूध) दही-मक्खन-मठा आदि सात्त्विक भोजनों का ही प्रयोग होता है। वहाँ मद्य, मांस आदि के सेवन की रुचि नहीं पनपती। मद्य आदि का सेवन मनुष्य को प्रभु-स्तवन से दूर ले-जाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन के साथ मनुष्य सात्त्विक भोजनों की ही वृत्तिवाला बना रहता है। राजस् व तामस् भोजन हमें प्राकृतिक भोगों में फँसाकर प्रभु-स्तवन से दूर कर देते हैं।

यव (जौ)

अभीवस्वः प्र जिहीते यवः पक्वः पथो बिलम्।
जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः॥ १०॥

१. **परिक्षितः**=चारों ओर गति व निवासवाले उस सर्वव्यापक **राज्ञः**=शासक प्रभु के **राष्ट्रे**=राष्ट्र में, अर्थात् जहाँ प्रभु-स्तवन उत्तमता से चलता है उस राष्ट्र में **सः जनः**=वह स्तोता मनुष्य **भद्रं एधति**=मंगल व कल्याण के साथ वृद्धि को प्राप्त होता है। यह स्तोता मार्ग से न भटकता है और न ही अकल्याण का भागी होता है। २. इस राष्ट्र में **अभीवस्वः**=शरीर व मन दोनों के उत्तम निवास का साधनभूत—दोनों को उत्तम बनानेवाला **पक्वः यवः**=परिपक्व जौ **पथः**=मार्ग से **बिलम् प्रजिहीते**=हमारी अनाज की खत्तियों की ओर—अन्नों को भर रखने के स्थानों की ओर **प्रजिहीते**=गति करता है, अर्थात् ये स्तोता उत्तम, न्याय्यमार्ग से यव आदि सात्त्विक भोज्यपदार्थों का घरों में संचय करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्तोता लोग सुख व कल्याण के साथ फूलते-फलते हैं। ये न्याय्यमार्गों से यव (जौ) आदि सात्त्विक भोजनों का ही संग्रह करते हैं।

बोध

इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम्। ममेदुग्रस्य चर्कृधि सर्व इत्ते पृणादरिः॥ ११॥

१. **इन्द्रः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला प्रभु **कारुम्**=क्रियाओं को कुशलता से करनेवाले पुरुष को **अबूबुधत्**=बोधयुक्त करता है। आलसी को ज्ञान प्राप्त नहीं होता। प्रभु इस कारु को यह

बोध देते हैं कि **उत्तिष्ठ**=उठ, आलस्य को छोड़ और **जनम् विचर**=लोगों में विचरण कर। लोगों से तू सम्पर्क स्थापित कर। उनके सुख-दुःख में सहानुभूति दर्शाता हुआ उनका सहायक बन। २. दूसरी बात यह है कि **उग्रस्य मम इत्**=शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले तेजस्वी मेरी ही **चर्कृधि**=स्तुति करनेवाला बन। तू इसप्रकार अपने जीवन को सुन्दर बना कि **सर्वः**=सब **अरिः**=(a religious or pious man) धार्मिक लोग **इत्**=निश्चय से **ते पृणात्**=तुझसे प्रसन्न हों (पृणाति= delight, please)। तेरे सुन्दर जीवन को देखकर उन्हें प्रसन्नता का अनुभव हो।

भावार्थ—क्रियाशील व्यक्ति को प्रभु बोध देते हैं—(१) तू लोगों के साथ मिलकर चल (२) प्रभु का स्तवन करनेवाला बन और (३) इसप्रकार जीवन को सुन्दर बना कि सब धार्मिक लोग तुझे देखकर प्रसन्न हों।

प्रभु-पूजन व उत्तम घर का निर्माण

इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदति॥ १२॥

१. जहाँ मनुष्य गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के बोध को सुनता है, **इह**=वहाँ इस घर में **गावः प्रजायध्वम्**=हे गौओ! तुम खूब फूलो-फलो। **इह**=इस घर में **अश्वाः**=हे घोड़ो! तुम फूलो-फलो और **इह**=यहाँ **पूरुषाः**=पुरुष फूलें-फलें। २. **इह उ**=इस घर में निश्चय से **सहस्रदक्षिणः**=हज़ारों का दान देनेवाला **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला गृहपति **अपि**=भी **निषीदति**=नम्रतापूर्वक आसीन होता है।

भावार्थ—प्रभु-पूजनवाले गृह में 'गौएँ, घोड़े, पुरुष' सभी फूलते-फलते हैं। इस घर का गृहपति हज़ारों का दान देनेवाला व सबका पोषण करनेवाला होता है। यह नम्र होता है।

न अमित्रयु जन, न स्तेन

नेमा इन्द्र गावो रिषन्मो आसां गोप रीरिषत्। मासाममित्रयुर्जन इन्द्र मा स्तेन ईशत॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **इमाः गावः**=ये हमारे घरों की गौएँ **न रिषन्**=हिंसित न हों और **मा उ**=मत ही निश्चय से **आसाम्**=इन गौओं का **गोपः**=ग्वाला (रक्षक) **रीरिषत्**=हिंसित हो। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **अमित्रयुः जनः**=शत्रुरूप से वर्तनेवाला—इनके साथ स्नेह न करनेवाला मनुष्य **आसाम्**=इनका **मा ईशत**=शासक मत हो जाए। इसीप्रकार **स्तेनः**=चोर **मा (ईशत)**=मत शासक हो।

भावार्थ—हमारे घरों व राष्ट्र में न गौएँ हिंसित हों—न गोप। शत्रुभूत मनुष्य व चोर इनका ईश न जो जाए।

'भद्रेण सूक्तेन' वचसा

उप नो न रमसि सूक्तेन वचसा वयं भद्रेण वचसा वयम्।
वनादधिध्वनो गिरो न रिष्येम कदा चन॥ १४॥

१. **वयम्**=हम **सूक्तेन वचसा**=उत्तमता से उक्त वचनों के द्वारा **नरम्**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभु को **उप नो नमसि**=खूब ही उपस्तुत करते हैं। **वयम्**=हम **भद्रेण वचसा**=कल्याणकारक सुखप्रद वचनों के द्वारा प्रभु का स्तवन करते हैं। सूक्त व भद्र वचनों के द्वारा ही प्रभु का स्तवन होता है। २. वे प्रभु हमारी **अधिध्वनः**=अधिक ध्वनिवाली—ऊँचे से उच्चरित **गिरः**=वाणियों का **वनात्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। हमारे स्तुतिवचन हमें प्रभु का प्रिय बनाएँ। इन स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हुए हम **कदाचन**=कभी भी **न रिष्येम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—हम 'भद्र व सूक्त' वचनों के द्वारा प्रभु का स्तवन करें। ये स्तुति-वचन प्रभु के लिए प्रिय हों। इन स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हुए हम कभी हिंसित न हों।

१२८. [अष्टाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

'सभेय-विदथ्य-सुत्वा-यज्वा'

यः सभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः। सूर्यं चामू रिशादसस्तद्देवाः प्रागकल्पयन्॥ १॥

१. वस्तुतः **पूरुषः**=पुरुष वह है **यः**=जोकि **सभेयः**=सभा में उत्तम है—अपने ज्ञान व शिष्टाचार के कारण सभा में प्रशस्य होता है। **विदथ्यः**=(Knowledge, sacrifice, battle) ज्ञान, यज्ञ व संग्राम में उत्तम है। **सुत्वा**=सोम का सम्पादन करता है, शरीर में शक्ति (सोम) का रक्षण करता है। **अथ**=और **यज्वा**=यज्ञशील बनता है। २. **च**=और **तत्**=ऐसा बनने के लिए **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अमुम्**=उस **सूर्यम्**=सूर्यसम ज्योति ब्रह्म को (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः) **प्राक्**=आगे—अपने सामने **अकल्पयन्**=(to believe, consider, think, imagine) सोचते हैं। प्रभु का ध्यान करते हुए प्रभु-जैसा ही बनने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु ही **रिशादसम्**=सब हिंसक वृत्तियों को समाप्त करनेवाले हैं। प्रभु-स्मरण करते हुए ये उपासक 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध व द्रोह' आदि वृत्तियों से ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—मनुष्य तो वही है जो कि सभा में प्रशस्य होता है—ज्ञान में उत्तम है—सोम का सम्पादन करता है और यज्ञशील है। ये देववृत्ति के पुरुष सदा प्रभु का स्मरण करते हैं। प्रभु इनकी अशुभवृत्तियों को विनष्ट कर देते हैं।

अधराक् (अधोगामी)

यो जाम्या अप्रथयस्तद्यत्सखायं दुधूर्षति। ज्येष्ठो यदप्रचेतास्तदाहुरधरागिति॥ २॥

१. (क) **यः**=जो **जाम्यः**=बहिन का, अथवा किसी कुलीन स्त्री का **अप्रथयः**=(प्रथ प्रक्षेपे disclose) दोष इधर-उधर फैलाता है। मामूली-सी बात को लेकर जो किसी कुलीन स्त्री को कलंकित करता है। (ख) **तत् यत्**=वह जो **सखायं दुधूर्षति**=मित्र को हिंसित करने की कामना करता है। (ग) तथा **ज्येष्ठः**=आयु में बड़ा होता हुआ **यत्**=जो **अप्रचेताः**=नासमझी की बात करता है। **तत्**=तब उस पुरुष को **अधराग् आहु**=अधोगामी कहते हैं। २. अवनति की ओर जानेवाले पुरुष के तीन लक्षण हैं (क) यह बहिन व कुलीन स्त्री को बदनाम करता है (ख) मित्रों से द्रोह करता है (ग) और आयु में बड़ा होता हुआ भी नासमझी की बात करता है।

भावार्थ—अवनत पुरुष के तीन लक्षण है (क) कुलीन स्त्री को कलंकित करना (ख) मित्र-द्रोह तथा (ग) बड़ा होते हुए भी नासमझी की बात करना।

उदग्

यद्भद्रस्य पुरुषस्य पुत्रो भवति दाधृषिः। तद् विप्रो अब्रवीदु तद्गन्धर्वः काम्यं वचः॥ ३॥

१. **यत्**=जब **भद्रस्य पुरुषस्य**=(भदि कल्याणे सुखे च) कल्याण-कर्मों को करनवाले पुरुष का **पुत्रः**=सन्तान **दाधृषिः**=शत्रुओं का—काम, क्रोध, लोभ का—धर्षण करनेवाला होता है? **तत्**=तब **गन्धर्वः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाला **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला ज्ञानी पुरुष इस दाधृषि के लिए **काम्यं वचः**=कमनीय सुन्दर वेदवाणियों को **अब्रवीत्**=उपदिष्ट करता है। २. विद्यार्थी कुलीन हो, 'काम' आदि शत्रुओं का धर्षण करनेवाला हो, ऐसा होने पर उत्कृष्ट जीवनवाला ज्ञानी आचार्य ज्ञान की वाणियों को उपदिष्ट करता है। यह विद्यार्थी **उदग्**=ऊर्ध्वगतिवाला होता है (उत् अञ्च)—सदा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—उत्तम माता व पिता का सन्तान भी सामान्यतः उत्तम होता है—यह काम, क्रोध का शिकार नहीं होता रहता। इसे सदाचारी, ज्ञानी आचार्य ज्ञान की वाणियों का उपदेश करते हैं और यह सदा उन्नत होता चलता है।

धन तथा दानशीलता

यश्च॑ प॒णि र॑घु॒जि॒ष्ठ्यो यश्च॑ दे॒वाँ अदा॑शुरिः। धीरा॑णां॒ शश्व॑ताम॒हं तद॑पा॒गिति॑ शुश्रुम॥ ४॥

१. **यः च**=और जो **पणिः**=वणिक् वृत्तिवाला होता हुआ **रघुजिष्ठ्यः**=औरों का पालन करनेवाला नहीं। **यः च**=और जो **देवान् अदाशुरिः**=देवों के प्रति देने की वृत्तिवाला नहीं अथवा **देवान्**=धनी होता हुआ (अदाशुरिः) न देने की वृत्तिवाला है। वह **शश्वतां धीराणाम्**=प्लुतगतिवाले क्रियाशील धीर पुरुषों में **अपाग्**=(अप अञ्च्) निम्न गतिवाला है। **अहम् इति शुश्रुम**=मैंने ऐसा सुना है अथवा सदा से धीर पुरुषों से हमने ऐसा सुना है कि वह अदानशील पुरुष नीच गतिवाला है।

भावार्थ—धन की शोभा दान में है। धनी होते हुए न देना निम्न गति का कारण बनता है.।

'यज्ञशीलता+दान' से स्वर्ग

ये च॑ दे॒वा अय॑ज॒न्ताथो॒ ये च॑ परा॒द॒दिः। सूर्यो॒ दिव॑मिव ग॒त्वाय॑ म॒घवा॑ नो॒ वि र॑प्शते॥ ५॥

१. **ये च**=और जो **देवाः**=देववृत्ति के बनकर **अयजन्त**=खूब ही यज्ञ करते हैं। **च अथ उ**=और अब निश्चय से **ये परादविः**=जो खूब ही दान करते हैं। ये व्यक्ति **सूर्यः इव**=सूर्य की भाँति **दिवं गत्वाय**=प्रकाशमय लोक में जाकर **मघवानः**=ऐश्वर्यशाली होते हुए अथवा (मघ=मख) यज्ञशील होते हुए **विरप्शते**=खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—हम देव बनकर यज्ञशील व दानवृत्तिवाले बनें। हमें प्रकाशमय स्वर्गलोक की प्राप्ति होगी। वहाँ भी हम यज्ञशील व प्रभु-स्तवन करनेवाले होंगे।

(कल्पेषु संमिता) अमणिः अहिरण्यवान्

योऽना॒क्ताक्षो॑ अनभ्य॒क्तो अम॑णि॒वो अहि॑र॒ण्यवः।
अब्रह्मा॒ ब्रह्म॑णः पु॒त्रस्तो॒ता कल्पे॑षु सं॒मिता॑॥ ६॥

१. **यः**=जो **अनाक्ताक्षः**=आँख में अञ्जन लगाये हुए नहीं है, इसी प्रकार **अनभ्यक्तः**=अंगों पर जिसने उबटन नहीं लगाया है, **अमणिवः**=जिसने शरीर पर मणियों को धारण नहीं किया हुआ, **अहिरण्यवान्**=जो सोना, चाँदी आदिवाला नहीं है, अर्थात् बहुत धनी नहीं है, **अब्रह्मा**=चारों वेदों का ज्ञाता नहीं है, वह भी **ब्रह्मणः पुत्रः**=उस ब्रह्म का ही पुत्र है। २. **ता उ ता**=वे सब और निश्चय से वे सब **कल्पेषु संमिता**=अनुष्ठानों में (rites) यज्ञ आदि के क्रियाकलापों में समानरूप से सम्मिलित होने योग्य माने गये हैं (adapted)।

भावार्थ—यज्ञ आदि कर्मों के विधि-विधानों में शरीर की बहुत सजावट व बहुत धन, व बहुत ज्ञान का होना आवश्यक नहीं है। पूर्व व पश्चिम में आहुति डालने के लिए बहुत ज्ञान अपेक्षित नहीं।

सुमणिः सुहिरण्यवः

य आ॒क्ताक्षः॑ सुभ्य॒क्तः सुम॑णिः॒ सुहि॑र॒ण्यवः।
सुब्रह्मा॒ ब्रह्म॑णः पु॒त्रस्तो॒ता कल्पे॑षु सं॒मिता॑॥ ७॥

१. **यः आक्ताक्षः**=अञ्जन से अँजी आँखवाला है, **सुअभ्यक्तः**=जिसने स्नान आदि के बाद सम्यक् तेल मला है, **सुमणिः**=उत्तम मणियों को धारण किये हुए है, **सुहिरण्यवः**=उत्तम स्वर्ण आदि धनों से युक्त है। **सुब्रह्मा**=उत्तम वेदज्ञाता है। वह भी **ब्रह्मणः पुत्रः**=उस ब्रह्म का ही पुत्र है। २. **ता उ ता**=वे सब और निश्चय से वे सब **कल्पेषु संमिता**=यज्ञानुष्ठानों में समान रूप से सम्मिलित होने के योग्य माने गये हैं।

भावार्थ—सुस्नात, सुन्दर शरीरवाला, धनी तथा ज्ञानी भी यज्ञानुष्ठान उसी प्रकार करे जैसे कि अस्नात, न सुन्दर शरीरवाला, निर्धन व अल्पज्ञ करता है। यज्ञानुष्ठान सभी को करना ही चाहिए। ज्ञानी होकर इन अनुष्ठानों की उपेक्षा न करे।

धनी होता हुआ अदाता कैसा है?

अप्रपाणा च वेशन्ता रेवाँ अप्रतिदिश्ययः।
अयभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पेषु संमिता॥ ८॥

१. **अप्रपाणा च**=जैसे बिना पनघटवाला—पानी पीने के अस्थानवाला **वेशन्ता**=सरोवर है, वैसे ही **अप्रतिदिश्ययः**=प्रतिदान न करनेवाला **रेवान्**=धनी है। धन के होने पर दान करना ही चाहिए। २. धन होने पर दान न करनेवाला तो ऐसा है जैसेकि एक **कल्याणी कन्या**=बड़ी सुन्दर रूपवती युवति हो परन्तु **अयभ्या**=मैथुन के अयोग्य हो—सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य हो। **ता उ ता**=वे सब—निश्चय से वे सब **कल्पेषु संमिता**=शास्त्रविधानों में समान माने गये हैं।

भावार्थ—एक धनी होता हुआ दान न देनेवाला पुरुष ऐसा है, जैसा कि बिना पनघटवाला सरोवर और जैसेकि सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य सुन्दर युवति।

रेवान् सुप्रतिदिश्ययः

सुप्रपाणा च वेशन्ता रेवान्त्सुप्रतिदिश्ययः।
सुयभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पेषु संमिता॥ ९॥

१. **सुप्रपाणा च**=जैसे उत्तम प्याऊवाला **वेशान्त**=सरोवर है, उसी प्रकार **सुप्रतिदिश्ययः**=सुन्दर प्रतिदान करनेवाला **रेवान्**=धनी है। २. यह दाता धनी उस **कल्याणी कन्या**=सुन्दररूपवाली युवति के समान है जोकि **सुयम्या**=उत्तमता से मैथुन के योग्य व सन्तानोत्पत्ति के योग्य है। **ता उ ता**=वे सब और निश्चय से वे सब शास्त्रविधानों में समान माने गये हैं।

भावार्थ—उत्तम दान देनेवाला धनी शास्त्रों में उस सरोवर से उपमित होता है जो उत्तम पनघटवाला है तथा उस सुन्दर युवति से उपमित होता है जोकि उत्तम सन्तान को जन्म देने के योग्य है।

निरादृत युद्धकातर पुरुष

परिवृक्ता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः। अनाशुरश्चायामी तोता कल्पेषु संमिता॥ १०॥

१. **महिषी**=ऊँचे घर की होती हुई **च**=भी जो स्त्री **परिवृक्ता**=पति से छोड़ी गई है, जैसे वह स्त्री आदर का पात्र नहीं होती, इसी प्रकार वह व्यक्ति भी आदरणीय नहीं होता जो **स्वस्त्या च**=(सु+अस्ति) कल्याणमयी (स्वस्थ) स्थितिवाला होता हुआ भी **अयुधिंगमः**=युद्ध में नहीं जाता। युद्ध में कातरता के कारण न जानेवाला व्यक्ति उसी प्रकार अनादरणीय होता है, जैसेकि कुलीन होती हुई भी पति परित्यक्ता स्त्री आदरणीय नहीं होती। २. **च**=और इसी प्रकार **अनाशुरः**=शीघ्रता से कार्यों को न करनेवाला **आयामी**=समन्तात् नियामक राजा भी आदरणीय नहीं हुआ करता। **ता उ ता**=वे और निश्चय से वे सब **कल्पेषु**=शास्त्रविधानों में **संमिता**=समान

माने गये हैं।

भावार्थ—'परित्यक्ता कुलीन स्त्री, स्वस्थ होते हुए भी युद्ध में न जानेवाला तथा शासक होते हुए भी आलसी पुरुष' ये सब शास्त्रविधानों में समान माने गये हैं।

स्वस्त्या च युधिंगमः

वावाता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः। श्वाशुरश्चायामी तोता कल्पेषु संमिता॥ ११॥

१. **वावाता च**=(वा गतिगन्धनयोः) उत्तम पुण्य सुगन्ध-(सम्बन्ध)-युक्त—सुखपूर्वक पति के साथ संगत **महिषी**=कुलीन स्त्री जैसे आदरणीय होती है, **च**=उसी प्रकार **च**=उसी प्रकार **स्वस्त्या**=स्वस्थ कल्याणयुक्त होता हुआ **युधिंगमः**=युद्ध में जानेवाला वीर आदरणीय होता है। २. **शु आसुरः**=शीघ्रता से (शु) मार्ग को व्यापनेवाला—कार्यों को करनेवाला, **आयामी च**=शासक भी उसी प्रकार आदरणीय होता है। **ता उ ता**=वे सब और निश्चय से वे सब **कल्पेषु**=शास्त्र-विधानों में **संमिता**=समान माने गये हैं।

भावार्थ—पतिसंगत कुलीन स्त्री, युद्ध में वीरतापूर्वक अग्रसर होनेवाला स्वस्थ योद्धा तथा शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला शासक—ये सब शास्त्र-विधानों में समानरूप से आदरणीय माने गये हैं।

मानुषं विगाहथाः

यदिन्द्रादो दाशराज्ञे मानुषं वि गाहथाः। विरूपः सर्वस्मा आसीत्सह यक्षाय कल्पते॥ १२॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जो **दाशराज्ञे**=दसों इन्द्रियों पर शासन के लिए **अदः मानुषम्**=उस मनुष्योचित कर्म का तू **विगाहथाः**=विलोडन करता है, अर्थात् जब तू जितेन्द्रिय बनने के लिए सदा मनुष्योचित कर्मों में प्रवृत्त रहता है तब 'तू' **सर्वस्मै**=सबके लिए **विरूपः आसीत्**=विशिष्ट रूपवाला होते है। यह सदा मानवकर्मों में प्रवृत्त जितेन्द्रिय पुरुष सम्पूर्ण समाज में चमक जाता है। २. **सः ह**=वही निश्चय से **यक्षाय**=उस प्रभु के साथ सम्पर्क के लिए **कल्पते**=समर्थ होता है।

भावार्थ—मानवोचित कर्मों में व्यापृत जितेन्द्रिय पुरुष ही विरूप बनता है और प्रभुसम्पर्क में समर्थ होता है।

'रौहिण वृत्र' का विनाश

त्वं वृषाक्षुं मघवन्नम्रं मर्याकरो रविः। त्वं रौहिणं व्यास्यो वि वृत्रस्याभिनच्छिरः॥ १३॥

१. हे **मघवन्**=(मघ-मख) यज्ञशील **मर्य**=मनुष्य! **त्वम्**=तू **वृषा**=शक्तिशाली—अपने में सोमशक्ति का सेचन करनेवाला व **रविः**=अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला सूर्यसम ज्ञानदीप्त बना है। तू अपने सन्तानों को भी **अक्षुम्**=(अश्) कर्मों में व्याप्त—खूब क्रियाशील **व नम्रम्**=ज्ञान से विनीत **अकरोः**=बनाता है। २. **त्वम्**=तू **रौहिणम्**=उपभोग से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होनेवाले इस कामासुर को (न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥) **व्यास्यः**=विशेषरूप से दूर फेंकता है और **वृत्रस्य**=ज्ञान पर पर्दे के रूप में आ जानेवाले 'वृत्र' (लोभ) के **शिरः**=सिर को **वि अभिनत्**=विशेषरूप से विदीर्ण करता है, काम व लोभ को नष्ट करके ही यह यज्ञशील बनता है। स्वयं शक्तिशाली व ज्ञानी बनता हुआ यह सन्तानों को भी क्रियाशील व नम्र बनाता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर शक्तिशाली व ज्ञानी बनें। हमारे सन्तान भी क्रियाशील व नम्र हों। हम काम व लोभ को विनष्ट कर पाएँ।

इन्द्र का 'पर्वतविधान' व 'अपो विगाहन'

यः पर्वतान्व्यदधाद्यो अपो व्यगाहथाः। इन्द्रो यो वृत्रहान्महं तस्मादिन्द्र नमोऽस्तु ते॥ १४॥

१. **यः**=जो **पर्वतान्**=(पर्व पूरणे) पूरणों को—कमियों के दूरीकरण को—**व्यदधात्**=विशेष रूप से करता है, अर्थात् सब न्यूनताओं को दूर करके जीवन को उत्तम गुणों से परिपूर्ण बनाता है। **यः**=जो **अपः**=ज्ञान-जलों व कर्मों का **व्यगाहथाः**=आलोडन करता है, अर्थात् खूब ज्ञानी व क्रियाशील बनता है। इसप्रकार **यः**=जो **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनकर **वृत्रहा**=वासनारूप वृत्र का विनाश करता है। २. **आत्**=अब हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **तस्मात्**=उस कारण से चूँकि तूने कमियों को दूर किया है, चूँकि तू ज्ञानी व क्रियाशील बना है, चूँकि तूने वासनारूप वृत्र का विनाश किया है, अतः **ते**=तुझे **महम्**=(मह पूजायाम्) महनीय (आदरभाव से परिपूर्ण) **नमः अस्तु**=नमस्कार हो।

भावार्थ—हम उस व्यक्ति को आदर दें जो (क) अपनी न्यूनताओं को दूर करने के लिए यत्नशील होता है, (ख) जो ज्ञानी व क्रियाशील बनता है, और (ग) जो वासनारूप वृत्र का विनाश करता है।

'अश्व-पृष्ठ-धावन'

पृष्ठं धावन्तं हर्योरौच्चैःश्रवसमब्रुवन्। स्वस्त्यश्व जैत्रायेन्द्रमा वह सुस्त्रजम्॥ १५॥

१. **हर्योः**=इन्द्रियाश्वों के—ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के **पृष्ठम्**=पृष्ठ (Surface) को **धावन्तम्**=शुद्ध करते हुए, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को शुद्ध बनाते हुए **उचैः श्रवसम्**= उत्कृष्ट कीर्तिवाले इस जितेन्द्रिय पुरुष को सब देव (माता, पिता व आचार्य) **आ अब्रुवन्**=सब प्रकार से यही कहते हैं कि हे **स्वस्त्यश्व** (सु अस्ति अश्व)=कल्याणकर इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तू **जैत्राय**=विजय-प्राप्ति के लिए **सुस्त्रजम्**=उत्तमताओं का निर्माण करनेवाले—तेरे जीवन को उत्तम बनानेवाले **इन्द्रम्**=सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभु को **आवह**=अपने समीप प्राप्त करा। प्रभु का सान्निध्य ही तेरे जीवन को शत्रु-विजय द्वारा पवित्र बनाएगा।

भावार्थ—इन्द्रियों को पवित्र बनाने के लिए यत्नशील मनुष्य यशस्वी होता है। माता, पिता व आचार्य आदि सब देव इसे यही उपदेश करते हैं कि तू जीवन में शत्रुओं को जीतने के लिए प्रभु का उपासन कर।

शुद्ध कर्मों में व्यापृति

ये त्वा श्वेता अजैश्रवसो हार्यो युञ्जन्ति दक्षिणम्।
पूर्वा नमस्य देवानां बिभ्रदिन्द्र महीयते॥ १६॥

१. हे **नमस्य**=नमस्कार के योग्य **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ये**=जो **श्वेताः**=सब मिलनताओं के विनाश से श्वेता (शुद्ध) अतएव **अजैश्रवसः**=अजेय कीर्तिवाले—अत्यन्त प्रशंसनीय **हार्यः**=इन्द्रियाश्व **त्वा**=तुझे **दक्षिणं युञ्जन्ति**=सदा सीधे (वाम से विपरीत) उन्नति के साधक (दक्ष् to grow) कर्मों में प्रेरित करते हैं—लगाते हैं तो उस समय आप **देवानाम्**=सब इन्द्रियों के **पूर्वा**=पालन व पूरणात्मक कर्मों को **बिभ्रत्**=धारण करते हुए **महीयते**=महिमावाले होते हैं—सब लोग आपका आदर करते हैं।

भावार्थ—जब हम इन्द्रियों से सदा उत्तम कार्यों को करने में तत्पर होते हैं तब शुद्ध जीवनवाले बनकर हम महिमा को प्राप्त करते हैं।

१२९. [एकोनत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

प्रतीपम्

एता अश्वा आ प्लवन्ते॥ १॥ प्रतीपं प्राति सुत्वनम्॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियों के शुद्ध होने पर **एताः**=ये **अश्वाः**=विविध विषयों में व्याप्त होनेवाली चित्तवृत्तियाँ **आ**=चारों ओर से **प्रतीपम्**=(inverted) अन्तर्मुखी हुई-हुई **प्लवन्ते**=गतिवाली होती हैं। अब ये चितवृत्तियाँ **प्रातिसुत्वनम्**=ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पदार्थ को उत्पन्न करनेवाले प्रभु की ओर चलती हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों के शुद्ध होने पर चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रभु की ओर चलती हैं।

हरिक्निके किमिच्छसि

तासामेका हरिक्निका॥ ३॥ हरिक्निके किमिच्छसि॥ ४॥

१. **तासाम्**=उन चित्तवृत्तियों में **एका**=एक **हरिक्निका** (हरयः मनुष्याः नि० १.१५। कन् दीप्तौ) मनुष्यों के जीवन को दीप्त बनानेवाली है। २. हे **हरिक्निके**=मानव-जीवन को दीप्त करनेवाली चित्तवृत्ते! तू **किम् इच्छसि**=क्या चाहती है। यहाँ साधक अपने से ही प्रश्न करता है और अगले मन्त्र में उसका उत्तर देता है।

भावार्थ—अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति वह है जोकि मानवजीवन को दीप्त बनानेवाली है।

प्रभु की ओर

साधुं पुत्रं हिरण्ययम्॥ ५॥

१. अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति **साधुम्**=(साध्नोति कार्याणि) कार्यसाधक—जीवन के पोषण के लिए आवश्यक धन को चाहती है। २. यह **पुत्रम्**=उस जीवात्मा को चाहती है जो (पुनाति त्रायते) अपने जीवन को पवित्र और वासनाओं के आक्रमण से रक्षित करता है। ३. **हिरण्ययम्**=यह उस ज्योतिर्मय—'रुक्माभम्' स्वर्णसम दीप्तिवाले प्रभु को चाहती है।

भावार्थ—मानव जीवन को दीप्त करनेवाली चित्तवृत्ति तीन वस्तुओं की कामना करती है (क) कार्यसाधक धन की, (ख) जीवन को पवित्र व वासनाओं से अनाक्रान्त—सुरक्षित बनानेवाले जीवात्मा की, (ग) स्वर्णसम दीप्त ज्योतिर्मय प्रभु की।

तीन शपथें

क्वाहतं परास्यः॥ ६॥ यत्रामूस्तिस्त्रः शिंशपाः॥ ७॥

साधक गतमन्त्र में वर्णित अपनी हरिक्निका नामक चित्तवृत्ति से ही पूछता है कि तू **तम्**=उस प्रभु को **क्व आह**=कहाँ कहती है? वे प्रभु कहाँ हैं? २. साधक ही पुनः कहता है कि क्या तू यह कहती है कि **स्यः**=वे प्रभु **परा**=परे व दूर हैं। वहाँ **यत्र**=जहाँ कि **अमूः**=वे **तिस्त्रः**=तीन **शिंशपाः**=(शि=good fortune; tranquiling; Shiva; शिव। शप्=take an oath) शपथें ली जाती हैं कि हम (क) सुपथ से धन कमाएँगे, (ख) जीवन को शान्त रखेंगे, और (ग) प्रभु-प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाएँगे।

भावार्थ—प्रभु का निवास उस व्यक्ति में होता है जो (क) सुपथ से धन कमाता है (ख) शान्तवृत्ति का बनता है और (ग) प्रभु-प्राप्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है।

शिखर पर

परि त्रयः॥ ८॥ पृदाकवः॥ ९॥ शृङ्गं धमन्तं आसते॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन में तीन शपथें लेने पर (उत्तम मार्ग से धन कमाऊँगा, शान्त रहूँगा, प्रभु की ओर चलूँगा) **त्रयः**=आधिभौतिक, आध्यात्मिक व आधिदैविक तीनों ही कष्ट **परि**=(परेर्वर्जने) हमारे जीवनों से दूर हो जाते हैं। २. धन को कुमार्ग से न कमाने का व्रत लेने पर मनुष्यों का परस्पर प्रेम न्यून नहीं होता और युद्ध आदि का प्रसंग उपस्थित नहीं होगा, इसप्रकार आधिभौतिक कष्ट उपस्थित नहीं होते। जीवन के शान्त होने पर आध्यात्मिक कष्टों का प्रसंग नहीं होता। प्रभु-प्रवणता आधिदैविक कष्टों को दूर रखती है। ३. इस स्थिति में एक घर के मुख्य पात्र 'पिता, माता व सन्तान' 'पृ-दा-कवः' होते हैं। (पृणाति protect क्रियते to be busy) पिता व्यापार आदि में लगे रहकर धनार्जन करता हुआ घर का रक्षक होता है। माता सबके लिए आवश्यक वस्तुओं को 'दा'=देनेवाली होती है तथा सन्तान (कुशके) ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए कवि व ज्ञानी बनने के लिए यत्नशील होते हैं। ४. इसप्रकार घर के सब व्यक्ति अपने जीवनों में **शृंगम्**=शिखर को **धमन्तम्**=(ध्मा=to manufacture by blowing) तपस्या द्वारा निर्मित करते हुए **आसते**=स्थित होते हैं—तपस्या के द्वारा—प्राणायाम के द्वारा उन्नत होते हुए शिखर पर पहुँचते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवनों के उत्तम होने पर सब कष्ट हमसे दूर रहते हैं। घरों में 'पिता, माता व सन्तान' सब अपने कर्त्तव्यों को सुचारुरूपेण करते हैं और तपस्वी बनकर शिखर पर पहुँचने के लिए यत्नशील होते हैं।

प्रभु-प्राप्ति किसे?

अयन्महा ते अर्वाहः॥ ११॥ स इच्छकं सघाघते॥ १२॥
सघाघते गोमीद्या गोगतीरिति॥ १३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब तुम शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करते हो तो वे **महा**=महान् **अर्वाहः**=(ऋ गतौ) सब गतियों को प्राप्त करानेवाले प्रभु **ते अयत्**=तुझे प्राप्त होते हैं। उन्नतिशील पुरुष ही प्रभु-प्राप्ति के योग्य होता है। २. **सः**=वे प्रभु **इच्छकम्**=प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले पुरुष को ही **सघाघते** (receive, accept)=स्वीकार करते हैं। यही ब्रह्मलोक में पहुँचने का अधिकारी होता है। ३. यह प्रभु का प्रिय साधक **गोमीद्याः**=(मिद् स्नेहने) ज्ञान की वाणियों के प्रति स्नेह को **सघाघते** (सघ् to support, bear) अपने में धारण करता है तथा **गोगतीः**=ज्ञान की वाणियों के अनुसार क्रियाओं को अपने में धारण करता है। यह बात शास्त्रनिर्दिष्ट है **इति**=इस कारण ही वह उसका धारण करता है।

भावार्थ—शिखर पर पहुँचने के लिए यत्नशील पुरुष को प्रभु की प्राप्ति होती है। प्रभु उसी को प्राप्त होते हैं जो प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है। यह पुरुष ज्ञान की वाणियों के प्रति स्नेह को धारण करता है और ज्ञान की वाणियों के अनुसार ही क्रियाओं को करता है।

पुमान् को प्रभु की प्राप्ति

पुमां कुस्ते निमिच्छसि॥ १४॥

१. ज्ञान की वाणियों के अनुसार क्रियाओं को करता हुआ यह **पुमान्**=(पू) अपने जीवन को पवित्र करनेवाला व्यक्ति **कुस्ते**=प्रभु से अपना मेल कर पाता है (कुस् संश्लेषणे)। हे प्रभो! आप इस पुमान् को ही **निमिच्छसि**=(मिच्छ to hinder) सब वासनाओं को निश्चय से रोकने के द्वारा पवित्र बनाते हो। वह पुमान् स्वयं तो इन काम-क्रोध आदि वासनाओं को जीतने में समर्थ नहीं होता। आपके द्वारा ही तो वह इन्हें जीतने में समर्थ होता है।

भावार्थ—अपने को पवित्र करनेवाला जीव प्रभु से मेल करने का यत्न करता है। प्रभु इसकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

क्रियाशीलता व व्रत-बन्धन

पल्प बद्ध वयो इति॥ १५॥ बद्धं वो अघा इति॥ १६॥

१. **पल्प** (पल् गतौ, पा रक्षणे)=हे गति के द्वारा रक्षण करनेवाले! **बद्ध**=व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधनेवाले जीव! तू अपना **इति**=यही लक्ष्य बना कि **वयः**=(वे तन्तुसन्ताने) मैंने अपने कर्मतन्तु को विच्छिन्न नहीं होने देना—इस कर्मतन्तु का विस्तार ही करना है। मैंने इस यज्ञ-तन्तु को जीवन में कभी विलुप्त नहीं होने देना। २. हे **अघाः**=पापो! आज तक तुम्हारे में फँसा हुआ यह **वः**=तुम्हारा व्यक्ति **बद्ध इति**=अब व्रतों के बन्धन में बँधा है, ऐसा समझ लो और अब इसे अपने वशीभूत करने की आशा छोड़ दो।

भावार्थ—हम क्रियाशील बनें, व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधें और यज्ञ-तन्तु को विच्छिन्न न होने देने का निश्चय करें। पाप भी ये समझ लें कि अब मैं व्रतों के बन्धन में बँधा हूँ, अब वे मुझे अपने वशीभूत न कर सकेंगे।

सेवावृत्ति व प्रभु का वरण

अजागार केविका॥ १७॥ अश्वस्य वारो गोशपद्यके॥ १८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार व्रतमय जीवनवाला व्यक्ति कहता है कि **केविका**=(केव to serve) मुझमें सब सेवा की वृत्ति **अजागार**=(जागरिता अभवत्) जागरित हो गई है। मैं अब स्वार्थ से ऊपर उठकर परार्थ में प्रवृत्त हुआ हूँ। २. अब मैं तो **गोशपद्यके**=(गोषु शेते पद्यते) ज्ञान की वाणियों में ही शयन (निवास) व गति के होने पर **अश्वस्य**=(अश् व्याप्तौ) उस सर्वव्यापक प्रभु का ही **वारः**=वरण करनेवाला बना हूँ। मेरी इच्छा तो अब एकमात्र यही है कि मैं वेदरुचिवाला व वेदानुसार कार्य करनेवाला बनकर, परार्थ में प्रवृत्त हुआ-हुआ सर्वभूतहिते रत बना हुआ—प्रभु का धारण कर पाऊँ।

भावार्थ—मुझमें सेवा की वृत्ति का जागरण हो। मैं सदा ज्ञान की रुचिवाला व तदनुसार कर्म करता हुआ प्रभु का ही वरण करूँ।

सेवक के चार लक्षण

श्येनीपती सा॥ १९॥ अनामयोपजिह्विका॥ २०॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **सा**=वह सेवावृत्ति **श्येनीपती**=(श्यैङ् गतौ, पा रक्षणे) खूब क्रियाशीलतावाली है तथा सदा रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त रहती है। २. यह सेवावृत्ति **अनामया**=रोगों से शून्य है। सेवावृत्तिवाला व्यक्ति रोगी नहीं होता। भोगवृत्ति से ऊपर उठने का यह परिणाम स्वाभाविक ही है। ३. यह सेवावृत्ति **उपजिह्विका**=गौण जिह्वावाली है। सेवावृत्तिवाला व्यक्ति न खाने के चस्केवाला होता है, न बहुत बोलने की वृत्तिवाला। यह कम खाता है और कम बोलता है। इसी से यह सदा स्वस्थ रहता है।

भावार्थ—सेवा की वृत्ति में चार बातें होती हैं (क) क्रियाशीलता (ख) रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्ति (ग) नीरोगता (४) कम खाना, कम बोलना।

१३०. [त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

सोम-यज्ञ

को अर्य बहुलिमा इषूनि॥ १॥ को असिद्याः पयः॥ २॥
को अर्जुन्याः पयः॥ ३॥ कः कार्ष्ण्याः पयः॥ ४॥

१. **कः**=कौन **बहुलिमा**=शक्तियों के बाहुल्यवाले **इषूनि**=सोमयज्ञों को—शरीर में ही प्रतिदिन सोम (वीर्य) की आहुति देनेरूप यज्ञों को **अर्य**=(ऋ गतौ) प्राप्त होता है। शक्तियों के बाहुल्य को प्राप्त करानेवाले इन सोमयज्ञों का करनेवाला यह ब्रह्मचारी ही तो होता है। सोम-रक्षण द्वारा यह अपने में शक्ति का संचय करता है। २. **असिद्याः** (अविद्यमाना सितिः बन्धनं यस्याः)=गृहस्थ में रहते हुए भी विषयों में अनासक्तवृत्ति का **पयः**=(semen virile) **वीर्यकः**=कौन-सा होता है। गृहस्थ में होते हुए भी जो विषय-विलास के जीवनवाला नहीं बन जाता, वह सु-वीर्य बनता ही है। ३. **अर्जुन्याः**=(अर्जुन श्वेत) राग-द्वेष से अनाक्रान्त शुद्ध (श्वेत) चित्तवृत्तिवाले का **पयः**=वीर्य **कः**=कौन-सा होता है? गृहस्थ के कार्यों को समाप्त करके मनुष्य वानप्रस्थ बनता है। इस वानप्रस्थ में राग-द्वेष से ऊपर उठने पर शरीर में वीर्य शुद्ध (उबाल से रहित) बना रहता है। (४) वानप्रस्थ से ऊपर उठकर मनुष्य संन्यस्त होता है। इस संन्यास में 'कार्ष्णी' वृत्ति को अपनाता है। इधर-उधर भटकनेवाली इन्द्रियों व मन को यह अन्तर्मुखी करने का प्रयत्न करता है—उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता है। इस **कार्ष्ण्याः**=कार्ष्णी वृत्ति का **पयः**=वीर्य **का**=कौन-सा है? संन्यस्त होकर—सब इन्द्रियों को अपने अन्दर आकृष्ट करके यह वीर्य को सुरक्षित करनेवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य तो है ही सोमयज्ञ। इस आश्रम में सोम (वीर्य) को शरीर में सुरक्षित रखना होता है। गृहस्थ में भी हम विषयों से बद्ध न हो जाएँ। वानप्रस्थ में अत्यन्त शुद्धवृत्ति-(अर्जुनी)-वाले बनें। संन्यास में इन्द्रियों व मन को अपने अन्दर आकृष्ट करनेवाले बनें। इसप्रकार हम आजीवन सोमयज्ञ करनेवाले हों।

'परि प्रश्न' (परिप्रश्नेन)

एतं पृच्छ कुहं पृच्छ॥ ५॥ कुहाकं पक्वकं पृच्छ॥ ६॥

१. **एतं पृच्छ**=गत चार मन्त्रों में वर्णित प्रश्न को तू पूछ। 'वीर्यरक्षण कैसे सम्भव है? उसका क्या लाभ है?' यह प्रश्न तू पूछ। **कुहं पृच्छ**=(कुह विस्मापने) अपने ज्ञान से औरों का विस्मापन करनेवाले ज्ञानी से तू इस प्रश्न को पूछ। २. **कुहाकम्**=ज्ञान के द्वारा आश्चर्यित करनेवाले महान् ज्ञानी से तू इस सोमयज्ञ-सम्बन्धी प्रश्न को **पृच्छ**=पूछ। **पक्वकम्**=ज्ञान-परिपक्व व्यक्ति से पूछ। यह परिप्रश्न तेरे ज्ञान का वर्धन करनेवाला होगा।

भावार्थ—हम परिपक्व ज्ञानवाले—आश्चर्यकारक ज्ञानवाले—ज्ञानियों से सोमरक्षण-सम्बन्धी प्रश्नों को पूछकर सोमयज्ञ करनेवाले बनें। शरीर में सुरक्षित सोम हमारे जीवन को शक्तिशाली व आनन्दमय बनाएगा।

सुन्दर जीवन

यवानो यतिस्वभिः कुभिः॥ ७॥ अकुप्यन्तः कुपायकुः॥ ८॥
आमणको मणत्सकः॥ ९॥ देव त्वप्रतिसूर्य॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यह वीर्यरक्षण करनेवाला—सोमयज्ञ करनेवाला व्यक्ति **यवानः**=

(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अपने से बुराइयों को दूर करता है और अच्छाइयों का अपने से मिश्रण करता है। यह **यतिस्वभिः**=(यति+स्व-भा+इ) संयत जीवनवाला व आत्मदीप्तिवाला होता है। **कु-भिः**=(कु+भा+इ) इस पृथिवी पर अपने कर्मों से यह दीप्त होता है। २. **अकुप्यन्तः** (कुप्+सच्=अन्त) यह कभी क्रोध नहीं करता। **कुपायकुः**=इस पृथिवी पर सबका रक्षण करनेवाला बनता है। ३. **आमणकः**=(मण् to sound) यह चारों ओर ज्ञानोपदेश करनेवाला होता है। **मणत्सकः**=सदा स्तुतिवचनों के उच्चारण के स्वभाववाला बनता है। ४. यह मणत्सक इसप्रकार प्रभु का स्मरण करता है कि (क) **देव**=प्रभो! आप प्रकाशमय हो—दिव्यगुणों के पुञ्ज हो। **तु**=दिव्यगुणों के पुञ्ज होने के साथ आप **अ-प्रतिसूर्य**=एक अद्वितीय सूर्य हो। सूर्य के समान अन्धकारमात्र को विनष्ट करनेवाले हो। ५. यह प्रभु-स्मरण मणत्सक को भी 'देव व सूर्य' बनने की प्रेरणा देता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाला अनुपम सुन्दर जीवनवाला बनता है। (क) यह ब्रह्मचर्याश्रम में बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों का ग्रहण करता है (ख) संयत जीववाला व आत्मदीप्तिवाला होता है (ग) इस पृथिवी पर यशोदीप्त होता है (घ) गृहस्थ में क्रोध नहीं करता (ङ) सब सन्तानों का रक्षण करता है (च) ज्ञान का प्रचार करता है (छ) प्रभु का स्तवन करता है कि आप दिव्यगुणों के पुञ्ज हो, ज्ञान के सूर्य हो। इस स्तवन से वह ऐसा बनने की ही प्रेरणा लेता है। अब संन्यस्थ होकर स्वयं देव व सूर्य बनता है।

प्रदुद्रुदो मघाप्रति

एनश्चिपङ्क्तिका हविः॥ ११॥ प्रदुद्रुदो मघाप्रति॥ १२॥

१. गतमन्त्र में वर्णित सोमरक्षक पुरुष के जीवन में **एनः चिपङ्क्तिका**=(चि चयने, पचि विस्तारे) पाप का चयन (बीनना) करके परे फेंकने का विस्तार होता है। यह हृदयक्षेत्र में से अशुभ वृत्तियों को चुन-चुनकर बाहर फेंक देता है और **हविः**=सदा दानपूर्वक अदन को अपनाता है (हु दानादनयोः)। यह सदा यज्ञशेष का खानेवाला बनता है। २. इसी हवि का परिणाम होता है कि यह **मघा प्रति**=ऐश्वर्यों की ओर **प्रदुद्रुदः**=प्रकृष्ट गतिवाला व उन ऐश्वर्यों को दान में देनेवाला होता है। यह न्याय्य-मार्गों से धनों का खूब ही अर्जन करता है और उन धनों का यज्ञों में विनियोग करके यज्ञशेष को ही खानेवाला बनता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाला व्यक्ति (१) अपने हृदयक्षेत्र से वासनाओं के घास-फूस को चुन-चुनकर निकाल फेंकता है। (२) सदा दानपूर्वक अदन (भक्षण) करता है। ३. ऐश्वर्यों के प्रति न्याय्य-मार्ग से गतिवाला व उन ऐश्वर्यों का दान देनेवाला होता है।

धनाभिमान व प्रभु से दूरी

शृङ्ग उत्पन्न॥ १३॥ मा त्वाभि सखा नो विदन्॥ १४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ऐश्वर्यों को कमाने पर यदि एक व्यक्ति दान नहीं देता तो धीमे-धीमे उसमें धन का अभिमान आ जाता है। धन को वह प्रभु का दिया हुआ न समझकर 'इद-मद्य मया लब्धं, इमं प्राप्स्ये मनोरथम्' अपना समझने लगता है और उसे अभिमान हो जाता है। उसके मानों सींग-से निकल आते हैं २. मन्त्र में कहते हैं कि हे **उत्पन्न शृंग**=पैदा हुए-हुए सींग! **नः सखा**=हम सबका मित्र वह प्रभु **त्वा अभि**=तेरी ओर **मा विदन्** (विदत्)=मत प्राप्त हो। जहाँ धनाभिमान है, वहाँ प्रभु का वास कहाँ? अभिमानी को प्रभु की प्राप्ति नहीं होती। वह तो अपने को ही ईश्वर मानने लगता है 'ईश्वरोऽहम्'।

भावार्थ—धन का त्याग न होने पर धन का अभिमान उत्पन्न हो जाता है और इस अभिमानी को कभी प्रभु की प्राप्ति नहीं होती।

वशा का पुत्र

वशायाः पुत्रमा यन्ति॥ १५॥   इरावेदुमयं दत॥ १६॥

१. **वशायाः**=वशा के—बन्ध्या गौ के **पुत्रम्**=पुत्र को **आयन्ति**=ये धन व सब दिव्यगुण प्राप्त होते हैं। एक व्यक्ति जो न्याय्य-मार्गों से धर्नाजन करता है और उस धन को भोगविलास में व्ययित नहीं करता, इस पुरुष के लिए यह धन वन्ध्या गौ के समान है। यह इस लक्ष्मी को माता समझता है। 'यह विष्णु की पत्नी है—मेरी तो माता है, मैं इसका पुत्र हूँ' ऐसा समझनेवाला व्यक्ति धन का उपभोग क्योंकर करेगा? २. वह धन से शरीर का रक्षण करता हुआ भी उसे उपभोग्य वस्तु नहीं समझ लेता। प्रभु कहते हैं कि देव तो वशा के पुत्र को ही प्राप्त होते हैं, अतः तुम इस धन को **इरा-वेदु-मयम्** (इरा=सरस्वती) सरस्वती के—ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता के—ज्ञान से पूरिपूर्ण पुरुष के लिए **दत** (दत्त)=देनेवाले बनो। धन कमाओ और ज्ञानी ब्राह्मणों के लिए देनेवाले बनो। वे इस धन का विनियोग शिक्षा के विस्तार में करनेवाले हों।

भावार्थ—हम धन कमाएँ। इस धन को उपभोग्य वस्तु न बनाकर इसे ज्ञानी पुरुषों के लिए दें—ताकि धन का विनियोग शिक्षा के विस्तार के लिए हो।

क्रियाशील और क्रियाशील

अथो इयन्नियन्निति॥ १७॥   अथो इयन्निति॥ १८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार चाहे मनुष्य को धन का उपभोग नहीं करना, **अथ उ**=तो भी (Even then) वह **इति**=निश्चय से **इयन्**=चलता हुआ हो और **इयन्**=चलता हुआ ही हो। गतिशीलता आवश्यक है। २. **अथ उ**=और अब **इयन् इति**=चलता हुआ ही हो। गतिशील पुरुष ही पवित्र जीवनवाला बनता है। संसार में इस गतिशील पुरुष को ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इस ऐश्वर्य का विनियोग इसने यज्ञों में करना है।

भावार्थ—धन का उपभोग न करने की अवस्था में भी धनार्जन का प्रयत्न आवश्यक है इन प्रयत्नार्जित धनों से ही तो यज्ञ आदि उत्तम कर्म सिद्ध होंगे।

भोगप्रवणता व विनाश

अथो श्वा अस्थिरो भवन्॥ १९॥   उयं यकांशलोकका॥ २०॥

१. **अथ उ**=अब यदि निश्चय से **श्वा**=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गतमन्त्र में वर्णित गति के द्वारा प्रवृद्ध ऐश्वर्यवाला यह व्यक्ति **अस्थिरः**=न स्थिर मनोवृत्तिवाला—चंचलवृत्तिवाला—भोगप्रवण **भवन्**=होता है तो **उयम्**=दुःख की बात है कि निश्चय से ही (Alas, certainly) यह भोगासक्त पुरुष **यक-अंश-लोक का**=(यकन्=जिगर, अंश=विभाजने, लोकृ दर्शने) जिगर को टुकड़े-टुकड़े होते हुए देखनेवाला होता है।

भावार्थ—धन के कारण भोगप्रवणता मनुष्य को अन्ततः विनाश व निराशा की ओर ले-जाती है।

१३१. [एकत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

मन्दन व भञ्जन

आमिनोनिति भद्यते॥ १॥   तस्य अनु निभञ्जनम्॥ २॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित धन के प्रकरण में ही कहते हैं कि एक (श्वा=) प्रवृद्ध ऐश्वर्यवाले व्यक्ति के **आ अमिनोन्**=समन्तात् धन का प्रक्षेपण हुआ है (मि प्रक्षेपणे)—मेरे चारों ओर धन ही धन है **इति**=यह सोचकर **भद्यते**=सुखी होता है—आनन्द का अनुभव करता है। अपने को धन में लोटता हुआ (rolling in the wealth) देखकर प्रसन्न होता है। २. परन्तु यह प्रसन्नता स्थायी नहीं होती। यह व्यक्ति धन के मद में विषयों में फँस जाता है और **अनु**=इस भोगप्रवणता के कुछ बाद **तस्य अनु निभञ्जनम्**=उस भोगासक्त धनी पुरुष का भञ्जन (आमर्दन=विनाश) हो जाता है।

भावार्थ—जो व्यक्ति धनमदमत्त हुआ-हुआ भोगासक्त हो जाता है, वह थोड़े दिनों के विलास के बाद शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है।

भारती+शवः

वरुणो याति वस्वभिः॥ ३॥ शतं वा भारती शवः॥ ४॥

१. गतमन्त्र में धनमदमत्त भोगासक्त पुरुष के विनाश का उल्लेख हुआ है। इसके विपरीत **वरुणः**=व्यसनों व ईर्ष्या-द्वेष से अपना निवारण करनेवाला वरुण **वस्वभिः**=सदा निवास के लिए उत्तम वसुओं के साथ **याति**=गतिवाला होता है। इसके धन इसके विनाश का कारण न होकर इसके उत्तम निवास का साधन बनते हैं। २. **वा**=निश्चय से **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त, अर्थात् आजीवन यह **भारती**=सरस्वती—विद्या की अधिष्ठात्री देवता तथा **शवः**=बल का अधिष्ठान बनता है। इसके जीवन में ज्ञान व शक्ति का समन्वय होता है—इसके ब्रह्म व क्षत्र दोनों श्रीसम्पन्न होते हैं।

भावार्थ—विषयासक्ति के न होने पर धन 'ब्रह्म व क्षत्र' के विकास का साधन बनता है।

'अश्व-रथ्य-कुथ-निष्क'

शतमाश्वा हिरण्ययाः। शतं रथ्या हिरण्ययाः।
शतं कुथा हिरण्ययाः। शतं निष्का हिरण्ययाः॥ ५॥

१. गतमन्त्र में वर्णित वासना का निवारण करनेवाले वरुण के **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **हिरण्ययाः**=ज्योतिर्मय (हिरण्यं वै ज्योतिः) व हितरमणीय **अश्वाः**=इन्द्रियरूप अश्व होते हैं। **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त ये इन्द्रियाश्व **हिरण्ययाः**=वीर्यवान् (हिरण्यं वै वीर्यम्) **रथ्याः**=शरीर-रथ का उत्तमता से वहन करनेवाले होते हैं। २. **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **हिरण्ययाः**=ज्योतिर्मय **कुथाः** (कुन्थ दीप्तौ)=ज्ञानदीप्तियाँ होती हैं अथवा (कुत्थति हिनस्ति अशोभाम्) शतवर्षपर्यन्त इसका जीवन शोभामय बना रहता है। **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त यह **हिरण्ययाः**=ज्योतिर्मय **निष्काः**=ज्ञानरूप कण्ठाभरणोंवाला होता है।

भावार्थ—धन का भोगों में व्यय न करके, सद्व्यय करने पर इन्द्रियाँ प्रकाशमय बनी रहती हैं। ये इन्द्रियाँ शरीर-रथ का उत्तमता से वहन करती हैं। सब अशोभाओं का निराकरण होकर शोभा की वृद्धि होती है और विविध विज्ञान इसके कण्ठाभारण बनते हैं।

कुश

अहल कुश वर्त्तक॥ ६॥ शफेनइव ओहते॥ ७॥

१. गतमन्त्र में वर्णित वरुण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **अ-हल**=अविलेखनीय—वासनाओं से अविदारणीय! **कुश**=(श्यति कु=बुराई) बुराई को विनष्ट करनेवाले! **वर्तक**=सदा धर्म-कार्यों में वर्तनेवाले वरुण! धन के कारण वासनाओं में न फँसनेवाला यह व्यक्ति **आ**

ऊहति=सब बुराइयों को (push, remove) दूर करता है। इसप्रकार दूर करता है **इव**=जैसेकि **शफेन**=खुर से एक गौ शत्रु को आहत करती है। खुर के प्रहार से गौ जैसे शत्रुओं को दूर करती है, इसी प्रकार वह वरुण धर्मकार्यों में वर्तता हुआ सब बुराइयों को दूर रखता है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में वासनाओं से विलेखित—अवदीर्ण हों। बुराई का अन्त करनेवाले हों। सदा धर्म-कार्यों में वर्तें और इसप्रकार जीवन से सब बुराइयों को दूर रक्खें।

संविभाग की वृत्ति

आयं वनेनती जनी॥ ८॥　　वनिष्ठा नाव गृह्यन्ति॥ ९॥

१. गतमन्त्र का वर्तक प्रार्थना करता है कि **वनेनती**=संभजन में झुकाववाली (वन संभक्तौ) बनी शक्तियों का विकास करनेवाली चित्तवृत्ति **आ अय**=मुझे सर्वथा प्राप्त हो। वस्तुतः जब हम संभजन की वृत्तिवाले होते हैं—सब-कुछ स्वयं ही नहीं खा लेते तब इस समय हमारी शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः उत्तम कार्यों में वर्तनेवाला व्यक्ति सदा इस संभजन की वृत्ति को अपनाता है। २. ये **वनिष्ठाः**=अधिक-से-अधिक संविभाग की वृत्तिवाले लोग **न अवगृह्यन्ति**=परस्पर विरोध की वृत्तिवाले नहीं होते। एक-दूसरे का ये संग्रह करनेवाले ही होते हैं।

भावार्थ—संविभाग की वृत्ति हमारी शक्तियों का विकास करती है। यह हमें परस्पर के संघर्ष से दूर रखकर उन्नत करती है।

वृक्ष

इदं मह्यं मदूरिति॥ १०॥　　ते वृक्षाः सह तिष्ठति॥ ११॥

१. गतमन्त्र का वनिष्ठ कहता है कि **इदम्**=यह संविभजन—सबके साथ बाँटकर खाना **मह्यम्**=मेरे लिए **मदूः इति**=आनन्द देनेवाला है। इस संविभाग में—सबके साथ मिलकर खाने में मैं आनन्द का अनुभव करता हूँ। २. **ते**=वे वनिष्ठ **वृक्षाः**=(व्रश्चू छेदने) वासनाओं के झाड़-झंकाड़ों को काटनेवाले होते हैं। सब वासनाओं को छिन्न करके पवित्र जीवनवाले होते हैं। **सह तिष्ठति**=प्रभु इनके साथ निवास करते हैं। प्रभु को वही प्रिय होता है जो सबके साथ बाँटकर खानेवाला होता है।

भावार्थ—संविभाग में हम आनन्द का अनुभव करें। यह संविभाग ही हमारी वासनाओं को विनष्ट करेगा। इन वनिष्ठों को ही—संभक्ताओं को ही प्रभु मिलते हैं।

त्याग व प्रभु-प्राप्ति

पाक बलिः॥ १२॥　　शक बलिः॥ १३॥

अश्वत्थ खदिरो धवः॥ १४॥

१. **पाक**=हे साधना द्वारा ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले जीव! तू तो **बलिः**=भूतयज्ञ में पड़नेवाली आहुति ही हो गया है। २. **शक**=हे शक्तिशालिन् साधक! तू **बलिः**=भूतयज्ञ की आहुति बना है। 'तैजस' (शक) व 'प्राज्ञ' (पाक) बनकर तू 'वैश्वानर' बनता है। इसप्रकार इन तीनों पगों को रखकर तू चौथे पग में (सोऽयमात्मा चतुष्पात्) उस 'सत्य, शिव, सुन्दर' प्रभु को पानेवाला बना है। ३. उस सर्वव्यापक 'अश्व' नामक (अश् व्याप्तौ) प्रभु में स्थित होनेवाले 'अश्वत्थ' (अश्वे तिष्ठति) तू **खदिरः** (खद स्थैर्ये)=स्थिर वृत्तिवाला है। तेरा मन डाँवाडोल नहीं रहा। **धवः**=(धू कंम्पने) तूने सब वासनाओं को कम्पित करके अपने जीवन को वासनाओं से शून्य बनाया है।

भावार्थ—हम ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करके तथा शक्तिशाली बनकर भूतयज्ञ में—प्राणिमात्र के हित के लिए अपने को आहुत कर दें तभी हम प्रभु में स्थित होंगे। प्रभु में स्थित होने पर स्थिर वृत्ति के बनेंगे तथा वासनाशून्य जीवनवाले होंगे।

अहिंसा=वासनाशून्यता

अरदुपरम॥ १५॥ **शयो हुतइव॥ १६॥**

व्याप पूरुषः॥ १७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हे ब्रह्मनिष्ठ (अश्वत्थ)! तू **अरत् उपरम** (ऋ to kill)=हिंसा से उपरत हो। किसी भी प्राणी का तू हिंसन करनेवाला न बन। २. **हतः इव**=जिसकी सब वासनाएँ मर गई हैं, ऐसा बना हुआ तू **शयः**=(शी अच्) इस संसार में निवास करनेवाला हो (शेते इति शयः) ३. ऐसे वासनाशून्य व्यक्ति को **पूरुषः**=वह परम पुरुष प्रभु **व्याप**=विशेष रूप से प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम हिंसा से निवृत्त हों। वासनाओं को मारकर संसार में पवित्र जीवनवाले बनें। तभी हमें उस परमपुरुष की प्राप्ति होगी।

पूषक-परस्वान्

अदूहमित्यां पूषकम्॥ १८॥ **अत्यर्धर्च परस्वतः॥ १९॥**

दौव हस्तिनो दृती॥ २०॥

१. **अ-दूह-मित्याम्** (अ=दुहिर् Hurt अर्दने, मिति=ज्ञान)=हिंसा न करनेवाला ज्ञान होने पर ही मनुष्य **पूषकम्**=उस सर्वपोषक प्रभु को पाता है। प्रभु पूषा हैं। साधक भी पूषा—न कि हिंसक बनकर ही प्रभु को प्राप्त करता है। २. (अति, ऋधु वृद्धौ, ऋच् स्तुतौ) **अत्यर्धर्च**=हे अतिशयेन प्रवृद्ध स्तुतिवाले जीव! तू ही उस **परस्वतः** (पृ पालनपूरणयोः, अस्। परस्+मत) पालन व पूरण के कर्मोंवाले प्रभु को पानेवाला होता है। प्रभु का स्तवन करता हुआ भी 'परस्वान्'=पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मोंवाला होता है। ३. इस **हस्तिनः**=प्रशस्त हाथोंवाले पुरुष के **दौव**=(दोः=भुजा) दोनों ही हाथ **दृती** (दृ विदारणे)=शत्रुओं का विदारण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनकर यह शत्रुओं का विदारण करता हुआ उत्तमता से पालन करनेवाला होता है।

भावार्थ—हमारा ज्ञान अहिंसक होगा तो ही हम पोषक प्रभु को प्राप्त करेंगे। प्रभु का स्तवन करनेवाला अवश्य पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों को करता है। इसके दोनों हाथ शत्रुओं का विदारण करनेवाले होते हैं।

१३२. [द्वात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

'सर्वव्यापक-अद्वितीय-कूटस्थ' प्रभु

आदलाबुकमेककम्॥ १॥ **अलाबुकं निखातकम्॥ २॥**

१. **आत्**=सर्वथा (at all) वे प्रभु **अलाबुकम्**=(लवि अवस्रंसने) न अधःपतनशील हैं। वे प्रभु निराधार होते हुए सर्वाधार हैं। सर्वव्यापक होने से उन्हें आधार की आवश्यकता नहीं। उनके अधःपतन का कोई प्रसंग ही नहीं—'वे किसी स्थान पर न हो' ऐसी बात ही नहीं। २. **एककम्**=वे एक ही हैं। अद्वितीय हैं। अकेले होते हुए भी सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होने से वे अपने सब कार्यों को स्वयं कर सकते हैं। उन्हें किसी अन्य के सहाय्य की अपेक्षा नहीं। ३.

अलाबुकम्=वे कभी स्रस्त नहीं होते। उन्हें स्रस्त होना ही कहाँ? वे तो पहले ही सब जगह हैं। **निखातकम्**=अपने स्थान पर दृढ़ता से गढ़े हुए हैं, स्थिर हैं—ध्रुव हैं 'कूटस्थः, अचलो ध्रुवः'।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र व्यापक होने से अधःपतनशील व स्रस्त होनेवाले नहीं। वे एक, अद्वितीय हैं। अचल व ध्रुव हैं।

प्राणसाधना व प्रभु का मनन

कर्करिको निखातकः॥ ३॥ तद्वात उन्मथायति॥ ४॥

१. वे प्रभु **कर्करिकः**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पदार्थों के कर्त्ता हैं। **निखातकः**=स्वयं स्वस्थान में सुदृढ़रूप से स्थित हैं, 'कूटस्थ, अचल व ध्रुव' हैं। स्वयं गतिशून्य होते हुए सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले हैं (तदेजति तन्नैजति) २. **तत्**=उस ब्रह्म को **वातः**=वायु के समान निरन्तर क्रियाशील पुरुष अथवा प्राणसाधना करनेवाला पुरुष (वायुः प्राणो भूत्वा) **उन्मथायति**=उत्तमतया मन्थित करता है। यह प्राणसाधक ही दीप्त प्रज्ञावाला बनकर प्रभु का मनन कर पाता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वकर्त्ता व स्वस्थान में सुदृढ़ हैं—कूटस्थ हैं। प्राणसाधक पुरुष ही प्रभु का मनन कर पाता है।

'उदारता' व 'उत्तम घर का निर्माण'

कुलायं कृणवादिति॥ ५॥ उग्रं वनिषदाततम्॥ ६॥
न वनिषदनाततम्॥ ७॥

१. **कुलायम्**=घर को **कृणवात् इति**=बनानेवाला हो। इस कारण से **उग्रम्**=अतिशयेन तेजस्वी **आततम्**=सर्वत्र फैले हुए सर्वव्यापक प्रभु की ही **वनिषद्**=याचना करे—प्रभु को ही पाने की प्रार्थना करे। तेजस्वी, व्यापक प्रभु का आराधन करनेवाला व्यक्ति घर को सदा उत्तम बनाता है। इस आराधक के घर में सबका जीवन उत्तम होता है। २. **अनाततम्**=जो व्यापक नहीं, उसकी पूजा न करे, अर्थात् व्यक्ति को गुरु धारण करके उसकी पूजा में ही न लग जाए। 'पति घर में रोटी पकाये चूँकि पत्नी गुरुजी के दर्शन को गई हुई है' यह भी कोई घर है? और इन गुरुओं के कारण परस्पर फटाव व अकर्मण्यता उत्पन्न हो जाती है, चूँकि उनका विचार होता है कि गुरुजी का आशीर्वाद ही सब-कुछ कर देगा। अविस्तृत—संकुचित व अनुदार की **न वनिषत्**=याचना न करे। 'उदारं धर्ममित्याहुः' उदार ही धर्म है। संकुचित तो कभी धर्म होता ही नहीं। महत्ता ही उपादेय हो। यह महान् पुरुष ही उत्तम घर का निर्माण करनेवाला होता है।

भावार्थ—जो यह चाहता है कि वह उत्तम घर का निर्माण करे—उसे तेजस्वी, सर्वव्यापक प्रभु की ही याचना करनी चाहिए। यह कभी अनुदारता व अल्पता की ओर नहीं जाता।

कर्करी विलेखन व दुन्दुभि हनन

क एषां कर्करी लिखत्॥ ८॥ क एषां दुन्दुभिं हनत्॥ ९॥
यदीयं हनत्कथं हनत्॥ १०॥

१. **एषाम्**=गतमन्त्र के अनुसार इन क्रियाशील प्राणसाधकों व उदारधर्म का पालन करनेवालों की **कर्करी**=क्रियाशीलताओं को **कः**=कौन **लिखत्**=अवदीर्ण—विनष्ट कर देता है? कौन इनकी क्रियाशीलताओं को उखाड़ फेंकता है? 'कर्करी' शब्द द्विवचन में है। एक अभ्युदय-साधक क्रियाएँ हैं, दूसरी निःश्रेयस-साधक। कौन-सी शक्ति है जो इसकी इन क्रियाओं को विदीर्ण कर

डालती है? २. **कः**=कौन-सी वह प्रबल शक्ति **एषाम्**=इन साधकों की **दुन्दुभिम्**=दुन्दुभि को—अन्तर्नाद को—अन्तःस्थित प्रभु से दी जानेवाली प्रेरणा को—**हनत्**=नष्ट कर देती है। किसके वशीभूत होकर यह जीव उस प्रेरणा को नहीं सुनता। ३. **यदि**=यदि **इयम्**=यह देदीप्यमान रूपवाली प्रकृति **हनत्**=इन क्रियाओं व अन्तर्नाद को नष्ट करती है तो **कथं हनत्**=कैसे नष्ट करती है? जीव बड़े उत्तम मार्ग पर चल रहा होता है। न जाने क्या होता है कि उसकी सब क्रियाएँ विनष्ट हो जाती हैं और वह अन्तःस्थित प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला नहीं रहता।

भावार्थ—प्रकृति का चमकीला आवरण हमपर इसप्रकार आक्रामक हो जाता है कि हमारी सब शुभ क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं और हम उस अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को नहीं सुन पाते।

फिर-फिर बन्धन में

देवी हनत्कुहनत्॥ ११॥ पर्यागारं पुनः पुनः॥ १२॥

१. **देवी**=यह चमकती हुई प्रकृति ही हमारी क्रियाओं व अन्तर्नाद को **हनत्**=विनष्ट करती है और **कुहनत्**=बुरी तरह से विनष्ट करती है। यह हमें सुला-सा देती है (दिव् स्वप्ने) और विषय-क्रीड़ाओं में फँसा देती है (दिव् क्रीडायाम्)। उस समय हम अपने कर्त्तव्यों को भूल जाते हैं और अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणाओं को नहीं सुन पाते। २. इसका परिणाम यह होता है कि हम **पुनःपुनः**=फिर-फिर **परि आगारम्**=इस शरीर-गृह के ही भागी बनते हैं (परि=भागे)। हमें बार-बार इन शरीर-बन्धनों में आना पड़ता है—हम मुक्त नहीं हो पाते।

भावार्थ—प्रकृति-बन्धनों में फँसने पर मुक्ति सम्भव नहीं। प्रकृति का आकर्षण बन्धन का ही कारण बनता है।

उष्ट्र के तीन नाम (शत्रु-नायक बल)

त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि॥ १३॥ हिरण्य इत्येके अब्रवीत्॥ १४॥
द्वौ वा ये शिशवः॥ १५॥

१. प्रकृति के बन्धनों में न फँसनेवाले **उष्ट्रस्य**=वासनाओं को (उष दाहे) दग्ध करनेवाले के **त्रीणि**=तीन **नामानि**=नाम हैं, अथवा शत्रुओं को झुकानेवाले (नम प्रह्वीभावे) तीन बल हैं। एक बल 'काम' का पराजय करता है, दूसरा 'क्रोध' का और तीसरा 'लोभ' का। इसप्रकार तीनों शत्रुओं को विनष्ट करके यह स्वर्गीय सुख का अनुभव करता है। २. प्रभु ने **इति अब्रवीत्**=ऐसा कहा कि **एके**=(same) ये सब सम (समान) हैं। ये बल अलग-अलग नहीं हैं। **हिरण्यम्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) ये बल हिरण्य, अर्थात् ज्योतिरूप है। ज्ञान ही वह बल है जिसमें ये सब शत्रु भस्म हो जाते हैं। ३. ये **शिशवः**=(शो तनूकरणे) जो अपनी बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले हैं, वे कहते हैं कि ये बल **वा**=निश्चय से **द्वौ**=दो भागों में बटे हुए हैं=शरीर में इसका स्वरूप 'क्षत्र' है, मस्तिष्क में 'ब्रह्म'। ये ब्रह्म और क्षत्र मिलकर सब शत्रुओं को भस्म कर देते हैं।

भावार्थ—वासनाओं को दग्ध करनेवाला व्यक्ति तीन शत्रुओं को नमानेवाले बलों को प्राप्त करता है। ये सब बल समान रूप—'हिरण्य' (ज्योति) ही हैं। अथवा ये 'ब्रह्म व क्षत्र' के रूप में हैं।

नील-शिखण्ड-वाहन

नीलशिखण्डवाहनः॥ १६॥

१. वासना को जीतकर संसार के रंगों में न रंगा हुआ यह पुरुष—'नील' बनता है

'कृष्णा'=न रंगा हुआ। २. क्रोध को जीतकर यह 'शिखण्ड' (crest) मूर्धन्य=शिरोमणि बनता है। ३. लोभ को जीतकर यह न्यायार्जित धन से जीवन-यात्रा का वहन करनेवाला 'वाहन' बनता है। इसप्रकार इसका नाम 'नीलशिखण्ड वाहन' हो जाता है।

भावार्थ—हम 'काम, क्रोध, लोभ' रूप तीनों शत्रुओं को जीतकर 'नीलशिखण्डवाहन' बनें।

१३३. [त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ज्ञान की दो किरणें

वितंतौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ १॥

१. प्रभु से दिये गये वेदज्ञान में **द्वौ किरणौ**=दो प्रकाश की किरणें **विततौ**=विस्तृत हैं। वेद में जहाँ प्रकृति का सम्यक् ज्ञान दिया गया है, उसी प्रकार जीव के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन भी पूर्णतया हुआ है। जीव का वहाँ अन्तिम लक्ष्य उपासना द्वारा प्रभु का सान्निध्य कहा गया है। 'तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्' इन शब्दों में यह स्पष्ट है कि जीव ने प्रभु-दर्शन करना है—प्रभु जैसा बनना है—प्रभु-पुत्र होने के नाते प्रभु-जैसा तो था ही। बालबुद्धिवश प्रकृति का आकर्षण ही उसे विषयपंक में फँसाकर मलिन कर देता है। **पूरुषः**=इस शरीर-नगरी में बद्ध होकर रहनेवाला जीव **तौ**=उन प्रकाश-किरणों को **आपिनष्टि**=पीस डालता है। इन प्रकाश-किरणों से अपने जीवन को दीप्त नहीं करता। विषयों में ही क्रीड़ा करता रहता है। २. वह जीव विषयों को बड़ा प्रिय समझता है, परन्तु वस्तुतः ये वैसे हैं तो नहीं, अतः कहते हैं कि हे **कुमारि**=(कुमार क्रीडायाम्) विषयों में क्रीड़ा करनेवाली युवति! **वै**=निश्चय से **तत्**=वह विषयस्वरूप **तथा न**=वैसा नहीं है। हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसा तू इसे समझ रही है। जीव इसमें आनन्द-लाभ की आशा करता है, परन्तु ये विषय तो 'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः' सब इन्द्रियों के तेज को जीर्ण ही करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने वेद में हमारे लिए प्रकृतिज्ञान व जीव-कर्त्तव्यज्ञानरूपी दो प्रकाश की किरणों को प्राप्त कराया है। प्रकृति में फँसकर हम इन ज्ञान-किरणों को प्राप्त करने के लिए यत्नशील नहीं होते, परन्तु प्रकृति वस्तुतः आनन्दप्रद लग ही रही है, है तो नहीं। यह तो इन्द्रियों के तेज को जीर्ण ही करनेवाली है। इस बात को समझकर हमें प्रकाश को ही पाना चाहिए।

माता के दो उपदेश

मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्तः पुरुषानृते।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ २॥

१. हे जीव! **ते**=तेरी **मातुः**=इस वेदमाता की (स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्) **द्वौ किरणौ**=प्रकाश की ये दो किरणें—प्रकृति-ज्ञान व जीव-कर्त्तव्यज्ञानरूप प्रकाश **पुरुषान्**=सब पुरुषों को **ऋते**=सत्य के विषय में—जो ठीक है उसके विषय में **निवृत्तः**=(वृतु भाषणे दीपने च) कहती हैं और दीप्त करती हैं, परन्तु तू माता के उस भाषण को सुनता नहीं, अतः तेरा जीवन दीप्त भी नहीं होता। २. हे **कुमारि**=विषयों में खेलनेवाले जीव! तू यह समझ ले कि **वै तत् तथा न**=निश्चय से यह विषयस्वरूप वैसा नहीं है, हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसा तू इसे समझ रही है।

भावार्थ—वेदमाता की प्रकाश की दो किरणें हमें ऋत के विषय में ज्ञान देकर दीप्त जीवनवाला बनाने के लिए यत्नशील हैं। संसार क्रीडारत होने पर हम उनकी ओर झुकते नहीं—

माता की बात को सुनते नहीं।

दो कर्णकों (विक्षेपों) का निग्रह

निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमे।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ ३॥

१. तमोगुण के विक्षेपों के कारण मनुष्य 'प्रमाद-आलस्य व निद्रा' की ओर झुक जाता है। राजस् विक्षेप इसे अर्थप्रधान बनाकर हर समय भगदौड़ में रखते हैं। इन **द्वौ**=दोनों ही **कर्णकौ** (कृ विक्षेपे)=विक्षेपों को **निगृह्य**=निगृहीत करके—रोककर तमोगुण के आलस्य व रजोगुण की भगदौड़ के **मध्यमे**=मध्य में होनेवाले सात्त्विक गति-सम्पन्न स्वर्णीय मध्यमार्ग में **निरायच्छसि**=तू अपने को संयत करता है। २. हे **कुमारि**=संसार के विषयों में क्रीड़ा करनेवाले जीव! यह तू समझ ले कि **वै**=निश्चय से **तत्**=वह **तथा न**=वैसे नहीं है, हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसे तू इस संसार को मानती है।

भावार्थ—तमोगुण व रजोगुण के विक्षेपों से ऊपर उठकर हम सदा मध्यम सात्त्विक मार्ग पर चलनेवाले बनें। संसार के तत्त्व को समझें।

'उत्ताना Vs शयाना' चित्तवृत्ति

उत्तानायै शयानायै तिष्ठन्ती वाव गूहसि।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ ४॥

१. **उत्तानायै**=(Elevated, Candid)=उत्कृष्ट—छल-छिद्र-शून्य चित्तवृत्ति के लिए **तिष्ठन्ती**=स्थित होती हुई तू **वा**=निश्चय से **शयानायै**=आलस्य में शयन करनेवाली चित्तवृत्ति के लिए **अवगूहसि**=अपने को संवृत कर लेती है—छिपा लेती है (Conceal)। शयाना चित्तवृत्ति का तू शिकार नहीं होती। २. हे कुमारि! यह तू सदा ध्यान रखना कि **वै**=निश्चय से **तत् तथा न**=यह संसार वैसा नहीं, हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसा तू इसे मानती है।

भावार्थ—हम संसार में विलासों की चमक से बचकर उत्कृष्ट व छल-छिद्र-शून्य जीवन को अपनाएँ। आलस्यमयी भोगप्रवण चित्तवृत्ति को दूर रक्खें।

श्लक्ष्णा Vs श्लक्ष्णिका

श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवाव गूहसि।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ ५॥

१. दो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं—एक 'श्लक्ष्णा' (Honest, candid, Beautiful, charming)=छल-छिद्र-शून्य उदार चित्तवृत्ति हैं जो वस्तुतः सुन्दर हैं। दूसरी 'श्लक्ष्णिका' (कुत्सिते-कन्)=श्लक्ष्णा से विपरीत कुत्सित छल-छिद्रपूर्ण चित्तवृत्ति है। हे कुमारि! तू इस बात का ध्यान करना कि **श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायाम्**=इन श्लक्ष्णा और श्लक्ष्णिका चित्तवृत्तियों में तू **श्लक्ष्णाम् एव**=छल-छिद्रशून्य सुन्दर चित्तवृत्ति को ही **अवगूहसि** (गुह=Hug)=आलिंगन करती है। हमें संसार में उत्तम चित्तवृत्ति को ही अपनाना चाहिए। संसार की चमक-दमक में फँसकर कुटिलता की ओर न झुक जाना चाहिए। ३. हे कुमारि! तू यह समझ ले कि **वै**=निश्चय से **तत् तथा न**=यह संसार वैसा नहीं है, हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसा तू इसको समझ रही है। छल-छिद्र से प्राप्त ऐश्वर्य अन्ततः कल्याण देनेवाले नहीं।

भावार्थ—हम संसार में छल-छिद्र से शून्य, उदार चित्तवृत्तिवाले बनें। संसार के स्वरूप

को ठीक से समझने का यत्न करें।

अवश्लक्ष्णम् इव

अवश्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोममति ह्रदे।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ ६॥

१. यह संसार **अवश्लक्ष्णम् इव**=(not honest) छल-छिद्र से भरा हुआ-सा है—यह सुन्दर नहीं। **लोममति ह्रदे अन्तः**=विषय-शैवालरूपी लोमोंवाले ह्रद के अन्दर **भ्रंशत्**=गिर रहा है, अर्थात् संसार-ह्रद में मनुष्य डूबते-से चलते हैं। यह संसार-ह्रद विषय के शैवाल से भरा हुआ है। ये विषय लोम हैं (लू छेदने) छेदन के योग्य हैं। अन्यथा ये मनुष्य को उलझा लेते हैं। २. हे कुमारि! **वै**=निश्चय से **तत् यथा न**=यह संसार वैसा नहीं, हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसा तू समझती है। संसार के तत्त्व को समझकर हमें इस संसार-ह्रद में डूबने से बचना चाहिए।

भावार्थ—यह संसार छल-छिद्र से भरा-सा हुआ है। मनुष्य इसकी चमक से चुंधियाई हुई आँखोंवाला होकर विषय-शैवाल से भरे इस संसार-ह्रद में डूब जाता है, अतः अत्यन्त सावधानी अपेक्षित है।

सूचना—छह बार यह बात कही गई है कि यह संसार वैसा नहीं जैसाकि इसे हम समझ रहे हैं। यही संसार का मिथ्यात्व है—यही वेदान्त-सिद्धान्त है। 'संसार न हो' ऐसा नहीं। इसे ठीक रूप में समझकर इस संसार-सागर में डूबने से हमें बचना चाहिए। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ही इसमें उलझने का कारण बन जाते हैं, अतः यह बात छह बार दुहरा दी गई है। जब बुद्धि का राज्य होता है तब मनुष्य इसमें उलझने से बच जाता है।

१३४. [चतुस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

कुटिलता का तर्जन

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् अरालागुदभर्त्सथ॥ १॥

१. संसार के विषयों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस रूप में सोचें और समझें कि **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम उत्तर व दक्षिण सब दिशाओं में उस प्रभु की सत्ता है। २. वह प्रभु **अरालागुदभर्त्सथ** (भर्त्सथः)=(अराल=crooked गुद=क्रीडायाम्, भर्त्स=झिड़कना) छल-छिद्र व कुटिलतापूर्ण क्रीड़ाओं का भर्त्सन करनेवाला है। प्रभु अपने पुत्रों से अकुटिल कर्मों को ही चाहता है?

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण करते हुए हम कुटिलता से ऊपर उठें। कुटिल कर्मों में फँसकर प्रभु से धिक्कारने के योग्य न हो जाएँ।

पुरुषन्त

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् वत्साः पुरुषन्त आसते॥ २॥

१. **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण में सर्वत्र वे प्रभु विद्यमान हैं। २. इस प्रभु के **वत्साः**=प्रिय पुत्र **पुरुषन्तः**=(पुरुष इव आचरन्तः) एवं पुरुष की भाँति आचरण करते हुए—मानवोचित व्यवहार करते हुए—छल-छिद्र से दूर होते हुए **आसते**=ठहरते हैं।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण करते हुए हम मानवोचित व्यवहार करें और

प्रभु के प्रिय बनें।

स्थालीपाक-विलय

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् स्थालीपाको वि लीयते॥ ३॥

१. **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण में वे प्रभु सर्वत्र विद्यमान हैं। २. ऐसा अनुभव होने पर **स्थालीपाकः**=कुण्ड में (देगची में) पकाते रहने की क्रिया **विलीयते**=विलीन हो जाती है—नष्ट हो जाती है। यह व्यक्ति हर समय खाता-पीता ही नहीं रहता। खान-पान में ही मज़ा लेने से ऊपर उठकर यह अध्यात्म उन्नति की ओर अग्रसर होता है?

भावार्थ—हम प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करें और हर समय पशुओं की तरह चरते ही न रहें। अध्यात्म-उन्नति में प्रवृत्त हों।

प्रभु-भक्ति-लीनता

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् स वै पृथु लीयते॥ ४॥

१. **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण में सब ओर वे प्रभु हैं, २. ऐसा अनुभव करनेवाला **सः**=वह उपासक **वै**=निश्चय से **पृथु**=(प्रथ=विस्तारे) उस सर्वव्यापक प्रभु की भक्ति में **लीयते**=लीन होने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—हम प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करें और उसकी उपासना में लीन होने के लिए यत्नशील हों।

'सर्वत्र व सर्वविजेता' प्रभु

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् आष्टे लाहणि लीशाथी॥ ५॥

१. **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण में सर्वत्र प्रभु व्याप्त हैं। २. ऐसा सोचनेवाले पुरुष की बुद्धि **आष्टे**=उस सर्वव्यापक (अश् व्याप्तौ) **लाहणि**=(लाभ=conquest, apprehansion) सर्व-विजेता, सर्वज्ञ प्रभु में **लीशाथी**=(लिश गतौ) गतिवाली होती है। यह पुरुष सदा प्रभु का ही चिन्तन करता है। इसके सब व्यापार प्रभु-चिन्तनपूर्वक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण करते हुए हम बुद्धि को प्रभु के चिन्तन में प्रवृत्त करें। सब विजयों को उस प्रभु से होता हुआ जानें।

अशुद्धि क्षये ज्ञानदीप्तिः

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् अक्ष्लिली पृच्छिलीयते॥ ६॥

१. **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण में सर्वत्र उस प्रभु की व्याप्ति है। २. ऐसा चिन्तन करनेवाले पुरुष की **अक्ष्लिली**=(अक्ष् pervade, penetrate) सर्वविषय व्यापिनी-गहराई तक जानेवाली बुद्धि **पुच्छिलीयते**=('पुच्छ् प्रसादे' शब्द कल्पद्रुमे) प्रसादवाली होती है—निर्मल हो जाती है। इस बुद्धि के निर्मल होने पर ही उसे विवेकख्याति होकर प्रभु का साक्षात्कार होता है।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का चिन्तन बुद्धि को निर्मल बनाता है। इस निर्मल बुद्धि से प्रभु का साक्षात्कार हो पाता है।

१३५. [पञ्चत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

भुक्, शल्, फल्

भुगित्यभिगतः शलित्यपक्रान्तः फलित्यभिष्ठितः।
दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोथामो दैव॥ १॥

१. **भुक्**='हे प्रभो! आप ही तो पालनेवाले हो' **इति**=यह चिन्तन करता हुआ स्तोता **अभिगतः**=आपकी ओर चलनेवाला बनता है। **शल्**='वह प्रभु ही संसार का संचालक है, सम्पूर्ण गतियों को देनेवाले वे प्रभु ही हैं' **इति**=यह सोचकर **अपक्रान्तः**=यह स्तोता सब विषय-वासनाओं से दूर हो जाता है। सर्वत्र प्रभु की गति को देखता हुआ—उसकी सर्वव्यापकता को अनुभव करता हुआ विषयों में नहीं फँसता। **फल्**='प्रभु ही सब वासनाओं को विशीर्ण करनेवाले हैं', इति=यह सोचकर यह स्तोता **अभिष्ठितः**=प्रातः-सायं उस प्रभु के चरणों में स्थित होता है। यह प्रभु की उपासना ही उसे काम, क्रोध को पराजित करने में समर्थ करती है। २. हे **जरितः**=हमारी वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **दैव**=सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभो! हम **आहननाभ्याम्**=(हन् गतौ) शरीर में सर्वत्र (आ) प्राणापान की गति के द्वारा **दुन्दुभिः**=अन्तर्नाद को **आउथामः** (उत्थापयामः)=उठाने का प्रयत्न करते हैं। प्राणायाम द्वारा मलों के दूर होने पर ही तो अन्तःस्थित आपकी प्रेरणा सुन पड़ती है।

भावार्थ—हम प्रभु को 'भुक्' जानकर प्रभु की ओर चलें, उसे 'शल्' समझते हुए वासनाओं से बचें, उसे 'फल्' जानते हुए प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में स्थित हों। प्राणसाधना द्वारा मलों को विक्षिप्त करके अन्तर्नाद को सुनने का प्रयत्न करें।

गृहस्थ से, वानप्रस्थ होकर संन्यास की ओर

कोशबिले रजनि ग्रन्थेर्धानमुपानहि पादम्।
उत्तमां जनिमां जन्यानुत्तमां जनीन्वर्त्मन्यात्॥ २॥

१. 'प्रभु-चरणों में स्थित होनेवाला यह व्यक्ति किस प्रकार चलता है?' इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इसके जीवन में पहली बात तो यह होती है कि **कोशबिले**=खजाने के द्वार पर **रजनि ग्रन्थेः**=(रजनि red lac) लाख की ग्रन्थि का **धानम्**=स्थापन होता है, अर्थात् अब यह कोश को बढ़ाना बन्द कर देता है। धन की वृद्धि ही तो इसके जीवन का उद्देश्य नहीं। जीवन के लिए आवश्यक धन के होने पर धन को ही बढ़ाने में लगे रहना समझदारी नहीं। २. अब यह **उपानहि पादम्**=जूते में पाँव को रखता है, अर्थात् गृहस्थ से ऊपर उठकर वानप्रस्थ बनने के लिए घर से प्रस्थान के लिए तैयार हो जाता है। ३. **उत्तमां जनिमां जन्या**=उत्तम सन्ततियों को जन्म देकर (जनयित्वा) अब यह **अनुत्तमाम्**=सर्वोत्तम **जनीन्**=प्रादुर्भावों को—शक्तिविकासों को लक्ष्य करके (जनीन्=जनिम्) **वर्त्मन् यात्**=मार्ग पर चलता है। अब यह ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग पर ही चलता है। यही मार्ग है जिसमें उसे सर्वोत्तम शक्तियों की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम जीवन में धन की एक सीमा का निर्धारण करें—अन्यथा आजीवन इसे कमाने में ही उलझे रहेंगे। गृहस्थ से ऊपर उठकर वानप्रस्थ बनने को तैयार हों। उत्तम सन्तानों को जन्म देने के बाद अब सर्वोत्तम शक्तियों के विकास के लिए तैयारी करें।

घरों को उत्तम बनाने के लिए

अलाबूनि पृषातकान्यश्वत्थपलाशम्।
पिपीलिकावटश्वसो विद्युत्स्वापर्णशफो गोशफो जरितरोथामो दैव॥ ३॥

१. हम घरों को उत्तम बनाने के लिए घरों में हे **जरितः**=हमारी वासनाओं को जीर्ण करनेवाले **दैव**=सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभो! **अलाबूनि**=प्रिया कद्दू की बेलों को, **पृषातकानि**=दधि-मिश्रित आज्य (घृत) को, **अश्वत्थपलाशम्**=पीपल व ढाक के वृक्षों को, **पिपीलिका-अवट-श्वसः**=उन वट-वृक्षों को जिनकी खोलों में चींटियाँ प्राण धारण करती हैं **आ उथामः**=उत्थापित करते हैं। भोजन के लिए अलाबू व पृषातक का प्रयोग स्वास्थ्यप्रद होता है। छाया के लिए वट-वृक्ष का महत्त्व है—वट का दूध वीर्य-दोषों को दूर करने में सहायक है। ढाक व पीपल की समिधाएँ यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए उपयोगी हैं। एवं एक घर में इनका महत्त्व स्पष्ट है। २. इनके अतिरिक्त हम प्रकाश के लिए **विद्युत्**=बिजली को घर में स्थापित करते हैं। इनके सिवाय हमारे घरों में **स्वापर्णशफः**=(सु आपर्ण) उत्तम पंखोंवाले, अर्थात् पक्षी के समान वायुवेग से उड़ चलनेवाले घोड़ों के शफों को तथा **गोशफः**=दूध देनेवाली गौओं के शफों को उत्थापित करते हैं। हमारे घरों में घोड़े व गौएँ हों। ये ही तो मनुष्य के बाएँ व दाएँ हाथ होते हैं। (स नःपवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते)।

भावार्थ—हमारे घर स्वास्थ्यप्रद भोजनों, यज्ञिय वृक्षों व घोड़े व गौ से युक्त हों।

यज्ञ+ज्ञान+स्तुति

वी ॑मे देवा अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर। सुसत्यमिद् गवामस्यसि प्रखुदसि॥ ४॥

१. **इमे देवाः**=ये देववृत्ति के पुरुष—घरों को उत्तम बनाने के बाद वानप्रस्थ होने पर ये देव—**वि अक्रंसत**=विशिष्ट रूप से गतिवाले होते हैं। इनका जीवन सदा क्रियामय होता है। हे **अध्वर्यो**=अहिंसात्मक यज्ञों में प्रवृत्त पुरुष तू **क्षिप्रं प्रचर**=शीघ्र गतिवाला हो—तू इन यज्ञ आदि कर्मों में प्रवृत्त रह। २. तू तो **इत्**=निश्चय से **सुसत्यम्**=सचमुच **गवाम् असि**=ज्ञान की वाणियों का है, अर्थात् तेरा जीवन इन ज्ञान की वाणियों के लिए अर्पित हो गया है। तू **प्रखुत्** (खु= to sound) **असि**=प्रकर्षेण स्तुतिवचनों का उच्चारण करनेवाला है और (प्रखुत्) **असि**=तू सचमुच उस प्रभु का स्तोता बना है।

भावार्थ—वानप्रस्थों का जीवन यज्ञों-ज्ञानों व स्तुतियों से परिपूर्ण हो।

यक्ष्यमाणा+होता

पत्नी यदृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोथामो दैव।
होता विष्टीमेन जरितरोथामो दैव॥ ५॥

१. हे **जरितः**=हमारी वासनाओं को जीर्ण करनेवाले **दैव**=देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभो! **यत्**=जब **पत्नी**=गृह-पत्नी **यक्ष्यमाणा**=यज्ञों को करती हुई—यज्ञों की कामनावाली होती हुई **पत्नी दृश्यते**=सचमुच घर का पालन करनेवाली दिखती है तो **आ उथामः**=हम घरों को सब प्रकार से उन्नत करनेवाले होते हैं। जिस घर में गृहपत्नी यज्ञ आदि उत्तम कर्मों की वृत्तिवाली होती है, वह घर पवित्र वातावरणवाला होता हुआ सदा उन्नत होता है। २. हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले **दैव**=देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभो! (यत्) जब घर में गृहपति **विष्टीमेन**=बड़े स्नेहार्द्र हृदय से (ष्टीम आर्द्रीभावे) **होता**=यज्ञों में आहुति देनेवाला (दृश्यते) दिखता है तो हम **आ उथामः**=घरों को सर्वथा ऊपर उठानेवाले होते हैं।

भावार्थ—जिस घर में पति-पत्नी यज्ञिय वृत्तिवाले होते हैं वह घर सदा उन्नत होता चलता है।

दक्षिणा

आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन्।
तां ह जरितः प्रत्यायंस्तामु ह जरितः प्रत्यायन्॥ ६॥

१. हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **आदित्याः**=विद्यादि गुणों का आदान करनेवाले पुरुष **ह**=निश्चय से **अंगिरोभ्यः**=यज्ञों के रक्षक अंगिरसों (विद्वानों) के लिए **दक्षिणाम्**=दान को **अनयन्**=प्राप्त कराते हैं। गुणों का आदान करनेवाले सद्गृहस्थ स्वयं यज्ञशील होते हुए यज्ञों के रक्षक ज्ञानी पुरुषों के लिए भी धनादि के दान द्वारा यज्ञों में सहायक होते हैं। २. हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **ताम्**=उस दक्षिणा को **ह**=निश्चय से **प्रत्यायन्**=ये अंगिरस् प्राप्त होते हैं। हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **ताम्**=उस दक्षिणा को **उ ह**=अवश्य ही **प्रत्यायन्**=प्राप्त होते हैं। इस दक्षिणा-प्राप्त धनों का विनियोग वे यज्ञों में ही करते हैं।

भावार्थ—गुणों का आदान करनेवाले ज्ञानी पुरुष स्वयं घरों में यज्ञ करते ही हैं। ये यज्ञों के रक्षक अंगिरसों के लिए भी दक्षिणा प्राप्त कराके उनसे किये जानेवाले यज्ञों में सहायक होते हैं।

'दान-स्वाध्याय-यज्ञ'

तां ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णंस्तामु ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णः।
अहानेतरसं न वि चेतनानि यज्ञानेतरसं न पुरोगवामः॥ ७॥

१. हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारी **ताम्**=उस दक्षिणा को ये अंगिरा **ह**=निश्चय से **प्रत्यगृभ्णन्**=ग्रहण करते हैं। हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारी **ताम्**=उस दक्षिणा को **उ ह**=निश्चय से **प्रत्यगृभ्णः**=ग्रहण कीजिए। आपके नाम पर हम जो दान दें, वह दान हमें आपका प्रिय बनाए। २. आपकी हमारे लिए यही तो प्रेरणा है कि **वि चेतनानि**=ज्ञानशून्य **अहान इत** (अहानेत)=दिनों को मत प्राप्त करो, अर्थात् तुम्हारा प्रत्येक दिन स्वाध्याय द्वारा ज्ञानवृद्धिवाला बने। **रसं न** (इत)=विषयों को मत प्राप्त होओ। तुम्हें विषयों का चस्का न लग जाए। **यज्ञान् आ इत** (यज्ञानेत)=यज्ञों को तुम प्राप्त होओ। तुम्हारा जीवन यज्ञमय हो। **रसं न**=विषयों के चस्कों में ही न पड़ जाओ। ३. हे प्रभो! आपकी इस प्रेरणा को सुनकर स्वाध्याय व यज्ञों में लगे हुए हम निरन्तर **पुरोगवामः**=(गवतिर्गतिकर्मा)=आगे और आगे चलते हैं। उन्नति का मार्ग यही है कि हम 'स्वाध्याय व यज्ञ' को ही अपना कर्त्तव्य समझें—विषयों में न फँसे।

भावार्थ—हमारा जीवन 'दान, स्वाध्याय व यज्ञ' को अपनाने के द्वारा उन्नत और उन्नत होता चले।

उत्तम जीवन

उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्यविष्ठः। उतेमाशु मानं पिपर्ति॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'दान, स्वाध्याय व यज्ञ' को अपनानेवाला व्यक्ति **उत**=निश्चय से **श्वेतः**=शुद्ध चरित्रवाला होता है—इसके जीवन से वासनारूप मल विनष्ट हो जाता है। यह **आशुपत्वाः**=शीघ्रगामी होता है—अपने कर्त्तव्यकर्मों को स्फूर्ति के साथ करनेवाला होता है। उत

उ=और निश्चय से यह **पद्याभिः**=कर्त्तव्यकर्मों में गतियों के द्वारा (पद् गतौ) **यविष्ठः**=बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को अपने से मिलानेवाला होता है (यु मिश्रणामिश्रणयोः) २. **उत**=और **ईम्**=निश्चय से यह साधक **आशु**=शीघ्र ही **मानं पिपर्ति**=मान का पालन करता है। यह मर्यादा ही इसके जीवन को सुन्दर बनाती है।

भावार्थ—हमारा जीवन शुद्ध हो, हम शीघ्र गतिवाले हों, क्रियाशीलता द्वारा जीवन को बुराइयों से बचाए रक्खें। मर्यादा का हम कभी उल्लंघन न करें।

'विभु-प्रभु-बृहत्-पृथु' राधः

आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेऽनु त इदं राधः प्रति गृभ्णीह्यङ्गिरः।
इदं राधो विभु प्रभु इदं राधो बृहत्पृथु॥ ९॥

१. हे **अंगिरः**=गतिशील (अगि गतौ)—आलस्यशून्य विद्यार्थिन्! **आदित्याः**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों से सम्बद्ध ज्ञान को प्राप्त करनेवाले विद्वन्! **रुद्राः**=ज्ञानोपदेश द्वारा (रुत्) जीवनों को पवित्र बनानेवाला उपदेष्टा तथा **वसवः**=ज्ञानोपदेश द्वारा जीवन को उत्तम बनानेवाले विद्वान् **त्वे अनु**=तेरे प्रति अनुकूलतावाले हैं। **ते**=तेरे लिए वे 'आदित्य, रुद्र व वसु' **इदं राधः**=इस ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। हे अंगिरः! तू इस ज्ञानैश्वर्य को **प्रतिगृभ्णीहि**=ग्रहण कर। परिश्रमी विद्यार्थी आचार्यों को सदा प्रिय होता है। वे इसके लिए ज्ञानरूप ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। २. हे अंगिरः! **इदं राधः**=यह ज्ञानैश्वर्य **विभु**=जीवन को वैभवमय बनानेवाला है, **प्रभु**=यह जीवन को प्रभावयुक्त करता है। **इदं राधः**=यह ऐश्वर्य **बृहत्**=वृद्धि का साधन बनता है (वृहि वृद्धौ) तथा **पृथु**=शक्तियों का विस्तार करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम गतिशील—आलस्यशून्य—बनें। हमें 'आदित्यों, रुद्रों व वसुओं' द्वारा वह ज्ञानैश्वर्य प्राप्त होगा जो हमारे 'वैभव व प्रभाव, वृद्धि व शक्ति-विस्तार' का साधन बनेगा।

आसुरं+सुचेतनम्

देवा ददत्वासुरं तद्वो अस्तु सुचेतनम्। युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येव गृभायत॥ १०॥

१. 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' इन उपनिषद् वाक्यों के अनुसार 'माता, पिता व आचार्य' देव हैं। ये **देवाः**=माता, पिता व आचार्यरूप देव **आसुरम्** (Divine, spiritual)=दिव्य बल **ददतु**=दें। ये तुम्हारे लिए दिव्य बल को प्राप्त करानेवाले हों। **तत्**=वह दिव्य बल **वः**=तुम्हारे लिए **सुचेतनम् अस्तु**=उत्तम चेतना व ज्ञान देनेवाला हो। २. यह उत्तम चेतना का साधनभूत दिव्य बल **दिवेदिवे**=दिन-प्रति-दिन **युष्मान् अस्तु**=तुम्हें प्राप्त हो, तुम **प्रतिगृभायत एव**=इसे प्रतिदिन ग्रहण करो ही।

भावार्थ—हम उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके दिव्य बल व ज्ञान को प्राप्त करें। यह दिव्य बल व ज्ञान हमें सदा प्राप्त हो।

'पारावत'

त्वमिन्द्र शर्मरिणा हव्यं पारावतेभ्यः। विप्राय स्तुवते वसुवनिं दुरश्रवसे वह॥ ११॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **पारावतेभ्यः**=(परात् शत्रोः अंहकारात् ज्ञानोपदेशेन अवति) ज्ञानोपदेश द्वारा अहंकाररूप शत्रु से बचानेवाले ज्ञानियों के लिए **शर्म**=सुख को व **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को—जीवन के लिए आवश्यक यज्ञिय पदार्थों को **रिणाः**=प्राप्त कराते हैं। २. हे प्रभो! आप **विप्राय**=(वि+प्रा पूरणे) अपनी कमियों को दूर करनेवाले **दुरश्रवसे** (दुर्व् हिंसायाम्, दुरंश्रवो यस्य)=शत्रुसंहारक ज्ञानवाले **स्तुवते**=स्तोता के लिए **वसुवनिं वह**=निवास के

लिए आवश्यक धन के संभजन को **वह**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम ज्ञान द्वारा अहंकाररूप शत्रु से बचानेवाले बनें। प्रभु हमें सुख व हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँगे। हम अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले, वासनासंहारक ज्ञानवाले व स्तोता बनें। प्रभु हमारे लिए निवास को उत्तम बनानेवाले धन का संभजन करेंगे।

परिव्राजक के लिए भिक्षा

त्वमि॑न्द्र क॒पोता॑य च्छिन्नप॒क्षाय॒ वञ्च॑ते।
श्यामा॑कं प॒क्वं पीलु॑ च॒ वार॑स्मा॒ अकृ॑णोर्ब॒हुः॥ १२॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **च्छिन्नपक्षाय**=(पक्ष परिग्रहे) परिग्रह को जिसने काट डाला है—जो अब परिवार के बन्धनों से ऊपर उठ गया है **अस्मै**=इस **वञ्चते**=चारों दिशाओं में भ्रमण करनेवाले **कपोताय**=आनन्द के पोत (बेड़े) के समान प्रसन्न संन्यस्त पुरुष के लिए **श्यामाकम्**=धान्यविशेष को **पक्वम्**=जिसको ठीक प्रकार से पकाया गया है **च**=तथा **पीलु**=(पीलु गुडफलः स्रंसी) सुपच, उत्तम फल को तथा **वाः**=जल को **बहुः**=बहुत बार **अकृणोः**=करता है। २. गृहस्थ के लिए उचित है कि द्वार पर आये संन्यस्त को आदर से भिक्षा प्राप्त कराए। भिक्षा में दिया गया खान-पान स्वास्थ्य के लिए ठीक हो। संन्यासी भी सर्वबन्धनमुक्त-सर्वत्र आनन्द का सन्देश प्राप्त कराता हुआ परिव्राजक ही है।

भावार्थ—सद्गृहस्थ द्वार पर उपस्थित परिव्राजक के लिए स्वास्थ्य वर्धक भिक्षान्न को प्राप्त कराएँ।

त्रिदण्डी परिव्राजक का ज्ञानोपदेश

अ॒रं॒ग॒रो वा॑वदीति त्रे॒धा ब॒द्धो व॑र॒त्रया॑। इरा॑मह॒ प्रशं॑स॒त्यनि॑रा॒मप॑ सेधति॥ १३॥

१. **अरंगरः**=खूब ही ज्ञानोपदेश करनेवाला (अरं गृणाति) यह परिव्राजक **वावदीति**=लोगों के लिए ज्ञान का उपदेश करता है। यह स्वयं **वरत्रया**=व्रतबन्धनरूप रज्जु से **त्रेधा बद्धः**= तीन प्रकार से बँधा होता है—यह 'वाणी, मन व शरीर' तीनों में संयत होता है 'वाग्दण्डोऽथ मनोदण्ड कायदण्डस्तथैव च'। इस संन्यस्त के मुख से कोई अपशब्द उच्चरित नहीं होता, किसी के प्रति मन में द्वेष नहीं होता, इसकी सब शारीरिक क्रियाएँ बड़ी संयत होती हैं तभी तो इसके ज्ञान के उपदेश का प्रभाव होगा। ४. यह **अह**=निश्चय से **इराम्**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती का **प्रशंसति**=शंसन करता है। लोगों को ज्ञान की रुचिवाला बनने की प्रेरणा देता है। **अनिराम्**=जो ज्ञान के प्रतिकूल है उसका **अपसेधति**=वर्जन करता है। स्वयं ज्ञान के प्रतिकूल बातों से दूर रहता हुआ लोगों को भी वैसा बनने के लिए कहता है।

भावार्थ—'वाणी, मन व शरीर' को व्रतबन्धनों से बाँधकर यह त्रिदण्डी लोगों को खूब ही ज्ञान का उपदेश करता है। ज्ञान के प्रतिकूल प्रत्येक भाव से दूर रहता है।

१३६. [षट्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

कठोर राजदण्ड से चोरी का अभाव

यद॑स्या अंहु॒भेद्याः॑ कृ॒धु स्थू॒लमु॒पात॑सत्।
मुष्का॒विद॑स्या एज॒तो गो॑श॒फे श॑कु॒लावि॑व॥ १॥

१. **यत्**=जो कोई भी **अंहुभेद्याः**=पाप का भेदन करनेवाली—पाप से दूर रहनेवाली **अस्याः**=इस प्रजा को **कृधु**=(ह्रस्वम् नि० ३.२) थोड़ा-सा अथवा **स्थूलम्**=अधिक **उपातसत्**=क्षय करता है,

अर्थात् प्रजा की छोटी व बड़ी चोरी करता है। चोर के रूप में सेंध लगाकर घर का सामान चुरा ले-जाता है, अथवा परिपन्थी के रूप में व्यापारी को मार्ग में ही रोककर लूट लेता है तो **अस्याः**=इस प्रजा के **मुष्कौ**=मोषण करनेवाले चोर **इत्**=निश्चय से **एजतः**=राजदण्डभय से काँप उठते हैं। ये चोर इसप्रकार काँप उठते हैं, **इव**=जैसेकि **गोशफे**=गोखुर प्रमाण जल में **शकुलौ**=मछलियाँ काँप उठती है। २. प्रजा जब पापवृत्तिवाली नहीं होती तब चोरियाँ होती ही कम हैं और होती भी हैं तो कठोर राजदण्ड के भय से चोर काँप उठते हैं, फिर इस अशुभ मार्ग की ओर झुकाववाले नहीं होते।

भावार्थ—प्रजा का झुकाव पाप की ओर होने पर कठोर राजदण्डभय से चोर काँप उठते हैं। इसप्रकार राष्ट्र में छोटी व बड़ी चोरियाँ समाप्त हो जाती हैं।

व्यापार-समृद्धि

यदा स्थूलेन पससाणौ मुष्का उपावधीत्।
विष्वञ्चा वस्या वर्धतः सिकतास्वेव गर्दभौ॥ २॥

१. **यदा**=जब **स्थूलेन**=(stout) बड़े मजबूत **पससा**=(राष्ट्रं वा पसः श०) राष्ट्र-प्रबन्ध के द्वारा **अणौ**=सूक्ष्मतम अपराधों के होने पर राजा **मुष्का**=चोरों व डाकुओं को **उपावधीत्**=दण्डित करता है तब **अस्याः**=इस राष्ट्र की प्रजा के नर-नारी **विष्वञ्चौ**=(वि सु अञ्च) विविध दिशाओं में उत्तम गतिवाले होते हुए **वर्धतः**=इसप्रकार वृद्धि को प्राप्त होते हैं **इव**=जैसे **आ सिकतासु**= चारों ओर रेतीले प्रदेशों में **गर्दभौ**=गर्दभ। रेतीले प्रदेशों में घोड़े-गधे आदि पशु अधिक शक्तिशाली होते हैं। २. अरब में व राजस्थान में घोड़े उत्तम होते हैं। इसीप्रकार चोरों से शून्य राष्ट्र में प्रजा के नर-नारी उत्तम स्थिति में होते हैं। वे निःशङ्क इधर-उधर जाते हुए समृद्ध व्यापारवाले बनते हैं।

भावार्थ—चोरी आदि का भय न होने पर राष्ट्र में प्रजा समृद्ध व्यापारवाली होती है।

गरीब-से-गरीब प्रजा का ध्यान

यदल्पिकास्व ऽल्पिका कर्कन्धूकेव पद्यते।
वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति॥ ३॥

१. **यत्**=जब **अल्पिकासु अल्पिका**=छोटों से भी छोटी, अर्थात् बहुत ही हीन अवस्था की प्रजा भी **कर्कन्धूके** (कर्क fire, धूक=wind)=आग या हवा में **अवपद्यते**=अवसन्न होती है, अर्थात् राष्ट्र में यदि गरीब-से-गरीब प्रजा भी आग या हवा के भयों से पीड़ित होती है तो राजपुरुष **इव**=जैस **वासन्तिकम्**=वसन्त ऋतु में होनेवाले **तेजनम्**=(Bamboo, reel) बाँसों व सरकण्डों की ओर **यन्ति**=जाते हैं, अर्थात् इन्हें एकत्र करके उन गरीब प्रजाओं के रहने व वायु आदि से बचाव के लिए झोपड़ियों का निर्माण कराते हैं, उसी प्रकार **अवाताय**= (अवात=unattacked) अग्नि, वायु आदि के आक्रमण न होने देने के लिए **वित्पति**=(विद् ज्ञाने, पत् गतौ) ज्ञान के साथ गति करनेवाले व्यक्ति में **यन्ति**=शरण लेते हैं। इन विद्वानों से अग्नि, वायु आदि के भयों से बचाव के लिए आवश्यक साधनों के प्रचार के लिए प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में अग्नि व वायु का उपद्रव होने पर राजपुरुषों द्वारा गरीब प्रजा के निवास के लिए झोपड़ियों का निर्माण करवाया जाए और विद्वानों से उन्हें उचित ढंग से रहने के लिए साधनों का ज्ञान प्राप्त कराया जाए।

राजा तथा सभ्य कैसे हों?

यद्देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः।
सकुला देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा॥ ४॥

१. राजा की सभा में **यत्**=जब **ललामगुम्**=सुन्दर वाणीवाले (ललाम+गो) तथा **प्रविष्टीमिनम्**=प्रजा के लिए विशेषरूप से करुणार्द्रभाववाले (स्तीम् आर्द्रीभावे) राजा को **देवासः**=व्यवहारकुशल विद्वान् लोग **आविषुः**=समन्तात् व्याप्त कर लेते हैं, अर्थात् जब राजा खुशामदियों से न घिरा होकर इन विद्वानों से संगत होता है तब यह **नारी**=नरहितकारिणी राजसभा **सकुला**=(कुल=a noble family) कुलीन **देदिश्यते**=कही जाती है। २. यह सभा उतनी ही 'सकुला' कही जाती है **यथा**=जिस प्रकार इस सभा के साथ **सत्यस्य अक्षिभुवः**=सत्य की आँखों से देखनेवाले होते हैं। जितना-जितना सभ्य सत्य से—न कि पक्षपात से प्रत्येक मामले (वस्तु) को देखेंगे उतना-उतना ही यह राजसभा कुलीन पुरुषों की सभा कहलाएगी।

भावार्थ—राजा को सुन्दर वाणीवाला व प्रजा के प्रति प्रेमार्द्रहृदयवाला होना चाहिए तथा राजसभा के सभ्यों को सब मामलों को सत्य की दृष्टि से देखना चाहिए। राजा खुशामदियों से न घिरा रहकर सत्यवादी देवों से युक्त हो।

राजा व सभ्यों का परस्पर प्रेममय व्यवहार

महानग्न्य ऽतृपद्वि मोक्रदुदस्थानासरन्। शक्तिकानना स्वचमशकं सक्तु पद्यम॥ ५॥

१. **महान्**=(मह पूजायाम्) महिमा-सम्पन्न—पूजनीय राजा **अग्नी**=सभा व समितिरूप राष्ट्र की दोनों अग्नियों को—राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाली सभाओं को **वि अतृप्नत्**=अपने मधुर व्यवहार से प्रीणित करनेवाला होता है। यह राजा **अस्थाना**=दुर्गम स्थानों में—कठिन (विषम) परिस्थितियों में **आसरन्**=गति करता हुआ **मा उ क्रदत्**=व्याकुल नहीं हो जाता—रोने नहीं लगता। सभा व समिति के साथ मिलकर उस अस्थान से पार होने के उपाय सोचता है। २. **शक्तिकानना**=(कन् दीप्तौ) शक्ति को दीप्त करनेवाले हम सभ्य **स्वचम्** (सु अञ्च्)=उत्तम गति को **अशकम्**=करने में समर्थ हों तथा **सक्तु**=परस्पर समवाय को **पद्यम**=प्राप्त करें। सभ्य शक्तिशाली हों, उत्तम गतिवाले तथा परस्पर मेलवाले हों।

भावार्थ—राजा सभा व समिति के प्रति मधुर व्यवहारवाला हो। उनकी सम्मति से कठिन समस्याओं को भी हल करनेवाला हो। सभ्य शक्तिशाली, उत्तम गतिवाले व परस्पर मेलवाले हों।

'सभा व समिति'=उलूखलम्

महानग्न्यु ऽलूखलमतिक्रामन्त्यब्रवीत्।
यथा तव वनस्पते निरघ्नन्ति तथैवति॥ ६॥

१. **महान्**=गतमन्त्र का महनीय राजा **अब्रवीत्**=कहता है कि **अग्नी**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाली ये सभा व समितिरूप अग्नियाँ **उलूखलम्** (उरुकरं नि० ९.२०)=खूब ही कार्य करनेवाली हैं तथा **अतिक्रामन्ति**=ये सभा व समिति के सदस्य सब समस्याओं को—दुर्गम परिस्थितियों को लाँघ जाते हैं। दुर्गम परिस्थितियों में न घबराकर ये उपाय का चिन्तन करते हैं। २. राजा कहता है कि हे **वनस्पते**=वनस्पति-विकार—वनस्पति के बने हुए ऊखल! **यथा**=जैसे **तव निरघ्नन्ति**=तुझमें स्थित वस्तु को लोग खूब ही कूटते हैं—विभक्त करते हैं, **तथा**=उसी प्रकार ये सभा व समिति **एवति**=(इवि व्याप्तौ) विजय का व्यापन करती हैं—विषय

के एक-एक पहलू को विभक्त करके देखती हैं।

भावार्थ—राजा की दृष्टि में सभा व समिति एक उलूखल के समान हैं। ये महान् कार्यों को करती हैं तथा प्रत्येक विषय का सूक्ष्मता से विचार करती हैं।

'ज्ञानाग्नि विदग्ध-चिन्तनशील' राष्ट्रसभा के सभ्य

महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोऽथाप्यभूभुवः। यथैव ते वनस्पते पिप्पति तथैवेति॥ ७॥

१. **महान्**=महनीय राजा **उपब्रूते**=कहता है कि **अग्नी**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाली ये सभा व समितिरूप अग्नियाँ **भ्रष्टः** (भ्रस्ज् पाके)=ज्ञानाग्नि में खूब ही परिपक्व हुई हैं—इनके सभ्य ज्ञानसम्पन्न हैं। **अथ अपि**=और निश्चय से **अभूभुवः**=(भू=to consider, reflect) चिन्तनशील हैं। ये सभ्य प्रत्येक विषय के उपाय व अपाय का सम्यक् चिन्तन करते हैं। २. हे **वनस्पते**=वनस्पति विकार ऊखल **यथा एव**=जैसे ही **ते पिप्पति**=(पिशन्ति) तुझमें किसी वस्तु को, एक-एक अवयव को पृथक् करते हुए पीसते हैं **तथा**=उसी प्रकार **एवति**=ये सभ्य एक विषय का पूर्णतया व्यापन करते हैं (इवि व्याप्तौ)—उसके एक-एक पहलू को सम्यक् देखते हैं।

भावार्थ—राष्ट्रसभा के सभ्य ज्ञानाग्नि विदग्ध व चिन्तनशील हों। वे प्रत्येक विषय के सारे पहलुओं का सम्यक् विचार करें।

बन्धनों से ऊपर उठकर

महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोऽथाप्यभूभुवः। यथा वयो विदाह्य स्वर्गे नमवदह्यते॥ ८॥

१. **महान्**=महनीय राजा **उपब्रूते**=कहता है कि **अग्नी**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाली ये सभा व समिति के सभ्य **भ्रष्टः** (भ्रस्ज् पाके)=ज्ञानाग्नि में खूब ही परिपक्व हुए हैं, **अथ अपि**=और निश्चय से **अभूभुवः**=(भू=to consider) चिन्तनशील हैं। २. **यथा**=जैसे **वयः**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाला **विदाह्य**=माता, पिता व आचार्य द्वारा सब वासनाओं को दग्ध कराके **स्वर्गे**=आनन्दमय लोक में स्थित होता है, उसी प्रकार ये सभा के सभ्य भी **नम्**=(नः=band, tie) सब बन्धनों को **अवदह्यते**=दग्ध कर देते हैं। पारिवारिक बन्धनों से ऊपर उठकर ही—वानप्रस्थ बन कर ही ये राजकार्यों को समुचित रूप से कर पाते हैं।

भावार्थ—राजा कहता है कि ये सभ्य 'ज्ञानाग्निविदग्ध, चिन्तनशील व पारिवारिक बन्धनों से ऊपर उठे हुए' हैं। ऐसे ही सभ्य राष्ट्रकार्य का सम्यक् सम्पादन कर सकते हैं।

उत्तम गति व दीप्तिवाला राष्ट्र

महानग्न्युप ब्रूते स्वसावेशितं पसः। इत्थं फलस्य वृक्षस्य शूर्पे शूर्पं भजेमहि॥ ९॥

१. **महान्**=महनीय राजा **अग्नी उपब्रूते**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाली सभा व समिति के सदस्यों से कहता है कि अब आप लोगों के श्रम से **पसः**=(पसः राष्ट्रम्। श०) **स्वसा** (सु अस गतिदीप्त्यादानेषु)=उत्तम गति व दीप्ति से **आवेशितम्**=आवेशित हो गया है। राष्ट्र में सब लोग ठीक गतिवाले—ठीक कर्मोंवाले व उत्तम ज्ञानदीप्तिवाले किये गये हैं। २. **इत्थम्**=इसप्रकार अब हम **फलस्य वृक्षस्य**=फले हुए इस राष्ट्रवृक्ष के **शूर्पे शूर्पम्**=शूर्प में शूर्प को (प्रदर्श to measure) **शूर्पे**=माप के निमित्त प्रजा में अच्छे व बुरों को जानने के निमित्त छाज में छाज को **भजेमहि**=सेवित करें। जिस प्रकार छाज अन्न को भूसी से पृथक् कर देता है, उसी प्रकार हम इस राष्ट्र में आर्यों को दस्युओं से पृथक् कर लें 'विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवः' (मा ते राष्ट्रे याचनका भवेयुर्मा च दस्यवः)। दस्युओं को राष्ट्र से पृथक् करते हुए हम सदा राष्ट्र

के कल्याण की वृद्धि करनेवाले हों।

भावार्थ—राजा ने सभ्यों से मिलकर राष्ट्र को उत्तम गति व दीप्तिवाला बनाना है। अब राष्ट्र में आर्यों व दस्युओं का ध्यान करते हुए, दस्युओं को पृथक् करके राष्ट्र को सदा कल्याणयुक्त करना है।

(मृग) मुख्य राजपुरुष की नियुक्ति

महानग्नी कृकवाकं शम्यया परि धावति।
अयं न विद्म यो मृगः शीर्ष्णा हरति धाणिकाम्॥ १०॥

१. **महान्**=महनीय राजा **अग्नी**=सभा व समिति के सदस्यों के प्रति **परिधावति**=शीघ्रता से जाता है, उसी प्रकार जाता है जैसे कि **शम्यया** (शमी=कर्म नि० २.१) शान्तभाव से किये जानेवाले कर्मों के हेतु से **कृकवाकम्**=कण्ठ से बोलनेवाले—सम्मति देनेवाले पुरुष को कोई प्राप्त होता है। सभा व समिति के परामर्श से ही राजा कार्यों को करता है। २. राजा सभा व समिति के सदस्यों से यही पूछता है कि 'मुझे **न विद्म**=समझ नहीं पड़ रहा कि **अयम्**=वह कौन-सा **मृगः**=आत्मान्वेषण करनेवाला तथा प्रत्येक राजकार्य का ठीक से अन्वेषण करनेवाला व्यक्ति है **यः**=जो **धाणिकाम्**=इस प्रजा की धारक पृथिवी को **शीर्ष्णा हरति**=आपने सिर पर उठाता है, अर्थात् किस व्यक्ति के कन्धे पर मुख्यरूप से राज्यभार डाला जाए। सभा व समिति के सदस्यों से सलाह करके ही राजा इस मुख्य राजपुरुष की नियुक्ति करता है। ('सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु।' इस अथर्वमन्त्र में स्पष्ट है कि राजा सभा व समिति के सदस्यों से परामर्श करता है और उस सारे कार्य में बड़े मधुर शब्दों का ही प्रयोग होता है।)

भावार्थ—राजा सभा व समिति के सदस्यों के परामर्श से मुख्य राजपुरुष की नियुक्ति करता है। यह राजपुरुष पृथिवी के बोझ को धारण करने के लिए एक-एक राजकार्य को सूक्ष्मता से देखता है।

राजा पति है, प्रजा पत्नी

महानग्नी महानग्नं धावन्तमनु धावति।
इमास्तदस्य गा रक्ष यभ मामद्ध्यौदनम्॥ ११॥

१. गतमन्त्र में वर्णित मुख्य राजपुरुष को प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्न' कहा गया है—राष्ट्र को आगे और आगे ले-चलनेवाला। **महान्**=महनीय राजा **अग्नी**=सभा व समिति के सदस्यों के **अनुधावति**=पीछे तो जाता ही है, अर्थात् प्रत्येक कार्य में उनका परामर्श तो लेता ही है। यह **महान्**=महनीय राजा **धावन्तम्**=गति के द्वारा प्रजा के जीवन को शुद्ध करते हुए (धाव् गतिशुद्धयोः) **अग्नम्**=इस मुख्य राजपुरुष को भी **अनुधावति**=अनुसृत करता है, अर्थात् इस मुख्य राजपुरुष के अनुकूल होता है। २. इस मुख्य राजपुरुष से प्रजाएँ कहती हैं कि **तत्**=सो **अस्य**=इस राजा की **इमाः गाः**=इन भूमियों का तू **रक्ष**=रक्षण कर। **माम् यभ**=मेरे साथ तेरा निवास हो (co-habit)। प्रजा पत्नी हो तो तू उसका पति बन। पति पत्नी की रक्षा करता है। इसी प्रकार यह मुख्य राजपुरुष प्रजा की रक्षा करनेवाला हो। प्रजारक्षक तू **ओदनम् अद्धि**=ओदन खानेवाला बन। उसी राजा को खाने का अधिकार है जो प्रजा का रक्षण करता है। राजा का भोजन भी सात्त्विक ही होना चाहिए। मांसभोजन राजा की वृत्ति को क्रूर बना देगा—यह राजा प्रजा पर अत्याचार करेगा।

भावार्थ—राजा मुख्य राजपुरुष के अनुकूल होता है। यह राजपुरुष राजा की भूमियों का रक्षण करता है। सदा सात्त्विक भोजन ही करता है।

अग्नि-विबाधन व खोदन

सुदेवस्त्वा महानग्नीर्बबाधते महतः साधु खोदनम्। कुसं पीवरो नवत्॥ १२॥

१. हे प्रजे! यह **सुदेवः**=उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाला व उत्तम व्यवहारवाला **महान्**=महनीय राजा **त्वा**=तेरा लक्ष्य करके—तेरी स्थिति को अच्छा बनाने के उद्देश्य से **अग्नीः**=आग लगाने आदि उपद्रवों को **बबाधते**=खूब ही रोकता है। राष्ट्र में उत्पन्न होनेवाले उपद्रवों को रोकने का पूर्ण प्रयत्न करता है। इस **महतः**=महनीय राजा का—इसके द्वारा किया हुआ **खोदनम्**=(खुद् भेदने) शत्रुओं का विदारण **साधुः**=उत्तम है। यह राष्ट्र को शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित करता है। २. यह **पीवरः**=प्रजा-रक्षण द्वारा परिपुष्ट राज्यांगोंवाला राजा **कुसं नवत्**=प्रभु के संश्लेषण को प्राप्त करता है (नवतिर्गतिकर्मा) राजा को प्रभु-प्राप्ति तभी होती है जबकि वह प्रजा का सम्यक् रक्षण करता है। प्रजापालन ही राजा का प्रभु-पूजन है।

भावार्थ—उत्तम राजा अन्तः व बाह्य उपद्रवों से प्रजा का रक्षण करता है। इसप्रकार प्रजापालन करता हुआ राजा प्रभु का सच्चा पूजन करता है और प्रभु-प्राप्ति का पात्र बनता है।

वशादग्धा अंगुलि को काट देना

वशा दुग्धामिमाङ्गुरिं प्रसृजतोग्रतं परे। महान्वै भद्रो यभ मामद्ध्यौदनम्॥ १३॥

१. सभा व समिति 'परा' हैं—उत्कृष्ट हैं अथवा राजा का पालन व पूरण करनेवाली हैं 'पृ पालनपूरणयो'। इन्हें प्रजापति की दुहिता (दुह् प्रपूरणे) प्रपूरकम् कहा ही गया है। ये **परे**=सभा व समिति दोनों **अग्रतम्**=सर्वप्रथम **वशा दग्धाम्**=(वशा=barren) बन्ध्य-विफल-राजनीति से जली हुई **इमा अंगुरिम्**=इस अंगुलि को **प्रसृजतः**=प्रकर्षेण काट डालते हैं, अर्थात् ये राजकार्यों में जिस भी बात को अनुपयोगी देखते हैं उसे समाप्त कर देते हैं। इसप्रकार प्रजा का कोई भी राजकार्य बिना शोभावाला नहीं दिखता। २. उस समय प्रजा यही कहती है कि यह **महान्**=महनीय राजा **वै**=निश्चय से **भद्रः**=बड़ा भला है—हमारा कल्याण करनेवाला है। प्रजा राजा से कहती है कि **माम् यभ**=मेरे साथ तेरा सहवास है, तू पति हो तो मैं पत्नी। तू **औदनम्**=सात्त्विक भोजन को ही **अद्धि**=खा, जिससे तेरी वृत्ति सदा सात्त्विक बनी रहे।

भावार्थ—सभा व समिति राजनीति के दोषों को दूर करती हुई राजा को प्रजा का प्रिय बनाती है। यह राजा सात्त्विक भोजन से सात्त्विक वृत्तिवाला होकर प्रजा का वस्तुतः पति बनता है।

कुमारिका पिङ्गलिका

विदेवस्त्वा महानग्नीर्विबाधते महतः साधु खोदनम्।
कुमारिका पिङ्गलिका कार्द भस्मा कु धावति॥ १४॥

१. हे प्रजे! **विदेवः**=(दिव् क्रीडायां मदे स्वप्ने च) व्यर्थ की क्रीड़ाओं, मद व स्वप्न से रक्षित यह **महान्**=महनीय राजा **त्वा**=तेरा लक्ष्य करके **अग्नीः**=अग्नि आदि से होनेवाले उपद्रवों को **विबाधते**=उत्तम व्यवस्था द्वारा रोकता है। राजा के लिए यही उचित है कि शिकार आदि में समय का व्यर्थ यापन न करे। सदा अप्रमत्त व जागरित रहकर राजकार्यों में ध्यान दे। **महतः**=इस महनीय राजा का **खोदनम्**=शत्रुओं के विदारण का कार्य **साधु**=उत्तम है। २. इस राजा की **कुमारिका**=(कु मार्) बुरी तरह से शत्रुओं को मारनेवाली **पिङ्गलिका**=तेजस्विनी

सेना—तेज से रक्तवर्णवाली सेना **कार्द भस्मा**=राष्ट्र की उन्नति में विघ्नरूप कीचड़ व राख को **कुधावति**=बुरी तरह से सफाया कर देती है। सेना किन्हीं भी अन्तः या बाह्य उपद्रवों को शान्त करती हुई राष्ट्र के उत्थान में सहायक होती है।

भावार्थ—राजा शिकार आदि में समय न गवाकर राष्ट्र के अन्दर व बाहर के उपद्रवों को शान्त करने का प्रयत्न करता है। इसकी तेजस्विनी सेना सब विघ्नों के कीचड़ व भस्मों को दूर कर देती है।

बिल्व+उदुम्बर

महान्वै भद्रो बिल्वो महान्भद्र उदुम्बरः।
महाँ अभिक्त बाधते महतः साधु खोदनम्॥ १५॥

१. **महान्**=महनीय राजा **वै**=निश्चय से **भद्रः**=राष्ट्र का कल्याण करनेवाला है। यह **बिल्वः** (विल्वं भिल्मं भेदनात्। नि०) यह शत्रुओं का विदारण करनेवाला है। यह **महान्**=महनीय राजा **भद्रः**=बड़ा भला है—राष्ट्र का कल्याण करनेवाला है। **उदुम्बरः**=(उत् अतिशयेन अम्बते, अबि शके) राष्ट्र में खूब ही ज्ञान का प्रचार करनेवाला है अथवा प्रभु का स्तवन करनेवाला है। यह प्रभु-स्तवन ही इसे कर्तव्यकर्म की समुचित प्रेरणा प्राप्त कराता है। २. यह **महान्**=महनीय-पूजनीय राजा **अभिक्त** (अभिक्तः=अभि अक्तः, अञ्ज गतौ) शत्रु के प्रति गया हुआ, अर्थात् शत्रु पर आक्रमण करनेवाला होकर उन शत्रुओं को **बाधते**=पीड़ित करता है। **महतः**=इस महनीय राजा का **खोदनम्**=शत्रुभेदनरूपी कार्य साधु=बड़ा उत्तम है। यह शत्रुओं का सम्यक् विदारण करके राष्ट्र-रक्षण का कार्य करता है।

भावार्थ—राजा शत्रुओं का भेदन करके प्रजा का कल्याण करता है। यह प्रजा में ज्ञान का प्रसार करके उसे उन्नत करता है।

'यः वसन्, तैलकुण्ड, अंगुष्ठ, रोदन्'

यः कुमारी पिङ्गलिका वसन्तं पीवरी लभेत्।
तैलकुण्डमिमाङ्गुष्ठं रोदन्तं शुदमुद्धरेत्॥ १६॥

१. **कुमारी**=शत्रुओं को बुरी तरह से मारनेवाली (कु-मार्) **पिंगलिका**=तेजस्विनी **पीवरी**=हृष्ट-पुष्ट सेना जब **यः वसन्तम्**=(यस् प्रयत्ने भावे क्विप्) सदा प्रयत्न में निवास करनेवाले, **तैल-कुण्डम्**=राग की चिकनाई का दहन कर देनेवाले—परिवार के राग में ही न फँसे हुए—**इम** (इमम्)=इस **अंगुष्ठम्**=सदा गति में निवास करनेवाले—क्रियामय जीवनवाले, **रोदन्तम्**=प्रजा के कष्टों पर रोदन करनेवाले (Shedding tears) **शु-दम्**=शीघ्र ही वेतन दे देनेवाले राजा को **लभेत्**=प्राप्त करती है तो **उद्धरेत्**=यह राष्ट्र का उद्धार करनेवाली होती है। २. राजा सदा प्रजा कल्याण के प्रयत्नों में लगा हुआ (यः वसन्), परिवार के राग में न फँसा हुआ (तैल-कुण्ड) गतिशील (अंगु-ष्ठ), प्रजा के कष्टों को अनुभव करनेवाला (रोदन्) तथा समय पर सेना को वतेन देनेवाला (शु-द) होना चाहिए। सेना भी शत्रुसंहार करनेवाली (कु-मारी), तेंजस्विनी (पिंगलिका) तथा सबल (पीवरी) होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही राष्ट्र का उत्थान होता है।

भावार्थ—राजा व सेना दोनों के उत्तम होने पर राष्ट्र का उत्थान सम्भव होता है।

इति कुन्तापसूक्तानि

यहाँ कुन्ताप सूक्तों की समाप्ति होती है। इनमें बुराई के विनाश का उपदेश था (कु+तप्) अन्तिम सूक्त में राजा राष्ट्र के सब मलों का विनाश करके राष्ट्र का उत्थान करता है। इस

राष्ट्र में लोग 'शिरिम्बिठि'=(बिठम् अन्तरिक्षं, शॄ) हृदयान्तरिक्ष से वासनाओं को विनष्ट करनेवाले होते हैं (१३७.१) 'बुध'—ज्ञानी बनते हैं (१३७.२) 'वामदेव'—सुन्दर दिव्यगुणोंवाले होते हैं (१३७.३), 'पयातिः'—खूब ही यत्नशील होते हैं (१३७.४-६), 'तिरश्ची—अंगिरसः द्युतानः'=(तिरः अञ्च्) हृदय-गुहा में तिरोहित प्रभु की ओर चलनेवाले, अंग-प्रत्यंग में रसमय, ज्ञान-ज्योति का विस्तार करनेवाले होते हैं (१३७.७-११)। ये 'सुकक्ष'=लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उत्तमता से कटिबद्ध होते हैं (१३७.१२-१४)। अगले सूक्त में ये ही मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं—

१३७. [सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—शिरिम्बिठिः॥ देवता—अलक्ष्मीनाशनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'शिरिम्बिठि' का पवित्र जीवन

यद्ध प्राचीरजगन्तोरो मण्डूरधाणिकीः।
हता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्बुदयाशवः॥ १॥

१. **यत्**=जब **ह**=निश्चय से लोग **प्राचीः अजगन्त**=प्रकृष्ट गतिवाले होकर आगे और आगे चलते हैं तब **उरः** (उर्वी हिंसायाम्)=वासनाओं का हिंसन करनेवाले होते हैं। ये **मण्डूरधाणिकीः**=(मन्दनस्य धनस्य धारयित्र्यः) आनन्दप्रद धनों का धारण करनेवाले होते हैं। प्रभु का भक्त 'शिरिम्बिठि' बनता है—यह कभी अनुचित उपायों से धनार्जन नहीं करता। २. **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के **शत्रवः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु **हताः**=विनष्ट हो जाते हैं। **सर्वे**=ये सब शत्रु **बुद्बुदयाशवः** (यान्ति, अश्नुवते)=बुलबुलों की भाँति नष्ट हो जानेवाले होते हैं और व्यापक रूप को धारण करते हैं। बुलबुला फटा और पानी में फैल गया (विलीन हो गया)। इसी प्रकार इस व्यक्ति के जीवन में 'काम' फटकर फैल जाता है और 'प्रेम' का रूप धारण कर लेता है। 'क्रोध' फटकर 'करुणा' के रूप में हो जाता है और 'लोभ' त्याग का रूप धारण कर लेता है।

भावार्थ—हम 'काम, क्रोध, लोभ' आदि शत्रुओं को विनष्ट करके आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—बुधः॥ देवता—विश्वेदेवा ऋत्विक्स्तुतिर्वा॥ छन्दः—जगती॥

'बुध' का उत्तम जीवन

कर्पृन्नरः कपृथमुद्दधातन चोदयत खुदत वाजसातये।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये॥ २॥

१. हे **नरः**=मनुष्यो! वे प्रभु **क-पृत्**=तुम्हारे जीवनों में सुख का पूरण करनेवाले हैं। उस **क-पृथम्**=आनन्द के पूरक प्रभु को ही **उद्दधातन**=उत्कर्षेण धारण करो। **चोदयत्**=उस प्रभु को ही अपने हृदयों में प्रेरित करो। **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **खुदत**=उस प्रभु में ही क्रीड़ा करो—आत्मक्रीड़ व आत्मरति बनो। २. 'निष्टि' अर्थात् विनाश को 'गिरति' निगल जाने के कारण प्रभु 'निष्टिग्री' हैं। विनाश को निगीर्ण कर जानेवाले प्रभु को (निष्टिग्र्यः पुत्रम्) **ऊतये**=रक्षा के लिए **आच्यावय**=सब प्रकार से प्राप्त कर। **इह**=इस जीवन में **सोमपीतये**=शरीर में सोमशक्ति के रक्षण के लिए, हे **सबाधः**=वासनारूप शत्रुओं के बाधन के साथ विचरनेवाले लोगो! **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को (आच्यावय) प्राप्त करो। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही तो तुम इन शत्रुओं का बाधन कर सकोगे।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदयों में स्थापित करें। प्रभु में ही क्रीड़ा करनेवाले हो। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर शत्रुओं का विदारण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वामदेव का प्रभु-स्तवन

दुधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ३॥

१. मैं उस प्रभु का **अकारिषम्**=स्तवन करूँ जोकि **दधिक्राव्णः**=(दधत् क्रामति) इस ब्रह्माण्ड का धारण करते हुए गतिवाले हैं। प्रभु की क्रिया ही इस ब्रह्माण्ड का धारण करती है। **जिष्णोः**=उस विजयशील प्रभु का हम स्तवन करें—प्रभु ही वस्तुतः हमारे काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को पराजित करते हैं। **अश्वस्य** (अश् व्याप्तौ)=हम उस सर्वव्यापक **वाजिनः**=शक्तिशाली प्रभु का स्तवन करें। २. यह प्रभु-स्तवन, अर्थात् 'प्रभु की तरह धारणात्मक कर्मों को करना, शत्रुओं को जीतना, व्यापकता व उदारता का धारण करना तथा शक्तिशाली बनना' **नः**=हमारे **मुखा**=मुखों को **सुरभि करत्**=सुगन्धित करे—हम कभी कोई कड़वा शब्द न बोलें और इसप्रकार यह प्रभु-स्तवन **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुवों को **प्रतारिषत्**=खूब बढ़ाए।

भावार्थ—प्रभु को 'दधिक्रावा-जिष्णु-अश्व व वाजी' इन नामों से स्मरण करते हुए हम भी धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों, शत्रुओं को जीतें, उदार और शक्तिशाली बनें। हमारे मुखों से सुन्दर, मधुर शब्द ही उच्चरित हों और हम दीर्घ जीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—ययाति ॥ देवता—सोमः पवमानः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'मधुमत्तमः-मन्दिनः' सोमाः

सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः।
पवित्रवन्तो अक्षरन्देवान्गच्छन्तु वो मदाः॥ ४॥

१. **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमाः**=सोमकण **मधुमत्तमाः**=अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए हैं। शरीर में सुरक्षित होने पर ये जीवन को बड़ा मधुर बनाते हैं। **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ये **मन्दिनः**=हर्ष देनेवाले हैं। २. **पवित्रवन्तः**=पवित्रता करनेवाले ये सोम **अक्षरन्**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में संचरित होते हैं। शरीर को ये नीरोग बनाते हैं, मन को निर्मल। हे सोमकणो! **वः मदाः**=तुम्हारे उल्लास **देवान् गच्छन्तु**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों को प्राप्त हों। देववृत्तिवाले पुरुष ही इन सोमकणों का रक्षण कर पाते हैं और वे ही सोमजनित उल्लास का अनुभव करते हैं। वस्तुतः सोम-रक्षण ही उन्हें 'देव' बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोमकण 'माधुर्य, हर्ष, पवित्रता व उल्लास' को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—ययाति ॥ देवता—सोमः पवमानः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'जितेन्द्रियता-ज्ञानरुचिता-यज्ञशीलता'=सोम-रक्षण

इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन्। वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा॥ ५॥

१. **इन्दुः**=यह शक्तिशाली सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पवते**=प्राप्त होता है **इति**=यह बात **देवासः**=देववृत्ति के विद्वान् पुरुष **अब्रुवन्**=कहते हैं। सोम जितेन्द्रिय को ही प्राप्त होता है। २. **ओजसा**=ओजस्विता से **विश्वस्य**=सबका **ईशानः**=स्वामी यह सोम **वाचस्पतिः**=सब ज्ञान की वाणियों का रक्षक है, अर्थात् सोम-रक्षण से बुद्धि की तीव्रता होकर जीवन में इन ज्ञानवाणियों का रक्षण होता है। यह सोम **मखस्यते**=यज्ञ की कामना करता है, अर्थात् एक पुरुष यज्ञशील बनता है तो उसे सोम की अवश्य प्राप्ति होती है। यज्ञशीलता सोम-रक्षण में साधन

बनती हैं तथा सोमरक्षक पुरुष अवश्य यज्ञशील बनता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण जितेन्द्रिय ही कर पाता है। सुरक्षित सोम ज्ञान प्राप्त कराता है। इसके रक्षण के लिए यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में लगे रहना आवश्यक है।

ऋषिः—**ययाति**॥ देवता—**सोमः पवमानः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सहस्रधार-इन्द्रसखा

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः। सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे॥ ६॥

१. **सहस्रधारः**=हज़ारों प्रकार से धारण करनेवाला **सोमः**=सोम **पवते**=हमें प्राप्त होता है। यह सोम **समुद्रः**=(समुद्) आनन्द से युक्त है—अपने रक्षक पुरुष को आनन्दयुक्त करता है। **वाचम् ईंखयः**=ज्ञान की वाणियों को हममें प्रेरित करनेवाला है। सुरक्षित सोम बुद्धि की तीव्रता द्वारा ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। २. **सोमः**=यह सोम **रयीणां पतिः**=अन्नमय आदि सब कोशों के ऐश्वर्यों का रक्षक है। यह **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **इन्द्रस्य सखा**=जितेन्द्रिय पुरुष का मित्र है। जितेन्द्रिय पुरुष में ही सोम का निवास होता है और यह सुरक्षित हुआ-हुआ सोम अन्नमयकोश को तेजस्वी बनाता है, प्राणमय को वीर्यवान्, मनोमय को ओजस्वी व बलवान्, विज्ञानमय को मन्यु-(ज्ञान)-युक्त तथा आनन्दमय को सहस्वी करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'सहस्रधार, समुद्र, वाचम् ईंखय, रयीपति व इन्द्रसखा' है।

ऋषिः—**तिरश्ची-[राङ्गिरसो] द्युतानो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'कृष्ण के रक्षक' इन्द्र (प्रभु)

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त॥ ७॥

१. **द्रप्सः** (drop, a spark)=प्रभु का अंशरूप (miniature) यह जीव **दशभिः सहस्रैः**=दस (सहस्=बल) बलवान् प्राणों के साथ **इयानः**=गति करता हुआ **कृष्णः**=सब दोषों को कृश करनेवाला होता है और **अंशुमतीम्**=प्रकाश की किरणोंवाली ज्ञान-नदी के समीप **अव अतिष्ठत्**=नम्रता से स्थित होता है। २. **शच्या**=शक्ति व प्रज्ञान से **धमन्तम्**=(to cast, throw away) शत्रुओं को परे फेंकते हुए **तम्**=उस कृष्ण को **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **आवत्**=रक्षित करते हैं। **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य) कर्मों के प्रणेता मनुष्यों में प्रेमवाले वे प्रभु **स्नेहितीः**=श्री का हिंसन करनेवाली वासनाओं को **अप अधत्त**=सुदूर स्थापित करनेवाले होते हैं। वासनाओं के विनाशक वे प्रभु ही तो हैं।

भावार्थ—जीव जब अंशुमती (ज्ञान की किरणोंवाली) सरस्वती का उपासक बनता है तब प्रभु उसका रक्षण करते हैं और उसकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**तिरश्ची-[राङ्गिरसो] द्युतानो वा**॥ देवता—**इन्द्रः; (चतुर्थः पादः) मरुतः**॥
छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नभः न (सूर्य की भाँति)

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ॥ ८॥

१. **द्रप्सम्**=प्रभु के उस छोटे रूप (अंश) जीव को **विषुणे** (विष्वग् अञ्चने, विस्तृते देशे)=चारों ओर गति-(व्याप्ति)-वाले प्रभु में **अपश्यम्**=मैं देखता हूँ। प्रभु की गोद में स्थित जीव

को अनुभव करता हूँ। यह **अंशुमत्याः नद्यः**=प्रकाश की किरणोंवाली ज्ञाननदी (सरस्वती) के **उपह्वरे**=अत्यन्त गूढ़ स्थान में **चरन्तम्**=गति कर रहा है। २. **नभः न**=आदित्य के समान **अवतस्थिवांसम्**=स्थित **कृष्णम्**=वासनाओं के क्षीण (कृश) करनेवाले को **इष्यामि**=चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मैं वासनामय वृत्र को विनष्ट करके सूर्य की भाँति चमकूँ। हे **वृष्णः**=शक्तिशाली मरुतो (प्राणो)! **वः**=तुम **आजौ**=संग्राम में **युध्यत**=वासनारूप शत्रुओं के साथ युद्ध करो। इन्हें पराजित करके ही तो मैं चमक सकूँगा।

भावार्थ—जीव अपने को व्यापक प्रभु में स्थित देखे। सदा ज्ञान में विचरने का प्रयत्न करे। प्राणसाधना द्वारा वासनाओं का विनाश करके सूर्य की भाँति चमके।

ऋषिः—**तिरश्ची-[राङ्गिरसो] द्युतानो वा**॥ देवता—**इन्द्रो बृहस्पतिश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स्वाध्याय+प्रभु-मैत्री

अध द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थेऽधारयत्तन्वं तित्विषाणः।
विशो अदेवीरभ्याचरन्तीर्बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे॥ ९॥

१. **अध**=अब **द्रप्सः**=परमात्मा का अंशभूत (छोटा रूप) यह जीव **अंशुमत्याः**=प्रकाश की किरणोंवाली ज्ञान-नदी के **उपस्थे**=समीप **अधारयत्**=अपने को धारण करता है। इसप्रकार यह अपने **तन्वम्**=शरीर का **तित्विषाणः**=दीप्त करनेवाला होता है। 'शरीर में तेज, मस्तिष्क में ज्ञान' इसप्रकार यह चमक उठता है। यह तित्विषाण **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अदेवीः**=आसुरी **अभ्याचरन्तीः**=आक्रमण करती हुई **विशः**=प्रजाओं के काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरभावों को **बृहस्पतिना युजा**=ज्ञान के स्वामी प्रभु को साथी के रूप में पाकर **ससाहे**=अभिभूत करनेवाला होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय व प्रभु की मित्रता हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाती है। प्रभु की मित्रता से हम सब शत्रुओं का पराभव कर पाते हैं।

ऋषिः—**तिरश्ची-[राङ्गिरसो] द्युतानो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अ-शत्रुओं के लिए शत्रु

त्वं ह त्यत्सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र।
गूढे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उस कर्म को करता है कि **जायमानः**=विकास को प्राप्त करता हुआ तू **अ-शत्रुभ्यः**=जिनका शातन (Shattering=समाप्ति) बड़ा ही कठिन है, उन **सप्तभ्यः**='काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर व अविद्या' नामक सात शत्रुओं के लिए **शत्रुः अभवः**=शत्रु होते हैं—आप इनका शातन कर पाते हैं। हमारे लिए तो ये अ-शत्रु ही हैं—अशातनीय ही हैं। सामान्य मनुष्य इनका शातन नहीं कर सकता। २. इन शत्रुओं का शातन करके **गूढे द्यावापृथिवी**=शत्रुओं से आवृत्त हुए-हुए मस्तिष्क (द्यावा) व शरीर (पृथिवी) को तू फिर से **अन्वविन्दः**=प्राप्त करता है। काम, क्रोध व लोभ आदि ने इन्हें आवृत्त-सा कर लिया था। काम आदि के विनाश से इन्हें हम फिर प्राप्त करनेवाले होते हैं। इनको काम आदि के आवरण से रहित करके **विभुमद्भ्यः**=महत्त्वयुक्त **भुवनेभ्यः**=लोकों के लिए—शरीर के सब अंगों के लिए **रणं धाः**=तू रमणीयता को धारण करता है (रमणं धारयसि)।

भावार्थ—'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर व अविद्या' ये हमारे प्रबल शत्रु हैं। इनका शातन करके ही हम मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ कर पाते हैं और तभी सब अंगों के लिए

रमणीयता को धारण करनेवाले होते हैं।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में काम आदि को 'अ-शत्रु' कहा है। यहाँ इसका अर्थ अशातनीय अर्थात् 'जिनका शातन कठिन है' यह है।

ऋषिः—तिरश्ची-[राङ्गिरसो] द्युतानो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

शुष्णासुर वध व गोप्राप्ति

त्वं ह त्यदप्रतिमानमोजो वज्रेण वज्रिन्धृषितो जघन्थ।
त्वं शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्वं गा इन्द्र शच्येदविन्दः॥ ११॥

१. हे **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए इन्द्र! **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उस **अप्रतिमानम्**=निरुपम—अतिप्रबल **ओजः**=शुष्णासुर के ओज को—वासना के बल को **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **धृषितः**=संग्राम में शत्रुहनन में कुशल होता हुआ **जघन्थ**=नष्ट करता है। २. इसके ओज को नष्ट करता हुआ **त्वम्**=तू **वधत्रैः**=हनन-साधन आयुधों से **शुष्णास्य**=इस शुष्णासुर का—अपने शिकार को सुखा देनेवाली कामवासना का **अवातिरः**=वध कर डालता है। इसप्रकार हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **शच्या**=अपनी शक्ति व प्रज्ञान से **इत्**=निश्चयपूर्वक **गाः अविन्दः**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करता है। काम-विध्वंस से ही ज्ञान प्राप्त होता है। काम ही तो सदा ज्ञान को आवृत्त किये रहता है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता द्वारा वासना को विनष्ट करें तभी हम ज्ञान प्राप्त कर पाएँगे।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

'सुकक्ष' द्वारा प्रभु अर्चन

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे। स वृषा वृषभो भुवत्॥ १२॥
इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः। द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः॥ १३॥
गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः। ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः॥ १४॥

व्याख्या अथर्व० २०.४७.१-३ पर द्रष्टव्य है।

प्रभु-स्तवन करता हुआ यह प्रभु का प्रिय बनता है। यह 'वत्स' कहलाता है। यह 'वत्स' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१३८. [अष्टात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—वत्सः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

ओजस्विता से महान्

महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँइव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे॥ १॥

१. **यः इन्द्रः**=जो परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं, वे **ओजसा महान्**=अपनी ओजस्विता से महान् हैं। अपने सब कार्यों को करने का उनमें पूर्ण सामर्थ्य है। वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **वृष्टिमाम् पयर्जन्यः इव**=वृष्टि करनेवाले बादल के समान हैं। वे सबके सन्ताप को हरनेवाले व सब इष्टों को प्राप्त करानेवाले हैं। २. ये प्रभु **वत्सस्य**=इन स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले प्रिय स्तोता के **स्तोमैः**=स्तुति-समूहों से **वावृधे**=खूब ही बढ़ाए जाते हैं। यह स्तोता स्तोत्रों द्वारा सर्वत्र प्रभु के गुणों का प्रख्यापन करता है।

भावार्थ—प्रभु अपनी ओजस्विता से महान् हैं। सब काम्य पदार्थों का वर्षण करनेवाले हैं। प्रभु-प्रिय लोग प्रभु-स्तवन द्वारा सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रख्यापन करते हैं।

ऋषिः—वत्सः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

विप्र

प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्नयः। विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥ २ ॥

१. **ऋतस्य**=ऋत का—सत्य वेदज्ञान का **पिप्रतः**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में पूरण करनेवाले प्रभु की **प्रजाम्**=प्रजा को **यत्**=जब **प्रभरन्त**=प्रकर्षेण धारण करनेवाले होते हैं तब ये **वह्नयः**=इस प्रजा के पोषण के भार का वहन करनेवाले लोग **ऋतस्य वाहसा**=स्वयं अपने अन्दर ऋत का वहन करने के कारण **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले—ज्ञानी—कहलाते हैं। २. एवं विप्रों के दो मुख्य लक्षण हैं (क) प्रभु की प्रजा का ये पालन करते हैं (ख) और इस पालन की क्रिया को सम्यक् कर सकने के लिए ये सत्य वेदज्ञान को धारण करते हुए अपना विशेषरूप से पूरण करते हैं।

भावार्थ—विप्र वे हैं जो प्रभु की आज्ञा का पालन करें और ज्ञान के धारण से अपनी न्यूनताओं को दूर करें।

ऋषिः—वत्सः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभु संरक्षण व आयुध-वैयर्थ्य

कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम्। जामि ब्रुवत आयुधम् ॥ ३ ॥

१. **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **यत्**=जब **इन्द्रम्**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **स्तोमैः**=स्तुति-समूहों के द्वारा **यज्ञस्य साधनम्**=अपने सब उत्तम कर्मों का सिद्ध करनेवाला **अक्रत**=कर लेते हैं तब वे **आयुधम्**=इन बाह्य अस्त्र-शस्त्रों को **जामि ब्रुवते**=व्यर्थ ही कहते हैं। २. प्रभु जब रक्षक हैं तो इन अस्त्रों की बहुत उपयोगिता नहीं रह जाती। स्पेन ने आरमेडा द्वारा जब इंग्लैण्ड पर आक्रमण किया तो आँधी-तूफ़ान के झोंको से उसके तितर-बितर हो जाने पर रानी एलिाबेथ ने ठीक ही कहा था कि 'प्रभु ने फूँक मारी और आरमेडा विनष्ट हो गया'। प्रभु के रक्षण के प्रकार अद्भुत ही हैं। प्रभु-विश्वासी प्रयत्न में कमी नहीं रखता और प्रभु उसे अवश्य ही सफलता प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु का संरक्षण होने पर सब बाह्य अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो जाते हैं।

यह प्रभु का भक्त प्लुतगतिवाला—आलस्यशून्य होने से 'शश' होता है और वासनाओं के विक्षेप से 'कर्ण' (कृ विक्षेपे) कहलाता है। इस 'शशकर्ण' ऋषि के ही अगले चार सूक्त हैं—

१३९ [एकोनचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—शशकर्णः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—बृहती ॥

'अवृकं पृथु' छर्दिः

आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे।
प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथु च्छर्दिर्युयुतं या अरातयः ॥ १ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **नूनम्**=निश्चय से **वत्सस्य**=ज्ञान व स्तुति-वाणियों का उच्चारण करनेवाले इस अपने प्रिय साधक के **अवसे**=रक्षण के लिए **आगन्तम्**=आइए। प्राणापान ही हमें रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं। २. **अस्मै**=इस वत्स के लिए **छर्दिः**=ऐसे शरीर-गृह को **प्रयच्छतम्**=दीजिए, जोकि **अवृकम्**=बाधक शत्रुओं से रहित है तथा **पृथु**=विशाल है, अर्थात् जिस शरीर-गृह में वासनाओं व रोगों का प्रवेश नहीं तथा जो विस्तृत शक्तियोंवाला है। ऐसे शरीर-गृह को प्राप्त कराने के लिए **याः**=जो **अरातयः**=शत्रु हैं, उन्हें

युयुतम्=पृथक् कीजिए।

भावार्थ—प्राणापान हमारा रक्षण करें। हमें रोगों की बाधाओं से रहित, विस्तृत शक्तिवाले शरीर-गृह को प्राप्त कराएँ। हमारे शत्रुभूत काम, क्रोध, लोभ आदि को हमसे पृथक् करें।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

'सन्तोष, ज्ञान व स्वास्थ्य' रूप धन

यदन्तरिक्षे यद्दिवि यत्पञ्च मानुषाँ अनु। नृम्णं तद्धत्तमश्विना॥ २॥

१. मानवजीवन को सुखी करनेवाला धन 'नृम्ण' कहलाता है। हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=जो **नृम्णम्**=धन **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में होता है, अर्थात् जो सन्तोष-(आत्मतृप्ति)-रूप धन हृदय में निवास करता है, **तत्**=उस धन को **धत्तम्**=हमारे लिए धारण कीजिए। प्राणसाधना से हृदय निर्मल होता है—चित्तवृत्ति बाह्यधनों के लिए बहुत लालयित नहीं होती। इसप्रकार हृदय में एक सन्तोष के आनन्द का अनुभव होता है। २. हे प्राणापानो! **यत्**=जो **दिवि**=मस्तिष्क का ज्ञानरूप धन है और **यत्**=जो **पञ्चमानुषान्**=पाँच मानव-सम्बन्धी वस्तुओं के **अनु**=अनुकूलतावाला धन है, उसे आप हमारे लिए प्राप्त कराइए। मानव-सम्बन्धी सर्वप्रथम पाँच वस्तुएँ शरीर को बनानेवाले पाँच महाभूत हैं। फिर पाँच प्राण हैं। फिर पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' हैं। इन सबके अनुकूल धनों को ये प्राणापान हमारे लिए प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हृदय के सन्तोषरूप धन को, मस्तिष्क के ज्ञानरूप धन को तथा मानव-पञ्चकों के पूर्ण स्वास्थ्यरूप धन को ये प्राणापान हमारे लिए प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

प्राणमहत्त्व-बोध व प्राणसाधना

ये वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः। एवेत्काण्वस्य बोधतम्॥ ३॥

१. ये **विप्रासः**=जो अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुष हैं, वे हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपके **दंसांसि**=वीरतापूर्ण कर्मों का **परिमामृशुः**=चिन्तन करते हैं। इन कर्मों का चिन्तन करते हुए वे आपके कर्मों का (परिमामृशुः=) स्पर्श करते हैं, अर्थात् आपकी साधना के कर्म में प्रवृत्त होते हैं। २. **एवा इत्**=ऐसा होने पर ही, अर्थात् जब यह साधक आपकी साधना में प्रवृत्त होता है, तभी **काण्वस्य**=इस मेधावी पुरुष का **बोधतम्**=आप ध्यान करते हो। समझदार व्यक्ति प्राणों का रक्षण करता है—प्राण उसका रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणों के महत्त्व को समझते हुए प्राणसाधना में प्रवृत्त हों और इस साधना द्वारा शक्ति-सम्पन्न बनें।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**बृहती**॥

घर्म+सोम

अयं वां घर्मो अश्विना सोमेन परि षिच्यते।
अयं सोमो मधुमान्वाजिनीवसू येन वृत्रं चिकेतथः॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अयम्**=यह **वाम्**=आपका **घर्मः**=तेज **सोमेन**=प्रभु-स्तवन के साथ **परिषिच्यते**=शरीर में चारों ओर सिक्त होता है। जब प्रभु-स्तवन के साथ प्राणसाधना चलती है तब शरीर के सब अंग तेजस्विता से सिक्त होते हैं। २. हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनोंवाले प्राणापानो! **अयम्**=यह **वाम्**=आपका—आपके द्वारा शरीर में सुरक्षित होनेवाला **सोमः**=सोम

(वीर्य) **मधुमान्**=जीवन को मधुर बनानेवाला है। **येन**=जिस सोम के द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **चिकेतथः**=आप हन्तव्यरूप में जानते हो (हन्तव्यतया जानीथः)। सामान्य भाषा में यही प्रयोग इस रूप में होता है कि 'अच्छा, मैं तुझे समझ लूँगा'। सोमशक्ति के रक्षण से ही वासनाओं का विनाश होकर ज्ञान की वृद्धि होती है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन के साथ प्राणसाधना के चलने पर शरीर में तेजस्विता व सोम का रक्षण होता है।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**ककुप्**॥

प्राणापान+वानस्पतिक भोजन

यद॒प्सु यद्वन॒स्पतौ॒ यदोष॑धीषु पुरुदंससा कृ॒तम्। तेन॑ माविष्टमश्विना॥ ५॥

१. हे **पुरुदंससा**=पालक व पूरक कर्मोंवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=जो तेज (घर्म) आप **अप्सु**=जलों का प्रयोग होने पर, **यद् वनस्पतौ**=जो वनस्पतियों का प्रयोग होने पर तथा **यद् ओषधीषु**=जो तेज आप ओषधियों का प्रयोग होने पर **कृतम्**=उत्पन्न करते हो, **तेन**=उस तेज से **मा आविष्टम्**=मेरा रक्षण करो। २. यहाँ 'अप्सु ओषधीषु वनस्पतौ' इन शब्दों का प्रयोग स्पष्ट प्रतिपादन कर रहा है कि योगसाधना में खान-पान की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। प्राणायाम के साथ मनुष्य का शाकभोजी होना आवश्यक है। सादा खानपान योगसाधना में सहायक होता है।

भावार्थ—हम जलों व ओषधियों के प्रयोग के साथ प्राणापान की साधना करते हुए तेजस्वी बनें और अपना रक्षण करें।

१४०. [चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**बृहती**॥

भुरण्यथो+भिषज्यथः

यन्ना॑सत्या भुर॒ण्यथो॒ यद्वा॑ देव भिष॒ज्यथः॑।
अ॒यं वां॑ व॒त्सो म॒तिभि॒र्न वि॑न्धते ह॒विष्म॑न्तं॒ हि गच्छ॑थः॥ १॥

१. हे **नासत्या**=हमारे जीवनों से सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **यत्**=जब **भुरण्यथः**=हमारा भरण करते हो **वा**=और **देव**=(देवा) सब रोगों को जीतने की कामनावाले आप **भिषज्यथः**=हमारे सब रोगों की चिकित्सा करते हो तब **अयम्**=यह **वाम्**=आपका **वत्सः**=प्रिय आराधक **मतिभिः**=केवल ज्ञानों से—ज्ञानपूर्वक की गई स्तुतियों से **न विन्धते**=आपको प्राप्त नहीं करता। **हि**=निश्चय से आप **हविष्मन्तम्**=दानपूर्वक अदन करनेवाले व्यक्ति को **गच्छथः**=प्राप्त होते हो। २. प्राणसाधना करनेवाला मनुष्य यह अच्छी तरह समझ लेता है कि ये प्राणापान हमारा पालन करते हैं, ये ही हमारे सब रोगों को दूर करते हैं। ऐसा समझता हुआ यह पुरुष केवल प्राणों का स्तवन ही नहीं करता रहता, इस स्तवन के साथ यह त्यागपूर्वक अदन की वृत्तिवाला बनकर प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। 'हविष्मान्' बनता है।

भावार्थ—प्राणापान हमारा पालन करते हैं, ये हमारे सब रोगों की चिकित्सा करते हैं। इनका हम स्तवन करें तथा त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बनकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मधुमत्तमं-घर्मम्

आ नू॒नम॒श्विनो॒र्ऋषि॒ स्तोमं॑ चिकेत वा॒मया॑।
आ सोमं॒ मधु॑मत्तमं घ॒र्मं सि॑ञ्चा॒दथ॑र्वणि॥ २॥

१. **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी पुरुष **नूनम्**=निश्चय से **अश्विनोः**=प्राणापान के **स्तोमम्**=स्तवन को **वामया**=सुन्दर वाणी के द्वारा **आचिकेत**=सर्वथा करने योग्य जानता है। प्राणापान का स्तवन करता हुआ प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। २. इस प्राणसाधना में प्रवृत्त होने के द्वारा यह ऋषि **अथर्वणि**=(अथर्वति चरति) चित्त के डाँवाडोल न होने पर **सोमम्**=सोमशक्ति को **आसिञ्चात्**=अपने शरीर में ही सर्वत्र सिक्त करता है। यह सोम **मधुमत्तमम्**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाला है और **घर्मम्**=यह तेज-ही-तेज है—अपने रक्षक को तेजस्वी बनानेवाला है।

भावार्थ—हम प्राणापान के लाभों का स्तवन करते हुए प्राणसाधना द्वारा सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति करनेवाले हों। यह सोम हमें माधुर्य व तेज प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रघुवर्तनिं रथम्

आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना।
आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत॥ ३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नूनम्**=निश्चय से **रघुवर्तनिम्** (लघुगमनम्)=शीघ्र गतिवाले इस **रथम्**=शरीर-रथ पर आप **आतिष्ठाथः**=स्थित होते हैं। प्राणसाधना के द्वारा यह शरीर-रथ आलस्यशून्य—स्फूर्तिवाला बनता है, २. अतः **इमे**=ये **मम**=मेरे—मुझसे किये जानेवाले—**स्तोमाः**=स्तुतिसमूह **नभः न**=सूर्य के समान तेजस्वी **वाम्**=आपको **आचुच्यवीरत**=अभिगत होते हैं। मैं प्राणापान का स्तवन करता हुआ प्राणसाधना में प्रवृत्त होता हूँ। यह प्राणसाधना मुझे सूर्य के समान तेजस्वी बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में स्फूर्ति आ जाती है। यह प्राणसाधना हमें सूर्यसम तेजस्वी बनाती है।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उक्थैः-वाणीभिः

यदुद्य वां नासत्योक्थैराचुच्युवीमहि। यद्वा वाणीभिरश्विनेवेत्काण्वस्य बोधतम्॥ ४॥

१. हे **नासत्या**=हमारे जीवनों से असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **यत्**=जब **अद्य**=आज हम **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **वाम्**=आपको **आचुच्युवीमहि**=अपने अन्दर प्राप्त कराएँ। **वा**=अथवा **यत्**=जब **वाणीभिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा आपको अपने में प्राप्त कराएँ तो हे **अश्विना**=प्राणापानो! **काण्वस्य इव**=समझदार मेधावी पुरुष की भाँति **इत्**=निश्चय से **बोधतम्**=हमारा ध्यान करो। हम आपके अनुग्रह से समझदार बनें। प्राणसाधना में प्रगति के लिए प्रभु-स्तवन (उक्थ) व स्वाध्याय (वाणी) सहायक होते हैं। वस्तुतः इनके द्वारा ही प्राणसाधना में हम प्रगति कर पाते हैं। साधित प्राण हमारी बुद्धि का वर्धन करते हुए हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन व स्वाध्याय द्वारा प्राणों की साधना में प्रगति करने में समर्थ हों। साधित प्राण हमारी बुद्धि का वर्धन करते हुए हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कक्षीवान्-व्यश्व-दीर्घतमा-पृथीवैन्य

यद्वां कक्षीवाँ उत यद् व्यश्व ऋषिर्यद्वां दीर्घतमा जुहाव।
पृथी यद्वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतो अश्विना चेतयेथाम्॥ ५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=जब **वाम्**=आपको **कक्षीवान्**=बद्ध कक्ष्यावाला (One

who has girded up one's loins) कमर कसे हुए—दृढ़ निश्चयी पुरुष **जुहाव**=पुकारता है, **उत**=और **यत्**=जब **व्यश्व**=विशिष्ट इन्द्रियाश्वोंवाला पुरुष पुकारता है और **यत्**=जब **वाम्**=आपको **दीर्घतमाः**=तमोगुण को विदीर्ण करनेवाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुष पुकारता है तथा अन्ततः **यत्**=जब **वैन्यः**=लोकहित की प्रबल कामनावाला आपको पुकारता है तब हे प्राणापानो! आप **अतः**=इस प्रार्थना व आराधना के द्वारा **सादनेषु एव इत्**=यज्ञगृहों में ही **चेतयेथाम्**=चेतनायुक्त करते हो, अर्थात् आप इन आराधकों को सदा यज्ञशील बनाते हो। २. हमारा जीवन प्रथमाश्रम में 'कक्षीवान्' का जीवन हो। जीवन-यात्रा में आगे बढ़ने के लिए दृढ़ निश्चयी पुरुष का जीवन हो। 'कक्षीवान्' शब्द की भावना ही ब्रह्मचर्यसूक्त में 'मेखलया' शब्द से व्यक्त हुई है। द्वितीयाश्रम में हमें 'व्यश्व' बनना है। विशिष्ट इन्द्रियाश्वोंवाला, अर्थात् हमारे ये इन्द्रियाश्व विषयों को चरने में ही व्यस्त न रहें। तृतीयाश्रम में तप व स्वाध्याय के द्वारा तमोगुण का विदारण करके 'दीर्घतमा' बनता है। चतुर्थ में सर्वलोकहित की कामना करते हुए अधिक-से-अधिक व्यापक परिवारवाला 'पृथीवैन्य' बन जाना है। ये सब बातें तभी हो सकेंगी जब हम प्राणसाधना में प्रवृत्त होंगे। प्राणसाधना से जीवन यज्ञमय रहेगा, अन्यथा यह भोगप्रधान बन जाएगा।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए 'कक्षीवान्, व्यश्व, दीर्घतमा व पृथीवैन्य' बनें।

१४१. [एकचत्वारिंशदुत्तरशततम् सूक्तम्]

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

छर्दिष्पा-तनूपा

यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा।
वर्तिस्तोकाय तनयाय यातम्॥ १॥

१. हे प्राणापानो! आप **छर्दिष्पाः**=हमारे शरीर-गृह के रक्षक होते हुए **यातम्**=हमें प्राप्त होओ। **उत**=और **नः**=हमारे लिए **परस्पाः**=अतिशयेन रक्षक व शत्रुओं से रक्षा करनेवाले **भूतम्**=होओ। **जगत्पाः**=इस संसार के आप रक्षक हों, **उतः**=और **नः**=हमारे **तनूपाः**=शरीरों के आप रक्षक बनें। २. **तोकाय तनयाय**=हमारे पुत्र-पौत्रों के लिए भी **वर्तिः**=रथ-मार्ग को **यातम्**=प्राप्त कराइए, अर्थात् वे सदा सन्मार्ग पर चलनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारा सब प्रकार से रक्षण करनेवाली हो। हमारे पुत्र-पौत्रों को भी यह सन्मार्ग पर ले-चलनेवाली बने।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**जगती**॥

इन्द्र, वायु, आदित्य, विष्णु

यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद्वा वायुना भवथः समोकसा।
यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद्वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः॥ २॥

१. 'प्राणसाधना हमें जितेन्द्रिय बनाती है' इस बात को इस रूप में कहते हैं कि हे **अश्विना**=प्राणापानो! आपकी साधना होने पर समय आता है **यत्**=जबकि **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष के साथ **सरथं याथः**=समान रथ में गति करते हो। शरीर ही रथ है। इसमें जितेन्द्रिय पुरुष का प्राणों के साथ निवास होता है। **यद् वा**=अथवा आप **वायुना**=वायु के साथ (वा गतौ)—गतिशील पुरुष के साथ **सम् ओकसा**=समान गृहवाले **भवथ**=होते हो, अर्थात् प्राणसाधना हमारे जीवनों को बड़ा क्रियाशील बनाती है। २. हे प्राणापानो! **यत्**=अब आप **ऋभुभिः** (उरुभान्ति, ऋतेन भान्ति)=ज्ञानज्योति से खूब दीप्त होनेवाले **आदत्येभिः**=सब ज्ञानों का आदान करनेवाले

पुरुषों के साथ **सजोषसा**=प्रीतियुक्त होते हो। **यद् वा**=अथवा आप **विष्णोः**=व्यापक उन्नति करनेवाले पुरुष के **विक्रमणेषु**=विक्रमणों में—तीन कदमों में **तिष्ठथः**=स्थित होते हो। शरीर को 'तैजस्' बनाना ही इस विष्णु का पहला कदम है। मन को 'वैश्वानर' बनाना—सब मनुष्यों के हित की कामनावाला बनाना दूसरा कदम है। मस्तिष्क को 'प्राज्ञ' बनाना तीसरा—ये सब कदम प्राणसाधना से ही रक्खे जाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें 'जितेन्द्रिय, क्रियाशील, ज्ञानदीप्त व व्यापक' उन्नतिवाला (विष्णु) बनाती है।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श्रेष्ठम् अवः

यदुद्याश्विनावहं हुवेय वाजसातये। यत्पृत्सु तुर्वणे सहस्तच्छ्रेष्ठमश्विनोरवः ॥ ३ ॥

१. **यत्**=जब **अद्य**=आज **अहम्**=मैं **अश्विनौ**=प्राणापान का **हुवेय**=आह्वान करूँ—यदि मैं प्राणसाधना में प्रवृत्त होऊँ, तो ये प्राणापान **वाजसातये**=मुझे शक्ति प्राप्त करानेवाले हों। २. **यत्**=चूँकि प्राणसाधना से **पृत्सु**=संग्रामों में **तुर्वणे**=शत्रुओं के हिंसन के निमित्त **सहः**=बल प्राप्त होता है, **तत्**=अतः **अश्विनोः**=इन प्राणापान का **अवः**=रक्षण **श्रेष्ठम्**=श्रेष्ठ है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा शक्ति प्राप्त होती है। शक्ति से शत्रुओं का मर्षण होता है। इसप्रकार प्राणों द्वारा प्राप्त होनेवाला रक्षण श्रेष्ठ है।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

तुर्वशः-यदु-कण्व

आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता।
इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ ॥ ४ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **नूनम्**=निश्चय से **आयातम्**=हमें प्राप्त होओ। **इमे**=ये **हव्यानि**=हव्य पदार्थ—यज्ञशेष के रूप में सेवन किये जानेवाले पदार्थ **वां हिता**=आपके लिए निहित हुए हैं। हव्य पदार्थों का सेवन प्राणसाधना के लिए बड़ा सहायक होता है। २. **अथ**=अब **इमे**=ये **वाम्**=आपके **सोमासः**=सोमकण—आपके द्वारा रक्षित होनेवाले सोमकण **तुर्वशे अधि**=शत्रुओं को त्वरा से वश में करनेवाले पुरुष में होते हैं। **यदौ**=यत्नशील पुरुष में—सदा क्रिया में तत्पर पुरुष में इनका निवास होता है। **इमे**=ये सोमकण **कण्वेषु**=मेधावी पुरुषों में निवास करते हैं। प्राणसाधना ही सोम-रक्षण के द्वारा हमें 'तुर्वश, यदु व कण्व' बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना के साथ हव्य पदार्थों का सेवन भी अभीष्ट है। प्राणसाधना से सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है, तब हम 'शत्रुओं को वश में करनेवाले, यत्नशील व मेधावी' बन पाते हैं।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

वत्स, विमद

यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम्।
तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम् ॥ ५ ॥

१. प्राणापान वासना को विनष्ट करके ज्ञानदीप्ति का साधन बनते हैं तो इन्हें 'प्रचेतसा' कहा गया है। हे **नासत्या**=हमारे जीवनों से असत्य को दूर करनेवाले प्राणापानो! **यत्**=जो **पराके**=दूर

देश के विषय में तथा **अर्वाके**=समीप क्षेत्र के विषय में **भेषजम्**=औषध **अस्ति**=है, **तेन**=उस औषध के साथ हे **प्रचेतसा**=प्रकृष्ट ज्ञान के साधनभूत प्राणापानो! **नूनम्**=निश्चय से **वत्साय**=इस ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले **विमदाय**=मद व अभिमान से शून्य-जीवनवाले इस ऋषि के लिए **छर्दिः**=सुरक्षित गृह प्राप्त कराओ। २. यह शरीर ही सुरक्षित गृह है। जब इसमें प्रथम ड्योढ़ी के रूप में स्थित अन्नमयकोश नीरोग होता है तथा तृतीय ड्योढ़ी के रूपमें स्थित मनोमयकोश वासनाशून्य होता है तब यह शरीर-गृह बड़ा सुन्दर बनता है। इसे ऐसा बनाने के लिए प्राणसाधना ही साधन है। यही प्राणों का 'अर्वाक् व पराक' क्षेत्र के विषय में भेषज है। ये प्राण रोगों व वासनाओं पर आक्रमण करके इस गृह को दृढ़ व प्रकाशमय बनाते हैं। प्राणापान इस शरीरगृह के पति को 'वत्स व विमद' बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर के रोग दूर होंगे और मन की वासनाएँ नष्ट होंगी। इसप्रकार यह शरीर-गृह बड़ा सुन्दर बनेगा।

१४२. [द्विचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मतिम्-रातिम्

अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः। व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥ १ ॥

१. **अहम्**=मैं **अश्विनोः**=प्राणापान की **वाचा**=स्तुतिरूप वाणी के द्वारा **देव्या साकम्**=इस प्रकाशमयी ज्ञानवाणी के साथ **उ प्र अभुत्सि**=सचमुच प्रबुद्ध हो उठा हूँ। जब मैं प्राणापान के स्तवन व साधन में प्रवृत्त होता हूँ तब मैं ज्ञानदीप्ति प्राप्त करता हूँ। २. हे **देवि**=प्रकाशमयी ज्ञानवाणि! तू **आ (गच्छ)**=आ, हमें प्राप्त हो और **मतिं व्यावः**=हमारी बुद्धि को अज्ञानान्धकार के आवरणों से रहित कर तथा **मर्त्येभ्यः**=मनुष्यों के लिए **रातिम्**=धनों को **वि** (आवः=यच्छ) देनेवाली हो।

भावार्थ—प्राणसाधक ज्ञानदीप्ति तथा आवश्यक धनों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रातःकालीन कार्यक्रम

प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि।
प्र यज्ञहोतरानुषक्प्र मदाय श्रवो बृहत् ॥ २ ॥

१. हे **उषः**=उषाकाल की देवि! **अश्विना प्रबोधय**=तू प्राणापान को हममें प्रबुद्ध कर, अर्थात् हम प्रातः प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हो। हे **देवि**=प्रकाशयुक्त **सूनृते**=प्रिय सत्य वाणी उषे! **महि**=(मह पूजायाम्) पूजा को **प्र** (बोधय)=हममें प्रबुद्ध कर। हम प्रातः प्रबुद्ध होकर प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हों। २. हे **आनुषक्**=निरन्तर **यज्ञहोतः**=यज्ञों में हव्यों को आहुत करनेवाली तू हमें **प्र**=प्रबुद्ध कर। हम प्रातः यज्ञ करनेवाले हों। हे उषे! **मदाय**=आनन्द प्राप्त कराने के लिए **बृहत् श्रवः**=बहुत उत्कृष्ट ज्ञान को **प्र**=हममें प्रबुद्ध कर।

भावार्थ—हम प्रातः जागकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। प्राणसाधना के साथ 'प्रभु-पूजन-यज्ञ व स्वाध्याय' करें।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नृपाय्य वर्ति

यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे। आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम् ॥ ३ ॥

१. हे **उषः**=उषाकाल की देवि! **यत्**=जब **भानुना**=ज्ञान दीप्ति के साथ **यासि**=तू प्राप्त होती है और **सूर्येण सं रोचसे**=ज्ञान-सूर्य के साथ सम्यक् दीप्त हो उठती है तब **ह**=निश्चय से **अयम्**=यह **अश्विनोः**=प्राणापान का **रथः**=शरीर-रथ—वह शरीर जिसमें प्राणसाधना प्रवृत्त हुई है **नृपाय्यम् वर्तिः**=मनुष्यों का रक्षण करनेवाले मार्ग पर **आयाति**=गतिवाला होता है, अर्थात् हम उसी मार्ग पर चलना प्रारम्भ करते हैं जो हमें सदा सुरक्षित करता है। जिस मार्ग पर चलते हुए हम विषयों में फँसकर विनष्ट नहीं हो जाते।

भावार्थ—उषा के होते ही हम प्रबुद्ध होकर स्वाध्याय व प्राणसाधना के लिए उद्यत हों। सदा उस मार्ग पर आक्रमण करें जो मनुष्यों का रक्षण करनेवाला है।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोम-रक्षण व ज्ञानवाणियों का उच्चारण

यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः। यद्वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ॥ ४ ॥

१. **यत्**=जब **आपीतासः**=शरीर में समन्तात् पीये गये **अंशवः**=सोमकण **ऊधभिः गावः न**=अपने ऊधसों से गौओं की भाँति **दुह्रे**=ज्ञानदुग्ध का हममें दोहन करते हैं। सोम-रक्षण से ही बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञान की वृद्धि होती है। २. **यद् वा**=और जब **अश्विना**=प्राणापानो के द्वारा (आ=भ्याम्) **देवयन्तः**=दिव्य गुणों की कामनावाले लोग **वाणी**=इन स्तुतिवाणियों का **प्र अनूषत**=प्रकर्षेण उच्चारण करते हैं तभी गतमन्त्र के अनुसार यह प्राणापान का रथ उस मार्ग पर चलता है जोकि मनुष्यों का रक्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम-रक्षण द्वारा बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होती है। उसी समय ज्ञान की वाणियों का उच्चारण होता है।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'द्युम्न, शवस्, शर्म, दक्ष'

प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे। प्र दक्षाय प्रचेतसा ॥ ५ ॥

१. हे **प्रचेतसा**=प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! आप हमारी **द्युम्नाय**=ज्ञान- ज्योतियों के लिए **प्र** (भवतम्)=होओ। **शवसे प्र**=बल के लिए होओ। २. इसी प्रकार **नृषाह्याय**=शत्रुनायकों का—काम, क्रोध, लोभरूप शत्रु सेनापतियों का पराभव करनेवाले **शर्मणे**=सुख के लिए **प्र** (भवतम्)=होइए और **दक्षाय**=सब प्रकार की उन्नति के लिए **प्र**=होइए।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हमें 'ज्ञान, बल, शत्रु-पराजय-जनित सुख तथा विकास' प्राप्त हो।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

धीभिः-सुम्नेभिः

यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः। यद्वा सुम्नेभिरुक्थ्या ॥ ६ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **यत्**=चूँकि **धीभिः**=बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के द्वारा **पितुः योना**=उस परमपिता प्रभु के गृह में **निषीदथः**=आसीन होते हो, अर्थात् आपकी साधना के द्वारा मल-क्षय व ज्ञानदीप्ति होकर प्रभु का दर्शन होता है। **यद् वा**=अथवा **सुम्नेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा आप ब्रह्मलोक में निवास कराते हो, अतः **उक्थ्या**=आप स्तुत्य होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से बुद्धि का विकास होता है, स्तुति की प्रवृत्ति जागरित होती है।

ये बुद्धि व स्तुति हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली होती हैं।

यह प्रभु के गृह में निवास करनेवाला व्यक्ति 'पुरुमीढ'=अपने में शक्ति का खूब ही सेचन करनेवाला बनता है यह 'आजमीढ'=(अजा गतौ) गति का अपने में सेचन करता है। प्रभु का उपासक शक्ति व गतिवाला होता है। इन्हीं के अगले सूक्त के प्रथम सात मन्त्र हैं। आठवें का ऋषि वामदेव=सुन्दर दिव्यगुणोंवाला है। नौवें के ऋषि मेध्यातिथि व मेधातिथि हैं—पवित्र प्रभु की ओर चलनेवाले, बुद्धि की ओर चलनेवाले। प्रथम मन्त्र यह है—

१४३. [त्रिचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'पृथुज्रय' रथ

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः।
यः सूर्यां वहति वन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम्॥ १॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वयम्**=हम **अद्य**=आज **वाम्**=आपके **तं रथम्**=उस शरीर-रथ की **हुवेम**=पुकार करते हैं—उस शरीर-रथ को प्राप्त करने की कामना करते हैं जोकि **पृथुज्रयम्**=बड़े वेगवाला है—स्फूर्तियुक्त है, **गोः संगतिम्**=ज्ञान की किरणों के मेलवाला है। यह रथ शक्ति के कारण गतिवाला व प्रकाशमय है। २. **यः**=जो रथ **सूर्याम्**=सूर्य की दुहिता को—बुद्धि को **वहति**=धारण करता है। **बन्धुरायु**=सौन्दर्यों को अपने साथ जोड़नेवाला है। हम उस रथ की कामना करते हैं, जो **गिर्वाहसम्**=ज्ञानपूर्वक स्तुति की वाणियों का धारण करता है। **पुरुतमम्**=खूब ही पालक व पूरक है। **वसूयुम्**=निवास के लिए आवश्यक सब धनों को अपने में लिये हुए है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर स्फूर्तिमय, ज्ञान के प्रकाशवाला, बुद्धि-सम्पन्न, सुन्दर, ज्ञानपूर्वक स्तुतिवाणियों को धारण करनेवाला, नीरोग व उत्तम निवासवाला बनता है।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'श्री सम्पन्नता' के साधक प्राणापान

युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः।
युवोर्वपुरभि पृक्षः सचन्ते वहन्ति यत्ककुहासो रथे वाम्॥ २॥

१. हे **दिवः नपाता**=ज्ञान को न नष्ट होने देनेवाले **देवता** (देवते)=दिव्यगुणोंवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **शचीभिः**=कर्मों व प्रज्ञानों के द्वारा **तां श्रियम्**=उस प्रसिद्ध शोभा को **वनथः**=विजय करते हो (वन् win)। प्राणापान ही कर्मेन्द्रियों से कर्म कराते हैं तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त कराते हैं। इसप्रकार ये शरीर को शोभा-सम्पन्न बनाते हैं। २. **युवोः**=आप दोनों के इस **वपुः**=शरीर को **पृक्षः**=सात्त्विक अन्न **अभिसचन्ते**=प्रातः-सायं सेवन करते हैं। यह सब तब होता है **यत्**=जबकि **वाम्**=आप दोनों को **ककुहासः** (महन्नाम नि० ३.७)=महान् इन्द्रियाश्व **रथे**=इस शरीर-रथ में **वहन्ति**=धारण करते हैं। शरीर में प्राणसाधना के होने पर ही अन्न का पाचन हुआ करता है। इन्द्रियों में व अन्य सब अंग-प्रत्यंगों में प्राणों की ही शक्ति कार्य करती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर श्रीसम्पन्न बनता है। प्राणसाधना से ही अन्न का भी ठीक से पाचन होकर सब रस-रुधिर आदि धातुओं का निर्माण होता है।

ऋषिः—पुरुमीढाजमीढौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ऊतये-सुतपेयाय

को वा॑मद्या क॑रते रा॒तह॑व्य ऊ॒तये॑ वा सु॒तपे॒या॑य वा॒र्कैः ।
ऋ॒तस्य॑ वा व॒नुषे॑ पू॒र्व्या॑य॒ नमो॑ येमा॒नो अ॒श्वि॒ना व॑वर्तत् ॥ ३ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **कः**=कोई विरल पुरुष ही **रातहव्यः**=दिये हैं हव्य पदार्थ जिसने, अर्थात् जो यज्ञशील है, वह **ऊतये**=रक्षण के लिए **वा**=तथा **सुतपेयाय**=सोम (वीर्य) के पान (शरीर में ही व्यापन) के लिए **वाम्**=आपकी **अद्या**=आज **अर्कैः**=स्तुतिमन्त्रों से **करते**=आराधना करता है। स्तुतिमन्त्रों से प्रभु का आराधन करते हुए प्राणसाधना से हमारे मन वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते और शरीर में सोम का रक्षण होता है। हमारी वृत्ति यज्ञों की ओर होती है—भोगवृत्ति से हम दूर होते हैं। २. कोई विरल व्यक्ति ही **नमः येमानः**=नम्रता का अपने अन्दर धारण करता हुआ **ऋतस्य**=ऋत के—सत्य के **पूर्व्याय वनेषु**=सर्वोत्तम संभजन—सर्वमुख्य विजय के लिए **अश्विना**=प्राणापानो को **आववर्तत्**=आवृत्त करता है। प्राणायाम करता हुआ अपने अन्दर सत्य को धारण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा शरीर का रक्षण होता है, सोम का शरीर में व्यापन होता है, ऋत का हम विजय कर पाते हैं।

ऋषिः—पुरुमीढाजमीढौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

हिरण्यय रथ

हि॒र॒ण्ययेन पुरुभू रथे॑नेमं य॒ज्ञं ना॑स॒त्योप॑ यातम् ।
पिबा॑थ॒ इन्मधु॑नः सो॒म्यस्य॒ दध॑थो॒ रत्नं॑ विध॒ते जना॑य ॥ ४ ॥

१. हे **परिभू**=(परि=पृ पालनपूरणयोः) पालक व पूरक होते हुए—या शरीर में चारों ओर व्याप्त होते हुए **नासत्याः**=प्राणापानो! आप **हिरण्ययेन रथेन**=ज्योतिर्मय शरीर-रथ से **इमं यज्ञम्**=हमारे इस जीवन-यज्ञ को **उपयातम्**=समीपता से प्राप्त होओ। आपकी साधना से हमारा यह शरीर-रथ ज्योतिर्मय व तेजस्वी बने। आपकी साधना से हम जीवन-यज्ञ को सुन्दरता से पूर्ण करनेवाले हों। २. हे प्राणापानो! आप **इत्**=निश्चय से **सोम्यस्य मधुनः**=इस सोम-सम्बन्धी मधु का **पिबाथः**=पान करते हो—सोम को शरीर में ही सुरक्षित करते हो। हे प्राणापानो! आप **विधते जनाय**=परिचर्या करनेवाले उपासक मनुष्य के लिए **रत्नं दधथः**=रमणीय वस्तुओं को धारण करते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर-रथ ज्योतिर्मय व तेजस्वी बनता है, सोम का रक्षण होता है तथा शरीर में सब रत्नों का धारण होता है।

ऋषिः—पुरुमीढाजमीढौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'हिरण्यय-सुवृत्' रथ

आ नो॑ यातं दि॒वो अच्छा॑ पृथि॒व्या हि॑र॒ण्ययेन सु॒वृता॒ रथे॑न ।
मा वा॑म॒न्ये नि य॑मन्देव॒यन्तः॒ सं यद्द॒दे नाभिः॑ पू॒र्व्या वा॑म् ॥ ५ ॥

१. हे प्राणापानो! **दिवः पृथिव्याः अच्छा**=द्युलोक व पृथिवीलोक का लक्ष्य करके, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर का ध्यान करके **नः**=हमारे लिए आप **हिरण्ययेन**=ज्योतिर्मय **सुवृता** (सुष्ठु वर्तते)=बिलकुल ठीक-ठाक, अर्थात् सर्वांगपूर्ण **रथेन**=शरीर-रथ से **आयातम्**=प्राप्त होओ।

प्राणापान की साधना ही इस शरीर-रथ को सुन्दर बनाती है। २. **अन्ये**=दूसरे **देवयन्तः**=द्यूत आदि क्रीड़ाओं को करते हुए लोग **वाम्**=आपको **मा नियमन्**=रोकनेवाले न हों, अर्थात् हम अन्य व्यवहारों में उलझकर आपकी साधना को कभी भूल न जाएँ। **यत्**=चूँकि **वाम्**=आपका तो **पूर्व्या**=सर्वमुख्य—सर्वप्रथम **नाभिः**=सम्बन्ध (नह बन्धने) **सं ददे**=मुझे आपके साथ बाँधता है। मेरा सर्वोत्तम सम्बन्ध आपके साथ ही तो है। आत्मा के साथ प्राणों का दृढ़ सम्बन्ध है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ही हमारा मस्तिष्क हिरण्यय (ज्योतिर्मय) बनता है तथा शरीर सुवृत्=पूर्ण स्वस्थ होता है।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणायाम+सम्मिलित प्रार्थना

नू नो॑ र॒यिं पु॑रु॒वीरं॑ बृ॒हन्तं॒ दस्रा॒ मिमा॑थामु॒भये॑ष्व॒स्मे।

नरो॒ यद्वा॑मश्विना॒ स्तोम॒माव॑न्त्स॒धस्तु॑तिमाजमी॒ढासो॑ अग्मन्॥ ६॥

१. **अस्मे**=हममें **उभयेषु**=दोनों में—मन्त्र के ऋषि पुरुमीढ व आजमीढों में रहनेवाली ये **पुरुवीरम्**=खूब वीरतावाली **बृहन्तम्**=वृद्धि की कारणभूत **रयिम्**=सम्पत्ति को **नु**=निश्चय से हे **दस्रा**=दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **नः**=हमारे लिए **मिमाथाम्**=बनाओ। हमें वह सम्पत्ति प्राप्त कराओ जो पुरुमीढ़ों व आजमीढों में रहा करती है, जो सम्पत्ति हमें वीर बनाती है व हमारी वृद्धि का कारण बनती है। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोग **यत्**=जब **वाम्**=आपके **स्तोमम्**=स्तवन का **आवन्**=अपने में रक्षण करते हैं, उस समय **आजमीढासः**=गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करके सुखों का सेचन करनेवाले ये लोग **सधस्तुतिम्**=मिलकर उपासना की वृत्ति को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। ये लोग परिवार में सबके सब एकत्र होकर प्रभु की उपासनावाले बनते हैं। सब प्राणायाम करते हैं और मिलकर प्रभु का गायन करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणायाम करें—मिलकर प्रभु का स्तवन करें। इसप्रकार ही हम उस धन को प्राप्त करेंगे जो हमें वीर गुणों से वृद्ध बनाएगा।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुमति व शक्ति

इ॒हेह यद्वां॑ सम॒ना प॑पृ॒क्षे सेयम॒स्मे सु॑म॒तिर्वा॑जरत्ना।

उ॒रु॒ष्यतं॑ ज॒रि॒तारं॑ यु॒वं ह॑ श्रि॒तः कामो॑ नासत्या युव॒द्रिक्॥ ७॥

१. हे **समना**=(सम् अन्) सम्यक् प्राणित करनेवाले प्राणापानो! **इह इह**=इस जीवन में और इस जीवन में ही **यत्**=जब मैं **वां पपृक्षे**=आपके सम्पर्क में आता हूँ, अर्थात् आपकी साधना में प्रवृत्त होता हूँ, तब **सा**=वह **इयम्**=यह **अस्मे सुमतिः**=हमारी कल्याणी मति **वाजरत्ना**=शक्तिरूप रमणीय धनवाली होती है, आपकी साधना से जहाँ मुझे बुद्धि प्राप्त होती है, वहाँ मुझे शक्ति भी मिलती है। २. **युवम्**=आप दोनों **जरितारम्**=स्तोता को **ह**=निश्चय से **उरुष्यतम्**=रक्षित करो। हे **नासत्या**=सब असत्यों को हमसे दूर करनेवाले प्राणापानो! **कामः**=हमारी इच्छा **युवद्रिक्**=आपकी ओर आनेवाली होती हुई **श्रितः**=हमें प्राप्त हो, अर्थात् हमें आपकी ही साधना का विचार हो। हम प्राणायाम की रुचिवाले बनें।

भावार्थ—प्राणसाधना से सुमति व शक्ति प्राप्त होती है, अतः हमारी कामना यही है कि हम प्राणसाधना करनेवाले बनें।

ऋषिः—(१-२ पादः) वामदेवः (३-४ पादः)॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

माधुर्य-ही-माधुर्य

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ ८॥

१. छठे मन्त्र के अनुसार प्राणसाधनों व सम्मिलित प्रार्थना के होने पर **ओषधीः मधुमतीः**= ओषधियाँ हमारे लिए माधुर्यवाली हों। **द्यावः**=द्युलोक तथा **आपः**=द्युलोक से बरसनेवाले जल माधुर्यवाले हों। द्युलोकस्थ सूर्य ने ही तो हमारे क्षेत्रस्थ अन्नों को वृष्टि द्वारा उत्पन्न करना है और सन्ताप द्वारा परिपक्व करना है। २. वायु देवता का निवासस्थान यह **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **नः**=हमारे लिए **मधुमत्**=माधुर्यवाला हो। ३. **क्षेत्रस्य पतिः**=सब क्षेत्रों का स्वामी प्रभु **नः**=हमारे लिए **मधुमान् अस्तु**=माधुर्य को प्राप्त करानेवाले हों। **अरिष्यन्तः**=अहिंसित होते हुए हम **एनम् अनुचरेम**=प्रभु की अनुकूलता में गतिवाले हों। प्रभु-स्मरण ही हमें वासनाओं से हिंसित होने से बचाएगा।

भावार्थ—ओषधियाँ-द्युलोक-जल-अन्तरिक्ष और इन सबके स्वामी प्रभु हमारे लिए माधुर्य प्रदान करें।

ऋषिः—मेध्यातिथिः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'शरीर, मन व बुद्धि' का शक्ति-सम्पन्न होना

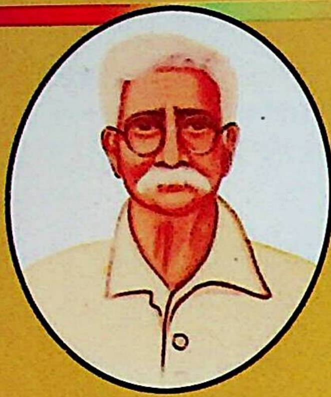
पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः।
सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत्ताँ उप याता पिबध्यै॥ ९॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तत्**=वह **कृतम्**=कर्म **पनाय्यम्**=स्तुत्य है, जोकि **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक में, **रजसः**=हृदयरूप अन्तरिक्षलोक में तथा **पृथिव्याः**=शरीररूप पृथिवीलोक में **वृषभः**=शक्ति का सेचन करनेवाला है। प्राणापान शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति का कारण बनते हैं और इस सुरक्षित सोम के द्वारा वे 'शरीर, हृदय व मस्तिष्क' को शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं। २. **उत**=और **पिबध्यै**=सोमपान के लिए **ये**=जो **गविष्टौ**=ज्ञानयज्ञों में **सहस्रम्**=हज़ारों **शंसाः**=ज्ञान की वाणियों के उच्चारण हैं, **तान् सर्वान्**=उन सबको **उपयात**=समीपता से प्राप्त होओ। इन ज्ञान की वाणियों के अध्ययन से वासनाओं की ओर झुकाव नहीं होता और इसप्रकार सोम का रक्षण होता है, अतः प्राणायाम के अभ्यासी को चाहिए कि अतिरिक्त समय को सदा स्वाध्याय में व्यतीत करे।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर, मन व बुद्धि—तीनों ही सशक्त बनते हैं। सोम-रक्षण के लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य अतिरिक्त समय का यापन स्वाध्याय में करे।

॥इति षट्त्रिंशः प्रपाठकः॥

॥ इति विंशं काण्डम्॥


पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार

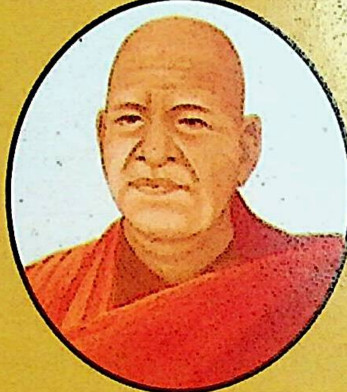

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

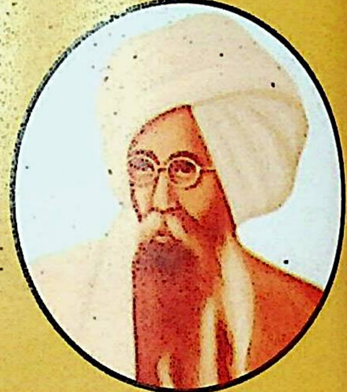

श्री विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड

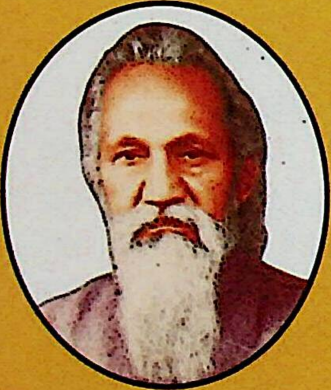

श्री [illegible]करणदास त्रिवेदी


पं० तुलसीरामजी

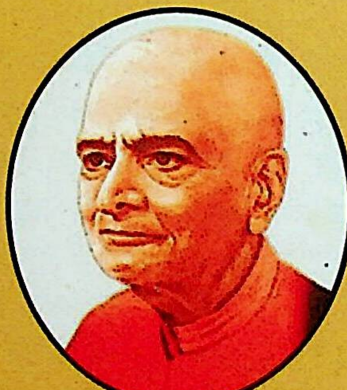

श्री रामनाथ वेदालङ्कार


स्वामी वेदानन्द सरस्वती


श्री आर्यमुनि

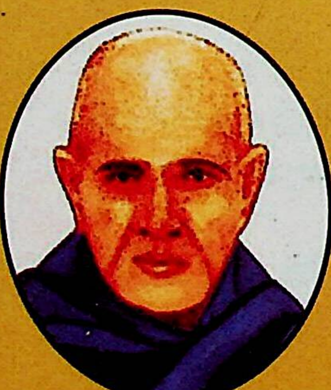

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

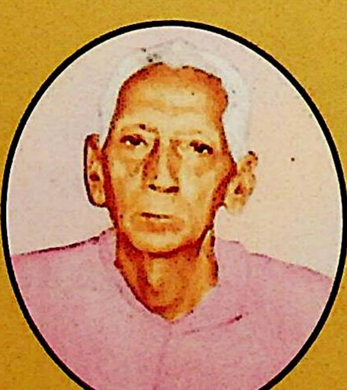

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

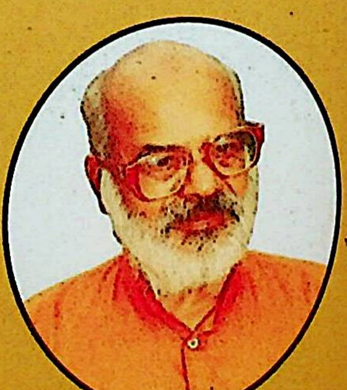

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती


पं० अयोध्याप्रसाद


पं० भगवतदत्त


पं० शिवशङ्कर शर्मा 'काव्यतीर्थ'


म०प० युधिष्ठिर मीमांसक


स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास



वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आ

स्नातक बनने के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणा से उन्होंने गुरुकुल में ही अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। वह सन् 1946 में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ से सेवा निवृत्त हुए और अपनी बहिन श्रीमती वेदकुमारी (धर्मपत्नी स्व० श्री भीमसेन विद्यालंकार) के यहां लाहौर चले गए। भारत स्वतन्त्र होने पर देश-विभाजन के बाद वह पुनः दिल्ली आए और अपने लघु भ्राता श्री हरिमोहन के पास चूनामण्डी पहाड़गंज में रहने लगे। यहीं पर अपने छोटे से अध्ययन कक्ष में न्यूनतम सुविधाओं के बीच सर्दी, गर्मी, बरसात की परवाह न करते हुए कठोर तपस्या से वेदभाष्य के इस बृहत् कार्य को अकेले अपने दम पर पूरा किया।

श्रीयुत हरिशरण अत्यन्त विनम्र विद्वान् थे। अपने विशाल पाण्डित्य का उन्हें रत्ती भर अभिमान न था। जहां कहीं जिस किसी से भी उन्हें कुछ नया ज्ञान प्राप्त होता उसे बड़े उदार हृदय से वह स्वीकार कर लेते। वेद-प्रवचन व स्वाध्याय ही उनका व्यसन था। किशोरावस्था से ही वह नियमित रूप से आसन प्राणायाम तथा दण्ड, बैठक आदि व्यायाम करते थे। इस कारण उनका शरीर अत्यन्त सुडौल और बलशाली था। उन्हें तैरने व भ्रमण करने का भी खूब शौक था। युवावस्था में वह हाकी और बालीबाल के अच्छे खिलाड़ी रहे थे।

जीवन के अन्तिम चरण में वह अपने भतीजे सुधीरकुमार (सुपुत्र डॉ० हरिप्रकाश) के पास कविनगर गाजियाबाद में रहे। निधन से एक दो वर्ष पूर्व वह वार्द्धक्य जनित स्मृति लोप के रोग से आक्रान्त अवश्य हो गए थे परन्तु उन दिनों भी उनका वेद पाठ का क्रम नियमित रूप से चलता रहा। दो सप्ताह में एक बार वह चारों वेदों का पारायण पूरा कर लेते। वेदों का यह विलक्षण भाष्यकार एक दो दिन तक मामूली सा अस्वस्थ रहने के बाद 3 जुलाई 1991 को वेदमाता की गोद में ही चिर निद्रा में लीन हो गया।

—अजय भल्ला

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है "हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।"

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी; ०११-६५८४५५९९, ९३१३७८४२७२